भारतीय दर्शन

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६

INDIAN PHILOSOPHY by Dr S Radhakrishnan का अनुवाद

अनुवादक
स्व० नन्दकिशोर गोभिल, विद्यालंकार
भूतपूर्व प्राध्यापक रामजस कालेज दिल्ली
गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद
कलिकाता विद्यापीठ कलकत्ता।

मूल्य
पचीस रुपये

हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली में मुद्रित

प्रस्तावना

यद्यपि ससार के वाह्य भौतिक स्वरूप मे, सचार-साधनो, वैज्ञानिक आविष्कारो आदि की उन्नति से वहुत अधिक परिवर्तन हुआ है, किन्तु इसके आन्तरिक आध्यात्मिक पक्ष मे कोई वडा परिवर्तन नही हुआ। क्षुधा एव अनुराग की पुरातन शक्तिया और हृदय-गत निर्दोप उल्लास एव भय इत्यादि मानव-प्रकृति के सनातन गुण है। मानव-जाति के वास्तविक हितो, धर्म के प्रति गम्भीर आवेगो और दार्शनिक ज्ञान की मुख्य-मुख्य समस्याओ आदि ने वैसी उन्नति नही की जैसीकि भौतिक पदार्थो ने की है। मानव-मस्तिष्क के इतिहास मे भारतीय विचारधारा अपना एक अत्यन्त शक्तिशाली और भावपूर्ण स्थान रखती है। महान विचारको के भाव कभी पुराने अर्थात् अव्यवहार्य नही होते। प्रत्युत वह उस उन्नति को जो उन्हे मिटाती-सी प्रतीत होती हे, सजीव प्रेरणा देते है। कभी-कभी अत्यन्त प्राचीन भावनामयी कल्पनाए हमे अपने अद्भुत आधुनिक रूप के कारण अचम्भे मे डाल देती हे क्योकि 'अन्तर्दृष्टि' आधुनिकता के ऊपर निर्भर नही करती।

भारतीय विचारधारा के प्रतिपाद्य विपय के सम्वन्ध मे अत्यधिक अज्ञान है। आधुनिक विचारको की दृष्टि मे भारतीय दर्शन का अर्थ है माया अर्थात् ससार एक माया-जाल, कर्म अर्थात् भाग्य का भरोसा और त्याग अर्थात् तपस्या की अभिलापा से इस पार्थिव गरीर को त्याग देने की इच्छा आदि दो-तीन 'मूर्खतापूर्ण' धारणाए मात्र, कोई गम्भीर विचार नही और यह कहा जाता है कि ये माधारण धारणाए भी जगली लोगो की शब्दावली मे व्यक्त की गई है, और अव्यवस्थित निरर्थक कल्पनाओ एव वाक्प्रपञ्च रूपी कुहासे से आच्छादित है, जिन्हे इस देश के निवासी वुद्धि का चमत्कार मानते है। कलकत्ता से कन्याकुमारी तक छ मास भ्रमण करने के पश्चात् हमारा आधुनिक सौन्दर्य-प्रेमी भारत की समस्त सस्कृति एव दर्शन-ज्ञान को 'सर्वेश्वरवाद' निरर्थक 'पाण्डित्याभिमान', 'शब्दो का आडम्वर मात्र' और किसी भी हालत मे प्लेटो और अरस्तू यहा तक कि प्लाटिनस और वेकन के दार्शनिक ज्ञान के तिल-भर भी समान न होने के कारण हीन वताकर छोड़ देता है। किन्तु एक वुद्धिमान विद्यार्थी जो दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति की अभिलापा रखता है, भारतीय विचारधारा के अन्दर एक ऐसे अद्वितीय सामग्री-समूह को ढूढ निकालता है जिसका मानी सूक्ष्म विवरण एव विवता दोनो की दृष्टि से ही ससार के किसी भी भाग मे नही मिल सकता। ससार-भर मे सम्भवत आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि अथवा वौद्धिक दर्शन की ऐसी कोई भी ऊचाई नही है कि जिसका सममूल्य पुरातन वैदिक ऋपियो और अर्वाचीन नैयायिको के मध्यवर्ती विस्तृत ऐतिहासिक काल मे न पाया जाता हो। प्रोफेसर गिलवर्ट

म- के एक अन्य प्रकरण म प्रयुक्त किए गए शब्दो म ' प्राचीन भारत मल म दुर्बल होने पर भी निजिया और एक विशिष्ट उज्ज्वल प्रारम्भ है जो चाहे कितनी ही सकटपूर्ण स्थिति म क्यो न हो मधप करते-करते उच्च शिखर तक पहुचा है। 'वस्तुत वैदिक कवियो की निश्छल सूक्तिया उपनिषदो की अद्भुत मादकिता बौद्धो का विलक्षण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और शकर का विस्मय विमुग्धकारी दर्शन य सब सास्कृतिक दृष्टिकोण स एसे ही अत्यन्त रोचक एव शिक्षाप्रद हैं जसकि प्लेटो और अरस्तू अथवा काट और हीगल के दर्शन शास्त्र हैं यदि हम उक्त भारतीय दर्शन ग्रन्थो का अध्ययन एक निष्पक्ष और वैज्ञानिक भाव स करें और इन्हे पुराना एव विदेशी समझकर अपमान की दृष्टि स न देखें इन्हे हय समझकर इनसे घृणा न करें। भारतीय दर्शन की विशिष्ट परिभाषाए जिनका सही-सही अनुवाद भी आसानी स अग्रेजी भाषा म नही हो सकता स्वय इस बात का साक्षी हैं कि इस देश का बौद्धिक विचार कितना अद्भुत है। यदि बाह्य कठिनाइयो को दूर करके उनसे ऊपर उठा जाए तो हम अनुभव करेंगे कि मानवीय हृदय की धड़कन म मानवता के नाते कोई भेद नहीं अर्थात वह न भारतीय है और न यूरोपीय। यदि मान भी लें कि सास्कृतिक दृष्टिकोण से भारतीय विचारधारा का कोई महत्त्व नहीं है तो भी वह ध्यान देने योग्य तो है ही यदि और किसी दृष्टिकोण से नहीं तो कम से कम इसी विचार से कि एशिया की समस्त विचारधाराओ स यह भिन्न है और सबपर इसका प्रभाव भी स्पष्ट रूप म लक्षित होता है।

ठीक ठीक क्रमबद्ध इतिहास के अभाव म किसी भी वृत्त को इतिहास का नाम दे देना अनुचित है और इतिहास शब्द का दुरुपयोग है। प्राचीन भारतीय दर्शनो का ठीक ठीक समय निर्णय करने की समस्या मनोरजक भी है एव उसका समाधान भी असम्भव है और इस क्षेत्र म नाना प्रकार की कल्पनाए की गई हैं, अद्भुत रचनाओ और साहसपूर्ण अतिशयोक्तियों को भी जन्म दिया गया है। खण्ड-खण्ड रूप म पृथक पृथक पडी सामग्री म से इतिहास का निर्माण एक और बड़ा बाधा है। ऐसी परिस्थिति म मुझे इस रचना को भारतीय दर्शन का इतिहास की सज्ञा देने म हिचकिचाहट मालूम होती है।

विशेष विशेष दर्शनो की व्याख्या करने म मैंने नवजद्ध प्रमाणो के निकट सम्पर्क म रहने का प्रयत्न किया है जहा कहीं सम्भव हो सका है उन अवस्थाओ का भी मैंने प्रारम्भिक सर्वेक्षण किया है जिनके ऊपर रहकर इन दर्शनो का आविर्भाव हुआ और इस बात कि किस हद तक य भूतकाल के ऋणी हैं एव विचार की प्रगति म इनकी देन क्या और किस रूप म है। मैंने केवल उक्त दर्शनो के सारभूत मूल तत्त्वो पर ही बल दिया है जिससे कि ब्यौरे में जाने पर भी सम्पूर्ण दर्शन का जो मुख्य आशय है वह दृष्टि से ओझल न हो जाए, और साथ ही साथ किसी सिद्धात विशेष का लेकर चलने से मैंने अपने को बचाने का प्रयत्न किया है। तो भी मुझे भय है कि मेरे आशय के विषय म किसीको भ्रम न हो। इतिहासलेखक का काय विशेष करके दर्शन के विषय म बड़ा कठिन है। वह चाहे कितना ही केवल ऐतिहासिक घटनाओं को क्रमबद्ध करने तक की सीमा म रहने का प्रयत्न कर

---

१ 'फ्रोर रंटैन्ड ब्राफ ग्राफ रिलिजन', पृ० १५।

जिससे कि इतिहास को स्वय अपने अन्तर को खोलकर अपना आशय निरन्तरता, भूलो की समीक्षा एवं आशिक अन्तर्दृष्टि को प्रकट करने का अवसर प्राप्त हो सके, तो भी लेखक का अपना निर्णय एव सहानुभूति देर तक छिपी नही रह सकती। इसके अतिरिक्त भी भारतीय दर्शन के विषय मे एक अन्य कठिनाई उपस्थित होती है। हमे ऐसी टीकाए मिलती हैं जो पुरानी होने पर भी काल की दृष्टि से मूल ग्रन्थ के अधिक निकट है। इसलिए अनुमान किया जाता है कि वे ग्रन्थ के सन्दर्भ पर अधिक प्रकाश डाल सकती है। किन्तु जब टीकाकार परस्पर-विरोधी मत रखते है तब लेखक विरोधी व्याख्याओ के विषय मे अपना निर्णय दिए विना चुप भी नही बैठ सकता। इस प्रकार की निजी सम्मतियो को प्रकट किए बिना, जो भले ही कुछ हानिकर हो, रहा भी नही जा सकता। सफल व्याख्या से तात्पर्य समीक्षा और मूल्याकन से है और मै समझता हू कि एक न्याय, युक्तियुक्त एव निष्पक्ष वक्तव्य दे सकने के लिए समीक्षा से बचना आवश्यक भी नही है। मै एकमात्र यह आशा करता हू कि इस विषय पर शान्त और निष्पक्ष भाव से विचार किया जाएगा, और इस पुस्तक मे और चाहे जो भी त्रुटिया रह गई हो, तथ्यो को पूर्वनिर्धारित सम्मति के अनुकूल बनाने के लिए तोड़ा-मरोड़ा नही गया है। मेरा लक्ष्य भारतीय मतो को बतलाने का उतना नही है जितना कि उनकी इस प्रकार से व्याख्या करने का है जिससे वे पश्चिमी विचार-परम्परा एव पद्धति के साथ सामजस्य मे आ सके। भारतीय और पश्चिमी दो विभिन्न विचारधाराओ मे जिन दृष्टान्तो और समानताओ को प्रस्तुत किया गया है उनपर अधिक बल देना ठीक नही है, क्योकि भारतीय दार्शनिक कल्पनाओ की उत्पत्ति शताब्दियो पूर्व हुई है, जिस समय उनकी पृष्ठभूमि मे आधुनिक विज्ञान की उज्ज्वल उपलब्धिया नही थी।

भारतवर्ष, एव यूरोप और अमरीका मे अनेक मेधावी विद्वानो ने भारतीय दर्शन के विशेष-विशेष भागो का बहुत सावधानी एव सम्पूर्णता के साथ अध्ययन किया है। दार्शनिक साहित्य के कुछ विभागो की भी समीक्षात्मक दृष्टि से परीक्षा की गई है किन्तु भारतीय विचार के इतिहास को अविभक्त एव सम्पूर्ण इकाई के रूप मे प्रतिपादित करने का कोई प्रयत्न नही हुआ और न ही उसके सतत विकास का प्रतिपादन किया गया जिसके बिना विभिन्न विचारको व उनके मतो को पूर्णरूप से नही समझा जा सकता। भारतीय दर्शन के विकास के इतिहास को उसके प्रारम्भिक अस्पष्ट इतिहास से लेकर विशद रूप मे लाना एक अत्यधिक कठिन कार्य है और अकेले इस कार्य को कर सकना किसी अत्यन्त परिश्रमी व बहुश्रुत विद्वान की भी पहुच के बाहर की बात है। इस प्रकार के सर्वमान्य भारतीय दर्शन के विश्वकोष का निर्माण करने मे न केवल विशेष रुचि और पूरी लगन की अपितु व्यापक सस्कृति और प्रतिभासम्पन्न विद्वानो के परस्पर सहयोग की भी आवश्यकता है। इस पुस्तक का दावा इससे अधिक और कुछ नही है कि यह भारतीय विचार का एक साधारण सर्वेक्षणमात्र है एव इसे एक विस्तारपूर्ण विषय की रूपरेखा मात्र ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। लेकिन यह कार्य भी बिलकुल सरल नही है। आवश्यक विचार-विमर्श से इतिहासलेखक के ऊपर एक बड़े उत्तरदायित्व का भार आ पड़ता है जो इस दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण है कि कोई एक व्यक्ति अध्ययन के इन सब विविध क्षेत्रो के विषय मे

अविचारपूर्वक नहीं कर सकता और इसलिए उसको बाध्य होकर उन्हें प्राप्त शास्त्रो के आधार पर ही अपना निर्णय करने के लिए बाध्य होना पड़ता है जिससे मूल्य का यह स्वय सावधानी के साथ निर्णय नहीं कर सकता। ऐसे निर्णय के विषय में मैंने योग्य विद्वानो के अनुसन्धानो के परिणामो पर ही लगभग पूर्णत निर्भर किया है। मुझे इस बात का पूरा ज्ञान है कि इस विस्तृत क्षेत्र का सर्वेक्षण करने में बहुत-कुछ आवश्यक विषय अछूता भी रह ... और जिसका प्रतिपादन हुआ है वह भी साधारण रूप में ही आ सका है। ... भी अर्थ में पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकती। इस पुस्तक में केवल ... का साधारण दिग्दर्शनमात्र किया गया है जिससे कि ऐसे व्यक्तियों ... सर्वथा अनभिज्ञ हैं कुछ ज्ञान प्राप्त हो सके और जहा तक सम्भव हो ... इसके प्रति रुचि जागरित हो सके जिस कार्य के लिए यह सर्वथा ... असफल भी रहे तो भी अन्य प्रयासो को इससे सहायता ... तो ... ।

प्रारम्भ ... को एक साथ प्रकाशित करने का था किन्तु ... जे० ... कृपालु मित्रो ने मुझे सुझाव दिया कि प्रथम खड तुरन्त ... दूसरे खड को तैयार करने में कुछ समय लगेगा और ... है, इसलिए इसे मैं स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित कर रहा हूं। ... किया गया है, उनकी विशेषता यह है कि भौतिक ... तार्किक भावनाओ द्वारा व्याख्या करने की अपेक्षा इस विषय ... है कि जीवन में उनकी क्रियात्मक आवश्यकता का समर्थन ... जिज्ञासु पाठको की दृष्टि में दार्शनिक की अपेक्षा धार्मिक ... से नहीं बचा जा सकता था क्योंकि प्राचीन भारतीय कल्पनाओ ... बहुत निकट सम्बन्ध रहा है। परन्तु दूसरे खड में अधिकतर विशुद्ध विषय पर ही विचार किया जाएगा क्योंकि दर्शनशास्त्रों में सद्धान्तिक दृष्टि का मुख्यत सम्बन्ध ही ऊपर रहता है यद्यपि ज्ञान और जीवन के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भुलाया नहीं जा सकता।

यहा पर मुझे उन कतिपय प्राच्यविद्या विशारदो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए ... होता है जिनके ग्रन्थो से मुझे अपने अध्ययन में बहुत सहायता मिली है। उन सबके नामो का उल्लेख सम्भव नही है जो स्थान स्थान पर इस पुस्तक में आएगे। किन्तु निश्चय ही मैक्समूलर ड्यूसन कीथ जकोबी गार्बे तिलक भण्डारकर रीज डविडस एव श्रीमती रीज डविड्स आल्डनबर्ग पौसी सुजुकी और योजर्न के नाम का उल्लेख आवश्यक है।

जितने ही अन्य अमूल्य ग्रन्थ जो हाल में प्रकाशित हुए हैं यथा प्रोफेसर दासगुप्त का भारतीय दर्शन का इतिहास और सर चार्ल्स इलियट का हिन्दूइज्म ऐंड बुद्धिज्म मुझे बहुत विलम्ब से प्राप्त हुए जबकि इस पुस्तक की पाण्डुलिपि पूर्ण होकर प्रकाशको के पास दिसम्बर १९२१ में भेजी जा चुकी थी। प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गई ग्रन्थ सूची अपने आपमें पूर्ण नहीं है। यह केवल अग्रेजी जाननेवाले पाठको के निर्देशन के लिए है।

मुझे प्रोफेसर जे० एस मकेंजी और श्री सुब्रह्मण्य अय्यर को धन्यवाद देना है

जिन्होने कृपा करके पुस्तक की पाण्डुलिपि के अधिकतर भाग को पढा और प्रूफ-सशोधन भी किया। इनके मैत्रीपूर्ण सत्परामर्शों से इस पुस्तक को बहुत लाभ पहुचा। मैं प्रोफेसर ए० बैरीडेल कीथ का अत्यन्त कृतज्ञ हू जिन्होने प्रूफ-सशोधन किया और कई बहुमूल्य सुझाव भी दिए। मैं 'लाइब्रेरी आफ फिलासफी' के सम्पादक प्रोफेसर जे० एच० म्योरहैड का उनकी उस बहुमूल्य और उदारतापूर्ण सहायता के लिए अत्यन्त कृतज्ञ हू जो उन्होने इस पुस्तक की प्रेस कापी तैयार करने मे तथा उससे पूर्व भी प्रदान की है। उन्होने पुस्तक की पाण्डुलिपि पढने का कष्ट किया और उनके सुझाव तथा आलोचनाए मेरे लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई हे। मै (स्वर्गीय) सर आशुतोष मुकर्जी नाइट् सी० एस० आई० का भी अत्यन्त कृतज्ञ हू, क्योकि उन्होने मुझे इस कार्य के लिए निरन्तर प्रोत्साहित किया और कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विभाग मे उच्चतर कार्य के लिए सब प्रकार की सुविधाए प्रदान की।

नवम्बर, १९२२

द्वितीय अंग्रेज़ी संस्करण की प्रस्तावना

यह प्रसन्नता का विषय हे कि इस पुस्तक के नये सस्करण की माग हुई है। इससे स्पष्ट हे कि अपनी त्रुटियो के बावजूद यह पुस्तक भारतीय दर्शन के प्रति रुचि उत्पन्न करने मे सहायक सिद्ध हुई है। मैने मूलपाठ मे कोई विशेष परिवर्तन नही किया है, किन्तु कुछ व्याख्यात्मक टिप्पणिया और जोडी है ताकि कठिनाइया दूर हो सके और एक परिशिष्ट भी जोडा है जिसमे प्रथम खड मे भारतीय विचारधारा के क्षेत्र मे उठाए गए कुछ विवादास्पद विषयो का समाधान किया गया है। मैं 'माइड' पत्र के सम्पादक का आभारी हू जिन्होने इस सस्करण के परिशिष्ट मे उस लेख के सार-तत्त्व के उपयोग की अनुमति प्रदान करने की कृपा की हे, जो सर्वप्रथम उनके पत्र मे अप्रैल, १९२६ मे प्रकाशित हुआ था।

इस सस्करण को तैयार करने मे मुझे अपने मैसूर-निवासी मित्र प्रोफेसर एम० हिरियण्ण के सुझावो से बहुत सहायता मिली है।

मई, १९१९

दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा मंत्रालय के तत्वावधान में पुस्तकों के प्रकाशन की विभिन्न योजनाएं कार्यान्वित की जा रही हैं। हिन्दी में अभी तक ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह आवश्यक है कि ऐसी पुस्तकें उच्चकोटि की हों। भारत सरकार द्वारा पुस्तकों के प्रकाशन की जो विविध योजनाएं इस समय कार्यान्वित की जा रही हैं उनमें से एक योजना प्रकाशकों के सहयोग से पुस्तकें प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत सरकार निश्चित संख्या में प्रकाशित पुस्तकों की प्रतियां खरीद कर उन्हें मदद पहुंचाती है।

प्रस्तुत पुस्तक इन्हीं योजनाओं के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। इसके अनुवाद-अधिकार, अनुवाद और पुनरीक्षण की व्यवस्था प्रकाशक ने स्वयं की है और पुस्तक में शिक्षा मंत्रालय द्वारा निर्मित शब्दावली का उपयोग किया है।

राष्ट्रपति डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन हमारे युग के एक महान दार्शनिक और विचारक हैं। भारतीय विचार परम्परा के मुख्य व्याख्याता और एक क्रान्तदर्शी तत्व चिंतक के रूप में उन्हें संसार के बौद्धिक क्षेत्र में अप्रतिम सम्मान प्राप्त है। उनकी रचनाओं ने आधुनिक चिंतन को गहराई से प्रभावित किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ डा. राधाकृष्णन् की विश्वविख्यात रचना इंडियन फिलासफी का प्रामाणिक अनुवाद है और हिन्दी में पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। संसार के दार्शनिकों ने इस ग्रंथ की प्रशंसा मुक्तकंठ से की है। देश और विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों में यह ग्रंथ भारतीय दर्शन की पाठ्यपुस्तक के रूप में सम्मान स्वीकृत है।

हमें विश्वास है कि शासन और प्रकाशकों के सहयोग से प्रकाशित साहित्य हिन्दी को समृद्ध बनाने में सहायक होगा और ज्ञान विज्ञान से सम्बन्धित अधिकाधिक पुस्तकें हिन्दी के पाठकों को सुलभ होंगी।

आशा है हिन्दी के पाठक इस ग्रंथ का स्वागत करेंगे और यह योजना उत्तरोत्तर लोकप्रिय होगी।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय
(शिक्षा मंत्रालय)

ए. चन्द्रहासन

निदेशक

विषय-सूची

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

द्वितीय भाग

महाकाव्य काल

पांचवां अध्याय

छठा अध्याय

सातवां अध्याय

आठवां अध्याय

नवां अध्याय

दसवां अध्याय

ग्यारहवां अध्याय

परिशिष्ट

भारतीय दर्शन

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

भारत की प्राकृतिक स्थिति—भारतीय विचारधारा की सामान्य विशेषताएं—भारतीय दर्शन के विरुद्ध कुछ आरोप—भारतीय दर्शन के अध्ययन का महत्त्व—भारतीय विचारधारा के विभिन्न काल।

१

भारत की प्राकृतिक स्थिति

चिन्तनशील व्यक्तियो के विचारो के प्रस्फुटित हो सकने तथा विभिन्न कलाओ और विज्ञानो के समृद्ध हो सकने के लिए एक सुव्यवस्थित समाज का होना अत्यावश्यक है जो पर्याप्त सुरक्षा और अवकाश प्रदान कर सके। घुमक्कडो के समुदाय मे, जहा लोगो को जीवित रहने के लिए सघर्ष करना और अभाव से पीडित रहना पडता है, किसी समृद्ध सस्कृति का पनप सकना असम्भव है। भाग्य से भारत ऐसे स्थान पर स्थित है जहा प्रकृति अपने दान मे मुक्तहस्त रही है और जहा के प्राकृतिक दृश्य मनोरम है। एक ओर हिमालय अपनी सघन पर्वतमाला और उत्तुगता के कारण तथा दूसरे पार्श्वों मे लहराता हुआ सागर एक लम्बे समय तक भारत को बाहरी आक्रमणो से सुरक्षित रखने मे सहायक सिद्ध हुए। उदार प्रकृति ने प्रचुर मात्रा मे खाद्य-सामग्री प्रदान की और इस प्रकार यहा के निवासी कठोर परिश्रम और जीवित रहने के सघर्ष से मुक्त रहे। भारतीयो ने कभी यह अनुभव नही किया कि ससार एक युद्ध-क्षेत्र है जहा लोग शक्ति, सम्पत्ति और प्रभुत्व की प्राप्ति के लिए सघर्ष करते हैं। जब हमे पार्थिव जीवन की समस्याओ को हल करने, प्रकृति से अधिकाधिक लाभसाधन करने तथा ससार की शक्तियो को नियन्त्रित करने मे अपनी शक्ति को व्यर्थ नही गवाना पडता तो हम उच्चतर जीवन के विषय मे, इस विषय मे कि आत्मशक्ति मे किस प्रकार और अधिक पूर्णता के साथ रहा जा सकता है, सोचना-विचारना आरम्भ करते है। सभवत. यहा के दुर्बल बनानेवाले जलवायु ने भारतीयो को

विश्राम और कर्मविरति की ओर प्रवृत्त किया। विस्तृत पत्रसकुल व शाद्वलों से पूर्ण विशाल वनों ने धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को शांतिपूर्वक विचरने की तथा अन्तर्मुख कल्पनाओं और दिव्य ध्यान के गान में रत रहने की अत्यधिक सुविधा प्रदान की। संसार से क्लांत व्यक्ति इन प्राकृतिक दृश्यों के अवलोकनार्थ तीर्थयात्रा पर निकलते हैं, आतरिक शांति प्राप्त करते हैं, मन्द मन्द पवन तथा निर्झरों का संगीत सुनते हैं एवं पक्षियों और वनलता पल्लवों के मर्मरगान से प्रमुदित होकर स्वस्थहृदय और प्रफुल्लमन वापस लौटते हैं। आश्रमों, तपोवनों और वानप्रस्थों की अरण्य कुटियों में ही भारत के तत्त्ववेत्ताओं ने ध्यानमग्न होकर जीवनसत्ता की गम्भीर समस्याओं पर विचार किया। सुरक्षित जीवन, प्राकृतिक साधनों की सम्पन्नता, अनिश्चितता से मुक्ति, जीवन की निम्नकोटियों से विरक्ति और क्रूर व्यावहारिक स्वार्थ के अभाव ने ही भारत के उच्चतर जीवन को प्रोत्साहन प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप हम इतिहास के आरम्भकाल से ही भारतीय मन में आत्मज्ञान के लिए एक प्रकार की विकलता, विद्या के प्रति प्रेम और मस्तिष्क की अधिक स्वस्थ और युक्तियुक्त प्रवृत्तियों के प्रति लालसा दिखाई देती है।

प्राकृतिक स्थितियों के अनुकूल होने तथा पदार्थों के गूढार्थ पर विचार करने योग्य बौद्धिक क्षेत्र उपलब्ध होने के कारण भारतीय उस सर्वनाश से बचा रहा जिसे प्लेटो ने सबसे बुरा बताया है, अर्थात विवेक से घृणा। उसने अपने 'फीडो' नामक ग्रंथ में लिखा है कि "आओ, हम सबसे अधिक इस बात का ध्यान रखें कि इस विपत्ति से हम ग्रस्त न हों कि हम विवेकद्वेषी न बनें, जैसे कुछ लोग मानवद्वेषी हो जाते हैं, क्योंकि मनुष्यों के लिए इससे बड़ा दुर्भाग्य और कोई नहीं हो सकता कि वे विवेक के शत्रु बन जाएं।" ज्ञान का आनन्द मनुष्य को उपलब्ध एक पवित्रतम आनन्द है और भारतीय मस्तिष्क में इसके लिए प्रबल लालसा की ज्वाला विद्यमान है।

संसार के अन्य कितने ही देशों में जीवनसत्ता-सम्बन्धी मीमांसा को एक प्रकार के विलास के समान माना जाता है। जीवनकाल के गंभीर क्षणों का उपयोग कम करने के लिए किया जाता है और दार्शनिक अभिनिवेश को प्रासंगिक एवं अवांतर विषय माना जाता है। प्राचीन भारत में दर्शन का विषय किसी अन्य विज्ञान अथवा कला के साथ जुड़ा हुआ न होकर सदा ही अपने आपमें एक प्रमुख और स्वतन्त्र स्थान रखता था। किन्तु पश्चिमी देशों में अपने विकास के पूर्ण यौवनकाल में भी, जैसे प्लेटो और अरस्तू के समय में, इसे राजनीति अथवा नीतिशास्त्र जैसे किसी अन्य विषय का सहारा लेना पड़ा है। मध्यकाल में इसे परमार्थविद्या के नाम से जाना जाता था, बेकन और न्यूटन के लिए यह प्राकृतिक विज्ञान था और उन्नीसवीं शताब्दी के विचारकों के लिए इसका गठबंधन इतिहास, राजनीति एवं समाजशास्त्र के साथ रहा। भारत में दर्शनशास्त्र आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र रहा है तथा अन्य सभी विषय प्रेरणा और समर्थन के लिए इसका आश्रय ढूंढते थे। भारत में यह प्रमुख विज्ञान है जो अन्य विज्ञानों के लिए मार्गदर्शक है, क्योंकि बिना तत्त्वज्ञान के आश्रय के वे सब खोखले और मूर्खतापूर्ण समझे जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मविद्या (नित्य विषयक ज्ञान) को अन्य सब विज्ञानों का आधार 'सर्व विद्या प्रतिष्ठा' कहा गया है। कौटिल्य का कथन है, "दर्शनशास्त्र (आन्वीक्षिकी

दर्शन) अन्य सब विषयों के लिए प्रदीप का कार्य करता है, यह समस्त कार्यों का साधन और समस्त कर्तव्यकर्मों का मार्गदर्शक है।"[1]

चूंकि दर्शनशास्त्र विश्व की समस्या को समझने का एक मानवीय प्रयास है इसलिए इसपर जाति और संस्कृति के प्रभावों का पडना निश्चित है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशिष्ट मनोवृत्ति होती है और उसका बौद्धिक झुकाव भी अपना विशेष होता है। इतिहास की शताब्दियों के प्रवाह और उन समस्त परिवर्तनों के बीच जिनसे भारत गुजरा है, एक विशेष एकरूपता परिलक्षित होती है। इसने कुछ मानसिक विशेषताओं को दृढता से पकड रखा है, जो इसकी विशिष्ट परम्परा के अभिन्न अंग है, और ये विशेषताएं भारतीय जनों के विशिष्ट लक्षणों के रूप में तब तक विद्यमान रहेंगी जब तक भारतीयों को अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने का सौभाग्य प्राप्त रहेगा। व्यक्तित्व का अर्थ है विकास की स्वाधीनता। आवश्यक नहीं कि इसका अर्थ असमानता हो। नितान्त असमानता सम्भव नहीं, क्योंकि समस्त संसार में मनुष्य समान है, विशेषत जहा तक आत्मा की प्रतीति का सम्बन्ध है, मानव सर्वत्र समान है। काल, इतिहास और स्वभाव के भेद से अवश्य भिन्नता लक्षित होती है। ये भेद विश्व-संस्कृति की सम्पन्नता को बढाते हैं, क्योंकि दार्शनिक विकास का इससे अधिक सुगम मार्ग और कोई नहीं है। इससे पूर्व कि हम भारतीय विचारधारा के विशिष्ट स्वरूपों पर दृष्टिपात करे, कुछ शब्द भारतीय विचारधारा पर पश्चिम के प्रभाव के सम्बन्ध में भी आवश्यक है।

प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या भारतीय विचारधारा ने विदेशी सूत्रों से, यथा यूनान से, अपने विचार उधार लिए है और किस सीमा तक लिए है। भारतीय तत्त्वचिन्तकों के कुछ विचार प्राचीन यूनान में प्रतिपादित कुछ सिद्धान्तों से इतने मिलते है कि यदि कोई चाहे तो इनमें से किसी भी विचारधारा को सरलता से हीन सिद्ध कर सकता है।[2] विचारों के सम्बन्धन का प्रश्न उठाना एक निरर्थक विषय के पीछे पडना है। निष्पक्ष दृष्टि वाले किसी व्यक्ति के लिए सपातों का होना ऐतिहासिक समानान्तरता का ही एक प्रमाण है। समान अनुभव मनुष्यों के मन में समान विचारों को जन्म देते है। ऐसा कोई भौतिक प्रमाण उपलब्ध नहीं जिससे कम से कम यह सिद्ध हो सके कि भारत ने अपने दार्शनिक विचार सीधे-सीधे पश्चिम से उधार लिए। भारतीय विचारधारा के

१ देखें, 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी', १९१८, पृष्ठ १०२। और भी देखें, 'भगवद्गीता', १० ३२।

२ सर विलियम जोन्स ने लिखा है "दर्शन की शाखाओं के सम्बन्ध में यहा पर इतना निरूपण पर्याप्त होगा कि प्रथम न्याय अरस्तू के दर्शन के समान है, द्वितीय न्याय, जिसे कभी-कभी वैशेषिक कहा जाता है, आयनिक दर्शन (यूनान) के सदृश है, दोनों मीमासादर्शन, जिनमें से दूसरे को प्राय वेदान्त के नाम से जाना जाता है, प्लेटो के दर्शन-सदृश है, प्रथम साख्य प्राचीन इतालवी दर्शन के सदृश और द्वितीय, पतजलि का, स्टोइक दर्शन के सदृश है, यहा तक कि गौतम अरस्तू के अनुकूल है, कणाद थेलीज के, जैमिनी सुकरात के, व्यास प्लेटो के, कपिल पिथागोरस के और पतजलि जेनो के अनुकूल है।" (ग्रन्थावली, १ : ३६०-१। और भी देखें, कोलब्रूक कृत 'मिसलेनियस एसेज' १ ४३६।) यह मत तो प्राय प्रकट किया जाता है कि यूनानी विचारधारा पर भारतीय दर्शन का प्रभाव पडा, किन्तु यह प्राय नहीं कहा जाता कि भारतीय दर्शन यूनानी विचारधारा का ऋणी है। (देखें, गार्बे कृत 'फिलासफी आफ एन्शियट इंडिया', अध्याय २।)

हमारे इस वृत्तांत से यह स्पष्ट होगा कि यह मानवीय मस्तिष्क का एक नितांत स्वतन्त्र उपक्रम है। दार्शनिक समस्याओं पर यहां बिना किसी पश्चिमी प्रभाव अथवा सम्बन्ध के विचार विमर्श किया गया है। पश्चिम के साथ प्रासंगिक संसर्ग होने पर भी भारत अपने आत्मजीवन दर्शन एवं धर्म को विकसित करने के लिए स्वतन्त्र रहा। इस प्रायद्वीप में आकर बसनेवाले आर्यों के आदिस्थान के बारे में चाहे जो भी मत ठीक हो उनका पश्चिम अथवा उत्तर के अपने सजातियों के साथ शीघ्र ही सम्बन्ध टूट गया और उन्होंने एक निजी तथा सर्वथा स्वतन्त्र पद्धति पर अपना विकास किया। यह सत्य है कि भारत पर उत्तर-पश्चिम के दर्रों की ओर से आनेवाली सेनाओं ने बार-बार आक्रमण किया किन्तु उनमें से सिकन्दर के आक्रमण के सिवाय और किसीने दो विश्वों के मध्य आध्यात्मिक समागम को प्रोत्साहन नहीं दिया। केवल उसके पश्चात् के काल में ही, जब से समुद्र का मार्ग खुला है अधिक घनिष्ठ संसर्ग को बढ़ावा मिल सका है जिसके परिणामों के विषय में अभी हम कुछ नहीं कह सकते क्योंकि वे अभी निर्माण की अवस्था में ही हैं। इसलिए सब प्रकार के व्यावहारिक प्रयोजन के लिए हम भारतीय विचारधारा को एक परिपूर्ण दार्शनिक पद्धति अथवा विचारों के एक स्वायत्त विकास के रूप में मान सकते हैं।

२

भारतीय विचारधारा की सामान्य विशेषताएं

भारत में दर्शनशास्त्र मूलभूत रूप से आध्यात्मिक है। भारत की प्रगाढ़ आध्यात्मिकता ने ही न कि उसके द्वारा विकसित किसी बड़े राजनीतिक ढांचे या सामाजिक संगठन ने इस काल के विध्वंसकारी प्रभावों और इतिहास की दुर्घटनाओं को सहन कर सकने का सामर्थ्य प्रदान की। भारत के इतिहास में कई बार बाह्य आक्रमणों और आंतरिक फूट ने इसकी सभ्यता और संस्कृति को नष्टप्राय करने का प्रयास किया। यूनानियों और सीथियनों ने फारसवासियों और मुगलों ने फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने क्रमशः इस सभ्यता को दबाने का प्रयत्न किया और फिर भी इसने अपना मस्तक ऊंचा रखा है। भारत पूरे तौर से कभी पराजित नहीं हुआ और इसकी आत्मा की वह पुरातन लौ आज भी प्रकाशमान है। अपने अब तक के सम्पूर्ण जीवन में भारत का एक ही उद्देश्य रहा है वह है सत्य का सत्यापन और असत्य का प्रतिकार। इसने त्रुटि भले ही की हो किन्तु इसने वही किया जिसके योग्य इसने अपने आपको समझा और जिसकी इससे आशा की गई। भारतीय विचारधारा के इतिहास में मस्तिष्क की अंतहीन गवेषणा के दृष्टान्त मिलेंगे जो पुरातन होने पर भी सदा नवीन हैं।

भारतीय जीवन में आध्यात्मिक प्रयोजन का स्थान सदा ही सर्वोपरि रहता है। भारतीय दर्शन की रुचि मानव-समुदाय में है किसी काल्पनिक एकान्त में नहीं। इसका उद्भव जीवन में से होता है और विभिन्न धाराओं और सम्प्रदायों में से होकर यह पुनः जीवन में ही प्रवेश करता है। भारतीय दर्शन की महान रचनाओं का वह आधिकारिक या प्रामाणिक स्वरूप नहीं है जो परवर्ती समालोचना और टीकाओं की एक प्रमुख विशेषता

है। गीता और उपनिषदे जनसाधारण के धार्मिक विश्वास की पहुच के बाहर नही है। ये ग्रथ इस देश के महान साहित्य के अग है और साथ ही बडी-बडी दार्शनिक विचार-धाराओ के माध्यम भी है। पुराणो मे कथाओ और कल्पनाओ के रूप मे सत्य छिपा हुआ है जिससे कि न्यूनबोध जनता के बड़े वर्ग का भी उपकार हो सके। बहुसख्यक जनता की रुचि को तत्त्वमीमासा की ओर प्रवृत्त करने का जो दुष्कर कार्य है उसमे भारत ने सफलता प्राप्त की है।

दर्शनशास्त्र के सस्थापको ने देश के सामाजिक-आध्यात्मिक सुधार का प्रयास किया है। जब भारतीय सभ्यता को ब्राह्मण-सभ्यता कहा जाता है तो इसका तात्पर्य केवल यह है कि इसका मुख्य स्वरूप एव इसके प्रधान लक्ष्यो का निरूपण दार्शनिक विचारको और धार्मिक आचार्यों के द्वारा हुआ है यद्यपि इनमे से सभीका जन्म ब्राह्मणकुल मे नही हुआ। प्लेटो के इस विचार को, कि दार्शनिको को समाज का शासक और निदेशक होना चाहिए, भारत मे ही क्रियात्मक रूप दिया गया है। यहा यह माना गया है कि परम सत्य आध्यात्मिक सत्य ही है और उन्हीके प्रकाश मे जीवन का सस्कार किया जाना चाहिए।

भारत मे धर्म-सम्बन्धी हठधर्मिता नही है। यहा धर्म एक युक्तियुक्त सश्लेषण है जो दर्शन की प्रगति के साथ-साथ अपने अन्दर नये-नये विचारो का सग्रह करता रहता है। अपने-आपमे इसकी प्रकृति परीक्षणात्मक और अनन्तिम है, और यह वैचारिक प्रगति के साथ कदम मिलाकर चलने का प्रयास करता है। यह सामान्य आलोचना, कि भारतीय विचार बुद्धि पर बल देने के कारण दर्शनशास्त्र को धर्म का स्थान देता है, भारत मे धर्म के युक्तियुक्त स्वरूप का समर्थन करती है। इस देश मे कोई भी धार्मिक आन्दोलन ऐसा नही हुआ जिसने अपने समर्थन मे दार्शनिक विषय का विकास भी साथ-साथ न किया हो। श्री हैवल का कहना है : "भारत मे धर्म को रूढि या हठधर्मिता का स्वरूप प्राप्त नही है, वरन् यह मानवीय व्यवहार की ऐसी क्रियात्मक परिकल्पना है जो आध्यात्मिक विकास की विभिन्न स्थितियो मे और जीवन की विभिन्न अवस्थाओ मे अपने-आपको अनुकूल बना लेती है।"[1] जब भी धर्म ने एक जड मतवाद का रूप धारण करने की प्रवृत्ति दिखाई तो अनेक आध्यात्मिक पुनरुत्थान और दार्शनिक प्रतिक्रियाए उत्पन्न हुई और उपलब्ध विश्वास कसौटी पर कसे गए, असत्य का खण्डन कर सत्य की सस्थापना की गई। हम बराबर देखेगे कि जब-जब परम्परागत विश्वास, काल-परिवर्तन के कारण, अपर्याप्त ही नही झूठ सिद्ध होते हैं और युग उनसे ऊब जाता है तो बुद्ध या महावीर, व्यास या शकर जैसे युगपुरुष की चेतना आध्यात्मिक जीवन की गहराइयो मे हलचल उत्पन्न करती हुई जन-मानस पर छा जाती है। भारतीय विचारधारा के इतिहास मे निस्सन्देह ये बडे महत्त्वपूर्ण क्षण रहे है, आन्तरिक कसौटी और अन्तर्दृष्टि के क्षण, जबकि आत्मा की पुकार पर मनुष्य का मन एक नये युग मे पग रखता है और एक नये साहसिक कार्य पर चल पडता है। दर्शन के सत्य और जनसाधारण के दैनिक जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध ही धर्म को सदा सजीव और वास्तविक बनाता है।

१. 'आर्यन रूल इन इंडिया', पृष्ठ १७०। देखें, 'द हार्ट आफ हिन्दूइज़्म' नामक लेख . 'हिबर्ट जर्नल', अक्तूबर, १९२२।

धर्मविषयक समस्याओं से दार्शनिक भावना को उत्तेजना मिलती है। भारतीय मस्तिष्क प्राचीन परम्परा से ही सर्वोपरि परब्रह्म जीवन के उद्देश्य और मनुष्य का विश्वात्मा के साथ सम्बन्ध आदि प्रश्नों के समाधान में परिश्रमपूर्वक लगा रहा है। भारत में यद्यपि दर्शनशास्त्र ने साधारणतया अपने को धार्मिक परिकल्पना के आकर्षण से अछूता नहीं रखा तो भी दार्शनिक विचार विमर्श की प्रगति में धार्मिक रीतियों एवं क्रियाकलाप ने कोई बाधा नहीं दी। दोनों का परस्पर सम्मिलन कभी नहीं हुआ। आगम और व्यवहार के बीच सिद्धांत और वास्तविक जीवन के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण कोई दर्शन जो जीवन की कसौटी पर खरा न उतर सकता, उपयोगितावाद की दृष्टि से नहीं वरन् अपने विस्तृत अर्थों में कभी भी जीवित नहीं रह सकता था। उन लोगों के लिए जो जीवन और आगम के मध्य वास्तविक नाते का महत्त्व पहचानते हैं, दर्शन जीवन की एक पद्धति या उसका अंग आत्म साक्षात्कार का एक साधन बन जाता है। यहां कोई भी दार्शनिक शिक्षा ऐसी नहीं था यहां तक कि सांख्य की भी नहीं, जो केवल एक मौखिक शब्द या सम्प्रदायगत रूढ़ि मात्र रह गई हो। प्रत्येक सिद्धांत को एक ऐसी ओजस्वी श्रद्धा के रूप में जीवन में परिवर्तित कर लिया गया जिसने मनुष्य के हृदय को उद्वेलित किया और उसे चैतन्य से परिपूर्ण कर दिया।

यह कहना असत्य है कि भारत में दर्शनशास्त्र कभी भी प्रबुद्ध और आत्मचेतन अथवा विवेचनात्मक नहीं रहा। यहां तक कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में भी तार्किक चिंतन की प्रवृत्ति धार्मिक विश्वास में सुधार की ओर रही है। धर्म के उस विकास को देखिए जिसका संकेत वेदमंत्रों से लेकर उपनिषदों तक हुई प्रगति में मिलता है। जब हम बौद्ध धर्म के समीप पहुंचते हैं तो ज्ञात होता है कि दार्शनिक भावना ने पहले से ही एक विश्वासपूर्ण मानसिक वृत्ति का रूप धारण कर लिया है जो बुद्धि से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों में किसी बाह्य प्रमाण के आगे नहीं झुकती और जो अपने उद्यम की किसी सीमा को भी तब तक स्वीकार नहीं करती जब तक कि यह तर्कसम्मत न जंचे क्योंकि तर्क हर वस्तु के अंतस्तल में प्रवेश करता है हर चीज की परख करता है और जहां तक युक्ति एवं प्रमाण मार्ग दिखा सकते हैं निर्भयतापूर्वक आगे बढ़ता है। जब हम विभिन्न दर्शनों अथवा विचार की विभिन्न पद्धतियों तक पहुंचते हैं तो हमें क्रमबद्ध विचार के प्रति विशाल और आग्रहपूर्ण प्रयत्नों का प्रमाण मिलता है। ये दर्शन किस प्रकार परम्परागत धार्मिक विश्वासों और पक्षपातों से सर्वथा मुक्त हैं यह इससे स्पष्ट हो जाता है कि सांख्यदर्शन ईश्वर की सत्ता के विषय में मौन है हालांकि उसकी सैद्धांतिक प्रमाणातीतता के विषय में वह आश्वस्त है। वैशेषिक और योगदर्शन एक परब्रह्म की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे विश्व का कर्ता नहीं मानते और जैमिनि ईश्वर का उल्लेख तो करते हैं किन्तु उस विधाता एवं संसार का नैतिक शासक मानने से इनकार करने के लिए ही। प्रारम्भिक बौद्धदर्शनों को ईश्वर के प्रति उदासीन माना जाता है और हमारे यहां भौतिकतावादी चार्वाक भी मिलते हैं जो ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करते हैं पुरोहितों का उपहास करते हैं वेदों की भर्त्सना करते हैं तथा सांसारिक सुख में ही मुक्ति की खोज करते हैं।

जीवन में धर्म और सामाजिक परम्परा की श्रेष्ठता दार्शनिक ज्ञान के मुक्त

अनुमरण मे वाधक नही होती। यह एक अद्भुत विरोधाभास है, किन्तु फिर भी एक प्रकट सत्य है, क्योकि जहा एक ओर किसी व्यक्ति का सामाजिक जीवन जन्मगत जाति की कठिन रूढि से जकडा हुआ है वहा उसे अपना मत स्थिर करने मे पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय मे जन्मा हो, तर्क द्वारा उस सम्प्रदाय की समीक्षा कर सकता है। यही कारण है कि भारतभूमि मे विधर्मी या धर्मभ्रष्ट, सशयवादी, नास्तिक, हेतुवादी एव स्वतन्त्र विचारक, भौतिकतावादी एव आनन्दवादी—सभी फलते-फूलते रहे है। महाभारत मे कहा है "ऐसा कोई मुनि नही जो अपनी भिन्न सम्मति न रखता हो।"

यह सब भारतीय मस्तिष्क की प्रवल वौद्धिकता का प्रमाण है जो मानवीय कार्यकलाप के समस्त पक्षो के आभ्यन्तर सत्य एवं नियम को जानने के लिए प्रयत्नशील है। यह वौद्धिक प्रेरणा केवल दर्शनशास्त्र और ब्रह्मविद्या तक ही सीमित नही है, वल्कि तर्कशास्त्र और व्याकरणशास्त्र मे, अलकारशास्त्र और भापाविज्ञान मे, आयुर्विज्ञान और ज्योतिपशास्त्र मे—वस्तुत स्थापत्यकला से लेकर प्राणिविज्ञान तक समस्त ललित कलाओ और विज्ञानो मे व्याप्त हे। इस देश मे प्रत्येक वस्तु जो जीवन के लिए उपयोगी है अथवा मस्तिष्क के लिए रुचिकर है, जाच-पडताल एव समीक्षा का विषय वन जाती है। यहा का वौद्धिक जीवन कितना व्यापक और पूर्ण रहा है इसका आभास इस तथ्य से मिल सकता है कि यहा अश्वपालन-विद्या एव हाथियो को प्रशिक्षित करने की विद्या जैसे छोटे-छोटे विपयो तक के अपने-अपने शास्त्र और साहित्य रहे है।

वास्तविक सत्ता के स्वरूप-निर्णय के दार्शनिक प्रयास का समारम्भ या तो विचारक (प्रमाता) आत्मा से या विचार के विपय (प्रमेय) पदार्थो से हो सकता है। भारत मे दर्शन की रुचि मनुष्य की आत्मा मे है। जव दृष्टि वाहर की ओर होती है तो निरन्तर वदलती हुई घटनाओ का प्रवाह ध्यान आकृष्ट कर लेता है। इसके विपरीत भारत मे 'आत्मान विद्धि', अर्थात् अपनी आत्मा को पहचानो, इस एक सिद्धान्त मे समस्त धार्मिक आदेश और युगपुरुषो की शिक्षाए समाविष्ट हैं। मनुष्य के अपने अन्दर वह आत्मा है जो प्रत्येक वस्तु का केन्द्र है। मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र आधारभूत विज्ञान है। भौतिक मन के जीवन का चित्रण उसकी समस्त गतिशील विविधताओ तथा उज्ज्वलता और कालिमा के सूक्ष्म सयोजन के साथ हुआ है। भारतीय मनोविज्ञान ने एकाग्रता के महत्त्व को समझा है और उसे सत्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन के रूप मे माना है। उसका विश्वास रहा है कि जीवन या मन का ऐसा कोई क्षेत्र नही है जहा इच्छा-शक्ति एव ज्ञान के विधिवत् प्रशिक्षण द्वारा नही पहुचा जा सकता। उसने मन और शरीर के घनिष्ठ सम्वन्ध को पहचाना था। आत्मिक या मानसिक अनुभव, यथा मन पर्यय और अतीन्द्रिय दृष्टि आदि, न तो असामान्य और न ही चमत्कारक समझे जाते है। ये विकृत मन अथवा दैवीय प्रेरणा से उत्पन्न शक्तिया नही, वल्कि ऐसी शक्तिया है जिन्हे मानवीय मानस सावधानीपूर्वक अभिनिश्चित परिस्थितियो मे प्रकट कर सकता है। मनुष्य के मन के तीन रूप है—अवचेतन, चेतन व अतिचेतन; और 'असामान्य' मानसिक चमत्कार—जिन्हे भावोन्माद (परमानन्द या समाधि), प्रतिभा, ईश्वरीय प्रेरणा, विक्षिप्तावस्था आदि भिन्न-भिन्न नामो से जाना जाता है—अतिचेतन मन की क्रियाओ के अतिरिक्त

और कुछ नहीं है। मोक्षज्ञान किसी तरह भी बुद्धि से सम्बन्धित है, यद्यपि यह दर्शन ब्रह्मविद्या या उसका उपयोग करता है और अपने प्रयोजन के लिए उसका उपयोग भी करती है।

मनोविज्ञान द्वारा प्रस्तुत आधार-सामग्री ही अध्यात्मविद्याओं का आधार है। इस आलोचना का आरोप नहीं किया जा सकता कि पाश्चात्य अध्यात्मविद्या एकपक्षीय है क्योंकि इसका ध्यान केवल जागरितावस्था तक ही सीमित है। चेतना की अन्य अवस्थाएं भी हैं जिनपर जागरितावस्था की भांति ही विचार करना आवश्यक है। भारतीय विचारधारा जागरितावस्था स्वप्नावस्था और सुषुप्ति (स्वप्नरहित निद्रा) पर ध्यान देती है। यदि हम केवल जागरितावस्था को ही सब कुछ मान लें तो हम अध्यात्मविद्या की यथार्थवादी, ईश्वरवादी तथा बहुत्ववादी व्यवस्थाएं ही प्राप्त होती हैं। जब हम केवल स्वप्नचेतना का पृथक् रूप में अध्ययन करते हैं तो हमें आत्मवादी या विषयिविज्ञानवादी सिद्धान्तों की ही प्राप्ति होती है। सुषुप्ति या स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था हमें अमूर्त और रहस्यपूर्ण सिद्धान्तों की ओर उन्मुख करती है। सम्पूर्ण सत्य की प्राप्ति के लिए चेतना की समस्त अवस्थाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

आत्मपरकता के विषय में विशेष रुचि रखने का तात्पर्य यह नहीं है कि भौतिक विज्ञानों के विषय में भारत ने कुछ नहीं किया। यदि हम भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्राप्त की गई सफलताओं की ओर दृष्टिपात करें तो हमें मालूम होगा कि स्थिति इससे ठीक विपरीत है। प्राचीन भारतीयों ने गणितविद्या एवं यन्त्रविद्या की नींव डाली थी। उन्होंने भूमि का माप किया, वर्ष के विभाग किए, आकाश के नक्शे तैयार किए, सूर्य एवं अन्यान्य ग्रहों के राशिमण्डलीय परिधि के अन्दर घूमने के मार्ग का परिशीलन किया, प्रकृति की रचना का विश्लेषण किया एवं प्राकृतिक पक्षियों, पशुओं, पेड़-पौधों और बीजों आदि तक का अध्ययन किया।[1] "ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी उन विचारों का जो संसार में प्रचलित हैं आदिस्रोत क्या था इस विषय में हम चाहे जो भी परिणाम निकालें यह सर्वथा सम्भव है कि बीजगणित का आविष्कार हिन्दुओं ने किया और उसका प्रयोग ज्योतिषशास्त्र एवं ज्यामिति में भी हुआ। अरबवासियों ने भी बीजगणित के विश्लेषक विचारों को और उन अमूल्य अंक-सम्बन्धी चिह्नों और दशमलव के विचारों को जिनका आज यूरोप में सर्वत्र प्रचलन है और जिनके कारण गणितविद्या ने अद्भुत उन्नति की है, भारतवासियों से ग्रहण किया।" "चांद और सूरज की गतियों का भी हिन्दुओं ने बहुत सूक्ष्म अध्ययन किया था और यहां तक इस विषय में उन्नति की थी कि उनके द्वारा निर्धारित

१ हम एक ऐसे अंश का उदाहरण देते हैं जो कोपर्निकस से कम से कम २०० ० वर्ष पूर्व ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा गया था : "सूर्य न तो कभी अस्त होता है और न कभी उदय। जब लोग सोचते हैं कि सूर्य अस्त हो रहा है तब वह केवल एक परिवर्तन में आता है, दिन के अन्त में नीचे के हिस्से में रात हो जाती है और दूसरी ओर दिन हो जाता है। फिर जब लोग सोचते हैं कि सूर्य उदय हो रहा है तब वह केवल रात्रि के अन्त में पहुंचकर फिर एक परिवर्तन में आ रहा होता है, और नीचे के हिस्से में दिन और दूसरे हिस्से में रात कर देता है। वस्तुतः वह कभी अस्त नहीं होता।" —हौग कृत संस्करण २ ९४ छान्दोग्य उप० ३-२ १-३ यदि यह जनश्रुति ही है तो भी रोचक है।

२ मोनियर विलियम्स—इण्डियन विज़्डम १८४।

चन्द्रमा की ग्रहो अथवा तारो के समुच्चय-समेत परिक्रमा का अकन यूनानियो द्वारा निर्धारित गति से कही अधिक पूर्ण और सही था। उन्होने क्रान्तिवृत्त को २७ एव २८ भागो मे विभक्त किया था, जिसका सुझाव उन्हे चन्द्रमा की दैनिक अवधि से और प्रतीत होता है कि स्वय उनकी अपनी आकृतियो से भी मिला था। भारतीय ज्योतिषी मुख्य ग्रहो मे से जो सबसे अधिक उज्ज्वल ग्रह है उनसे भी विशेषरूप से अभिज्ञ थे। बृहस्पति का परिक्रमणकाल सूर्य एव चन्द्रमा के परिक्रमणकाल के साथ-साथ उनके वर्ष मे नियमित होकर ६० वर्ष के कालचक्र मे उनके और वेबिलन के भविष्यवक्ता ज्योतिषियो मे एक समान है।"[1] यह अब सर्वसम्मत विषय है कि हिन्दुओ ने बहुत प्राचीन समय मे दोनो विज्ञानो अर्थात् तर्कशास्त्र एव व्याकरण को जन्म दिया एव उनका विकास किया।[2] विल्सन लिखता है . "चिकित्साविज्ञान मे भी ज्योतिष और अध्यात्मविद्या की भाति ही एक समय हिन्दू लोग ससार के सबसे अधिक प्रबुद्ध राष्ट्रो के साथ-साथ चलते थे। और उन्होने आयुर्वेद और शल्य-चिकित्सा मे इसी प्रकार पूर्ण दक्षता प्राप्त की थी जैसी कि उन अन्य देशो ने की थी जिनकी खोज के परिणाम आज हमारे सामने है, और वह इससे बहुत पूर्व के समय मे व्यवहार मे भी आती थी जबकि आधुनिक खोज करनेवालो ने शरीर-विज्ञान का परिचय हमे दिया।[3] यह सत्य है कि उन्होने चिकित्सा-सम्बन्धी बड़े-बड़े यन्त्रों का आविष्कार नही किया, इसका कारण यह है कि दयालु ईश्वर ने इस देश के निवासियो को बडी-बडी नदिया और भोजन के लिए प्रचुर मात्रा मे अनाज दे रखा था। हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये यान्त्रिक आविष्कार अन्तत' उस सोलहवी शताब्दी एव उसके बाद की उपज है जिस समय तक भारत अपनी स्वाधीनता खोकर पराश्रयी बन चुका था। जिस दिन से इसने अपनी स्वतन्त्रता खोई और पराये देशो से झूठा प्रेम का नाता बाधना प्रारम्भ किया, इसे एक प्रकार के शाप ने ग्रस लिया और यह किंकर्तव्यविमूढ हो गया। उससे पूर्व तक इसमे गणितविद्या, ज्योतिष, रसायनशास्त्र, चिकित्साविज्ञान, शल्यचिकित्सा और अन्यान्य भौतिकविज्ञान के उन सब विभागो के अलावा जो प्राचीन समय मे उपयोग मे आते थे, कलाओ, दस्तकारी और उद्योगो के मामले मे भी अपनापन रखने की क्षमता थी। इस देश के वासी पत्थरो को तराशना, तस्वीरे बनाना, सोने पर पालिश करके उसे चमकाना, और कीमती कपडे बुनना जानते थे। उन्होने उन सब प्रकार की कलाओ, ललित एवं औद्योगिक कलाओ, का विकास किया, जिनसे सभ्य जीवन की परिस्थितिया प्राप्त होती हैं। उनके जहाज समुद्र पार करते थे और उनकी धन-सम्पदा अपने देश से बाहर भी जूडिया, मिस्र और रोम तक अपना वैभव दिखाती थी। उनके विचार मनुष्य और समाज, सदाचार एव धर्म के विषय मे उस युग के लिए अद्वितीय माने जाते थे। यह कहना अयुक्तियुक्त होगा कि भारतीय अपनी कविताओं और पौराणिक कल्पनाओ मे ही मस्त रहते थे और उन्होने विज्ञान एव दर्शन को त्याज्य समझा, यद्यपि यह सत्य है कि उनका झुकाव अधिकतर वस्तुओ के एकत्व की ओर रहा और वे चालाकी,

१. कोलब्रुक कृत अनुवाद—'ब्रान्कर्म वर्क आफ एल्जेब्रा', पृ० २२।
२ देखिए, मैक्समूलर—'सस्कृत लिटरेचर'।
३. 'वर्क्स', खण्ड ३, पृष्ठ २६९।

आविष्कार भारत मे हुआ। यहा तक कि वे दर्शन-पद्धतिया भी, जो अपने को द्वैतवादी अथवा अनेकवादी घोषित करती है, प्रबल रूप मे अद्वैत स्वरूप से आच्छादित प्रतीत होती है। यदि हम भिन्न-भिन्न मतो का सारतत्त्व निकालकर सूक्ष्म दृष्टि से देखे तो प्रतीत होगा कि सामान्य रूप मे भारतीय विचारधारा की स्वाभाविक प्रवृत्ति जीवन एव प्रकृति की अद्वैतपरक बाह्य शून्यवादी व्याख्या की ओर ही है। यद्यपि यह झुकाव इतना लचीला, सजीव और भिन्न प्रकार का है कि इसके कई विविध रूप हो गए है और यहां तक कि यह परस्पर-विरोधी उपदेशो के रूप मे परिणत हो गया है। हम यहा पर सक्षेप मे उन मुख्य-मुख्य स्वरूपो की ओर ही निर्देश करेंगे जो भारतीय विचारधारा मे अद्वैत-सम्बन्धी बाह्य शून्यवाद ने अगीकार किए, और उनके ब्यौरेवार विकास एव समीक्षात्मक मूल्याकन को छोड देगे। इससे हम भारत मे दर्शनशास्त्र से क्या तात्पर्य लिया जाता है इसे एव इसके स्वरूप और क्रिया को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेगे। अपनी कार्यसिद्धि के लिए अद्वैतपरक बाह्य शून्यवाद के चार विभाग करना ही पर्याप्त है, यथा (१) अद्वैतवाद (अर्थात् सिवाय ब्रह्म के दूसरी सत्ता नही), (२) विशुद्धाद्वैत, (३) विशिष्टाद्वैत और (४) अव्यक्त (उपलक्षित) अद्वैतवाद।

दर्शनशास्त्र साक्षाद् अनुभव-सम्बन्धी घटनाओ को लेकर चलता है। तार्किक आलोचना यह निश्चय करने के लिए आवश्यक है कि एक विशेष व्यक्ति द्वारा जानी गई घटनाए सब व्यक्तियो को स्वीकार है या नही, अथवा केवल अपने स्वरूप मे ही आत्मनिष्ठ है। सिद्धान्तो को उसी अवस्था मे स्वीकार किया जा सकता है जब वे घटनाओ की सन्तोषजनक व्याख्या कर सके। हम पहले कह चुके है कि मानसिक एव चेतना-सम्बन्धी घटनाओ का अध्ययन भारतीय विचारको ने उतनी ही सावधानी और एकाग्रता के साथ किया है जितना कि आधुनिक वैज्ञानिक बाह्य जगत् की घटनाओ का अध्ययन करते है। अद्वैतपरक बाह्य शून्यवाद के परिणाम भी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म अन्वेक्षणो के आधार पर स्थित है।

आत्मा की चेष्टाए तीन अवस्थाओ मे, यथा जागृति, स्वप्न, और सुषुप्ति मे, घटित होती है। स्वप्नावस्थाओ मे एक वास्तविक ठोस जगत् हमारे आगे प्रस्तुत किया जाता है, हम उसे वास्तविक जगत् इसलिए नही मानते क्योकि जागने पर हमे प्रतीत होता है कि स्वप्नावस्था का जगत् जागरितावस्था के जगत् के अनुकूल नही है, तो भी अपेक्षया स्वप्नावस्था के विचार से स्वप्न-जगत् वास्तविक है। यह विभिन्नता हमारे जागरित जीवन के मान्य मानदण्ड के कारण है न कि एक सत्य के विकल्पशून्य ज्ञान के अपने कारण, जो हमे यह बतलाती हो कि स्वप्नावस्थाए जागरितावस्थाओ से कम वास्तविक है। वस्तुत जागरित अवस्था की यथार्थ सत्ता भी तो स्वय अपेक्षाकृत ही है। इसकी कोई स्थिर सत्ता नही, क्योकि केवल जागरित अवस्था से ही इसका सम्बन्ध है। स्वप्नावस्था मे और निद्रितावस्था मे यह विलुप्त हो जाती है। जागरित चेतना एवं जागरित अवस्था के जगत् का वैसा ही पारस्परिक सम्बन्ध है जैसाकि स्वप्नचेतना का और स्वप्न मे प्रकट हुए जगत् का। ये दोनो परम सत्य नही है, क्योकि शकर के शब्दो मे जबकि "स्वप्नावस्था के जगत् का प्रतिदिन प्रत्याख्यान हो जाता है, जागरितावस्था के जगत् का भी प्रत्याख्यान

विशेष विशेष परिस्थितियों में हो जाता है। स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में ऐन्द्रिय चेतना का एकदम अभाव हो जाता है। कई भारतीय विचारकों का मत है कि इस अवस्था में एक प्रकार की उद्देश्य रहित चेतना रहती है। हर हालत में इतना तो स्पष्ट है कि स्वप्न रहित प्रगाढ़ निद्रा एकदम अभावात्मक नहीं है क्योंकि ऐसी कल्पना का विरोध स्वयं निद्रा की सुखमय विश्रान्तिपरक भावना सम्बन्धी परवर्ती स्मृति से हो जाता है। इस बात को बिना स्वीकार किए हम नहीं रह सकते कि आत्मा निरन्तर विद्यमान रहती है यद्यपि सब प्रकार के अनुभवजन्य ज्ञान से यह उस अवस्था में विरहित होती है। जब निद्रा प्रगाढ़ रहती है तब किसी पदार्थ का बोध नहीं होता और न हो ही सकता है। उस अवस्था में विशुद्ध आत्मा विचारों के उन अवशिष्ट एवं प्रक्षिप्त अंशों से सर्वथा अछूती होती है जो विशेष विशेष मनोवृत्तियों के साथ उदय होते एवं विनष्ट होते रहते हैं।
भिन्न एवं परिवर्तित होनेवाले पदार्थों के बीच जो न भिन्न होता है न ही परिवर्तित होता है यह अवश्य उन पदार्थों से पृथक् है।[1] आत्मा जो निरन्तर अपरिणामी रूप में विद्यमान रहती है और समस्त परिवर्तनों के बीच एक समान है उन सबसे पृथक् है। अवस्थाएं बदलती हैं आत्मा में परिवर्तन नहीं होता। समस्त अन्तरहित मासों वर्षों और छोटे एवं बड़े युगों में भूतकाल एवं भविष्य में यह स्वतः ज्योतिष्मान चेतना ही एक सत्ता है जो न कभी उदय होती है और न ही अस्त होती है।[2] जहां देश और काल अपने समस्त विषयों के साथ विलुप्त हो जाते हैं वहां एक प्रतिबन्धरहित यथार्थ सत्ता ही वास्तविक भासित होती है। यह आत्मा ही है जो स्वयं निर्लिप्त रहकर जागृति स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं की परिवर्तनशील मनोवृत्तियों से प्रभावित विचारों के नाटक की एकमात्र साक्षी एवं दर्शक के रूप में बराबर विद्यमान रहती है। हमें विश्वास है कि हमारे अन्दर ऐसी एक सत्ता है जो सुख दुःख गुण अवगुण और पुण्य-पाप से पर है। आत्मा न कभी मरती है न जन्म लेती है—अजन्मा नित्य शाश्वत और पुरातन यह शरीर के नाश के साथ कभी नष्ट नहीं होती। यदि मारनेवाला समझता है कि वह इस आत्मा को मार सकता है अथवा मृत मनुष्य यह समझता है कि वह मारा गया तो वे दोनों सत्य से अनभिज्ञ हैं क्योंकि यह न तो मारती है न मर सकती है।[3]

सदा एकरस रहनेवाला आत्मा के अतिरिक्त हमारे आगे इन्द्रियानुभूति के विविध पदार्थ हैं। जीवात्मा नित्य एवं स्थायी है अविभाज्य एवं अच्छेद्य है जबकि बाह्य पदार्थ अनित्य और सदापरिवर्तनशील हैं। जीवात्मा परम सत्य है क्योंकि सब पदार्थों से स्वतन्त्र एवं पृथक् है किन्तु पदार्थ मनोवृत्तियों के साथ परिवर्तित होते रहते हैं।

हम संसार की व्याख्या कैसे करें? विविध प्रकार के इन्द्रियानुभव देश काल और कारण से बद्ध हमारे सामने हैं। यदि आत्मा एक है व्यापक है अटल निर्विकार एवं निर्विकल्प है तो हम जगत में परस्पर विरोधी स्वरूपों का विस्तृत समूह भी मिलता है। हम इसे केवल अनात्म और प्रमाता के अतिरिक्त प्रमेय पदार्थों का समूह ही कह सकते

१ 'येषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्यो भिन्नम्' (भामती)।
२ पंचदशी १ ७।
३ कठोपनिषद् २ १८–१९ भगवद्गीता, २ १९–२।

है। किसी भी अवस्था मे यह यथार्थ नही है। जगत् की मुख्य-मुख्य श्रेणिया—काल, देश, और कारण सब आत्मविरोधी हैं। ये अपने निर्माणकर्ता अवयवो के ऊपर आश्रित अन्योन्याश्रित परिभाषाए हैं। इनकी यथार्थ सत्ता नही है। किन्तु ये असत् भी नही हैं। जगत् विद्यमान है, हम इसके अन्दर और इसके द्वारा सब काम करते हैं। हम इस जगत् के अस्तित्व के कारण और प्रयोजन, अर्थात् 'कैसे' और 'क्यो', को नही जान सकते। 'माया' शब्द से तात्पर्य जगत् की इस अज्ञेयता से ही है। यह प्रश्न कि परम-आत्मा का इन्द्रियानुभूति के निरन्तर प्रवाह के साथ क्या सम्बन्ध है और यह क्यो और कैसे होता है, तथा यह प्रश्न कि दो वस्तुए सत् हैं, इन सबका तात्पर्य है कि हम यह धारणा कर लेते हैं कि हर विषय मे क्यो और कैसे का प्रश्न उठता है। इस मत के आधार पर यह कहना कि अनन्त ने सान्त का रूप धारण कर लिया है अथवा अनन्त ब्रह्म अपने को मूर्तरूप मे प्रकट करता है, सर्वथा बेकार की बात है। अनन्त की अभिव्यक्ति कभी सान्त द्वारा नही हो सकती, क्योकि जिस क्षण भी अनन्त सान्त के द्वारा अभिव्यक्ति मे प्रवृत्त होगा, स्वय उसकी अनन्तता नष्ट हो जाएगी और वह सान्त हो जाएगा। यह कहना कि इन्द्रियातीत परम सत्ता मे ह्रास और पतन होने के कारण वह इन्द्रियानुभूति का विषय हो जाती है, अपने-आपमे उसके परमत्व का विरोधी हो जाएगा। पूर्ण सत्ता मे ह्रास नही हो सकता। पूर्ण प्रकाश के अन्दर अन्धकार का निवास नही हो सकता। हम यह स्वीकार नही कर सकते कि परब्रह्म, जो परिवर्तन से परे है, परिवर्तित होकर सान्त (मूर्तरूप) हो सकता है। परिवर्तन का तात्पर्य है अभिलाषा अथवा किसी वस्तु का अभाव अनुभव करना और यह पूर्णता के अभाव का द्योतक है। परब्रह्म कभी इन्द्रियज्ञान का विषय नही हो सकता, क्योकि जो जाना जाता है वह सान्त और सापेक्ष होता है। हमारा सान्त मन काल, देश और कारण की परिधि से परे नही जा सकता और न हम इनकी व्याख्या ही कर सकते हैं, क्योकि व्याख्या करने के प्रयत्न का ही तात्पर्य होगा कि हम इन्हे अगीकार कर लेते हैं। विचार के द्वारा, जोकि स्वय सापेक्ष जगत् का एक भाग है, हम परम ब्रह्म को नही जान सकते। हमारा सापेक्ष ज्ञान जागरित अवस्था का एक प्रकार का स्वप्न-मात्र है। विज्ञान और तर्क इसके अश भी हैं और इनके कार्य भी। अध्यात्मविद्या की असफलता के ऊपर न तो खेद प्रकट करना चाहिए और न ही उसका उपहास करना चाहिए, न प्रशसा ही करनी चाहिए और न दोष ही देना चाहिए, बल्कि उसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। बौद्धिक क्षमता से उत्पन्न स्वाभाविक नम्रता के साथ प्लेटो अथवा नागार्जुन, काट अथवा शकर घोषणा करते है कि हमारी बुद्धि केवल सापेक्ष का विचार करती है और निरपेक्ष परब्रह्म इसकी पहुच से बाहर है।

यद्यपि परम सत्ता का ज्ञान तर्कशास्त्र की विधि से नही हो सकता तो भी वे सब जो सत्य को जानने के लिए प्रयत्नशील है, उस सत्ता का अनुभव करके जान जाते हैं कि उसी सत्ता के अन्दर हम सब जीवन बिताते है व समस्त कर्म करते है और उसी सत्ता से हम सत्ता धारण किए हुए है। केवल इसके द्वारा अन्य सब कुछ जाना जा सकता है। यह समस्त ज्ञान का नित्य साक्षी स्वरूप है। अद्वैतवादी तर्क करता है कि उसका सिद्धान्त सत्य घटनाओ के तर्क पर आश्रित है। आत्मा अत्यन्त आभ्यन्तर और गहनतम सत्ता है जिसे सब

अनुभव करते हैं क्योंकि यह ज्ञात एवं अज्ञात पदार्थों की भी आत्मा है और उसे जाननेवाला उसके स्वयं के अतिरिक्त और कोई नहीं है। यह सत्य है और नित्य है और इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन्द्रियानुभूतिजन्य ज्ञान के क्षणिक विभाजन के विषय में अद्वैतवादी का कहना है कि वे वह हैं किन्तु वही उनका अन्त भी है। हम क्यों का जवाब जानते भी नहीं और जान सकते भी नहीं। यह सब एक प्रकार की प्रतिकूलता है किन्तु है वास्तविक। अद्वैतवाद की उक्त दार्शनिक स्थिति गौडपाद और शंकर ने अंगीकार की है।

ऐसे भी बहुत हैं जो इस मत से सन्तुष्ट नहीं हैं और अनुभव करते हैं कि अपनी उलझन को माया के नाम से ढकना उचित नहीं है। वे उस पूर्ण सत्ता के—जो सब प्रकार के निषेधात्मक अभाव से रहित है स्वयं निर्विकार एवं यथार्थ है और जिसका अनुभव ज्ञान की गहराइयों में होता है—तथा इस परिवर्तनशील एवं सज्यमान जगत के बीच के सम्बन्ध का अधिक निश्चयात्मक व्याख्या करते हैं। उस एकमात्र सत्ता की पूर्णता की रक्षा के लिए हम बाध्य होकर कहना पड़ता है कि यह सृष्टि बाहर से किसी अवयव के जुड़ने से निर्मित नहीं हुई है क्योंकि इसके बाहर अथवा इसके अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं। यह केवल एक ह्रास के कारण ही सम्भव है। इस सृष्टि रूपी परिवर्तन के लिए प्लेटो के असत अथवा अरस्तू की प्रकृति जैसे किसी अभावात्मक तत्त्व की कल्पना कर ली जाती है। इस अभावात्मक तत्त्व की क्रिया के द्वारा क्रियाशील अनेक के मध्य में निर्विकार सत्ता का विस्तार हो गया आभासित होता है जैसे सूर्य के अन्दर से किरण आती है किन्तु सूर्य उन्हें धारण नहीं करता। माया नाम उसी अभावात्मक तत्त्व का है जो सर्वव्यापक सत्ता को उच्छृंखल कर देता है जिससे अनन्त उत्तेजना और निरन्तर रहनेवाली अशान्ति का जन्म होता है। विश्व का प्रवाह उसी निर्विकार की प्रतीयमान अवनति के कारण सम्भव होता है। सृष्टि में जो कुछ भावात्मक गुण है वह सब उसी यथार्थ सत्ता के कारण है। जगत् के पदार्थ अपनी वास्तविक सत्ता को पुनः प्राप्त करने अपने अन्दर के अभाव को पूरा करने एवं अपने व्यक्तित्व को उतार फेंकने के लिए सदा संघर्ष करते हैं किन्तु उनके इस प्रयत्न में उनका आन्तरिक अभाव अर्थात् निषेधात्मक माया बराबर बाधा उपस्थित करती है जो कि उस मध्यवर्ती काल से निर्मित है जो वह है और जो उन्हें होना चाहिए। यदि हम माया से छुटकारा पा सकें द्वैत की प्रवृत्ति को दबा सकें उस अन्तर को नष्ट कर सकें उस न्यूनता को भर सकें और बाधाओं को शिथिल कर सकें तो देश काल और परिवर्तन विशुद्ध सत्ता में वापस पहुंच जाते हैं। जब तक मूलभूत माया की कमी विद्यमान रहती है पदार्थ भी एक दूषण के रूप में देश काल एवं कारणरूप जगत में वर्तमान रहते। माया को मानव ने नहीं बनाया। यह हमारी बुद्धि से पूर्व विद्यमान थी और उसमें स्वतन्त्र भी है। यथार्थ में यह वस्तुओं की एवं बुद्धियों की भी उत्पादक है एवं सारे संसार में अपरिमित क्षमता रखती है। इसे कभी-कभी प्रकृति भी कहा जाता है। उत्पत्ति और विनाश का बारी-बारी से होना और निरन्तर दुहराए जानेवाले विश्व का विस्तार एक ओर निरन्तर न्यूनता को दर्शाते हैं जिसके कारण संसार का अस्तित्व है। सृष्टि की रचना सत्ता का अपराध मात्र है। माया यथार्थ सत्ता की प्रतिच्छाया मात्र है। संसार की गति निर्विकार सत्ता का रूपान्तर न होकर एक प्रकार से उसका विपर्यास है।

तो भी मायामय जगत् विशुद्ध सत्ता से पृथक् विद्यमान नही रह सकता। अगर निर्विकारिता न हो तो कोई गति भी नहीं हो सकती, क्योकि गति निर्विकार की केवल एक प्रकार की अवनति ही है। अचल सत्ता ही व्यापक गति का सत्य है।

जिस प्रकार सृष्टि सत्ता के ह्रास का नाम है, इसी प्रकार अविद्या अथवा अज्ञान विद्या अथवा ज्ञान की अवनति का नाम है। सत्यज्ञान के लिए एव यथार्थता का साक्षात्कार करने के लिए हमे अविद्या एवं उससे उत्पन्न आवरणो से भी छुटकारा पाना होगा, और जैसे ही हम उनके अन्दर यथार्थता को बलपूर्वक प्रविष्ट करेगे, सभी स्वत ही छिन्न-भिन्न होकर टूट जाएगे। विचार की मन्दता के लिए यह कोई बहाना नही है। इस मत के अनुसार दर्शनशास्त्र तर्क के रूप मे हमे प्रेरणा प्रदान करता है कि हम बौद्धिक धारणाओ का उपयोग करना छोड दे, क्योकि वे हमारी क्रियात्मक आवश्यकताओ की सापेक्ष हैं और इस भौतिक सृष्टि से सम्बद्ध है। दर्शनशास्त्र हमे बतलाता है कि जब तक हम बुद्धि के अधीन रहेगे और इस अनेकत्वपूर्ण जगत् मे खोए रहेगे, तब तक उस विशुद्ध सत्ता के समीप वापस पहुचने के लिए हमारी सारी खोज असफल रहेगी। यदि हम कारण का पता लगाने के लिए पूछे कि यह अविद्या अथवा माया क्यो है, जो हमे विद्या (ज्ञान) एव विशुद्ध सत्ता से दूर घसीटती है, तो इस प्रश्न का उत्तर नही मिल सकता। इस स्थान पर दर्शनशास्त्र के पास तर्क के रूप मे यह निषेधात्मक कार्य रह जाता है कि वह बौद्धिक वर्ग की अपर्याप्तता को प्रकट मे स्वीकार करके निर्देश करे कि किस प्रकार ससार के पदार्थ मन की वृत्ति के ऊपर निर्भर करते हैं जो उनका विचार करता है, किन्तु जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है। यह हमे उस निर्विकार सत्ता के विषय मे कुछ निश्चित ज्ञान नही दे सकता जिसके विषय मे कहा जाता है कि उसकी पृथक् सत्ता है। जो कुछ ससार मे हो रहा है उसके माध्यम से वह न तो उस माया के विषय मे ही कुछ निश्चित ज्ञान दे सकता है जिसके कारण ससार की उत्पत्ति हुई। यह प्रत्यक्ष रूप से उस विशुद्ध यथार्थ सत्ता की प्राप्ति मे हमे सहायता नही दे सकता। इसके विपरीत यह हमे बतलाता है कि यथार्थ सत्ता का सही-सही माप करनेके लिए हमे मिथ्या कथन करना पडेगा। सम्भवत एकबार निश्चित ज्ञान प्राप्त हो जाने से सत्य के हित मे इसका उपयोग हो सकेगा। हम इस पर विचार सकते हैं, तर्क द्वारा इसकी रक्षा भी कर सकते है और इसका प्रचार करने मे सहायक भी बन सकते हैं। विशुद्धाद्वैत के समर्थक अमूर्त बुद्धि से भी ऊची एक शक्ति को मानते है, जिससे हम यथार्थता की प्रेरणा को अनुभव करने के योग्य होते है। हमे व्यापक चेतना मे अपने-आपको विलीन करना होगा और उसीके समान व्यापक होने के योग्य बनना होगा। उस समय हमे उस सत्ता के विषय मे सोचने की अपेक्षा अपने को उसके समान बनाने का प्रयत्न करना है, उसके ज्ञान के भाव की अपेक्षा वैसा बन जाना है। इस प्रकार का नितान्त अद्वैतवाद तर्क, अन्तर्दृष्टि, यथार्थ सत्ता और व्यवस्थित जगत् के भेद के साथ हमे कतिपय उपनिषदो मे, नागार्जुन और शकर के अतिदार्शनिक मनोभावो मे, श्रीहर्ष और अन्यान्य अद्वैत वेदान्तियो मे मिलता है और इसकी प्रतिध्वनि परमेनिड्स और प्लेटो, स्पिनोजा एव प्लॉटिनस, ब्रैडले और बर्गसा मे

भी सुनाई पड़ती है—पश्चिम के रहस्यवादियों में तो मिलती ही है।[1]

अन्तर्दृष्टि के विचार में यथार्थ सत्ता विशुद्ध एवं सहज अथवा जैसी भी हो, बुद्धि के विचार में तो यह एक न्यूनाधिक परम अमूर्तरूप सत्ता है। जिस समय प्रत्येक घटना व आकृति का विलोप हो जाता है तब भी इसका निरन्तर अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है। जबकि समस्त जगत अमूर्तरूप में परिणत हो जाता है तब भी यह सत्ता अवशिष्ट रहता है। यदि मनुष्य समुद्र पृथ्वी सूर्य और नक्षत्र देश और काल मनुष्य एवं ईश्वर आदि के विषय में विचार करना बन्द कर दे तो यह मानसिक विचार के ऊपर एक जबरदस्त प्रतिबन्ध होगा किन्तु जब समस्त विश्व के अभाव के चिन्तन का प्रयत्न किया जाता है और सब प्रकार की सत्ता को भी मिथ्या समझ लिया जाता है तब मनुष्य के पास और क्या कुछ बाकी बचता है? विचार के लिए जो सीमित और सापेक्ष है यह एक अत्यन्त निराशा का विषय है कि जब प्रत्येक सत्तावान पदार्थ का लोप हो जाता है तब उसके लिए कोई विषय शेष नहीं रह जाता। धारणात्मक मन के लिए अन्तर्दृष्टि द्वारा मुख्य साध्य विषय केवल ब्रह्म ही सत है' का तात्पर्य स्पष्ट है अर्थात् उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। विचार जैसाकि हेगल ने कहा है केवल सविकल्प सत्ताओं एवं ठोस पदार्थों के सम्बन्ध में ही कार्य कर सकता है। इसके लिए प्रत्येक स्वीकृति से निषेध का संकेत होता है और प्रत्येक निषेध से स्वीकृति का। हरएक ठोस वस्तु रचित है जिसमें सत और असत वास्तविक और अभावात्मक एकसाथ जुड़े हुए हैं। इस प्रकार वे विचारक जिन्हें अन्तर्दृष्टि द्वारा सिद्ध सत्ता से सन्तोष नहीं होता और जो ऐसे संश्लेषण की अभिलाषा रखते हैं जिसकी उपलब्धि विचार द्वारा हो सके—क्योंकि इसकी स्वाभाविक प्रेरणा ठोस पदार्थ के प्रति होती है—विषयाश्रित प्रत्ययवाद की ओर आकृष्ट होते हैं। ऐसे अखण्ड प्रत्ययवादी विचारक विशुद्ध सत्ता एवं प्रतीयमान सृष्टि के दोनों प्रत्ययों को एक साथ जोड़कर ईश्वर के अस्तित्व रूपी एकत्र संक्षेपण को उपस्थित करते हैं। घोर अद्वैतवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि रचना एक विशुद्ध यथार्थ सत्ता के ऊपर निर्भर करता है यद्यपि इसके विपरीत कि सृष्टि के कारण उसके कर्ता रूपी यथार्थ सत्ता की सिद्धि होती है। अब हमारे सामने एक प्रकार का विश्लेषित परम ब्रह्म है—अर्थात् ऐसा ईश्वर जिसके अपने अन्दर सम्भावित सृष्टि की रूपरेखा है और जो अपने स्वरूप में कुल सत्ता के सारतत्त्व एवं सृष्टि के भी तत्त्व को संयुक्त रूप में एवं एकता और अनेकता को अनन्तता और सान्तता को भी सम्मिलित रूप में सजाए हुए है। विशुद्ध सत्ता अब प्रमाता का रूप धारण कर लेती है उसी समय अपने को विषय रूप में भी परिणत करती हुई विषय को अपने अन्दर धारण कर लेती है। प्रमेय विपक्षता और संकलन हेगल की

[1] सांख्यदर्शन में हमें लगभग ठीक इसी प्रकार की आनुभविक जगत की व्याख्या मिलती है जिसमें केवल निर्गुण साक्षी ब्रह्म में किसी प्रकार का दोष नहीं आता। केवल अनेकात्मवाद का पक्षपात जिसका आधार तर्कसंगत नहीं है अपने आपको बलपूर्वक ऊपर लादता है और हमारे आगे जीवात्माओं की अनेकता एक समस्या के रूप में है। जब अनेकात्मपक्ष स्वयं गिर जाता है। जिसका तर्क के आरम्भ में ही गिर जाना अवश्यम्भावी है तब सांख्य के सिद्धान्त की विशुद्ध वेदान्त के सिद्धान्त के साथ एकरूपता स्वयं प्रकट हो जाती है।

परिभाषा के अनुसार, निरन्तर चक्रगति से चलते रहते हैं। हेगल ने ठीक ही कहा है कि ठोस जगत् की अवस्थाए प्रमाता भी है और प्रमेय भी हैं। ये दोनो प्रतिपक्ष प्रत्येक ठोस मे एकत्र और सम्मिश्रित है। महान ईश्वर स्वय अपने अन्दर दो परस्पर विपरीत स्वरूपों को धारण करता है जहा कि एक दूसरे के द्वारा नही, किन्तु वस्तुतः दूसरा (विभिन्न) ही है। जब इस प्रकार का सक्रिय ईश्वर सदा के लिए परिवर्तनशील चक्र मे बधा हुआ वर्णित किया जाता है तब सत्ता की सब श्रेणिया दैवी पूर्णता से लेकर निकृष्ट धूलिपर्यन्त स्वतः ही सामने आ जाती है। ईश्वर की स्वीकृति के साथ-साथ सत्ता और अभाव के मध्य की सब श्रेणियां भी स्वत स्वीकृति मे आ जाती हैं। हमारे सामने अब एक विचारमय विश्व है, जिसकी रचना विचारशक्ति से हुई, जो विचारशृखला के अनुकूल है और विचारशक्ति द्वारा ही स्थित है, जिसकी अवस्थाए ज्ञाता और ज्ञेय है। देश, काल और कारण प्रमातृ-निष्ठ आकृतिया नही हैं अपितु विचार-बुद्धि के व्यापक तत्त्व है। यदि विशुद्ध अद्वैत के आधार पर हम अभेद और भेद के परस्पर-सम्बन्ध को नही समझ सकते तो यहा हम उससे उत्तम आधार पर है। एक ही तादात्म्यरूप ससार भिन्न-भिन्न टुकडो मे बटा हुआ दिखाई पडता है। इनमे से कोई भी दूसरे से जुदा नही है। ईश्वर आन्तरिक भित्ति है, जो तादात्म्य का आधार है। जगत् उसकी बाह्य अभिव्यक्ति है, जिसे आत्मचेतना का बाह्यीकरण नाम दिया जा सकता है।

विशुद्ध अद्वैत के मत मे इस प्रकार का ईश्वर परम ब्रह्म का ह्रासरूप है, इसे केवल सूक्ष्मतम भेद से उस परम ब्रह्म से पृथक् समझा जाता है। यह भेद अविद्याकृत है जो विद्या से अत्यन्त सूक्ष्म, चिन्तन-योग्य दूरी के कारण पृथक् है। दूसरे शब्दो मे, 'यह ईश्वर हमारी उच्चतम बुद्धि का उच्चतम प्रस्तुत पदार्थ है।' दुःख का विषय यह है कि अन्ततोगत्वा यह है एक पदार्थ ही और हमारी बुद्धि भी, चाहे जितना ही विद्या के समीप पहुचती हो, विद्या-(ज्ञान) रूप नहीं है। यह ईश्वर अपने मे अधिक से अधिक सद्भाव और कम से कम त्रुटि धारण किए हुए है, जो है त्रुटि (न्यूनता) ही। माया का पहला ही सम्पर्क, जो न्यून से न्यून परमार्थसत्ता का ह्रास है, इसे देश और काल के बन्धन मे डालने के लिए पर्याप्त है, यद्यपि यह देश और यह काल सम्भव रूप मे अधिक से अधिक विस्ताराभाव एव नित्यता के समीप होगा। परमार्थसत्ता सृष्टिकर्ता ईश्वर के रूप मे परिवर्तित हो गई, जो किसी देश मे अवस्थित है, अपने स्थान से बिना हिले-डुले अन्दर ही अन्दर सब पदार्थो को गति दे रहा है। परमार्थसत्ता ही पदार्थ के रूप मे ईश्वर है, कही कुछ है, एक आत्मा है जो सब पदार्थो मे अस्तित्व को धकेलती है। वह सत् असत् है, ब्रह्म-माया है, प्रमाता-प्रमेय और नित्यशक्ति है, अरस्तू के शब्दो मे स्वय अचल किन्तु सबको गति देनेवाला, हेगल का परम ब्रह्म, रामानुज का परम (किन्तु सापेक्ष) विशिष्ट अद्वैत है—वह सर्व-शक्तिमान एव विश्व का अन्तिम कारण है। सृष्टि का आदि नही एव अन्त भी नही है, क्योकि ईश्वर के शक्तिसम्पन्न होने का कभी आरम्भ या कभी अन्त नही हो सकता। सदा कर्मशील होना इसका अनिवार्य स्वरूप है।

इसमे सन्देह नही कि यह ऊचे से ऊचा विचार है, जिसे बुद्धि सोच सकती है। यदि हम अपनी बुद्धि की प्राकृतिक गति का, जो सासारिक पदार्थो मे एकत्व स्थापित

करने का प्रयत्न करती है और परस्पर विरोधी शक्तियों में भी संश्लेषण उत्पन्न करती है। अन्त तक अनुसरण करें तो हम एक ऐसा व्याख्या सिद्धान्त मिलता है जो न तो विशुद्ध सत है न विशुद्ध असत ही किन्तु एक ऐसा पदार्थ है जो दोनों को जोड़ता है। सब वस्तुओं को एक सम्पूर्ण में सकलित करने के द्वारा उक्त विचार का निर्माण हुआ है। इस दृष्टिकोण से दर्शनशास्त्र का स्वरूप रचनात्मक प्रतीत होता है और इसलिए वह स्वभाव से निश्चयात्मक और अपने कार्य में संश्लेषणात्मक है। यहां पर भी तार्किक विचार जिनका कार्य इन अमूर्त भावों में ही है हम ठोस से परे रमते हैं जबकि अमूर्त उन्हीं ठोस पदार्थों में निवास करते हैं गति करते हैं और अपना अस्तित्व रखते हैं। विचार बुद्धि युक्ति के रूप में तार्किक विचार की कठिनाइयों से ऊपर उठ जाता है। संसार के इन्द्रियानुभवों से चलकर हम ऊपर परम तत्त्व ब्रह्म तक पहुंच जाते हैं और इस प्रकार प्राप्त हुए पूर्ण के विचार से हम नीचे ब्यौरे तक उतरकर भिन्न भिन्न अवयवों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। समस्त तर्कशास्त्र सम्बन्धी इतिहास जिस विचार की शक्ति के ऊपर भरोसा है जगत के इस प्रत्यय के साथ समाप्त हो जाता है। कठिनाई तब उत्पन्न होती है जब हम विचार-बुद्धि की परमता में सन्देह प्रकट करते हैं। क्या हमारा ज्ञान मानसिक आवश्यकताओं की अपेक्षा नहीं रखता जो संयुक्त भी करता है और भेद भी करता है? सम्भवत एक भिन्न आकृति के मन के लिए ज्ञान भी जो प्रतीत होता है उससे भिन्न प्रकार का हो। हमारा वर्तमान ज्ञान हमें यह सोचने के लिए बाध्य करता है कि समस्त ज्ञान इसी प्रकार का होगा परन्तु जब ऐसे समीक्षक हैं जो ऐसे कथन का विरोध करते हैं तब स्थिति की रक्षा करना कठिन होता है। यह स्वीकार करते हुए कि यथार्थ सत्ता का धारणामयी योजना जो विचार में आई है वह सत्य है तो भी कई बार इस बात पर बल दिया जाता है कि विचार यथार्थ सत्ता के साथ तादात्म्य नहीं रखता। समस्त प्रत्ययों को एकत्र करके एक बना देने पर भी हम प्रत्ययों के आगे नहीं बढ़ पाते। सम्बन्ध मन का एक अंग है जो सम्बन्ध स्थापित करता है। अनन्तरूपी परम मन भी एक मन ही है और उसी ढांचे का है जिस ढांचे का मानवीय मन है। विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त कुछ उपनिषदों और भगवद्गीता ने तथा बौद्धमत एवं रामानुजमत के कुछ अनुयायियों ने स्वीकार किया है किन्तु बादरायण ने नहीं किया। पश्चिम में अरस्तू और हेगल इसके समर्थकों में माने जा सकते हैं।

प्रथम मत के अनुसार पूर्ण सत्ता ही यथार्थ है। अयथार्थ सृष्टि वास्तविक है यद्यपि हम नहीं जानते कि क्यों है। दूसरे मत के अनुसार दृश्यमान सृष्टि देश और काल के सम्बन्ध से जिसका कारण विशुद्ध आत्मा का मायाजन्य ह्रास है आभास मात्र है। और तीसरे मत के अनुसार उच्चतम पदार्थ जो हमारे सामने है विशुद्ध सत्ता और असत का ईश्वर के अन्दर संश्लेषण है। हम तुरन्त एक तार्किक आवश्यकता के कारण यथार्थ सत्ता की निर्विकल्प ज्ञान की सब श्रेणियों को अंगीकार करना पड़ता है। जहां तक कि ज्ञान विषयक जगत का सम्बन्ध है यदि विशुद्ध सत्ता के प्रत्यय को निरर्थक कहकर अस्वीकार कर दिया जाए और हम एक कर्ता के रूप में ईश्वर के विचार का भी अतर्कसंगत कहकर त्याग दें तब जो शेष रह जाता है वह इससे अधिक और कुछ नहीं कि सृष्टि का यह

प्रवाह ऐसा है जो सर्वथा अपने से भिन्न कुछ बनने के लिए उच्च अभिलाषा रखता रहता है। परिणाम मे बौद्धमत का ही मुख्य सिद्धान्त आ जाता है। विद्यमान जगत् मे विशिष्टाद्वैत की कल्पना के आधार पर निर्विकल्प सत्ता की श्रेणियो के विशेष स्वरूपो का माप उनको अखण्ड सत्ता से पृथक् करनेवाले अन्तरो से ही किया जा सकता है। उन सबमे सामान्य व्यापक स्वरूप है देश और काल-सम्बन्धी सत्ताए। अधिक गभीरता से ध्यान देने पर हमे विशेष गुणो का स्वरूप स्पष्ट हो सकता है। चिन्तनशील यथार्थ सत्ताओ और जड पदार्थो मे भेद स्वीकार कर लेने पर हम माध्वाचार्य के द्वैतदर्शन पर पहुच जाते है। यदि हम सत्पदार्थो को ईश्वर के अधीन परतन्त्र मानते है, क्योकि ईश्वर ही एकमात्र स्वतन्त्र है, तो मौलिक रूप मे यह भी एक अद्वैत ही है। यदि विचारशील प्राणियो पर वल दे तो हमारे सामने साख्य का अनेकात्मवाद आ जाता है, केवल ईश्वर की सत्ता का प्रश्न न उठाए जिसकी साख्य के अपने शब्दो मे सिद्धि नही हो सकती। इसके साथ सासारिक पदार्थो के बहुत्व को जोड दिया जाए तो हमारे सामने अनेकत्वयुक्त यथार्थ सत्ता आ जाती है जहा कि ईश्वर भी एक सत्ता के रूप मे प्रकट होता है, भले ही वह अन्य पदार्थो के मध्य मे कितना ही महान और शक्तिशाली क्यो न हो। यथार्थ सत्ता की निर्विकल्प श्रेणियो के सम्बन्ध मे विवाद उपस्थित होने पर व्यक्तित्व की इकाई का आधार दार्शनिक की भावना के ऊपर निर्भर करता प्रतीत होता है। और कोई दर्शन-पद्धति नास्तिकता अथवा आस्तिकता का रूप धारण करती है यह इसके ऊपर निर्भर है कि वह परम सत्ता के ऊपर कितना ध्यान देती है, जिस परम सत्ता के आश्रय मे ही इस समस्त विश्व का नाटक खेला जाता है। यह कभी-कभी तो ज्वलन्त रूप मे अपने प्रकाश को ईश्वर के अन्दर केन्द्रित करके प्रकाशित हो जाता है और अन्य समयो मे धीमा पड जाता है। ये भिन्न-भिन्न मार्ग है जिनमे मानव-मस्तिष्क अपनी विशिष्टगुणयुक्त रचनाओ के कारण ससार की समस्याओ की प्रतिक्रिया मे उलझा रहता है।

भारतीय विचारधारा मे जहा हमे मानव और ईश्वर के बीच निष्कपट सगति मिलती है, वहां दूसरी ओर पश्चिम मे दोनो मे परस्पर-विरोध स्पष्ट रूप मे लक्षित होता है। पश्चिमी देशो की पौराणिक आख्यायिकाए भी इसी प्रकार का निर्देश करती है। आदर्शभूत पुरुष प्रोमिथियस् का पौराणिक उपाख्यान, जो मनुष्य-जाति की सहायता करने का प्रयत्न करता है और मनुष्य-जाति-मात्र को नष्ट करनेवाले जीयस से रक्षा करता है एवं नई प्रकार की उत्तम उपजातिया प्रदान करता है, हरकुलीज़ के घोर परिश्रम की कहानी, जो ससार को दुःख से मुक्त कराने का प्रयत्न करता है; ईसा को मनुष्य का बेटा मानने का विचार, —ये सब इस बात की ओर निर्देश करते है कि पश्चिमी देशो मे मनुष्य के ऊपर ही अधिक ध्यान दिया गया है। यह सत्य है कि ईसा को ईश्वर का बेटा भी बतलाया गया है, सबसे बडा बेटा, जिसके बलिदान का विधान न्यायकारी ईश्वर का क्रोध शान्त करने के लिए बतलाया गया है। हमारा लक्ष्य यहां यह है कि पश्चिमी संस्कृति की मुख्य प्रवृत्ति मनुष्य और ईश्वर के मध्य विरोध की ओर अधिक है। उस संस्कृति मे मनुष्य ईश्वर की शक्ति का मुकाबला करता है, मनुष्य-जाति के हितो के लिए उसके पास से आग चुराता है। भारत मे मनुष्य ईश्वर द्वारा निर्मित वस्तु है। समस्त विश्व ईश्वर के तप के कारण है।

पुरुषसूक्त म एक एसे निरन्तर क्रियमाण यज्ञ का वणन है जो मनुष्य एव जगत् को धारण करता है।[1] इसीके अन्दर समस्त विश्व चित्रित है जो एकमात्र अतुलनीय विस्तार और महानता स युक्त है जिसम एक वही सत्ता जीवन फकती है और जो अपने अन्दर जीवन की सब अवस्थाओ के सारतत्त्व को धारण किए हुए है।

भारतीय विचारधारा का सर्वोपरि स्वरूप जिसने इसकी समग्र संस्कृति को ओतप्रोत कर रखा है और जिसन इसके सब चिन्तन को एक विशेष प्रकार का ढाचा प्रदान किया है इसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। आध्यात्मिक अनुभव भारत के सम्पन्न सांस्कृतिक इतिहास की आधारभित्ति है। यह रहस्यवाद है इन अर्थों मे नहीं कि इसमे कोई अलौकिक शक्ति वर्तमान है किन्तु केवल मनुष्य प्रकृति के नियन्त्रणपरक के रूप मे जिसस आध्यात्मिक ज्ञान का साक्षात्कार होता है। जहा यहूदियो और ईसाइयो के पवित्र ग्रन्थ अधिकतर धार्मिक और नीतिपरक हैं वहा हिन्दुओ के ग्रन्थ अधिकतर आध्यात्मिक और ध्यानपरक हैं। भारत म जीवन का एकमात्र ध्येय ब्रह्म के नित्य सत्ता स्वरूप को जानना है।

समस्त दर्शनशास्त्र की परम धारणा है कि कोई भी पदार्थ जो यथार्थ सत् है स्वत विरोधी नही हो सकता। विचारधारा के इतिहास म इस धारणा के महत्त्व को समझने और ज्ञानपूर्वक उसका उपयोग करने के लिए कुछ समय अवश्य चाहिए। ऋग्वेद म साधारण ज्ञान की प्रामाणिकता की आकस्मिक स्वीकृति पाई जाती है। जब हम उपनिषदो की विकासावधि पर पहुचते हैं तार्किक समस्याए प्रादुर्भूत होकर ज्ञान के मार्ग मे कठिनाइया उपस्थित कर देती हैं। उन कठिनाइयो के अन्दर ज्ञान की मर्यादाए निर्दिष्ट करके अन्तर्दृष्टि के लिए उचित स्थान की व्यवस्था कर दी गई है। किन्तु यह सब अध्यात्मनिष्ठ विधि के रूप म है। जब तर्क की शक्ति म विश्वास उठने लगा तब संशयवाद ने सिर उठाया और भौतिकवादी लोकायत एव शून्यवादी दार्शनिक क्षेत्र मे उतर आए। उपनिषदो की व्यवस्था को स्वीकार करते हुए कि अदृश्यमान सत्ता को तार्किक बुद्धि द्वारा नहा जाना जा सकता बौद्धमत ने जगत की अवास्तविकता पर जोर दिया। इस सिद्धान्त के प्रति वस्तुओ के स्वभाव का विरोध है और अनुभूत जगत म विरोधी तत्त्वो के परस्पर खिचाव के अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं। वस्तुसत्ता के अतिरिक्त और कुछ है इसे हम नहीं जान सकते। और चूकि यह स्वत विरोधी है इसलिए यह यथार्थ नहा हो सकता। बौद्धमत के विकास का अन्त इसी परिणाम के साथ होना है। नागार्जुन के सिद्धान्त म उपनिषदो की मुख्य व्यवस्था का दार्शनिक दृष्टि से समर्थन किया गया है। वास्तविक सत्ता का अस्तित्व है, यद्यपि हम उस नही जान सकते और जो कुछ हम जानते हैं वास्तविक नहीं है क्योंकि जगत की बुद्धिगम्य पद्धति के रूप म की गई प्रत्येक व्याख्या भग हो जाती है। इस सबने तर्क की आत्मचेतन समीक्षा के लिए मार्ग तैयार किया। विचार अपने आपम परस्पर विरोधी एव अपर्याप्त है। मतभेद उत्पन्न होते हैं जबकि प्रश्न किया जाता है कि ठीक-ठीक यथार्थता को ग्रहण करने की

१ ऋग्वेद १ ६ और भी देखें ऋग्वेद १ ८१, ३ श्वेताश्वतर उप० ३-३ भगवद्गीता ११।

दृष्टि से यह अयोग्य क्यो है। क्या इसलिए कि यह भिन्न-भिन्न भागो का प्रतिपादन करता है, पूर्ण रूप को नही लेता, अथवा क्या इसलिए है कि इसकी रचना ही ऐसी है कि यह अक्षम है अथवा यह अन्तर्निहित स्वतः-विरोधिता के कारण है ? जैसाकि हम देख चुके है, ऐसे व्यक्ति भी है जिनके मत मे वास्तविक सत्ता तर्कगम्य है, किन्तु वास्तविक सत्ता ही स्वय मात्र बुद्धि नही है। इस प्रकार से विचार सम्पूर्ण सत्ता का ज्ञान कराने मे असमर्थ है। ब्रैडले के शब्दो मे 'वह 'क्या' से ऊपर है। विचार हमे वास्तविक सत्ता का ज्ञान कराता है किन्तु वह केवल ज्ञान-मात्र है, स्वय वस्तुसत्ता नही है। दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति है, जिनका विश्वास है कि वास्तविक सत्ता स्वत सगत है और जो कुछ विचार है स्वत -असगत है। विचार ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ के विरोध के साथ काम करता है और परम वास्तविक सत्ता ऐसी है जिसमे ये प्रतिकूल तत्त्व नष्ट हो जाते है। अत्यन्त ठोस विचार, जहा तक यह अनेको को एक मे सयुक्त करने का प्रयत्न करता है, फिर भी अमूर्त है, क्योकि यह स्वत -विरोधी है और यदि हम वास्तविक सत्ता को ग्रहण करना चाहते है तो हमे विचार को त्याग देना होगा। प्रथम कल्पना के ऊपर विचार जो कुछ प्रकाशित करता है वह वस्तु-सत्ता के विरोध मे नही जाता किन्तु केवल एक भाग का ही प्रकाश करता है। अवयव-विशेष से सम्बन्ध रखनेवाले विचार परस्पर-विरोधी इसीलिए होते हैं कि वे आशिक है। जहा तक उनकी पहुच है वहा तक ही वे सत्य हैं, किन्तु पूर्ण सत्य नही। दूसरी कल्पना हमे बताती है कि वास्तविक सत्ता का ज्ञान एक प्रकार की विशेष भावना अथवा अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त हो सकता है।[1] पहले मत वाले भी, यदि यथार्थ सत्ता का पूर्ण रूप मे जानना अभीष्ट है तो, भावना द्वारा विचार का स्थान ग्रहण करने का आग्रह करते है। विचार के अतिरिक्त भी हमे एक अन्य तत्त्व की आवश्यकता है और वह है 'दर्शन', जिस शब्द का प्रयोग दार्शनिक पद्धति, सिद्धान्त अथवा शास्त्र के लिए होता है।

'दर्शन' शब्द की उत्पत्ति 'दृश्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'देखना'। यह दर्शन या तो इन्द्रियजन्य निरीक्षण हो सकता है, या प्रत्ययी ज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि द्वारा अनुभूत हो सकता है। यह घटनाओ के सूक्ष्म निरीक्षण, तार्किक परीक्षण अथवा आत्मा के अन्तर्निरीक्षण द्वारा भी प्राप्त हो सकता है। साधारणत दर्शनो से तात्पर्य आलोचनात्मक व्याख्याओ (भाष्य), तार्किक सर्वेक्षणो अथवा दार्शनिक पद्धतियो से होता है। दार्शनिक विचार की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे दर्शन शब्द का प्रयोग इन अर्थो मे हमे नही मिलता, क्योकि उस समय दार्शनिक ज्ञान अधिकतर आभ्यन्तर दृष्टिपरक था। यह दर्शाता है कि 'दर्शन' अन्तर्दृष्टि नही है, भले ही यह उससे कितना ही सम्बद्ध क्यो न हो। सम्भवत. इस शब्द का प्रयोग बहुत सोच-विचार के बाद उस विचार-पद्धति के लिए किया गया है जिसकी प्राप्ति तो अन्तर्दृष्टिजन्य अनुभव से होती है पर जिसकी पुष्टि तार्किक प्रमाणो द्वारा। परम अद्वैतवाद की दर्शन-पद्धतियो मे दार्शनिक ज्ञान विचार की शक्तिहीनता का भाव हमारे समक्ष रखकर आन्तरिक अनुभव का मार्ग तैयार करता है। उदार अद्वैतपद्धतियो मे, जहा वास्तविक सत्ता को एक पूर्ण ठोस रूप मे माना गया है, दर्शनशास्त्र अधिक से

१ तुलना कीजिए, ब्रैडले, जो कहता है कि हम वास्तविक सत्ता को एक प्रकार की भावना द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, और मेक्टैगार्ट, जो प्रेम (भक्ति) को परम सत्ता का स्वरूप मानता है।

अधिक यथार्थ सत्ता की भ्रान्त पुनर्रचना का विचार हम त्यागते हैं। किन्तु वह यथार्थ हमारी निरान द श्रेणियों से कहीं ऊपर और इनके चारों ओर और इनमें प्रतीत है। परम अद्वैत में यह आन्तरिक अनुभव है जो हमारे सामने वास्तविक यथार्थ सत्ता को उसके पूर्ण रूप में प्रकट करता है। ठोस अद्वैतवाद में जहां ज्ञान का सम्पर्क भावना एवं मानसिक अनुराग के साथ होता है यह भ्रान्त तर दृष्टि है। काल्पनिक रचनाओं में अनुभवसिद्ध सत्यों जैसी निश्चितता नहीं रहती। फिर कोई भी मत अथवा तार्किक विचार उसी अवस्था में सत्य समझा जा सकता है जब यह जीवन की कसौटी पर ठीक उतर सके।

दर्शन एक ऐसा शब्द है जो सुविधाजनक रूप में स्वयं में सन्दिग्ध है क्योंकि परम अद्वैत की तार्किक पद्धति से रक्षा करने के लिए और अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न भी सत्य के बचाव के लिए भी जिसके ऊपर यह आश्रित है यह प्रयोग में आ सकता है। दार्शनिक विधि में दर्शन से तात्पर्य अन्तर्ज्ञान का प्रमाण मांगना है और उसका तार्किक रूप में प्रचार करना है। दूसरी पद्धतियों में भी सत्य की तार्किक व्याख्या के लिए इसका उपयोग होता है जो अनुप्राणित करनेवाली अन्त प्रेरणा की सहायता से अथवा उसके बिना भी प्राप्त की जा सकती है। दर्शन का प्रयोग इस प्रकार मानव मन द्वारा गृहीत यथार्थ सत्ता के सब मतों में होता है और यदि वह यथार्थ सत्ता एक है तो उसे प्रकाशित करनेवाले सब मतों का परस्पर एक दूसरे के साथ सहमत होना आवश्यक है। उन मतों में आकस्मिक अथवा नैमित्तिक घटनाओं का कोई स्थान नहीं है बल्कि उन्हें यथार्थ सत्ता के विषय में प्राप्त भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों को प्रतिबिम्बित करना चाहिए। उन अनेक मतों पर बहुत निकट से विचार करने पर जो हम भिन्न भिन्न दृष्टि से यथार्थ सत्ता का चित्र लेने पर प्राप्त हों हम यथार्थ सत्ता के पूर्ण रूप को तार्किक परिभाषाओं में जान सकते हैं। जब हमें अनुभव होता है कि वास्तविक सत्ता की धारणात्मक व्याख्या पर्याप्त नहीं है तब हम अन्तर्ज्ञान द्वारा यथार्थ सत्ता को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं और वहां सब बौद्धिक विचार समाप्त हो जाते हैं। उस समय हम परम अद्वैतवाद की विशुद्ध सत्ता का ज्ञान होता है जिसके द्वारा हम फिर तार्किक विचार द्वारा प्राप्त यथार्थ सत्ता की ओर वापस आते हैं जिसकी हम भिन्न भिन्न पद्धतियों में अभ्यन्तरण व्याख्या पाते हैं। इस गतिमय विधि के लिए उपयुक्त दर्शन शब्द का तात्पर्य है—यथार्थ सत्ता की वैज्ञानिक व्याख्या। यह एक शब्द है जो अपनी सुन्दर अस्पष्टता के कारण दर्शनशास्त्र की समस्त जटिल प्रेरणा की व्याख्या के लिए उपयुक्त हो सकता है।

दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है जो आत्मा रूपी इन्द्रिय के समक्ष सम्पूर्ण रूप में प्रकट होता है। यह आत्मदृष्टि जो वहीं सम्भव है जहां दर्शनशास्त्र का अस्तित्व है एक सच्चे दार्शनिक की स्पष्ट पहचान है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के विषय में उच्चतम विजय उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है जिन्होंने अपने अन्तर आत्मा की पवित्रता को प्राप्त कर लिया है। इस पवित्रता का आधार है अनुभव की प्रगाढ़ स्वीकृति जो केवल उसी अवस्था में साक्षात हो सकती है जब मनुष्य को अन्तर्निहित उस शक्ति की उपलब्धि हो जिसके द्वारा वह न केवल जीवन का निरीक्षण ही अपितु पूर्णतया ज्ञान प्राप्त कर सके। इस अन्तरतम निकास से ही दार्शनिक हमारे सामने जीवन के सत्य को प्रकट

करता है—उस सत्य को जो केवल वुद्धि द्वारा प्रकाश मे नही ग्रा सकता। इस प्रकार की दर्शनशक्ति लगभग ठीक उसी प्रकार स्वाभाविक रूप मे उत्पन्न हो जाती है जैसे फूल से फल की उत्पत्ति होती है, ग्रौर इसका उत्पत्तिस्थान वह रहस्यमय केन्द्र है, जहा सव प्रकार के ग्रनुभव का सामञ्जस्य होता है।

सत्य के ग्रन्वेपक को ग्रन्वेषण प्रारम्भ करने से पूर्व कतिपय ग्रनिवार्य साधनो की पूर्ति करना ग्रावश्यक है। शकर वेदान्तसूत्रो के ग्रपने भाष्य मे पहले ही सूत्र के भाष्य में कहते है कि दर्शनशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए चार साधन ग्रावश्यक हैं। प्रथम साधन है नित्य एव ग्रनित्य के मध्य भेद का ज्ञान। इसका ग्रर्थ यह नही है कि उसे इसका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए क्योकि वह तो ग्रन्त मे ही प्राप्त हो सकता है, किन्तु केवल ग्राध्यात्मिक प्रवृत्ति,—जोकि दृश्यमान वस्तुग्रो को वास्तविक रूप मे स्वीकार नही करती—ग्रर्थात् ग्रन्वेपक के ग्रन्दर प्रश्नात्मक जिज्ञासुभाव, का होना ग्रावश्यक है। उसके ग्रन्दर प्रत्येक विषय के भीतर प्रवेश करने की जिज्ञासा-वृत्ति होनी चाहिए, एक ऐसी चेतन कल्पनाशक्ति, जो प्रकटरूप मे ग्रसम्वद्ध सामग्री-समूह के ग्रन्दर से सत्य को ढूढकर निकाल सके, तथा ध्यान लगाने की ग्रादत का होना भी ग्रावश्यक है, जिससे कि वह ग्रपने मन को विचलित न होने दे। दूसरा साधन है कर्मफल की प्राप्ति की इच्छा का दमन, चाहे वह फल इस जन्म मे ग्रथवा भविष्यजन्म मे मिले। इस प्रतिवन्ध का ग्राग्रह है कि सव प्रकार की छोटी-छोटी इच्छाग्रो एव निजी प्रयोजन ग्रथवा क्रियात्मक स्वार्थ का सर्वथा त्याग होना चाहिए। चिन्तनशील मन के लिए कल्पना ग्रथवा ग्रन्वेषण स्वय ग्रपने-ग्रापमे लक्ष्य हैं। वुद्धि का ठीक दिशा मे उपयोग है वस्तुग्रो को, चाहे वे ग्रच्छी हो या वुरी, ठीक-ठीक समझना। दार्शनिक एक प्रकार से प्रकृतितत्त्वज्ञ है, जिसे ग्रपने मानसिक पक्षपात को दूर रखकर पदार्थो का, ग्रच्छी या वुरी दोनो प्रकार की दिशाग्रो मे ग्रनुसरण करते हुए, स्वाभाविक प्रकार से ग्रनुगमन करना चाहिए। वह न ग्रच्छे को वहुत वढाकर ग्रौर न वुरे की ग्रत्यन्त निन्दा करते हुए व्याख्या करे। उसे जीवन से वाहर स्थित होकर निर्लेपभाव से सवका निरीक्षण करना चाहिए। इसलिए यह कहा गया है कि उसे वर्तमान ग्रथवा भविष्य के साथ कोई ग्रनुराग नही होना चाहिए। केवल उसी ग्रवस्था मे वह ग्रपना सव कुछ विशुद्ध चिन्तन ग्रौर न्याय्य परामर्श के लिए निछावर कर सकता है ग्रौर सत्य के प्रति एक व्यक्तित्वभावरहित सार्वभौम भाव का विकास कर सकता है। इस प्रकार की मन.स्थिति को प्राप्त करने के लिए उसे हृदय-परिवर्तन का ग्रवसर देना चाहिए, जिसपर तीसरे साधन मे वल दिया गया है, जहा दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी के लिए ग्रादेश है कि उसे शान्ति, ग्रात्मसयम, त्याग, धैर्य, मन की शान्ति ग्रौर श्रद्धा का संचय करना चाहिए। केवल प्रशिक्षित मन ही, जो पूर्णरूप से शरीर पर नियन्त्रण रख सकता है, जीवन-पर्यन्त निरन्तर खोज एव ध्यान मे मग्न रह सकता है—क्षणमात्र के लिए भी पदार्थ को दृष्टि से ग्रोझल किए विना ग्रौर किसी सासारिक प्रलोभन से विचलित हुए विना। सत्य के ग्रन्वेपक को इतना साहस ग्रवश्य होना चाहिए कि वह ग्रपने उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सव कुछ खोने के लिए उद्यत रहे। इसलिए उसे कठिन नियन्त्रण मे से गुज़रने की, सुख को परे फेंकने एव दु ख ग्रौर घृणा को सहने की भी ग्रावश्यकता है। एक

प्रकार का मानसिक नियन्त्रण, जिसमें दयारहित आत्मपरीक्षण भी सम्मिलित है साधकों को मुक्ति के लक्ष्य तक पहुंचने के योग्य बनाएगा। चौथा साधन है मुमुक्षा। आध्यात्मिक प्रवृत्ति के मनुष्य के लिए जिसने अपना सब इच्छाओं का त्याग करके अपने मन को प्रशिक्षण दिया है मात्र एक ही सर्वोपरि इच्छा रह जाती है अर्थात् सत्य की प्राप्ति और नित्य के समीप पहुंचने की इच्छा। भारतवासी इन दार्शनिकों के प्रति अत्यन्त प्रतिष्ठा एवं श्रद्धा का भाव रखते हैं जो ज्ञान की शक्ति और बुद्धि के बल का गर्व करते हैं और उसकी पूजा करते हैं। एक व्यक्ति जिन्हें दैवीय प्रेरणा होती है जो सत्य के प्रति उग्र एवं उत्कृष्ट प्रेरणा से विश्व ब्रह्माण्ड के रहस्य को जानने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं और उसको वाणी द्वारा प्रकाश करते हैं और कठिन परिश्रम करते हुए इसी सत्यान्वेषण के लिए दिन रात एक कर देते हैं वे ही वास्तविक अर्थों में दार्शनिक हैं। वे मनुष्य मात्र के हित के लिए ज्ञान-सम्पादन करते हैं और इसलिए मनुष्य जाति सदा के लिए उनके प्रति कृतज्ञ रहती है।

भूतकाल के प्रति श्रद्धा हमारी एक अन्य राष्ट्रीय विशेषता है। परम्परा का निरन्तर अनुसरण करते रहना हमारी एक विशिष्ट मनोवृत्ति है अर्थात् युगों तक बराबर प्रचलित प्रथाओं के अन्दर एक प्रकार का आग्रहपूर्ण भक्ति। जब जब नई संस्कृतियों से सामना हुआ अथवा नवीन ज्ञान आगे आया भारतीयों ने सामयिक प्रलोभन की अधीनता स्वीकार किए बिना अपने परम्परागत विश्वास को दृढ़तापूर्वक पकड़कर स्थिर रखा किन्तु जहां तक सम्भव हुआ नवीन से उतना अंश लेकर पुराने के अन्दर मिला भी लिया। यह सनातन मिश्रित उदारता ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की सफलता का प्रधान रहस्य है। संसार की उन बड़ी-बड़ी सभ्यताओं में से जो कालक्रम से बहुत पुरानी और वृद्ध हैं यही एक जीवित बची है। मिस्र की सभ्यता की महत्ता का पता पुरातत्ववेत्ताओं की लेखबद्ध सूचनाओं एवं चित्र-लेखों के अध्ययन द्वारा ही पाया जा सकता है बेबिलोनियन साम्राज्य अपनी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उपलब्धियों सिंचाई व इंजीनियरी कला के साथ आज खण्डहरों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है। महान रोमन संस्कृति अपनी राजनीतिक संस्थाओं और कानून व समानता के सिद्धान्तों के साथ अधिकांश में आज भूतकाल का ही एक विषय रह गई है। भारतीय सभ्यता जो अत्यन्त न्यूनांकन के अनुसार भी ४००० वर्ष पुरानी तो है ही अपनी समस्त विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए जीवित बची है। इस देश की सभ्यता वेदों के काल तक पीछे जाने पर एकसाथ ही पुरानी भी है और नई भी। जब जब इतिहास की मांग हुई इसने समय समय पर अपने को नये सिरे से युवा बना लिया। जब जब परिवर्तन होता है उसका ज्ञान नवीन परिवर्तन के रूप में नहीं भासित होता। उसे अपना लिया जाता है और हर समय यह प्राचीन विचार पद्धति को दिए गए नवीन रूप में स्वीकृत प्रतीत होता है। ऋग्वेद में हम देखेंगे कि किस प्रकार से आर्य विजेताओं की धार्मिक चेतना ने इस भूमि के आदिवासियों के अन्धविश्वासों का भी साथ-साथ ध्यान रखा। अथर्ववेद में हमें पता लगता है कि सन्दिग्ध जागतिक देवी देवताओं को आकाश सूर्य अग्नि एवं वायु आदि देवताओं के साथ—जिनकी पूजा आर्य लोगों में गंगा से लेकर हेलेस्पोंट तक होती थी—

जोड दिया गया है। उपनिषदो के विषय मे कहा जाता है कि वैदिक सूक्तों मे जो कुछ पहले से पाया जाता था, ये उसीकी पुनरावृत्ति अथवा साक्षात्कार-मात्र हैं। भगवद्-गीता का दावा है कि उसमे उपनिषदो की शिक्षा का सारतत्व निहित है। महाकाव्यो मे हमे उच्चतम आशय वाली धार्मिक भावनाओ का प्राचीन प्रकृतिपूजा के साथ सगम हुआ उपलब्ध होता है। मनुष्य के अन्दर प्राचीनता के प्रति आदर एव श्रद्धा की भावना के कारण ही उसे नवीन की सफलता प्राप्त हो सकती है।[1] पुराने भावो की रक्षा की जाती है, यद्यपि पुरानी आकृतियो की नही। भारत की इस रक्षणात्मक प्रवृत्ति के कारण ही भारत के विषय मे औपचारिक कथन किया जाता है कि वह अचल है। मनुष्य का मन कभी निश्चल नही बैठता, यद्यपि वह भूतकाल के साथ एकदम सम्बन्ध तोडना भी स्वीकार नही कर सकता।

भूतकाल के प्रति इस प्रकार की निष्ठा ने भारतीय विचार मे एक प्रकार के नियमित नैरन्तर्य को उत्पन्न किया है, जहा कि प्रत्येक युग एक-दूसरे के साथ स्वाभाविक पवित्रता के बन्धन मे जुडा हुआ है। हिन्दू सस्कृति युगो की देन है, जिसमे सैकडो पीढियो द्वारा किए गए परिवर्तन समवेत हैं। इन परिवर्तनो मे कुछ बहुत दीर्घ, विकृत और दु ख-मय है, जबकि अन्य अल्पकालीन, शीघ्रगामी एव सुखकर हैं, जिनमे प्रत्येक ने इस प्राचीन सम्पन्न परम्परा मे—जो आज भी जीवित है, यद्यपि यह अपने अन्दर मृतप्राय भूतकाल के चिह्नो को भी अभी तक सजोए हुए है—कुछ न कुछ उत्तम गुणयुक्त सामग्री जोड दी है। भारतीय दर्शन की जीवन-यात्रा की तुलना एक ऐसी जलधारा के प्रवाह के साथ की जाती है जो अपने आदि उद्गम से निकलकर उत्तरी पर्वतो की चोटियो से आनन्दपूर्वक लुढकती हुई, छायादार घाटियो और मैदानो मे से वेग के साथ आगे बढती हुई, अन्य छोटी-छोटी धाराओ को अपनी निरंकुश धारा मे समेटती हुई अन्त मे एक महान रूप और गम्भीर शक्ति धारण कर उन मैदानो व मानव-समूहो के अन्दर प्रवाहित होती है जिनके भाग्यो का वह निर्णय करती है एव हजारो जहाजो का भार अपनी छाती पर वहन करती है। कौन जानता है कि क्या और कब यह शक्तिशाली महान जलधारा, जो इस समय निरन्तर तुमुल कोलाहल एव प्रसन्नता के साथ प्रवाहित हो रही है, समुद्र मे जा गिरेगी जो समस्त नदियो का जनक है?

ऐसे भारतीय विचारको का अभाव नही है जो समस्त भारतीय दर्शन को निरतर दैवी प्रेरणा की एक ही पद्धति के रूप मे मानते है। उनका विश्वास है कि प्रत्येक सभ्यता

१. तुलना कीजिए, "किसी भी नये मत के लिए अपने को प्राचीन कहकर पेश करने की एक साधारण प्रवृत्ति है। सुधार के प्रचार ने बाइबिल के प्रति लौटने का दावा किया, इग्लैंड में इवैंजलिकल आन्दोलन ने ईसामसीह द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त होने का और हाई चर्च आन्दोलन ने प्राचीन चर्च के प्रति वापसी का दावा किया। फ्रास की राज्यक्रान्ति में भी एक बहुत बडे भाग ने अपने आदर्श के लिए रोमन लोकतन्त्रात्मक सदाचार अथवा प्राकृतिक मानव की सादगी के प्रति वापसी का ही दावा किया, यद्यपि उक्त राज्यक्रान्ति प्राचीनता के प्रति सबसे बड़ा विद्रोह था।" (गिलबर्ट मरे 'फोर स्टेजेज आफ ग्रीक रिलिजन,' पृष्ठ ५८)।

प्रकार का आत्मिक नियन्त्रण जिसमें दयारहित आत्मपरीक्षण भी सम्मिलित है सत्यान्वेषी को मुक्ति के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाएगा। चौथा साधन है मुमुक्षा। आध्यात्मिक प्रवृत्ति के मनुष्य के लिए जिसने अपनी सब इच्छाओं का त्याग करके अपने मन को प्रशिक्षण दिया है मात्र एक ही सर्वोपरि इच्छा रह जाती है अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति और नित्य के समीप पहुँचने की इच्छा। भारतवासी इन दार्शनिकों के प्रति अत्यन्त प्रतिष्ठा एवं श्रद्धा का भाव रखते हैं जो ज्ञान की शक्ति और बुद्धि के बल का गर्व करते हैं और उसकी पूजा करते हैं। ऐसे व्यक्ति जिन्हें दैवीय प्रेरणा होती है जो सत्य के प्रति उदार एवं उत्कृष्ट प्रेरणा से विश्व ब्रह्माण्ड के रहस्य को जानने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं और उसका वाणी द्वारा प्रकाश करते हैं और कठिन परिश्रम करते हुए ऐसी सत्यान्वेषण के लिए दिन रात एक कर देते हैं, वे ही वास्तविक अर्थों में दार्शनिक हैं। वे मनुष्य मात्र के हित के लिए ज्ञान-सम्पादन करते हैं और इसलिए मनुष्य जाति सदा के लिए उनके प्रति कृतज्ञ रहती है।

भूतकाल के प्रति श्रद्धा हमारी एक अन्य राष्ट्रीय विशेषता है। परम्परा का निरन्तर अनुसरण करते रहना हमारी एक विशिष्ट मनोवृत्ति है अर्थात् युगों तक बराबर प्रचलित प्रथाओं के अन्दर एक प्रकार की आग्रहपूर्ण भक्ति। जब जब नई संस्कृतियों से सामना हुआ अथवा नवीन ज्ञान आगे आया भारतीयों ने सामयिक प्रलोभन की अधीनता स्वीकार किए बिना अपने परम्परागत विश्वास को दृढ़तापूर्वक पकड़कर स्थिर रखा किन्तु जहाँ तक सम्भव हुआ नवीन से उतना अंश लेकर पुराने के अन्दर मिला भी लिया। यह सनातन मिश्रित उदारता ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की सफलता का प्रधान रहस्य है। संसार की उन बड़ी-बड़ी सभ्यताओं में से जो कालक्रम से बहुत पुरानी और वृद्ध हैं यही एक जीवित बची है। मिस्र की सभ्यता की महत्ता का पता पुरातत्त्ववेत्ताओं की लेखबद्ध सूचनाओं एवं चित्र-लेखों के अध्ययन द्वारा ही पाया जा सकता है बेबिलोनियन साम्राज्य अपनी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उपलब्धियों सिंचाई व इंजीनियरी कला के साथ आज खण्डहरों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है। महान रोमन संस्कृति अपनी राजनीतिक संस्थाओं और कानून व समानता के सिद्धान्तों के साथ अधिकांश में आज भूतकाल का ही एक विषय रह गई है। भारतीय सभ्यता जो अत्यन्त न्यूनांकन के अनुसार भी ४००० वर्ष पुरानी तो है ही अपनी समस्त विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए जीवित बची है। इस देश की सभ्यता वेदों के काल तक पीछे जाने पर एकसाथ ही पुरानी भी है और नई भी। जब जब इतिहास की माँग हुई इसने समय समय पर अपने को नये सिरे से युवा बना लिया। जब जब परिवर्तन होता है उसका भान नवीन परिवर्तन के रूप में नहीं भासित होता। उसे अपना लिया जाता है और हर समय यह प्राचीन विचार-पद्धति को दिए गए नवीन रूप में स्वीकृत प्रतीत होता है। ऋग्वेद में हम देखेंगे कि किस प्रकार से आर्य विजेताओं की धार्मिक चेतना ने इस भूमि के आदिवासियों के अन्धविश्वासों का भी साथ-साथ ध्यान रखा। अथर्ववेद में हमें पता लगता है कि सन्दिग्ध जागतिक देवी-देवताओं को आकाश सूर्य अग्नि एवं वायु आदि देवताओं [illegible]

जोड दिया गया है। उपनिषदो के विषय मे कहा जाता है कि वैदिक सूक्तो मे जो कुछ पहले से पाया जाता था, ये उसीकी पुनरावृत्ति अथवा साक्षात्कार-मात्र है। भगवद्-गीता का दावा है कि उसमे उपनिषदो की शिक्षा का सारतत्त्व निहित है। महाकाव्यो मे हमे उच्चतम आशय वाली धार्मिक भावनाओ का प्राचीन प्रकृतिपूजा के साथ सगम हुआ उपलब्ध होता है। मनुष्य के अन्दर प्राचीनता के प्रति आदर एव श्रद्धा की भावना के कारण ही उसे नवीन की सफलता प्राप्त हो सकती है।[1] पुराने भावो की रक्षा की जाती है, यद्यपि पुरानी आकृतियो की नही। भारत की इस रक्षणात्मक प्रवृत्ति के कारण ही भारत के विषय मे औपचारिक कथन किया जाता है कि वह अचल है। मनुष्य का मन कभी निश्चल नही बैठता, यद्यपि वह भूतकाल के साथ एकदम सम्बन्ध तोडना भी स्वीकार नही कर सकता।

भूतकाल के प्रति इस प्रकार की निष्ठा ने भारतीय विचार मे एक प्रकार के नियमित नैरन्तर्य को उत्पन्न किया है, जहा कि प्रत्येक युग एक-दूसरे के साथ स्वाभाविक पवित्रता के बन्धन से जुडा हुआ है। हिन्दू सस्कृति युगो की देन है, जिसमे सैकडो पीढियो द्वारा किए गए परिवर्तन समवेत है। इन परिवर्तनो मे कुछ बहुत दीर्घ, विकृत और दु ख-मय है, जबकि अन्य अल्पकालीन, शीघ्रगामी एव सुखकर है, जिनमे प्रत्येक ने इस प्राचीन सम्पन्न परम्परा मे—जो आज भी जीवित है, यद्यपि यह अपने अन्दर मृतप्राय भूतकाल के चिह्नो को भी अभी तक सजोए हुए है—कुछ न कुछ उत्तम गुणयुक्त सामग्री जोड दी है। भारतीय दर्शन की जीवन-यात्रा की तुलना एक ऐसी जलधारा के प्रवाह के साथ की जाती है जो अपने आदि उद्गम से निकलकर उत्तरी पर्वतो की चोटियो से आनन्दपूर्वक लुढकती हुई, छायादार घाटियो और मैदानो मे से वेग के साथ आगे बढती हुई, अन्य छोटी-छोटी धाराओ को अपनी निरकुश धारा मे समेटती हुई अन्त मे एक महान रूप और गम्भीर शक्ति धारण कर उन मैदानो व मानव-समूहो के अन्दर प्रवाहित होती है जिनके भाग्यो का वह निर्णय करती है एव हजारो जहाजो का भार अपनी छाती पर वहन करती है। कौन जानता है कि क्या और कब यह शक्तिशाली महान जलधारा, जो इस समय निरन्तर तुमुल कोलाहल एव प्रसन्नता के साथ प्रवाहित हो रही है, समुद्र मे जा गिरेगी जो समस्त नदियो का जनक है?

ऐसे भारतीय विचारको का अभाव नही है जो समस्त भारतीय दर्शन को निरतर दैवी प्रेरणा की एक ही पद्धति के रूप मे मानते हैं। उनका विश्वास है कि प्रत्येक सभ्यता

१. तुलना कीजिए, "किसी भी नये मत के लिए अपने को प्राचीन कहकर पेश करने की एक साधारण प्रवृत्ति है। सुधार के प्रचार ने बाइबिल के प्रति लौटने का दावा किया, इग्लैंड में इवैंजलिकल आन्दोलन ने ईसामसीह द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त होने का और हाई चर्च आन्दोलन ने प्राचीन चर्च के प्रति वापसी का दावा किया। फ्रास की राज्यक्रान्ति में भी एक बहुत बडे भाग ने अपने आदर्श के लिए रोमन लोकतन्त्रात्मक सदाचार अथवा प्राकृतिक मानव की सादगी के प्रति वापसी का ही दावा किया, यद्यपि उक्त राज्यक्रान्ति प्राचीनता के प्रति सबसे बड़ा विद्रोह था।" (गिलबर्ट मरे 'फोर स्टेजेज आफ ग्रीक रिलिजन,' पृष्ठ ५८)।

प्रकार का मानसिक नियन्त्रण जिसमें दयाद्रेह आत्मपरीक्षण भी सम्मिलित है, सत्यान्वेषी को मुक्ति के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाएगा। चौथा साधन है मुमुक्षा। आध्यात्मिक प्रवृत्ति के मनुष्य के लिए जिसने अपनी सब इच्छाओं का त्याग करके अपने मन को प्रशिक्षण दिया है, मात्र एक ही सर्वोपरि इच्छा रह जाती है, अर्थात् सत्य की प्राप्ति और नित्य के समीप पहुँचने की इच्छा। भारतवासी इन दार्शनिकों के प्रति अनन्य प्रतिष्ठा एवं श्रद्धा का भाव रखते हैं जो ज्ञान की शक्ति और बुद्धि में बल का गर्व करते हैं और उसकी पूजा करते हैं। ऐसे व्यक्ति जिन्हें दैवीय प्रेरणा होती है जो सत्य के प्रति उत्कट एवं उत्कृष्ट प्रेरणा से विश्व ब्रह्माण्ड के रहस्य को जानने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं और उसको वाणी द्वारा प्रकाश करते हैं और कठिन परिश्रम करते हुए इसी सत्यान्वेषण के लिए दिन रात एक कर देते हैं, वे ही वास्तविक अर्थों में दार्शनिक हैं। वे मनुष्य मात्र के हित के लिए ज्ञान-सम्पादन करते हैं और इसलिए मनुष्य जाति सदा के लिए उनके प्रति कृतज्ञ रहती है।

भूतकाल के प्रति श्रद्धा हमारी एक अन्य राष्ट्रीय विशेषता है। परम्परा का निरन्तर अनुसरण करते रहना हमारी एक विशिष्ट मनोवृत्ति है अर्थात् युगों तक बराबर प्रचलित प्रथाओं के अन्दर एक प्रकार की आग्रहपूर्ण भक्ति। जब जब नई संस्कृतियों से सामना हुआ अथवा नवीन ज्ञान आगे आया, भारतीयों ने सामयिक प्रलोभन की अधीनता स्वीकार किए बिना अपने परम्परागत विश्वास को दृढ़तापूर्वक पकड़कर स्थिर रखा, किन्तु जहाँ तक सम्भव हुआ नवीन से उतना अंश लेकर पुराने के अन्दर मिला भी लिया। यह सनातन मिश्रित उदारता ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की सफलता का प्रधान रहस्य है। संसार की उन बड़ी-बड़ी सभ्यताओं में से, जो कालक्रम से बहुत पुरानी और वृद्ध हैं, यही एक जीवित बची है। मिस्र की सभ्यता की महत्ता का पता पुरातत्त्ववेत्ताओं की लेखबद्ध सूचनाओं एवं चित्र-लेखों के अध्ययन द्वारा ही पाया जा सकता है। बेबिलोनियन साम्राज्य अपनी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उपलब्धियों, सिंचाई व इंजीनियरी कला के साथ आज खण्डहरों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है। महान् रोमन संस्कृति अपनी राजनीतिक संस्थाओं और कानून व समानता के सिद्धान्तों के साथ अधिकांश में आज भूतकाल का ही एक विषय रह गई है। भारतीय सभ्यता जो अत्यन्त न्यूनाकन के अनुसार भी ४००० वर्ष पुरानी तो है ही, अपनी समस्त विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए जीवित बची है। इस देश की सभ्यता वेदों के काल तक पीछे जाने पर एकसाथ ही पुरानी भी है और नई भी। जब जब इतिहास की माँग हुई, इसने समय समय पर अपने को नये सिरे से युवा बना लिया। जब जब परिवर्तन होता है उसका ज्ञान नवीन परिवर्तन के रूप में नहीं भासित होता। उसे अपना लिया जाता है और हर समय यह प्राचीन विचार पद्धति को दिए गए नवीन रूप में स्वीकृत प्रतीत होता है। ऋग्वेद में हम देखेंगे कि किस प्रकार से आर्य विजेताओं की धार्मिक चेतना ने इस भूमि के आदिवासियों के अन्धविश्वासों का भी साथ-साथ ध्यान रखा। अथर्ववेद में हमें पता लगता है कि सन्दिग्ध जागतिक देवी देवताओं को आकाश, सूर्य, अग्नि एवं वायु आदि देवताओं के साथ—जिनकी पूजा आर्य लोगों में गंगा से लेकर हेलेस्पोंट तक होती थी—

जोड दिया गया है। उपनिषदो के विषय मे कहा जाता है कि वैदिक सूक्तों में जो कुछ पहले से पाया जाता था, ये उसीकी पुनरावृत्ति अथवा साक्षात्कार-मात्र है। भगवद्-गीता का दावा है कि उसमे उपनिषदो की शिक्षा का सारतत्त्व निहित है। महाकाव्यो मे हमे उच्चतम आशय वाली धार्मिक भावनाओ का प्राचीन प्रकृतिपूजा के साथ सगम हुआ उपलब्ध होता है। मनुष्य के अन्दर प्राचीनता के प्रति आदर एव श्रद्धा की भावना के कारण ही उसे नवीन की सफलता प्राप्त हो सकती है।[1] पुराने भावो की रक्षा की जाती है, यद्यपि पुरानी आकृतियो की नही। भारत की इस रक्षणात्मक प्रवृत्ति के कारण ही भारत के विषय मे औपचारिक कथन किया जाता है कि वह अचल है। मनुष्य का मन कभी निश्चल नही बैठता, यद्यपि वह भूतकाल के साथ एकदम सम्बन्ध तोडना भी स्वीकार नही कर सकता।

भूतकाल के प्रति इस प्रकार की निष्ठा ने भारतीय विचार मे एक प्रकार के नियमित नैरन्तर्य को उत्पन्न किया है, जहा कि प्रत्येक युग एक-दूसरे के साथ स्वाभाविक पवित्रता के बन्धन से जुडा हुआ है। हिन्दू सस्कृति युगो की देन है, जिसमे सैकडो पीढियो द्वारा किए गए परिवर्तन समवेत है। इन परिवर्तनो मे कुछ बहुत दीर्घ, विकृत और दुखमय है, जबकि अन्य अल्पकालीन, शीघ्रगामी एव सुखकर है, जिनमे प्रत्येक ने इस प्राचीन सम्पन्न परम्परा मे—जो आज भी जीवित है, यद्यपि यह अपने अन्दर मृतप्राय भूतकाल के चिह्नो को भी अभी तक सजोए हुए है—कुछ न कुछ उत्तम गुणयुक्त सामग्री जोड़ दी है। भारतीय दर्शन की जीवन-यात्रा की तुलना एक ऐसी जलधारा के प्रवाह के साथ की जाती है जो अपने आदि उद्गम से निकलकर उत्तरी पर्वतो की चोटियो से आनन्दपूर्वक लुढकती हुई, छायादार घाटियो और मैदानो मे से वेग के साथ आगे बढती हुई, अन्य छोटी-छोटी धाराओ को अपनी निरकुश धारा मे समेटती हुई अन्त मे एक महान रूप और गम्भीर शक्ति धारण कर उन मैदानो व मानव-समूहो के अन्दर प्रवाहित होती है जिनके भाग्यो का वह निर्णय करती है एव हजारो जहाजो का भार अपनी छाती पर वहन करती है। कौन जानता है कि क्या और कब यह शक्तिशाली महान जलधारा, जो इस समय निरन्तर तुमुल कोलाहल एव प्रसन्नता के साथ प्रवाहित हो रही है, समुद्र मे जा गिरेगी जो समस्त नदियो का जनक है?

ऐसे भारतीय विचारको का अभाव नही है जो समस्त भारतीय दर्शन को निरतर दैवी प्रेरणा की एक ही पद्धति के रूप मे मानते है। उनका विश्वास है कि प्रत्येक सभ्यता

१ तुलना कीजिए, "किसी भी नये मत के लिए अपने को प्राचीन कहकर पेश करने की एक साधारण प्रवृत्ति है। सुधार के प्रचार ने बाइबिल के प्रति लौटने का दावा किया, इग्लैंड में इवेंजलिकल आन्दोलन ने ईसामसीह द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त होने का और हाई चर्च आन्दोलन ने प्राचीन चर्च के प्रति वापसी का दावा किया। फ्रास की राज्यक्रान्ति में भी एक बहुत बडे भाग ने अपने आदर्श के लिए रोमन लोकतन्त्रात्मक सदाचार अथवा प्राकृतिक मानव की सादगी के प्रति वापसी का ही दावा किया, यद्यपि उक्त राज्यक्रान्ति प्राचीनता के प्रति सबसे बडा विद्रोह था।" (गिलबर्ट मरे 'फोर स्टेजेज आफ ग्रीक रिलिजन,' पृष्ठ ५८)।

विशेष विचार का सम्मान करती है, जो उसके लिए स्वाभाविक है।[1] प्रत्येक मानवीय जाति में उसके अन्तर्निहित एक ऐसा धर्म मीमांसा रहती है जो उसके जीवन का निर्माण करती है और उसे पूर्ण विकास तक ले जाती है। भारत में समय समय पर जिन भिन्न मतों का प्रचार हुआ वे सब उसी एक मुख्य वृक्ष की शाखाएं मात्र हैं। सत्य की खोज के मुख्य मार्ग के साथ छोटी छोटी पगडंडियां और अधेरी गलियां का भी सामंजस्य किया जा सकता है। एक सुपरिचित विधि जिसमें छः पुराने दर्शनशास्त्रों का समन्वय हुआ है इस प्रकार प्रकट की जा सकती है कि जैसे एक मां अपने बच्चे को चांद की ओर संकेत करती हुई बतलाती है कि वह देखो वृक्ष के ऊपर एक चमकीला गोलाकार चक्कर है, और यह बच्चे को बिलकुल आसानी से समझ में आ सकता है—पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच की दूरी का वर्णन किए बिना, जिससे बच्चा घबरा सकता था, इसी प्रकार भिन्न भिन्न मत मानवीय विचार शक्ति की विभिन्न दुर्बलताओं के कारण प्रकट हुए हैं। प्रबोधचन्द्रोदय नामक एक दार्शनिक नाटक कहता है कि हिन्दू विचार धारा के छः प्रमुख दर्शन परस्पर एक-दूसरे से अलग नहीं हैं किन्तु विविध प्रकार के दृष्टिकोणों से एक ही स्वयम्भू ईश्वर की स्थापना करते हैं। वे सब मिलकर तितर बितर हुई किरणों का केन्द्र स्थल बनाते हैं जिससे भिन्न भिन्न पहलुओं वाली मनुष्य-जाति प्रकाश के पुंज सूर्य से प्रकाश रूपी ज्ञान प्राप्त करती है। माध्वाचार्य निर्मित सर्वदर्शन संग्रह (सन १३८०) ने सोलह विविध दार्शनिक पद्धतियों का वर्णन किया है जिनसे क्रमानुसार आगे बढ़ते हुए अद्वैतवेदान्त तक पहुंचा जा सकता है। हेगल की तरह भारतीय दर्शन को यह एक उत्तरोत्तर प्रयत्न के रूप में देखता है जो हमें एक पूर्ण संविबद्ध संसार का विचार देता है। उत्तरोत्तर इन पद्धतियों में धीरे धीरे आंशिक रूप में सत्य प्रकट होता जाता है और दार्शनिक श्रेणियों का जब अन्त हो जाता है तो सत्य प्रकाश में आ जाता है। अन्त वेदान्त में बहुत से प्रकाश एक केन्द्र बिन्दु पर आकर एकत्र हो गए हैं। सोलहवीं शताब्दी के अध्यात्मवादी एवं विचारक विज्ञानभिक्षु का मत है कि सब दर्शन प्रामाणिक हैं।[2] और उनके समन्वय की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि क्रियात्मक और आध्यात्मिक तथ्य में भेद है और इस प्रकार वे सांख्य को परम सत्य की व्याख्या करनेवाला बताते हैं। मधुसूदन सरस्वती अपने प्रस्थानभेद में लिखते हैं कि सब मुनियों का अन्तिम लक्ष्य जो इन भिन्न भिन्न दर्शनों के कर्ता हैं माया के सिद्धान्त का समर्थन करना है और उनके दर्शन का मूल आधार एकमात्र सर्वोपरि परम ब्रह्म की सत्ता की स्थापना करना है जो अन्यतम सारतत्त्व है क्योंकि ये मुनि जो सर्वज्ञ थे भूल नहीं कर सकते थे। किन्तु चूंकि उन्होंने अनुभव किया कि मनुष्य जो बाह्य पदार्थों की प्राप्ति के आदी हैं एकसाथ ही उच्चतम सत्य के अन्दर प्रवेश करके उसे ग्रहण नहीं कर सकते इसलिए उन्होंने मनुष्यों के हित के लिए नाना प्रकार के सिद्धान्तों की कल्पना की जिससे कि वे नास्तिकता के गर्त में न गिर सकें। इस प्रकार से मुनियों के

१ ग्रीक विद्वान इस विशेष गुण को प्रत्येक जाति की प्रकृति कहते हैं जबकि भारतीय विचार इसीको उक्त जाति के धर्म का नाम देते हैं।

२ सर्वागमप्रामाण्य।

उद्देश्य को, जो उनके मन मे था, गलत रूप मे समझकर और यहा तक मानने पर उतारू होकर कि मुनियो ने वेद-विरुद्ध मतो का भी प्रचार किया, इन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के विशेष-विशेष सिद्धान्तो को मनुष्यो ने एक-दूसरे से उत्तम बताकर नाना पद्धतियो का पक्ष ग्रहण कर लिया।"[1] अनेक दार्शनिक पद्धतियो के इस प्रकार के समन्वय का प्रयत्न[2] प्राय सभी समीक्षको एव टीकाकारो ने किया है। भेद केवल इतना ही है कि वे किसे सत्य समझते है। न्याय के समर्थक उदयन की तरह न्याय को और ईश्वरवादी रामानुज की तरह ईश्वरवाद को ही सत्य मानते हैं। यह सोचना भारतीय सस्कृति की भावना के अनुकूल ही होगा कि विचार की अनेक और भिन्न-भिन्न धाराए, जो इस भूमि मे बहती हैं, अपना जल एक ही सामान्य नदी मे डालेगी, जिसका बहाव अन्यत्र कही न होकर ईश्वर के नगर की ओर ही होगा।

प्रारम्भ से ही भारतीयो ने यह अनुभव किया था कि सत्य अनेकपक्षीय है और 'विविध मत सत्य के भिन्न-भिन्न पहलू को लेकर प्रकट हुए हैं, क्योकि विशुद्ध सत्य का प्रतिपादन कोई एक मत नही कर सकता। इसीलिए उन्हे अन्य मतो के प्रति सहनशील होकर उन्हे भी स्वीकार करना पडा। उन्होने निर्भयता के साथ ऐसे विपम सिद्धान्तो को भी उस सीमा तक स्वीकृति प्रदान की, जहा तक उन सिद्धान्तो को तर्क का समर्थन प्राप्त हो सकता था। जहा तक सम्भव हो सका, उन्होने लेशमात्र भी प्राचीन परम्पराओ के शीर्षको को नष्ट नही होने दिया और उन सबको उचित स्थान व महत्त्व प्रदान किया। इस प्रकार की उदारता के अनेको उदाहरण आगे हम अपने इस अध्ययन मे पाएगे। नि सन्देह इस प्रकार की मत-सम्बन्धी उदारता मे कई प्रकार के सकटो का समावेश रहता है। प्राय. इस उदारता के कारण भारतीय विचारको को अनिश्चितता, शिथिलताजन्य स्वीकृति और सस्ते सारसग्रहवाद का शिकार होना पडा है।

३

भारतीय दर्शन के विरुद्ध कुछ आरोप

भारतीय दर्शन के विरुद्ध लगाए जानेवाले मुख्य आरोप ये है कि यह निराशावादी है, रूढिवादी है, नीतिशास्त्र के प्रति उदासीन है और प्रगतिशील नही है।

भारतीय दर्शन एव सस्कृति के प्राय प्रत्येक समीक्षक ने इसे एक स्वर से निराशावादपरक बताया है।[3] किन्तु हमे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि किस प्रकार एक ऐसा मानव-मस्तिष्क स्वतन्त्रता के साथ किसी कल्पना मे प्रवृत्त हो सकता है और जीवन का पुनर्निर्माण कर सकता है, जबकि वह क्लान्ति से भरा और निराशा के भाव से आक्रान्त हो। वस्तुत भारतीय विचारधारा के क्षेत्र और स्वातन्त्र्य की सगति

१ देखें, म्योर, 'ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट्स', ४ १ और २।

२. सर्वदर्शनसामरस्य।

३. वैले ने अपनी पुस्तक 'एड्मिनिस्ट्रेटिव प्राब्लम्स' (पृ० ६७) में लिखा है कि भारतीय दर्शन 'आलस्य और शाश्वत विश्राम की कामना से' उत्पन्न हुआ है।

अन्तिम रूप में निराशावादी है। यदि निराशावाद से तात्पर्य जो कुछ है और जिसकी सत्ता हमारे सामने है—उसके प्रति असन्तोष से है तो अवश्य ही इसे केवल इन अर्थों में निराशावादी कहा जाए। और इन अर्थों में तो सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र निराशावादी कहला सकता है। इस जगत् में विद्यमान दुःख ही दर्शनशास्त्र एवं धर्म की समस्या की प्रेरणा देता है। धर्मशास्त्र दुःख से निवृत्ति के ऊपर बल देते हैं—जिस प्रकार का जीवन हम इस पृथ्वी पर व्यतीत करते हैं उससे परे निर्वाण की खोज करते हैं। किन्तु यथार्थ सत्ता अपने तत्त्व रूप में पाप नहीं है। भारतीय दर्शन में कहीं एक ही शब्द 'सत्' यथार्थ सत्ता और परिपूर्णता दोनों का संकेत करता है। सत्य और साधुता और अधिक सही अर्थों में कहा जाए तो यथार्थ सत्ता और पूर्णता साथ साथ रहती हैं। यथार्थ सत्ता अपने में मूल्यवान भी है और यही समस्त आशावाद का आधार है। प्रोफेसर बोसनक्वेट लिखते हैं, "मैं आशावाद में विश्वास करता हूं, किन्तु मैं यह भी कहता हूं कि वह आशावाद किसी काम का नहीं है जो बराबर निराशावाद के साथ चलकर अन्त में उससे दूर पहुंच जाता है। मुझे निश्चय है कि यही जीवन का सत्यभाव है। और यदि कोई इसे अनर्थकारी समझता है और समझता है कि यह एक प्रकार से दुष्कर्म को अनुचित स्वीकृति देता है तो मेरा उत्तर यह है कि वह समस्त सत्य जिसमें पूर्णता का थोड़ा सा भी पुट है, क्रियात्मक रूप में अनर्थकारी है।"[1] भारतीय विचारक निराशावादी इन अर्थों में हैं कि वे इस जगत् की व्यवस्था को बुराई व मिथ्यारूप में देखते हैं। किन्तु आशावादी वे इन अर्थों में हैं कि वे अनुभव करते हैं कि वे इस जगत् से छुटकारा पाकर सत्य के राज्य में, जिसका दूसरा नाम साधुता भी है, पहुंच सकते हैं।

यह कहा जाता है कि यदि भारतीय दर्शन में रूढ़िवाद न रहे तो यह कुछ नहीं है और श्रुति के स्वीकार करने पर वास्तविक दर्शन की कोई सत्ता नहीं रहती। अगले पृष्ठों में दिए गए भारतीय विचारधारा के समस्त अध्ययनक्रम में इस आरोप का उत्तर मिल जाएगा। दर्शनशास्त्र की अनेक पद्धतियां ज्ञान, उसका उद्गमस्थान एवं यथार्थता की समस्या के समाधान को अन्य सब समस्याओं के समाधान से पूर्व विवेचना के लिए प्रमुख स्थान देती हैं। यह सत्य है कि वेद अथवा श्रुति को साधारणतया ज्ञान का एक प्रामाणिक उद्गमस्थान माना गया है। किन्तु यदि केवल वेद की उक्तियों को एकमात्र सर्वोपरि अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञान की प्रामाणिकता और तर्कसंगत निष्कर्षों के प्रामाण्य से उत्तम स्वीकार किया जाए तो दर्शनशास्त्र अवश्य रूढ़ि मात्र बन जाएगा। वैदिक व्याख्याएं आप्तवचन अर्थात् बुद्धिमानों की उक्तियां हैं, जिन्हें स्वीकार करने का हमें आदेश दिया गया है, यदि हमें यह निश्चय हो कि उन बुद्धिमान आप्त पुरुषों को समस्याओं के समाधान के लिए हमारी अपेक्षा अधिक उत्तम साधन उपलब्ध थे। साधारणतः ये वैदिक सचाइयां ऋषियों के अनुभवों का वर्णन करती हैं, जिन्हें यथार्थ सत्ता की हेतुवादपरक व्याख्या

१. सोशल एण्ड इण्टरनेशनल आइडियाज, पृ० ४३। तुलना कीजिए, शोपनहावर : "आशावाद—यदि यह केवल विचारहीन कथन मात्र ही नहीं है जिसमें सिवा शब्दों के और कुछ सारवस्तु नहीं है—केवल विवेकशून्य और निरर्थक ही नहीं बल्कि विचार का अत्यन्त गर्हित प्रकार है और अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हुए मनुष्य समाज की दृष्टि में एक प्रकार का कटुतापूर्ण उपहास मात्र है।"

करनेवाले दृष्टि से ओझल नही कर सकते। आभ्यन्तर ज्ञान-सम्बन्धी ये अनुभव प्रत्येक मनुष्य के लिए प्राप्य की कोटि मे हैं, यदि वह इसे प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रखता हो।[1] वेदो के प्रति अपील करने का तात्पर्य किसी दर्शनशास्त्रातीत मानदण्ड को उद्धृत करने से नही है। एक साधारण व्यक्ति के लिए जो मत रूढि है, वही पवित्र हृदय वाले व्यक्ति के लिए अनुभव है। यह सत्य है कि जब हम अर्वाचीन भाष्यो पर आते है तो हमारे आगे एक प्रकार की दार्शनिक सनातनता का भाव आता है जबकि कल्पना का उपयोग मानी हुई रूढियो के बचाव के लिए किया जाता है। प्रारम्भिक दर्शनशास्त्र भी अपने को भाष्य-रूप कहते है, अर्थात् प्राचीन सन्दर्भो की वे केवल टीकामात्र है, किन्तु उन्होने कभी अतिसूक्ष्म शास्त्रीय रूप धारण करने की प्रवृत्ति नही दिखाई, क्योकि उपनिषदें जिनकी ओर वे प्रेरणा के लिए मुख फेरते है, अनेकविषयी है।[2] आठवी शताब्दी के पश्चात् दार्शनिक मतभेद ने परम्परा का रूप धारण कर लिया और वह शास्त्रीय रूप मे परिणत हो गया। और इस प्रकार वह विचार-स्वातन्त्र्य, जो प्राचीनकाल मे पाया जाता था, इनमे नही रह गया। इन सम्प्रदायो के सस्थापक धार्मिक सन्तो की सूची मे आ गए और इस प्रकार उनके मतो पर किसी प्रकार की आशका उठाना धर्म-मर्यादा के अतिक्रम जैसा ही अपवित्र कर्म समझा जाने लगा। मौलिक व्यवस्थाए सदा के लिए बना दी गई और शिक्षक का कार्य केवल अपने सम्प्रदाय की मान्यताओ को ऐसे परिवर्तनो के साथ, जो उसके मस्तिष्क मे समा सकते है अथवा समय की माग को पूरा करते है, दूसरो तक प्रसारित करना-भर रह गया। पहले से निश्चित निर्णयो की सिद्धि के लिए केवल नये प्रमाण हमारे सामने आते हैं, नई कठिनाइयो के समाधान के लिए नये-नये अभ्युपाय एव पुराने ही मतो के पुन स्थापन कुछ नये परिवर्तित क्षेत्र के साथ या भाषा के हेर-फेर से मिलते है। जीवन की गम्भीर समस्याओ पर बहुत कम मनन और कृत्रिम समस्याओ पर अधिक वाद-विवाद मिलता है। परम्परा-रूपी उत्तम कोष अपनी ही बोझिल धन-सम्पत्ति द्वारा हमारे मार्ग मे बाधक सिद्ध होता है और दर्शनशास्त्र की गति अवरुद्ध होकर कभी-कभी बिलकुल ही निश्चेष्ट हो जाती है। समस्त भारतीय दर्शन के ऊपर अनुपयोगिता के आरोप मे तभी कुछ सार हो सकता है जबकि हम टीकाकारो के शाब्दिक विवेचन की ओर निगाह करते है, जिनके अन्दर जीवन की उस दैवी प्रेरणा एव उस सौन्दर्य का लेशमात्र नही पाया जाता, जैसाकि प्राचीन पीढी के दार्शनिको मे था। ये तो केवल पेशेवर तार्किक है, जिन्हे मनुष्य-जाति के प्रति अपने उद्देश्य का ज्ञान-मात्र है और कुछ नही। तो भी ऊपर जम गई काल-जनित पपडी की सतह के नीचे आत्मा यौवनपूर्ण है और यदा-कदा फूटकर ऊपर हरी व कोमल कोपल के रूप मे निकलती है, और शकर या माधवाचार्य के समान व्यक्ति उदित होते है, जो अपने को बतलाते तो केवल भाष्यकार ही है, फिर भी ऐसे आध्यात्मिक तत्त्व का साक्षात्कार करते है जो समस्त विश्व की गति का नियन्त्रण करता है।

भारतीय दर्शनशास्त्र के विरुद्ध कभी-कभी यह कहा जाता है कि यह स्वरूप से

१. देखिए, शाकरभाष्य वेदान्तसूत्र, ३ : २ २४।
२ विश्वतोमुखा।

नीतिहीन है। 'हिन्दू विचारधारा की परिधि के अन्दर कोई भी नीतिशास्त्र नहीं है।'[1] इस आरोप को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। समस्त जीवन को आत्मिक शक्ति से पूर्ण करने के प्रयत्न तो यहां सर्वमान्य और साधारण बात है। भारतीय विचारधारा में यथार्थ सत्ता की श्रेणी से अगली श्रेणी में धर्म की भावना का ही अत्यन्त महत्त्व है। जहां तक वास्तविक नीति-सम्बन्धी विषय का सम्बन्ध है, बौद्धमत, जैनमत और हिन्दूधर्म दूसरों से कम नहीं हैं। दैवीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए आचार शुद्धि पहला पग है।

कहा जाता है कि भारत में दर्शनशास्त्र समस्थित या प्रगतिशून्य है और केवल पुरानी सामग्री के उत्साह में ही मग्न देखा जाता है। अपरिवर्तनशील पूर्व से तात्पर्य है कि भारत में ज्ञान की गति अवरुद्ध हो गई है और यह सदा के लिए एकरस है। यदि इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक काल में समस्याएं एक समान रही हैं तब इस प्रकार की प्रगतिशीलता का अभाव सभी दार्शनिक विकासों में एक समान है। ईश्वर, मुक्ति और अमरत्व के सम्बन्ध में वही पुरानी समस्याएं और वही पुराने असन्तोषजनक समाधान बराबर शताब्दियों तक दोहराए जाते रहे हैं, जबकि समस्याओं की आकृतियां वही रहीं, सारतत्त्व में परिवर्तन हो गया है। वैदिक सूक्तों के सोमरस पान करनेवाले ईश्वर में और शंकर के परम ब्रह्म में बहुत अन्तर हो गया। वे परिस्थितियां जिनका असर दार्शनिक ज्ञान के ऊपर होता है, हरएक पीढ़ी में नये सिरे से बदल जाती हैं और उनके प्रति व्यवहार करने के प्रयत्नों में भी उसीके अनुसार पुनरावर्तन हो जाना आवश्यक है। यदि इस आक्षेप का तात्पर्य यह हो कि भारत में प्राचीन धर्मशास्त्रों में दिए गए समाधानों एवं प्लेटो के ग्रंथों अथवा ईसाई ग्रंथों में दिए गए समाधानों में कुछ अधिक मौलिक भेद नहीं है, तो इसका अर्थ यही है कि वही एक अपरिवर्तनशील व्यापक आत्मा अपने सन्देश का व्याख्यान दे रही है और समय समय पर अपनी कल्याणमयी वाणी मनुष्य मात्र को इन महापुरुषों के माध्यम से सुना रही है। पवित्र सन्देश विविध प्रकार से संकलित होकर युग-युग में हम तक पहुंचते हैं जिनपर जाति एवं परम्परा का रंग भर चढ़ जाता है। यदि इसका अर्थ यह समझा जाए कि भूतकाल के प्रति भारतीय विचारकों के मन में एक विशेष प्रतिष्ठा का भाव विद्यमान है जिसके कारण ही पुरानी बोतल में नई मदिरा की लोकोक्ति के अनुसार इस देश के विचारक पुराने विचारों में नये विचारों का केवल पुट देते रहे हैं तो हम पहले ही कह चुके हैं कि भारतीय मस्तिष्क का यह एक विशिष्ट स्वरूप है। इस देश में प्रगति का अर्थ है पुरातनकाल के सब अच्छे अंगों को साथ लेकर उनमें कुछ और नई सामग्री जोड़ देना, अर्थात् पूर्वपुरुषों के विश्वास को उत्तराधिकार के रूप में पाकर वर्तमान समय की भावना के अनुकूल उसमें परिवर्तन कर लेना। यदि भारतीय दर्शन का इन अर्थों में निःसार एवं निरर्थक कहा जाए कि वह विज्ञान की उन्नति को अपने अन्दर धारण नहीं करता तो इस प्रकार की निःसारता नई पीढ़ी के लोगों की दृष्टि में सभी पुराने विषयों में पाई जाती है। उक्त समीक्षा ने जिस प्रकार की धारणा बना रखी है, वैज्ञानिक विकास उस प्रकार का कोई विशेष परिवर्तन अभी तक दार्शनिक ज्ञान

१. फर्क्यूहर, हिबर्ट जर्नल, अक्तूबर १९२१, पृष्ठ २४।

के तत्त्व मे नही ला सका है। अपने वैज्ञानिक स्वरूप मे जो सिद्धान्त अधिक क्रान्तिकारी प्रतीत होते हैं—जैसेकि जीवशास्त्र-सम्बन्धी विकासवाद का सिद्धान्त एव भौतिक जगत् मे सापेक्षतावाद का सिद्धान्त—उन्होने सर्वसम्मत दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रत्याख्यान करने के स्थान पर नवीन क्षेत्र मे उनका समर्थन ही किया है।

प्रगतिशीलता के अभ व अथवा स्थिरता का आरोप तब आता है जब हम पहले महान भाष्यकारो के बाद के समय पर पहुचते है। भूतकाल के प्रभाव के अधिक बोझिल होने से आगे के उपक्रम मे बाधा उपस्थित हो गई और मध्यकाल के सम्प्रदायवादियो के समान पडिताऊ ढग का बौद्धिक ऊहापोह, और प्रामाण्य एव परम्परा के लिए वही सम्मान, और उसी प्रकार के आध्यात्मिक पक्षपात की अनधिकार चेष्टा इत्यादि की सृष्टि हो गई। भारतीय दार्शनिक यदि अधिक स्वतन्त्रता के साथ कार्य कर सकता तो परिणाम कही अधिक उत्तम हो सकता था। दर्शनशास्त्र के सजीव विकास के तारतम्य के लिए सृजनात्मक शक्ति की धारा को निरन्तर प्रवाहित होते देने के लिए ससार के सजीव आन्दोलनो के साथ सम्पर्क आवश्यक है, जिससे विचार-स्वातत्र्य को प्रोत्साहन प्राप्त हो सके। सभव है कि भारतीय दर्शन, जिसने अपनी क्षमता एव शक्ति अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ खो दी थी, इस नये युग मे, जो हमारे सामने आ रहा है, एक नई प्रेरणा और नई स्फूर्ति प्राप्त कर सके। यदि भारतीय विचारक, प्राचीनता के प्रति जो उनका स्वाभाविक मोह है उसके साथ-साथ, सत्य की पिपासा को भी धारण कर सकें तो भारतीय दर्शन का भविष्य उसके उज्ज्वल भूतकाल के समान ही अब भी उज्ज्वल हो सकता है।

४

भारतीय दर्शन के अध्ययन का महत्त्व

केवल पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसधान के एक अश के रूप मे ही भारतीय विचारधारा के अध्ययन का औचित्य पूरा नही हो सकता। विशेष-विशेष विचारको की कल्पनाए अथवा भूतकाल के विचार अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। ऐसा विषय, जिसने किसी समय पुरुषो एव स्त्रियो की रुचि प्राप्त की है, हमेशा के लिए और पूर्णतया अपने ओज को नही खो सकता। वैदिक आर्यो के विचार शास्त्र मे हम बडे-बडे शक्तिशाली मस्तिष्को को उन उच्चतम समस्याओ के साथ, जो मनुष्य को विचार करने की प्रेरणा प्रदान करती हैं, जूझते हुए पाते हैं। हेगल के शब्दो मे, "दर्शनशास्त्र का इतिहास अपने सही अर्थों मे भूतकाल-मात्र का ही प्रतिपादन नही करता किन्तु नित्य, शाश्वत और वास्तविक वर्तमान काल के साथ भी सम्बन्ध रखता है और अपने परिणामरूप मे मानव-बुद्धि के नैतिक ह्रास का एक अजायबघर न होकर उस देवालय के समान है जिसमे समस्त मानव-बुद्धि के अन्तर्निहित तर्क की, भिन्न-भिन्न स्थितियो के प्रतिनिधिस्वरूप देवताओ के समान, आकृतिया सुरक्षित रखी हुई हैं।"[1] भारतीय विचार का इतिहास वह नहीं है जैसाकि

१. 'लॉजिक' पृष्ठ १३९, वैलेस कृत अनुवाद।

नीतिहीन है। हिन्दू विचारधारा की परिधि के अन्दर कोई भी नीतिशास्त्र नहीं है।''[1] इस आरोप को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। समस्त जीवन को आत्मिक शक्ति से पूर्ण करने के प्रयत्न तो यहां सर्वमान्य और साधारण बात है। भारतीय विचारधारा में यथार्थ सत्ता की श्रेणी से अगली श्रेणी में धर्म की भावना का ही उदय न महत्त्व है। जहां तक वास्तविक नीति-सम्बन्धी विषय का सम्बन्ध है, बौद्धमत, जैनमत और हिन्दूधर्म दूसरों से कम नहीं हैं। स्वीय ज्ञान की प्राप्ति के लिए आचार शुद्धि पहला पग है।

कहा जाता है कि भारत में दर्शनशास्त्र गतिस्थिर या प्रगतिशून्य है और केवल पुरानी सामग्री के ऊहापोह में ही मग्न देखा जाता है। 'अपरिवर्तनशील पूर्व' से तात्पर्य है कि भारत में काल की गति अवरुद्ध हो गई है और यह सदा के लिए एकरस है। यदि इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक काल में समस्याएं एक समान रही हैं तब इस प्रकार की प्रगतिशीलता का अभाव सभी दार्शनिक विकासों में एक समान है। ईश्वर, मुक्ति और अमरत्व के सम्बन्ध में वही पुरानी समस्याएं और वही पुराने असन्तोषजनक समाधान बराबर शताब्दियों तक दोहराए जाते रहे हैं, जबकि समस्याओं की आकृतियां वही रही, सारतत्त्व में परिवर्तन हो गया है। वैदिक सूक्तों के सोमरस पान करनेवाले ईश्वर में और शंकर के परम ब्रह्म में बहुत अन्तर हो गया। वे परिस्थितियां जिनका असर दार्शनिक ज्ञान के ऊपर होता है, हरएक पीढ़ी में नये सिरे से बदल जाती हैं और उनके प्रति व्यवहार करने के प्रयत्नों में भी उसीके अनुसार पुनरावर्तन हो जाना आवश्यक है। यदि इस आक्षेप का तात्पर्य यह हो कि भारत में प्राचीन धर्मशास्त्रों में दिए गए समाधानों एवं प्लेटो के ग्रन्थों अथवा ईसाई ग्रन्थों में दिए गए समाधानों में कुछ अधिक मौलिक भेद नहीं है तो इसका अर्थ यही है कि वही एक प्रेमस्वरूप व्यापक आत्मा अपने सन्देश का व्याख्यान दे रही है और समय-समय पर अपनी कल्याणमयी वाणी मनुष्य मात्र को इन महापुरुषों के माध्यम से सुना रही है। पवित्र सन्देश विविध प्रकार से संकलित होकर युग-युग में हम तक पहुंचते हैं जिनपर जाति एवं परम्परा का रंग भर चढ़ जाता है। यदि इसका अर्थ यह समझा जाए कि भूतकाल के प्रति भारतीय विचारकों के मन में एक विशेष प्रतिष्ठा का भाव विद्यमान है जिसके कारण ही पुरानी बोतल में नई मदिरा की लोकोक्ति के अनुसार इस देश के विचारक पुराने विचारों में नये विचारों का केवल पुट देते रहे हैं तो हम पहले ही कह चुके हैं कि भारतीय मस्तिष्क का यह एक विशिष्ट स्वरूप है। इस देश में प्रगति का अर्थ है पुरातन काल के सब अच्छे अंशों को साथ लेकर उनमें कुछ और नई सामग्री जोड़ देना, अर्थात् पूर्वपुरुषों के विश्वास को उत्तराधिकार के रूप में पाकर वर्तमान समय की भावना के अनुकूल उसमें परिवर्तन कर लेना। यदि भारतीय दर्शन को इन अर्थों में निःसार एवं निरर्थक कहा जाए कि वह विज्ञान की उन्नति को अपने अन्दर धारण नहीं करता तो इस प्रकार की निःसारता नई पीढ़ी के लोगों की दृष्टि में सभी पुराने विषयों में पाई जाती है। उक्त समीक्षा ने जिस प्रकार की धारणा बना रखी है, वैज्ञानिक विकास उस प्रकार का कोई विशेष परिवर्तन अभी तक दार्शनिक ज्ञान

१ फर्क्यूहर, 'हिबर्ट जर्नल', अक्तूबर १९२१, पृष्ठ २४।

कारी घटनाओ के रूप मे और मानवीय प्रतिभा के स्मारक के रूप से विद्यमान रहेंगे।[1]

भारतीय विद्यार्थी के लिए केवल भारतीय दर्शनशास्त्र का अध्ययन ही अपने-आपमे भारत के शानदार भूतकाल का सही-सही चित्र उपस्थित कर सकता है। आज भी एक औसत दर्जे का हिन्दू अपने पुराने दर्शनशास्त्रो, वौद्धदर्शनो, अद्वैतदर्शन एव द्वैतवाद सवको एक समान योग्य और युक्तियुक्त मानता है। इन शास्त्रों के रचयिताओ की भगवान की तरह पूजा होती है। भारतीय दर्शन का अध्ययन हमारे सामने स्थिति को स्पष्ट कर सकता है और अधिक सन्तुलित रूप मे हमारे दृष्टिकोण को एव मन को इस निरकुशभाव से, कि प्राचीन जो कुछ है अपने-आपमे पूर्ण है, दूर करके स्वतन्त्र विचार करने के योग्य वना सकता है। प्रामाण्य की दासता से मन की इस प्रकार की मुक्ति एक आदर्श है, जिसके लिए प्रयत्न होना चाहिए। क्योकि जव दासता के वन्धन से वुद्धि स्वतन्त्र हो जाएगी तव मौलिक विचार और रचनात्मक प्रयत्न भी सम्भव हो सकेगे। आज के भारतीय के लिए अपने देश के प्राचीन इतिहास का व्योरेवार ज्ञान होना एक विषादात्मक सन्तोष भी हो सकता है। वृद्ध पुरुष अपनी युवावस्था के किस्सो से सतोष प्राप्त करते है, और इसी प्रकार दूषित वर्तमान को भूलने का भी एक ही मार्ग है कि हम सुन्दर भूतकाल का अध्ययन करें।

५

भारतीय विचारधारा के विभिन्न काल

जव हम केवल हिन्दुओ के दर्शन-सम्वन्धी विपय का प्रतिपादन कर रहे हैं, जोकि उन अन्यान्य जातियो की दर्शन-पद्धतियो से भिन्न है जिनका भारत मे अपना स्थान है, तव इस विपय को 'भारतीय दर्शन' का शीर्षक क्यो दिया जाए, इसकी युक्तियुक्तता दर्शाना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। इसका सवसे अधिक स्पष्ट और सुगम कारण

१. पश्चिम के अनेक विद्वान भारतीय दर्शन के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर जव हम ध्यान देकर पूर्वदेशों के कवितामय एव दार्शनिक आन्दोलनों का अध्ययन करते हैं और उन सवसे भी ऊपर भारतीय विचारधाराओं का अध्ययन करते है, जिनका अव यूरोप में प्रसार बढ रहा है, हमें उनके अन्दर सत्य एव इतने गम्भीर सत्य दिखाई देते है कि जिनकी प्रतिद्वन्द्विता में यूरोप के वडे-वडे मेधावी विद्वानों के विचार तुच्छ रह गए है और हमें हठात् पूर्व के सामने घुटने टेक देने पडते है। हम मनुष्य-जाति की आदिम शैशवावस्था के इस आश्रय-स्थान में सवसे उच्च श्रेणी के दार्शनिक ज्ञान का लाभ प्राप्त करते हैं। (विक्टर कजिन) "यदि मुझे अपने अन्दर यह जिज्ञासा उत्पन्न हो कि हमें जो, यूरोप में केवल ग्रीक, रोमन और सैमेटिक यहूदी जाति के विचारों पर ही पले हैं, किस साहित्य से सही-सही प्रेरणा मिल सकती है-जिसकी कि अत्यन्त आवश्यकता है और जिससे हमारा आभ्यन्तर जीवन अधिक पूर्णता को प्राप्त कर सके, अधिक व्यापक एव नित्य वन सके, एक ऐसा जीवन जो केवल इसी वर्तमान जीवन के लिए नहीं अपितु भविष्य के लिए भी उदात्त हो-तो मैं फिर से भारत की ओर ही सकेत करूगा।" (मैक्समूलर)। "उन राष्ट्रों में जिनके पास अपना दर्शन एव अपनी अध्यात्मविद्या है और इन विषयों के प्रति जन्मजात रुचि व आकाक्षा है, जैसी कि आज के जर्मनी की विशेषता है और पुराने जमाने में यूनान की विशेषता थी, काल की दृष्टि से भारत का स्थान सर्वप्रथम है।" (वही)

पहले ही साक्षात्कार में प्रतीत होता है—अर्थात् केवल पारमार्थिक विचारों का अनुक्रम जिसमें एक के बाद दूसरा विचार आता चला गया है।

दर्शनशास्त्र को मनबहलाव का साधन बनाना बहुत आसान है क्योंकि उन लोगों के लिए जो इन्द्रिय विषयों में ही निमग्न रहते हैं और एक अव्यवस्थित रूप में विचार करते हैं दार्शनिक समस्याएं अवास्तविक प्रतीत होती हैं और उन्हें इस विषय में निस्सारता की गन्ध आती है। विरोधी समालोचक दार्शनिक वाद विवाद को व्यर्थ समय नष्ट करनेवाली तार्किक काट-छांट एवं ऐसा बौद्धिक इन्द्रजाल समझता है जो पहले मुर्गी या पहले अण्डा[1] इस प्रकार की पहेलियों से ही भरा है। भारतीय दर्शन में विवाद विषयक समस्याएं अनादिकाल से उलझन में डालती आई हैं और कभी भी उनका समाधान सबके लिए सन्तोषजनक रूप में नहीं हो सका। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा एवं परमात्मा को जानने की उत्कट इच्छा मनुष्य-जाति की अनिवार्य आवश्यकताओं का विषय रही है। प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति जब इस विषय पर विचार करता है कि वह बिना कहीं बीच में ठहरने के जन्म और मृत्यु के बीच जीवन रूपी धार में बहता है—जिस निरन्तर बहती हुई धारा की बाढ़ में वह कभी ऊपर की ओर और कभी नीचे की ओर उछाला जाता है तब वह यह प्रश्न करने के लिए विवश हो जाता है कि भाग्य की कुछ छोटी छोटी ध्यान बटानेवाली घटनाओं को छोड़कर, अन्ततोगत्वा इस सब गति का प्रयोजन अथवा अन्तिम लक्ष्य क्या है। दर्शनशास्त्र भारत की जातीय स्वभावगत विलक्षणता नहीं बल्कि मानवीय हित का विषय है।

यदि हम वेदान्त दर्शन को एक ओर रख दें जो अवश्य एक निरर्थक वस्तु हो सकता है तो भारत में हम विचार शास्त्र-सम्बन्धी एक सर्वोत्तम विकास दृष्टिगोचर होता है। भारतीय विचारकों के परिश्रम के परिणाम मानव ज्ञान की उन्नति के लिए इतने महत्त्व के हैं कि उनमें प्रकट भूलों के रहते हुए भी हम उनके ग्रन्थों को अध्ययन के योग्य समझते हैं। यदि मिथ्या तर्क जिसने भूतकाल में दार्शनिक पद्धतियों का विनाश किया दर्शनशास्त्र को एकदम त्याग देने का कारण हो सकता है तब केवल भारतीय दर्शन का ही क्या समस्त प्रकार के दर्शनशास्त्र को ही त्याग देना चाहिए। अन्ततोगत्वा अविच्छिन्न सत्य का अवनिष्कर्ष—जिसे मानवीय विचारधारा की महत्त्वपूर्ण देन के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए यहां तक कि पश्चिम के प्लेटो और अरस्तू सरीखे प्रसिद्ध विचारकों को भी इसका अंश मिला—कोई बहुत बड़ी वस्तु नहीं है। प्लेटो की अत्यधिक लोकाभिमानी कविताओं अथवा डकार्ट के निर्जीव द्वैतवाद का ह्यूम के तुच्छ अनुभूतिवाद एवं हेगल के भ्रामक हेत्वाभासों का उपहास करना सरल है किन्तु तो भी इसमें सन्देह नहीं कि इस सबके होते हुए भी हम उनके अध्ययन से लाभ ही होता है। यहां तक कि यद्यपि भारतीय विचारकों द्वारा आविष्कृत थोड़े से ही महत्त्वपूर्ण तथ्यों ने मानवीय विचारशास्त्र के इतिहास की रचना की है तो भी बादरायण अथवा शंकर प्रभृति द्वारा प्रकट किए गए संश्लेषणात्मक और क्रमबद्ध विचार मानवीय विचारशास्त्र में युगान्तर

[1] अन्ततोगत्वा यह प्रश्न इतना मामूली अथवा दोषरहित नहीं है जैसाकि प्रतीत होता है। देखें, सैम्युएल बटलर 'लक ऑर कनिंग'।

जाता है कि पश्चिम मे भारत-विषयक ज्ञान इसी समय हेकाटियस और हेरोडोटस द्वारा पहुचाया गया।

भारतीय दर्शनशास्त्र के मुख्य विभाग निम्नलिखित हैं :

(१) वैदिक काल[१५०० ई० पूर्व से ६०० ई० पूर्व तक]वह समय है जबकि भारत मे आर्य लोगो ने अपने आवासस्थानो का निर्माण किया और उसके साथ-साथ इस देश मे आर्यसस्कृति व सभ्यता का धीरे-धीरे विस्तार और प्रसार हुआ। यह वह समय है जिसमे वनो मे विश्वविद्यालयो का अभ्युदय हुआ। और इन विश्वविद्यालयो से भारत के उच्च आदर्शवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल मे हम विचार के बदलते हुए स्तर को स्पष्ट भेद के कारण देख सकते है, जो मन्त्रो अथवा सूक्तो एव ब्राह्मणो और उपनिषदो के रूप मे प्रकट हुआ। इस युग के विचार यथार्थ रूप मे दार्शनिक नही है। यह अन्धकार मे टटोलने का काल है, जहा मिथ्या विश्वास और विचार मे अब भी परस्पर भेद और द्वन्द्व विद्यमान था। फिर भी, विषय को एक व्यवस्था मे रखने और उसे सिलसिला देने के विचार से यह हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम ऋग्वेद के सूक्तो के दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए उपनिषदो के मत का भी प्रतिपादन करे।

(२) महाकाव्यकाल [६०० ई० पू० से २०० ई० पश्चात्] का विस्तार उपनिषदो और दर्शनशास्त्रो के विकासकाल तक है। रामायण और महाभारत के महाकाव्य मानव मे निहित एक नवीन वीरत्व एव देवत्व के सन्देश को फैलाने का माध्यम सिद्ध हुए। इस काल मे उपनिषदो के विचारो का प्रजातन्त्रीकरण होकर बौद्धधर्म एव भगवद्गीता मे उनका संक्रमित होना पाया जाता है। बौद्धधर्म, जैनमत, शैवमत एवं वैष्णवमत की पद्धतिया सब इसी काल की है। अमूर्त विचारो का विकास भी जो भारतीय दर्शन के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे परिणत हुआ, इसी काल की देन है। बहुतसे दर्शनो का प्रारम्भकाल बौद्धधर्म के अभ्युदयकाल के साथ-साथ है और वे अनेक शताब्दियो तक साथ-साथ विकसित होते रहे, फिर भी उन सम्प्रदायो के क्रमबद्ध ग्रथो का निर्माण-काल बाद का है।

(३) सूत्रकाल[२०० ईस्वी]उसके बाद आता है। सामग्री का पुज बढकर इतना अधिक स्थूल हो गया कि दर्शनो के ज्ञान को सूक्ष्म रूप मे उपस्थित करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इस न्यूनीकरण एव समवायिकरण ने सूत्रो का रूप धारण किया। ये सूत्र बिना उनकी टीकाओ की सहायता के समझ मे नही आ सकते, यहा तक कि टीकाओ का महत्त्व स्वय सूत्रो से भी अधिक बढ गया। यहा हमे दार्शनिक क्षेत्र मे समीक्षात्मक प्रवृत्ति विकसित होती दिखाई देती है। इसमे सन्देह नही कि इससे पूर्ववर्ती कालो मे हमे दार्शनिक वाद-विवाद मिलते है, जहा मन ने जो कुछ उसे बताया गया उसे निष्क्रियभाव से स्वीकार नही किया बल्कि स्वय भी विषय पर आक्षेप उठाकर और उनका उत्तर देते हुए उनका विवेचन किया। अपने आत्मिक ज्ञान द्वारा विचारको ने कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्त स्थिर किए जो उनकी दृष्टि मे विश्व के समस्त रूपो की व्याख्या करते हुए प्रतीत हुए। दार्शनिक सश्लेषण चाहे कितने ही पूर्ण और तीक्ष्ण क्यो न हो, पूर्व-विवेचनारहित होने के कारण, काण्ट की परिभाषा मे, बराबर दोषपूर्ण रहे हैं। दार्श-

इस परिभाषा का सामान्य प्रयोग में माना है। आज भी भारत मुख्यत म हिन्दू है। और यहा हमारा प्रतिपाद्य विषय भी भारतीय विचार के १००० ईस्वी अथवा कुछ उपरान्त तक के काल का इतिहास है। इस समय के पश्चात ही हिन्दू जाति का भाग्य अन्यान्य अहिन्दू जातियो के साथ अधिकाधिक जुडता गया।

भारतीय विचार के निरन्तर विकास को विभिन्न लोगो ने विभिन्न समयों में अपनी अपनी भेंट अर्पित की है फिर भी उसमें सबपर भारतीय आत्मा के बल की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। इस विकास की ठीक-ठीक क्रमबद्धता के विषय में यद्यपि हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते, फिर भी हम भारतीय विचार को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न करेंगे। विशेष सम्प्रदायों के सिद्धान्त अपनी अपनी परिस्थितियो की अपेक्षा रखते हैं और इसलिए उनका निरीक्षण उनके साथ ही करना उचित होगा अन्यथा हमारे लिए उनके अन्दर किसी प्रकार का जीवित आशय खोजना कठिन होगा और वह एक प्रकार की मतप्राय परम्परा-मात्र ही सिद्ध होगी। दर्शनशास्त्र की प्रत्येक पद्धति अपने समय के महत्त्वपूर्ण प्रश्न का एक निश्चयात्मक उत्तर है और इसलिए जब उसपर उसी दृष्टिकोण से विचार किया जाएगा तभी प्रतीत होगा कि उसमे सत्य की कुछ मात्रा अवश्य है। दार्शनिक तत्त्व निश्चयात्मक अथवा भ्रमात्मक स्थापनाओ के पुंजमात्र नहीं हैं अपितु एक विचारधारा की अभिव्यक्ति एव विकास के रूप म हैं जिसके साथ और जिसके बीच हमे अवश्य तादात्म्य प्राप्त करना चाहिए यदि हम जानना चाहते हैं कि उक्त पद्धतियो ने अमुक रूप किस प्रकार और क्यो धारण किया। दर्शनशास्त्र का इतिहास के साथ एव बौद्धिक जीवन का सामाजिक अवस्थाओ के साथ जो पारस्परिक सम्बन्ध है उसका ज्ञान हमे अवश्य होना चाहिए।[1] ऐतिहासिक विधान के अनुसार सम्प्रदायो के परस्पर विरोध में किसी एक का पक्ष लेना अनुचित है, बल्कि नितान्त निष्पक्ष भाव से विकास का अनुसरण करना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त विधि की परम आवश्यकता का महत्व समझते हुए भी हमें दु ख से कहना पडता है कि प्राचीन लेखो म काल और तिथियो का सर्वथा अभाव रहने के कारण हम उक्त पद्धतियो के निर्माण का ठीक ठीक काल निर्णय करने म अपने को असमर्थ पाते हैं। प्राचीन भारतीयो का स्वभाव इतना अनैतिहासिक अथवा सभवत इतना दार्शनिक-ज्ञानातीत था कि हम दार्शनिको की अपेक्षा दर्शन-पद्धतियों के विषय मे अधिक जानते हैं। बुद्ध के जन्म के समय से भारतीय कालक्रम विधान अधिक अच्छी स्थिति में आ गया। बौद्धमत के अभ्युदय के काल म ही फारस की शक्ति का विस्तार एकिमनिडी राजवंश के शासन के अन्तर्गत बढते-बढते सिन्धु नदी तक पहुच गया था। वहा

१ वाल्टर पीटर की भांति जैसे अद्भुत रूप से मुड़ा हुआ एक चीड़ का वृक्ष जोकि किसी इंगलिश मन्दिर में मात्र प्रकृति की लीला ही होगा हमें देखने को मिले और हम अपने विचार में उसकी जगह आल्प्स पवन का प्रचण्ड जलधारा के सघर्षमय बल का ध्यान करें और उसे आवश्यकता की उपज समझ लें जिसने उसे यह आकृति दे दी है ठीक इसी प्रकार बड़े-बड़े अद्भुत विश्वास भी जब उनका सम्बन्ध अपने चारों ओर की अवस्थाओं से हो अपने स्वाभाविक औचित्य में आ जाते हैं और यथार्थ में वे एक प्रकार से उनके भाग ही हैं। ('प्लेटो ऐंड प्लेटोनिज्म' पृ० १)।

फिर से स्थिर करते हैं और उनके द्वारा की गई यह पुनःस्थापना आध्यात्मिक खोज के समान ही महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय दर्शन के कुछ इतिहास भारतीय विचारको द्वारा लिखे गए मिलते है। लगभग सभी अर्वाचीन टीकाकार अपने-अपने दृष्टिकोण से दूसरो के सिद्धांतो पर वाद-विवाद करते हैं। इस मार्ग से प्रत्येक टीकाकार हमे अन्य मतो का पता दे जाता है। कभी-कभी तो अन्य कितनी ही दार्शनिक पद्धतियो पर निरन्तर रूप से और जान-बूझकर विवाद किया गया है। इस प्रकार के कुछ मुख्य ऐतिहासिक विवरण यहा दिए जाते है। हरिभद्र द्वारा रचित[1] एक ग्रन्थ है जिसका नाम 'षड्दर्शनसमुच्चय' है, जिसमे छहो वैदिक दर्शनों का सार-सग्रह किया गया है। बताया जाता है कि सामन्तभद्र नामक एक दिगम्बर जैन ने, जो छठी शताब्दी मे हुआ, 'आप्तमीमासा' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमे नाना प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदायो की समालोचना की है।[2] एक माध्यमिक बौद्ध, जिसका नाम भावविवेक है, 'तर्कज्वाला' नामक ग्रन्थ का निर्माता है, जिसमे उसने मीमासा, साख्य, वैशेषिक और वेदान्त सम्प्रदायो की आलोचना की है। विद्यानन्द नामक एक दिगम्बर जैन ने अपने 'अष्टसहस्री' नामक ग्रन्थ मे, और मेरुतुग नामक एक अन्य दिगम्बर जैन ने भी अपने 'षड्दर्शनविचार' (१३०० ईस्वी) नामक ग्रन्थ मे, कहा जाता है कि, हिन्दू-दर्शनशास्त्रो की समालोचना की है। प्रसिद्ध वेदान्ती माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसग्रह' नामक ग्रन्थ मे भारतीय दर्शन का सर्वाधिक प्रचलित विवरण दिया गया है। माधवाचार्य ने १४वी शताब्दी मे दक्षिणभारत मे जन्म लिया था। शकरस्वामी के 'सर्वसिद्धान्त-सारसग्रह'[3] और मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद'[4] मे भी विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तो का उपयोगी वर्णन पाया जाता है।

१ श्री बार्थ कहते है : "हरिभद्र, जिसकी मृत्यु जनश्रुति के अनुसार ५२९ ई० पू० में हुई किन्तु एक अधिक विश्वस्त प्रमाण के आधार पर जो ९वी शताब्दी में भी जीवित था और जिसके समान-नामा अन्य भी कई व्यक्ति थे, एक ब्राह्मण था जिसने जैनमत स्वीकार कर लिया था। वह १४०० प्रबन्धों का रचयिता था और मालूम होता है कि सबसे प्रथम उसने ही श्वेताम्बर जैन-सम्प्रदाय के शास्त्रीय साहित्य मे सस्कृत भाषा का प्रवेश कराया। ब्राह्मण लोग षड्दर्शनों से दो मीमासाओं, साख्य और योग, न्याय और वैशेषिक को ग्रहण करते हैं। जबकि दूसरी ओर इसी शीर्षक के नीचे बहुत सक्षेप में ८७ श्लोकों के अन्दर, किन्तु बिलकुल निष्पक्ष दृष्टि से हरिभद्र ने बौद्धधर्म, जैनधर्म एव न्याय, साख्य, वैशेषिक और मीमासाशास्त्र के अनुयायियों के सिद्धान्तों की व्याख्या की है। इस प्रकार उसने अपना एक पृथक् सम्प्रदाय चुना है, जिसके साथ जैनियों का मत अधिक मेल खाता है और इस सम्प्रदाय को उसने अपने दोनों घोर विरोधी बौद्धमत एव जैमिनी के कर्मकाण्डपरक सम्प्रदाय के बीच स्थापित किया। अन्त में जाकर वह इन दोनों को भी लोकायत एव भौतिकवादी चार्वाक की ही श्रेणी में रखता है, केवल अपने निजी विचार से या साम्प्रदायिक भाव से ही नही किन्तु उस समय के ब्राह्मण लोग भी उक्त दोनों सम्प्रदायों के विषय में ऐसा ही मत रखते थे।" (इडियन एटिकरी, पृष्ठ ६६, १८९५)

२ विद्याभूषण, 'मेडीवल सिस्टम्स आफ इडियन लॉजिक', पृष्ठ २३।

३ उक्त पुस्तक के साथ शकरस्वामी का नाम जोडना गलत प्रतीत होता है। देखें, कीथ : 'इडियन लॉजिक', पृष्ठ २४२, पा० टि० ३।

निक समस्याओं के समाधान की शक्ति मनुष्य के अन्दर कितनी है, इस विषय की पहले से विवेचना किए बिना मानव न जगत् को स्था और परिणामों पर पहुंच गया। प्रारम्भिक प्रयत्न जगत का समझने और उसकी व्याख्या करने के विषय म यथार्थ में दार्शनिक प्रयत्न नहीं थे क्योंकि मानव मस्तिष्क की योग्यता के विषय म किसीने इस प्रकार की आशंका नहीं की कि उसके लिए जिन साधनों का प्रयोग किया गया उनमें कार्य क्षमता थी या नहीं या जिस मानदण्ड का प्रयोग किया गया वह भी ठीक था या नहीं इत्यादि। जैसा कि केयर्ड ने लिखा है कि मन 'उस समय पदार्थ को ध्यान से देखने म अत्यन्त व्यग्र था।'[1] इसलिए जब हम सूत्रकाल म आते हैं तो उस समय म केवल रचनात्मक कल्पना और धार्मिक स्वातन्त्र्य ही नहीं विचार एव चिन्तन को भी अधिक स्वयचेतनरूप म पाते हैं। दार्शनिकों के सम्बन्ध म भी हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि इनमें से कौन प्राचीन है और कौन अर्वाचीन। इस विषय म बराबर विरोधी उद्धरण मिलते हैं। योगदर्शन सांख्य की सत्ता स्वीकार करता है वैशेषिक न्याय और सांख्य दोनों की सत्ता को स्वीकार करता है न्याय म वेदान्त और सांख्य का विवरण पाया जाता है मीमांसा प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप म अन्य सब दर्शनों के पूर्व अस्तित्व का पता देती है और इसी प्रकार वेदान्त म भी अन्य सब दर्शनों का हवाला आता है। प्रोफेसर गार्बे का मत है कि सांख्य सबसे पुराना सम्प्रदाय है। उसके पश्चात योगदर्शन आया इसके पश्चात मीमांसा और वेदान्त और सबसे अन्त म वैशेषिक और न्याय। सूत्रकार और टीकाकारों के पाण्डित्य प्रदर्शन-काल के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। ये दोनों काल आज दिन तक विस्तृत हैं।

(४) टीकाकाल भी ईसा के पश्चात दूसरी शताब्दी से आरम्भ होता है। इस काल और इससे पूर्व के काल के बीच म कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। फिर भी इसी काल मे हम बड़े-बड़े विचारकों यथा कुमारिल शंकर श्रीधर, रामानुज माध्व वाचस्पति उदयन भास्कर जयन्त विज्ञानभिक्षु और रघुनाथ आदि का नाम सुनाई देता है। उक्त काल का साहित्य शीघ्र ही शास्त्रार्थों और विवादों म ग्रस्त हो जाता है। हम इस काल म तार्किकों का एक जत्था मिलता है कोलाहलपूर्ण वादविवाद म रत अत्यन्त सूक्ष्म सिद्धान्तों म लिप्त और युक्ति व प्रमाणों का सूक्ष्म ताना-बाना बुननेवाले तार्किक जो सामान्य स्थापनाओं पर परस्पर वाग्युद्ध करते रहे। बहुतसे उन भारतीय विद्वानों ने अपने बड़े बड़े ग्रन्थों को खोलने में संकोच किया जो ज्ञान का प्रकाश देने की अपेक्षा अधिकतर हमें असमंजस म डालने का कारण बनते हैं। उनकी कुशाग्रबुद्धि एवं उत्साह से कोई इनकार नहीं कर सकता। किन्तु इन टीकाकारों मे विचारों के स्थान पर केवल शब्द मिलते हैं दर्शनशास्त्र के स्थान म तर्कशास्त्र की काट छांट विचार की अस्पष्टता तार्किक जटिलता और मनोवृत्ति की असहिष्णुता पाई जाती है जो बहुत खेदजनक है। इनसे उत्तम श्रेणी के भाष्यकार निःसन्देह उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि प्राचीन विचारक स्वयं थे। शंकर और रामानुज जैसे भाष्यकार प्राचीन सिद्धान्तों को

१ 'क्रिटिकल फिलासफी आफ काट' खण्ड १, पृष्ठ १।

फिर से स्थिर करते हैं और उनके द्वारा की गई यह पुनःस्थापना आध्यात्मिक खोज के समान ही महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय दर्शन के कुछ इतिहास भारतीय विचारकों द्वारा लिखे गए मिलते है। लगभग सभी अर्वाचीन टीकाकार अपने-अपने दृष्टिकोण से दूसरो के सिद्धातो पर वाद-विवाद करते है। इस मार्ग से प्रत्येक टीकाकार हमे अन्य मतो का पता दे जाता है। कभी-कभी तो अन्य कितनी ही दार्शनिक पद्धतियो पर निरन्तर रूप से और जान-बूझकर विवाद किया गया है। इस प्रकार के कुछ मुख्य ऐतिहासिक विवरण यहा दिए जाते है। हरिभद्र द्वारा रचित[1] एक ग्रन्थ है जिसका नाम 'षड्दर्शनसमुच्चय' है, जिसमे छहो वैदिक दर्शनो का सार-सग्रह किया गया है। बताया जाता है कि सामन्तभद्र नामक एक दिगम्बर जैन ने, जो छठी शताब्दी मे हुआ, 'आप्तमीमासा' नामक ग्रन्थ लिखा है, जिसमे नाना प्रकार के दार्शनिक सम्प्रदायो की समालोचना की है।[2] एक माध्यमिक बौद्ध, जिसका नाम भावविवेक है, 'तर्कज्वाला' नामक ग्रन्थ का निर्माता है, जिसमे उसने मीमासा, साख्य, वैशेषिक और वेदान्त सम्प्रदायो की आलोचना की है। विद्यानन्द नामक एक दिगम्बर जैन ने अपने 'अष्टसहस्री' नामक ग्रन्थ मे, और मेरुतुग नामक एक अन्य दिगम्बर जैन ने भी अपने 'षड्दर्शनविचार' (१३०० ईस्वी) नामक ग्रन्थ मे, कहा जाता है कि, हिन्दू-दर्शनशास्त्रो की समालोचना की है। प्रसिद्ध वेदान्ती माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसग्रह' नामक ग्रन्थ मे भारतीय दर्शन का सर्वाधिक प्रचलित विवरण दिया गया है। माधवाचार्य ने १४वी शताब्दी मे दक्षिणभारत मे जन्म लिया था। शकरस्वामी के 'सर्वसिद्धान्त-सारसग्रह'[3] और मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद'[4] मे भी विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तो का उपयोगी वर्णन पाया जाता है।

१ श्री बार्थ कहते है : "हरिभद्र, जिसकी मृत्यु जनश्रुति के अनुसार ५२९ ई० पू० में हुई किन्तु एक अधिक विश्वस्त प्रमाण के आधार पर जो ९वीं शताब्दी में भी जीवित था और जिसके समान-नामा अन्य भी कई व्यक्ति थे, एक ब्राह्मण था जिसने जैनमत स्वीकार कर लिया था। वह १४०० प्रबन्धों का रचयिता था और मालूम होता है कि सबसे प्रथम उसने ही श्वेताम्बर जैन-सम्प्रदाय के शास्त्रीय साहित्य मे सस्कृत भाषा का प्रवेश कराया। ब्राह्मण लोग षड्दर्शनों से दो मीमासाओं, साख्य और योग, न्याय और वैशेषिक को ग्रहण करते हैं। जबकि दूसरी ओर इसी शीर्षक के नीचे बहुत सक्षेप में ८७ श्लोकों के अन्दर, किन्तु बिलकुल निष्पक्ष दृष्टि से हरिभद्र ने बौद्धधर्म, जैनधर्म एव न्याय, साख्य, वैशेषिक और मीमासाशास्त्र के अनुयायियों के सिद्धान्तों की व्याख्या की है। इस प्रकार उसने अपना एक पृथक् सम्प्रदाय चुना है, जिसके साथ जैनियों का मत अधिक मेल खाता है और इस सम्प्रदाय को उसने अपने दोनों घोर विरोधी बौद्धमत एव जैमिनी के कर्मकाण्डपरक सम्प्रदाय के बीच स्थापित किया। अन्त में जाकर वह इन दोनों को भी लोकायत एव भौतिकवादी चार्वाक् की ही श्रेणी में रखता है, केवल अपने निजी विचार से या साम्प्रदायिक भाव से ही नहीं किन्तु उस समय के ब्राह्मण लोग भी उक्त दोनों सम्प्रदायों के विषय में ऐसा ही मत रखते थे।" (इण्डियन एटिकरी, पृष्ठ ६६, १८९५)

२ विद्याभूषण, 'मेडीवल सिस्टम्स आफ इडियन लॉजिक', पृष्ठ २३।

३ उक्त पुस्तक के साथ शकरस्वामी का नाम जोडना गलत प्रतीत होता है। देखें, कीथ, 'इडियन लॉजिक', पृष्ठ २४२, पा० टि० ३।

४ देखें, मैक्समूलर, 'सिक्स सिस्टम्स', पृ० ९४ से ८४ तक।

निक समस्याओं के समाधान की शक्ति मनुष्य के अन्दर कितनी है इस विषय की पड़ताल से विवेचना किए बिना मानव न जगत् की दशा और परिणामों पर पहुंच गया। प्रारम्भिक प्रयत्न जगत् को समझने और उसकी व्याख्या करने के विषय में यथार्थ में दार्शनिक प्रयत्न नहीं थे क्योंकि मानव मस्तिष्क की योग्यता के विषय में किसीने इस प्रकार की आशंका नहीं की कि उसके लिए जिस साधना का प्रयोग किया गया उनमें काम क्षमता था या नहीं या जिस मानदण्ड का प्रयोग किया गया वह भी ठीक था या नहीं इत्यादि। जैसा कि केयर्ड ने लिखा है कि मन 'उस समय पदार्थ को ध्यान से देखने में अत्यन्त व्यग्र था।'[1] इसलिए जब हम सूत्रकाल में आते हैं तो उस समय में केवल रचनात्मक कल्पना और धार्मिक स्वातन्त्र्य ही नहीं विचार एवं चिन्तन को भी अधिक स्वयंचेतनरूप में पाते हैं। दर्शनशास्त्रों के सम्बन्ध में भी हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि इनमें से कौन प्राचीन हैं और कौन अर्वाचीन। इस विषय में बराबर विरोधी उद्धरण मिलते हैं। योगदर्शन सांख्य की सत्ता स्वीकार करता है, वैशेषिक न्याय और सांख्य दोनों की सत्ता को स्वीकार करता है न्याय में वेदान्त और सांख्य का विवरण पाया जाता है मीमांसा प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में अन्य सब दर्शनों के पूर्व अस्तित्व का पता देता है और इसी प्रकार वेदान्त में भी अन्य सब दर्शनों का हवाला आता है। प्रोफेसर गार्बे का मत है कि सांख्य सबसे पुराना सम्प्रदाय है। उसके पश्चात् योगदर्शन आया इसके पश्चात् मीमांसा और वेदान्त और सबसे अन्त में वैशेषिक और न्याय। सूत्रकाल और टीकाकारों के पाण्डित्य प्रदर्शन-काल के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। ये दोनों काल आज दिन तक विस्तृत हैं।

(४) टीकाकाल भी ईसा के पश्चात् दूसरी शताब्दी से आरम्भ होता है। इस काल और इससे पूर्व के काल के बीच में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। फिर भी इसी काल में हम बड़े बड़े विचारकों यथा कुमारिल शंकर, श्रीधर, रामानुज माध्व, वाचस्पति उदयन भास्कर, जयन्त विज्ञानभिक्षु और रघुनाथ आदि का नाम सुनाई देता है। उक्त काल का साहित्य शीघ्र ही शास्त्रार्थों और विवादों में ग्रस्त हो जाता है। हम इस काल में तार्किकों का एक जत्था मिलता है कोलाहलपूर्ण वाग्विवाद में रत अत्यन्त सूक्ष्म सिद्धान्तों में निपुण और युक्ति व प्रमाणों का सूक्ष्म ताना-बाना बनानेवाले तार्किक जो सामान्य स्थापनाओं पर परस्पर वाग्युद्ध करते रहे। बहुतसे उन भारतीय विद्वानों ने अपने बड़े बड़े ग्रन्थों को खोलने में संकोच किया जो ज्ञान का प्रकाश देने की अपेक्षा अधिकतर हमें असमंजस में डालने का कारण बनते हैं। उनकी कुशाग्रबुद्धि एवं उत्साह से कोई इनकार नहीं कर सकता। किन्तु इन टीकाकारों में विचारों के स्थान पर केवल शब्द मिलते हैं दर्शनशास्त्र के स्थान में तर्कशास्त्र की काट छांट, विचार की अस्पष्टता तार्किक जटिलता और मनोवृत्ति की असहिष्णुता पाई जाती है जो बहुत खेदजनक है। इनसे उत्तम श्रेणी के भाष्यकार निःसन्देह उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि प्राचीन विचारक स्वयं थे। शंकर और रामानुज जैसे भाष्यकार प्राचीन सिद्धान्तों को

१ क्रिटिकल फिलासफी आफ काट खण्ड १ पृष्ठ २।

प्रथम भाग

वैदिक काल

दूसरा अध्याय

ऋग्वेद की ऋचाएं

वेद—वैदिक सूक्तों के अध्ययन का महत्त्व—वेदों की शिक्षाएं—दार्शनिक प्रवृत्तियां—परमार्थविद्या—अद्वैतवादी प्रवृत्तियां—एकेश्वरवाद बनाम अद्वैतवाद—सृष्टि - विधान—धर्म—नीतिशास्त्र—परलोकशास्त्र—उपसंहार।

१

वेद

वेद मानव-मस्तिष्क से प्रादुर्भूत ऐसे नितान्त आदिकालीन प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिन्हे हम अपनी निधि समझते हैं। विलसन लिखता है, "जब ऋग्वेद और यजुर्वेद की मूलसंहिताए पूर्ण हो जाएगी उस समय हमारे पास इतनी पर्याप्त सामग्री होगी कि हम उनसे निकाले जानेवाले निष्कर्षो का सही-सही मूल्यांकन कर सकेंगे और यह मालूम कर सकेंगे कि राज-नीतिक एव धार्मिक क्षेत्र मे हिन्दुओ की वास्तविक स्थिति एक ऐसे युग मे क्या रही होगी, जो सामाजिक संघटन के अब तक के सबसे पूर्व के उल्लेख अर्थात् ग्रीक सभ्यता के उदय से भी बहुत पहले का समकालीन था और जो अब तक के ज्ञात इतिहास मे सबसे प्राचीन असीरियन साम्राज्य के स्मृति-चिह्नो से भी पूर्व—सम्भवत प्राचीन हीब्रू लेखो का समकालीन था और केवल मिस्र के उन राज्यो का ही परवर्ती था, जिनके विषय मे सिवा कुछ नामो के अभी तक हम बहुत कम जानते है। वेदो से हमे उस सबके विषय मे, जो प्राचीनता के बारे मे विचार करने पर बहुत रोचक प्रतीत होता है, बहुत बडी जानकारी मिलती है।"[१] वेद ४ है ऋक्, यजु, साम, अथर्व। पहले तीन परस्पर एक समान हैं, न केवल अपने नाम, आकृति व भाषा मे किन्तु अपने अन्तर्गत विषयो मे भी। इनमे ऋग्वेद प्रधान है। इसमे उन दिव्य गीतो का सग्रह किया गया जिन्हे आर्य लोग अपनी प्राचीन मातृभूमि से भारत मे साथ लाए थे और जो उनकी अत्यन्त मूल्यवान निधि के रूप मे थे। क्योकि जैसा कि आम मत है, जब अपने नये देश मे उनका सम्पर्क अन्य देवताओ की पूजा करनेवालो के साथ हुआ तो उन्हे उक्त गीतो को सभालकर सुरक्षित रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। ऋग्वेद उन्ही गीतो का सग्रह है। सामवेद

१ 'जर्नल आफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी', खण्ड १३, १८५२, पृष्ठ २०६।

विशुद्ध कर्मकाण्ड-सम्बन्धी संग्रह है। इसका बहुत-सा भाग ऋग्वेद में पाया जाता है और वे सूक्त भी जो विशुद्धरूप से इसके अपने हैं कोई विशेष नई शिक्षा नहीं देते। उन सबको क्रमबद्ध किया गया है केवल यज्ञों में गान के लिए। साम की भांति यजुर्वेद भी उपासनाविधि भी कर्मकाण्ड के लिए है। कर्म-विस्तारक धर्म की मांग को पूरा करने के लिए ही इस वेद का संग्रह किया गया। विटनी लिखता है: "प्रारम्भिक वैदिक काल में यज्ञ अभी तक मुख्यतः बन्धनरहित भक्तिपरक कर्म था जो किसी विशेषाधिकारप्राप्त पुरोहितवर्ग के सिपुर्द नहीं था न उसके छोटे-छोटे ब्यौरों के लिए कोई विशेष नियम बनाए गए थे। यज्ञकर्ता यजमान की ही स्वतन्त्र भावनाओं के ऊपर आश्रित होते थे और उनमें ऋग्वेद तथा सामवेद के ही मन्त्रों का उच्चारण रहता था जिससे कि यजमान का मुख्य ध्यान देवताओं के निमित्त हृदय की भावना से प्रेरित होकर आहुति देते समय बना रहे। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया कर्मकाण्ड ने भी अधिकाधिक औपचारिक रूप धारण कर लिया और अन्त में एक सर्वथा निर्दिष्ट एवं सूक्ष्म रूप में यजमान के क्षण-क्षण के व्यापार को तारतम्य में निर्धारित कर दिया गया। केवल इतना ही नहीं कि धार्मिक अनुष्ठान विशेष के लिए विशेष मन्त्र नियत कर दिए गए अपितु उसी प्रकार से प्रत्येक वैयक्तिक व्यापार को प्रकट करनेवाले मन्त्र भी स्थिर कर दिए गए जो व्याख्या करने, क्षमा प्रार्थना करने एवं आशीर्वाद देने में संकेतरूप से प्रयुक्त किए जाने लगे। इन यज्ञसम्बन्धी मन्त्रों के संग्रह का नाम ही यजुर्वेद हुआ जिसका यज् धातु से 'यज्ञ करना' अर्थ होता है। यजुर्वेद की रचना इन्हीं मन्त्रों से हुई है जो कुछ भाग में गद्य और कुछ भाग में पद्य के रूप में हैं और जिन्हें भिन्न-भिन्न यज्ञों में उपयुक्त होने योग्य क्रम में रखा गया है।"[1] साम और यजुर्वेद का संग्रह अवश्य ऋग्वेद के संग्रह एवं ब्राह्मणग्रन्थों के मध्यवर्ती काल में हुआ होगा जबकि कर्मकाण्ड की स्थापना पूर्णतया हो गई थी। अथर्ववेद को एक दीर्घ काल तक वेद के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं हुई यद्यपि हमारे मतलब के लिए ऋग्वेद के बाद इसी का महत्त्व है क्योंकि ऋग्वेद के ही समान यह भी स्वतन्त्र विषयों का एक ऐतिहासिक संकलन है। यह वेद बिलकुल एक भिन्न ही भाव से ओतप्रोत है जो परवर्ती युग की विचारधारा की उपज है। यह उस समझौते के भाव की देन है जिसे वैदिक आर्यों ने इस देश के आदिवासियों द्वारा पूजे जानेवाले नये देवी-देवताओं के साथ समन्वय करने के विचार से अंगीकार कर लिया था।

प्रत्येक वेद के तीन भाग हैं जिन्हें मन्त्रसंहिता ब्राह्मण और उपनिषद् नामों से जाना जाता है। मन्त्र अथवा ऋचाओं या सूक्तों के संग्रह को संहिता कहते हैं। ब्राह्मणों में उपदेश एवं धार्मिक कर्तव्यों का विधान है। उपनिषद् एवं आरण्यक ब्राह्मणों के अन्तिम भाग हैं जिनमें दार्शनिक समस्याओं की विवेचना की गई है। उपनिषदों के अन्दर हमें वेद की परवर्ती विचारधारा की कुल मानसिक पृष्ठभूमि देखने को मिलती है। प्राचीन उपनिषदों में से ऐतरेय और कौषीतकि का सम्बन्ध ऋग्वेद से है, केन और छान्दोग्य का साम से, ईश तैत्तिरीय और बृहदारण्यक का यजुर्वेद से एवं प्रश्न और मुण्डक का

१. अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी प्रोसीडिंग्स, खण्ड ३, पृष्ठ १४।

अथर्ववेद से है। आरण्यको का स्थान ब्राह्मणग्रन्थो और उपनिपदो के बीच है और जैसाकि उनका नाम सकेत करता है, आरण्यक उन पुरुपो के मनन एव चिन्तन के विपय थे जो वनो मे रहते थे। ब्राह्मणग्रन्थो मे उन कर्मकाण्डो का विवेचन है जिनका विधान गृहस्थ के लिए था। किन्तु वृद्धावस्था मे जब वह वनो का आश्रय लेता है तो कर्मकाण्ड के स्थान मे किसी और वस्तु की उसे आवश्यकता है, और आरण्यक उसी विपय की पूर्ति करते हैं। याज्ञिक सम्प्रदाय के साकेतिक एव धार्मिक पक्षो पर मनन व चिन्तन किया गया है और यह मनन ही यज्ञ की विधि मे परिणत हुआ। आरण्यक एक प्रकार से ब्राह्मणो मे विहित कर्मकाण्डो एव उपनिपदो के दार्शनिक ज्ञान के मध्यवर्ती सक्रमण-काल की शृखला के रूप मे हैं। जहा वैदिकसूक्त कवियो की कृतिया है,[1] वहा ब्राह्मण-ग्रन्थ पुरोहितो की रचनाए है और उपनिपद् दार्शनिको के मनन एव चिन्तन के परिणाम हैं। सूक्तो के स्वरूप का धर्म, ब्राह्मणग्रन्थो का नियमवद्ध धर्म एव उपनिपदो का भावनामय धर्म उन तीन वडे विभागो के साथ, जो हेगल का धर्म-सम्बन्धी विकास का भाव है, अत्यन्त निकटरूप मे समानता रखते है। यद्यपि आगे चलकर ये तीनो विभाग साथ-साथ विद्यमान रहे, फिर भी इसमे सन्देह नही कि प्रारम्भ मे इनका विकास क्रमश एक-दूसरे के पश्चात् भिन्न-भिन्न कालो मे हुआ। उपनिपद् जहा एक ओर वैदिक पूजा की परम्परा मे हैं, वहा दूसरी ओर ब्राह्मणो के धर्म के विरोध मे है।

२

वैदिक सूक्तों के अध्ययन का महत्त्व

किसी भी भारतीय विचारधारा की सही-सही व्याख्या के लिए ऋग्वेद के सूक्तो का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। हम उन्हे चाहे जो भी रूप दें—अधूरी पौराणिक कल्पनाए, असस्कृत रूपक, अन्धकारावृत विपम मार्ग मे की गई चेप्टा का परिणाम, अथवा अपरिपक्व रचनाए—तो भी भारतीय आर्यो के परवर्ती काल के धार्मिक कृत्यो एव दार्शनिक ज्ञान के वे आदिस्रोत तो हैं ही, साथ ही उनका अध्ययन परवर्ती विचारधारा को ठीक-ठीक समझने के लिए भी आवश्यक है। हम एक प्रकार की ताजगी और सादगी, और वसन्तकाल की वयार के समान एव प्रात.काल के खिले हुए फूल की भाति एक अनिर्वचनीय आकर्पण मानव-मस्तिप्क के इन सर्वप्रथम प्रयत्नो मे देखते हैं, जो विश्व के रहस्य को अवगत करके उसकी अभिव्यक्ति करने के लिए किए गए थे। वेद की मूल सहिताए, जो आज हमे उपलब्ध है, उस समय की बौद्धिक स्फूर्ति से प्राप्त हुई है जबकि आर्य लोग अपनी वास्तविक मातृभूमि को छोडकर इस देश मे आकर वसे थे। वे अपने साथ कुछ ऐसे विशेप भाव एव विश्वास लाए जिनका इस देश की भूमि मे विकास और प्रचलन हुआ। इन सूक्तो की रचना एव सकलन के मध्य समय का एक बहुत लम्बा अन्तर अवश्य गुजरा होगा। मैक्समूलर सहिताकाल के दो भाग करता है—छन्द-

१ ऋग्वेद, १ : १६४, ६, १० : १२९, ४।

काल और मन्त्रों का समय।[1] पहले भाग में सूक्तों की रचना हुई। यह एक रचनात्मक काल था जिसका विशेष स्वरूप वास्तविक काव्य था जबकि मनुष्यों के मनोभाव गीतों के रूप में स्वाभाविक रूप से बाहर फूटे पड़ते थे। उस समय यज्ञों का कहीं पता नहीं चलता। देवताओं के प्रति केवल प्रार्थना द्वारा ही भेंट दी जाती थी। दूसरा काल उनके संकलन का है जिसमें उन्हें क्रमबद्ध वर्गों में सजाया गया। आज जिस रूप में सूक्त हमारे सामने हैं उनका संग्रह अथवा क्रमबद्ध रूप में संकलन इसी समय में हुआ। इस काल में यज्ञपरक विचारों का भी विकास हुआ। सूक्तों का निर्माण एवं संकलन ठीक-ठीक किस काल में हुआ यह विषय कल्पनामात्र है। इतना तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ईसा से पन्द्रह शताब्दी पूर्व उनका प्रचलन था। बौद्धमत जिसका प्रचार भारत में लगभग ५०० ई० पू० से हुआ केवल वैदिक सूक्तों की ही नहीं अपितु समस्त वैदिक साहित्य की पहले से विद्यमानता को जिसमें ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदें भी हैं स्वीकार करता है। ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित यज्ञपद्धतियों को पूर्णरूप से स्थिर होने के लिए और उपनिषदों में प्रतिपादित दार्शनिक विचारों को भी पूर्णरूप में विकसित होने के लिए एक दीर्घकाल की आवश्यकता थी।[2] विचार के विकास के लिए, जो इस विस्तृत साहित्य में प्रकट है कम से कम एक हजार वर्ष तो चाहिए ही। उक्त साहित्य में जिस प्रकार की विविधता और उन्नति दिखाई देती है उसपर विचार करते हुए उक्त अवधि भी अधिक नहीं है। कई भारतीय विद्वानों ने वैदिक सूक्तों का समय ३००० ई० पू० बताया है दूसरों ने ६००० ई० पू० निर्धारित किया है। स्वर्गीय तिलक इनका समय लगभग ४५०० ई० पू० ब्राह्मणग्रन्थों का समय २५०० ई० पू० और प्राचीन उपनिषदों का १६०० ई० पू० निर्धारित करते हैं। जकोबी सूक्तों के निर्माणकाल को ४५०० ई० पू० रखता है। हम उसके लिए १५०० ई० पूर्व का समय रखते हैं और हम विश्वास है कि इस आवश्यकता से अधिक पूर्व का समय कहकर कोई इसका विरोध नहीं करेगा।

ऋग्वेदसंहिता में १०१७ ऋचाएं या सूक्त हैं जो कुल १०,६०० स्तवकों में हैं। ये आठ अष्टकों में विभक्त हैं। प्रत्येक में आठ अध्याय हैं जिनका आगे जाकर फिर वर्ग रूप में लघु विभाग किया गया है। कभी कभी ये दस मंडलों (अर्थात चक्रों) में भी विभक्त किए गए हैं। यह मंडलों वाला विभाग ही अधिक प्रचलित है। पहले मंडल में १९१ सूक्त हैं और सरसरी तौर पर १५ भिन्न भिन्न ऋषि इसके रचयिता बताए जाते हैं जैसे गौतम कण्व आदि। सूक्तों के क्रम में एक नियम काम करता है। जिन सूक्तों में अग्नि को सम्बोधन किया गया है वे पहले आते हैं इन्द्र को सम्बोधित सूक्त दूसरे नम्बर पर और उसके पश्चात अन्य सब। अगले छः मंडलों की रचना एक विशिष्ट परिवार के ऋषियों ने की ऐसा कहा जाता है और उनका क्रम भी एक ही समान है। आठवें मंडल

१ कभी कभी धार्मिक विश्वासों एवं सामाजिक रीतियों के कारण सूक्तों को भी पांच विभिन्न कालों में विभक्त किया जाता है। देखें मनाल्ड वैदिक मीटर।

२ उनमें से आधुनिक दर्शन पद्धतियों के बहुत-से पारिभाषिक शब्द—जैसे ब्रह्म आत्मा धर्म योग मनांसा आदि—निकले हैं।

३ आठवें हिस्से का द्योतक करता है।

मे कोई विशेष क्रम नही है। पहले मडल की भाति इसके भी भिन्न-भिन्न रचयिता बताए जाते है। नवे मडल मे सोम को सम्बोधन करते हुए सूक्त हैं। आठवें एव नवे मडल के बहुत-से सूक्त सामवेद मे भी पाए जाते है। दसवा मडल पीछे से जोडा गया प्रतीत होता है। हर हालत मे इसके अन्दर वे विचार है जो वैदिक सूक्तो के विकास के अन्तिम काल मे प्रचलित थे। यहा प्राचीन कविता की जो प्राकृतिक छवि थी वह दार्शनिक विचार की शुष्क झलक से पीली पड गई प्रतीत होती है। सृष्टि के आरम्भ-सम्बन्धी कुछ काल्पनिक सूक्त ही मिलते है। इन अमूर्त विचारो के साथ-साथ इनके अन्दर मिथ्याविश्वासयुक्त भूतप्रेतो को दूर करनेवाले विचार भी, जो अथर्ववेद के काल के है, मिश्रित है। जबकि कल्पनापरक भाग इस विषय की ओर सकेत करता है कि वह मस्तिष्क जो पहले गीतात्मक सूक्तो मे अपने को प्रकट कर रहा था अब अधिक पूर्णता को प्राप्त कर रहा है, तब इससे यह भी प्रकट होता है कि उस समय तक वैदिक आर्य इस देश के आदिमवासियो के सिद्धान्तो और क्रिया-कलापो से पूरी तरह परिचित हो गए थे, और ये दोनो बाते इसका स्पष्ट सकेत है कि दसवा मडल बहुत पीछे की उपज है।

३

वेदो की शिक्षाएं

जिन योग्य विद्वानो ने इन प्राचीन धार्मिक ग्रन्थो का जीवन-भर अध्ययन किया है, उनके वैदिक सूक्तो के भाव के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न मत है। फ्लीडरर ने ऋग्वेद की प्रार्थना का प्रारम्भिक, बच्चो की सी निश्छल प्रार्थना के रूप मे वर्णन किया है। पिक्टेट का मत है कि ऋग्वेद के आर्य एकेश्वरवादी थे, भले ही यह विचार अस्पष्ट एव पिछडा हुआ क्यो न हो, रौथ और आर्यसमाज के सस्थापक दयानन्द सरस्वती इसी मत से सहमति प्रकट करते हैं। राममोहनराय की सम्मति मे वैदिक देवता परमब्रह्म के भिन्न-भिन्न गुणो के आलकारिक प्रतिनिधि के रूप मे है। दूसरे विद्वानो के मत मे, ब्लूमफील्ड भी उनमे हैं, ऋग्वेद के सूक्त उस प्राचीन असस्कृत जाति के यज्ञ के निमित्त बनाए गए सूक्त है जो कर्मकाण्ड को विशेष महत्त्व देती थी। बर्गेन का मत है कि ये सब आलकारिक भाषा मे लिखे गए है। प्रसिद्ध भारतीय भाष्यकार सायण सूक्तो मे वर्णित देवताओ की प्राकृतिक व्याख्या को स्वीकार करता है और इसीका समर्थन आधुनिक काल के यूरोपियन विद्वानो ने भी किया है। सायण ने कभी-कभी इन सूक्तो की व्याख्या प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थो के धर्म के भाव को लेकर भी की है। विभिन्न प्रकार के ये सब मत एक-दूसरे के विरोधी हो यह बात नही, क्योकि वे सब ऋग्वेद के सूक्तसग्रह के विषय-स्वरूप की ओर निर्देश करते है। ऋग्वेद एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे पीढी दर पीढी के विचारको के विचार अकित है और इसीलिए उसके अन्दर भाति-भाति के विचारो का सचय सन्निहित है। मुख्य रूप से हम कह सकते है कि ऋग्वेद निश्छल एव सरल धर्म का प्रतिपादन करता है। सूक्तो का बहुत बडा समूह सादा और सरल है, जो एक ऐसी धार्मिक चेतना की अभिव्यक्ति करता है, जो परवर्ती समय के छल-कपट से सर्वथा शून्य थी।

ऋग्वेद में ऐसे सूक्त भी हैं जो परवर्ती औपचारिक ब्राह्मणग्रन्थों के काल के हैं। कुछ ऐसे सूक्त हैं विशेषरूप से अन्तिम मंडल में, जिनमें जगत का उद्देश्य और उसके अन्दर मनुष्य का स्थान इस विषय पर किए गए स्वतन्त्र विचारों के परिपक्व परिणाम दिए हुए हैं। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में वर्णित एकेश्वरवाद उन सूक्तों की विशेषता है। इसमें सन्देह नहीं कि सभी अनेक प्रकार के देवता व्यापक ब्रह्म के ही भिन्न भिन्न नाम एवं अभिव्यक्ति के रूप में थे।[1] किन्तु इस प्रकार का एकेश्वरवाद आज तक आधुनिक जगत के तीव्र मर्मस्पर्शी एकेश्वरवाद के समान नहीं है।

महान भारतीय विद्वान योगी श्री अरविन्द घोष की सम्मति में वेद रहस्यमय सिद्धान्त एवं गूढ़ दार्शनिक ज्ञान से भरे हुए हैं। उनके मत में सूक्तों में वर्णित देवता मनोवैज्ञानिक व्यापारों के संकेत हैं। सूर्य मेधा को उपलक्षित करता है, अग्नि इच्छा को और सोम मनोभावों को। अरविन्द के मत में वेद एक रहस्यपूर्ण धर्म है जिसकी तुलना प्राचीन ग्रीस के आरफिक और इल्यूसिनियन सम्प्रदायों के साथ की जा सकती है। "एक प्रकल्पनात्मक सिद्धान्त जो मैं प्रस्तुत करता हूं यह है कि ऋग्वेद स्वयं एक उपयोगी प्रामाणिक ग्रन्थ है जो आज हमें उपलब्ध है और जो प्राचीनकाल की उसी मानवीय विचारधारा का है जिसके प्राचीन ऐतिहासिक इल्यूसिनियन और आरफिक रहस्य विनष्ट होते हुए अवशेषमात्र रह गए हैं जबकि मनुष्य जाति के आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक ज्ञान को महत्त्वपूर्ण आकृतियों एवं संकेतों में छिपाया गया था कि ही कारणों से जिनका आज निर्णय करना कठिन है और इस प्रकार धर्मभ्रष्ट व्यक्तियों से बचाकर केवल धर्म में दीक्षितों के प्रति उनका प्रकाश किया गया। रहस्यवादी योगियों का एक मुख्य सिद्धान्त यह था कि आत्मज्ञान एवं देवताओं के विषय के सत्यज्ञान को पवित्र समझकर गुप्त रखा जाए। वे समझते थे कि यह ज्ञान साधारण मनुष्य के अयोग्य ही नहीं अपितु सम्भवत अनर्थकारी भी हो सकता है और उसका दुरुपयोग भी हो सकता है और यदि असभ्य गंवार और अपवित्रात्माओं को प्रकाश प्रदान किया जाएगा तो उसकी धार्मिकता नष्ट हो जाएगी। इसीलिए वे बाह्य पूजा को क्रियात्मक रूप में बनाए रखने के पक्ष में थे जोकि धर्मभ्रष्ट के लिए अपूर्ण थी और दीक्षित व्यक्ति के लिए आन्तरिक नियन्त्रण का विधान थी तथा अपनी भाषा को ऐसे शब्दों एवं मूर्तियों का रूप देते थे जो चुने हुए वरिष्ठ व्यक्तियों के लिए उतना ही धार्मिक अर्थ रखता था और साधारण पूजकों के लिए एक ठोस मूर्तरूप अर्थ रखता था। वैदिक सूक्तों की भावना एवं रचना इन्हीं सिद्धान्तों को लेकर हुई।[2] जब हम देखते हैं कि यह मत केवल आधुनिक यूरोपीय विद्वानों के ही मत के विरुद्ध नहीं है अपितु सायण के परम्परागत भाष्य एवं पूर्वमीमांसा के मत के भी विरुद्ध है क्योंकि पूर्वमीमांसा को वैदिक व्याख्या के लिए प्रमाण समझा जाता है तो हम श्री अरविन्द घोष के मन्तव्य का अनुसरण करने में हिचकते हैं भले ही उनका मत कितना ही सुकल्पित क्यों न हो। यह सम्भव नहीं हो सकता कि भारतीय विचार की समस्त उन्नति वैदिक सूक्तों के उच्चतम आध्यात्मिक सत्यों से उतरकर शनै शनै गिरती

१ देखें ऋग्वेद १ १६४-४६ और १० -७१।
२ आर्य खण्ड १ पृष्ठ ६०।

चली जाए। मानवीय विकास के सामान्य नियम के अनुसार यह स्वीकार करना तो सरल है कि परवर्ती धर्म और दर्शन असस्कृत सकेतो एव आचार-सम्बन्धी मौलिक विचारो से और प्राचीनमानवीय मस्तिष्क की उच्च आकाक्षाओ से उदित हुए, बजाय इसके कि उनके विषय मे यह धारणा की जाए कि प्रारम्भ मे प्राप्त पूर्णता से अवनति के रूप मे ये उत्पन्न हुए।

वैदिक सूक्तो के भाव की व्याख्या करने मे हम ब्राह्मणो एव उपनिषदो के मत को स्वीकार करना अधिक उचित समझते है, क्योकि ये तुरन्त उनके पश्चात् आए। ये अर्वाचीन ग्रन्थ वैदिक सूक्तो की परम्परा के अन्दर है और उनका विकसित रूप है। हम देखते है कि पहले बाह्य जगत् की शक्तियो की पूजा करते करते उपनिषदो का आध्यात्मिक धर्म उन्नत हुआ तो यह बात सरलता से समझ मे आ सकती है, क्योकि धार्मिक उन्नति का स्वाभाविक नियम ऐसा ही है। इस पृथ्वी पर हर जगह मनुष्य बाह्य जगत् से चलकर आभ्यन्तर की ओर आता है। उपनिषदे प्राचीन प्रकृति-पूजा की ओर ध्यान न देकर मात्र वेदो मे सकेत रूप मे निविष्ट उच्चतम धर्म को ही विकसित करती है। यह व्याख्या आधुनिक ऐतिहासिक विधि और प्रारम्भिक मानव-सस्कृति के सिद्धान्त से बिलकुल सगति खाती है और सायण द्वारा प्रतिपादित-प्रतिष्ठित भारतीय मत के भी सर्वथा अनुकूल है।

४

दार्शनिक प्रवृत्तियां

ऋग्वेद मे हमे आदिम, किन्तु कविहृदयो के भावोत्तेजित, उद्गार मिलते है, जिनसे विदित होता है कि वे इन्द्रियो एव बाह्य जगत् के विषय मे उठनेवाली अदम्य आशकाओ से मुक्ति पाने की खोज मे थे। ऋग्वेद के सूक्त इस अश मे दार्शनिक है कि वे ससार के रहस्य की व्याख्या किसी अतिमानवीय अन्तर्दृष्टि अथवा असाधारण दैवी प्रेरणा द्वारा नही, किन्तु स्वतन्त्र तर्क द्वारा करने का प्रयत्न करते है। वैदिक सूक्तो मे बुद्धि का जो प्रकाश मिलता है वह सर्वत्र एक-सा नही है। ऐसे भी भावुक व्यक्ति थे जिन्होने केवल आकाश के सौंदर्य पर और पृथ्वी की अद्भुत वस्तुओ पर विचार करके वैदिक सूत्रो के निर्माण द्वारा अपनी आत्मा के बोझ को हलका किया। भारतीय-ईरानी देवता यथा, द्यौ, वरुण, उषा, मित्र आदि उनकी काव्यमय चेतना की उपज हैं। अधिक क्रियाशील वृत्ति वाले अन्य लोगो ने दृश्य जगत् को अपने-अपने प्रयोजनो के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। जगत् का ज्ञान उन्हे जीवन का मार्ग प्रदर्शित करने मे अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। विजय और युद्ध के काल मे इन्द्र जैसे, उपयोगितावाद मे उपयुक्त, देवताओ की कल्पना की गई। मौलिक दार्शनिक प्रेरणा एव इस जगत् के निजी स्वरूप को जानने और समझने की आकाक्षा केवल इसी विप्लव एव सघर्षकाल के अन्त मे प्रकट हुई। यही काल था जब मनुष्यो ने शान्ति से बैठकर उन देवी-देवताओ के बारे मे, जिन्हे वे अज्ञान के कारण पूजते रहे थे, शका करना और जीवन के रहस्यो पर विचार करना प्रारम्भ किया। यही वह काल था जब ऐसी आशकाए उठी जिनका समाधान मानव-मस्तिष्क ठीक-ठीक नही कर सका। वैदिक कवि घोषणा करता है, "मैं नही जानता कि मैं क्या हू, मेरा

रहस्यमय, आबद्ध मन इधर उधर भटकता है।' यद्यपि यथार्थ दर्शनज्ञान के अंकुर आगे चलकर फूटते हैं, फिर भी जीवन का जो स्वरूप वैदिक सूक्तों के काव्य एवं कर्मकाण्ड में प्रतिबिम्बित होता है वह निराशाप्रद है। जिस प्रकार काल्पनिक इतिहास पुरातत्त्व विज्ञान, रसविद्या रसायनशास्त्र और फलित एवं गणित ज्योतिष आदि विज्ञानों से पहले आता है इसी प्रकार पुराणविद्या और कविता दर्शनशास्त्र एवं भौतिक विज्ञान से पहले आती हैं। दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी मानसिक प्रेरणा सबसे पहले पुराणविद्या और धर्म के रूप में अभिव्यक्त होती है। परमसत्ता के विषय में साधारण जनता के अन्दर फैले हुए विश्वासों के सम्बन्ध में जो भी प्रश्न उठते हैं उनका उत्तर इन्हीं पुराणशास्त्रों व धर्मग्रन्थों में मिलता है। ये सब कल्पना की उपज हैं जिसके आधार पर वास्तविक जगत के कारणों की कल्पनात्मक व्याख्या स्वीकार कर ली जाती है। फिर शनैः-शनैः जैसे तर्क कल्पना को दबा देता है एक प्रयत्न किया जाता है जिसमें उस नित्य एवं स्थायी तत्त्व को पहचाना जा सके जिसमें जगत के सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। विश्वविज्ञान-सम्बन्धी कल्पनाएं पौराणिक धारणाओं का स्थान ले लेती हैं। जगत के स्थायी अवयवों को देवताओं का रूप दे दिया जाता है और इस प्रकार विश्वविज्ञान और धर्म में परस्पर भ्रमात्मक सम्मिश्रण होता प्रतीत होता है। विचार की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जो हमें ऋग्वेद में मिलती हैं पुराणविद्या विश्वविज्ञान और धर्म एक दूसरे के अन्दर मिश्रित रूप में मिलते हैं। यहां पर संक्षेप में ऋग्वेद के सूक्तों के अभिमत विषयों का चार भिन्न शीर्षकों अर्थात् परमार्थविद्या (ब्रह्मज्ञान) विश्वविज्ञान नीतिशास्त्र और परलोकविज्ञान के अन्तर्गत वर्णन करना उचित होगा।

५

परमार्थविद्या

अनेक शताब्दियों में विकसित हुई धार्मिक प्रगति कोई ऐसा सरल और विशद सम्प्रदाय नहीं हो सकता कि उसकी परिभाषा एवं वर्गीकरण आसान काम समझा जा सके। वैदिक सूक्तों का विस्मयकारी पक्ष उनका बहुदेववादी स्वरूप है। अनेक देवताओं का नाम व उनकी पूजा का विधान उनमें मिलता है। तो भी कुछ ऐसे सूक्त हमें अचम्भे में डाल देते हैं जिनमें उच्च कोटि के दार्शनिक भाव पाए जाते हैं और जिनके असंस्कृत बहुदेवतावाद से एक क्रमबद्ध दर्शन में परिणत होने में अधिक से अधिक लम्बा समय लगा होगा। ऋग्वेद के सूक्तों द्वारा प्रतिपादित धर्म के जो तीन स्तर स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं वे इस प्रकार हैं—प्राकृतिक बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद।

इस विवेचना में एक महत्त्वपूर्ण विषय जो ध्यान में रखने योग्य है वह यह है कि देव शब्द अपने स्वरूप में इतना अधिक भ्रान्तिजनक है और इसका प्रयोग कितने ही भिन्न भिन्न पदार्थों का संकेत करने के लिए किया गया है।[1] देव वह है जो मनुष्य को देता है।[2]

१ निरुक्त कहता है देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो वा भवति (७ १५)।

२ हम इसकी तुलना अंग्रेजी शब्द लेडी के साथ कर सकते हैं जिसका मूल अर्थ था रोटी बनाने वाली। लार्ड शब्द का भी विकास लगभग वैसा ही था, अर्थात् रोटी का संरक्षक।

वह समस्त विश्व को देता है। विद्वान पुरुष भी देव है, क्योंकि वह अपने अन्य साथी मनुष्यो को विद्या या ज्ञान का दान देता है।[1] इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा और आकाश भी देव है, क्योकि वे समस्त सृष्टि को प्रकाश देते हैं। पिता, माता और आचार्य भी 'देव' है।[2] अतिथि भी एक देव है। हमे यहा केवल 'देव' शब्द के उस भाव से मतलब है जो ईश्वर के आधुनिक भाव को व्यक्त करता है। इससे तात्पर्य है, दिव्यगुणयुक्त अथवा प्रकाशमान।

मानव-मस्तिष्करूपी कारखाने मे देवमाला के निर्माण की पद्धति ऋग्वेद मे जैसी स्पष्ट देखी जाती है वैसी अन्यत्र नही मिल सकती। हमे इसमे मानवीय मानस की एक प्रात-कालीन स्वाभाविक नवीनता एव उज्ज्वलता मिलती है जो अभी तक पुराने रीति-रिवाजों और नियत परिपाटी से म्लान नही हुई थी। विचारधारा के इतिहास मे प्रारम्भ नामक कोई विषय नही होता, इसलिए कही न कही से तो हमे चलना ही होता है। वैदिक देवताओ के, प्राकृतिक शक्तियो से, साम्य स्थापित करने के समय से ही हम प्रारम्भ कर सकते है और निर्देश कर सकते हैं कि किस प्रकार शनै-शनै उन प्राकृतिक शक्तियो को ही साधुवृत्त एवं अतिमानवसत्ता का रूप दे दिया गया। वैदिक सूक्तो के प्राचीनतम ऋषि प्राकृतिक दृश्यो को देखकर अपने सरल स्वभाव के कारण अनायास ही अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठते थे। विशेषकर कवि-स्वभाव होने के कारण उन्होने प्राकृतिक पदार्थो को ऐसे प्रगाढ मनोभावो और कल्पना-शक्ति द्वारा देखा कि उन्हे वे आत्मा की भावना से परिपूर्ण प्रतीत होने लगे। वे प्रकृतिप्रेम से अभिज्ञ थे और इसलिए सूर्योदय एव सूर्यास्त के अद्भुत दृश्यों मे खो गए, क्योकि ये दोनो ही रहस्यमयी प्राकृतिक घटनाए है, जो आत्मा को प्रकृति के साथ जोड देती है। उनके लिए प्रकृति एक जीवित सत्ता थी, जिसके साथ वे प्रेम-सम्बन्ध जोड सकते थे। प्रकृति के कुछ उज्ज्वल स्वरूप एक प्रकार से द्युलोक के ऐसे झरोखे थे जिनमे से दैवी शक्ति नीचे के ईश्वर-विहीन जगत् को झाकती-सी प्रतीत होती थी। चाद और तारे अगाध समुद्र और अनन्त आकाश, सूर्योदय और रात्रि का आगमन इन सबको दैवी घटना समझा जाने लगा। वैदिक धर्म का प्रारम्भिक रूप इसी प्रकार की प्रकृति की पूजा था।

शीघ्र ही चेष्टाविहीन विचार ने आर्य लोगो के जीवन मे प्रवेश किया। एक स्वाभाविक प्रयत्न इस दिशा मे होने लगा कि पदार्थो के आभ्यन्तर स्वरूप मे प्रवेश किया जाए। मानव ने अपने ही समान देवो की सृष्टि करना प्रारम्भ किया। अविकसित मानव का धर्म ससार मे सर्वत्र 'अवतारवाद' (अर्थात् ईश्वर के मानवीय रूप को मानना) के रूप मे ही रहा है। हम भौतिक जगत् की अस्तव्यस्तता को मानने को तैयार नही है। हम भौतिक जगत् को किसी न किसी प्रकार से समझने की कोशिश करते हे और जीवन के विषय मे एक न एक सिद्धान्त भी स्थिर कर लेते है, जिसे हम निश्चित रूप से यह समझ लेते है कि इससे अधिक अच्छा दूसरा सिद्धान्त नही होगा। स्वभावत· ही हम अपने सकल्प-शक्तिरूपी साधन को आगे बढाकर घटनाओ का समाधान उनके आध्यात्मिक कारणों द्वारा

१. विद्वासो हि देवा·।
२ मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।

करते हैं।' हम सब बातों की व्याख्या अपने ही स्वभाव की उपमा से करते हैं और इसलिए सब भौतिक घटनाओं की पृष्ठभूमि में भी इच्छान्वित का होना यथार्थरूप में मान लेते हैं। इस कल्पनात्मक सूत्र को सर्वजीववाद के साथ नहीं मिलाना चाहिए, क्योंकि इस कल्पना में प्रकृति मात्र के अन्दर चेतना के मत को स्वीकार नहीं किया गया है। यह एक प्रकार का बहुदेवतावाद है जिसमें विलक्षण भौतिक घटनाओं को, जिनसे भारत भरा पड़ा है, दैवीय घटनाओं का रूप दे दिया जाता है। धार्मिक अन्तःप्रेरणा अपनी अभिव्यक्ति इसी प्रकार करती है। गहन धार्मिक भावना के क्षणों में जब मनुष्य किसी आसन्न विपत्ति से छुटकारा पा जाता है और प्रकृति की महान शक्तियों के आगे अपने को नितान्त असमर्थ पाता है तब वह ईश्वर की उपस्थिति की यथार्थता समझ पाता है। वह तूफान में परमात्मा की आवाज को सुनता है और अगाध एवं प्रशान्त समुद्र में भी उसीके अस्तित्व का अनुभव करता है। आधुनिक आत्मसंयमी सम्प्रदाय के समय तक हम इसी प्रकार की भावनाएं मिलती हैं। सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र, ऋतु और मनुष्यों तक को देवता बना डाला गया। यह अच्छी बात है कि वैदिक आर्य एक अदृश्य लोक की यथार्थता में विश्वास रखते थे। उन्हें इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं था। देवता विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृतिवाद और अवतारवाद वैदिक धर्म की प्राथमिक श्रेणियां रही होंगी।

अब यह इतिहास का सर्वमान्य विषय है कि वैदिक आर्य और ईरानी लोग एक ही जाति के हैं और इनमें बहुत सी समानताएं एवं बन्धुत्व का नाता दिखाई देता है। वे अपने एक ही आदिनिवासस्थान से भारत में और पारसियों के ईरान में आए। वे अपने उस आदिस्थान में तब तक एक ही अभिन्न जाति के रूप में रहते रहे थे जब तक कि जीवन की आवश्यकताओं, जगह की कमी एवं साहसिकता के भाव ने उन्हें अपनी मातृभूमि को छोड़कर नये क्षेत्रों की खोज में बाहर निकलकर भिन्न-भिन्न दिशाओं में घूमने को बाधित नहीं कर दिया।[1] यही कारण है कि हम पारस एवं भारत के प्राचीन धर्मों

१ जैसा कि टेलर ने लिखा है, "संसार के कार्य अन्य आत्माओं के द्वारा संचालित होते प्रतीत होते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह कि मनुष्य शरीर के विषय में माना जाता है कि वह अपने अन्दर स्थित मानवीय जीवात्मा के कारण जीवित रहता है और कर्म करता है।" ('प्रिमिटिव कल्चर')। ह्यूम ने 'नेचुरल हिस्टरी ऑफ रिलिजन्स' में लिखा कि "मनुष्य में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह सब प्राणियों की कल्पना अपने समान ही कर लेता है। ... मनुष्यों के विचारों को अपनी ओर बराबर आकृष्ट करने वाले अज्ञात कारण उसी एक रूप में प्रकट होते हुए सब एक ही वर्ग के मान लिए जाते हैं। हमें उनके अन्दर विचार, तर्क एवं राग आदि विषयों का समावेश कर देने में भी विलम्ब नहीं होता और कभी-कभी तो उन्हें मनुष्य की भांति देहधारी रूप की कल्पना का भी जामा पहना दिया जाता है।"

२ क्रिसिपस, देखो गिलबर्ट मरे—'फोर स्टेजेज आफ ग्रीक रिलिजन', पृष्ठ १७।

३ भारतीय एवं ईरानी उस भारतीय-युरोपियन परिवार के ही अंग थे जिसके उपविभाग थे ट्यूटॉनिक, केल्टिक, स्लावॉनिक, इटालिक, हैलेनिक एवं आरमीनियन जातियां। इन लोगों के धार्मिक विश्वासों और क्रियाकलापों की तुलना करके विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि एक प्रकार के भारतीय-युरोपियन धर्म का पता लगाया जा सकता है। सर्वचेतनवाद और जादू, पितरों की पूजा और अमरत्व में विश्वास उस भारतीय-युरोपीय धर्म के मुख्य अवयव थे। रिले जैसे आधुनिक

एव दार्शनिक विचारो मे इतना साम्य और बन्धुत्व दिखाई देता है। डाक्टर मिल्स का कहना है कि "पारसियों का धर्मग्रन्थ, जिन्दावस्ता, वेदो के जितना सन्निकट है उतने निकट इनके अपने सस्कृत के महाकाव्य भी नही है।" दोनो धर्मग्रन्थो मे भाषा-सम्बन्धी अन्तर्निहित अविच्छिन्नता पाई जाती है। जब आर्य-जाति के लोग पजाव के मार्ग से भारत मे आए, तो उनका भारत के उन आदिवासियो से सामना हुआ जिन्हे उन्होने दस्यु की सज्ञा दी और जो उनके निर्बाध प्रसार का विरोध करते थे।[1] ये दस्यु लोग कृष्ण वर्ण के थे, गोमास खाते थे और भूत-प्रेत आदि की पूजा करते थे। आर्य लोग इनके सम्पर्क मे आकर अपने-आपको इनसे पृथक् रखने के इच्छुक थे। जातिगत अभिमान के कारण और अपनी सस्कृति की सर्वोत्तमता के कारण उत्पन्न हुए, अपने को दस्युओ से पृथक् रहने के, भाव ने ही आगे चलकर जात-पात के भेद-भाव का रूप धारण कर लिया। अपने धर्म को पवित्र रखने और उसे भ्रष्टता से बचाने की चिन्ता ने ही आर्यो को अपने पवित्र धार्मिक साहित्य को एकत्र करने की ओर अग्रसर किया। 'सहिता' शब्द से, जिसका अर्थ है सकलन अथवा सग्रह, सकेत मिलता है कि ऋग्वेद के सूत्र उस समय सग्रह किए गए जबकि भारत की भूमि पर आर्यों का अनार्यो के साथ सम्पर्क हुआ। हम वैदिक देवताओ की रूपरेखा उन भारतीय-ईरानी देवताओ के साथ प्रस्तुत करेगे जो दोनो बधु-जातियो मे परस्पर अलग होने से पहले समान रूप से मान्य समझे जाते थे।

इस ससार की अपूर्णता की भावना, मनुष्य की दुर्बलता, और एक उच्च आत्मा की आवश्यकता—जो पथप्रदर्शक, सच्चा मित्र और एक ऐसा आधार बन सके जिसका आश्रय मनुष्य ले सके और जिससे वह विपत्ति मे अपील कर सके—यह सब व्यथित हृदय के पक्ष मे स्वाभाविक है। उस प्रारम्भिक काल मे अनन्त के प्रति इस प्रकार की आकाक्षा को सिवा असीम और जाज्वल्यमान द्युलोक के और कोई कल्पना इतनी अच्छी तरह सन्तुष्ट नही कर सकती थी। सूर्य, चन्द्रमा और तारागण स्थान-परिवर्तन कर सकते है, आधी-तूफान आ सकते है और मेघ भी मडराकर विलुप्त हो सकते है किन्तु अनन्त आकाश

नृवशवेत्ता विद्वान जातियों का एक विभिन्न वर्गीकरण स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। कुछ विद्वान आर्यजाति को ट्यूटनिक, अथवा नारडिक जाति के समान मानते हैं। किन्तु हमें यहा इनसे कुछ मतलब नहीं है। भारतीय विचारधारा के इतिहास का प्रारम्भ वहा से होता है जब मध्य-एशिया के निवासी आर्य-जाति के लोगों ने अपने को दो विभागों में विभक्त कर लिया और एक तो अफगानिस्तान के मार्ग से भारत में आ बसा और दूसरा ईरान कहानेवाले भू-भाग में फैल गया।

१. इन आर्य कहलानेवाले लोगों के इतस्तत भ्रमण का ब्योरा उस सामग्री के आधार पर जो आज हमें उपलब्ध है, कुछ निश्चित रूप से नहीं दिया जा सकता। वैदिक सूक्त सामाजिक जीवन की उस परवर्ती अवस्था को अभिव्यक्त करते है जबकि सस्कृत बोलचाल की भाषा थी और आर्यजाति अनेक शाखाओं में बंटी हुई थी। न ही हम यह स्वीकार करने को उद्यत हैं कि द्रविड लोग भारत के आदिमवासियों में थे। ऐसा प्रतीत होता है कि द्रविड़ लोग आर्य लोगों की अपेक्षा बहुत पहले भारत में आए थे और उन्होंने आर्यो के आगमन से पूर्व अपनी सभ्यता को जमा लिया था। यह सत्य है कि द्रविड लोगों ने आर्यो के रीति-रिवाजों को अगीकार कर लिया था, किन्तु उनके बाद उनका प्रभाव भी आर्य-सभ्यता पर पडा। उन असख्य वन्य जातियों के लोग, जो आज भी दुर्गम पर्वतीय प्रदेशों में निवास करते हैं, सम्भवत. भारत के आदिम निवासी थे।

सत्ता स्थिर रहता है। द्यौ केवल भारतीय ईरानी देवता ही नहीं है, किन्तु भारतीय यूरोपीय भी है। यूनान देश में यह ज़ीयस के नाम से विद्यमान है इटली में जुपिटर (द्यौपिता अर्थात् द्यौ का पिता) और टघूटनिक वन्य जातियों में टायर और टयाई के रूप में। देव शब्द का प्रारम्भिक अर्थ है उज्ज्वल और आगे चलकर यह सभी प्रकाशमान तत्वों के लिए यथा सूर्य आकाश (द्युलोक) नक्षत्रगण सूर्योदय और दिन आदि के लिए प्रयोग में आने लगा। यह समस्त उज्ज्वल पदार्थों को प्रकट करनेवाली परिभाषा के रूप में परिणत हो गया। पृथ्वी को भी शीघ्र ही देवी मान लिया गया। शुरू शुरू में सम्भवत आकाश एवं पृथ्वी विस्तृतता चौड़ाई और उत्पादन क्षमता आदि अपने भौतिक रूपों को ही अभिव्यक्त करते थे।[1] मधु देनेवाला दूध से पूर्ण ऐसे गुण भूमि के कहे जाते थे। किन्तु सबसे पहले द्युलोक और पृथ्वीलोक को ही मानवीय गुणों से युक्त रूप दिया गया जैसे ह्रास न होनेवाला पिता माता आदि। उपकारिता सर्वज्ञता धर्मात्मापन आदि जैसे आचार सम्बन्धी गुण भी उसमें और जोड़ दिए गए।[2] यह हो सकता है कि इस विषय में धीरे धीरे प्रगति हुई अर्थात् भौतिक अवस्था से चेतनत्व और चेतनत्व से दैवीय रूप तक पहुंचा गया। पृथ्वी और द्युलोक—जिनकी सबसे पहले प्राचीन समय में संसार में सर्वत्र पूजा होती थी यद्यपि शुरू शुरू में वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते थे—शीघ्र ही एक प्रकार के वैवाहिक बन्धन में बंध गए। पृथ्वी को फलदायिनी मां के समान माना जाने लगा जिसमें आकाश या द्युलोक बीज वपन करके उसे गर्भित करता है। होमरिक छन्दों में भूमि को देवताओं की माता और नक्षत्र मण्डल मण्डित द्युलोक की पत्नी के रूप में सम्बोधित किया गया है। भूमि और द्युलोक सबके माता पिता-तुल्य हैं, जो सब प्राणियों को जीवन देते हैं और उन्हें जीवन निर्वाह के साधन प्रदान करते हैं। ऋग्वेद में उन्हें प्रायः द्वित्व की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है अर्थात् सत्ताएं दो हैं किन्तु वे एक ही सामान्य प्रत्यय को अभिव्यक्त करती हैं। ये सबके लिए एक समान माध्यम हैं—सूर्य सूर्योदय अग्नि वायु और वर्षा ये सब उनकी सन्तति हैं। वे मनुष्यों एवं देवताओं दोनों के माता पिता हैं।[3] ज्योंही देवों की संख्या बढ़ने लगी, प्रश्न उत्पन्न हुआ कि द्युलोक और पृथ्वी का निर्माण किसने किया? देवों में वह अवश्य ही सबसे चतुर कारीगर होगा जिसने उन चमत्कारी और प्रकाशमान द्युलोक और पृथ्वी को उत्पन्न किया जो सब पदार्थों में उल्लास पैदा करते हैं और जो अपनी मेधा के बल से उक्त दोनों दिव्य पदार्थों को मापता है और उन्हें नित्य एवं स्थायी आधारों पर स्थिर रखता

१ 'दिव' चमकना।

२ १ १६ २ १ १८७ ५ ४ ५८ ३ ६ ७ १–२।

३ १ १५९ १ १ १६ १ ४ ५६ २, ६ ७, ६।

४ देखें मैक्समूलर कृत 'इण्डिया व्हट कैन इट टीच अस' पृष्ठ १५६।

५ १ १८५ ४ १ १५९, १–२ १ १०६, ३ ३ ३, ११ ४ ५६ २ ६ १७ ७ ७ ५३ १–२ ६ ८५, १२ १ १, ७ १० ३५ ३ १ ६४, १४ १० ६५, ८ १० ११, ९।

है।"[1] इस प्रकार की सृजनशक्ति अग्नि,[2] इन्द्र,[3] अथवा सोम[4] मे बताई गई। इसी प्रतिष्ठित वर्ग मे अन्य देव भी आ जाते हैं।[5]

वरुण आकाश का देवता है। यह शब्द 'वर्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है ढक लेना अथवा घेरना (पूर्ण कर लेना)। यूनान के आरणोस और जिन्दावस्ता के अहुरमज्दा के साथ इसका तादात्म्य है। उसका भौतिक उत्पत्तिस्थान प्रत्यक्ष है। वह आच्छादन करनेवाला अथवा लपेटनेवाला है। वह आकाश के तारामडित विस्तृत क्षेत्र को 'मानो एक लम्बे चोगे से समस्त जीव-जन्तुओ एव उनके निवासस्थानो सहित आच्छादित करता है।'[6] मित्र उसका बराबर का साथी है। वरुण और मित्र जब एकसाथ प्रयुक्त किए जाते है तो दिन-रात एव अन्धकार व प्रकाश का बोध कराते है। वरुण के व्यक्तित्व को शनै-शनै परिवर्तित करते-करते आदर्श रूप दे दिया गया। यहा तक कि वह वेदो का अत्यन्त सदाचारी देवता माना जाने लगा। वह समस्त विश्व का निरीक्षण करता है, पापियो को दण्ड देता है और जो उससे क्षमा-प्रार्थना करते है, उनके पापो को क्षमा कर देता है। सूर्य उसके चक्षु है, आकाश उसके वस्त्र है, और तूफान उसका नि श्वास है।[7] नदिया उसीकी आज्ञा से बहती हैं[8], सूर्य चमकता है, नक्षत्र और चन्द्रमा अपनी-अपनी परिधियो मे उसीके भय से स्थित रहते है।[9] उसीके नियम से द्युलोक और पृथ्वी अलग-अलग वर्तमान है। वही भौतिक एव नैतिक व्यवस्था को सभाले हुए है। वह चचलचित्त न होकर धृतव्रत, अर्थात् दृढ सकल्पवाला है। अन्यान्य देवता उसकी आज्ञा का पालन करते है। वह सर्वज्ञ है और इसलिए आकाश मे पक्षियो की उडान का ज्ञान रखता है, समुद्र मे जहाजो के मार्ग का और वायु के मार्ग का भी ज्ञान रखता है। बिना उसके जाने कोई चिडिया तक नही गिर सकती। वही परम ईश्वर है, देवो का देव, अपराधियो के लिए कठोर और पश्चात्ताप करनेवालो के लिए दयालु है। वह जगत् के सदाचार-सम्बन्धी नित्य-नियमो के, जिनका विधान उसीने किया है, अनुकूल चलता है, तोभी अपने दयालु स्वभाव के कारण उन्हे भी क्षमा करने को उद्यत है जो उसके नियमो का उल्लघन करते है। "जो पाप करता है, वह उसके प्रति भी कृपालु है।"[10] वरुण को सम्बोधित करते हुए जितने भी सूक्त है, सबमे हम पापो के लिए क्षमा की प्रार्थना ही पाते है, जो अपराधो की स्वीकृति और पश्चात्ताप से ओत-प्रोत हैं।[11] इससे ज्ञात होता है कि आर्यजाति के कविगण पाप के बोझ

१. ऋग्वेद, १ १६०, ४, और भी देखें ४ ५६, ३।
२. १ ६७, ३। ३ १० ८१, ४। ४. ९ १०१, १५।
५. ३ ३१, १२। ६. ८·४१। ७. ७. ८७, २।
८. १. २४, ८, २ २८, ४, ७ ८७, ५।
९. १ २४, १०; १ २५, ६, १ ४४, १४, २ १४, २ २८, ८, ३. ५४, १८; ८: २५, २।
१० ७. ८७, ७।
११. वरुण को लक्ष्य करके लिखा गया निम्नलिखित सूक्त, जिसका म्योर ने पद्य में अनुवाद किया है ('ओरियटल सस्कृत टेक्स्ट्स', खड ५, पृष्ठ ६४), यद्यपि अथर्ववेद में से है (४. १६, १-५), फिर भी वैदिक आर्यो के ईश्वर-सम्बन्धी उच्च विचारों को हमारे सामने रखता है.

"ऊपर स्थित महान शक्तिशाली प्रभु हमारे कर्मों को मानो बिलकुल पास में हो, इस प्रकार देखता

के भाव एवं उससे छुटकारा पाने की प्रार्थना से अभिन्न थे। वैष्णवों और भागवतों का आस्तिक्यवाद जिसमें भक्ति पर बल दिया गया है, वैदिक वरुण की पूजा का ही रूप प्रतीत होता है जिसमें पाप सम्बन्धी ज्ञान एवं उसके लिए दैवीय क्षमा पर विश्वास प्रकट किया गया है। प्रोफेसर मैक्डानल का कहना है 'वरुण का स्वरूप उच्चतम प्रकार के एकेश्वरवाद में जो दैवीय शासक का रूप है उससे सादृश्य रखता है।'[1]

वह नियम जिसका वरुण अभिरक्षक है ऋत कहलाता है। ऋत का शब्दार्थ है वस्तुओं का कार्यविधि। ऋत से तात्पर्य साधारणत सब प्रकार के नियमों से है और न्याय के सर्वव्यापी भाव का भी यह द्योतक है। इस भाव का सुझाव प्रारम्भ में सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रगण की नियमित गतियों एवं दिन और रात के नियमित परिवर्तनों से एवं ऋतुओं के नियमित क्रम के कारण हुआ होगा। ऋत से तात्पर्य विश्व की व्यवस्था से भी है। इस विश्व में प्रत्येक पदार्थ में जो व्यवस्था पाई जाती है वह ऋत के ही कारण है। यह वही नियम है जिसे प्लेटो व्यापक नियमों के नाम से पुकारता है।[2] दृश्यमान जगत उसी ऋत

है देवता लोग सबके कर्मों को जानते हैं, भले ही मनुष्य अपने कर्मों को छिपाए। जो खड़ा है जो चलता है अथवा स्थान स्थान पर चोरी करके छिपता है, वह चाहे कैसे ही गुप्त स्थान में छिपे देवता लोग उसकी गति का पता लगा लेते हैं। जब कहीं दो व्यक्ति मिलकर षड्यन्त्र करते हैं और वे समझते हैं कि वे अकेले हैं तीसरा व्यक्ति राजा वरुण वहां विद्यमान है और उनकी सब योजनाएं प्रकट हो जाती हैं। यह पृथ्वी उस प्रभु की है यह विस्तृत अनन्त आकाश भी उसीका है दोनों समुद्र (अर्णव) उसीके अन्दर विश्राम करते हैं और तब भी वह उस छोटे जोहड़ में निवास करता है। जो कोई दूर आकाश में भागकर अपना मार्ग बनाना चाहता हो वह वरुण राजा की पहुंच से बचकर नहीं निकल सकता। उसके गुप्तचर आकाश से उतरकर इस समस्त जगत् के चारों तरफ घूमते हैं उनकी सहस्रों आंखें संसार के परले छोर तक को नाप सकती हैं। अन्तरिक्षलोक एवं पृथ्वीलोक में जो कुछ भी है और जो कुछ अन्तरिक्ष से भी परे है वरुण राजा को वह सब प्रत्यक्ष है। हरेक मरणधर्मा व्यक्ति की पलकों के निरन्तर झपकों को वह गिनता है वह इस व्यापक देह को ऐसे संभालता है जैसे जुआरी पासा फेंकता है। हे प्रभु दुष्टों को थामने के लिए जो जाल तुम फेंकते हो उसमें सब असत्यवादी फंस जाएं किन्तु सत्यवादी उससे बचे रहें।'

फिर मैं कैसे वरुण के समीप पहुंच सकता हूं? क्या वह मेरी आहुति को बिना क्रोध किए स्वीकार करेगा? मैं कब उसे शान्त मन से सन्तुष्ट देखूंगा?

मैं पूछता हूं हे वरुण! यह जानने की इच्छा से कि यह मेरा पाप है, मैं विद्वानों से पूछने जाता हूं और महात्माओं के पास जाकर पूछता हूं। सब मुझे एक ही बात कहते हैं अर्थात् यह वरुण है जो तुमसे नाराज है।

हे वरुण! क्या यह पुराने पाप के कारण है जो तुम अपने उस मित्र को जो सदा तुम्हारी प्रशंसा करता है नाश करना चाहते हो? मुझे बताओ हे अविजय प्रभु और मैं पाप से मुक्त होकर शीघ्र तुम्हारी प्रशंसा करने लग जाऊंगा।

हमें अपने पूर्वजों के पापों से मुक्त करो और उन पापों से भी दूर रखो जो हमने इस शरीर द्वारा किए हैं।

'हे वरुण! यह मेरा अपना जानबूझकर किया हुआ कर्म नहीं है वह अचानक हो गया यह नशा पिलानेवाला आचरण था क्रोध था एक जुए का पासा जो बिना विचारे फेंका गया।'

1. वैदिक माइथोलॉजी पृष्ठ ३।
2. इगन दर्शनशास्त्र की सामान्य प्रस्थापनाओं को यह स्वरूप देता है 'सृष्टि एवं ग्रहों की उत्पत्ति

की छायामात्र है जोकि एक स्थिरसत्ता है और सब प्रकार की उथल-पुथल एवं परिवर्तन की विक्रियाओ मे अपरिवर्तित रहती है। 'व्यापक नियम' विशिष्ट पदार्थ से पूर्व विद्यमान रहता है और इसीलिए वैदिक ऋषि का विचार है कि ऋत प्रत्येक घटना के प्रकाश में आने से पूर्व विद्यमान रहता है। ससार के परिवर्तनशील क्रम निरन्तर रहनेवाले ऋत की ही भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तिया हैं। और इसलिए ऋत को सबका जनक कहा गया है। "मरुद्गण ऋत के ही दूरस्थ स्थान से निकलते हैं।"[1] विष्णु ऋत की अविकसित अवस्था का नाम है।[2] द्युलोक और पृथ्वी भी ऋत के ही कारण द्युलोक और पृथ्वी कहलाते हैं।[3] अपरिवर्तनीय सत्ता के रहस्यपूर्ण भाव के चिह्न सबसे पूर्व यही दिखाई देते हैं। यथार्थ सत्ता अपरिवर्तनीय कानून है। जो दिखाई देता है वह अस्थायी प्रदर्शन है, एक अपूर्ण नकल है। यथार्थ सत्ता वह हे जिसमे विभाग अथवा परिवर्तन नही हैं जबकि अन्य सब परिवर्तनशील और नश्वर हैं। शीघ्र ही विश्व की यह व्यवस्था एक परम ईश्वर की स्थिर इच्छा के रूप मे परिणत हो जाती है, जो सदाचार एव साधुता का भी नियम है। देवता भी इसका अतिक्रमण नही कर सकते। ऋत (त्रिकालाबाधित सत्यरूपी नियम) के भाव मे भौतिक से दैवीय विकास को हम देख सकते है। ऋत का मौलिक तात्पर्य था, 'ससार, सूर्य चन्द्रमा, नक्षत्रगण, प्रात काल, सायकाल एव दिन और रात की गति का नियमित मार्ग।' शनै -शनै यह एक ऐसे सदाचार के मार्ग, जिनका अनुसरण मनुष्य को करना चाहिए, और साध्वाचार के नियम के अर्थो मे व्यवहृत होने लगा जिनका पालन देवताओ के लिए भी आवश्यक है। "सूर्योदय ऋत के मार्ग का अनुसरण करता है जो ठीक मार्ग है, मानो वह पहले से ही उन नियमो को जानता था। वह देशो का अतिक्रमण कभी नही करता। सूर्य भी ऋत के मार्ग का अनुसरण करता है।"[4] समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड ऋत पर आश्रित है और इसीके अन्दर रहकर गति करता है। ऋत के इस भाव से हमे वर्ड्सवर्थ का कर्तव्य के प्रति कहा हुआ निम्नलिखित[5] वाक्य स्मरण हो आता है :

तू ही तारागण को विपरीत मार्ग मे जाने से बचाता है।
और अत्यन्त प्राचीन द्युलोक भी तेरे द्वारा ही स्फूर्तिमान व बलशाली है।

भौतिक जगत् मे जिसे कानून कहा जाता है सदाचार-जगत् मे उसे ही धर्म कहते है। सदाचारी जीवन के सम्बन्ध मे जो यूनानी विद्वानो का विचार है कि वह एक व्यवस्थापूर्ण और समतायुक्त विषय हे, उसी भाव की झलक यहा मिलती है। वरुण, जो पहले भौतिक जगत् का रक्षक समझा जाता था, सदाचार की व्यवस्था का सरक्षक–'ऋतस्य गोप'–और पाप के लिए दण्ड देनेवाला बन गया। कितनी ही अवस्थाओ मे देवताओ से

से पूर्व वर्तमान ईश्वर।' मै इस उद्धरण के लिए प्रोफेसर जे० एम० मैकजी का कृतज्ञ हू। चीनी सत लाओ त्सू सृष्टि में व्याप्त एक विशेष व्यवस्था (अर्थात् ताओ) को स्वीकार करता है, जो उनके नीतिशास्त्र, दर्शन एव धर्म का नीव है।

१ ४ ७१, ३। २ १ · १५६, ३। ३. १० १२१, १।

४. १ . ७४, ८, हेराक्लिटस कहता है, "हेलिओस (सूर्य) अपनी परिधि का अतिक्रमण नही करता।"

५ ४ . २३, ६।

प्रार्थना की जाती है कि हम सन्मार्ग में चल पाएं। 'ऋ' 'इन्द्र' हम ऋत के मार्ग का निर्देश करा जो सब बुराइयों से ऊपर यथार्थ मार्ग है। 'जैसे ही ऋत के विचार को अपनाया गया, देवों के स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया। अब संसार अस्तव्यस्तता एवं उद्देश्यहीन आकस्मिक अवयवों से पूर्ण न होकर एक समता के क्रम में और विनय प्रयोजन के अनुसार कार्य करता हुआ प्रतीत होता है। जब कभी अविश्वास हम ललचाकर ग्रन्थ के विश्वास को टुकड़े टुकड़े करने लगता है तब इस प्रकार की भावना हमें सान्त्वना एवं शान्ति प्रदान करती है तथा सुरक्षा का भाव हमारे मन में आता है। चाहे कुछ भी क्यों न हो हम अनुभव करते हैं कि धर्म-सम्बन्धी एवं कानून सदाचार के क्षेत्र में वर्तमान है जो प्रकृति में स्थित सुन्दर व्यवस्था के ही अनुकूल है। जैसे सूर्य का अगले दिन उदय होना निश्चित है वैसे ही धर्म की विजय भी निश्चित है। ऋत के ऊपर भरोसा किया जा सकता है।

मित्रदेव भी वरुण का सहचारी है और साधारणतः उसी के साथ इसकी प्रार्थना की जाती है। वह कभी कभी सूर्य को और कभी प्रकाश को अभिव्यक्त करता है। वह एक सर्वद्रष्टा और सत्यप्रिय देवता भी है। मित्र और वरुण दोनों संयुक्त रूप में ऋत के संरक्षक हैं और पाप को क्षमा करनेवाले हैं। शनैः शनैः मित्र का सम्बन्ध प्रातःकालीन प्रकाश के साथ और वरुण का रात्रि के आकाश के साथ हो गया। वरुण और मित्र को आदित्य की संज्ञा भी दी जाती है, अर्थात् यह अर्यमन और भग के समान अदिति के पुत्र हैं।

सूर्यदेव संसार को प्रकाश देनेवाला है। उसे सम्बोधन करते हुए दस सूक्त मिलते हैं। सूर्य की पूजा मनुष्य के मानस के लिए स्वाभाविक है। यह यूनानी धर्म का एक आवश्यक अंग है। प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' में सूर्यपूजा को आदर्श बताया है। उसके मत में सूर्य धर्म का प्रतीकस्वरूप है। फारस देश में हम सूर्यपूजा का विधान मिलता है। सूर्य जो संसार में प्रकाश एवं जीवन का कर्ता है अतिप्राकृतिक शक्ति से सम्पन्न है। यह समस्त स्थावर और जंगम जगत का जीवन है। वह सर्वद्रष्टा है और ऊपर से चुपके चुपके सारे जगत का पर्यवेक्षण करता है। वह मनुष्यों को अपने अपने कर्मों में प्रवृत्त होने के लिए जगाता है, अन्धकार को दूर करता है और प्रकाश देता है। 'सूर्य दोनों लोकों में संचार के लिए मनुष्यों पर निगाह रखते हुए उदय होता है। वह सब स्थावर एवं जंगम जगत का रक्षक और मनुष्यों के अच्छे व बुरे कर्मों का साक्षी है।'[२] सूर्य जगत का रचयिता और शासनकर्ता भी है।

सम्पूर्ण ११ सूक्तों में विख्यात सविता भी एक सूर्यदेवता है। स्वर्णाक्षि स्वर्णहस्त और स्वर्णजिह्वा वाले के रूप में उसका वर्णन किया गया है। उसे कभी-कभी तो सूर्य से भिन्न बतलाया गया है यद्यपि कभी-कभी सूर्य के साथ उसका तादात्म्य भी दिखाया गया है।[३] सविता केवल देदीप्यमान दिन के उज्ज्वल सूर्य को ही नहीं अपितु रात्रि के अदृश्य सूर्य को भी दर्शाता है। उसका एक उच्च सदाचारी पक्ष है जिसकी प्रार्थना पश्चात्ताप करनेवाले पापी लोग अपने पाप के मार्जन के लिए करते हैं। जो भी अपराध हमने स्वर्ग

१ १ १३३ ६। २ ऋग्वेद ७ ६ । ३ ऋग्वेद ७ ६३।

के देवताओ के प्रति किया हो, विचार की निर्बलता के कारण अथवा शारीरिक दुर्बलता के कारण अथवा गर्व के कारण अथवा मनुष्य-स्वभाव के कारण, हे सविता, हमसे उस पाप को दूर करो।"[1] गायत्री मत्र भी सूर्य को सविता के रूप मानकर सम्बोधन किया गया है। "आओ, हम सविता के उस अर्चनीय तेज का ध्यान करे जिससे कि वह हमारी बुद्धियो को ज्ञान के द्वारा प्रकाशित करे।" यजुर्वेद का मत्र, जिसे प्राय उद्धृत किया जाता है, सविता को ही सम्बोधन करता है, "हे ईश्वर, सविता, सबके स्रष्टा, बाधाओ को दूर करके, हमे जो कुछ कल्याणकारी है उसकी प्राप्ति कराओ।"

सूर्य ही विष्णु के रूप मे सब लोको को धारण करता है।[2] विष्णु त्रिपाद देवता है जो पृथ्वी, द्युलोक और अन्यान्य ऊचे लोको को, जो मरणधर्मा मनुष्यो के इन्द्रियगोचर है, आच्छादित करता है। उसकी महत्ता को पहुचना कठिन है। "हे विष्णु, हम इस पृथ्वी से तेरे दो ही लोको को जान सकते है, किन्तु तेरा अपना जो सबसे ऊचा स्थान है, उसे केवल तू ही जान सकता है।"[3] ऋग्वेद मे विष्णु को गौण स्थान पर रखा गया है, यद्यपि उसके आगे महान भविष्य है। वैष्णवधर्म का मूल ऋग्वेद मे पाया जाता है, जहा कि विष्णु को 'बृहत्-शरीर' करके कहा गया है, अर्थात् जिसका शरीर बडा है, अथवा ससार मात्र जिसका शरीर है, 'प्रत्येत्याहवम्', अर्थात् जो भक्तो के बुलाने पर आ उपस्थित होता है।[4] उसके लिए कहा जाता है कि विपद्ग्रस्त मनुष्य के लिए उसने पृथ्वी को तीन पगो मे नाप लिया।[5]

पूषन् सौर जगत् का एक और देवता है। प्रत्यक्ष रूप मे वह मनुष्य का मित्र है—चरागाह का देवता अर्थात् पशुओ का सरक्षक। वह यात्रियो और कृषको का देवता है।

रस्किन कहता है, "एक यथार्थ विचारक मनुष्य के लिए सूर्योदय से बढकर कोई और गम्भीर धार्मिक अनुष्ठान नही है।" असीम प्रभातवेला जो प्रत्येक प्रात.काल मे दिग्दिगन्त मे प्रकाश एव जीवन को प्रक्षिप्त करती है, उषादेवी के रूप मे प्रकट होती है, जिसे यूनानी साहित्य मे इओस कहा गया है, जिससे प्रात काल की उज्ज्वल कन्या के रूप मे अश्विनी देवता-युगल एव सूर्य दोनो प्रेम करते है, किन्तु जो सूर्य के सामने तिरोहित हो जाती है जबकि वह अपनी स्वर्णिम किरणो से उसका आलिंगन करना चाहता है।

लगभग पचास पूरे मन्त्रो मे, और बहुत-से अन्य मन्त्रो मे भी अशरूप से, अश्विनी बन्धुओ की प्रार्थना की गई है।[6] वे अविच्छेद्य युगल है जो उज्ज्वल दीप्ति के स्वामी, शक्तिशाली एव द्रुतगामी और गरुड के समान वेगवान है। वे द्युलोक के पुत्र है और उषा उनकी बहन है। यह कल्पना की जाती है कि सन्ध्याकाल की घटना उनका मुख्य आधार है। यही कारण है कि हमे दो अश्विनी बन्धु बतलाए गए है, जो सूर्योदय और सूर्यास्त के प्रतिरूप है। आगे चलकर ये अश्विनी बन्धु देवताओ एव मनुष्यो के वैद्य बन गए—अद्भुत कार्यकर्ता, एव वैवाहिक प्रेम और जीवन के रक्षक तथा दलितवर्ग को सब प्रकार के दु खो से छुटकारा दिलानेवाले।

१. ४ ५४, ३। २. १ २२, १५४। ३. १. २२, १८, ७ ५६, १–२।
४. १ १५५, ६। ५ 'मानवे बाधिताय', ४ ६।
६ 'अश्विन्यौ' का शब्दार्थ है घुडसवार।

हम पहले ही अदिति का वर्णन कर चुके हैं जिससे अनेक देवताओं की जिन्हें आदित्य नाम से पुकारा जाता है उत्पत्ति हुई है। अदिति का तात्पर्य है असीम एवं बन्धनरहित। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाम उस अदृश्य अनन्त का है जो हमारे चारों ओर व्याप्त है और जो पृथ्वी से भी दूर अनन्त विस्तृत क्षेत्र है अर्थात् मेघमाला एवं आकाश भी अदिति हैं। यह उस सबका जो यहां और इससे भी परे है अपरिमित आधारस्वरूप है।' अदिति आकाश है अदिति मध्यवर्ती देश भी है अदिति पिता और माता एवं पुत्र है। अदिति सब देवता हैं और पञ्चजन भी अदिति हैं जो उत्पन्न हुआ है और जो भविष्य में उत्पन्न होगा वह सब अदिति है।[1] यहां हम एक व्यापक सबकी इच्छा की पूर्ति करनेवाली, सर्वोत्पादक अनन्त शक्तिशाली प्रकृति के निजी रूप की पूर्वानुभूति होती है जिसे सांख्य में भी प्रकृति कहा गया है। यह अनादिसमुद्र की अनन्त सत्ता की समानान्तर है।

प्रकृति का एक महत्त्वपूर्ण चमत्कार जिसे बाकायदे देवी का पद दिया गया है 'अग्नि' है। अग्नि[2] का महत्त्व केवल इन्द्र के नीचे दूसरे दर्जे पर है जिसे कम से कम २०० मन्त्रों में सम्बोधित किया गया है। अग्नि का विचार प्रखर दाहक सूर्य से उत्पन्न हुआ जो अपनी गर्मी से न जलने योग्य पदार्थ को भी जला देता है। यह बिजली की भांति ही बादलों से आई। इसका उद्गमस्थान चकमक पत्थर भी है।[3] यह अरणी नामक लकड़ियों से भी निकलती है। ऐसा समझा जाता है कि मातरिश्वा प्रोमिथियस की भांति अग्नि को आकाश से पृथ्वी पर वापस लाया और भृगु लोगों[4] को इसकी रक्षा का भार सौंपा। अग्निदेवता के भौतिक स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया जाता है कि उसके पिंगल रंग की दाढ़ी है तेज जबड़े हैं और जलते हुए दांत हैं। लकड़ी और घी उसका भोजन है। वह सूर्य के समान रात्रि के अन्धकार को दूर करता हुआ चमकता है। जब वह वनों पर आक्रमण करता है तो उसका मार्ग कृष्णवर्ण होता है और उसकी आवाज द्युलोक की बिजली की कड़क के समान होती है। वह धूमकेतु है। हे अग्नि यह काष्ठ जिसे मैं तुम्हें अर्पित करता हूं स्वीकार करो। इसको चमक के साथ जलाओ और अपने पवित्र धुएं को ऊपर भेजो अपनी सटा से आकाश के उच्चतम भाग का स्पर्श करो और सूर्य की किरणों में मिल जाओ।[5] इस प्रकार अग्नि का निवास केवल पृथ्वी पर अंगीठी में अथवा वेदी में ही नहीं किन्तु आकाश में और अन्तरिक्ष में भी है उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्य और प्रभातवेला एवं बादलों में बिजली वर्तमान है। अग्निदेवता शीघ्र ही परमदेव बन जाता है जिसका विस्तार द्युलोक एवं पृथ्वी दोनों जगहों में है। ज्यों-ज्यों अग्निदेवता का भाव अधिकाधिक अमूर्तरूप पकड़ता गया यह उत्तरोत्तर उत्कृष्ट एवं अलौकिक रूप धारण करता गया। इसने देवताओं और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ होने का एवं सबका सहायक होने का रूप धारण किया। हे अग्नि हम यहां आहुति के लिए वरुण को प्राप्त कराओ इन्द्र को आकाशलोक से और मरुतों को वायुलोक से ले आओ।[6] मैं अग्नि को अपना पिता करके

1. ऋग्वेद १ ८६।
2. लैटिन भाषा में इग्निस्।
3. २ १२ ३।
4. एक जाति विशेष का नाम।
5. ऋग्वेद ३ ६।
6. ऋग्वेद १ ७ ११।

मानता हू। मैं उसे अपना बन्धु करके मानता हू, अपना भाई और मित्र भी मानता हू।"[१]

सोम जोकि स्फूर्ति का देवता है, अमर जीवन का दाता है, जिन्दावस्ता के हाओमा के सदृश है और यूनान के 'डायोनिसस' के समान है, मदिरा और द्राक्षा का देवता है। दु खी मनुष्य अपने दु खो को भूल जाने के विचार से मत्त होना चाहता है। जब वह पहले-पहल किसी मादक द्रव्य का आश्रय लेता है तो उसे अपूर्व आह्लाद का स्पन्दन अनुभव होता है। इसमे सन्देह नही कि वह उन्मत्त हो जाता है। किन्तु वह सोचता है कि यह दैवीय उन्माद है। जिन्हे हम आध्यात्मिक दृष्टि, आकस्मिक प्रकाश, गम्भीरतम अन्तर्दृष्टि, वृहत्तर वदान्यता एव विस्तृत विचार कहते है वे सब आत्मा की दैवीय प्रेरणायुक्त अवस्था के साथ-साथ ही आते है। इसमे कुछ आश्चर्य की बात नही है कि मदिरा, जो आत्मा को ऊचा उठाती है, दैवीय स्थिति को प्राप्त हो जाती हो। व्हिटनी का कहना है, "सरलचित्त आर्य लोगो ने, जिनकी समस्त पूजा आश्चर्यमय शक्तियो की और प्राकृतिक घटनाओ की होती थी, शीघ्र ही यह अनुभव किया कि उक्त तरल पदार्थ मे आत्मिक शक्तियो को ऊचा उठाने का सामर्थ्य है और वह एक प्रकार का अस्थायी उन्माद उत्पन्न कर देता है, जिसके प्रभाव मे मनुष्य ऐसे-ऐसे कार्य कर डालने की ओर प्रवृत्त हो जाता है और उनके लिए उसमे शक्ति भी आ जाती है, जो उसकी नैसर्गिक शक्ति से वाहर होते है, और इसीलिए उन्हे इसमे कुछ दिव्यता की भावना प्रतीत हुई। उनके विचार मे यह एक ऐसे देवता-स्वरूप थी जो मद्यपो के अन्दर प्रविष्ट होकर उनमे ईश्वरतुल्य शक्तियो का समावेश कर देती है। और इस शक्ति को देनेवाला वह सोम का पौधा उनके लिए वनस्पति का राजा वन गया तथा मदिरा तैयार करने की विधि पवित्र यज्ञ वन गई। उसके लिए जिन औजारो का प्रयोग किया गया वे भी पवित्र माने जाने लगे। यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है। इस वात की साक्षी उन उद्धरणो से मिलती है जो पारसियो की अवस्ता मे पाए जाते हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की भूमि पर इसे एक नई प्रेरणा मिली।"[२] इस भूमि पर सोम का पूर्णरूप मे मानवीकरण नही हुआ। वह पौधा और उसका रस कवि के मानस मे इतने स्पष्ट रूप मे वैठा हुआ है कि वह उन्हे आसानी से देवत्व प्राप्त नही करा सकता। सोम को सम्वोधित मत्र उस समय गाए जाने के लिए थे जवकि पौधे से रस निकाला जाता था। "हे सोम! तुम, जिसे इन्द्र के पानपात्र मे डाला गया है, पवित्रता-पूर्वक एक अत्यन्त मधुर और उल्लासकारी धारा के रूप मे प्रवाहित होओ।"[३] आठवें मडल के ४८,३ सूक्त मे पूजा करनेवाले उच्च स्वर से हर्ष प्रकट करते हुए कहते हैं, "हमने सोम का पान किया है, हम अमर हो गए, हमने प्रकाश मे प्रवेश पा लिया, हमने देवताओ का ज्ञान प्राप्त कर लिया।" इस आध्यात्मिक हर्षोन्माद का शारीरिक उन्मत्तता के साथ मिश्रण केवल वैदिक काल की ही विशेषता नही है। विलियम जेम्स हमे वताता है कि

१. ऋग्वेद, १० . ७, ३।
२. 'जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी', ३ ' २९२।
३. ९ : १।

की गायन की धराश हुए हुए प्रकाशमान तारकाओं की पंक्तियों के समान है। यह समझा जाता है कि हम निष्ठ सत्ता का मौलिक उपादान का अवस्था में पाकर प्राप्त कर सकता है। पार १ में सोम ने तात्कालिक उपासकों की शक्ति भी प्राप्त कर ली जिसने पृथ्वी का दमन और सत्रुओं को पराजय की शक्ति प्राप्त हो गई।¹ सोम का उद्बोधित करने निमित्त लिखे गये सूक्त में हमें प्रतीत होता है कि इसके प्रति भक्ति भावों का कितना अनुराग था

> हे सोम मुझे उस जगत् में स्थान दो जहां नित्य प्रकाश है। उस अमर और अविनश्वर लोक में स्थान दो जहां सूर्य का स्थान है। जहां विवस्वत् का पुत्र राज्य करता है जहां स्वर्ग का गुप्त स्थान है जहां ये शक्तिशाली नदियां हैं वहां मुझे अमरत्व प्राप्त कराओ। जहां जीवन बंधनरहित है आकाश के भी तीसरे लोक स्वर्ग में जहां जगत् प्रकाशमान है उस लोक में मुझे अमर बनाकर स्थान दो। जहां इच्छाएं और आशाएं वर्तमान हैं, जहां चमकीले सोम का पान हो जहां भोजन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो और प्रसन्नता ही प्रसन्नता हो उस लोक में मुझे अमर करो। जहां सुख और आनन्द है जहां हर्ष और सुख निवास करते हैं जहां हमारी इच्छाओं की भी इच्छा पूर्ण हो जाती है, वहां मुझे अमरता प्राप्त कराओ।²

ऊपर उद्धृत किए गए सोमसूक्त में विवस्वत के पुत्र का उल्लेख है जो ऋग्वेद का यम है और यह जिन्दावस्ता के विवन्हृत का पुत्र यीमा के समान है। यम को सम्बोधित करते हुए तीन सूक्त हैं। वह मृत पुरुषों का सरदार है मृतों का देवता नहीं किन्तु शासक के रूप में है। मर्त्य मानवों में वह सबसे पहला था जिसे परलोक के लिए अपना मार्ग बनाना पड़ा और वही पहला था जो पितरों के मार्ग पर अग्रगामी हुआ।³ उसके पश्चात् अब वह अतिथि के रूप में नवागन्तुकों का स्वागत करता है। वह उस राज्य का राजा है क्योंकि उसे इसका सबसे अधिक चिरकाल का अनुभव है। कभी-कभी उसका आह्वान अस्ताचलगामी सूर्य के आह्वान के समान किया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में यम न्यायाधीश एवं मनुष्यों को दण्ड देनेवाला बन गया है। किन्तु ऋग्वेद में वह अभी केवल उनका राजा ही है। यम उस कथन की सत्यता का उदाहरण उपस्थित करता है जो ल्यूसियन ने हेराक्लिटस के मुख से कहलाया है मनुष्य कौन हैं? मर्त्य देव हैं। और देव क्या हैं? अमरत्व को प्राप्त मनुष्य।

पर्जन्य आर्यों का आकाश का देवता था। आर्य लोगों के भारत में प्रवेश करने के पश्चात् वह इन्द्र बन गया क्योंकि इन्द्र आर्य परिवार के अन्य सदस्यों की विदित नहीं था ऐसा प्रतीत होता है। वेदों के अन्दर पर्जन्य आकाश का दूसरा नाम है। 'पृथ्वी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूं पर्जन्य पिता है वह हमारी सहायता करे।'⁴ अथर्ववेद में भूमि का

१ ७ ६८ २ और १ २५, ११।

२ सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट वैदिकसूक्त भाग १। देखें गिलबर्ट मरे 'फाइव स्टेजेज आफ ग्रीक रिलीजन' का अनुवाद पृष्ठ ७।

३ पितयान १ २ ७१ ४ १० १४। ५ अथर्ववेद १२ १, १२।

पर्जन्य की स्त्री करके कहा गया है।[1] पर्जन्य मेघ और वर्षा का देवता है।[2] वह एक देवता के समान समस्त जगत् का शासन करता है। वह समस्त स्थावर और जगम जगत् का जीवन-प्राण है।[3] ऐसे भी लेखाश है जिनमे पर्जन्य शब्द मेघ अथवा वर्षा के लिए प्रयुक्त हुआ है।[4] मैक्समूलर की सम्मति मे पर्जन्य लिथूएनियन के विद्युत् के देवता पेरकुनास[5] के समान है।

समस्त प्राकृतिक घटनाओमे, जो श्रद्धायुत विस्मय एव आतक को उत्पन्न करती है, वज्र-झझावात से बढकर दूसरी कोई घटना नही है। इन्द्र कहता है, "जब मै आधी-तूफान भेजता हू या बिजली चमकाता हू तब तुम मुझे मानते हो।" इन्द्र को सम्बोधन करके कहे गए सूक्तो को देखकर कहा जा सकता है कि इन्द्र वेदों का सबमे अधिक लोकप्रिय देवता है। जब आर्य लोग भारत मे आए तब उन्होने अनुभव किया कि उनका धन-वैभव केवल वर्षा की सभावना के ऊपर ही निर्भर करता है, जैसे आज भी है। स्वभावतः वर्षा का देवता भारतीय आर्यो का राष्ट्रीय देवता बन गया। नीलाभ आकाश की अन्तरिक्ष-सम्बन्धी घटनाओ का देवता इन्द्र है। वह भारतीय जीयस है। उसका प्राकृतिक उद्गम-स्थान प्रकट है। उसकी उत्पत्ति जल एव मेघ से है। वह वज्र धारण करता है एवं अन्धकार पर विजय पाता है। वह हमे प्रकाश एव जीवन देता है, शक्ति और ताज़गी देता है। आकाश उसके आगे मस्तक झुकाता है और पृथ्वी उसके आने पर काप जाती है। शनै -शनै आकाश एव वज्र-झझावात के साथ जो इन्द्र का सम्बन्ध था उसे भुला दिया गया। वह दैवीय आत्मा का रूप धारण कर लेता है, सारे ससार का एव प्राणिमात्र का शासक बन जाता है, जो सबको देखता एव सब कुछ सुनता है और मनुष्यो के अन्दर सर्वोत्तम विचारों व मनोभावो के लिए अन्त प्रेरणा उत्पन्न करता है।[6] झझावात का देवता तूफान के दैत्यो एव अन्धकार को परास्त करके आर्यो के इस देश के आदिवासियो के साथ जो युद्ध हुए उनमे विजय प्राप्त करानेवाला देवता बन गया। वह काल अत्यन्त कर्मठता का काल था और लोग उस काल मे विजय एव पराजय के साहसिक कार्यों मे जुटे हुए थे। इस देश के विधर्मी आदिमवासियो से उसे कुछ वास्ता नही था। "उस वीर देवता ने उत्पन्न होने के साथ ही अन्य देवताओ का नायकत्व अपने हाथ मे लिया, जिसके आगे दोनों लोक कांपते थे, हे मनुष्यो, वह इन्द्र है, जो द्रुतगति से पृथ्वी पर चलकर पहाडो को उठाए हुए है, अन्तरिक्ष को जिसने नाप लिया और द्युलोक को जिसने सभाल लिया है, हे मनुष्यो, वह इन्द्र है, जिसने सर्प को मारकर सात नदियो को स्वतन्त्र किया, गौओ की रक्षा की, जो युद्ध मे शत्रुओ को कुचलनेवाला है, हे मनुष्यो, वह इन्द्र है; वह भयानक देवता, जिसके

१. १२ : १, ४२।
२. ऋग्वेद, ५ : ८३।
३. ऋग्वेद, ७ : १०१, ६।
४. देखिए ऋग्वेद, १ १६४, ५; ७ : ६१।
५. 'इंडिया; व्हट कैन इट टीच अस ?' नामक पुस्तक में व्याख्यान ६।
६. ८ . ३७, ३, ८ : ७८, ५।

विषय में सन्देह करते हुए तुम पूछते हो कि वह कहा है और कहते हो कि उसकी सत्ता नहीं है वह जो कि शत्रुओं की सम्पत्ति को छीन लेता है उसमें विश्वास रखो हे मनुष्यो, वह इन्द्र है जिसकी शक्ति से ही घोडो मे और पशुओ मे और सशस्त्र सेनाओ मे शक्ति है और जिस युद्ध मे दोनो ओर के योद्धा पुकारते हैं ए मनुष्यो वह इन्द्र है, जिसकी सहायता के बिना मनुष्य कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकते जिसका बाण पापियो का नाश करता है हे मनुष्यो वही इन्द्र है।[1] यह सर्वविजयी देवता उच्चतम दैवीय गुणो की प्राप्ति करता है आकाश के ऊपर शासन करता है पृथ्वी, नदिया समुद्रो और पर्वतो पर भी शासन करता है।[2] और आगे चलकर वरुण को उसके वन्दित देवालय में सर्वोपरि पद से गिरा देता है। वरुण के समान भव्य न्यायकारी और सौम्य अपने प्रयोजन मे एकरस रहने वाला देवता सघर्ष एव विजय के काल में जिसमें आर्य लोगो ने प्रवेश किया था उपयुक्त नहीं रह गया था। इस प्रकार हम वैदिक जगत में कुछ मूकता में एक महान क्रान्ति की पुकार सुनते हैं।[3]

इन्द्र को उन अन्य देवताओ के साथ भी युद्ध करना पडा जो भारत में बसी हुई विभिन्न वन्य जातियो द्वारा पूजे जाते थे। उनमे नदियो के पूजक थे, अश्वत्थवृक्ष के पूजक थे।[4] बहुत से दैत्य जिनसे इन्द्र ने युद्ध किया था वन्य जातियो के देवता थे जैसे वृत्र, एव

१ ऋग्वेद २ १२।   २ १ ८६, १ ।

३ वरुण कहता है मैं राजा हू मेरी प्रभुता है सब देवता मेरे अधीन है, मैंने सबको व्यापक नियम दिए हैं। वरुण के आदेशों का अनुसरण करो। मनुष्यों के उच्चतम उपासना गृह में मेरा शासन है। मैं राजा वरुण हू। हे इन्द्र, मैं वरुण हू और दोनों विस्तृत गम्भीर और आनन्दायक ससार मेरे ही हैं। एक बुद्धिमान स्रष्टा के रूप में मैंने ही सब प्राणियों को बनाया है। अन्तरिक्षलोक और पृथ्वी लोक मेरे द्वारा ही सुरक्षित हैं। मैंने बहते पानी में ज्वार उत्पन्न किया। मैंने ही अन्तरिक्ष को अपने पवित्र स्थान में स्थिर किया। मैं ही पवित्र आदित्य हू जो त्रिविध जगत् (अर्थात् अन्तरिक्षलोक भूलोक और वायुमण्डल) का विस्तार करता हू।

इन्द्र उत्तर देता है 'घुड़सवार जब युद्ध में सब तरफ से घिर जाते हैं तो मेरा ही आह्वान करते हैं। मैं अत्यन्त शक्तिशाली हू मैं युद्ध को उभारता हू एव अपनी सर्वोपरि शक्ति के द्वारा आधी तूफान लाता हू। यह सब मेरा ही किया हुआ है और सब देवताओं की सम्मिलित शक्ति भी मुझे नहीं रोक सकती। मैं अपराजित हू। जब मैं उदकपान एव प्रार्थनाओं द्वारा प्रसन्न किया जाता हू तो दोनों असीम जगत् काप उठते हैं।'

ऋषि कहता है, 'यह सब काम तुम करते हो, सब प्राणी जानते हैं और अब तुमने, हे शासक वरुण के प्रति भी इसकी घोषणा की है हे इन्द्र मनुष्य असुर के मारनेवाले के रूप में तेरी स्तुति करते हैं। तुम्हीं बद्ध नलों को मुक्त करके प्रवाहित करते हो। (४ ४२)

'अब मैं पिता असुर को विदा देता हू। मैं उसके पास से ऐसे मनुष्य के पास जाता हू जिसे यज्ञ की आहुतियां न दी गई हों और उसके पास भी जाता हू जिसके प्रति मनुष्य दया करते हैं। इन्द्र को चुनने के लिए मैं अपने पिता को भी छोड़ देता हू यद्यपि अनेकों वर्ष मैं इसके साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध में रहा हू। अग्नि वरुण और सोम को अब राज्य अर्थ नहीं स्वीकार करना चाहिए क्योंकि शासन अब दूसरे के हाथ में जाता है। मैंने इसे आते देखा है। (१ १२४)

४ १० ६ १-३।   ५ ऋग्वेद १ १३५, ८।

सर्प ।[1] इन्द्र का एक अन्यतम शत्रु ऋग्वेद के काल मे कृष्ण था, जो कृष्ण नामक वन्य-जातियो का देवतास्वरूप वीरनायक था। छन्द इस प्रकार है, "फुर्तीला कृष्ण अशुमती (यमुना) के किनारे अपनी दस सहस्र सेनाओ के साथ रहता था। इन्द्र ने अपनी बुद्धि से ऊचे स्वर से चीत्कार करनेवाले इस सरदार का पता लगाया। उसने हमारे लाभ के लिए इस लूटमार करनेवाले शत्रु का विनाश किया।"[2] सायणाचार्य ने इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की है और यह कथा कृष्ण-सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे अपना कुछ महत्त्व रखती है। परवर्ती समय के पुराणो मे इन्द्र और कृष्ण के विरोध का प्रसग पाया जाता है। यह हो सकता है कि कृष्ण, जो चरवाहो की जाति का देवता है और जिसे ऋग्वेदकाल मे इन्द्र ने परास्त किया था, भले ही भगवद्गीता के काल मे उसने अपनी खोई हुई भूमि को फिर से विजय करके प्राप्त कर लिया हो और भागवतो के वासुदेव एव वैष्णवो के विष्णु के रूप मे फिर से अत्यधिक बल प्राप्त कर लिया हो। इस विविध प्रकार के उद्भव एव इतिहास ने उसे 'भगवद्गीता' के रचयिता एव परब्रह्म के अवतार और यमुना के किनारे बसी बजानेवाले ग्वाल का रूप दिया।[3]

इन्द्र के साथ अनेक छोटे-छोटे देवता अन्तरिक्ष-सम्बन्धी अन्य प्रकार के चमत्कारो का प्रतिनिधित्व करते है, यथा वात (वायु), मरुद्गण, भयङ्कर तूफान के देवता और रुद्र भयङ्कर शब्द करनेवाला। वायु के विषय मे कवि कहता है, "वह कहा उत्पन्न हुआ और कहा से आ धमका, जो देवताओ का जीवन और जगत् का अकुर है? वह देवता सर्वत्र गति करता है, जहा कही वह सुनता है, उसके शब्द सुनाई पडते है किन्तु वह दिखाई नही देता।"[4] वात एक भारतीय-ईरानी देवता है। मरुद्गण उन बडे-बडे आधी-तूफानो के देवता है जो भारत मे बहुत अधिक आते है। "जब वायु धूल और बादलो से काली हो जाती है, जबकि क्षणमात्र मे वृक्षो के सारे पत्ते झड जाते है, उनकी शाखाए कापने लगती है, तने टूट जाते है, जबकि पृथ्वी कापती हुई प्रतीत होती है और पहाड हिल जाते है और नदियो मे भी उथल-पुथल मच जाती है।"[5] मरुद्गण साधारणत शक्तिपूर्ण और नाशक होते है, किन्तु कभी-कभी दयालु और परोपकारी भी सिद्ध होते है। वे एक सिरे से दूसरे सिरे तक ससार पर वेग से प्रहार करते है अथवा वायु को शुद्ध करते हैं और वर्षा लाते

१. ऋग्वेद, ६ ' ३२, २; ६ . २९, ६।

२. ८ : ८५, १३--१५।

३. आगे चलकर कृष्ण-सम्प्रदाय सर्प आदि निम्न श्रेणियों की पूजा करनेवाला एव इन्द्र के पूजकों से श्रेष्ठ गिना जाने लगा। भगिनी निवेदिता लिखती है, "कृष्ण कालिय सर्प का दमन करता है और अपने पाव का चिह्न उसके सिर पर अंकित कर देता है। यहा भी वही सघर्ष है जो हमें नागेश्वर शिव के व्यक्तित्व में मिलता है, अर्थात नये भक्तिपरक विश्वास एव पुरानी परम्परागत सर्पपूजा के मध्य संघर्ष। कृष्ण ग्वालों को प्रेरणा देता है कि वे इन्द्र की पूजा छोड दें। यहा वह प्रत्यक्ष रूप में उन पुराने वैदिक देवताओं से ऊपर उठने को कहता है जो, आज भी हिमालय के कुछ अचलों की भाति, ब्रह्म के मध्यस्थापन का कुछ ज्ञान नहीं रखते।" ('फुटफाल्स आफ इण्डियन हिस्ट्री', पृष्ठ २१२)

४. १० १६८,३४।

५. मैक्समूलर कृत 'इण्डिया: इट कैन इट टीच अस ?' पृष्ठ १८०।

हैं।[1] वे इन्द्र के सहचर और द्यौ के पुत्र हैं। कभी-कभी इन्द्र को मरुद्गणों में सबसे बड़ा कहा गया है। अपने रौद्र स्वभाव के कारण वे रुद्र के पुत्र समझे जाते हैं—रुद्र युद्ध का देवता है।[2] ऋग्वेद में रुद्र की बहुत गौण स्थिति है जिसकी स्तुति केवल तीन ही सूक्तों में पाई जाती है। वह अपनी भुजाओं में वज्र धारण करता है और आकाश से बिजली के बाण छोड़ता है। बाद में वही कल्याणकारी शिव बन जाता है और उसकी परम्परा का सारा विकास उसके इर्द गिर्द आ जुटता है।[3]

इसी प्रकार कुछ देवियों का भी विकास हुआ। उषा और अदिति देवियां हैं। सिन्धु नदी की एक सूक्त में देवी के रूप में ख्याति पाई जाती है। और सरस्वती जो पहले एक नदी का नाम था शनैः शनैः विद्या की देवी बन गई।[4] वाक् वाणी की देवी है। अरण्यानी जंगल की देवी है।[5] अर्वाचीन शाक्त सम्प्रदाय ने ऋग्वेद-वर्णित देवियों का उपयोग किया। वसिष्ठ आदि ज्यों ही पूजा के योग्य उस दैवीय प्रकाश का जो सारे कूड़-करकट को भस्म करके राख बना डालता है ध्यान करने लगे तो उन्होंने ईश्वर की शक्ति की ही उपासना प्रारम्भ की। "आओ हे शक्ति! तुम जो हमारी प्रार्थनाओं को स्वीकार कर इच्छित फल प्रदान करती हो तुम ही अनश्वर हो और ब्रह्म के तुल्य हो।"

जब विचारधारा ने प्राकृतिक जगत से आध्यात्मिक जगत की ओर एवं भौतिक से आत्मिक जगत की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया तो अमूर्त देवी देवताओं की कल्पना करना सरल हो गया। इस प्रकार के अधिकांश देवी देवता ऋग्वेद के अन्तिम भाग में मिलते हैं जिससे संकेत मिलता है कि उनकी उत्पत्ति अपेक्षाकृत बाद में हुई। हम मन्यु, श्रद्धा[6] आदि को पाते हैं। कतिपय गुणों को लेकर जो परमात्मा के यथार्थ भाव के साथ जुड़ हुए हैं उन्हें देवता का रूप दे दिया गया है। त्वष्टा जिसे कभी कभी सविता[7] के साथ मिला दिया गया है सृष्टि का स्रष्टा है। उसने इन्द्र का वज्र बनाया, ब्रह्मणस्पति के परशु को तेज किया ऐसे पात्रों का निर्माण किया जिनमें देवगण सोमपान करते हैं और अन्य सब जीवित पदार्थों को भी आकृति प्रदान की। बृहस्पति बहुत ही आधुनिक देवता है जो उस काल का है जबकि यज्ञों का प्राधान्य हो गया था। प्रारम्भ में जो प्रार्थना का उपास्य देव था शीघ्र ही यज्ञ का देवता बन गया। हम उसमें विशुद्ध वैदिक धर्म के भाव और अर्वाचीन समय के ब्राह्मण धर्म में होनेवाला संक्रमण देखते हैं।[11]

१ ऋग्वेद १ ३७ ११ १ ६४, ६ १ ८६, १० २ ३४ १२।

२ १ ६४, २।

३ ऋग्वेद, ७ ४६ ३ १ ११४, १० १ ११४ १।

४ १ ७५ २ ४ ६। ५ ६ ६१। ६ १० १४६।

७ आयातु वरदा देवी अक्षरं ब्रह्मसम्मितम्, तैत्तिरीय आरण्यक १ ३४ ५२।

८ 'राथ' १० ८३ ४। ९ आख्या १० १५१। १ ३ ५५ ११।

११ रौथ कहता है ऐसे सब देवताओं को जिनके नाम के साथ पति (अथवा स्वामी) का प्रयोग होता है अपेक्षाकृत आधुनिक समझना चाहिए। इन पदों का बनना बाद के विचार का परिणाम है। किन्तु इस प्रकार का एक सामान्य धारणा बना लेना अनुचित है जैसे वास्तोष्पति (यह प्राचीन देवता है) मुझे इसका परिचय प्रोफेसर कीथ से मिला।

६

अद्वैतवादी प्रवृत्तियां

जैसा कि हम आगे चलकर अथर्ववेद की विवेचना मे देखेगे, आर्य-जगत् की सीमाओ से परे के रहस्यवादी विचार, जो एक बिलकुल भिन्न विचारधारा के अग थे, वैदिक देवमाला मे भी प्रवेश कर गए। देवी-देवताओ की इस भीड ने बुद्धि को अत्यन्त परेशान कर दिया। इसलिए बहुत पहले से एक ऐसी प्रवृत्ति ने जन्म लिया, जिसके अनुसार या तो एक देवता को दूसरे देवता के साथ मिला दिया जाए या सभी देवताओ को एकत्र कर दिया जाए। वर्गीकरण के प्रयत्न से देवता घटकर तीन क्षेत्रो—पृथ्वी, वायु एव आकाश मे रह गए। कभी-कभी इन देवताओ की सख्या ३३३ अथवा ३ की सख्या के अन्य किसी जोड के रूप मे बताई जाती है।[1] जब वे एक समान प्रयोजन को सिद्ध करते है तो जोडे के रूप मे उनकी स्तुति की जाती है और कभी-कभी उन सबको एकसाथ 'विश्वे देवा.' या देवमाला का रूप देकर एक महत्तर भाव मे एकत्र कर दिया जाता है। क्रमबद्ध करने की इस प्रवृत्ति ने अन्त मे स्वभावत अद्वैतवाद को जन्म दिया, जो अधिक सरल और अनेक देवी-देवताओ की परस्पर-विरोधी भीडभाड की अराजकता की अपेक्षा अधिक तर्कसगत है।

ईश्वर के किसी भी यथार्थ विचार के साथ अद्वैतवादका भाव आना अनिवार्यरूप से आवश्यक है। परम सत्ता केवल एक ही हो सकती है। परम एव अनन्त दो सत्ताए नही स्वीकार की जा सकती। हर जगह यह प्रश्न उठता था कि क्या ईश्वर भी किसी अन्य सत्ता द्वारा बनाया गया है। किन्तु वह सत्ता जिसे कोई दूसरा बनाए, ईश्वर नही होसकती। ज्यो-ज्यो ससार की आन्तरिक कार्यप्रणाली के अन्दर निरीक्षण करने का भाव एव उसके अधिपति ईश्वर के स्वरूप का निर्णय आगे बढता है, अनेक देवता सकुचित होकरएक ईश्वर मे समा जाते हैं। ऋत के भाव के अन्दर जो एकत्व के भाव का अनुभव हुआ, उससे भी अद्वैतवाद का समर्थन होता है। यदि प्रकृति की नानाविध और भिन्न-भिन्न घटनाओ के कारण अनेक देवताओ की कल्पना की जाती है तो प्रकृति के अन्दर जो एकत्व लक्षित हो रहा है उसके अनुसार ईश्वर के एकत्व को भी स्वीकार किया जाए—वही एकमात्र ईश्वर, जो सब पदार्थो मे व्याप्त है। प्राकृतिक नियम मे विश्वास करना ही एक ईश्वर मे श्रद्धा को उपजाता है। ज्यो-ज्यो हम इस विश्वास मे आगे बढेगे, मिथ्या विश्वास स्वय निष्क्रिय हो जाएगे। प्रकृति मे जो एक प्रकार की नियमित व्यवस्था पाई जाती है, उसको देखते हुए चमत्कार-सम्बन्धी अनुमानो व कल्पनाओ के लिए कोई स्थान नही रह जाता, जिनके कारण ही अन्धविश्वास और भ्राति विषयक विचारो से बहुदेवतावाद की कल्पना उपजती है। वरुण की उपासना से हम अद्वैतवाद के बिलकुल निकट पहुच जाते है। सदाचार-सम्बन्धी एव आध्यात्मिक सब गुण—यथा न्याय, उपकार, साधुता और यहा तक कि करुणा भी—उसी वरुण मे सन्निहित बताए गए है। उच्चतर और अत्यधिक आदर्शवाद पर अधिका-

१. देखें, ऋग्वेद, ३ ९, ९।

धिक बल दिया गया है और दूसरी ओर कठोर एवं भौतिक पक्ष को दबाया गया है और उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। वरुण वह देवता है जिसमें मानव एवं प्रकृति, इहलोक एवं परलोक सब ओत प्रोत हैं जो केवल बाह्य चरित्र की ही परवाह नहीं करता किन्तु जीवन की आन्तरिक पवित्रता की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान रखता है। धार्मिक चेतना की एक परब्रह्म के प्रति उपलक्षित मांग ने अपने को वैदिक के एकेश्वरवाद अथवा एकसत्तावाद के रूप में अभिव्यक्त किया। मैक्समूलर के अनुसार, इसीने इस परिभाषा को बनाया कि प्रत्येक देवता को क्रमशः पूज्य मानकर अन्त में सबसे बड़े यहां तक कि एकमात्र ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है। किन्तु समस्त स्थिति तर्क के साथ संगति नहीं खाती क्योंकि हृदय तो उन्नति का सही मार्ग प्रदर्शित करता है लेकिन विश्वास उसके विरोध में जाता है। हम बहुदेवतावाद को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि धार्मिक चेतना इसके विरोध में है। एकेश्वरवाद से चलकर हम अन्धकार में टटोलते हुए अद्वैतवाद तक पहुंच जाते हैं। मानव का दुर्बल मानस अभी भी अपने उद्देश्य की खोज में है। वैदिक आर्य लोगों ने परम सत्ता के रहस्य को बहुत सूक्ष्म दृष्टि से अनुभव किया और प्रचलित विचारों को उसकी व्याख्या के लिए अपर्याप्त पाया। सभी देवता जिनकी परम सत्ता के रूप में पूजा की जाती थी एक ही श्रेणी में थे यद्यपि कुछ समय के लिए उनमें से किसी एक को सर्वोच्च स्थान दे दिया जाता था। एक देवता को मानने का तात्पर्य यह नहीं कि अन्य देवताओं की सत्ता का निषेध किया जाता है। कभी कभी छोटे से छोटा देवता भी ऊंचे से ऊंचा पद पा जाता है। यह निर्भर करता था कवि की भक्ति के ऊपर और इसपर कि उसके सामने उद्देश्य के रूप में विशिष्ट पदार्थ क्या है। वरुण ही द्युलोक है वरुण पृथ्वीलोक है वरुण वायुमण्डल है और वरुण ही समस्त विश्व है जो चारों ओर दृष्टिगोचर होता है। कभी अग्नि को ही सब देवता का स्वरूप माना गया है। कभी इन्द्र को सब देवों में महानतम माना गया है। कुछ समय के लिए प्रत्येक देवता अन्य सब देवताओं की समवेत प्रतिकृति के रूप में प्रकट होता है। किन्तु मानव का ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण का भाव जो धार्मिक जीवन का सत्य है तभी सम्भव हो सकता है जब एक ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया जाए। इस प्रकार एकेश्वरवाद धर्म सम्बन्धी तर्क का स्वाभाविक निष्कर्ष है। ब्लूमफील्ड के अनुसार "बहुदेवतावाद के क्रियात्मक जीवन में असमर्थ होने और परस्पर भेदों में अनौचित्य होने के कारण अद्वैतवाद को सिर उठाने का अवसर मिल गया जिसमें प्रत्येक देवता प्रभुता तो प्राप्त करता था किन्तु उसे रख नहीं पाता था।"[1] लेकिन ऐसी बात नहीं है।

जब प्रत्येक देवता को सृष्टि के कर्ता के रूप में माना जाने लगा और प्रत्येक को विश्वकर्मा अर्थात संसार के निर्माणकर्ता और प्रजापति अर्थात प्राणियों के स्वामी के गुणों से विभूषित किया जाने लगा तब उनकी वैयक्तिक विशेषताओं को छोड़कर एक ऐसे देव की कल्पना करना जिसमें सब सामान्य क्रियाएं उपस्थित हों, आसान हो गया—विशेषतः जब कि अनेक देवता केवल भ्रमात्मक और अस्पष्टभावात्मक थे और केवल कल्पना के रूप में रहकर अपनी वास्तविक सत्ता भी नहीं रखते थे।

१ 'द रिलिजन ऑफ द वेद', पृष्ठ १९९।

ईश्वर के विचार के प्रति क्रमश आदर्शवाद के द्वारा पहुंचना, जैसा कि वरुण-सम्प्रदाय मे अभिव्यक्त हुआ, धार्मिक तर्क जिसने अनेक देवताओ की एक दूसरे के अन्दर समाविष्ट हो जाने की प्रवृत्ति को जन्म दिया, एकेश्वरवाद जिसने अपना झुकाव अद्वैतवाद की ओर कर ही लिया था, ऋत के विचार अर्थात् प्रकृति के एकत्व के विचार और मानवीय मानस की क्रमबद्धता के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति—इन सबने एकत्र होकर बहुदेववाद के अवतारवाद के विचार को नीचे गिराकर एक धार्मिक अद्वैतवाद की स्थापना की। इस काल के वैदिक ऋषियो का झुकाव विश्व के एक ऐसे आदिकारण को खोज निकालने की ओर था जो एकमात्र स्रष्टा हो, जो स्वयभू हो अर्थात् जिसका बनानेवाला दूसरा कोई न हो, और जो अविनाशी हो। इस प्रकार के एक एकेश्वरवाद की स्थापना के लिए एक ही तार्किक विधि थी कि समस्त देवताओ को एक उच्चतम सत्ता अथवा सबको नियन्त्रण मे रखनेवाली एकमात्र सत्ता के अधीन कर दिया जाए, जो निम्न श्रेणी के देवताओ की गतिविधि का भी नियमन कर सके। इस प्रक्रिया ने एकमात्र ईश्वर की सत्ता के प्रति जो प्रबल अभिलाषा थी उसकी भी पूर्ति कर दी और साथ-साथ भूतकाल के तारतम्य को भी विद्यमान रहने दिया। भारतीय विचारक चाहे कितने ही निर्भीक एव नेकनीयत क्यो न रहे हो, उन्होने कभी कठोरता एव अशिष्टता का व्यवहार विपक्षियो के प्रति नही किया। साधारणत वे बदनाम होने से बचते रहे और इसीलिए प्राय उन्होने हर स्थान पर समझौता ही उचित समझा। किन्तु निर्दय तर्कशास्त्र को, जो इतना ईर्षालु शासक है, बदला मिला जिसका परिणाम यह हुआ कि आज का हिन्दूधर्म अपनी समावेश की भावना के कारण ही अनेक विषमाङ्ग दर्शनधाराओ, धर्म-सम्प्रदायो और पौराणिक आख्यानो एव चमत्कारो के एक समूह के रूप मे हमारे सामने है। अनेक देवता एक ही व्यापक सत्ता के भिन्न-भिन्न मूर्तरूप मान लिए गए है। उन सबको अपने-अपने विभिन्न क्षेत्रो मे, यद्यपि परमब्रह्म के साम्राज्य की अधीनता के अन्तर्गत, शासक के रूप मे अगीकार कर लिया गया है। उन्हे भिन्न-भिन्न अधिकार तो दिए गए किन्तु उनका प्रभुत्व एक राजप्रतिनिधि की हैसियत से है न कि एक सम्राट् की हैसियत से। अव्यवस्थित प्रकृतिपूजा के अस्थिर देवताओ ने विश्व की शक्तियो का स्थान ग्रहण कर लिया, जिनकी क्रियाओ को एक सामञ्जस्यपूर्ण पद्धति मे नियमित किया गया है। यहा तक कि इन्द्र और वरुण भी अपने-अपने विभागो के देवता बन गए। ऋग्वेद के अन्तिम भाग मे सबसे ऊचा स्थान विश्वकर्मा को दिया गया है।[1] वह सर्वद्रष्टा देवता है, जिसकी सब दिशाओ मे आखे है, मुख है, भुजाए हैं, पैर है, जो द्युलोक और पृथ्वीलोक को अपनी विशाल भुजाओ एव उडनशील पखो के प्रभाव से उत्पन्न करता है, जो सब लोको का ज्ञान रखता है किन्तु जो मर्त्य मानवो के ज्ञान से परे का विषय है। बृहस्पति का भी दावा सर्वोपरि पद की प्राप्ति के लिए है।[2] अनेक स्थलो पर यही प्रजापति अर्थात् प्राणिमात्र का स्वामी है।[3] हिरण्यगर्भ अर्थात् स्वर्णमय देवता परम सत्ता के नाम के

१. देखें, १० : ८१, ८२।

२. देखें, १० : ७२।

३ देखें, १० : ८५, ४३; १० : १८६,४; १० . १८४,४; शतपथ ब्राह्मण, ६ . ६, ८, १–१४; १० : १, ३,१।

अस्थिहीन होते हुए भी अस्थिधारियो को उत्पन्न किया ? जीवन, रक्त और विश्व की आत्मा कहा है ? जाननेवाले विद्वान के पास कौन पूछने के लिए गया ?"[1] यह दर्शन-शास्त्र की मूलभूत समस्या है। जीवन क्या है अथवा विश्व का तत्त्व क्या है ?–केवल रूढिवाद से काम नही चलेगा। हमे आध्यात्मिक यथार्थ सत्ता को अवश्य अनुभव करना है और उसका ज्ञान प्राप्त करना है। इसलिए प्रश्न यह है कि "पूर्वजन्मा को किसने देखा ?"[2] जिज्ञासु अन्वेषक अपने निजी आराम के साधनो और सुख की भी उतनी परवाह नही करता जितना कि वह परम सत्य के ध्यान के लिए व्यग्र रहता है। चाहे ईश्वर को एक असभ्य मनुष्य की धारणा के अनुसार क्रुद्ध एव छेडे गए व्यक्ति के रूप मे माना जाए, अथवा उसे एक सभ्य मनुष्य के विचार के अनुसार दयानिधान के रूप मे माना जाए, जो इस भूलोक के सब प्राणियो का न्यायकर्ता, ससार का रचयिता एव उनको वश मे रखनेवाला है, यह एक दुर्बल विचार है जो समीक्षा के आगे नही ठहर सकता। ईश्वर के मानवीयकरण का भाव अवश्य लुप्त हो जाना चाहिए। उक्त प्रकार के विचार हमे ईश्वर का प्रतिनिधि तो भले ही दे सके किन्तु यथार्थ रूप मे जीवित ईश्वर नही प्राप्त करा सकते। हमे एक ऐसे ईश्वर के अन्दर विश्वास लाना है जो जीवन का केन्द्र है, किन्तु उसकी छायामात्र नही है जो मनुष्यो के मनो के अन्दर प्रतिविम्बित होती है। ईश्वर हमारे चारो तरफ व्याप्त एक प्रकार का अक्षुण्ण भण्डार है। 'प्राणो विराट्' अर्थात् जीवन विशाल और अपरिमित है। इसके अन्दर वस्तुओ का ही नही, विचारो का भी समावेश हो जाता है। वह अपने को विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त करता है। यह एक है, एक समान है, नित्य है, आवश्यक है, असीम एव अनन्त है और सर्वशक्तिमान है। इसीसे सब कुछ निकलता है और फिर इसीमे समा जाता है। एक देहधारी ईश्वर का भले ही मनोभावात्मक महत्त्व हो, किन्तु सत्य एक अन्य प्रकार के मानदण्ड की स्थापना करता है और एक विशेष प्रकार के पूजनीय विषय के महत्त्व को बताता है। भले ही वह कितना ही रूक्ष और दूरवर्ती, भयानक और अप्रिय हो, उसके सत्य होने मे कोई न्यूनता नही आती। एकेश्वरवाद, जिसे आज भी मनुष्य-समुदाय का एक बडा भाग दृढता के साथ पकडे हुए है, आधुनिक वैदिक विचारको को सन्तोष प्रदान करने मे असमर्थ रहा है।

उक्त विचारको ने उस केन्द्रीय तत्त्व को नपुसकलिग की सज्ञा अर्थात् सत् की सज्ञा दी, जिससे लक्षित होता है कि वह लिगातीत है। उन्हे इस बात का निश्चय था कि एक ऐसी यथार्थ सत्ता अवश्य है जिसकी अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि केवल भिन्न-भिन्न सज्ञाए अथवा आकृतिया है। यह कि ऐसी एक सत्ता अवश्य थी और एकाकी ही थी अनेक नही, जो देहधारी मूर्तरूप नही है, 'उस सबका जो स्थावर है और उसका भी जो जगम, अथवा जो चलता या उडता है,' शासक है, 'क्योकि उसका जन्म अन्य प्रकार का ही है।'[3] "यथार्थ सत्ता एक ही है, विद्वान लोग उसे नाना प्रकार के नामो से पुकारते है, यथा अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि।"[4]

१. ऋग्वेद, १ · ४,१६४।
२. "को ददर्श प्रथमा जायमानम् ?"
३. ३ · ५४, ८।
४. "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। अग्नि यम मातरिश्वानमाहु" (१ · १६४, ४६)।

करना नितान्त मूर्खतापूर्ण है। परब्रह्म एक और अद्वितीय है, जिसे भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में और अन्वेषकों की भी अपनी भिन्न रुचियों के कारण भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इस विचार को प्रचलित धर्म के साथ समन्वित करने को एक संकीर्ण विचार-मात्र न समझना चाहिए। यह गम्भीर दार्शनिक सत्य के रूप में दैवीय प्रेरणा का परिणाम है। इज़राइल को यही दैवीय प्रेरणा मिली थी, "तेरा प्रभु, तेरा ईश्वर एक है।" प्लूटार्क कहता है, "सब राष्ट्रों के ऊपर एक ही सूर्य, एक ही अन्तरिक्ष और भिन्न-भिन्न नामधारी एक ही 'देव' की छाया है।"

"हे ईश्वर! अत्यन्त यशस्वी, जिसे अनेक नामों से पुकारा जाता है, प्रकृति के महान सम्राट्, अनन्त वर्षों मे एकरस, सर्वशक्तिमान, तुम जो अपनी न्यायपूर्ण आज्ञा से सबको नियन्त्रण मे रखते हो, ऐसे हे जीयस, हम तुम्हारा स्वागत करते हैं। क्योंकि सब देशों मे तुम्हारे प्राणी तुम्हे ही पुकारते है।"[1]

ऋग्वेद के इस एकेश्वरवाद के सिद्धान्त के विषय मे ड्यूसन लिखता है, "हिन्दू लोग इस एकेश्वरवाद के सिद्धान्त पर एक ऐसी पद्धति द्वारा पहुचे हैं जो अन्य देशों की पद्धतियों से तत्त्वरूप मे बिलकुल भिन्न है। मिस्र देश मे एकेश्वरवाद का मार्ग एक अन्य ही प्रकार का अपनाया गया था, अर्थात् नाना प्रकार के स्थानीय देवताओं के यान्त्रिक तादात्म्य की पद्धति अपनाई गई। पैलस्टाइन मे अन्य सब देवताओं को ज़ब्त कर लिया गया और उनकी पूजा करनेवालों पर अपने जातीय देवता जेहोवा के हित मे नाना प्रकार के अत्याचार किए गए। भारत मे लोगों ने एकेश्वरवाद से भी ऊपर अद्वैतवाद को अपनाया, अधिकतर दार्शनिक मार्ग से पहुचकर अर्थात् विविधता की गहराई मे पहुचकर उसके अन्तर्निहित एकत्व को अनुभव किया।"[2] मैक्समूलर कहता है, "ऋग्वेदसंहिता के संग्रह की समाप्ति का चाहे जो भी काल रहा हो, उस काल से पहले इस विचार के विश्वास की जड जम गई थी कि एक ही अद्वितीय सत्ता है, जो न पुरुष है और न स्त्री, एक ऐसी सत्ता जो दैहिक एवं मानुषिक प्रकृति की सब अवस्थाओं और बन्धनों से उन्मुक्त और बहुत ऊंची श्रेणी की है किन्तु तो भी वही सत्ता इन्द्र, अग्नि, मातरिश्वा, और यहा तक कि प्रजापति, अर्थात् प्राणिमात्र का स्वामी, आदि विविध नामों से पुकारी जाती है। वस्तुतः वैदिक कवि ईश्वर के ऐसे विचार तक पहुच चुके थे जिस तक एक बार फिर सिकंदरिया के दार्शनिक भी पहुचे, किन्तु जो विचार आज तक भी ऐसे अनेक विद्वानों की पहुच से बाहर है जो अपने को ईसाई कहते है।"[3]

ऋग्वेद के कुछेक उन्नत विचार वाले सूक्तों मे परब्रह्म को उदासीन भाव से पुंल्लिंग और नपुंसकलिंग मे सम्बोधन किया गया है। एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के मध्य इस प्रकार की प्रत्यक्ष रूप मे प्रकट अस्थिरता ने, जो प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों ही दर्शनों का एक विशिष्ट स्वरूप है यहा पर सबसे पहले अपने को विचारधारा के इतिहास मे अभिव्यक्त किया। उसी अशरीरी, व्यक्तित्वविहीन, विशुद्ध, वासनारहित दार्शनिक यथार्थ सत्ता

१. 'द हाइम आफ क्लेंथीज'।
२ 'आउटलाइन्स आफ इडियन फिलासफी,' पृष्ठ १३।
३ मैक्समूलर 'सिक्स सिस्टम्स आफ इडियन फिलासफी,' पृष्ठ ५१, ५२।

की भावुक व्यक्ति अपने उत्कंठित हृदय से एक करुणामय और परोपकारी देवता के रूप मे पूजा एव उपासना करता रहा। यह अनिवार्य है। धार्मिक चेतना साधारणत एक सवाद का दो विविध इच्छाशक्तियो की एकत्र सगति अर्थात सान्त एव अनन्त के सम्बन्ध का रूप धारण कर लेता है। ईश्वर को एक अनन्तपुरुष के रूप म, जिसका आधिपत्य सान्त मानव के ऊपर हो मानकर चलने की प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्तु ईश्वर के विषय म इस प्रकार का भाव जो अन्य कई प्रकार के भावो म से एक है दर्शनशास्त्र का उच्चतम सत्य नही है। कुछ अत्यन्त तार्किक स्वभाव वाले व्यक्तियो का छोडकर जो अपने सिद्धान्तो को अन्त तक खीचकर ले जाना चाहते है किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय का अस्तित्व एक व्यक्तिरूप ईश्वर को स्वीकार किए बिना स्थिर नही रह सकता। यहा तक कि एक दार्शनिक से भी जब उच्चतम सत्ता की परिभाषा करने को कहा जाए तो वह भी उसकी परिभाषा के लिए ऐसे ही शब्दो का प्रयोग करता है जो ईश्वर को निचले स्तर पर ले आते हैं। मनुष्य अच्छी तरह से जानता है कि उसकी परिमित शक्तिया सर्वव्यापक आत्मा के सर्वोपरि विस्तार का ठीक ठीक माप नही कर सकतीं। तो भी वह उस नित्य का वर्णन अपने लघु तरीके से करने के लिए विवश है। अपनी सीमित मर्यादाओ म बद्ध रहने के कारण वह आवश्यकतावश उस विस्तृत, भव्य एव अचिन्त्य उद्गम की, और जो सब पदार्थों का शक्तिप्रदाता है उसकी अपूर्ण आकृतियो की कल्पना करता है। वह अपने सन्तोष के लिए अपने आराध्यदेव की प्रतिमाए बनाता है। ईश्वर का अवतार रूप सीमित है किन्तु तो भी ईश्वर के सगुणरूप की ही पूजा की जाती है। ईश्वर का मूलरूप आत्म और अनात्म म भेद का आनुषगिक रूप से स्वीकार कर लेता है इसलिए उस सत्ता के लिए उपयुक्त नही होना चाहिए जिसमे यह समस्त दृश्यमान जगत ओत प्रोत है। व्यक्तित्वरूप ईश्वर केवल एक उपलक्षण मात्र है यद्यपि है वह सत्यस्वरूप ईश्वर की सत्ता का ही उपलक्षण। आकृतिविहीन को आकृति दे दी गई व्यक्तित्वविहीन को व्यक्तित्व का जामा पहना दिया गया सर्वव्यापक को एक नियत स्थान दे दिया गया नित्य सत्ता को भौतिक रूप दे दिया गया। जसे ही हम परमसत्ता को पूजा के एक भौतिक पदार्थ के रूप म उच्चता से गिरा देते है उसकी परमता म न्यूनता का भाव आ जाता है। सीमित इच्छा वाले के साथ क्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ईश्वर के लिए परम पद से न्यून होना आवश्यक है, परन्तु वह यदि परम पद से न्यून है तब वह किसी भी प्रभावशाली धर्म म पूजा के योग्य पदार्थ नही रह सकता। यदि ईश्वर पूर्ण है तो धार्मिक सम्प्रदाय असम्भव है यदि ईश्वर अपूर्ण है तो धर्म प्रभावशून्य है। एक सीमित परिमित शक्ति वाले ईश्वर का लेकर हमे शान्ति का आनन्द नहा प्राप्त हो सकता विजय का आश्वासन नही मिल सकता और न ही विश्व ब्रह्माण्ड के चरम लक्ष्य तक पहुचने का भरोसा मिल सकता है। सत्य धर्म परब्रह्म की खोज है। इसलिए प्रचलित धर्म और दर्शन दोनो की माँग को पूर्ण करने के लिए परम आत्मा को बिना भेद भाव के पुल्लिग और नपुसक दोनो लिगों म सबोधन किया गया है अर्थात वह अमून है और इसीलिए लिंग के विचार से ऊपर उठा हुआ है। उपनिषदो म ठीक ऐसा ही है। भगवद्गीता एव वेदान्तसूत्रो म भी ऐसा ही है। इस प्रकार के भाव का ईश्वरभाववाद

एव अद्वैतवाद के तत्त्वो के मध्य एक प्रकार का जानबूझकर किया हुआ समझौता अथवा विचारधारा मे किसी प्रकार का कपट मानना उचित नही है। अद्वैतभाव भी विकसित होकर ऊची से ऊंची धार्मिक भावना मे परिणत हो सकता है। केवल ईश्वर के प्रति प्रार्थना का स्थान उस सर्वोपरि परब्रह्म का ध्यान ले लेता है जो ससार का शासक है, जो प्रेमरूप है और जगत् मे निभ्रान्ति किन्तु मुक्तहस्त होकर प्रेरणा उत्पन्न करता है। मानवीय मानस के पूर्णरूप ब्रह्म के साथ अशभाव से साम्य होने का भाव उच्चतम धार्मिक भावना को उत्पन्न करता है। ब्रह्म के प्रति इस प्रकार के आदर्श प्रेम से, और उसके सौदर्य एव सौजन्य की पुष्कलता के ध्यान मे हृदय विश्व ब्रह्माण्ड के सार्वभौम भावावेशो से आपूरित हो जाता है। यह सत्य है कि इस प्रकार का धर्म ऐसे मनुष्य को जो उस तक न तो पहुचा हो और न ही जिसने इसकी शक्ति का अभी अनुभव किया हो, अधिकतर रूखा एव ऊष्मा-विहीन तथा केवल बौद्धिक प्रतीत होगा, किन्तु तो भी अन्य कोई धर्म दार्शनिक दृष्टि से अधिक युक्तियुक्त नही ठहरता।

समस्त धार्मिक सम्प्रदायो ने, जो इस पृथ्वी पर आविर्भूत हुए, मानवीय हृदय की मूलभूत आवश्यकता को स्वीकार किया है। मनुष्य अपने ऊपर एक ऐसी शक्ति की सत्ता को स्वीकार करने के लिए जिसके ऊपर वह निर्भर कर सकता हो, प्रबल अभिलाषा रखता है, जो उससे कही अधिक महान हो और जिसकी वह पूजा कर सके। वैदिक धर्म मे भिन्न-भिन्न अवस्थाओ एव परिस्थितियो के अनुसार कल्पना किए गए देवता मनुष्यो की आवश्यकताओ एव अभावो के विचार के परिणामस्वरूप, और मनुष्यो के हृदयान्वेषण के परिणामस्वरूप है। कभी-कभी मनुष्य को ऐसे देवताओ की आवश्यकता अनुभव हुई जो उसकी प्रार्थना को सुने और यज्ञ मे दी गई उसकी आहुतियो को ग्रहण करे, और इसीलिए ऐसे देवताओ की कल्पना की गई जो इस आवश्यकता को पूर्ण कर सके। हमे भौतिक देवता मिलते हैं, मानवीय आकृति के देवता मिलते है, किन्तु उनमे से एक भी उच्चतम भावना के अनुकूल नही जचता—चाहे कितना ही कोई यह कहकर कि सब उसी परब्रह्म की अभिव्यक्ति-मात्र हे, मनुष्य के मन को समझाने का प्रयत्न करे। देवताओ की भीड मे बिखरी हुई किरणे एकत्र हो जाती है उस एक नामरहित ब्रह्म के विशाल तेज मे, केवल जो मानव-हृदय की बेचैन अभिलाषा को और सशयवादी के सशय को सन्तोष प्रदान कर सकता है। वैदिक प्रगति ने तब तक कही बीच मे विराम नही लिया, जब तक कि वह इस चरम यथार्थ सत्ता तक नही पहुच गई। वैदिक सूक्तो मे वर्णित धार्मिक विचार की प्रगति को इस प्रकार से विशिष्ट देवताओ मे विभक्त किया जा सकता है, यथा (१) द्यौ, जो प्रकृति-पूजा की पहली श्रेणी का उपलक्षण है; (२) वरुण, जो आधुनिक काल का उच्चतम सदाचारी देवता है, (३) इन्द्र, जो विजय और पराजयकाल का स्वार्थमय देवता है, (४) प्रजापति, जो एकेश्वरवादियो का अभिमत देवता है, और (५) ब्रह्म, जो इन चारो निम्नश्रेणियो का पूर्णरूप है। यह विकास क्रमिक होने के साथ-साथ तर्क-सगत भी है। केवल वैदिक सूक्तो मे ही हम उन सबको साथ-साथ एक ही स्थान पर समाविष्ट पाते है, जिसमे तार्किक प्रबन्ध अथवा क्रमिक पूर्वापरता का बिलकुल विचार नही किया गया। कभी-कभी एक ही सूक्त मे उन सबको एकसाथ प्रस्तुत किया गया है।

इससे केवल यही लक्षित होता है कि जिस समय ऋग्वेद का ग्रन्थ लिखा गया, विचार के वे सब पड़ाव पहले से पार हो चुके थे और जन साधारण उनमें से कुछ अथवा सभी देवताओं को, बिना उनके पारस्परिक विरोध का विचार मन में लाए, पकड़े बैठे थे।

८

सृष्टि विज्ञान

वैदिक विचारक जगत के उद्गम एवं स्वरूप सम्बन्धी दार्शनिक समस्याओं की ओर से उदासीन नहीं थे। प्रत्यक्ष परिवर्तनशील पदार्थ के आदिम आधार की खोज में उन्होंने प्राचीन यूनानी विद्वानों के समान जल, वायु आदि को ही मौलिक तत्त्व के रूप में माना, जिनके परस्पर एकत्र होने से इस नानाविध जगत की उत्पत्ति हुई। कहा गया है कि जल की अवस्था से उन्नत होकर इस जगत का विकास समय, संवत्सर अथवा वर्ष, इच्छा या काम एवं बुद्धिरूप पुरुष तथा तप की उष्मा की शक्तियों द्वारा हुआ।[1] कहीं कहीं स्वयं जल की उत्पत्ति रात्रि रूपी अन्धकार अथवा अविशृंखलता की अवस्था एवं तमस अथवा वायु से हुई बताई गई है।[2] ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त ७२ में संसार के प्रारम्भिक आधार का असत अथवा अविद्यमान रूप में वर्णन किया गया है, जिसके साथ अदिति का, जो असीम है, तादात्म्य बताया गया है, अर्थात वह भी असत रूप में था। असीम से विश्वशक्ति उत्पन्न होती है यद्यपि कभी कभी विश्वशक्ति का स्वयं असीम का उत्पत्तिस्थान करके वर्णन किया गया है।[3] इस प्रकार की कल्पनाएं शीघ्र अभौतिक सत्ता के साथ सम्बद्ध हो गई और इस प्रकार भौतिक विज्ञान ने धर्म के साथ गठबन्धन करके अध्यात्मविद्या को जन्म दिया।

बहुदेववाद के काल में भिन्न भिन्न देवताओं, यथा वरुण, इन्द्र, अग्नि, विश्वकर्मा आदि को विश्व का रचयिता समझा जाता था। सृष्टि के निर्माण की विधि के विषय में नाना प्रकार की कल्पनाएं की गई हैं। एक मत है कि कुछ देवताओं ने सृष्टि को इसी प्रकार से बनाया जैसे कि एक बढ़ई किसी मकान को बनाता है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह वृक्ष या काष्ठ, जिससे कार्य सम्पादन हो सका, कहां से मिला।[4] आगे चलकर इसका उत्तर यह दिया गया है कि ब्रह्म ही वह वृक्ष और काष्ठ है जिससे द्युलोक एवं पृथ्वी का निर्माण किया गया।[5] स्थान स्थान पर कभी कभी अंगों का विकास भी उपलक्षित किया गया है। कहीं कहीं पर देवताओं ने यज्ञ की शक्ति के द्वारा सृष्टि का निर्माण किया ऐसा भी कहा गया है। इस मत का समावेश वैदिक विचारधारा में पीछे चलकर हुआ। जब हम एकेश्वरवाद के स्तर पर पहुंचते हैं तो प्रश्न उठता है कि क्या ईश्वर ने सृष्टि को अपने निजी स्वभाव से किसी पूर्व स्थित सामग्री के बिना बनाया, अथवा अपनी शक्ति से पूर्व स्थित अनादि प्रकृति को साधन के रूप में बरतकर उसमें सृष्टि का निर्माण किया?

1. १, १, १६। [illegible] १८०। 2. २. १०, ७२, ३।
4. [illegible] ८१, २; [illegible] ११, ११, [illegible] १२, २१, १।
5. [illegible] ३१, ७ तुलना कीजिए, १, [illegible] ८१, ४।
6. तैत्तिरीय ब्राह्मण। 7. ७. १०, १२३, १।

इनमे से पहला पक्ष हमे उच्चतर अद्वैतपरक विचार की ओर ले जाता है और दूसरा एकेश्वरवादपरक निम्नतर स्तर पर रहता है। वैदिक सूक्तो मे दोनो ही प्रकार के मत पाए जाते है। दसवे मण्डल के १२१वें सूक्त मे एक सर्वशक्तिमान ईश्वर के द्वारा पूर्वस्थित प्रकृतिरूपी उपादान कारण से सृष्टि की रचना का वर्णन है। प्रारम्भ मे विस्तृत जल मे से हिरण्यगर्भ उदित हुआ जो विश्व मे व्याप्त हो गया। उसने एक आकृतिविहीन और अस्तव्यस्त अवस्था मे से इस सुन्दर विश्व का निर्माण किया, क्योकि प्रारम्भ मे वही अस्तव्यस्त अवस्था थी।[1] किन्तु प्रश्न उठता है—उस अस्त-व्यस्त अवस्था मे से हिरण्य-गर्भ कैसे और कहा से पैदा हो गया? वह कौन-सी अज्ञात शक्ति अथवा विकास का नियम था जिसका परिणाम हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के रूप मे हुआ? प्रारम्भिक जलावस्था का रचयिता कौन है? मनु, हरिवंश एव पुराणो के अनुसार ईश्वर ही उस अस्तव्यस्त अवस्था का भी स्रष्टा था। उसने अपनी इच्छाशक्ति से उसकी रचना की और उसमे बीज डाला, जो स्वर्णिम अकुर के रूप मे प्रस्फुटित हुआ; उसमे वह ब्रह्मा अथवा ससार के स्रष्टा ईश्वर के रूप मे उत्पन्न हुआ। "मैं ही हिरण्य-गर्भ हू, स्वय परमात्मा जो हिरण्यगर्भ के रूप मे अपने को अभिव्यक्त करता हू।"[2] इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि अनादिकाल से सहचारी भाव से दो पदार्थ एक ही चरम आधारभूत सत्ता के विकसित रूप है। यह एक परवर्ती सूक्त मे वर्णित सिद्धान्त है जिसे नासदीयसूक्त कहते है और जिसका अनुवाद मैक्समूलर ने निम्न प्रकार से किया है:

> उस समय न तो सत् था और न असत् ही। आकाश भी विद्यमान नही था और न ही उससे ऊपर का अन्तरिक्ष था। किसने इसे आवृत कर रखा था? वह कहा था और किसके आश्रय मे रहता था? क्या वह आदिमकालीन गहन और गम्भीर जल था (जिसमे यह सब स्थित था)? मृत्यु भी नही थी, इसलिए अमरता की भावना भी नही थी। रात और दिन मे भेद करनेवाला प्रकाश भी नही था। वह एक ही उस समय बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित रहनेवाला ब्रह्म विद्यमान था। उसके अतिरिक्त और कुछ नही था। उस समय अन्धकार था, प्रारम्भ मे यह सब एक अर्णव समुद्र के रूप मे था, प्रकाश-रहित, एक ऐसा अकुर जो त्वचा (भूसी) से ढका हुआ था; उस एक की उत्पत्ति उष्मा (तप) की शक्ति से हुई। प्रारम्भ मे प्रेम ने उसे आविर्भूत किया जो मानस से उत्पन्न हुआ बीज था, कवियो ने अपने हृदय मे खोज करने के पश्चात् बुद्धि द्वारा असत् के साथ सत् के बन्धन का पता लगाया। उनकी किरण जो सर्वत्र फैली हुई थी, वह ऊपर थी अथवा नीचे थी? बीज को धारण करने वाले थे, शक्तिया भी थी, आत्मशक्ति नीचे और इच्छाशक्ति ऊपर थी। तब फिर ज्ञाता कौन है, किसने इसकी यहा घोषणा की, किससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई? देव लोग इस सृष्टि की उत्पत्ति के पीछे आए। तब फिर कौन जानता है कि सृष्टि कहा से हुई? जिसमे इस सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ, उसने इसे

१ तुलना कीजिए, मनु १ ५, ८, मैत्रेयोपनिषद्, ५, २।
२ मनु, ५ ६।

> बनाया या नहीं बनाया, ऊँचे से ऊँचे अन्तरिक्षलोक में ऊँचे से ऊँचा देखनेवाला वही यथार्थ रूप से जानता है अथवा क्या वह भी नहीं जानता ?[1]

उक्त सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय का एक अत्यन्त उन्नत सिद्धान्त पाया जाता है। प्रारम्भ में न तो सत् था और न ही असत्। सत् भी उस समय अपने अभिव्यक्त रूप में नहीं था। केवल इसीलिए हम उसे असत् नहीं कह सकते क्योंकि वह एक निश्चित सत्ता है जिससे सब सत् पदार्थ आविर्भूत हुए। इस पंक्ति में हमारे सिद्धान्तों की अपूर्णता प्रदर्शित की गई है। परम सत्ता को जो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि में है हम सत् अथवा असत् किसी भी रूप में ठीक-ठीक नहीं जान सकते। वह ऐसी सत्ता है जो अपने ही सामर्थ्य से बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित है।[2] उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु उसके परे न था। इस सबका आदिकारण समस्त विश्व से प्राचीन है जो सूर्य, चन्द्रमा, आकाश और नक्षत्रों से युक्त है। यह काल या देश की आयु, मृत्यु और अमरता आदि सबकी पहुंच के बाहर और उनसे परे है। हम इसकी ठीक-ठीक व्याख्या नहीं कर सकते सिवाय इसके कि यह अस्तित्व रखती है। उस सत्स्वरूप के आदिम और अनिर्वचनीय रूप की यही प्रारम्भिक और मूलभूत भूमिका है। उस परम चेतना के अन्दर सबसे पहले स्वीकृतसूचक अहं का भाव आता है। यह तत्त्वशास्त्र के तादात्म्य के सिद्धान्त अर्थात् क=क है से मेल खाता है जिसकी प्रामाणिकता पूर्वकल्पना कर लेती है कि आत्मा की यथार्थ सत्ता है। ठीक उसके साथ ही हम अनात्म की भी कल्पना करना आवश्यक है जिससे साथ-साथ हम अहं का भेद समझा जा सके। आत्मा की प्रतिद्वन्द्विता में अनात्म भी स्वयं आता है उसी प्रकार जिस प्रकार क ख नहीं है। अहं तब केवल एक निरर्थक अमूर्तरूप उक्ति रह जाएगा जबकि अहं से भिन्न कोई ऐसी दूसरी वस्तु भी न हो जिसकी चेतना अहं को होनी चाहिए। यदि ऐसा पदार्थ आत्मा से इतर नहीं है तो अहं की सत्ता का भी कोई अर्थ नहीं। अहं से अहंभिन्न उपलक्षित होता है जोकि अहं की सत्ता के लिए एक आवश्यक शर्त है। अहं के विरोध में अनहं की विरोधी कल्पना ही प्रारम्भिक अर्थान्तरन्यास है और परम सत्ता से इस प्रकार के सांकेतिक विकास को ही तपस कहा गया है। तपस का अर्थ है—बाहर निकल पड़ना, तात्त्विक बाह्य निष्कासन, एक अन्य सत्ता को बाहर प्रकट करना, शक्तियुक्त प्रेरणा, परम सत्ता का स्वाभाविक अन्तःस्थ धार्मिक जोश। इस तपस के द्वारा ही हमारे सामने सत् और असत् दो विविध वस्तुएं आती हैं अर्थात् अहं और अहंभिन्न, सक्रिय पुरुष और निष्क्रिय प्रकृति, रचनात्मक तत्त्व और अव्यवस्था में स्थित भौतिक प्रकृति। शेष सारा विकास इन्हीं दोनों परस्पर विरोधी तत्त्वों के एक-दूसरे के प्रति आघात-प्रत्याघात रूपी क्रिया का परिणाम है। उक्त सूक्त के अनुसार इच्छा में ही सृष्टि के निर्माण का रहस्य छिपा है। इच्छा अथवा काम आत्मचेतना का लक्षण है जो मानस का बीज है—मनसा रेत। समस्त विकास की यही आधारभित्ति है, उन्नति के लिए प्रेरणा है। अनात्म की उपस्थिति के कारण आत्मचेतनावान अहं के

१. १. १२९ और भी देखें : मिश्रम मिस्टिसिज्म ऑफ इंडियन फिलासफी, पृष्ठ ६५-६५। देखें शतपथ ब्राह्मण १० : ५ : ३ : १।

२. तुलना कीजिए अरस्तू के 'अविचल चालक' से।

अन्दर इच्छाएं विकास प्राप्त करती है। इच्छा विचार से बढकर है।[1] यह बौद्धिक प्रेरणा, अभाव के ज्ञान एव सक्रिय प्रयत्न की द्योतक है। यही वह बन्धन है जिससे सत् और असत् का सम्पर्क सम्भव होता है। वह अजन्मा नित्यसत्ता आत्मचेतन रूपी ब्रह्म के रूप मे अभिव्यक्त होकर हमारे सामने आती है, जिसके साथ प्रकृति, अन्धकार, असत्, शून्य और विश्रृंखलावस्था है, जो इसके विरोधी है। इच्छाशक्ति इस स्वयचेतन पुरुष का अनिवार्य स्वरूप है। अन्तिम वाक्य 'को वेद ?' (कौन जानता है ?) सृष्टि के रहस्य को प्रकट करता है, जिसे परवर्ती काल के विचारको ने माया कहा है।

ऐसे सूक्त है जिनका अन्त दो तत्त्वो, पुरुष एव प्रकृति, के साथ होता है। दशम मण्डल के ८२, ५–६ सूक्तो मे जो सूक्त विश्वकर्मा को सम्बोधन करके लिखा गया है, उसमे मिलता है कि समुद्र के जलो ने सबसे प्रथम आद्यकालीन बीज को धारण किया। यह आदिम बीज ससार के उत्पादक अण्डे के रूप मे अव्यवस्था के आदिकालीन जलो के ऊपर तैरता था और यही जंगम विश्व का आदितत्त्व है। इसीमे से विश्वकर्मा, जो विश्व मे सबसे पूर्व उत्पन्न हुआ, प्रादुर्भूत हुआ। यहा वर्णित जल वही है जिसे यूनानी विद्वानो ने सृष्टि के पूर्व की विश्रृंखलता कहा है और जिसे बाइबिल के प्रथम अध्याय 'जेनेसिस' मे 'आकार-विहीन एव शून्य' कहा गया है, जिसके ऊपर असीम की इच्छा का आधिपत्य था।[2] इच्छा, काम, स्वयचेतना, मानस, वाक् अथवा शब्द, ये सब उस अनन्त बुद्धि के गुण है, जो अवताररूप ईश्वर के रूप मे समुद्र पर विचारमग्न है, और जिसे नारायण कहा गया है और जो अनन्तशय्या पर विश्राम करता है। यह जेनेसिस का ईश्वर है, जो कहता है, "सृष्टि हो जाए और सृष्टि हो गई।" "उसने विचार किया कि मै संसार की रचना करूगा तब उसने इन विविध प्रकार के ससारो, जल, प्रकाश आदि को रचा।" किन्तु नासदीय सूक्त द्वैतपरक आध्यात्मिक ज्ञान का उल्लघन करके उच्च श्रेणी के द्वैतवाद को अपनाता है। यह प्रकृति और आत्मा दोनो को एक परम सत्ता के ही दो रूप बतलाता है। परम सत्ता अपने-आप मे न तो अह है और न अह का अभाव है, न तो अह की प्रकृति की स्वयचेतना है और न ही अह के अभाव के नमूने की अचेतना है। यह दोनो से ऊची श्रेणी की सत्ता है। यह श्रेष्ठतर चेतना है। विरोध का विकास स्वय इसीके अन्दर हुआ है। उक्त हिसाब से आधुनिक परिभाषा मे सृष्टि की उत्पत्ति की श्रेणिया इस प्रकार है: (१) उच्चतम परमार्थ सत्ता, (२) केवल स्वयचेतना, अर्थात् मैं मैं हू, (३) स्वयचेतना की सीमा दूसरे के रूप मे। इसका तात्पर्य यह नही है कि कोई एक विशेष लक्ष्यबिन्दु ऐसा है जब कि परमसत्ता गति प्रारम्भ करती है। ये श्रेणिया केवल तार्किक दृष्टि से, किन्तु ऐति-

१. यह एक ध्यान देने योग्य विषय है कि ग्रीक पुराणग्रन्थों ने काम के देवता ईरोस को, जो काम का समानान्तर है, विश्व की सृष्टि के साथ जोड़ा है। प्लेटो अपने 'सिम्पोजियम' में कहता है, "ईरोस के कोई माता-पिता नहीं थे, न ही कोई अशिक्षित व्यक्ति अथवा कोई कवि उसके माता-पिता का वर्णन करता है।" अरस्तू के अनुसार ईश्वर इच्छावश गति करता है।

२. इसकी तुलना 'जेनेसिस' मे दिए गए वृत्तान्त से कीजिए. "समुद्र के ऊपर अन्धकार था और ईश्वर की आत्मा समुद्र के ऊपर गतिमान थी।" (जेनेसिस १ : २), और भी देखें, ऋग्वेद, १० : १२१; १० : ७२।

हासिक कालक्रम से नहीं एक के पीछे एक आनेवाली हैं। 'अहं' अहं के अभाव की कल्पना का कारण बनता है इसलिए उससे पूर्व नहीं हो सकता। इसी प्रकार अहं का अभाव भी अहं के पहले नहीं आ सकता और न परम सत्ता ही बिना तपस के सदा रह सकता है। कालरहित पूर्ण सत्त शृखलाबद्ध सत्ताओं में प्रकट होता रहता है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि आत्मा अपने को पुन प्रकट नहीं करती— नितान्त रूप में नानाविध अनुभवों में जो कभी आनेवाली नहीं है। इस प्रकार ससार सदा ही बचन रहता है। यह सूक्त हमें सृष्टि के निर्माण की विधि को तो बतलाता है किन्तु कहां से यह बनी इसका समाधान नहीं करता। यह सृष्टि रूपी घटना की व्याख्या-मात्र करता है।[1]

हम स्पष्ट देख सकते हैं कि ऋग्वेद के सूक्त में जगत् के मिथ्या होने के विचार का कोई आधार नहीं है। ससार एक प्रयोजनशून्य मृगमरीचिका नहीं है बल्कि ईश्वर का ठीक विकासरूप है। जहां कहीं माया शब्द आया है वह केवल उसके सामर्थ्य एव शक्ति का द्योतक है। इन्द्र अपनी माया से शीघ्र शीघ्र नानारूप धारण करता है।[2] तो भी कभी-कभी माया और इससे निकले हुए मायिन् मायावन्त आदि शब्दों का व्यवहार राक्षसों की इच्छा को प्रकट करता है।[3] और माया शब्द का प्रयोग भ्रमजाल एव प्रदर्शन के अर्थ में भी होता है। ऋग्वेद की मुख्य प्रवृत्ति एक सीधा सादा सरल यथार्थवाद है। बाद के भारतीय विचारकों ने पांच मूल तत्त्वों या महाभूतों का प्रभेद किया है—आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वी। परन्तु ऋग्वेद केवल एक जल की ही परिकल्पना करता है। यही आदिमहाभूत है जिससे धीरे धीरे दूसरे तत्त्वों का विकास हुआ है।

यह सोचना अयुक्तियुक्त होगा कि ऊपर जिस सूक्त की हमने विवेचना की है उसके अनुसार प्रारम्भ में असत था जिससे सत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारम्भिक अवस्था नितान्त असत की नहीं है क्योंकि इस सूक्त में एक ऐसी सत्ता की यथार्थता को जो बिना श्वासोच्छ्वास प्रणाली के भी जीवित है स्वीकार किया गया है। यह उनका एक तरीका है जिसमें वे परमयथार्थसत्ता का वर्णन करते हैं और जो समस्त विश्व की सत्ता का तात्त्विक आधार है। सत और असत अन्योन्याश्रित पारिभाषिक शब्द हैं और उस महान एक के लिए प्रयुक्त नहीं किए जा सकते जो सब प्रकार के विरोधों से परे है। असत का अर्थ केवल यही है कि जो इस समय हमारे दृष्टिपथ में विद्यमान है उसकी उस समय प्रकटरूप में सत्ता नहीं थी। मण्डल १० की ७२वीं ऋचा में कहा गया है कि 'सत्ता का असत स्वरूप से प्रकट हुआ। यहां भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सत असत के अन्दर से आता है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि प्रकट सत अस्पष्ट असत् से प्रादुर्भूत होता है।

१ तुलना कीजिए इसकी डेमियूर्ज से जिसका प्रयोग प्लेटो ने अपने टाइमियस में किया है। रचनात्मक कल्पना के भाव को जिसे ई० डगलस फासेट ने अपनी दो पुस्तकों द वर्ल्ड ऐज इमेजिनेशन और डिवाइन इमैजिनिंग में दिखाया है तुलनात्मक दृष्टि से देखना चाहिए।

२ ६ ४७ १८।

३ ५ २ ६ ६ ६०, १ ३२ ४ ७ ४१ ४ ७ ६८, ५।

४ १ ५४ २।

इसलिए हम इस विचार से सहमत नही हो सकते कि "यह ऋचा भौतिक दर्शन का प्रारम्भिक रूप है जो आगे चलकर साख्यदर्शन के रूप मे विकसित हो गई।"[1]

सृष्टि की रचना कभी-कभी एक आदिपदार्थ से हुई भी कही जाती है, पुरुषसूक्त[2] मे हम देखते हैं कि देवतागण सृष्टि के साधक-मात्र हैं जबकि वह सामग्री जिससे ससार उत्पन्न हुआ, परमपुरुष का शरीर है। सृष्टिरचनारूप कर्म को एक प्रकार का यज्ञ बताया गया है जिसमे पुरुष बलि का पशु है। "यह सब भूत और भविष्यत् जगत् पुरुष ही है।"[3] ईश्वर के मानवीयकरण को ज्यो ही एक बार आश्रय दिया तो उसको फिर किसी सीमा के अन्दर बाधकर नही रखा जा सकता, और एक भारतीय की कल्पनाशक्ति उसके ईश्वर की महानता को बडी बडी आकृतियो मे परिणत कर देती है। कविहृदय विस्तृत छन्दात्मक मन्त्रो की रचना करके ससार और ईश्वर दोनो के एकत्व को अपील करता है। यह सूक्त एक परम सत्ता से विश्व की रचना के सिद्धान्त के साथ, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, असगति नही रखता। समस्त जगत् इसके अनुसार भी परम सत्ता के अपने को विषयी एव विषय के रूप मे, अर्थात् पुरुष और प्रकृति के रूप मे, विलोपन करने के ही कारण बना है। इस विचार को केवल एक अपरिमार्जित अलकार के रूप मे रखा गया है। सर्वोपरि महान सत्ता क्रियाशील पुरुष का रूप धारण कर लेती है, क्योकि कहा गया है कि "पुरुष से विराट उत्पन्न हुआ और विराट से फिर पुरुष।" इस प्रकार से पुरुष जनक भी है और जन्य भी। वह परम सत्ता के रूप मे भी है और स्वयचेतन अह भी है।

९

धर्म

हमने देखा है कि किस प्रकार भौतिक घटनाओ ने शुरू-शुरू मे मनुष्य के ध्यान को आकर्षित किया, और उनका मानवीयकरण किया गया। प्राकृतिक घटनाओ को देवताओ का रूप देने का हानिकारक प्रभाव धार्मिक विचारो और धार्मिक प्रक्रियाओ के ऊपर भी हुआ। ससार ऐसे देवतारूपी पुरुषो से भर गया जिनमे मनुष्यो की भाति न्याय करने का भाव था और जो घृणा अथवा प्रेम के मानवीय गुणो से प्रभावित भी हो सकते थे। बहुत-से देवताओ का पर्याप्त मात्रा मे मानवीयकरण भी नही हुआ और इसलिए वे आसानी से उक्त स्थिति से गिरकर प्राकृतिक रूप मे वापस चले गए। उदाहरण के लिए, इन्द्र जिसका जन्म समुद्र और मेघ से है, कभी-कभी द्युलोक से वज्र-ध्वनि के साथ, बिजली की कड़क के साथ नीचे उतर आता है। वैदिक देवता, जैसा कि ब्लूमफील्ड ने कहा है, 'पकड़े गए व्यक्तित्व' का प्रतिनिधित्व करते है। किन्तु मानवाकृतिधारी देवता भी असस्कृतरूप मे ही

१. देखें, मैक्डॉनल 'वेदिक रीडर' पृष्ठ २०७। ऐसे भी वैदिक विद्वान् हैं जिन्होंने सत् और असत् को प्राथमिक तत्त्वरूप में मान लिया है (१० : १२६, १; १० ७२, २), जहा तक आनुभविक जगत् का सम्बन्ध है। और इन्होंने ही अर्वाचीन सत्कार्यवाद—कार्य का कारण के अन्दर उपस्थित होना—और असत्कार्यवाद—कार्य का कारण के अन्दर अनुपस्थित रहना—को जन्म दिया।

२. १० : ९०। ३. १० : ९०, २।

देहधारी हैं। उनके हाथों और पाँवों की कल्पना भी मनुष्यों की ही की गई है। उन्हें शारीरिक आकृति प्रदान की गई है। जिस प्रकार का द्वन्द्व मानवीय हृदय में मनोभावों में होता है वैसा ही द्वन्द्व उनके अन्दर भी मिलता है। गौरवर्ण त्वचा की चमक-दमक भी मानव जाति के समान है और एक लम्बी दाढ़ी से चेहरे की भव्यता भी मिलती है। वे परस्पर युद्ध भी करते हैं, प्रीतिभोज भी करते हैं, मद्य भी पीते हैं एवं नृत्य भी करते हैं, खाते हैं और प्रसन्न होते हैं। उनमें से कुछ को संस्कारों में पुरोहित का पद भी प्रदान किया जाता है, जैसे अग्नि और बृहस्पति को। कुछ अन्य इन्द्र एवं मरुद्गण के समान योद्धा भी हैं। उनका भोजन भी वही है जो मनुष्यों को प्रिय है, यथा दूध और मक्खन, घी और अनाज। उनका प्रिय पेय सोमरस है। मानवीय स्वभाव की दुर्बलताएं भी उनमें पाई जाती हैं और उन्हें चाटुकारिता से सुगमता से प्रसन्न भी किया जा सकता है। कभी-कभी वे इतनी स्वार्थपरक मूर्खता का भी प्रदर्शन करते हैं और हमें क्या देना चाहिए इस विषय में बहस करने लगते हैं। "इस काम को मैं करूंगा, अमुक काम को नहीं करूंगा, मैं अमुक को गाय दूंगा अथवा क्या उसे अश्व दूं? मुझे स्मरण नहीं कि अमुक से मुझे सोम मिला था या नहीं।"[1] उनकी दृष्टि में सच्ची प्रार्थना की अपेक्षा एक प्रचुर आहुति अत्यधिक महत्त्व की है। आदान-प्रदान का सीधा-सादा कानून देवताओं एवं मनुष्यों को एक समान परस्पर सम्बद्ध रखता है, यद्यपि परवर्तीकाल के ब्राह्मणग्रन्थों में उनके आदान-प्रदान-सम्बन्धी सम्बन्ध की पूर्णता का काल अभी दूर था।

'प्रकृतिधर्म का मानवीयकरण आवश्यक रूप से उन्हें अनिष्टकारी भी बना देता है। आंधी-तूफान की पूजा करने में कोई बड़ी नैतिक हानि नहीं है, यद्यपि बिजली अच्छे-बुरे सबपर बिना भेदभाव के प्रहार करती है। इस विषय में बहाना करने की आवश्यकता नहीं है कि बिजली एक बुद्धिपूर्ण और धार्मिक चुनाव भी कर सकती है, किन्तु ज्योंही एक बार आप एक ऐसे अधमानुष देवता की पूजा करने लगते हैं जो बिजली गिराता है, आप एक प्रकार के उभयसम्भव तर्क को जन्म देते हैं। या तो आपको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आप एक ऐसी सत्ता की पूजा एवं उसकी चापलूसी कर रहे हैं जिसमें कुछ भी नैतिक ज्ञान नहीं है क्योंकि वह भयंकर है, अन्यथा आपको ऐसे कारण गढ़ने पड़ेंगे जिनसे उसके उन व्यक्तियों के प्रति क्रोध की व्याख्या हो सके, जिनपर वह प्रहार करती है। और ऐसे कारण निश्चय ही अनुचित होंगे। ईश्वर को यदि मानवीय रूप में माना जाएगा तो वह अवश्य अस्थिरमति व क्रूर होगा।'[2] इस प्रकार के मत को स्वीकार करनेवाला भौतिक *शक्तियों की बलि पूजा इमानदारी से परे है और केवल उपयोगितावादी है।* हम ऐसे देवताओं से डरते हैं जो हमें नुकसान पहुंचा सकते हैं और उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं जो हमें हमारे दैनिक जीवन में सहायता देते हैं। हम इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि वह वर्षा करे और साथ-साथ यह भी याचना करते हैं कि वह तूफान को दूर रखे। सूर्य से प्रार्थना की जाती है कि वह उष्णता दे और यह कि झुलसानेवाली गर्मी को दूर रखे जिससे सूखा या दुर्भिक्ष न पड़ने पाए। देवता भौतिक समृद्धि के भी उद्गम बनते हैं और

१ ओल्डनबर्ग, 'एन्शेण्ट इण्डिया', पृष्ठ ७१।
२ गिल्बर्ट मरे, 'फाइव स्टेजेज आफ ग्रीक रिलिजन', पृष्ठ ८।

सासारिक पदार्थो के लिए प्रार्थनाए प्रायः ही सामान्य रूप से पाई जाती है। और चूकि कर्मो और गुणो का विभाग भिन्न है, हम खास-खास देवताओ से खास-खास पदार्थो की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते है।[1] देवताओ की स्तुति एक ही प्रकार की और सरल है।[2] देवताओ को साधुवृत्त मानने की अपेक्षा अधिकतर शक्तिशाली के रूप मे और सदाचारी होने की अपेक्षा सामर्थ्यवान के रूप मे माना गया है। इस प्रकार का धर्म मनुष्यो की नैतिकता-सम्बन्धी उच्च आकाक्षाओ के लिए सन्तोषप्रद नही हो सकता। यह वैदिक आर्य के प्रवल नैतिक भाव को दर्शाता है कि उपयोगितावादी पूजा की प्रचलित प्रवृत्ति के विद्यमान रहते हुए भी वह सामान्यरूप से देवताओ को साधुवृत्त मानता है, जिनका झुकाव सज्जनो की सहायता करने एव दुर्जनो को दण्ड देने की ओर है। मनुष्य की उच्चतम धार्मिक महत्त्वाकाक्षा अपने को परमब्रह्म के साथ सयुक्त करने की है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है।[3] अनेक देवताओ का अस्तित्व अपने भक्तो को परमब्रह्म तक पहुचाने मे एक प्रकार से सहायक ही था।[4]

यज्ञो का प्रचार होना अनिवार्य था। क्योकि ईश्वर के प्रति प्रेम की गहराई इसीमे निहित है कि उपासक अपने सर्वस्व और सम्पत्ति को ब्रह्म के अर्पित कर दे। हम प्रार्थना एव समर्पण करते है। जिस समय यज्ञात्मक समर्पण केवल औपचारिक रूप मे थे, तव भी भावना को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था और यज्ञ के वास्तविक स्वरूप पर ही वल दिया जाता था। "इन्द्र के प्रति भावपूर्ण वाणी वोलो, जो घी या मधु से अधिक मधुर है।"[5] प्रत्येक सस्कार मे श्रद्धा का भाव आवश्यक है।[6] वरुण ऐसा देवता है जोकि मानवीय हृदय के गुह्यतम भागो मे प्रवेश करके अन्तर्निहित प्रेरक भाव का पता लगाता है। धीरे-धीरे देवताओ को मानवीय, और आवश्यकता से अधिक मानवीय, रूप दे देने के कारण उन्होने सोचा कि ईश्वर के हृदय मे स्थान पाने के लिए पूर्ण भोजन अर्पण करना सवसे उत्तम मार्ग है।[7]

मनुष्यवलि के प्रश्न पर वहुत वाद-विवाद हो चुका है। शुनश्शेप[8] का आख्यान यह नही लक्षित करता कि मनुष्यवलि की आज्ञा अथवा उसका प्रोत्साहन वेदो मे पाया जाता है। हम अश्वमेध[9] के विपय मे भी सुनते हैं। किन्तु इन सवके विरोध मे उस समय

१ १० . ४७, १, ४ : ३२, ४; २ ' १, २ . ६, ७ ५६, ७ २४, ६, ७ ६७, १६।
२ १० ४२, ४।
३. ऋग्वेद, १० ' ८८, १५, १ : १२५, ५; १० १०७, २।
४. १ . २४, १।
५. २ . २४, २०, ६ १५, ४७।
६. १ ' ५५, ५; १ . १३३, ५; १ ' १०४, ६।
७. "होमर में अनुष्ठान की विधि सरल और एक ममान है। इसमें प्रार्थना के साथ-साथ अनाज के कण विखेर दिए जाते ह और उसके वाद जले हुए प्राणी की आहुति दी जाती है। मास के एक भाग को पुजारी चखते है और तव उसे आग में डालकर देवताओं को अर्पित किया जाता है। शेप भाग प्रातिभोज की भाति खूब मदिराके साथ खाया जाता है।" (ग्रीसन 'स्टेजेज आँफ ग्रेसियन लाइफ' पृष्ठ ८७-८८।) अग्नि भारत में मुख्य रूप से यज्ञोंका देवता है। प्राचीन ग्रीस देश में भा यह इसी प्रकार से मानी गई है। अग्नि पृथ्वीलोक से आहुतियों को अन्तरिक्षलोक के देवताओं तक पहुचाती है। इन सव विपयों में विशेपरूप से भारतीय कुछ नहीं है।
८. ऋग्वेद, १ . ६, २४।
९. ऋग्वेद, मडल २, ३, ६, ७।

म भी घोर प्रतिवाद सुना जाता था। सामवेद कहता है, 'हे देवताम्रो ! हम यज्ञ सम्बन्धी किसी खम्भे का प्रयोग नहीं करते, हम किसीकी हिंसा नहीं करते, हम केवल पवित्र मन्त्रों का बारम्बार उच्चारण करके पूजा करते हैं।'[1] इस विद्रोह की आवाज को उपनिषदों ने अपनाया और बौद्ध एव जन सम्प्रदायों ने इस आगे बढ़ाया।

यज्ञ वदिक धर्म की दूसरी श्रेणी है। प्रथम श्रेणी म केवल सरल प्रार्थना का ही विधान था। पाराशरस्मृति के अनुसार हमारे यहां 'कृतयुग म समाधि का त्रेतायुग में यज्ञों का द्वापर में पूजा का और कलियुग म स्तुति एव प्रार्थना का विधान है।' यह मत विष्णुपुराण के मत के साथ पूर्णरूप से मिलता है जहां कहा गया है कि यज्ञ सम्बन्धी नियमों का निर्माण त्रेतायुग म हुआ।[2] हम यहां युगों के विभाग के विषय म भले ही सहमत न हो सकें किन्तु धार्मिक प्रक्रियाम्रों की प्रगति समाधि से यज्ञ की ओर यज्ञ से पूजा की ओर और पूजा से स्तुति एव प्रार्थना की ओर यथार्थ घटनाम्रों के ऊपर अवश्य आधारित है।

वदिक धर्म मूर्तिपूजक धर्म नहीं प्रतीत होता। उस समय देवताम्रों के मन्दिर नहीं थे। मनुष्य बिना किसी दूसरे की मध्यस्थता के देवताम्रों से सीधा सम्बन्ध रखते थे। देवताम्रों को अपने उपासकों का मित्र समझा जाता था। 'द्यौष्पिता' 'भूमि माता', 'अग्नि भ्राता'—ये वाक्य निरर्थक नहीं हैं। मनुष्यों और देवताम्रों के मध्य उस समय अत्यन्त घनिष्ठ मित्रता का नाता था। धर्म का जीवन के समस्त भागों म आधिपत्य था। ईश्वर के ऊपर लोग पूर्णरूपेण निर्भर करते थे। जीवन की साधारण-सी आवश्यकताम्रों के लिए भी लोग प्रार्थना करते थे। 'आज हमें अपना दनिक भोजन दो' यह वदिक आर्य के भाव के अनुकूल प्रार्थना थी। जीवन के सामान्य भोगों के लिए भी ईश्वर के ऊपर निर्भर करनेवाले भक्त की सच्ची भक्ति का यह एक नमूना है। जसा कि हम पहले कह आए हैं उच्च श्रेणी के आस्तिकवाद के सब सारभूत तत्त्व हम वरुण की पूजा म मिल जाते हैं। यदि भक्ति का अर्थ एक देहधारी ईश्वर म विश्वास उसके प्रति प्रेम उसीकी सेवा म सर्वस्व अर्पण करना और उसीकी विशेष भक्ति द्वारा मोक्षप्राप्ति आदि समझे जाएं तो निश्चय ही हम ये सब तत्त्व वरुण की पूजा म मिलते हैं।

मण्डल १० का १५वां एव उसी मण्डल का ५४वां सूक्त (?) हम पितरों को सम्बोधन करते हुए मिलेंगे। पितर वे सौभाग्यशाली मतात्मा हैं जो स्वर्ग मे निवास करते हैं। वदिकसूक्तों म देवताम्रों के साथ-साथ उनकी भी स्तुति की जाती है।[3] यह कल्पना की जाती है कि वे अदृश्य आत्माम्रों के रूप म प्रार्थनाम्रों एव यज्ञों म दी गई आहुतियों को ग्रहण करने के लिए आते हैं। इस सामाजिक परम्परा को पितृपूजा के रूप म श्रद्धा भाव से देखा जाता है। वेदों के विद्यार्थी ऐसे भी हैं जिनका विश्वास है कि ऋग्वेद के सूक्तों म स्वर्गीय पूर्वजों की पवित्र आत्माम्रों को उद्दिष्ट करके उत्तरक्रियाक्रम सम्बन्धी आहुतियां एव उपहार देने का कोई विधान नहीं है।

१ मण्डल १ मण्डल २ ६ २। २ ६ २ देखें पुरुरवा की कथा।
३ १५।
४ बिहारी लाल ? वेदाज पृष्ठ १ १।

वैदिकधर्म के विरुद्ध जो एक आक्षेप साधारणतः किया जाता है वह यह है कि वेदों मे पाप के प्रति अभिज्ञा का अभाव है। यह एक भ्रममूलक मत है। वेदो के अन्दर ईश्वर से विमुख होने को ही पाप (अधर्म) माना गया है।[1] पाप के विषय मे जो वैदिक धारणा है वह हीब्रू सिद्धान्त के सदृश है। ईश्वरेच्छा ही नैतिकता का मानदण्ड है। मानवीय अपराध ही न्यूनता है। हम पाप तभी करते है जब हम ईश्वर की आज्ञाओ का उल्लघन करते है। देवता ऋत, अर्थात् ससार की सदाचार-सम्बन्धी व्यवस्था, को धारण करनेवाले हैं। वे सज्जनो की रक्षा करते है एव दुर्जनो को दण्ड देते हैं। बाह्य कर्तव्यो के पालन न करने मात्र का नाम ही पाप नही है। पाप दो प्रकार के होते हैं—एक नैतिक पाप और दूसरा कर्मकाण्डविषयक पाप।[2] यह पाप की चेतना ही है जिसके कारण शमनकारी यज्ञो का विधान किया जाता है। विशेष रूप से वरुण की कल्पना मे हमे पाप और क्षमा की भावना मिलती है, जो हमे आधुनिक ईसाईधर्म के सिद्धान्तो का स्मरण कराती है।

जबकि साधारणतया ऋग्वेद के देवताओ को नैतिकता के सरक्षक समझा जाता है, उसमे से कुछेक अब भी अपनी अहकारपूर्ण भावनाओ को बनाए हुए है, जोकि वस्तुत. वृहदाकाररूप मानव ही हैं, और ऐसे कवियो का भी अभाव नही है जो इस सबके अन्दर की पोल को साक्षात् देख सकते है। एक सूक्त-विशेष[3] मे निर्देश किया गया है कि किस प्रकार सभी देवता एव मनुष्य स्वार्थ के वश मे हैं। वैदिक पूजा का ह्रास कई देवताओ की इस निम्नस्तर की भावना के कारण ही हुआ। अन्यथा हम उस सुन्दर सूक्त[4] का आशय समझ नही सकते जो बिना किसी देवी-देवता की प्रसन्नता का विचार किए परोपकार की भावना रूपी कर्तव्य पर विशेष बल देता है। देवता शुद्ध नैतिकता के नियमो की रक्षा करने मे अत्यन्त असमर्थ हो गए प्रतीत होते है। धार्मिक क्रियाकलापो से स्वतन्त्र नीति-शास्त्र की भावना के—जिसे बौद्धमत ने प्रचलित किया—सम्बन्ध मे हमे यहा सकेत मिलता है।

१०

नीतिशास्त्र

ऋग्वेदप्रतिपादित सदाचार की ओर ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि वहा 'ऋत' के विचार का बहुत बडा महत्त्व है। यह कर्मसिद्धान्त का, जोकि भारतीय विचारधारा का एक विशिष्ट स्वरूप है, पूर्वरूप है। यह वह कानून है जो ससार मे सर्वत्र व्याप्त है और जिसे सब देवताओ एव मनुष्यो को अवश्य पालन करना चाहिए। यदि ससार मे कोई कानून (त्रिकालाबाधित नियम, ऋत) है तो उसे अवश्य क्रियात्मक रूप मे आना ही चाहिए। और यदि किसी कारण से इसके कार्यों का प्रकाश इस भूलोक मे नही हो सका, तो उनका फल अवश्य ही अन्यत्र कही मिलेगा। जहा नियम कार्य करता है वहा अव्यवस्था अथवा

१. ७ . ८६, ६; और भी देखिए, ७ · ८८, ५, ६।
२. १ : २३, २२, १ : ८५। ३. ६ : ११५। ४. १० · ११७।

पर्याय केवल अस्थायी एवं सांसारिक रूप से ही रह सकते हैं। दुर्जन की विजय स्थायी एवं निश्चित नहीं होती। सज्जन पुरुष का अहित निराशा का कारण न होना चाहिए।

ऋत हमारे आगे सदाचार का एक मानदण्ड भी प्रस्तुत करता है। यह वस्तुओं का यथार्थ सारतत्त्व है। यह सत्य है अर्थात् वस्तुओं की यथार्थता है। अव्यवस्था अथवा अनृत मिथ्या है जो सत्य का विरोधी एवं ऋत के विपरीत है। जो ऋत, अर्थात् सत्य एवं व्यवस्थित मार्ग का अनुसरण करते हैं वे सत्पुरुष हैं। व्यवस्थित आचरण को सत्यव्रत कहा जाता है। ऋत के मार्ग का अनुसरण करनेवाले के जीवन व्यवहारों को 'ऋतानि' कहा जाता है। स्थिरता एवं सगति धार्मिक जीवन का मुख्य लक्षण है। अग्नि धर्मानुयायी अपने व्यवहार में परिवर्तन नहीं करता। वरुण जो ऋत के मार्ग का अनुसरण करनेवाला है धृतव्रत है अचलव्रत है—अर्थात् उसके व्यवहार में परिवर्तन नहीं होता। जब कर्मकाण्ड का महत्त्व बढ़ने लगा, ऋत यज्ञ अथवा धर्मात्मक अनुष्ठान का पर्यायवाची हो गया।

सामान्य नीतिशास्त्र का सामान्य वर्णन करने के पश्चात् सूक्तों में प्रदर्शित नैतिक जीवन के विशिष्ट सारतत्त्व ब्योरेवार दिए गए हैं। देवताओं के प्रति प्रार्थना करनी चाहिए धार्मिक अनुष्ठान करने चाहिए।[1] वेद मनुष्यों एवं देवताओं के मध्य एक निकटतम एवं घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन के व्यवहार में सर्वज्ञ ईश्वर को साक्षी मानकर चले। देवताओं के प्रति जो हमारे कर्तव्य हैं उनके अतिरिक्त मनुष्य जाति के प्रति भी कुछ कर्तव्य हैं। सबके प्रति दया का भाव रखने के रूप में विधान किया गया है। अतिथिसत्कार की गणना महान् पुण्यकर्मों में की गई है। जो दाता है उसका धन कभी क्षीण नहीं होता। ऐसे मनुष्य को कोई सान्त्वना नहीं दे सकता जो भोजन के पदार्थ को पास में रखते हुए भी एक निर्बल व्यक्ति के प्रति जिसे पौष्टिक भोजन की अत्यन्त आवश्यकता है अपने हृदय को निष्ठुर एवं कठोर बना लेता है और सहायता के लिए आए हुए दुःखी व्यक्ति के आगे भी जिसका हृदय नहीं पसीजता किन्तु इसके विपरीत उसके सामने ही अपने भोगों में मग्न रहता है।[2] इन्द्रजाल जादूविद्या नारीहरण एवं व्यभिचार को पापकर्म बताकर दूषित ठहराया गया है।[3] जुए को वर्जित माना गया है।[4] धार्मिक गुण ईश्वरीय नियम की अनुकूलता है और इसमें मनुष्य के प्रति प्रेम भी आ जाता है। दुष्कर्म उस ईश्वरीय नियम का उल्लंघन है। *यदि हमने ऐसे किसी मनुष्य के प्रति जो हमसे प्रेम करता है पाप किया है मित्र अथवा* साथी का अनिष्ट किया है किसी पड़ोसी को जो सदा हमारे साथ रहता है अथवा पराये को भी कभी नुकसान पहुंचाया है तो हे प्रभु! इस नियमोल्लंघनरूपी पाप से हमें मुक्त करो।[5] कुछेक देवता ऐसे हैं जिन्हें धार्मिक मार्ग से दान उपहार की किसी

१ देखें ऋग्वेद ७ ५६ १२ ६ ११५ ४ २ ६ १० ४ ५ ५ = ६ २ १२ ७ ४७ ३।
२ ६ १२१ १ १० ३७ ५।
३ ऋग्वेद १ १ ४ ६ १ १ = ६ २ २६ ३ १ १४१।
४ ऋग्वेद १० ११७।
५ = ६ ५ १ २, ६।
६ ७ १ ४ = और भी आगे ४ ५ ५।
७ ऋग्वेद ५ = ५ ७।

भी मात्रा के द्वारा फुसलाकर विचलित नही किया जा सकता। "उनके अन्दर दाये-वाये का भेद लक्षित नही कर सकते, आगे और पीछे का भी भेद नही कर सकते। वे कभी न पलक झपकाते है, न सोते हैं। उनका प्रवेश सव वस्तुओ मे अवाधित है, वे भलाई एव बुराई का गहराई के साथ निरीक्षण करते है; सुदूरस्थ पदार्थ भी उनके अत्यन्त समीप है; वे मृत्यु को गर्हित समझते है एव यमराज को दण्ड देते है, समस्त जगम जगत् को धारण करते है एव स्थिर रखते है।"

यहा वैराग्यपरक प्रवृत्ति के भी सकेत पाए जाते है। कहा गया है कि इन्द्र ने तपस्या के वल से ही अन्तरिक्षलोक पर विजय प्राप्त की।[1] किन्तु प्राधान्य तपस्वी-जीवन का नही है। वैदिक सूक्तो के अन्दर हम प्रकृति के सौन्दर्य, उसकी महानता एव उसकी भव्यता और कारुण्यमय स्वभाव के प्रति उत्कट अनुराग पाते है। यज्ञो के अन्दर प्रेरणा का लक्ष्य ससार की उत्तम वस्तुओ के प्रति प्रेम है। हमे अभी भी दु ख और उदासी से रहित ससार मे गभीर आनन्द दिखाई पडता है। यद्यपि तपस्या के क्रिया-कलाप भी प्रचलित थे। उपवास और परहेज को नानाविध अतिप्राकृतिक शक्तियो को प्राप्त करने का साधन माना जाता था। कहा जाता है कि समाधि की अवस्थाओ मे देवता मनुष्यो के अन्दर प्रवेश करते है।[2] तपस्वी महात्माओ की समाधि-अवस्थाओ का सवसे पुरातन वर्णन ऋग्वेद के दसवे मण्डल के १३६वे सूक्त मे मिलता है।[3]

हिन्दूसमाज के चार वर्गो मे विभाजन का सवसे पहला वर्णन हमे पुरुषसूक्त मे मिलता है। इस सस्था की स्वाभाविक विधि और किस तरह इसका उदय हुआ इसे समझने के लिए हमे अवश्य स्मरण रखना होगा कि विजेता आर्य परस्पर रक्त-सम्वन्ध एव जातिगत पूर्वजो के नाते भारत की विजित आदिम वन्य जातियो से भिन्न थे। प्रारम्भिक आर्य लोग सव एक ही वर्ग के थे, प्रत्येक व्यक्ति पुरोहित और योद्धा, वाणिज्य-व्यवसायी और किसान था। पुरोहितो की कोई पृथक् विशेपाधिकारसम्पन्न सस्था नही थी। किन्तु जीवन की जटिलता के कारण आर्य लोगो मे वर्गभेद को जन्म मिला। यद्यपि शुरू-शुरू मे हरेक मनुष्य देवताओ के प्रति किसी अन्य पुरुप के माध्यम से यज्ञ का अनुष्ठान कर सकता था, पुरोहितवर्ग और कुलीन तन्त्र ने अपने को निम्न श्रेणी के लोगो से पृथक् कर लिया। आरम्भ मे वैश्य शब्द समस्त मानव-समुदाय के लिए प्रयुक्त होता था। जैसा कि हम देखेंगे, जव यज्ञों ने अपने लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान वना लिया—जवकि जीवन की वढती हुई जटिलता के कारण जीवन का विभाजन भी आवश्यक हो गया—तो कतिपय विशिष्ट परिवार जो शिक्षा, वुद्धिमत्ता, काव्य-सम्वन्धी एव काल्पनिक नैसर्गिक प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध थे, पूजा मे 'पुरोहित' के नाम से प्रतिनिधित्व करने लगे—पुरोहित का अर्थ है वह जिसे सवसे आगे रखा जाए। और जव वैदिकधर्म और अधिक विकसित होकर एक क्रमवद्ध क्रिया-कलाप के रूप मे आ गया, इन परिवारो ने अपनी एक पृथक् जाति वना ली। आर्य लोगो की परम्परा को सुरक्षित रखने के महत्त्वपूर्ण कार्य के कारण

१ १० . १२७। २. १० . ८६, २।
३. और भी देखिए, ७ . ५६, ६, १० ११४, २; १० १६७, १; १० : १०६, ४।

इस वर्ग को अपनी आजीविका के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि ऐसे लोग जिन्हें निरंतर जीवन के क्षुद्र उत्तेजित एवं व्याकुल वातावरण में अपनी आजीविका अर्जन करने के लिए व्यस्त रहना पडे, विचार एवं चिंतन के लिए आवश्यक स्वच्छन्दता एवं अवकाश प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार एक ऐसा वर्ग विशेष जो आत्म सम्बन्धी विषयों में पूर्णरूप से निमग्न रह सके अस्तित्व में आ गया। ब्राह्मण वर्ग पुरोहितों की इस प्रकार की एक संस्था नहीं है जिनके लिए निश्चित सिद्धान्तों का समर्थन करना आवश्यक समझा जाए किन्तु एक ऐसा बुद्धिजीवी कुलीन तन्त्र है जिसके सुपुर्द जन साधारण के उच्चतम जीवन के निर्माण का कार्य था। वे राजा लोग जो विद्वान ब्राह्मणों के आश्रयदाता थे अथवा ऐसे राजा लोग जिन्होंने उस समय शासन का भार अपने ऊपर ले रखा था क्षत्रिय कहलाए। क्षत्रिय शब्द की उत्पत्ति क्षत्र शब्द से है जिसका अर्थ है शासन अथवा आधिपत्य। यह अर्थ वेदों जिन्दावस्ता (पारसियों के धर्मग्रन्थ) और फारस के शिलालेखों में एक समान है। बाकी सब लोग एक श्रेणी के माने जाते थे और वैश्य नाम से पुकारे जाते थे। यह विभाग शुरू-शुरू में तो पेशे का द्योतक था किन्तु बाद में पैतक परम्परा का रूप पकड़ गया। वैदिक सूक्तों के काल में पेशों का सम्बन्ध किसी जाति विशेष के साथ नहीं था। मनुष्यों की नानाविध रुचियों का वर्णन करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है "मैं एक कवि हूं, मेरा पिता चिकित्सक है और मेरी मां अनाज पीसनेवाली है।"[1] ऐसे भी अंश मिलते हैं जो उदय होती हुई ब्राह्मणशक्ति की ओर संकेत करते हैं। "वह अपने घर में शान्तिपूर्वक और आराम से रहता है, उसके लिए पवित्र और पुष्कल परिमाण में भोजन स्वयं प्राप्त हो जाता है, जन साधारण उसके लिए स्वेच्छा से आदर व सत्कार का भाव प्रदर्शित करते हैं—वह राजा है जिसके आगे ब्राह्मण को सत्कार पाने का अधिकार है।"[1] वे सब जो शिल्प एवं दस्तकारी सम्बन्धी धन्धों में प्रवृत्त थे, जो युद्ध करनेवाले थे अथवा वाणिज्य व्यवसाय का पेशा करते थे एक ही जाति के थे। यह जाति एक बड़ी खाई के रूप में उन दो जातियों से भिन्न एव विभक्त थी जो विजित जातियां थीं अर्थात (क) द्रविड जो चौथी श्रेणी के थे (ख) और आदिम वन्य जातियां। आर्य और दस्यु के विभाग जातिपरक थे, जो रक्त और वर्ण के आधार पर थे। कभी कभी कहा जाता है कि जिन आदिम वन्य जातियों को आर्य लोगों ने मत परिवर्तन कराके अपने में मिलाया वे शूद्र हो गए और जिन्हें उन्होंने बहिष्कृत समझा वे पंचम कहलाए।[2] दूसरे लोगों का कहना यह है कि आर्यों के दक्षिणी भारत में आने से पूर्व ही उनके अपने ही अन्दर शूद्र विद्यमान थे। इन दो परस्पर विरोधी मतों में कौन-सा ठीक है यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

वर्णव्यवस्था न तो केवल आर्यों की और न ही केवल द्रविडों की थी किन्तु इसका प्रचार उस काल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया गया था जबकि भिन्न भिन्न जातियों को एकसाथ मिलकर सौहार्दपूर्वक यहां रहना था। उस काल में यह व्यवस्था देश के लिए एक प्रकार से मुक्ति के समान वरदान सिद्ध हुई भले ही वर्तमान काल में इसकी

१ ९। ११२, ३। २ ४। ५०, ८।

१ २ स्लेटर, फर्कुहर: 'आउटलाइन आफ द रिलिजस लिटरेचर आफ इंडिया', पृष्ठ ६।

प्रवृत्ति जो भी हो। किसी भी जाति की संस्कृति को सुरक्षित बचाकर रखने का, जिसे बहुसख्यक आदिनिवासियो के मिथ्याविश्वासो मे समा जाने का भय हो, एक ही उपाय था कि तात्कालिक संस्कृतिगत एव जातिगत भेदो को लौह सीमाओ मे बाधकर रखा जाए। दुर्भाग्यवश सामाजिक सगठन को अवनति एव ह्रास से बचाने के लिए जो यह नीति अगीकार की गई थी, आगे जाकर सस्कृति की उन्नति के मार्ग मे बाधक हो गई।[1] जिस समय उन्नति की लहर की माग थी कि उक्त बधन शिथिल हो जाए तब भी वे शिथिल न हुए। उन बन्धनो ने सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित तो रखा किन्तु वे राष्ट्र की सर्वांग उन्नति मे सहायक सिद्ध न हो सके। किन्तु इसके कारण हम वर्ण-व्यवस्था के उस उद्देश्य को जो इसे प्रचलित करने के मूल मे था, दूषित नही ठहरा सकते। केवल वर्ण-व्यवस्था के कारण ही यह सम्भव हो सका कि भिन्न-भिन्न जातिया बिना युद्ध के परस्पर एकसाथ मिलकर रह सकी। भारत ने उस समस्या को, अर्थात् अन्तर्जातीय सम्बन्ध की समस्या को बहुत शातिपूर्ण ढग से सुलझा लिया था, जिसे अन्य जातिया मारकाट के बिना न सुलझा सकी। जब यूरोपियन जातियो ने दूसरो पर विजय पाई, तो उन्होने विजित जातियो के मानवीय गौरव को मिटाने एव उनके आत्मसम्मान को सर्वथा नष्ट करने मे कोई कसर नही रखी। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा वैदिक आर्य विजेता एव विजित दोनो जातियो की ईमानदारी की साख एव स्वातन्त्र्य को सुरक्षित रखने मे समर्थ हो सके, जिसके कारण पारस्परिक विश्वास एव सामजस्य को प्रोत्साहन मिल सका।

११

परलोकशास्त्र

वैदिक आर्यो ने अपने बल के अभिमान और विजय के हर्ष को लेकर भारत मे प्रवेश किया था। उन्हे अपने जीवन की पूर्णता से प्रेम था। इसलिए आत्मा के भविष्य के विषय में विचार करने की उन्हे कोई विशेष रुचि न थी। जीवन उनकी दृष्टि मे उज्ज्वल एव सुखमय था और सब प्रकार के क्रोधी एव चिडचिड़े स्वभाव से उत्पन्न होनेवाले कष्टो से उन्मुक्त था। वे मृत्यु मे अनुरक्त नही थे। वे अपने लिए और अपनी समृद्धि के लिए शतायु होने की कामना करते थे।[2] मृत्यु के उपरान्त के जीवन के विषय मे उनके कोई विशेष सिद्धान्त न थे यद्यपि स्वर्ग और नरक के विषय मे कुछ अस्पष्ट विचार विचारशील व्यक्तियो द्वारा

१ रीज डेविड्स नामक विद्वान वर्गो की वर्णगत कठोरता का वर्णन करते हुए लिखता है, "यह बहुत सम्भव है कि यह महत्त्वपूर्ण कदम इसलिए उठाया गया हो और उसका कारण मुख्य रूप से यह रहा हो कि पहले से ही अनार्यजातियों को आर्यजातियों के अन्दर विवाह न करने के ऊपर एवं किसी आर्येतर को आर्यजाति के अन्दर प्रवेश कराने पर एक कठोर प्रतिबन्ध लगा हुआ हो। आर्यो की यह परम्परागत कमजोरी थी कि वे दूसरी जातियों को हीनता की दृष्टि से देखते थे, जिसकी प्रतिक्रिया उनकी असहिष्णुता के कारण यह हुई कि शताब्दियों तक उन्हें इसका कड़वा फल भोगना पड़ा।" ('हिबर्ट लेक्चर्स', पृष्ठ ७३।)

२. ऋग्वेद, १० . १८।

अपरिहार्य न रह सके थे। पुनर्जन्म का सिद्धान्त अभी भी दूर था। वैदिक आर्यों को इस बात का निश्चय था कि मृत्यु ही वस्तुओं का अन्त नहीं है। जैसे रात्रि के पीछे दिन आता है मृत्यु के बाद भी जीवन होना चाहिए। एक बार उत्पन्न होनेवाले प्राणी सदा के लिए निःशेष नहीं हो सकते। उन्हें कहीं न कहीं विद्यमान रहना चाहिए सम्भवतः अस्ताचल गामी सूर्य के राज्य में जहां कहा जाता है कि यम का शासन है। मनुष्य की कल्पना ने मृत्यु के भय से कांपकर भी अभी तक यम को वन्दना लेनेवाले एक भयानक देवता के रूप में स्वीकार नहीं किया था। यम और यमी मरनेवालों में सबसे प्रथम परलोक में प्रविष्ट हुए जिनका शासन उस लोक पर है। कल्पना की जाती है कि मनुष्य जब मरता है तब वह यम के राज्य में पहुंच जाता है। यम ने हमारे लिए एक स्थान बनाया है एक ऐसा घर जो हमसे छीना जानेवाला नहीं है। जबकि शरीर को फेंक दिया जाता है, आत्मा को एक उज्ज्वल दीप्तिमान आत्मिक आकृति मिलती है और वह देवताओं के स्थान पर चली जाती है जहां यम और पितर लोग अमर होकर निवास करते हैं। ऐसी कल्पना की जाती है कि मृत पुरुष इस स्वर्गलोक में हैं। जल एवं एक पुल (सम्भवतः वैतरणी नदी से तात्पर्य है) पार करके पहुंच जाते हैं।[1] पितरों एवं देवों के मार्ग के विषय में एक वर्णन ऋग्वेद के १०वें मण्डल की ८८ १५वीं ऋचा में पाया जाता है। जैसा संकेत किया गया है यह सम्भव है कि अन्त्येष्टिसंस्कार के समय अथवा सामान्यतः सभी यज्ञों के समय उत्पन्न होनेवाले धुएं के आधार पर यह कल्पना की गई हो जो भिन्न भिन्न मार्गों से ऊपर आकाश की ओर उठता है। यह मार्ग भेद अभी भी अविकसित रूप में ही है।

मृतात्माएं स्वर्गलोक में यम के साथ आमोद प्रमोद में मग्न रहती हैं। वे वहां हमारे ही समान जीवन-यापन करती हैं। स्वर्ग के सुखभोग पृथ्वीलोक के सुखों से उन्नत और उच्च कोटि के हैं। ये प्रकाशमान पदार्थ उनके अन्न हैं जो उपहार देते हैं। उनके लिए स्वर्ग में सूर्य भी है वे अमरत्व प्राप्त करते हैं वे अपने जीवन को दीर्घ बनाते हैं।[2] कभी-कभी भविष्य-जीवन सम्बन्धी वैदिक चित्रांकन में विषयभोग के रूप पर विशेष बल दिया गया है। किन्तु जैसा कि डयूसन का कहना है जीसस ने भी स्वर्ग के राज्य का वर्णन करते हुए उसे एक प्रकार की उत्सव जैसी सभा का रूप दिया है जहां कि सब एकसाथ टेबल के चारों ओर बैठकर भोजन करते हैं[3] व मदिरा का पान करते हैं।[4] और यहां तक कि दान्ते या मिल्टन भी इसका अन्य किसी रूप में अंकन नहीं कर सके और उन्होंने भी इसके लिए पृथ्वी पर के आमोद प्रमोद के चित्र को ही उधार लिया।[5] कल्पना की गई है कि देवगण सोमरस की शक्ति द्वारा अमरता को प्राप्त हो जाते थे। देवताओं के समान बनना हमारे प्रयत्न का भी लक्ष्य है। क्योंकि देवगण एक आध्यात्मिक स्वर्ग में निवास करते हैं जहां व दुःख से परिमुक्त आनन्द का उपभोग करते हैं। न उन्हें भूख लगती है न प्यास सताती है और न उन्हें विवाह की ही आवश्यकता अनुभव होती है।

१ १० ६ १ ९ ४१ २।
२ १ १२५, ६।
३ सेंट मैथ्यू ७ ११।
४ सेंट मैथ्यू २६, ९
५ द फिलासफी आफ द उपनिषद्स,' पृष्ठ ३२।

परलोक के आदर्श-वर्णन मे पृथ्वीलोक के जीवन और इस जीवन के उपरान्त के जीवन मे भेद का भाव उदय होता है। देवता सौभाग्यशाली है; वे अमर है। हम सब तो केवल एक दिन के बच्चे है। देवताओ को ऊपर स्वर्ग मे सुख है, जहा यम का शासन है। हमारे भाग्य मे पृथ्वीलोक मे दु ख बदा है। हमे अमरत्वप्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए ? हमे देवताओ को लक्ष्य करके यज्ञ करने चाहिए, क्योकि अमरता देवो से डरनेवालो के लिए स्वर्ग से दिया गया नि शुल्क उपहार है। देवताओ की पूजा करनेवाला व्यक्ति अमर हो जाता है। "हे अग्निदेव ! वह मर्त्य मनुष्य जो तुम्हारी पूजा करता है, आकाश मे चन्द्रमा बन जाता है।"[1] कठिनाई का पहले भी अनुभव हुआ है। क्या वह चन्द्र बन जाता है या चन्द्र के समान बन जाता है ? सायण ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, "वह चन्द्रमा के समान सबको आह्लाद देनेवाला बन जाता है।"[2] दूसरे इसके प्रतिकूल कहते है कि नही, वह चन्द्रमा ही बन जाता है।[3] इस विषय के सकेत मिलते है कि वैदिक आर्य अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने पूर्वजो से मिलने की सम्भावना मे विश्वास करता था।[4]

प्रश्न उठता है कि यदि हम देवताओ की पूजा न करे तो हमारा क्या हो जाएगा। क्या स्वर्ग के समान नरक भी कुछ है ?—अर्थात्, नैतिक अपराधियो के लिए एक पृथक् स्थान, उन नास्तिको के लिए जो देवताओ मे विश्वास नही करते। यदि स्वर्ग केवल पुण्यात्माओ एव साधुपुरुषो के लिए है तो दुश्चरित्र व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त एकदम विलुप्त हो नही सकते, और न ही वे स्वर्ग मे जा सकते है। इसलिए एक नरक की भी आवश्यकता है। हम वरुण के विषय मे सुनते हैं कि वह पापियो को गहरे गढे मे नीचे ढकेल देता है, जहा से वे कभी वापस नही लौटते। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासको को नुकसान पहुचानेवाले को नीचे अन्धकार के सुपुर्द कर दे।[5] दुश्चरित्रो का अन्त इसी प्रकार होना चाहिए कि वे उस अन्धकार के गड्ढे मे गिरकर नष्ट हो जाए। हमे इस समय तक नरक की उस हास्यास्पद, भद्दी और भयकर कल्पना के दर्शन नही होते जोकि परवर्ती पुराणो मे पाई जाती है। पुण्यात्माओ के लिए स्वर्ग और पापियो के लिए नरक, यह साधारण नियम है। पुण्य के लिए पुरस्कार और पाप के लिए दण्ड मिलता है। यद्यपि ड्यूसन का ऐसा मत है, जिससे मैं सहमत नही हू, कि मृत्यु के पश्चात् अज्ञानी लोग एक ऐसे सुखवर्जित और अधकारपूर्ण देश मे चले जाते हैं जो वैसा ही एक लोक है जैसे मे हम निवास करते है। हमे ऐसे ससार का कोई सकेत अथवा सुख का भी ऐसा श्रेणी विभाजन अभी तक नही मिला है। ऋग्वेद मे एक परिच्छेद आता है[6], जिसमे कहा है, "जब वह अपने कर्तव्यकर्मो को समाप्त कर लेता है और वृद्ध हो जाता है तो इस ससार से विदा हो जाता है, और यहा से विदा होते हुए फिर एक बार जन्म लेता है। यह तीसरा जन्म है।" यह वैदिक धर्म के सिद्धान्त के अनुकूल है,

१. २ . २ ; १० . १, ३ ।
२ 'आह्लादक सर्वेषाम् ।'
३ चन्द्र एव भवति (चन्द्रमा ही बन जाता है)।
४ १ २४, १; ७ : ५६, २४ ।
५. १० : १३२, ४, ४ ५, ५, ६ ' ७३, ८, १० ' १५२, ४ ।
६. ४ : २७, १ ।

अपरिहार्य न रह सके थे। पुनर्जन्म का सिद्धांत अभी भी दूर था। वदिक आर्यों को इस बात का निश्चय था कि मत्यु ही वस्तुओं का अन्त नहीं है। जसे रात्रि के पीछे दिन आता है मत्यु के बाद भी जीवन होना चाहिए। एक बार उत्पन्न होनेवाले प्राणी सदा के लिए निःशेष नहीं हो सकते। उन्हें कहीं न कहीं विद्यमान रहना चाहिए सम्भवत अस्ताचलगामी सूर्य के राज्य म जहा कहा जाता है कि यम का शासन है। मनुष्य की कल्पना ने मत्यु के भय से कापकर भी अभी तक यम को वन्दना लेनेवाले एक भयानक देवता के रूप म स्वीकार नहीं किया था। यम और यमी मरनेवालों म सबसे प्रथम परलोक म प्रविष्ट हुए जिनका शासन उस लोक पर है। कल्पना की जाती है कि मनुष्य जब मरता है तब वह यम के राज्य म पहुच जाता है। यम ने हमारे लिए एक स्थान बनाया है एक ऐसा घर जो हमसे छीना जानेवाला नहीं है। जबकि शरीर को फेंक दिया जाता है आत्मा को एक उज्ज्वल दीप्तिमान आत्मिक आकृति मिलती है और वह देवताओं के स्थान पर चला जाती है जहा यम और पितर लोग अमर होकर निवास करते हैं। ऐसी कल्पना की जाती है कि मत पुण्य इस स्वर्गलोक मे हैं। जल एवं एक पुल (सम्भवत वतरणी नदी से तात्पर्य है) पार करके पहुच जाते हैं।[1] पितरो एवं देवो के माग के विषय मे एक वणन ऋग्वेद के १०वें मण्डल की ८८, १५वीं ऋचा म पाया जाता है। जसा संकेत किया गया है यह सम्भव है कि अन्त्येष्टिसंस्कार के समय अथवा सामान्यत सभी यज्ञों के समय उत्पन्न होनेवाले धुए के आधार पर यह कल्पना की गई हो जो भिन्न भिन्न मार्गों से ऊपर आकाश की ओर उठता है। यह माग भेद अभी भी अविकसित रूप म ही है।

मतात्माए स्वगलोक म यम के साथ आमोद प्रमोद मे मग्न रहती हैं। वे वहा हमारे ही समान जीवन-यापन करती है। स्वर्ग के सुखभोग पृथ्वीलोक के सुखो से उन्नत और उच्च कोटि के हैं। य प्रकाशमान पदार्थ उनके धन हैं जो उपहार देते हैं। उनके लिए स्वग मे सूय भी है वे अमरत्व प्राप्त करते हैं वे अपने जीवन को दीघ बनाते हैं।[2] कभी-कभी भविष्य-जीवन-सम्बन्धी वदिक चित्राकन म विषयभोग के रूप पर विशेष बल दिया गया है। किन्तु जसा कि डयूसन का कहना है जीसस ने भी स्वग के राज्य का वणन करते हुए उसे एक प्रकार की उत्सव जसी सभा का रूप दिया है जहा कि सब एकसाथ टेबल के चारो ओर बठकर भोजन करते हैं[3] व मदिरा का पान करते हैं। और यहा तक कि दाते या मिल्टन भी इसका अन्य किसी रूप म अकन नहीं कर सके और उन्होने भी इसके लिए पृथ्वी पर के आमोद प्रमोद के चित्र को ही उधार लिया।[4][5] कल्पना की गई है कि देवगण सोमरस की शक्ति द्वारा अमरता को प्राप्त हो जाते थ। देवताओ के समान बनना हमारे प्रयत्न का भी लक्ष्य है। क्योकि देवगण एक आध्यात्मिक स्वग मे निवास करते हैं जहा वे दु ख से परिमुक्त आनन्द का उपभोग करते हैं। न उन्हें भूख लगती है न प्यास सताती है और न उन्हें विवाह की ही आवश्यकता अनुभव होती है।

१ १ ६ १ ६ ४१ २। २ १ २५, ६।
३ सेंट मैथ्यू ७ ११। ४ सेंट मैथ्यू २, ९
५ द फिलासफी आफ द उपनिषद्स, पृष्ठ ३२०।

परलोक के आदर्श-वर्णन मे पृथ्वीलोक के जीवन और इस जीवन के उपरान्त के जीवन मे भेद का भाव उदय होता है। देवता सौभाग्यशाली हैं; वे अमर है। हम सब तो केवल एक दिन के बच्चे है। देवताओ को ऊपर स्वर्ग मे सुख है, जहा यम का शासन है। हमारे भाग्य में पृथ्वीलोक मे दुख बदा है। हमे अमरत्वप्राप्ति के लिए क्या करना चाहिए? हमे देवताओ को लक्ष्य करके यज्ञ करने चाहिए, क्योकि अमरता देवो से डरनेवालो के लिए स्वर्ग से दिया गया नि शुल्क उपहार है। देवताओ की पूजा करनेवाला व्यक्ति अमर हो जाता है। "हे अग्निदेव! वह मर्त्य मनुष्य जो तुम्हारी पूजा करता है, आकाश मे चन्द्रमा बन जाता है।"[1] कठिनाई का पहले भी अनुभव हुआ है। क्या वह चन्द्र बन जाता है या चन्द्र के समान बन जाता है? सायण ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, "वह चन्द्रमा के समान सबको आह्लाद देनेवाला बन जाता है।"[2] दूसरे इसके प्रतिकूल कहते है कि नही, वह चन्द्रमा ही बन जाता है।[3] इस विषय के सकेत मिलते है कि वैदिक आर्य अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने पूर्वजो से मिलने की सम्भावना मे विश्वास करता था।[4]

प्रश्न उठता है कि यदि हम देवताओ की पूजा न करें तो हमारा क्या हो जाएगा। क्या स्वर्ग के समान नरक भी कुछ है?—अर्थात्, नैतिक अपराधियो के लिए एक पृथक् स्थान, उन नास्तिको के लिए जो देवताओ मे विश्वास नही करते। यदि स्वर्ग केवल पुण्यात्माओ एव साधुपुरुषो के लिए है तो दुश्चरित्र व्यक्ति मृत्यु के उपरान्त एकदम विलुप्त हो नही सकते, और न ही वे स्वर्ग मे जा सकते है। इसलिए एक नरक की भी आवश्यकता है। हम वरुण के विषय मे सुनते हैं कि वह पापियो को गहरे गढे मे नीचे ढकेल देता है, जहा से वे कभी वापस नही लौटते। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासको को नुकसान पहुंचानेवाले को नीचे अन्धकार के सुपुर्द कर दे।[5] दुश्चरित्रो का अन्त इसी प्रकार होना चाहिए कि वे उस अन्धकार के गड्ढे मे गिरकर नष्ट हो जाए। हमे इस समय तक नरक की उस हास्यास्पद, भद्दी और भयकर कल्पना के दर्शन नही होते जोकि परवर्ती पुराणो मे पाई जाती है। पुण्यात्माओ के लिए स्वर्ग और पापियो के लिए नरक, यह साधारण नियम है। पुण्य के लिए पुरस्कार और पाप के लिए दण्ड मिलता है। यद्यपि ड्यूसन का ऐसा मत है, जिससे मैं सहमत नही हू, कि मृत्यु के पश्चात् अज्ञानी लोग एक ऐसे सुखवर्जित और अधकारपूर्ण देश मे चले जाते है जो वैसा ही एक लोक है जैसे मे हम निवास करते है। हमे ऐसे ससार का कोई सकेत अथवा सुख का भी ऐसा श्रेणी विभाजन अभी तक नही मिला है। ऋग्वेद मे एक परिच्छेद आता है[6], जिसमे कहा है, "जब वह अपने कर्तव्यकर्मों को समाप्त कर लेता है और वृद्ध हो जाता है तो इस ससार से विदा हो जाता है, और यहा से विदा होते हुए फिर एक बार जन्म लेता है। यह तीसरा जन्म है।" यह वैदिक धर्म के सिद्धान्त के अनुकूल है,

१. २ : २ ; १० १, ३ ।
२ 'आह्लादक सर्वेषाम् ।'
३. चन्द्र एव भवति (चन्द्रमा ही बन जाता है) ।
४ १ २४, १, ७ ५६, २४ ।
५. १० : १३२, ४, ४ ५, ५, ६ ७३, ८; १० १५२, ४ ।
६. ४ : २७, १ ।

जिसके अनुसार मनुष्य के तीन जन्म बताए गए हैं—पहला बच्चे के रूप में, दूसरा धार्मिक शिक्षा से और तीसरा मृत्यु के पश्चात् का जन्म। हमें आत्मा के गतिमान जीवनतत्त्व के ही सम्बन्ध में विश्वास मिलता है।[1] मण्डल १० के ५८वें मंत्र में प्रकटरूप से अचेतन मनुष्य की आत्मा को वापस आकाश और सूर्य में से लौट आने का निमन्त्रण है। यह प्रकट है कि कतिपय असाधारण अवस्थाओं में मनुष्य की आत्मा को शरीर से पृथक् किया जा सकता था। किन्तु इस सबसे यह संकेत नहीं मिलता कि वैदिक आर्य पुनर्जन्म के विचार से परिचित थे।

१२

उपसंहार

वैदिक सूक्त परवर्ती काल की भारतीय विचारधारा की आधारभित्ति का निर्माण करते हैं। जहां एक ओर ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञ आदि के अनुष्ठान पर बल देते हैं, जिनकी छायामात्र सूक्तों में पाई जाती है, उपनिषदें उनके अन्तर्गत दार्शनिक विचारों को आगे बढ़ाती हैं। भगवद्गीता का आस्तिकवाद केवल वरुणदेवता की पूजा का ही नवीन चित्र है। कर्म का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ऋत के ही समान अभी भी अपने शैशवकाल में है। सांख्य का द्वैतपरक आध्यात्मिक दर्शन अणव (समुद्रजल) के ऊपर बहते हुए हिरण्यगर्भ के विचार का तर्कसंगत विकसित रूपमात्र है। यज्ञानुष्ठान, मन्त्रोच्चार अथवा सोमरस के प्रभाव से प्राप्त हुई समाधि अवस्थाओं के वर्णन से जब हमारे आगे अन्तरिक्षलोक का दिव्यज्योतिसम्पन्न प्रभामण्डल आता है तो हमें दैवीय आशीर्वाद से उपलब्ध होनेवाली यौगिक सिद्धियों का स्मरण हो आता है, जिनके द्वारा दिव्य वाणियों को सुना एवं दिव्य दृश्यों को देखा जा सकता है।

उद्धृत ग्रन्थ

मैक्समूलर और ओल्डनबर्ग : 'द वैदिक हाइम्स', 'सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खण्ड ३२ और ४६।
म्यूर : 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स', खण्ड ५।
रैगोज़िन : 'वैदिक इण्डिया'।
मैक्समूलर : 'सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी', अध्याय २।
वैगी : 'द ऋग्वेद' (अंग्रेज़ी अनुवाद)।
ब्लूमफील्ड : लैक्चर्स आन ऋग्वेद।
मैकडानल : 'वैदिक माइथोलोजी', 'वैदिक रीडर'।
बरुआ : 'प्री-बुद्धिस्टिक इण्डियन फिलासफी', पृष्ठ १–८।
ब्लूमफील्ड : 'रिलिजन आफ द वेद'।

[1] १, १६४, ३०।

तीसरा अध्याय

उपनिषदों की ओर संक्रमण

अथर्ववेद— परमार्थविद्या — यजुर्वेद और ब्राह्मणग्रन्थ— धर्मविद्या—सृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्त—नीतिशास्त्र—परलोकशास्त्र।

१

अथर्ववेद

"ऋग्वेद के सूक्त विकट रूप से उलझे हुए; पूर्वयुग के देवता हैरान करनेवाले; और पुनः परस्पर एक-दूसरे मे समाविष्ट होकर देवमाला को पूर्ण रूप देते हुए, नये-नये अद्भुत देवताओ का समावेश, शारीरिक यन्त्रणा देनेवाले एक नरक की कल्पना का समावेश; अनेक देवताओ के स्थान मे एक देवता की स्वीकृति, जो सब देवताओ और प्रकृति का भी प्रतिनिधि है, किसीका बुरा करने के लिए जादू-टोना (अभिचार) और भला करने के लिए भी मन्त्र एव जादू, ऐसे लोगो के लिए 'जो मुझसे घृणा करते है या जिनसे मैं घृणा करता हू, शापपरक मन्त्रो का प्रयोग , बच्चो की प्राप्ति के लिए, दीर्घायु की प्राप्ति के लिए, बुराई को दूर रखने के लिए तथा विष के प्रभाव एव अन्य रोग-दोषो कोहटाने के लिए जादू-भरे मन्त्र, कर्मकाण्ड के प्रति जो अत्यधिक श्रद्धा का भाव था, उसे शक्तिहीन कर देना, सापो के मन्त्र, भिन्न-भिन्न रोगो के लिए, निद्रा के लिए, समय के लिए और नक्षत्रो के लिए मन्त्र, पुरोहितो को दुःख देनेवालो को कोसना आदि—ऋग्वेद के बाद अथर्ववेद को पढने मे सामान्य रूप मे मन पर इस प्रकार का एक प्रभाव पडता है।"[1] ऋग्वेद मे हमे जादू-टोना, इन्द्रजाल आदि के विषय मे अद्भुत उक्तियां, जड-पदार्थो के मन्त्र, एव डाकिनी व पिशाच आदि के मन्त्र मिलते हैं। हमे डाकुओ के प्रयोग के ऐसे जादू मिलते हैं जिनसे मकान के निवासी निद्रा के वशीभूत हो सकते हैं[2], ऐसे वशीकरण मन्त्र जो स्त्रियो की गर्भपातकारी प्रेत-शक्तियो का निवारण कर सकते हे[3] और ऐसे जादू के मन्त्र जो रोग को दूर भगा सकते है।[4] यद्यपि भूतसिद्धि व इन्द्रजाल आदि ऋग्वेद के काल मे प्रचलित थे किन्तु वैदिक ऋषियो ने न तो उन्हे पसन्द किया और

१. हॉपकिंस : 'द रिलिजन्स आफ इण्डिया', पृष्ठ १५१।

२. ऋग्वेद, ७ : ५५। ३. ऋग्वेद, १० : १२२। ४. ऋग्वेद, १० : १६३।

न ही प्रोत्साहित किया। इस विषय के यदा कदा जो उद्धरण दिखाई देते हैं उनसे प्रतीत होता है कि वे प्रक्षिप्त हैं, जबकि अथर्ववेद के ये मुख्य विषयवस्तु हैं।

अथर्ववेद जिस मायिक या इन्द्रजालीय धर्म का प्रतिपादन करता है वह निःसन्देह ऋग्वेद के धर्म से पुराना है यद्यपि अथर्ववेद में संगृहीत मन्त्र परवर्ती हैं। वैदिक आर्य जैसे जैसे भारत में आगे बढ़ते गए असभ्य जाति के उन लोगों से उनका मुकाबला हुआ जो जंगली और बर्बर थे और सर्प आदि जन्तुओं, काष्ठ और पाषाण आदि को पूजते थे। कोई भी मनुष्य समाज असभ्य एवं अर्धसभ्य आदिम जातियों से घिरा रहकर प्रगतिशील सभ्यता की अवस्था में तब तक अधिक दिनों तक नहीं रह सकता जब तक कि वह उनको सर्वथा पराजित करके या अपनी संस्कृति के तत्त्वों का उन्हें ज्ञान देकर नई स्थिति का सामना नहीं करता। इसलिए हमारे आगे यही विकल्प रहते हैं—या तो हम अपने बर्बर पड़ोसियों का नाश कर दें या उन्हें अपने अन्दर पचा लें और उनके जीवनस्तर को ऊंचा उठाएं अथवा अपने आपको उनके अधीन हो जाने दें। पहले मार्ग का अवलम्बन करना असम्भव था क्योंकि आर्य लोग संख्या में कम थे। तीसरे मार्ग का अवलम्बन करना उनके लिए अपनी संस्कृति और जाति के गौरव के विरुद्ध था अतएव एकमात्र दूसरा विकल्प ही उनके लिए खुला था और उसीको आर्य लोगों ने अपनाया। जबकि ऋग्वेद गौरवर्ण आर्यों और कृष्णवर्ण दस्युओं के मध्य संघर्षकाल का वर्णन करता है जो हिन्दू पौराणिक आख्यानों में देवता और राक्षसों के परस्पर संघर्ष के रूप में वर्णित है वहां अथर्ववेद उस काल का वर्णन करता है जबकि इन दोनों जातियों के विरोध मिट गए थे और दोनों साथ साथ इस देश में समानता के व्यवहार से रहने लगी थीं और उनमें परस्पर समझौता हो गया था। निःसन्देह इस समन्वय के भाव ने जहां एक ओर आदिम जातियों को तो सभ्यता की दृष्टि में ऊंचा उठा दिया, वहां वैदिक धर्म को नीचे गिरा दिया क्योंकि वैदिक धर्म के अन्दर जादू-टोना इन्द्रजाल आदि अनार्य-विधियों का प्रवेश हो गया। प्रेतात्माओं की पूजा नक्षत्रों वृक्षों पर्वतों की पूजा एवं अन्यान्य जंगली जातियों के मिथ्या विश्वास वैदिक धर्म में घुस आए। असभ्य लोगों को शिक्षित करने के आर्य लोगों के प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि उनका अपना आदर्श जिसको वे फैलाना चाहते थे भ्रष्ट हो गया। अथर्ववेद के चुने हुए मन्त्रों के अनुवाद की अपनी प्रस्तावना में ब्लूमफील्ड ने लिखा है 'जादू टोना भी हिन्दूधर्म का एक अंग है। यह इस धर्म में बाहर से आकर प्रविष्ट हुआ और पवित्रतम वैदिक प्रक्रियाओं में अविच्छिन्न रूप से सम्मिलित हो गया।' जनसाधारण में प्रचलित धर्म और मिथ्या विश्वासों ने विभिन्न मार्गों से आकर उच्चतर वैदिक धर्म को आच्छादित कर लिया जिसका प्रचार ब्राह्मण पुरोहितों ने किया था और इस बात की कल्पना की जा सकती है कि न तो उन्होंने अपने आपको उस समय की आम जनता में जिससे वे घिरे हुए थे फैले हुए मिथ्या विश्वासों से अछूता रहने में समर्थ पाया और न उन्होंने अपने हित में इसे उचित ही समझा।[1] संसार में निर्बल जातियां इसी प्रकार बलवान जातियों के प्रति बदला लेती देखी जाती हैं। ऊपर दी गई व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दूधर्म

[1] सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, खण्ड ४२।

का स्वरूप विविध प्रकार का क्यो हुआ—इसलिए कि इसने असभ्य जातियो की कल्पनाओं एव मिथ्या विश्वासो को भी, साहसी विचारको की अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न उच्चतर ज्ञान के साथ-साथ, अपने धर्म मे स्थान दे दिया। प्रारम्भ से ही आर्यों का धर्म फैलनेवाला, अपने-आपको विकसित करनेवाला और सहिष्णु था। अपनी उन्नति के मार्ग मे जिन-जिन नई शक्तियो के साथ इसका सामना हुआ उनके साथ यह समन्वय करता चला गया। इस कार्य मे आर्य लोगो की सच्ची नम्रता का भाव और दूसरे पक्ष के विचारो को सहृदयतापूर्वक अपनाने का भाव स्पष्ट लक्षित होता है। भारतीय ने नीचे दर्जे के धर्म को दृष्टि से ओझल करना उचित नही समझा और न ही उससे लडकर उसे निर्मूल करना ठीक समझा। उसके अन्दर हठधर्मिता का अभिमान नही था, जिससे कि वह हठ-पूर्वक यह कह सके कि मेरा धर्म ही एकमात्र श्रेष्ठ है। यदि कोई विशेष देवता अपनी विधि से मनुष्य की आत्मा को तृप्त कर सकता है तो वह भी सत्य का एक आकार है। कोई भी सत्य का एकमात्र स्वत्वाधिकारी होने का दम नही भर सकता। सत्य पर शनै -शनै श्रेणी पार करते हुए, अश-अश करके अस्थायी रूप मे ही विजय प्राप्त की जा सकती है। किन्तु उन्होने इस बात को भुला दिया कि असहिष्णुता कभी-कभी उत्तम गुण भी सिद्ध होती है। ग्रेशम का नियम धार्मिक विषयो में भी लागू होता है। जब आर्य और अनार्य धर्म, जिनमे से एक सुसस्कृत और दूसरा असस्कृत था, एक उच्च और दूसरा नीच प्रकृति का था, परस्पर सम्पर्क मे आए तो स्वभावत बुरे धर्म की प्रवृत्ति अच्छे को मार भगाने की ओर थी।

२

परमार्थविद्या

अथर्ववेद का धर्म आदिम और असभ्य मनुष्य का धर्म है, जिसकी दृष्टि में ससार आकृति-विहीन भूतो और प्रेतात्माओ से पूर्ण है।

जब वह प्राकृतिक शक्तियो के आगे अपने को असमर्थ पाता है और अपने अस्तित्व को भी इतना पराश्रित पाता है कि वह निरन्तर मृत्यु के अधीन है, तब वह मृत्यु, रोग, वर्षा के अभाव और भूकम्प आदि को अपनी मिथ्या कल्पनाओ का क्रीडाक्षेत्र बना लेता है। उसके विचार मे ससार पिशाचों व प्रेतो तथा ऐसे ही देवी-देवताओ से भरा है और उक्त प्रकार की सब विपत्तिया प्रेतात्माओ के प्रकोप का परिणाम है। जब कोई बीमार पडता है तो वैद्य को न बुलाकर जादू-टोना करनेवाले ओझा को बुलाया जाता है और वह रोगी के शरीर से प्रेतात्मा को खुश करके भगाने का मन्त्र पढता है।[1] भयानक शक्तियो की क्षुधा को केवल मनुष्यो अथवा पशुओ की बलि देकर ही उनके रक्त से शान्त किया जा सकता था। मृत्यु के भय ने मिथ्या विश्वासो की डोर को ढीला किया। मैडम

१. यदि इस प्रकार का विचार बराबर था तो इसलिए था कि इसमें सत्य का कुछ अश अवश्य था। आधुनिक मनोविज्ञान सम्मोहन की शक्ति को इस रूप में मानने लगा है कि यह शरीर की व्याधियों की एक चिकित्सा है, विशेषरूप से स्नायविक विकारों में।

रगोन्ति लिखती हैं हम यहाँ ऋग्वेद में ऋषियों द्वारा विश्वास और कृतज्ञता के साथ सम्बोधित किए जानेवाले उज्ज्वल, प्रसन्न और उपकारी देवताओं के स्थान पर और उनके विरोधस्वरूप वाले रंग के डरावना मूरत के दस्यु वाला एक ऐसा मायावी संसार पाते हैं जो मन में निम्नकोटि का भय उत्पन्न करता है और जिसकी प्राय लोगों ने कभी कल्पना तक नहीं की थी। 'अथर्ववेद प्रतिपादित धर्म इस प्रकार भाय और मनाय विचारों का एक प्रकार का सम्मिश्रण है। ऋग्वेद एव अथर्ववेद के बीच के भेद का वर्णन ब्लिटनी ने इस प्रकार किया है ऋग्वेद में लोग देवताओं के समीप श्रद्धा से भरे हुए भय के साथ पहुंचन का साहस करते थे किन्तु साथ साथ उनके प्रति प्रेम और विश्वास का भाव भी रखते थे। पूजा का फल उन्हें प्राप्त होता था अर्थात पूजा आराधक की आत्मा को ऊंचा उठाती थी। दस्यु जिन्हें साधारणत राक्षस कहा गया है भय के कारण थे और देवता उन्हें परे रखते थे एव उनका विनाश करते थे। इसके विपरीत अथर्ववेद में देवताओं के प्रति एक प्रकार का ऐसा भय पाया जाता है जिसमें चाटुकारिता आवश्यक है एसे देवता जिनके कोप को शांत करके चापलूसी द्वारा उनका कृपापात्र बनने की आवश्यकता थी। यह पिशाचो व राक्षसो के समूह को भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभक्त करके उनके सामने नतमस्तक होकर प्रार्थना करता है कि वे कोई नुकसान न करें। मन्त्र और प्रार्थना जो पुरातन वेद में भक्ति का साधन थी यहा मिथ्या विश्वास का एक प्रकार से ग्रस्त है। यहा मनुष्य अनिच्छा प्रकट करनेवाले देवता से चापलूसी द्वारा अपने अभिलषित पदार्थ को बलपूर्वक छीनता है जबकि ऋग्वेद के काल में उपासक मन्त्रोंद्वारा देवता को प्रसन्न करके अपने इष्ट पदार्थ को उसके प्रसादरूप में ग्रहण करता था। अथर्ववेद की सबसे अधिक और स्पष्ट दिखाई देनेवाली विशेषता यह है कि उसमें बहुत अधिक मात्रा में जादू टोना आदि इन्द्रजाल भरा है। इन मन्त्रों का उच्चारण कभी साधक (फल प्राप्ति का अभिलाषी) करता है और कभी सिद्धपुरुष या जादू करनेवाला ओझा करता है। मन्त्रों का प्रयोग नाना प्रकार के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। ऐसे भी सूक्त हैं जिनमें किसी एक प्रक्रिया अथवा संस्कार को बहुत ऊंचा उठा दिया गया है और उसका महत्त्व ऋग्वेद के पावमान सूक्तों में दिए गए साम के समान बतलाया गया है। दूसरे सूक्तों को जो कल्पना एवं मिथ्याविश्वासपरक हैं सूक्तों में गौण रूप दिया गया है। किन्तु तो भी ऐसे सूक्तों की संख्या बहुत अधिक नहीं है जभी कि इस बात को ध्यान में रखते हुए कि आदिम वेद के परवर्ती काल में हिन्दूधर्म का कितना अधिक विकास हुआ स्वभावत आशा की जा सकती थी। मुख्यत ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्ववेद केवल पुरोहितों का धर्म न होकर जनसाधारण में प्रचलित धर्म के रूप में है बल्कि काल से आधुनिक काल में संक्रमण के समय यह एक प्रकार के मध्यम मार्ग के रूप में था और उच्च श्रेणी वाले ब्राह्मणों की अपेक्षा अशिक्षित साधारण जनता का धर्म था जिसमें मूर्तिपूजक और मिथ्यावादी ही अधिक थे। ' विशुद्ध वैदिकधर्म का स्थान जादू टोना वाले बच्चों के समान जादूगरों में मिथ्या विश्वास रखनेवाले और जादूविद्या के ऊपर अधिक

१　वैदिक इंडिया, पृष्ठ ११७–११८।

२　प्रासीडिंग्स आफ अमरिकन ओरिएन्टल सोसाइटी', ३　पृष्ठ ३०७–३०८।

भरोसा करनेवाले धार्मिक सम्प्रदाय ने ले लिया। ऐसे चिकित्सक को जो प्रेतात्माओ को भगाना और उन्हे वश मे करना जानता है, अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। हम ऐसे तपस्वियो के विषय मे सुनते है जो तप के द्वारा प्राकृतिक शक्तियो को वश मे कर सकते थे। वे तपस्या द्वारा प्राकृतिक तत्त्वो की शक्ति को नियन्त्रित कर सकते थे। यह बात उस समय भली प्रकार विदित थी कि शारीरिक नियन्त्रण एव इन्द्रिय-दमन द्वारा समाधि-अवस्था, जो योगशास्त्रवर्णित एक सिद्धि है, प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य प्राकृतिक जादू के गुप्त बल द्वारा दैवीय शक्ति मे भागीदार बन सकता है। जादूविद्या के विशेषज्ञो को वैदिक ऋषि भी स्वीकार करते थे और उनका पेशा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, जिसके परिणामस्वरूप जादूविद्या एव रहस्यवाद शीघ्र ही समानार्थक समझे जाने लगे। हम ऐसे लोगो को पाते है जो पचाग्नि मे बैठे है, एक टाग पर खड़े है, सिर के ऊपर एक बाहु उठाए हुए हैं और यह सब वे प्राकृतिक शक्तियों को वश मे करने के इरादे से और देवताओ को अपनी इच्छा के अधीन करने के लिए करते है।

जहा एक ओर अथर्ववेद हमे भारत के मिथ्या विश्वासो मे फैले हुए दैत्य-विज्ञान का विचार देता है, यह कई विषयो मे ऋग्वेद से भी आगे बढा हुआ प्रतीत होता है, और कई तत्त्व उसमे एव उपनिषदो और ब्राह्मणो मे एक समान है। हमे उसमे काल, काम एव स्कम्भ (आश्रय) की पूजा का विधान मिलता है। उन सबमे अधिक महत्त्वपूर्ण स्कम्भ है। वह एक परम तत्त्व है, जिसे अव्यवस्थित रूप मे प्रजापति, पुरुष और ब्रह्म का नाम दिया जाता है। इसके अन्तर्गत समस्त देश और काल, देवता और वेद तथा नैतिक शक्तिया आती हैं।[1] रुद्र पशुओ का अधिपति है और वैदिक धर्म एव परवर्ती शिवपूजा के बीच की कडी के रूप मे है। ऋग्वेद मे शिव का अर्थ केवल कल्याणकारी है, किन्तु किसी देवता का नाम नही है, ऋग्वेद का रुद्र दुष्ट पशुओ का विनाशकारी देवता है।[2] अथर्ववेद मे वह सब पशुओ का अधिपति पशुपति है। प्राण का स्वागत प्रकृति के जीवनप्रद तत्त्व के रूप मे किया गया है।[3] महत्त्वपूर्ण शक्तियो के सिद्धान्त का, जिसका परवर्ती भारतीय आध्यात्मिक विद्या मे स्थान-स्थान पर वर्णन आता है, सबसे पूर्व यही वर्णन मिलता है और सम्भवत. यह ऋग्वेद के वायुतत्त्व का विकास हो सकता है। यो तो ऋग्वेद-प्रतिपादित देवता पुरुष एव स्त्री दोनो लिग के पाए जाते हैं, लेकिन पुंल्लिगवाची देवता अधिक मुख्य है। अथर्ववेद मे स्त्रीलिगवाची देवताओ पर अधिक बल दिया गया है। इसमे आश्चर्य की बात नही है, क्योकि तान्त्रिक दर्शन के दार्शनिक ग्रन्थो मे यौनविषय आधार बन गया है। 'गाय' की पवित्रता को स्वीकार किया गया है, और ब्रह्मलोक का वर्णन भी अथर्ववेद मे मिलता है।[4] नरक का वर्णन नरक नाम से ही किया गया है। अपने सम्पूर्ण भय-त्रास और शारीरिक यन्त्रणाओं के साथ नरक पर्याप्त मात्रा मे सुपरिचित है।[5]

अथर्ववेद के जादूविद्याविषयक भाग पर भी आर्यो का प्रभाव पड़ा है। यदि जादूविद्या को स्वीकार करना ही है तो अगला उत्तम कार्य उसे परिष्कृत कर लेना है। बुरे जादू की निन्दा की गई है और उत्तम जादू को प्रोत्साहन दिया गया है। बहुत-से

१. देखें, १० : ७,७, १३, १७।
२. ऋग्वेद, ४ : ३, ६; १ : ११४,१०।
३. अथर्ववेद, १० . ७।
४. ११ : ७१, १।
५. १२ : ४, ३६।

इन्द्रजाल पारिवारिक एवं ग्रामीण जीवन में समानता लाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। बर्बर और रक्तरंजित यज्ञ निषिद्ध ठहराए गए हैं, जो आज भी भारत के उन भागों में जहां आर्यसभ्यता नहीं पहुंच सकी प्रचलित हैं। अथर्ववेद की पुरानी संज्ञा अथर्वाङ्गिरस, यह प्रकट करती है कि इसके अन्दर दो भिन्न भिन्न स्तर थे। एक अथर्वन् का और दूसरा अङ्गिरस का। पहले भाग में कल्याणकारी विधियों का वर्णन है जिनका उपयोग रोगों की चिकित्सा के लिए होता था।[1] उसके विरोधी विधानों का वर्णन अंगिरस में है। पहला चिकित्सापरक है और दूसरे में जादू-टोना आदि का विधान है और इस प्रकार इस वेद में दोनों की ही खिचड़ी है।

अथर्ववेद को जो बहुत प्रकार के समझौते या समन्वय का परिणाम है ऐसा प्रतीत होता है कि वेद की कोटि में मान्यता प्राप्त करने के लिए कई प्रकार के संकटों में से गुजरना पड़ा है।[2] इसका मुख्य विषय मन्त्र-तन्त्र होने के कारण इसे अनादर की दृष्टि से देखा जाता था। इसने भारत में निराशावादी दृष्टिकोण के विकास में बहुत बड़ा काम किया। मनुष्य शैतान और प्रलोभक में विश्वास भी करें और फिर भी जीवन में सुख प्राप्त कर सकें यह नहीं हो सकता। इस प्रकार दैत्यों को निकट देखकर मनुष्य जीवन से भयभीत हो जाता है। अथर्ववेद के प्रति न्याय करने के विचार से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसने भारत में वैज्ञानिक विकास के लिए मार्ग तैयार किया।

३

यजुर्वेद और ब्राह्मणग्रन्थ

चिन्तन के इतिहास में रचनात्मक और आलोचनात्मक युग क्रमशः एक दूसरे के पश्चात् आते हैं। इसी प्रकार धर्मों के इतिहास में सम्पन्नता और उज्ज्वलता के युग के पीछे शुष्कता एवं कृत्रिमता का काल आता है। जैसे ही हम ऋग्वेद से यजुर्वेद और सामवेद एवं ब्राह्मणों की ओर आते हैं हमें वातावरण में परिवर्तन दिखाई देने लगता है। जहां एक ओर पहले में नवीनता व सादगी थी वहां बाद के ग्रन्थों में रूखापन एवं कृत्रिमता प्रतीत होती है। धर्म की भावना तो पीछे रह गई और उसके बाह्य रूप अधिक महत्त्व पकड़ गए। प्रार्थना-पुस्तकों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। प्रार्थना मन्दिरों की स्थापना होने लगी। ऋग्वेद से मन्त्र निकाल निकालकर यज्ञपरक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने में उनका उपयोग होने लगा। पुरोहित ही शासक (प्रभु) बन गया। यज्ञ वेदी तैयार करने के लिए भी यजुर्वेद में से विशेष मन्त्र चुने गए और यज्ञ के समय गान के लिए सामवेद से मन्त्र लिए गए। इन वेदों के विषय में हम ब्राह्मणग्रन्थों के साथ साथ विवेचना करेंगे क्योंकि ये सब यज्ञशाला व प्रार्थनामन्दिरों का वर्णन करते हैं। यजुर्वेद

१ भेषजानि अथर्ववेद ११ ६, १४।

२ अनेक धर्मशास्त्रों में केवल तीन वेदों का वर्णन मिलता है ऋग्वेद १ ६ ६ ५ ७ १ तैत्तिरीयोपनिषद् १, २ २-३। बौद्धों के प्रामाणिक ग्रन्थों में अथर्ववेद का नाम नहीं है। पीछे जाकर अथर्ववेद को भी वेद की मान्यता प्राप्त हो गई।

प्रतिपादित धर्म एक यान्त्रिक पुरोहितवाद के रूप मे है। पुरोहितो की एक जमात वाह्य क्रिया-कलापो की एक विस्तृत एव जटिल पद्धति का सचालन करती है, और इन क्रिया-कलापो को प्रतीकात्मक महत्त्व प्रदान किया गया और उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म अश को भी साथ-साथ वैसा ही महत्त्व दिया गया। जहा क्रिया-कलाप और यज्ञ आदि का वातावरण धर्म की वास्तविक भावना को दवा देने के लिए सिर उठा रहे हो वहा धार्मिक भावना जीवित नही रह सकती। अत इस काल मे आदर्श के प्रति आस्था और पाप के प्रति सचेत रहने का भाव देखने को नही मिलता। हरएक प्रार्थना एक विशेष क्रियापरक है और उसका लक्ष्य भी किसी भौतिक लाभ की प्राप्ति है। यजुर्वेद के मन्त्रो मे जीवनोपयोगी वस्तुओ के लिए तुच्छ-तुच्छ प्रार्थनाओ की विषादमय पुनरावृत्ति ही है। हम ऋग्वेद के सूक्तो एव अन्य वेद और ब्राह्मणों के काल मे कोई स्पष्ट विभेदक रेखा नही खीच सकते, क्योकि परवर्ती वेदो एव ब्राह्मणो के समय मे जो प्रवृत्तिया सुव्यक्त रूप मे दृष्टिगोचर होती है वे ऋग्वेद के सूक्त-निर्माण-काल मे भी वर्तमान थी। हम कुछ अधिक निश्चय के साथ कह सकते हैं कि ऋग्वेद के सूक्तो का अधिकतर समूह ब्राह्मणग्रन्थो की रचना के समय से पूर्व सगृहीत हो चुका था।

४

धर्मविद्या

ब्राह्मणग्रथ, जो वेदो के दूसरे भाग हैं, क्रिया-कलापो का विधान करनेवाली वे पाठ्य-पुस्तके है जिनका मुख्य कार्य यज्ञ-सम्बन्धी जटिल सस्कारविधियो मे पुरोहितो का पथप्रदर्शन करना है। उनमे से प्रधान ऐतरेय और शतपथ है। ब्यौरे के विषय मे व्याख्या-सम्वन्धी मतभेद के कारण ब्राह्मणो के विभिन्न सम्प्रदाय वन गए। इस युग की विशेषता यह है कि धार्मिक विकास मे कुछेक ऐसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिन्होने स्थायी रूप से इसके भावी इतिहास पर असर डाला। यज्ञो के अनुष्ठान के ऊपर वल देना, जात-पात और आश्रम-व्यवस्था को मानना, वेद की नित्यता मे विश्वास, पुरोहित को सर्वोच्च पद देना—ये सव वातें इसी युग की देन है।

हम इस युग मे पहले की वैदिक देव-माला मे जो नये-नये देवता जोडे गए उनसे आरम्भ कर सकते है। यजुर्वेद मे विष्णु ने महत्त्व का स्थान प्राप्त किया। शतपथ ब्राह्मण ने उसे यज्ञ का मूर्तरूप प्रदान किया है।[1] इसमे नारायण का नाम भी आता है, यद्यपि केवल तैत्तिरीय आरण्यक मे ही नारायण और विष्णु का एकसाथ सम्बन्ध जोडा गया है। शिव भी प्रकट होता हे, और कौषीतकि ब्राह्मण मे भिन्न-भिन्न नाम से उसका वर्णन आया है।[2] रुद्र यहा दयालुरूप मे आता है और उसे गिरीश[3] नाम से पुकारा गया है। ऋग्वेद का प्रजापति मुख्य देवता और विश्व का निर्माता वन जाता है। विश्वकर्मा के साथ उसकी समानता हे।[4] अद्वैतवाद को मस्तिष्क मे वैठा दिया गया हे। अग्नि वहुत महत्त्वपूर्ण

१. ५ २, ३, ६, ५ ४, ५, १, १२ . ४, १, ४, १४ १, १, ६, और १५।
२. ६ १–९। ३ देखिए तैत्तिरीय सहिता, ४ ५, १, वाजसनेयी सहिता, १६।
४. शतपथ ब्राह्मण, ८ ७, १, १०; ८ . २, ३, १३।

है। ब्रह्मणस्पति जो प्रार्थना का ईश्वर है सूक्तों का नेता और स्तोत्रों का संयोजक बनता है। ऋग्वेद में ब्राह्मण मंत्र या पद्य एक सूक्त अथवा ऐसी प्रार्थना से है जो परमेश्वर को सम्बोधित करके की गई हो। वह उस आत्मनिष्ठ शक्ति से जो एक ऋषि को प्रार्थना तैयार करने में सहायक का काम करती थी बदलकर उस वस्तु के लिए प्रयुक्त होने लग गया जिसकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना की जाती थी। वैदिक प्रार्थना का निमित्त कारण न होकर अब इसका तात्पर्य यज्ञ की शक्ति हो गया। और चूंकि ब्राह्मणों में समस्त ब्रह्माण्ड की यज्ञ से उत्पत्ति बताई गई है इसलिए ब्रह्म से ब्रह्माण्ड के सृजनात्मक तत्त्व का तात्पर्य लिया जाने लगा।[1]

ब्राह्मणग्रन्थों का धर्म विशुद्धरूप से औपचारिक था। कवियों का जोश और कल्पना की सूक्ष्मता की हार्दिकता (निष्कपटता) अब उपलब्ध नहीं होती। प्रार्थना से अभिप्राय अब केवल मन्त्रों का मन में जाप अथवा पवित्र सूक्तों का उच्चारण मात्र ही रह गया। परमात्मा को कर्म में प्रवृत्त करने के लिए ऊंचे स्वर से प्रार्थना करना आवश्यक समझा गया। शब्द कृत्रिम ध्वनिमात्र रह गए जिनमें गूढ़ रहस्य निहित थे। पुरोहित के सिवा कोई व्यक्ति इस सबके रहस्य को नहीं समझ सकता था और पुरोहित अपने को इस पृथ्वी पर ईश्वर के रूप में प्रकट होने का दावा करता था। एकमात्र महत्त्वाकांक्षा यह थी कि हम भी देवताओं की भांति अमर हो जाएं जिन्होंने यज्ञों द्वारा वह पद प्राप्त किया था।[2] सब कुछ यज्ञों के प्रभाव के अधीन है। यज्ञों के बिना सूर्य उदय नहीं होगा। यदि हम सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेंगे तो हम स्वर्ग के इन्द्र का भी स्थान ले सकते हैं। यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं और मनुष्य काम प्राप्त करते हैं। उनके द्वारा देवता मनुष्यों के मित्र बन जाते हैं। साधारण तौर से यज्ञ किए जाते थे सांसारिक लाभ प्राप्ति के लिए स्वर्गीय सुख की प्राप्ति के लिए नहीं। वेदों के सीधे सादे भक्तिपरक धर्म का स्थान एक ऐसे कठोर और आत्मा को निष्क्रिय बना देनेवाले वणिक सम्प्रदाय ने ले लिया जिसका आधार अनुबन्ध के रूप में एक उद्देश्यसिद्धि था।[3] वैदिक मन्त्रों में यज्ञ नाममात्र को प्रार्थना के रूप में जिन्हें सत्यधर्म समझा जाता था किन्तु अब उन्होंने मुख्य स्थान ग्रहण कर लिया था। यज्ञ के कर्मकाण्ड में किया गया प्रत्येक कर्म और उच्चारण किया गया प्रत्येक शब्द महत्त्व रखता था। ब्राह्मणों का धर्म प्रतीकात्मक जटिलताओं से उलझ गया और अन्त में आकर आत्मशून्य निरर्थक क्रिया-कलापों और पाण्डित्याभिमानी लौकिकता में खो गया।

यज्ञ की भावना के बढ़ते हुए आधिपत्य ने पुरोहितों की मर्यादा को समाज में ऊंचा उठा देने में सहायता की। वैदिक सूक्तों का द्रष्टा एवं दैवीय प्रेरणा से प्रेरित होकर

१ ऐसे अनेकों वाक्य हैं जिनमें ब्राह्मण शब्द इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वास्तव में प्रारम्भ में यह विश्व ब्रह्म ही था। इसने देवताओं का सृजन किया। (शतपथ ब्राह्मण ११ २ १ और भी देखिए १ ६ ३ और छान्दोग्य उपनिषद् ३ १४ १)।

२ शतपथ ब्राह्मण १ ४ ३ ऐतरेय ब्राह्मण २ १ १।

३ वह देवताओं को यज्ञ द्वारा इस भाव से अर्पण करता है—तू मुझे दे और मैं तुझे दूंगा। तू मुझे अर्पित कर मैं तुझे अर्पित करूंगा। (वाजसनेयी संहिता ३ ५० और भी देखिए, शतपथ ब्राह्मण २ ५ ३ १९)।

सत्य का गान करनेवाला ऋषि दैवीय धर्मपुस्तक का धारण करनेवाला और जादू-मत्रो को दोहरानेवाला मात्र बन गया। भिन्न-भिन्न पेशो के कारण आर्य लोगो मे साधारणरूप से जो तीन विभाग बने थे उन्होने वशपरम्परागत पैतृक पेशो का रूप धारण कर लिया। यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का जो उच्च श्रेणी का कलापूर्ण रूप बन गया था उसके अनुरूप पुरोहितपद के लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता थी। पितृशासित परिवार का मुखिया यज्ञात्मक कर्मकाण्डो की जटिल किन्तु सूक्ष्म पद्धति का और अधिक सचालन नही कर सकता था। इसलिए पौरोहित्य एक पेशा बन गया और यह वश-परम्परागत पैतृक व्यवसाय हो गया। पुरोहित लोग, जिनके पास वेदविद्या का ज्ञान था, मनुष्यो और देवताओ के बीच अधिकारप्राप्त मध्यस्थ एव दैवीय कृपा की वृष्टि करने-वाले बन गए। यजमान, अर्थात् जिसके निमित्त यज्ञ किया जाता है, अलग रहता है। वह स्वय एक निष्क्रिय साधक के रूप मे है, जिसका कार्य केवल मनुष्यो, धन एव अन्य यज्ञ-सामग्री को जुटा देना मात्र है, शेष सब काम उसकी ओर से पुरोहित करता है। स्वार्थ, शक्ति, प्रतिष्ठा और सुख की प्राप्ति की प्रबल अभिलाषा ने बलपूर्वक घुसकर यज्ञो के मौलिक आदर्श की कान्ति को मन्द कर दिया। जनसाधारण को यज्ञो के महत्त्व के विषय मे ठगने के लिए प्रयत्न किए गए। पुरोहित के पद एव यज्ञो पर एकाधिकार हो गया। असख्य प्रकार के प्रतीको के विकास द्वारा इस एकाधिकार की भित्ति को और भी सुदृढ बना लिया गया। जिस भाषा का प्रयोग किया गया वह ऐसी थी जैसे कि वह हमे अपने विचारो को छिपाने के लिए दी गई हो। वस्तुओ के गूढ अर्थो को केवल पुरोहित ही जान सकते थे। इस प्रकार यदि पुरोहितो ने अपने को देवताओ के समान पूज्य बनने का दावा किया तो इसमे कुछ आश्चर्य की बात नही। "यथार्थ मे देवता दो श्रेणी के है। देवता तो अपने-आपमे देवता है ही, और उनके बाद पुरोहितजन भी मनुष्यरूपी देवता है जिन्होने वैदिक ज्ञान (विद्या) का अध्ययन किया है, और जो उसका अध्यापन करते है।"[1]

हमे जहा-तहा ऐसे पुरोहित मिलते हैं जो गम्भीरतापूर्वक यह घोषणा करते पाए जाते है कि वे अपने यजमानो की मृत्यु भी बुला सकते है, यद्यपि वे इस बात का नैतिक ज्ञान रखते है कि इस प्रकार का कार्य निषिद्ध है।[2] एक अन्य परिस्थिति भी, जिसने पुरोहित-वर्ग की स्थिति को और भी महत्त्वपूर्ण बना दिया, वह थी कि उन वेदो की रक्षा करने का भार भी जिन्हे आर्य लोग अपने साथ लाए थे उनके ऊपर था, और जैसा कि हम अन्त मे देखेगे कि जनता के हृदय मे वेदो की पवित्रता का भाव बढ रहा था। वेदो की रक्षा का भार ब्राह्मणवर्ग के सुपुर्द किया गया था। यदि वेदो को जीवित रखना है तो ब्राह्मण को अपने पेशे के प्रति ईमानदार होना आवश्यक है। तदनुसार उसने अपने ऊपर कुछ कठोर 'प्रतिबन्ध' लगाए। "ऐसे ब्राह्मण को, जिसने पवित्र वेद का अध्ययन नही किया, आग पर रखी हुई सूखी घास की भाति क्षणमात्र मे नष्ट कर देना चाहिए।"[3] ब्राह्मण को उचित है कि वह सासारिक मान-प्रतिष्ठा को विष के समान समझकर छोड दे। ब्रह्मचारी अथवा विद्यार्थी अवस्था मे उसे अपनी वासनाओ को वश मे रखना चाहिए, अपने गुरु के

१ शतपथ ब्राह्मण, २ : २, २, ६; २ : ४, ३, १४।

२. तैत्तिरीय सहिता, १ . ६, १०, ४; और ऐतरेय ब्राह्मण, २ : २१, २।

३ मनु।

पास रहकर भोजन के लिए भिक्षावृत्ति करनी चाहिए, गृहस्थ होने पर उसे धन संग्रह का विचार छोड़ देना चाहिए, सत्य बोलना एवं धार्मिक जीवन बिताना चाहिए, और अपने मन एवं शरीर से पवित्र रहना चाहिए। ब्राह्मणों ने अनुभव किया कि जो कार्य उनके सुपुर्द किया गया है, उसे उन्हें ईमानदारी के साथ निभाना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार इस देश के ब्राह्मणों ने इतिहास की प्रत्येक भयानक दुर्घटनाओं के बीच वैदिक परम्परा को सुरक्षित रखा वह अद्भुत है। आज भी हमें भारतीय नगरों में वैदिक ज्ञान के ये भण्डार चलते फिरते दृष्टिगोचर होते हैं। परिवर्ती काल के जो कठोर व घन देखने में आते हैं वे ऐतिहासिक घटनाओं के कारण हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के काल में द्विजन्मा (द्विज) आर्यों में परस्पर कुछ अधिक भेदभाव नहीं था। उन सबको वैदिक ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त था।[1] यज्ञ स्वर्ग की ओर तरते हुए एक जहाज के समान है। यदि एक भी पुरोहित उसमें पापी होगा तो वह एक पापी पुरोहित ही अपने कारण उस जहाज को डुबो देगा।[2] इस प्रकार नैतिकता को एकदम ही असम्बद्ध मानकर छोड़ नहीं दिया गया था। ब्राह्मण पुरोहित न तो दुश्चरित्र थे और न ही जडमति। उन्हें अपने कर्तव्यपालन का ध्यान था और स्वयं सच्चरित्र भी थे जिसका उपदेश वे अन्यों को भी देने का प्रयत्न करते थे। वे नेकनीयत सरलचित्त व्यक्ति थे जो नियमों का पालन करते थे और अपनी योग्यता के अनुसार सब संस्कारों को भी करते थे और मान्य परम्पराओं एवं सिद्धान्तों की रक्षा भी करते थे। वे अपने पेशे का पूरा ज्ञान रखते थे और अपने कर्तव्यों को रुचि एवं श्रद्धा के साथ निभाते थे। उन्होंने नियमों की परिष्कृत संकेतावली का निर्माण किया, जिससे प्रकट होता है कि उन्हें विद्या के प्रति और मनुष्य जाति के प्रति भी अनुराग था। यदि उन्होंने कहीं भूल की तो उसका कारण यह था कि वे परम्परा की शृंखला से विवश थे। वे सज्जन और शुद्धात्मा पुरुष थे, भले ही उनके अन्दर कुछ मतिविभ्रम रहा हो। उन्हें सत्य की अपनी पुरातन परिभाषा में ज़रा सा भी सन्देह नहीं था। किन्तु समय की धारणाओं ने उनके विचार को बेकार कर दिया। तो भी यह कोई नहीं कह सकता कि अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति उनका अभिमान अनुचित था जबकि उनके पास पड़ोस का सारा संसार बर्बरता में डूबा हुआ था, और उसके अन्य हज़ारों कर्कश और अत्याचारी अवयवों ने उन्हें उक्त भावना को प्रकट करने के लिए प्रोत्साहित किया था।

स्वभाव से ही पेशे के रूप में पुरोहिताई हमेशा अनैतिकता की ओर ले जाने वाली होती है। किन्तु यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि भारत का ब्राह्मण अन्य देशों के पुरोहितों में अपेक्षाकृत अधिक दिखावटी या दम्भी था। सच्चे ब्राह्मणों ने उस युग में भी गम्भीर ज्ञान एवं दैवीय प्रेरणा से प्रेरित होकर सम्भावित अवनति के प्रति विरोधी

१ मनु कहते हैं, एक ऐसा द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बिना वेदाध्ययन के शीघ्र ही इसी ... [illegible] ... कहते हैं, 'वानप्रस्थ-आश्रम का ... [illegible] ... देखिये शास्त्रों का विधान—तीनों ... [illegible]

२ शतपथ ब्राह्मण ४, २, ५, १०।

वक्तव्य दिए थे। उन्होने स्वार्थी पुरोहितो की आत्मश्लाघा और दम्भ के विरुद्ध विद्रोह किया और फैले हुए भ्रष्टाचार के प्रति सकोचवश लज्जा भी प्रकट की। पुरोहिताई की विवेचना करते समय हमे इस बात का स्मरण करना आवश्यक है कि गृहस्थ के कर्तव्यो का उन्होने खयाल रखा, और दूसरे आश्रमो मे, अर्थात् वानप्रस्थाश्रम और सन्यास मे, उन क्रियाकलापो का कोई बन्धन नही रखा। ब्राह्मणो के शासन को यदि अत्याचारी और उत्पीडनशील समझा गया होता तो वह टिक नही सकता था। विचारशील पुरुषो का उस शासन मे विश्वास था, क्योकि इसका आग्रह केवल इतना था कि प्रत्येक को अपने सामाजिक कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

उत्तरकालीन दर्शनयुग मे हमे वेदप्रमाण अथवा शब्दप्रमाण के विषय मे बहुत कुछ सुनने को मिलता है। दर्शनो के अन्दर सनातन एव अर्वाचीन का भेद किया जाता है, अधिकतर इस दृष्टि से कि वे वेद के प्रामाण्य को स्वीकार करते है या उसका निषेध करते है। वेद को ईश्वरीय ज्ञान समझा जाता है। यद्यपि परवर्ती समय के हिन्दू सुधारको ने वेदो के प्रामाण्य के समर्थन मे प्रतिभासम्पन्न व्याख्याए प्रस्तुत की है, तो भी जहा तक वैदिक ऋषियो का सम्बन्ध है, वे वेदो को उच्चतम सत्य के रूप मे देखते है, जिनका प्रकाश ईश्वर की ओर से विशुद्ध आत्माओ के अन्दर किया गया। "सौभाग्य-शाली है वे जो हृदय मे पवित्र है, क्योकि ऐसे ही पुरुष ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते है।" वैदिक सूक्तो के ऋषि अपने को उनका रचयिता न मानकर द्रष्टा कहते है।[1] यह मानसिक चक्षु अथवा आभ्यन्तर दृष्टि द्वारा देखना है। ऋषियो की दृष्टि वासनाओं के वाष्प से मलिन नही होती, इसलिए वे उस सत्य को देख सकते है जो साधारणत इन चर्मचक्षुओ द्वारा नही देखा जा सकता।[2] ऋषियो का कार्य उस सत्य को दूसरो तक पहुचाना है जिसका उन्होने दर्शन किया। वे सत्य के निर्माता नही है। वेदो को श्रुति नाम दिया गया है, अर्थात् अनन्त के छन्दो की वह ध्वनि जो आत्मा द्वारा सुनी गई है। दृष्टि और श्रुति, जो दोनो वैदिक शब्द है, दर्शाते है कि वैदिक ज्ञान तर्क द्वारा प्रकट किया जानेवाला विषय नही, बल्कि आत्मा की अन्तर्दृष्टि का विषय है। कवि की आत्मा ने सुना अथवा दैवीय भावनायुक्त अवस्था मे उसके मन मे इसका प्रकाश हुआ जबकि मन तर्कपूर्ण एव अस्थिर चेतना की सकीर्ण सतह से ऊपर उठता है। वैदिक ऋषियो के मतानुसार, वैदिक सूक्तो के विषय दैवीय प्रेरणा के परिणामस्वरूप है और केवल इन्ही अर्थो मे वे दैवीय सन्देश अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान है। ऋषियो का आशय वेदो को चमत्कारिक एव अलौकिक बतलाने से नही है। कुछेक मन्त्रो को वे अपने बनाए हुए भी बतलाते है। वे उन मन्त्रो के कवि के रूप मे और उन्ही अर्थो मे कर्ता है जिन अर्थो मे, बढई, जुलाहा अथवा नाविक होते है[3], और उनकी प्राकृतिक व्याख्या करते है।

१. 'वेद' शब्द आर्यजाति की धातु 'विद्' से निकला है, जिसका अर्थ है 'देखना'। इसकी तुलना इनसे कीजिए अग्रेजी 'विजन' (लैटिन 'विदेओ' से), 'आइडियाज' (ग्रीक 'इदोज' से), 'विट'।

२. बीथोवन कहता है, "यह सब कलापूर्ण रचना ईश्वर से ही आती है और इसका सम्बन्ध मनुष्य ही से है, क्योंकि वह दैवीय क्रिया को अपने अन्दर देखता है।"

३ देखें, म्योर, 'सस्कृत टेक्स्ट्स', खण्ड ३।

वैदिक सूक्तों को मानवीय हृदय के भावों ने ही रूप दिया है।[1] कभी कभी वे यह भी कहते हैं कि उन्होंने सूक्तों को ढूंढ निकाला है, अर्थात उनका निर्माण नहीं किया।[2] उनका कहना यह भी है कि सोमपान करने के पश्चात हृदय में जो स्फूर्ति हुई उसके ये परिणाम हैं।[3] बहुत ही विनम्र भाव से वे वैदिक सूक्तों को ईश्वरप्रदत्त स्वीकार करते हैं। दैवीय प्रेरणा का भाव अभी भी निर्दोष ईश्वरीय ज्ञान के रूप में परिवर्तित नहीं हुआ है।

जब हम ब्राह्मणों की ओर आते हैं तो हम ऐसे काल में पहुंच जाते हैं जबकि वेदों की दैवीय प्रामाणिकता को स्वतःसिद्ध सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया।[5] वेदों के दैवीय सन्देश होने का दावा और इसीलिए उनकी नित्यरूप में सत्यता इसी काल में मानी जाने लगी। वेद के उद्गम को बुद्धि द्वारा समझना आसान है। लेखनकला उस काल में अज्ञात थी। उस समय न तो छापनेवाले थे और न पुस्तक प्रकाशक ही थे। वेदों के विषय गुरु परम्परा से एक से दूसरे तक पहुंचाए गए। वेदों के प्रति जनता के मन में आदर का भाव उत्पन्न हो इसके लिए उनके साथ पवित्रता का भाव जोड़ दिया गया। ऋग्वेद में वाक् वाणी को एक देवी के रूप में कहा गया। और फिर कहा गया कि वाक् से वेद निर्गत हुए। इस प्रकार से वाक् वेदों की जननी है।[6] अथर्ववेद में कहा है कि मन्त्र में जादू की शक्ति है। वेद स्वयम्भू ईश्वर से श्वास के समान प्रकट हुए हैं।[7] वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना जाने लगा जो ऋषियों को दिया गया क्योंकि उन्हें दैवीय प्रेरणा हुई। शब्द अर्थात अभिव्यक्ति को नित्य माना गया है। वेदों के विषय में इस मत का प्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि दर्शनशास्त्र शिक्षा का एक विषय हो गया। जब उच्चारण किया गया वास्तविक और जीवित शब्द एक नियमबद्ध मन्त्र में जड़ दिया गया तो उसका भाव गायब हो गया। भारतीय विचारधारा के इतिहास में जो इतने प्राचीन समय से वेद की प्रामाणिकता स्वीकार कर ली गई उसका प्रभाव पीछे आनेवाले समस्त विकास पर पड़ा। परवर्ती दर्शनशास्त्र में ऐसी एक प्रवृत्ति उत्पन्न हुई जिससे क्रमविहीन एवं सदा ही प्राचीन समय के सन्दर्भों के साथ संगत न बैठनेवाले पाठ की व्याख्या निर्णीत मतों के आधार पर ही होने लगी। जब एक विशेष परम्परा एक बार पवित्र एवं निर्भ्रान्त समझी जाने लगी तो यह निश्चित था कि उसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सत्य प्रकट करने का साधन भी स्वीकार किया जाए। यही कारण था कि परस्पर विभिन्न विरोधी

1 ऋग्वेद १ ११७ २ २ ३५ २। २ १ ६७, १। ३ ६ ४७ ३।

४ १ ७ ४ ३ १८ ३। म्योरकृत संस्कृत टेक्स्ट्स नामक पुस्तक के दूसरे अध्याय में (खण्ड ३ पृष्ठ २१७–८६) इसमें ऐसे वाक्यों का संग्रह मिलता है जो स्पष्ट रूप से दिखाते हैं कि "यद्यपि ऋषियों में कुछ तो यह कल्पना करते हुए प्रतीत होते हैं कि उन्हें दैवीय प्रेरणा से ही धार्मिक भाव उत्पन्न होते हैं साथ ही उन्होंने सूक्तों को अपनी रचना अथवा अपने पूर्वजों की रचना माना दोनों में अर्वाचीन एवं प्राचीन का भेद मान लिया और यह भी कहा कि ये वाक्य केवल यथार्थसत्ता की प्रेरणा से ही लिखे जा सकते थे।" ५ देखें ऐतरेय ब्राह्मण ७ ६।

६ वेदग्रन्थमाला १ तैत्तिरीय ब्राह्मण, २ ८ ८ ५। तुलना करें, सेंट जॉन के गॉस्पल का प्रारम्भ प्रारम्भ में शब्द ही था।

७ शतपथ ब्राह्मण, ११ ५ ८७ और आगे। और साथ में पुरुषसूक्त भी।

एवं असगत मतो और सिद्धान्तो के समर्थन मे उसी एक वेद से मन्त्र प्रस्तुत किए जाने लगे। यदि रूढि के प्रति भक्ति एव मतो की विविधता को एकसाथ रहना है तो यह उसी अवस्था मे सम्भव हो सकता है जबकि मन्त्रो की व्याख्या के विषय मे पूरी स्वतन्त्रता दी गई हो। और इसी विषय मे भारतीय दार्शनिक ने अपनी मेधाविता का प्रदर्शन किया है। यह अवश्य ही आश्चर्य का विषय है कि परम्परा के रहते हुए भी भारतीय विचार-धारा अपने-आपको एक दीर्घकाल तक साम्प्रदायिक दर्शन से अछूता रख सकी। भारतीय विचारक पहले एक युक्तियुक्त सिद्धान्त की स्थापना करते हैं और तब उसके समर्थन मे प्राचीन ग्रन्थो के उपयुक्त स्थलो को चुनते हैं। वे या तो बलपूर्वक उन ग्रन्थो की सगति अपने सिद्धान्त के समर्थन मे लगाते है या अन्यथा व्याख्या करते पाए जाते हैं। इस वैदिक प्रथा का एक अच्छा फल हुआ है। इससे यहा का दार्शनिक ज्ञान यथार्थ एव जीवित रह सका है। खोखले वाद विवाद मे एव आध्यात्मिक विषयो की ऐसी बहस मे जिसका जीवन के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नही है, अपना समय नष्ट न करके भारतीय विचारकों ने एक ऐसा दृढ आधार बना लिया जिसके सहारे वे आगे बढ सकते थे, और वह उच्चश्रेणी के ऋषियो का धार्मिक अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान था जो वेदो के रूप मे अभिव्यक्त हुआ था। इसने उन्हे जीवन के मुख्य सत्यो पर आधिपत्य प्रदान किया, और कोई भी दर्शन इन सत्यो की उपेक्षा नही कर सका।

५

सृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्त

सृष्टि की रचना के विषय मे जितने सिद्धान्त हैं वे सब प्राय ऋग्वेद का अनुसरण करते हैं, किन्तु कुछ विचित्र कल्पनाए भी इस विषय मे पाई जाती है। ऋग्वेद के पश्चाद्वर्ती तैत्तिरीय ब्राह्मण मे आता है "शुरू शुरू मे कुछ नही था, न द्युलोक था, न पृथ्वी ही थी।" कामना ही ससार के अस्तित्व का बीजरूप है। प्रजापति सन्तति की कामना करता है और सृष्टिरचना करता है। "वस्तुत सृष्टि के प्रारम्भ मे केवल प्रजापति ही विद्यमान था। उसने अपने अन्दर विचार किया कि मैं कैसे अपना विस्तार करू। उसने कठोर परिश्रम किया और तप किया। उसने जीवित प्राणियो को उत्पन्न किया।"[1]

६

नीतिशास्त्र

ब्राह्मणग्रन्थो के धर्म के प्रति न्याय करने के विचार से यह मानना पड़ेगा कि हमे उनमें स्थान-स्थान पर नैतिक भावना और उन्नत मनाभाव मिलते है। मनुष्य के कर्तव्य का भाव सबसे पहले ब्राह्मणग्रन्थो मे ही उदित होता है। कहा गया है कि मनुष्य के ऊपर

१. शतपथ ब्राह्मण, २ ५, १, १-३।

वैदिक सूक्तों को मानवीय हृदय के भावों ने ही रूप दिया है।[1] कभी कभी वे यह भी कहते हैं कि उन्होंने सूक्तों को ढूंढ निकाला है, अर्थात उनका निर्माण नहीं किया।[2] उनका कहना यह भी है कि सोमपान करने के पश्चात हृदय में जो स्फूर्ति हुई उसके ये परिणाम हैं।[3] बहुत ही विनम्र भाव से वे वैदिक सूक्तों को ईश्वरप्रदत्त स्वीकार करते हैं।[4] दैवीय प्रेरणा का भाव अभी भी निर्दोष ईश्वरीय ज्ञान के रूप में परिवर्तित नहीं हुआ है।

जब हम ब्राह्मणों की ओर आते हैं तो हम एक काल में पहुंच जाते हैं जबकि वेदों की दैवीय प्रामाणिकता को स्वतःसिद्ध सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया।[5] वेदों के दैवीय सन्देश होने का दावा और इसीलिए उनकी नित्यरूप में सत्यता इसी काल में मानी जाने लगी। वेद के उद्गम को बुद्धि द्वारा समझना आसान है। लेखनकला उस काल में अज्ञात थी। उस समय न तो छापनेवाले थे और न पुस्तक प्रकाशक ही थे। वेदों के विषय गुरु-परम्परा से एक से दूसरे तक पहुंचाए गए। वेदों के प्रति जनता के मन में आदर का भाव उत्पन्न हो इसके लिए उनके साथ पवित्रता का भाव जोड़ दिया गया। ऋग्वेद में वाक् वाणी को एक देवी के रूप में कहा गया। और फिर कहा गया कि वाक् से वेद निःसृत हुए। इस प्रकार से वाक् वेदों की जननी है।[6] शतपथब्राह्मण में कहा है कि मन्त्र में जादू की शक्ति है। वेद स्वयम्भू ईश्वर से श्वास के समान प्रकट हुए हैं।[7] वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना जाने लगा जो ऋषियों को दिया गया क्योंकि उन्हें दैवीय प्रेरणा हुई। शब्द अर्थात अभिव्यक्ति को नित्य माना गया है। वेदों के विषय में इस मत का प्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि दर्शनशास्त्र शिक्षा का एक विषय हो गया। जब उच्चारण किया गया वास्तविक और जीवित शब्द एक नियमबद्ध मन्त्र में जड़ दिया गया तो उसका भाव गायब हो गया। भारतीय विचारधारा के इतिहास में जो इतने प्राचीन समय से वेद की प्रामाणिकता स्वीकार कर ली गई उसका प्रभाव पीछे आनेवाले समस्त विकास पर पड़ा। परवर्ती दर्शनशास्त्र में ऐसी एक प्रवृत्ति उत्पन्न हुई जिससे क्रमविहीन एवं सदा ही प्राचीन समय के सन्दर्भों के साथ संगत न बैठनेवाले पाठ की व्याख्या निर्णीत मतों के आधार पर ही होने लगी। जब एक विशेष परम्परा एक बार पवित्र एवं निर्भ्रान्त समझी जाने लगी तो यह निश्चित था कि उसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सत्य प्रकट करने का साधन भी स्वीकार किया जाए। यही कारण था कि परस्पर विभिन्न विरोधी

1 ऋग्वेद १ १७१ २ २ ३५, २। 2 १ ६७, १। 3 ६ ४७ ३।

4 १ ७ ४ ३ १८ ३। म्योरकृत 'संस्कृत टेक्स्ट्स' नामक पुस्तक के दूसरे अध्याय में (खण्ड ३ पृष्ठ २१७-८६) हमें ऐसे वाक्यों का संग्रह मिलता है जो स्पष्ट रूप से दिखलाते हैं कि "यद्यपि ऋषियों में कुछेक यह कल्पना करते हुए प्रतीत होते हैं कि उन्हें दैवीय प्रेरणा से ही धार्मिक भाव उत्पन्न होते हैं साथ ही उन्होंने सूक्तों को अपनी रचना अथवा अपने पूर्वजों की रचना माना। दोनों में प्राचीन एवं अर्वाचीन का भेद स्वीकार किया और यह भी कहा कि ये वाक्य केवल यथार्थसत्ता की प्रेरणा से ही लिखे जा सकते थे।" 5 देखें, ऐतरेय ब्राह्मण ७ ६।

6 वेदानां माता। तैत्तिरीय ब्राह्मण, २ ८, ८ ५। तुलना करें सेंट जान के गॉस्पेल का प्रारम्भ "प्रारम्भ में शब्द ही था।"

7 शतपथ ब्राह्मण ११ ५ ८१ और आगे। और साथ में 'पुरुषसूक्त' भी।

यह आशा की जाती है कि वह एक या एक से अधिक वेदो का अध्ययन करेगा, (२) गृहस्थ, जिसे धर्मशास्त्रो मे विहित सामाजिक और यज्ञ-सम्बन्धी कर्तव्यो का पालन करना होता है, (३) वानप्रस्थ, जो उपासक अपना समय उपवास एव तपस्या मे व्यतीत करता है, और (४) सन्यासी, अथवा तपस्वी, जिसका कोई एक निश्चित स्थान नही होता, जिसके पास कोई निजी सम्पत्ति नही होती और जिसकी तीव्र आकाक्षा ईश्वर के साथ सयोग प्राप्त करना ही है। वेद के चारो भाग—अर्थात् सहिताभाग, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषदे—वैदिक आर्य लोगो के जीवन के चार पडावो के अनुकूल है।[1] लौकिक एव कर्मकाण्ड-सम्बन्धी पूजा के अन्दर छिपा हुआ सत्यधर्म और नैतिक सदाचार का भाव था, जिससे मनुष्य के हृदय को सन्तोपलाभ होता था। इस सदाचारात्मक आधार के कारण ही ब्राह्मणो का धर्म अन्य सब दुर्बलताओ के रहते हुए भी इतने लम्बे समय तक टिका रह सका। वाह्य पवित्रता के साथ-साथ आभ्यन्तर पवित्रता पर भी पूरा बल दिया गया था। सचाई, देवभक्ति, माता-पिता का आदर, पशुजगत् के प्रति दयालुता का भाव, मनुष्यजाति के प्रति प्रेम, तथा चोरी, हिंसा और व्यभिचार से दूर रहना आदि धार्मिक जीवन के अग है—यह शिक्षा भारतीयो के मस्तिष्क मे अच्छी तरह से वैठा दी गई थी।

जातिभेद रूपी सस्था सिद्धान्तविहीन पुरोहितो का आविष्कार न होकर समय की अवस्थाओ द्वारा मनुष्य-समाज का स्वयविकसित रूप थी। ब्राह्मणग्रन्थो के समय मे यह जड पकड गई। पुरुषसूक्त यद्यपि ऋग्वेद का एक भाग है, किन्तु है ब्राह्मणग्रन्थो के ही समय का। यह प्रकट है कि उस समय आर्यो एव दस्युओ मे परस्पर अन्तर्जातीय विवाह होते थे।[2] परस्पर रक्त के अत्यधिक मिश्रण को वचाने के लिए आर्य लोगो से अपने गौरव की रक्षा के लिए अपील की जाती थी। इस प्रकार जो सस्था प्रारम्भ मे केवल सामाजिक रूप मे थी उसे धार्मिक रूप दे दिया गया। इसे दैवीय स्वीकृति दे दी गई, और जातिविपयक नियम अटल वन गए। प्रारम्भिक वर्णधर्म मे जो लचीलापन था उसके स्थान मे जात-पात के नियम अत्यन्त कठोर हो गए। प्राचीन वैदिककाल मे पुरोहित लोगो का एक अलग पेशा तो था, किन्तु उनकी अलग जाति नही थी। कोई भी आर्य पुरोहित वन सकता था, और पुरोहितवर्ग आवश्यक रूप से क्षत्रिय अथवा वाणिज्य-व्यवसायी वैश्यवर्ग से ऊचा नही समझा जाता था। कभी-कभी उन्हे घृणा की दृष्टि से भी देखा गया है।[3] किन्तु अव अभिमान के कारण जो अलग रहने का भाव आ गया, वह जाति का आधार वन गया। इस प्रवृत्ति के कारण स्वतन्त्र विचार दब गया और चिन्तन-सम्बन्धी उन्नति पिछड गई। सदाचार का मानदण्ड डूव गया। जो व्यक्ति जाति-विरादरी के नियमो का उल्लघन करता था उसे विद्रोही समझा जाता था और

१ जीवन की इन श्रेणियों का विवरण भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों के अनुसार भिन्न-भिन्न है। देखिए बृहदारण्यक उपनिषद्, ३ : ५, १; 'आपस्तम्बसूत्र, २ : ६, २१, १, गौतमसूत्र, ३ २, बोधायन, २ ६, ११, १२, मनु, ५ १३७; ६ ८७, वसिष्ठ, ७ : २।

२ अथर्ववेद, ५ : १७, ८।

३. देखिए, ऋग्वेद, ७ १०३, १, ७ और ८: १० ८८ १२।

कुछ ऋण अथवा कर्तव्य देवताओं, मनुष्यों एवं पशुजगत के प्रति हैं। उन कर्तव्यों को यों विभक्त किया गया है (१) देवऋण (२) ऋषिऋण (३) पितृऋण (४) मनुष्यों के प्रति ऋण और (५) निकृष्ट प्राणियों के प्रति ऋण। जो मनुष्य उक्त सब प्रकार के ऋणों से उद्धार पा जाता है अर्थात् सबके प्रति अपने कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन करता है वह सत्पुरुष है। अपने दैनिक भोजन के अंगों को बिना देवों, पितरों, अन्य मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों को अर्पित किये एवं बिना दैनिक प्रार्थना किये कोई भी मनुष्य अन्न को स्पर्श नहीं कर सकता। अपने चारों ओर के जगत के साथ समानता का व्यवहार करते हुए जीवनयापन करने का यही सही तरीका है। जीवन एक प्रकार से कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का चक्र है। यह भाव निश्चितरूप से ऊंचा और उदार है, भले ही आत्मा का वास्तविक प्रेरक कुछ भी हो। हम अपनी सब क्रियाओं में निःस्वार्थभाव रख सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण में सब वस्तुओं के त्याग अर्थात् सर्वमेध को मुक्ति की प्राप्ति का साधन बताया गया है।[1] देवभक्ति निःसन्देह पहला कर्तव्य है। यान्त्रिक रूप में विशेष क्रियाकलाप को पूरा कर लेना देवभक्ति नहीं है। देवभक्ति के लिए स्तुति और शुभकर्म आवश्यक हैं। देवभक्ति से तात्पर्य है जहां तक भी सम्भव हो सके दिव्य गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना। सत्य बोलना देवभक्ति का एक अनिवार्य अंग है। यह धार्मिक एवं नैतिक कर्तव्य है। अग्नि व्रतों का स्वामी और वाक् भाषण का स्वामी है। यदि व्यवहार में सत्याचरण न होगा तो दोनों ही अप्रसन्न हो जाएंगे।[2] यज्ञों की सांकेतिक व्याख्याओं के विषय में हम पहले लिख आए हैं। ऐसे भी वाक्य मिलते हैं जिनमें कर्मों की अनिवार्य निष्फलता बतलाई गई है। परलोक को यज्ञ में दी गई आहुतियों के द्वारा नहीं पहुंच सकते, न ही तपस्या से पहुंच सकते हैं, यदि इसका ज्ञान न हो। वह अवस्था उसीको प्राप्त होती है जिसे इसका ज्ञान है।[3] व्यभिचार को पाप के रूप में निषिद्ध ठहराया गया है। देवताओं के प्रति, विशेषत वरुण देवता के प्रति यह पापकर्म है। प्रत्येक पापकर्म में पापकर्म को स्वीकार कर लेने से अपराध में कमी हो जाती है। तपस्या को भी एक उत्तम आदर्श माना गया है क्योंकि देवों ने भी तपस्या के द्वारा ही देवत्व को प्राप्त किया, ऐसा समझा जाता है।[5]

आश्रमधर्म का भी इसी काल में विकास हुआ, प्रत्युत यह कहना अधिक उचित होगा कि आश्रमधर्म का निर्माण ही इस काल में हुआ।[6] वैदिक आर्यों के जीवन के चार अवस्थान हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं (१) ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी जिससे

१ १३ ७ १ १।

२ "देव लोग एक ही नियम का पालन करते हैं—सत्य।" शतपथ ब्राह्मण, १ १, १ ४ और भी देखें १ १ १ ५ ३ २ २ २ और ३ ४, २ ८ और ७ २, ७, १९।

३ शतपथ ब्राह्मण १ ५ ४ १५।

४ शतपथ ब्राह्मण २ ५, २ २०।

५ तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३ १२ ३।

६ आश्रम शब्द जिस धातु (श्रम् धातु) से निकला है उसका अर्थ है मेहनत करना। इसका तात्पर्य है कि भारतीयों ने यह अनुभव किया था कि बिना कष्ट के उन्नति नहीं होती।

यह आशा की जाती है कि वह एक या एक से अधिक वेदो का अध्ययन करेगा; (२) गृहस्थ, जिसे धर्मशास्त्रो मे विहित सामाजिक और यज्ञ-सम्बन्धी कर्तव्यो का पालन करना होता है, (३) वानप्रस्थ, जो उपासक अपना समय उपवास एव तपस्या मे व्यतीत करता है, और (४) सन्यासी, अथवा तपस्वी, जिसका कोई एक निश्चित स्थान नही होता, जिसके पास कोई निजी सम्पत्ति नही होती और जिसकी तीव्र आकाक्षा ईश्वर के साथ सयोग प्राप्त करना ही है। वेद के चारो भाग—अर्थात् सहिताभाग, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषदे—वैदिक आर्य लोगो के जीवन के चार पडावो के अनुकूल है।[1] लौकिक एव कर्मकाण्ड-सम्बन्धी पूजा के अन्दर छिपा हुआ सत्यधर्म और नैतिक सदाचार का भाव था, जिससे मनुष्य के हृदय को सन्तोपलाभ होता था। इस सदाचारात्मक आधार के कारण ही ब्राह्मणो का धर्म अन्य सब दुर्बलताओ के रहते हुए भी इतने लम्बे समय तक टिका रह सका। बाह्य पवित्रता के साथ-साथ आभ्यन्तर पवित्रता पर भी पूरा बल दिया गया था। सचाई, देवभक्ति, माता-पिता का आदर, पशुजगत् के प्रति दयालुता का भाव, मनुष्यजाति के प्रति प्रेम, तथा चोरी, हिसा और व्यभिचार से दूर रहना आदि धार्मिक जीवन के अग है—यह शिक्षा भारतीयो के मस्तिष्क मे अच्छी तरह से बैठा दी गई थी।

जातिभेद रूपी सस्था सिद्धान्तविहीन पुरोहितो का आविष्कार न होकर समय की अवस्थाओ द्वारा मनुष्य-समाज का स्वयविकसित रूप थी। ब्राह्मणग्रन्थो के समय मे यह जड पकड गई। पुरुषसूक्त यद्यपि ऋग्वेद का एक भाग है, किन्तु है ब्राह्मणग्रन्थो के ही समय का। यह प्रकट है कि उस समय आर्यों एव दस्युओ मे परस्पर अन्तर्जातीय विवाह होते थे।[2] परस्पर रक्त के अत्यधिक मिश्रण को बचाने के लिए आर्य लोगो से अपने गौरव की रक्षा के लिए अपील की जाती थी। इस प्रकार जो सस्था प्रारम्भ मे केवल सामाजिक रूप मे थी उसे धार्मिक रूप दे दिया गया। इसे दैवीय स्वीकृति दे दी गई, और जातिविषयक नियम अटल बन गए। प्रारम्भिक वर्णधर्म मे जो लचीलापन था उसके स्थान मे जात-पात के नियम अत्यन्त कठोर हो गए। प्राचीन वैदिककाल मे पुरोहित लोगो का एक अलग पेशा तो था, किन्तु उनकी अलग जाति नही थी। कोई भी आर्य पुरोहित बन सकता था, और पुरोहितवर्ग आवश्यक रूप से क्षत्रिय अथवा वाणिज्य-व्यवसायी वैश्यवर्ग से ऊचा नही समझा जाता था। कभी-कभी उन्हे घृणा की दृष्टि से भी देखा गया है।[3] किन्तु अब अभिमान के कारण जो अलग रहने का भाव आ गया, वह जाति का आधार बन गया। इस प्रवृत्ति के कारण स्वतन्त्र विचार दब गया और चिन्तन-सम्बन्धी उन्नति पिछड गई। सदाचार का मानदण्ड डूब गया। जो व्यक्ति जाति-बिरादरी के नियमो का उल्लघन करता था उसे विद्रोही समझा जाता था और

१ जीवन की इन श्रेणियों का विवरण भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों के अनुसार भिन्न-भिन्न है। देखिए—बृहदारण्यक उपनिषद्, ३ ५, १, 'आपस्तम्बसूत्र, २ ६, २१, १, गौतमसूत्र, ३ . २, बोधायन, २ ६, ११, १२, मनु, ५ . १३७, ६ ८७; वसिष्ठ, ७ २।

२. अथर्ववेद, ५ १७, ८।

३. देखिए, ऋग्वेद, ७ . १०३, १, ७ और ८, १० . ८८, १६।

उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। शूद्रों के लिए उच्चतम धर्म का द्वार बन्द था। पारस्परिक घृणा बढ़ती गई। ये क्षत्रियों के शब्द हैं, यह ब्राह्मणों द्वारा अपने से भिन्न वर्ण वालों के लिए उच्चारण किए जानेवाले शब्दों का एक नमूना है।[1]

७

परलोकशास्त्र

ब्राह्मणग्रन्थों के अन्दर हमें भविष्यजीवन के विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं मिलता। पितृलोक और देवलोक के विभिन्न मार्गों का वर्णन दिया गया है।[2] पृथ्वी के ऊपर फिर से जन्म धारण करने को वरदान के रूप में लिया जाता था, न कि अभिशाप के रूप में, जिससे बचने की जरूरत समझी जाए। दैवीय रहस्य को जानने के लिए यह एक प्रकार का प्रतिदान पुरस्कार है।[3] किन्तु सबसे ऊपर मत है कि मनुष्यजन्म द्वारा अमरता प्राप्त करके देवताओं के निवासस्थान स्वर्गलोक की प्राप्ति हो सकती है। वह जो इस प्रकार यत्न करता है शाश्वत ऐश्वर्य एवं ख्याति को प्राप्त करता है और अपने लिए दोनों देवताओं अर्थात् आदित्य और अग्नि के साथ संयोग पाकर विजयी होता है और उनके साथ उसी लोक में स्थान पाता है।[4] विशेष विशेष यज्ञ हमें विशिष्ट देवों के लोक में पहुंचने योग्य बनाते हैं।[5] नक्षत्रों में भी मृत आत्माओं का निवास माना गया है।[6] लक्ष्य फिर भी वैयक्तिक सत्ता को स्थिर रखना है यद्यपि इस लोक से उत्तम लोक में।[7] ब्राह्मणग्रन्थों में अमरत्व अथवा कम से कम दीर्घ जीवन उन व्यक्तियों के लिए नियत किया गया है जो यज्ञ को *ठीक ठीक समझकर उसे क्रिया में लाते हैं* दूसरी ओर वे *जिनमें यज्ञ की भावना का* अभाव है समय से पूर्व मृत्यु को प्राप्त होकर परलोकगामी होते हैं जहां उनके कर्मों का न्याय होता है।[8] और अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार उन्हें भला या बुरा फल प्राप्त होता है। जिसने जितने ही अधिक यज्ञ किए होते हैं उतना ही अधिक अलौकिक रूप से वायव्य (हल्का) शरीर वह प्राप्त करता है अथवा ब्राह्मणग्रन्थ की परिभाषा में, यों कहना उचित होगा कि उतना ही कम भोजन की उसे आवश्यकता होती है। दूसरे ग्रन्थों में इसके विपरीत बतलाया गया है कि उस मनुष्य को यह आशा दिलाई गई है कि पवित्रात्मा दूसरे लोक में पूरे शरीरसमेत सर्वतनु, जन्म लेता है।[9] वैदिक मत और ब्राह्मणों के मत में यहां तक भेद है कि जहां ऋग्वेद के अनुसार पापी लोक में मिला दिया जाता है और धर्मात्मा पुरुष अमरत्व को प्राप्त करता है वहां ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार दोनों ही को अपने अपने कर्मों का फल भोगने के लिए फिर से शरीर धारण करना पड़ता है। जैसाकि वेबर ने लिखा है जहां पुराने समय में अमरत्व को महाभागों के लोक में—

1. शतपथब्राह्मण ८ १, ४ १० । 2. वही ६ ६, २ ४।
3. वही १ ५ ३ १४। 4. वही ११ ६ २, ५।
5. वही २ ६ ४ ८। 6. ६ २१ २ ७ ३। 7. १० १, ५ ४।
8. ४ ६ १ १; ११ १ ८ ६ १२ ८ ३ ३१।
9. जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी में दिया गया वेबर का उद्धरण १ १८६५, ३०६ और आगे।

जहाकि दूध और मधु वहते है—पुण्य अथवा ज्ञान की प्राप्ति का पुरस्कार माना जाता है जब पापी अथवा अज्ञानी एक अल्पकाल के जीवन के पश्चात् अपनी सत्ता को सर्वथा खो देता है, वहा ब्राह्मणो का सिद्धान्त है कि मृत्यु के वाद सव मनुष्य फिर से अन्य जगत् मे जन्म धारण करते है जहा उन्हे अपने कर्मो के अनुसार फल दिए जाते है—धर्मात्माओ को पुरस्कार मिलता है और दुरात्माओ को दण्ड मिलता है।"[1] सुझाव यह है कि इसके पश्चात् एक ही जन्म और है और उसका स्वरूप हमारे इस लोक मे दिए गए कर्मो के अनुसार निर्णय किया जाता है। "मनुष्य एक ऐसे जगत् मे जन्म लेता है जो उसका अपना बनाया हुआ है।"[2] "मनुष्य इस जगत् मे जिस अन्न को खाता है वही अन्न अगले जगत् मे मनुष्य को खाता है।"[3] अच्छे और बुरे कर्मो का अनुरूप फल पुरस्कार एव दण्ड के रूप मे भविष्यजीवन मे मिलता है। फिर "इस प्रकार से उन्होने हमारे साथ पहले जन्म मे व्यवहार किया है और हम भी इस जन्म मे उनके साथ वैसा ही व्यवहार करेगे।"[4] शनै-शनै बराबर के न्याय का भाव विकसित हुआ। ऋग्वेद मे वर्णित पितरो का लोक अनेक मार्गो मे से एक था किन्तु फिर वैदिक देवताओ और उनके लोक मे एव पितरो के मार्ग और उनके लोक मे, जहा प्रतिशोधकारी न्याय का भाव था, भेद उत्पन्न हुआ। अभी हमारे आगे दूसरे लोक मे पुनर्जन्म का विचार एव इस पृथ्वी पर किए गए कर्मो का पश्चात्ताप, अथवा पाप-निष्कृति का विचार नही आया है—किन्तु यह प्रश्न टाला नही जा सकता कि दुरात्मा लोग नित्य दण्ड भोगते है और पुण्यात्मा स्थायी आनन्द का उपभोग करते है। "नम्रस्वभाव और विचारमग्न भारतीय मनुष्यो को यह उचित प्रतीत नही हो सका कि पुरस्कार और दण्ड भी नित्य एव स्थायी हो सकते है। वे यह तो सोच सके कि पश्चात्ताप करके अपने को शुद्ध कर लेने पर उन पापो से जो इस छोटे-से जीवन मे किए है, छुटकारा पा जाना सम्भव हो सकता है। और उसी प्रकार से वे कल्पना नही कर सके कि उसी स्वल्पकाल के जीवन मे किए हुए शुभ कर्मो का पुरस्कार भी सदा के लिए बना रहेगा।" यह बताया गया है कि जब हम अपने पुरस्कारो एव दण्डो का फल पा चुकते है, तब हमारा वह जन्म शेष हो जाता है और हम पृथ्वी पर फिर से जन्म लेते है। प्रकृति का प्रवाह, जिसके कारण जीवन के वाद मरण और मरण के वाद फिर जन्म होता है, हमे इस परिणाम पर पहुचने के लिए विवश करता है कि यह जीवन और मरण का चक्र अनादि एव अनन्त है।[5] सच्चा आदर्श जीवन और मरण के बन्धन से मुक्त होना ही है, जिसका तात्पर्य ससार से छुटकारा पाना है। "देवताओ को उद्देश्य करके जो यज्ञ करता है उसे उतना महत्त्वपूर्ण लोक प्राप्त नही होता जितना उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जो आत्मा को उद्देश्य करके यज्ञ करता है।"[6] "वह जो वेदो का अध्ययन करता है मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है और ब्रह्म के समान रूप को प्राप्त करता है।"[7] जन्म जिसका कारण

१ 'जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी' में वेवर का उद्धरण, १ १८६५, ३०६ और आगे।
२ शतपथ ब्राह्मण, ६ २, २, २७। "कृत लोक पुरुषोऽभियायते"।
३. शतपथ ब्राह्मण, १० ६, ११।
४ शतपथ ब्राह्मण, १२ ६।
५ देखें, ऐतरेय ब्राह्मण, ३ : ४४।
६ ११ . २, ६।
७. १० . ५, ३, ६।

हा एसी मत्यु वह वस्तु है जिससे बचना चाहिए। उसके बाद हम एसा भाव भी मिलता है कि व मनुष्य जो बिना ज्ञान के कमकाड करते हैं बार बार जन्म लेते हैं और बार बार मत्यु के ग्रास बनते हैं।[1] एक और स्थान पर[2] उपनिषदों का भाव प्रस्तुत किया गया है जिसके अनुसार इच्छा और उसकी पूर्ति स ऊपर भी एक ऊची अवस्था है जिसे सच्चे अर्थों मे अमरता कहा जाता है। "इस प्रकार की आत्मा इन सबका अतिम लक्ष्य है। यह सब जलो मे वतमान रहती है इस सब अभिलषित पदाथ प्राप्त हो जाते है यह इच्छा स मुक्त है और इसे सब अभीष्ट पदार्थ प्राप्त हैं क्योंकि इसे किसी वस्तु का अभाव नहीं है इसीलिए किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञान के द्वारा मनुष्य उस ऊची अवस्था का प्राप्त करते हैं जिसम इच्छाए नष्ट हो जाती है। वहा न तो यज्ञ की आहुतिया पहुचती हैं और न एसे तपस्वी भक्त ही पहुच सकत है जो ज्ञान स शून्य है। क्योंकि वह मनुष्य जिसके पास यह ज्ञान नहीं है उस लोक को प्राप्त नहीं कर सकता आहुतियो द्वारा अथवा कठोर तपस्या से भी नहीं। यह उन्हें ही प्राप्त होता है जिनके पास इस प्रकार का ज्ञान है।"[3] पुनजन्म के सिद्धा त को विकसित करन के लिए जितने भी सुझाव सम्भव हो सकते है व सब ब्राह्मण ग्रन्थो मे निहित है। वे सब केवल सुझाव के रूप म हैं जबकि मुख्य प्रवृत्ति अमरत्व की प्राप्ति की ओर ही है। यह अब उपनिषदो का काम है कि वे ब्राह्मणग्रन्थो के उन सुझावों को पुनजन्म के सिद्धा त का प्रतिपादन करन के लिए क्रमबद्ध करें। जबकि कम और पुनज म के विचार नि स देह आय लोगो के मस्तिष्क की ही उपज हैं इस बात से निषध करन की आवश्यकता नहीं कि सम्भव है उक्त सुझाव आदिम जातियो स भी आए हो जिनका विश्वास था कि मत्यु के बाद उनकी आत्माए पशुओ व शरीरो म निवास करती हैं।

उच्चतर श्रेणी के नीतिशास्त्र एव धम के सुझावो के विद्यमान रहते हुए भी यह कहना ही पडेगा कि वह काल अधिकतर पारसियो के धम की भाति अग्निपूजा का काल था जिसम लाग यज्ञो की पूर्ति के लिए अधिक उत्सुक रहते थे, और आत्मा की पूर्णता की ओर इतना ध्यान नहीं था। आवश्यकता थी आध्यात्मिक अनुभव को फिर स स्थिर करने की जिसके मूलभूत सच्चे अथ को सकेतावलिपूण औपचारिक पवित्रता न धुधला कर रखा था। इस काय का उत्तरदायित्व उपनिषदो ने अपन ऊपर लिया।

उद्धृत ग्रन्थ

लमफील्ड 'अथर्ववेद' सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट,' खण्ड ४३।

एगलिंग 'शतपथ ब्राह्मण' की खण्ड १२ प्रस्तावना।

हापकिंस 'द रिलिजन्स आफ इण्डिया' अध्याय ६।

1 शतपथ ब्राह्मण १ ४ ३ १ और भी देखें १ १ ४ १४ १ २ ६, १६ १ ४, १ ४ ११ ४ ३ २ १।

2 १० ४ ४ १५।

3 शकर ने वेदान्तसूत्रो के अपने भाष्य में इस वाक्य को उद्धृत किया है यह दिखाने के लिए के यह स्थिति उनके अपने सिद्धान्त क कितने निकट है।

चौथा अध्याय

उपनिषदों का दर्शन

उपनिषद्—उपनिषदों की शिक्षा—उपनिषदों की संख्या और रचनाकाल—उपनिषदों के रचयिता—ऋग्वेद की ऋचाएं और उपनिषदें—उपनिषदों के विषय—यथार्थता का स्वरूप—ब्रह्म—ब्रह्म और आत्मा—ब्रह्म और अन्तर्दृष्टि—सृष्टि-रचना—यथार्थ सत्ता की अवस्थाएं—जीवात्मा—नैतिक चेतना—मोक्ष या मुक्ति—पाप और दुःख—कर्म—पारलौकिक जीवन—उपनिषदों का मनोविज्ञान—उपनिषदों में सांख्य और योग के तत्त्व—दार्शनिक अवनिरूपण।

१

उपनिषद्

उपनिषदे वेदो के अन्तिम भाग है, और इसलिए इन्हे 'वेद-अन्त' की सज्ञा दी गई है, जिससे यह ध्वनित होता है कि वैदिक शिक्षाओ का सार उनके अन्दर है।[1] उपनिषदे नींव के रूप मे हैं, जिनके ऊपर बहुतसे भारतीय अर्वाचीन दर्शनशास्त्रो व धार्मिक सम्प्रदायो के भवन खडे हैं। "हिन्दू विचारधारा का एक भी ऐसा महत्त्वपूर्ण अग नही है, जिसमे नास्तिक-नामधारी बौद्धमत भी आता है, जिसका मूल उपनिषदो मे न मिलता हो।"[2] परवर्ती दर्शन, भले ही वे उपनिषदो को अपने उत्पत्तिस्थान के रूप मे स्वीकार न करते हो, अपने-अपने मन्तव्यो का साम्य उपनिषद्-प्रतिपादित सिद्धान्तो के साथ

१. उपनिषद् शब्द 'उप-नि-सद्' से निकला है, अर्थात् समीप बैठना। इसका अर्थ हुआ शिक्षा-प्राप्ति के लिए शिक्षक के पास बैठना। कालक्रम से इसका अर्थ हुआ कि वह ज्ञान, अर्थात् गुप्त रहस्य का सिद्धान्त, जो हमें शिक्षक से प्राप्त हुआ हो। कभी-कभी इसका प्रयोग इस आशय में भी होता है कि वह शिक्षा जिससे हमारा भ्रम दूर होकर सत्य की प्राप्ति हो। शकर अपनी तैत्तिरीयोपनिषद् की प्रस्तावना में कहते है कि "ब्रह्मज्ञान का नाम ही उपनिषद् है, क्योंकि उन व्यक्तियों के जो अपना समय इसकी प्राप्ति के लिए लगाते है, माता के गर्भ मे आगमन, जन्म और मृत्यु आदि के बन्धन शिथिल हो जाते है, अथवा इसलिए कि इसके द्वारा उनका सर्वथा नाश हो जाता है, या इसलिए कि यह शिष्य को ब्रह्म के अत्यन्त समीप ले जाता है, अथवा इसलिए कि इनमें परमब्रह्म का निवास है।" देखें, 'पण्डित', मार्च १८७२, पृष्ठ २५४।

२ ब्लूमफील्ड : 'द रिलिजन आफ द वेद', पृष्ठ ५१।

दर्शाने के लिए निरंतर आतुर रहे हैं। भारत में पुनरुज्जीवित प्रत्येक आत्मवाद ने अपने उद्गम के लिए उपनिषदों की शिक्षाओं की ओर ही संकेत किया है। उपनिषदों के काव्य एवं उन्नत आदर्शवाद आज भी मानव के मस्तिष्क को प्रेरणा देने एवं उनके हृदयों पर शासन करने में उतने ही समर्थ हैं जितने कि प्राचीन समय में थे। उनके अन्दर भारतीय कल्पना के प्राचीनतम प्रमाण उल्लिखित हैं। वेद के सूक्तों (मन्त्र एवं संहिताभाग) तथा कर्मकाण्ड-सम्बन्धी वेदांगों में आर्यों की दार्शनिक विचारधारा की अपेक्षा धार्मिक विचारों एवं प्रक्रियाओं का ही अधिकतर प्रतिपादन पाया जाता है। उपनिषदों में हम वेदसंहिता भाग की पौराणिक गाथाओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों के बाल की खाल निकालनेवाले निरर्थक तर्कों यहां तक कि आरण्यकों में प्रतिपादित आस्तिकवाद से भी अधिक उन्नत विचार उपलब्ध होते हैं यद्यपि उक्त सब क्रमों में से भी गुजरना ही पड़ता है। उपनिषत्कारों ने अतीतकाल में परिवर्तन पैदा किया और वैदिक धर्म में जिन परिवर्तनों का उन्होंने समावेश किया वे एक ऐसे साहसिक हृदय का परिचय देते हैं जिसमें सत्य केवल विचार स्वातन्त्र्य के लिए व्यग्रता विद्यमान रहती है। उपनिषदों का लक्ष्य इतना अधिक दार्शनिक सत्य तक पहुंचना नहीं है जितना कि जिज्ञासु मानवी आत्मा को शान्ति एवं स्वतन्त्रता प्राप्त कराना है। आध्यात्मिक प्रश्नों के परीक्षणात्मक समाधान वाद विवाद एवं प्रश्नोत्तर के रूप में दिए गए हैं यद्यपि उपनिषदें तत्त्वरूप में जीवन के सत्यों पर विचार करते हुए दार्शनिक प्रवृत्ति के मस्तिष्कों के सहसा एवं स्वयंप्रस्फुटित का समय उद्गार हैं। उनके अन्दर मानवीय मस्तिष्क की यथार्थ सत्ता के सत्यस्वरूप को ग्रहण करने के लिए एक प्रकार की आतुरता और तत्सम्बन्धी उद्योग की अभिव्यक्ति पाई जाती है। उपनिषदों का स्वरूप क्रमबद्ध दर्शनशास्त्रों जैसा नहीं है। ये सब किसी एक ही ग्रन्थकार की रचनाएं नहीं हैं और न उन सबका निर्माणकाल ही एक है इसीलिए उनके अन्दर पूर्वापर विरोध एवं कुछेक असंगत बातें भी बहुत स्थानों पर पाई जाती हैं। किन्तु यदि यही सब कुछ होता तो उपनिषदों के अध्ययन की कोई उपयोगिता न होती। उपनिषदों ने ऐसे मौलिक विचारों को जन्म दिया है जो अपने आपमें सर्वथा निर्दोष और सन्तोषजनक है और जो कुछेक भूलें अनायास उनके अन्दर रह गई और जिनपर वक्र दृष्टि के रूप में जिन्हें विरोधाभास समझा जाने लगा उनका निराकरण भी उक्त निर्दोष एवं सन्तोषजनक विचारों द्वारा स्वयं ही हो जाता है। ग्रन्थकारों के भिन्न भिन्न रहते हुए भी और इन काव्यमिश्रित दार्शनिक रचनाओं में कालभेद होने पर भी सबका उद्देश्य एक है क्योंकि सबके अन्दर हम एक आध्यात्मिक सत्य की विविध भांति समान रूप से मिलती है और ज्यों-ज्यों हम उत्तरोत्तर काल में उतरते जाते हैं यह तत्त्व और भी अधिक स्पष्ट होता जाता है। उपनिषदें हमारे सम्मुख अपने समय के विचारशील धार्मिक मस्तिष्क की अपूर्व निधि का प्रकाश में लाती हैं। आत्मनिरीक्षण सम्बन्धी दार्शनिक साहित्य के क्षेत्र में उपनिषदों की सफलता अपूर्व है। उपनिषदों के पूर्व की एक भी रचना अपने आपमें इतनी व्यापक उन्नत सांकेतिक व सन्तोषप्रद नहीं थी जो कि उनकी तुलना में ठहर सके। उपनिषदों के दार्शनिक व धार्मिक साहित्य ने कितने ही महान विचारकों व पहुंची हुई महान आत्माओं को सच्चे अर्थों में पूर्ण सन्तोष

प्रदान किया है। हम उपनिषदो के सम्बन्ध मे गफ के इस मूल्याकन से सहमत नही है: "इन सबमे आध्यात्मिक अश अत्यन्त अल्प है," अथवा यो कहना चाहिए कि "यह खोखला बौद्धिक विचार, जो धार्मिकता से शून्य है, भारतीय मस्तिष्क की योग्यता को प्रकट करनेवाला एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।" प्रोफेसर जे० एन० मैकेंजी इससे कही अधिक गहराई मे जाकर कहते हैं कि "उपनिषदो मे जो प्रयत्न हमारे सम्मुख रखा गया है वह विश्व के निर्माण-सम्बन्धी सिद्धान्त का सबसे पहला प्रयत्न है और निश्चय ही बहुत रोचक और महत्त्वपूर्ण है।"[1]

२

उपनिषदों की शिक्षा

उपनिषदो की शिक्षा का विषय क्या है, इसका निर्णय करना सरल नहीं है। उपनिषदो के आधुनिक विद्यार्थी अपने किसी न किसी पूर्वनिर्धारित सिद्धान्त के आधार पर इनका अध्ययन करते है। मनुष्यो को अपने स्वतन्त्र निर्णय के ऊपर भरोसा करने की इतनी कम आदत है कि इसके लिए वे किसी प्रमाण एव परम्परा की शरण लेते है। यद्यपि आचार-व्यवहार एव जीवनयात्रा के लिए ये पर्याप्त मात्रा मे निर्भर करने योग्य पथप्रदर्शक है फिर भी सत्य के लिए अन्तर्दृष्टि और निर्णय की भी आवश्यकता है। आज एक बहुत बडी तादाद मे विचारको की सम्मति का झुकाव शकर के मत की ओर है, जिन्होने उपनिषदो, भगवद्गीता एव वेदान्तसूत्रो पर किए गए अपने भाष्यो मे अत्यन्त परिश्रम के साथ अध्यात्मविद्या के उच्च एव अत्यन्त सूक्ष्म अद्वैतविषय की व्याख्या की है। इससे भिन्न और ठीक उतना ही प्रबल दूसरा एक मत यह है कि शकर ने जो कुछ कहा वह इस विषय पर अन्तिम शब्द नही और यह कि उपनिषदो की शिक्षा का तर्कसगत सार प्रेम एव भक्तिरूप दार्शनिक विचार है। भिन्न-भिन्न भाष्यकार अपने विशेष विश्वासो को लेकर चलते हुए बलपूर्वक उपनिषदो मे उनका प्रवेश करते है और उनकी भाषा को इस प्रकार तोडते-मरोडते है कि भाष्यकारो के अपने विशेष सिद्धान्तो के साथ उनकी सगति बैठ जाय। जब विवाद उपस्थित होते है तब सब सम्प्रदाय उपनिषदो की ही ओर लौटते है। उपनिषदो की अस्पष्टता किन्तु सम्पन्नता, रहस्यमय धुधलापन किन्तु साथ ही साकेतिक गुणो के कारण व्याख्याकार उनका उपयोग अपने-अपने धर्म एव दार्शनिक विचारो के समर्थन के लिए कर सके है। उपनिषदो का अपना कोई निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त अथवा आस्तिकवाद की कोई विशेष रूढिभूत योजना नही प्रतीत होती। जीवन मे सत्य क्या है, इसकी ओर तो उपनिषदो मे सकेत है किन्तु अभी तक भौतिक विज्ञान अथवा दार्शनिक विचारो का सकेत नही मिला। सत्य-सम्बन्धी सकेत उपनिषदो मे इतने अधिक है, ईश्वर-सम्बन्धी कल्पनाए भी इतनी विविध है कि कोई भी व्यक्ति उनके अन्दर से अपना अभिलषित सिद्धान्त ढूढ निकाल सकता है, और जो ढूढता है उसे प्राप्त कर सकता है

१ 'इसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स', खण्ड ८, पृष्ठ ५९७; और भी देखिए, ह्यूम, 'द थरटीन प्रिंसिपल उपनिषद्स', पृष्ठ २।

और प्रत्येक रूढ़िवादी सम्प्रदाय के लोग अपने अपने सिद्धान्त का उपनिषद के वाक्यों में से ढूँढ निकालने पर अपने को बधाई दे सकते हैं। विचारधारा के इतिहास में प्रायः ऐसा हुआ है कि किसी भी नवीन दार्शनिक मत को प्राचीन समय की मान्यताप्राप्त परम्परा द्वारा उसकी व्याख्या करके दूषित एवं अग्राह्य ठहरा दिया गया और इस प्रकार आगे आनेवाले सभी युगों एवं व्याख्याकारों के लिए भी उसका समुचित रूप से ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में बाधा पड़ गई। स्वयं उपनिषदों की अपनी व्याख्या भी इस दुर्भाग्य का शिकार होने से न बच सकी। पश्चिमी देशों के व्याख्याकारों ने भी एक न एक भाष्यकार का अनुसरण किया। गफ शंकर की व्याख्या का अनुसरण करता है। अपनी पुस्तक 'फिलासफी आफ उपनिषदस' की प्रस्तावना में वह लिखता है : 'उपनिषदों के दार्शनिक तत्त्व का सबसे बड़ा भाष्यकार शंकर अर्थात् शंकराचार्य है। शंकर का अपना उपदेश भी स्वाभाविक और उपनिषदों के दार्शनिक तत्त्व की युक्तियुक्त व्याख्या है।'[1] मैक्समूलर ने भी इसी मत का समर्थन किया है : "हमें अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि वेदान्त का सनातन मत वह नहीं है जिसे हम विकास कह सकते हैं बल्कि माया है। ब्रह्म का विकास अथवा परिणाम प्राचीन विचार से भिन्न है; माया अथवा विवर्त ही सनातन वेदान्त है। ...लाक्षणिक रूप में हम यों कहेंगे कि सनातन वेदान्त के अनुसार यह जगत ब्रह्म से उन अर्थों मे उद्भूत नहीं हुआ जिन अर्थों में बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है, किन्तु जिस प्रकार सूर्य की किरणों से मृगमरीचिका की प्रतीति होती है उसी प्रकार ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति भी भ्रान्तिवश प्रतीत होती है।"[2] ड्यूसन ने यही मत स्वीकार किया है। उपनिषद् के रचयिताओं का अपना आशय क्या था, हम यह निश्चय करने का प्रयत्न करेंगे; परवर्ती व्याख्याकारों ने जो आशय लगाया उससे हमें कोई प्रयोजन नहीं। परवर्ती टीकाकार हमें केवल इस विषय में एक प्रकार का निकटतम आशयमात्र दे सकते हैं कि परवर्ती काल में उपनिषदों की व्याख्या किस प्रकार की गई। किन्तु प्राचीन अन्वेषकों की अन्तर्दृष्टि दार्शनिक विश्लेषण के सम्बन्ध में क्या रही, इसका पता वे अवश्य ही नहीं दे सकते। किन्तु समस्या यह है : क्या उपनिषदों के विचार एक ही लड़ी में पिरोये हुए हैं ? क्या सृष्टि की साधारण व्यवस्था के विषय में कोई निश्चित सर्वमान्य नियम सबमें एक समान पाए जाते हैं ? हम साहस के साथ इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में नहीं दे सकते। इन उपनिषद्ग्रन्थों में आवश्यकता से अधिक संख्या में गूढ़ विचार भरे हुए हैं; अत्यधिक संख्या में सम्भावित अर्थ भरे पड़े हैं; ये कल्पनाओं और वितर्कों की समृद्ध खान हैं, इसलिए यह आसानी से समझा जा सकता है कि किस प्रकार विभिन्न उपनिषदें एक ही उद्गमस्थान से प्रेरणा प्राप्त कर सकी होंगी। उपनिषदों के अन्दर दार्शनिक संश्लेषण नाम की कोई वस्तु जैसी कि अरस्तू, कांट अथवा शंकर की पद्धतियों में है, नहीं पाई जाती। तार्किक सादृश्य की अपेक्षा उनमें आभ्यन्तर ज्ञान सम्बन्धी सादृश्य अधिक है। और कुछ मूलभूत विचार उनमें ऐसे हैं जो, कहना चाहिए कि, दार्शनिक पद्धति की रूपरेखा का निर्माण करते हैं। इन विचारों की सामग्री में से एक पूर्णमगत और अविचल सिद्धान्त विकसित किया जा

१ पंचास्तिकायसमयसार : ८।
२ 'सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खण्ड १५, पृष्ठ २७।

सकता है किन्तु यह विश्वास एवं निश्चय के साथ नही कहा जा सकता कि बहुतसे स्थानो पर सन्दर्भ के अस्पष्ट होने के कारण उन अंशो के आधार पर जिनमे न तो कोई विधान है और न कोई क्रम ही, जो सिद्धान्त बनाया जाएगा वह यथार्थ ही होगा। फिर भी दार्शनिक व्याख्या के उच्चतम उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए हम यहा पर भौतिक जगत् एव उसमे मनुष्य के अपने स्थान के विषय मे उपनिषदो के दृष्टिकोण पर विचार करेंगे।

३

उपनिषदो की संख्या और रचनाकाल

साधारणत. उपनिषदो की सख्या १०८ कही जाती है, जिनमे से लगभग १० उपनिषदे प्रधान है और इन्हीपर शकर ने भाष्य किया है। ये ही सबसे प्राचीन और अत्यन्त प्रामाणिक हैं। उनके निर्माण की कोई ठीक तिथि हम निश्चित नही कर सकते। इनमे से जो एकदम प्रारम्भ की हैं वे तो निश्चितरूप से बौद्धकाल से पहले की हैं और उनमे से कुछ बुद्ध के पीछे की है। यह सम्भव है कि उनका निर्माण वैदिक सूक्तो की समाप्ति और बौद्धधर्म के आविर्भाव, अर्थात् ईसा से पूर्व की छठी शताब्दी, के मध्यवर्ती काल मे हुआ हो। प्रारम्भिक उपनिषदो का निर्माणकाल १००० ई० पू० से लेकर ३०० ई० पू० तक माना गया है। कुछ परवर्ती उपनिषदे, जिनपर शकर ने भाष्य किया है, बौद्धकाल के पीछे की है और उनका निर्माणकाल लगभग ४०० या ३०० ई०पू० का है। सबसे पुरानी उपनिषदें वे हैं जो गद्य मे हैं। ये सम्प्रदायवाद से रहित हैं। ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक के अलावा केन उपनिषद् के कुछ भाग पुराने हैं, जबकि केनोपनिषद् के १ से १३ तक के मन्त्र और बृहदारण्यक के ४ : ८ से २१ तक के मन्त्र उपनिषदो के छन्दोबद्ध होने के सक्रमणकाल के है और ऐसा प्रतीत होता है कि पीछे से जोडे गए है। कठोपनिषद् और भी पीछे की है। इसके अन्दर हमे साख्य और योगदर्शन के तत्त्व मिलते हैं।[1] कठोपनिषद् मे स्थान-स्थान पर दूसरी उपनिषदो एव भगवद्गीता के उद्धरण पाए जाते है।[2] सम्प्रदायवादी उपनिषदो के पूर्व की उपनिषदो मे माण्डूक्य सबसे अर्वाचीन है। अथर्ववेद-सम्बन्धी उपनिषदे भी पीछे बनी। मैत्रायणी उपनिषद् मे साख्य और योग दर्शन दोनो के तत्त्व मिलते है। श्वेताश्वतर का निर्माण ऐसे काल मे हुआ जबकि बहुत प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्त प्रस्फुटित हो रहे थे। अनेक स्थलो पर सनातन दार्शनिक ग्रन्थो के पारिभाषिक शब्दो से इसके परिचित होने का साक्ष्य मिलता है और उनके मुख्य सिद्धान्तो का भी वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् का आशय वेदान्त, साख्य और योग इन तीनो दर्शनो का आस्तिकवादपरक समन्वय करना है। प्रारम्भिक गद्यात्मक उपनिषदो मे अधिकतर विशुद्ध कल्पना पाई जाती है जबकि परवर्ती उपनिषदो

१ देखिए, २ १८–१९, २ . ६, १० और ११।

२ देखिए, १ २, ५; और मुण्डक, २ ८, १ २–७, और गीता, २ ' २९, २ : १८–१९, और २ १९–२० और २ २३, और मुण्डक, ३ २–३, गीता, १ ५३। कितने ही विद्वानों का झुकाव इस मत की ओर है कि कठोपनिषद् मुण्डक एव गीता से पुरानी है।

मे अधिकतर धार्मिक पूजा और भक्ति का समावेश है।[1] उपनिषदो के दार्शनिक तत्त्वो को उपस्थित करने में हम अपना आधार मुख्यरूप से बौद्धकाल से पूर्व की उपनिषदो का ही रखेंगे और अपने प्रतिपाद्य विचारो का समर्थन बौद्धकाल के पीछे की उपनिषदो के विचारो से करेंगे। हमारे प्रयोजन की सिद्धि के लिए मुख्य उपनिषदें ये हैं छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि और केन उपनिषद्, ईश और माण्डूक्य इनके बाद आती हैं।

४

उपनिषदो के रचयिता

दुर्भाग्यवश हम उन महान विचारको के जीवन के विषय में बहुत कम जानते हैं जिनके विचार उपनिषदो में निहित हैं। वे आत्मख्याति के प्रति अत्यधिक उदासीन थे और केवल सत्य के प्रचार के लिए ही उत्सुक थे, यहा तक कि उन्होने अपने मतो की स्थापना वैदिककाल के पूज्य देवी देवताओं और नायको के नाम पर ही की। इन उपनिषदो में संवाद के लिए प्रजापति, इन्द्र, नारद और सनत्कुमार आदि को ही मुख्यरूप से चुना गया है। जब कभी उपनिषदो के महान विचारको का इतिहास उनके विशिष्ट योगदान का वर्णन करते हुए लिखा जाएगा तो काल्पनिक नामो को छोडकर ये नाम ही हमारे सामने उपस्थित होंगे—महिदास ऐतरेय, रैक्व, शाण्डिल्य, सत्यकाम जाबाल, जैवलि, उद्दालक, श्वेतकेतु, भारद्वाज, गार्ग्यायण, प्रतर्दन, बालाकि, अजातशत्रु, वरुण, याज्ञवल्क्य, गार्गी और मैत्रेयी।[2]

1. ड्यूसन के अनुसार उपनिषदों का क्रम निम्न प्रकार से है
   (१) प्राचीन गद्यात्मक उपनिषदें बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि, केन (जो कुछ अंश में गद्यात्मक है)।
   (२) छन्दोबद्ध उपनिषदें ईश, कठ, मुण्डक एवं श्वेताश्वतर।
   (३) परवर्ती गद्य प्रश्न एवं मैत्रायणी।

उक्त सब उपनिषदों की गणना मैत्रायणी को छोड़कर प्राचीन प्रतिष्ठित उपनिषदों में होती है। मैत्रायणी के बारे में प्रोफेसर मैक्डानल लिखते हैं "अन्य उपनिषदों से दिए गए अनेक उद्धरण, कितने ही परवर्ती शब्दों का प्रयोग, विकसित सांख्य सिद्धान्त का समावेश जिसकी पहले से कल्पना कर ली गई है, अवैदिक एवं नास्तिक सम्प्रदायों का विशद वर्णन—यह सब एकत्र होकर इस उपनिषद् को बहुत पीछे की मानने में कोई सन्देह नहीं रहने देते। वस्तुत यह एक प्रकार से प्राचीन उपनिषदों के सिद्धान्तों को सांख्यदर्शन एवं बौद्धमत के विचारों के साथ सम्मिश्रण करके प्रस्तुत किया गया ग्रन्थ है।" (संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २८)।

नृसिंहोत्तरतापनीय उन १२ उपनिषदों में से एक है जिनकी व्याख्या विद्यारण्य ने अपनी सर्वोपनिषदर्थानुभूतिप्रकाश नामक पुस्तक में की है।

2. जिन पाठकों को रुचि हो वे इन विचारकों और उनके मतों के विषय में मेरे मित्र एवं सहयोगी डा० रानाडे द्वारा "ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासफी" नामक उत्तम ग्रन्थ से विशद जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

५

ऋग्वेद की ऋचाएं और उपनिषदें

अपने प्रतिपाद्य विषय के विशिष्ट स्वरूप के कारण उपनिषदो की गणना वैदिक सूक्तो एव ब्राह्मणो से सर्वथा स्वतन्त्र एक विशेष वर्ग के साहित्य मे की जाती है। जैसा कि हम पहले देख आए हैं, सूक्तो मे वर्णित देवताओ के अन्दर सामान्य विश्वास को ब्राह्मणो की यान्त्रिक याज्ञिकता ने हटा दिया था। उपनिषदो का अनुभव है कि मठ को जन्म देनेवाला धार्मिक विश्वास पर्याप्त नही है। उपनिषदो ने वेदो के धर्म मे, बिना उसकी आकृति को छेडे, सदाचार का पुट देने का प्रयत्न किया। उपनिषदो ने वैदिक सूक्तो मे साकेतिक अद्वैतपरक विचारोपर और अधिक बल देकर, एव विचार के केन्द्र को बाह्य जगत् से हटाकर आन्तरिक जगत् की ओर मोड दिया तथा वैदिक कर्मकाण्ड के बाह्य स्वरूप का विरोध करके, एव वेद की पवित्रता के प्रति उदासीनता धारण करके वेद से भी ऊपर उठकर विचारधारा को अधिक उन्नत किया।

समस्त वैदिक उपासना के क्रमविहीन अन्त क्षोभ के अन्दर एकत्व एव अनुभूति का एक निश्चित सिद्धान्त स्पष्टरूप मे अभिव्यक्त होता था। कुछ सूक्तो मे वस्तुत: एकमात्र केन्द्रीभूत शक्ति के भाव का विधान था। उपनिषदो ने इस प्रवृत्ति की व्याख्या की। वह एक ही आत्मा को स्वीकार करते है जो सर्वशक्तिमान है, अनन्त है, नित्य है, अनिर्वचनीय है, स्वयम्भू है, विश्व का स्रष्टा है, रक्षक है, और सहारकर्ता भी है। वह ज्योतिर्मय, स्वामी एव विश्व का जीवन है, अद्वितीय है, एकमात्र वही पूजा, भजन एव नमस्कार का पात्र है। वेदो के अर्धेश्वररूपी देवताओ का विनाश करके सत्यस्वरूप ब्रह्म सामने आया। "हे याज्ञवल्क्य! देव कितने है?" उसने उत्तर दिया, "एक।"[1] "अच्छा अब अगले प्रश्न का उत्तर हमे दो: अग्नि, वायु, आदित्य, काल (जो प्राण है), अन्न (भोजन), ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु—कोई किसी एक देव का ध्यान करता है तो दूसरा किसी अन्य का—इनमे से बताइए, हमारे लिए सबसे उत्तम कौन है?" और उसने जिज्ञासुओ से कहा: "ये सब मुख्यत सबसे ऊचे, अमर, और अशरीरी (निराकार) ब्रह्म के ही अभिव्यक्त रूप हैं।...नि सन्देह यह सब ब्रह्म ही है। मनुष्य उन अभिव्यक्त रूपो का ध्यान भी कर सकता है और चाहे तो उन सब को त्याग भी सकता है।"[2] दृश्यमान अनन्त और अदृश्य अनन्त दोनो ही उस पूर्ण आध्यात्मिक ब्रह्म मे समाविष्ट है।

भारतीय चेतना के अन्दर बहुदेवता-सम्बन्धी विचार अत्यन्त गहरी जड पकड़ चुके थे, जिन्हे आसानी से उखाडा नही जा सकता था। अब वे सब देवता एक देव की अधीनता मे आ गए। ब्रह्म के बिना अग्नि घास के एक तिनके को भी नही जला सकती, वायु भूसे के तिनके तक को नही उडा सकती। "उसीके भय से आग जलाती है, उसीके भय से सूर्य चमकता है, और उसीके भय से वायु, मेघ, और यमराज

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, ३ : ९, १।

२. मैत्रायणी उपनिषद्, ४ : ५–६; मुण्डकोपनिषद् भी देखिए, १ : १, १; तैत्तिरीय, १ . ५, बृहदारण्यक, १ . ४, ६; और देखिए, १ ४, ७, १ ४, १०।

अपने अपने कर्तव्य का पालन करते हैं।[1] कभी कभी बहुत से देवताओं को एक ही पूर्ण के अंगरूप में बतलाया गया है। पांच गृहस्थ पुरुष उद्दालक को अग्रणी बना कर अश्वपति नामक राजा के पास पहुंचे जिसने उनमें से हरएक से पूछा। तुम आत्मा के रूप में किसका ध्यान करते हो। पहले ने उत्तर दिया द्युलोक का दूसरे ने कहा सूर्य का तीसरे ने कहा वायु का चौथे ने कहा शून्य आकाश का और पांचवें ने कहा जल का। राजा उत्तर देता है कि उन सबमें से हरएक ने सत्य के केवल एक पार्श्व की पूजा की है। उस मुख्य सत्ता का द्युलोक शीर्षस्थानीय है सूर्य चक्षुस्थानीय है वायु प्राणस्वरूप है शून्याकाश धड़ के समान है जल मूत्राशय है और भूमि पादस्थानीय है—यह विश्वात्मा का चित्र है। अल्पमत के मान्य दार्शनिक विश्वासों और अधिकतर संख्या के काल्पनिक अन्धविश्वासों के बीच समझौता हो जाना ही एकमात्र परस्पर समन्वय का सम्भव उपाय है। हम प्राचीन व्यवस्थाओं को सर्वथा उड़ा नहीं सकते क्योंकि ऐसी चेष्टा का तात्पर्य होगा कि हम मनुष्यजाति के मूलभूत स्वभाव एवं प्रत्येक भेद भाव की जो कि विश्वासी व्यक्तियों की नैतिक एवं बौद्धिक अवस्थाओं में रहता है उपेक्षा करते हैं क्योंकि वे सब एकसाथ ही उच्च ज्ञान को प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। एक अन्य पक्ष ने भी उपनिषदों के भाव का निर्णय किया। उनका लक्ष्य भौतिक विज्ञान अथवा दर्शनशास्त्र न होकर समुचित जीवन था। उनकी अभिलाषा आत्मा को देह के बन्धन से मुक्त कराने की थी जिससे कि वह परब्रह्म के साथ संयुक्त हो जाने का आनन्द उपभोग कर सके। बौद्धिक शिक्षा जीवन की पवित्रता के एक उपयोगी सहायक के रूप में थी। इसके अतिरिक्त भूतकाल के लिए उपनिषत्कारों के मन में श्रद्धा का भाव भी था। बल्कि ऋषियों की मंगलमयी स्मृति के कारण भी उनके सिद्धान्तों पर आक्रमण करना एक अपवित्र कार्य होता। इस प्रकार उपनिषदों ने एक उन्नत होते हुए आदर्श दार्शनिक विज्ञान के साथ रूढ़िगत पुराने आस्तिकवाद की अनुकूलता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

मनुष्य के धार्मिक आभ्यन्तर ज्ञान के उद्गमस्थान दो प्रकार के होते हैं वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ अर्थात् बाह्य जगत् के अद्भुत चमत्कार और मानवीय आत्मा के अन्दर का प्रणिधान। वेदों के काल में प्रकृति की विस्तृत व्यवस्था ने मनुष्य के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट किया। विश्व की भिन्न भिन्न शक्तियां ही उनके आराध्यदेव हैं। उपनिषदों में हम आन्तरिक जगत् की गहराइयों में खोज करने के लिए उतरते हैं। स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियों को बाह्य दृष्टि के लिए प्रवृत्तिवान बनाया है इसीलिए इन भौतिक इन्द्रियों द्वारा मनुष्य बाहर की ओर ही देखता है अन्दर की ओर अपनी आत्मा में नहीं देख सकता। कोई विरला ही धीर पुरुष आंखों को बन्द करके अमृतत्व की इच्छा करता हुआ अपने अन्दर आत्मा का साक्षात्कार करता है।[2] भौतिक जगत् से अन्दर निवास करनेवाली अमर आत्मा की ओर ध्यान संक्रमित होता है। उस उज्ज्वल प्रकाश को प्राप्त करने के लिए हमें आकाश की ओर ताकने की आवश्यकता नहीं तेजोमय

१ तैत्तिरीय उपनिषद्।
२ कठोपनिषद् ४ : १।

अग्नि तो अपनी आत्मा के ही अन्दर है। मनुष्य की आत्मा सम्पूर्ण विस्तृत विश्व के अभिन्न रहस्य को खोलने की कुजी है। हृदयाकाश एक स्वच्छ जलाशय के समान है, जिसके अन्दर सत्य स्वय प्रतिबिम्बित होता है, और इस परिवर्तित दृष्टिकोण ने परवर्ती परिणामो को जन्म दिया। नामधारी देवताओ की नही, अपितु सत्यस्वरूप जीवित ईश्वर अर्थात् ब्रह्मरूपी आत्मा की पूजा करना ही उचित है। परमात्मा के निवास का स्थान मनुष्य का हृदय है। "ब्रह्मण. कोशोऽसि",[1] तुम ब्रह्म का कोश, आवेष्टन हो। "जो कोई दूसरे किसी देवता की पूजा करता है यह समझकर कि वह दूसरा है और 'मै हू' दूसरा, वह नही जानता (अज्ञानी है)।"[2] अन्तर्वासी अमर आत्मा और महान विश्वशक्ति एक ही है, अभिन्न है। ब्रह्म आत्मा है और आत्मा ब्रह्म है। वह एकमात्र सर्वोपरि उत्कृष्ट शक्ति, जिसके अन्दर से सब पदार्थो की सृष्टि हुई है, आन्तरिक आत्मा के साथ तादात्म्यात्मक है और प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे सन्निविष्ट है।[3] उपनिषदे निष्कृति के सिद्धान्त को उस भाव मे नही स्वीकार करती जिसमे वेद उसे लेते है। उपनिपदो मे हम वैदिक देवताओ से सासारिक वैभव, धन-सम्पत्ति एव सुख की याचना की भाति प्रार्थना नही करते, बल्कि वहा केवल दु ख से निवृत्ति के लिए ही प्रार्थना पाई जाती है।

दु ख के ऊपर जो इतना बल दिया गया है उसका तात्पर्य कभी-कभी यह लिया जाता है कि वह भारतीय ऋषियो के अत्यधिक निराशावाद की ओर सकेत करता है। किन्तु यह बात नही है। वेदविहित धर्म निश्चय ही अत्यन्त सुखोत्पादक था, किन्तु वह धर्म का एक हीनतर स्वरूप था जहा कि ऊपर के आवरण के नीचे विचार ने कभी प्रवेश नही किया। उस धर्म मे मनुष्य की सुखमय ससार मे अवस्थित होने की प्रसन्नता-मात्र पाई जाती थी। देवताओ से मनुष्य भय भी खाते थे और उनके अन्दर विश्वास भी रखते थे। इस पृथ्वी पर जीवन सादा, और मधुर भोलापन लिए हुए था। मनुष्य की आध्यात्मिक आकाक्षा सासारिक सुख को तुच्छ बताकर मनुष्य को अपने अस्तित्व के वास्तविक प्रयोजन के ऊपर गम्भीर चिन्तन करने के लिए प्रेरणा करती है। प्रत्येक नैतिक परिवर्तन एव आध्यात्मिक नवजन्म के लिए वर्तमान वास्तविक स्थिति के प्रति असन्तोप का होना पहली शर्त है। उपनिपदो का निराशावाद समस्त दर्शनशास्त्र

१. तैत्तिरीय उपनिपद्। २. बृहदारण्यकोपनिषद्, १ : ४, १०।

३. देखिए, छान्दोग्य, ३ : १४। तुलना कीजिए आगस्टाइन : "परमेश्वर के लिए मैने पृथ्वी से प्रश्न किया और उसने कहा, 'मै वह नहीं हू'; मैने समुद्र से और उसकी गहराई में रहनेवाले जल-जन्तुओं से प्रश्न किया और उन्होंने उत्तर दिया, 'हम परमेश्वर नही हैं, हमसे ऊपर खोज करो।' मैने शीतल मन्द सुगन्धियुक्त बहनेवाली वायु एव नभोमडल के निवासी समस्त प्राणियों से प्रश्न किया। उत्तर मिला, 'अनाक्सिमीज भूल करता है, मै परमेश्वर नहीं हू', मैने आकाश, सूर्य, चन्द्रमा एवं तारों से प्रश्न किया। 'हम भी वह परमेश्वर नहीं हैं जिसे तुम ढूढते हो', उन्होंने उत्तर दिया। फिर मैने उन सब पदार्थों से प्रश्न किया जो मेरी इन्द्रियों के आसपास हैं, 'तुमने मुझे परमेश्वर के विषय में कहा है कि तुम वह नहीं हो, मुझे उसके विषय में कुछ बतलाओ, और उन सबने उच्च स्वर में कहा, 'उसने हमें बनाया है।'" इस प्रकार से यह खोज आगे बढती रही, अन्त में अपने अन्दर की आत्मा से प्रश्न पूछा गया, तो उत्तर मिला, "तुम्हारा परमेश्वर तुम्हारे पास है, वह तुम्हारे जीवन का भी जीवन है।" ('कन्फेशन्स', १० : अध्याय ६)।

की पहली अवस्था है। निराशा अथवा असन्तोष व्यक्ति को संसार से मुक्त होने में प्रवृत्त करता है। किन्तु यदि बचने का कोई मार्ग न हो और न ही मुक्ति की प्राप्ति के लिए कोई प्रयत्न हो तो उस हालत में असन्तोष हानिकारक है। उपनिषदों का निराशावाद इस हद तक विकसित नहीं हुआ है कि वह अन्य समस्त पुरुषार्थ को दबाकर निष्क्रियता उत्पन्न कर दे। जीवन के प्रति श्रद्धा एवं भक्तिभाव इस अंश में पर्याप्त था कि सत्य के यथार्थ अन्वेषण के लिए प्रेरणा मिलती रहे। बाथ के शब्दों में 'दुःख एवं क्लान्ति के भाव की अपेक्षा उपनिषदों में कल्पनात्मक साहस की मात्रा कहीं अधिक पाई जाती है।'[1] 'उपनिषदों के क्षेत्र के अन्दर निःसन्देह ऐसे दुःखमय जीवन का वर्णन कुछ स्थलों पर पाया जाता है जो जीवन-मरण के निरन्तर चलते हुए चक्र में जकड़ा हुआ है। और उसके रचयिता निराशावाद से इस अंश में बचे हुए हैं कि वे दुःख में मुक्ति पाने की घोषणा करके प्रसन्न हैं।'[2] संसार अथवा पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आविष्कार करने के कारण उपनिषदें निराशावादी हैं यह कोई हेतु नहीं है। इस पृथ्वी पर मनुष्य जन्म धारण करता है आत्मा की पूर्णता के लिए। उच्चतम सुख और आध्यात्मिक सत्य की सर्वांगीण प्राप्ति के लिए हम पुरुषार्थ करते समय संसार के नियन्त्रण में से गुजरना जरूरी है। आत्मविजय से उत्पन्न होनेवाले हर्षातिरेक से ही जीवन में अभिरुचि उत्पन्न होती है। संसार केवल आध्यात्मिक अवसरों की एक परम्परा मात्र है। जीवन आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए यात्रा करते हुए मार्ग में एक पड़ाव की भांति है—अनन्त की ओर प्रस्थान करने की दिशा में एक कदम है। यह वह समय है जिसके अन्दर आत्मा को नित्यता की प्राप्ति करने के लिए तैयारी करना है। जीवन केवल खोखला स्वप्न नहीं और न ही संसार आत्मा की निश्चेष्टावस्था है। परवर्ती समय के भारतीय विचार के इतिहास में पुनर्जन्म सम्बन्धी व्याख्याओं में हम इस उत्तम आदर्श का अभाव दिखाई देता है इस काल में जीवन को आत्मा की भूल का परिणाम और संसार को एक निरन्तर घसीटनेवाली बंधनशृंखला कहा गया है।

ब्राह्मणों में जिस जीवन की अवस्था का प्रदर्शन किया गया है उसमें वैदिक सूक्तों का प्रतिपादित धर्म यज्ञपरक था। मनुष्यों के सम्बन्ध देवताओं के साथ यान्त्रिक थे—केवल आदान-प्रदान और हानि-लाभ के रूप में। आध्यात्मिक ज्ञान का पुनरुज्जीवन जो इस काल की एक आवश्यकता था प्रक्रियाओं में डूबा हुआ था। उपनिषदों के अन्दर हम धार्मिक जीवन के नवीन स्रोतों की ओर वापसी मिलती है। उनमें घोषणा के साथ कहा गया है कि यज्ञों के द्वारा आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष की प्राप्ति केवल सच्चे अर्थों में धार्मिक जीवन बिताने एवं विश्व की आत्मा का आभ्यन्तर दृष्टि द्वारा साक्षात्कार करने से ही हो सकती है। पूर्णता आभ्यन्तर और आध्यात्मिक है बाह्य एवं यान्त्रिक नहीं। हम किसी मनुष्य को उसके वस्त्रों को धोकर निर्मल नहीं बना सकते। अपनी निजी आत्मा के साथ महान पूर्ण ब्रह्म के तादात्म्य की चेतना का उत्पन्न होना ही यथार्थ में आध्यात्मिक जीवन का सारतत्त्व है। क्रियाकलाप की

१. रिलिजन्स आफ इंडिया, पृष्ठ ८४।
२. कार्पेण्टर : 'थियोलॉजी', पृष्ठ ६४। रिडेम्पशन, हिंदू ऐण्ड क्रिश्चियन, पृष्ठ ६४।

निरर्थकता, और मुक्ति प्राप्त कराने के साधनरूप मे यज्ञों की नि सारता को उपनिषदों ने स्पष्ट कर दिया। ईश्वर का सत्कार आध्यात्मिक पूजा द्वारा होना चाहिए न कि बाह्य क्रियाकलापो द्वारा। परमात्मा की स्तुति करके हम अपनी रक्षा नही कर सकते और न यज्ञो द्वारा उसपर कोई प्रभाव ही डाल सकते हैं। उपनिषदो के रचयिताओ के अन्दर ऐतिहासिकता का बोध इतना पूर्ण था कि वे जानते थे कि यदि वे वस्तुओ के अन्दर क्राति लाने का प्रयत्न करेगे तो उनके विरोध का कोई फल न निकलेगा। इसलिए उन्होने केवल भाव मे परिवर्तन करने की माग की। उन्होने नये ढग से दृष्टान्तरूप से यज्ञों की लाक्षणिक व्याख्या की। कुछ वाक्यों[1] मे हमे अश्वमेधयज्ञ का ध्यान करने को आदेश दिया गया है। यह ध्यानपरक प्रयत्न हमारे लिए यज्ञ के अर्थों पर विचार करने मे सहायक होता है और इस ध्यान का भी वही महत्त्व बताया गया है जो यज्ञ करने का है। दारु (काष्ठ) के फलको के ब्यौरेवार वर्णन से एव समिधाओ के स्वरूप आदि से वे यह प्रदर्शित करते है कि वे यज्ञपरक धर्म के प्रति उदासीन नही है। विधियो को स्वीकार करते हुए भी वे उनमे सुधार करने का प्रयत्न करते है। वे कहते हैं कि जितने भी यज्ञ हैं वे सब मनुष्य की आत्मा के ज्ञान के लक्ष्य को लेकर किए जाते है। जीवन स्वय एक यज्ञ है। "मनुष्य यज्ञस्वरूप है, उसके जीवन के पहले चौबीस वर्ष उसका प्रात.कालीन उदकदान है ...भूखे-प्यासे रहने एव सुखो से वर्जित रहने मे ही उसका उत्सर्ग और सस्कार है।...उसके खाने-पीने और आनन्द मनाने मे उसका पवित्र उत्सव होता है और हसी मे, भोज मे और खुशिया मनाने मे वह स्तुति के मन्त्र गाता है। आत्मनियन्त्रण, उदारता, ऋजुता, विनय, अहिसा[2] और वाणी मे सत्य, ये उसके दान हैं, और यज्ञ के अन्त मे पवित्रता देनेवाला जो अवभृथ (यज्ञान्तस्नान) है, वह मृत्यु है।"[3] हमे बताया गया है कि किस प्रकार दैवीय प्रकृति अपने को यज्ञ के लिए अर्पित करती है। इसके यज्ञ से ही हम जीते है। यज्ञ का तात्पर्य भोग नही, त्याग है। अपनी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक मनोभाव और प्रत्येक विचार ईश्वर को अर्पित करो। तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। कभी-कभी हमे बतलाया जाता है कि उच्चतर मार्ग मे जाने के लिए यज्ञ सोपान (सीढी) का काम देते है। मर्त्यलोक की आवश्यकताओ की पूर्ति किए बिना कोई व्यक्ति ऊपर के मार्ग मे नही पहुच सकता। अज्ञानियो के लिए यज्ञ आवश्यक हैं, यद्यपि केवल उनसे ही काम नही चल सकता। उनके द्वारा हमे पितरो के लोक मे प्रवेश मिलता है, और एक अल्पकाल तक चन्द्रलोक मे ठहरने के पश्चात् इस मर्त्यलोक मे हमे फिर से जन्म प्राप्त होता है। क्रियाकलाप के विरोध

१ बृहदारण्यक उपनिषद्, १ १, २।

२. निर्दोषता।

३ छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ३। तुलना कीजिए, 'इसाइयाह', ५८ ६-७, क्या यह वही अनशन नही है जिसे मैने चुना है? दुश्चरित्रता के बन्धनों को ढीला करने के लिए, भारी बोझों को मिटाने के लिए और दलितों को स्वतन्त्र करने के लिए, और यह कि तू हर जुए को उतार फेंके? क्या यह अपनी रोटी भूखे को देने के लिए नही है, और तू उन गरीबों को जिन्हें कोई पूछता नही, अपने घर लाता है, जब तू नगे को देखता है तो उसे वस्त्र पहना देता है, और तू अपने को निजी मानव-देह से छिपाता नही?" देखो प्लेटो—'यूथाइफ्रोन, १४, ई; लाज़' ९०६, डी० जावेट का सस्करण।

में आध्यात्मिक पूजा ने स्थान ग्रहण किया।[1] ऐसे अवसर आते हैं जबकि संस्कारों भरा पुरोहितों का धर्म उन्हें कृत्रिम प्रतीत होता है और तब वे अपने समस्त व्याजोक्ति-पूर्ण उद्गारों को प्रकट करते हैं। वे इस प्रकार निन्दासूचक शब्दों में वर्णन करते हैं कि पुरोहितों की शोभायात्रा उन कुत्तों की शोभायात्रा के समान है जिनमें से हरएक अपने आगे वाले की पूंछ पकड़े हुए है और कहता है "आम्, आओ खाएं। आम् आओ पिएं आदि आदि।"[2] इस प्रकार से ब्राह्मणों के कठोर नियन्त्रणों पर जिन्होंने मनुष्य की दुर्बल आत्मा को बहुत कम सान्त्वना प्रदान की, उपनिषदों की शिक्षा द्वारा नियन्त्रण किया गया है।

उपनिषदों का दृष्टिकोण वेदों की पवित्रता के प्रति अनुकूल नहीं है। आधुनिक काल के हेतुवादी विचारकों की भांति वेद के प्रामाण्य के प्रति उनका दो प्रकार का दृष्टिकोण है। वे धर्म का उद्गम एक आध्यात्मिक सत्ता में स्वीकार करती हैं जब वे कहती हैं "ठीक उस प्रकार जिस प्रकार कि जब गीली लकड़ियों में आग दी जाती है तब धुएं के बादल चारों ओर फैल जाते हैं, इस महान सत्ता से प्रकट हुए श्वास में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व तथा अंगिरस के सूक्त, उपाख्यान, इतिहास (एतिह्य), विज्ञान, रहस्यमयी समस्याएं, कविताएं, कहावतें और नाना भाष्य—ये सब उसीके श्वास से उद्भूत हैं।"[3] माना गया है कि वैदिक ज्ञान सच्चे आन्तरिक दैवीय ज्ञान से वस्तुतः हीन कोटि का है और वह हमें मुक्ति नहीं प्राप्त करा सकता। नारद ने कहा : "भगवन् मैं ऋग्वेद को जानता हूं, यजुर्वेद और सामवेद को जानता हूं... इन सबके साथ मुझे मन्त्रों और पवित्र ग्रन्थों का ही ज्ञान है, मैं आत्मा को नहीं जानता।"[4] मुण्डकोपनिषद् में कहा है "दोनों प्रकार के ज्ञान को, ऊंची और नीची कोटि के ज्ञान को, सम्पादन करना आवश्यक है। निम्न कोटि का ज्ञान वह है जो हमें ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, कर्मकाण्ड एवं व्याकरण आदि से प्राप्त होता है, किन्तु उच्च कोटि का ज्ञान वह है जिसके द्वारा अविनश्वर ब्रह्म को जाना जाता है।"[5]

६

उपनिषदों के विषय

उपनिषदों का केन्द्रीय विषय दर्शनशास्त्र की मूलभूत समस्या है। उपनिषदों का लक्ष्य सत्य की खोज करना है। वस्तुओं और उनके गौण कारणों से असन्तोष ऐसे प्रश्नों को जन्म देते हैं जो हमें श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रारम्भ में मिलते हैं "हम कहां से

१ और भी देखिए छान्दोग्योपनिषद् ? १ १।
२ वही १ १२ ४५। बृहदारण्यक उपनिषद् २ ४ १०।
४ देखें छान्दोग्य ५ ३ १० बृहदारण्यक ३ ५ १ ४ ४ २१ ६ २ ? कौषीतकि अध्याय १ तैत्तिरीय २ ४ कठ २ २३।
५ छान्दोग्य उपनिषद् ७ २।
६ मुण्डक १ १ ४-५ मैत्रायण, ६ २१।

उत्पन्न हुए, हम किसमे निवास करते है और हम कहा जाएगे ? हे ब्रह्मज्ञानियो ! हम यहा दुःख-सुख मे किसके शासन मे रहते है ? क्या काल, या प्रकृति या अभावजन्य अनिवार्यता, या सयोग, या तत्त्वो को कारण माना जाए, अथवा उसको जिसे पुरुष कहते है और जो परब्रह्म है ?" केनोपनिषद् मे शिष्य पूछता है, "किसकी इच्छा से प्रेरित होकर मन अपने अभिलषित प्रयोजन की ओर आगे बढता है ? किसकी आज्ञा से प्रथम प्राण बाहर आता है और किसकी इच्छा से हम यह वाणी बोलते है ? कौनसा देव आख या कान को प्रेरणा देता है ?"[1] विचारकोने इन्द्रियानुभव को ऐसी सामग्री नही माना जिसकी व्याख्या न हो सके, जैसा कि सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति समझते है। उन्होने सन्देह प्रकट किया क्या इन्द्रियो द्वारा गृहीत ज्ञान को अन्तिम और निश्चित माना जा सकता है ? क्या मन की वे शक्तिया जिनके द्वारा इन्द्रियानुभव होता है अपने-आपमे स्वतन्त्र सत्ता रखती है, या वे उनसे भी कही अधिक शक्तिशाली एक ऐसी सत्तारूपी कारण के कार्य है जो उनके पीछे विद्यमान है ? कैसे हम भौतिक पदार्थो को कार्यरूप मे उत्पन्न और उसी रूप मे जिसमे वे है, उन्हे उनके कारणो के समान ही यथार्थ मान ले ? इन सबके पीछे कोई परमसत्ता अवश्य होनी चाहिए, जो स्वयम्भू हो (जो अपनी सत्ता के लिए अन्य किसी पर आश्रित न हो), जिसके अन्दर ही मन को भी आश्रय मिलता हो। ज्ञान, मन, इन्द्रिया और उनके विषय सब परिमित और प्रतिबन्धयुक्त है। नैतिकता के क्षेत्र मे हम देखते है कि हमे सीमित पदार्थ से सच्चा आनन्द नही मिल सकता। सासारिक सुख-भोग क्षण-भगुर है, जो बुढापे एव मृत्यु से विनष्ट हो जाते है। केवल नित्य ही हमे स्थायी आनन्द प्रदान करा सकता है। धर्म के क्षेत्र मे हम नित्यजीवन की प्राप्ति के लिए आग्रह करते है। इन सब कारणो से यहा यह बलात् विश्वास करना पडता है कि एक ऐसी सत्ता अवश्य है जिसे काल नही व्यापता, वह एक आध्यात्मिक सत्ता है, ऐसी सत्ता है जो दार्शनिको की खोज का विषय है, हमारी इच्छाओ को पूर्ण करनेवाली एव धर्म का प्राप्तव्य लक्ष्य है। उपनिषदो के रचयिता ऋषिगण हमे इस प्रधान यथार्थसत्ता की प्राप्ति के लिए मार्ग-प्रदर्शन करते है जो नित्यसत्, परमसत्य और विशुद्ध आनन्द है। प्रत्येक मानव-हृदय की प्रार्थना है .

"मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो।"[2]

अब हम उपनिषदो के दार्शनिक तत्त्व की व्याख्या दो भागो, अध्यात्मविद्या और नीतिशास्त्र मे विभक्त करके करेगे। अध्यात्मविद्या के अन्दर हम परमसत्ता, जगत् का स्वरूप और सृष्टि की समस्या का प्रतिपादन करेंगे और नीतिशास्त्र मे उनका व्यक्ति-सम्बन्धी विश्लेषण, व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य, उसका आदर्श, कर्म का मुक्ति के साथ सम्बन्ध एव मुक्ति की उच्चतम धारणा तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करेंगे।

१. केनोपनिषद्, १ : १।

२. असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।" बृहदारण्यक उपनिषद्, १ : ३, २७।

७

यथार्थता का स्वरूप

परमसत्य का स्वरूप क्या है इस प्रश्न को हल करने के लिए उपनिषत्कारों ने वैदिक ऋषियों की मनात्मदृष्टि के साथ अध्यात्मदृष्टि को जोड़ने का यत्न किया। वैदिक सूक्त जिस उच्चतम विचार तक पहुंचे थे उनके अनुसार एकमात्र सत्ता यथार्थ थी (एक सत्) जो नानाविध सत्ताओं में अपने को व्यक्त करता है। उपनिषदों में वहां इसी निष्कर्ष का समर्थन किया गया है जहां इस समस्या के समाधान के लिए उन्होंने आत्मा के स्वरूप का दार्शनिक दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है। आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में ठीक ठीक हम नहीं जानते। ऋग्वेद के १० १६ ३ में इसका अर्थ प्राण अथवा जीवनाधार (आध्यात्मिक सत्त्व) बताया गया है। शनै शनै प्राण बनकर इसका अर्थ आत्मा अथवा अहं हो गया। वास्तविक अहं अर्थात् आत्मा की सैद्धान्तिक कल्पना की कहीं भी स्पष्टरूप में पूरे ग्रन्थ के साथ व्याख्या नहीं की गई और न हो इसमें सम्बन्धित बिखरे बिखरे कथनों को किसी एक स्थान पर सगतरूप में रखा गया है। गुरु प्रजापति और उसके शिष्य इन्द्र के मध्य संवाद में जो छान्दोग्य उपनिषद् में आता है[1] हम अहं या आत्मा की परिभाषा के विषय में एक प्रगतिशील विकास मिलता है जिसे चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है (१) शारीरिक आत्मा (२) आनुभविक आत्मा (३) सर्वातिशायी प्रच्छन्न आत्मा और (४) परम आत्मा। प्रश्न का रूप जिसकी विवेचना की गई है मनोवैज्ञानिक न होकर अधिकतर आध्यात्मिक है। मनुष्य की आत्मा एवं उसकी केन्द्रीय सत्ता का स्वरूप क्या है? प्रजापति संवाद को प्रारम्भ करते हुए कुछ सामान्य लक्षणों का वर्णन करता है जोकि यथार्थ आत्मा के अन्दर पाए जाने चाहिए, आत्मा वह है जो पाप से मुक्त है वृद्धावस्था से रहित है मृत्यु एवं शोक से रहित है भूख और प्यास से रहित है जो किसी वस्तु की इच्छा नहीं करती यद्यपि उसे इच्छा करनी चाहिए किसी वस्तु की कल्पना नहीं करती यद्यपि उसे कल्पना करनी चाहिए यह वह सत्ता है जिसको समझने का प्रयत्न करना चाहिए।[2] यह एक कर्ता है जो सब परिवर्तनों के अन्दर सामान्य रूप से विद्यमान रहता है जागरित अवस्थाओं में स्वप्न में निद्रितावस्था में मृत्यु में पुनर्जन्म में और अन्तिम मुक्ति में भी एक समान विद्यमान रहनेवाला एक आवश्यक अवयव है।[3] यह एक शुद्ध एवं सरल सत्य है जिसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। मृत्यु इसे छू नहीं सकती न कोई विकार इसे छिन्न भिन्न कर सकता है। स्थिरता तारतम्य एकता एवं नित्यक्रियाशीलता इसके विशेष लक्षण हैं। यह अपने में पूर्ण एक लोक है। ऐसी कोई बाह्य वस्तु नहीं जो इसकी प्रतिद्वन्द्वी बन सके। आधुनिक काल का समालोचक इसमें आपत्ति करेगा कि यह सारी प्रक्रिया 'चक्रक दोष' से पूर्ण है। आत्मनिर्भरता एवं आत्मपूर्णता के लक्षणों को स्वतःसिद्ध मान लेने पर समाधान भी स्वयंसिद्ध हो जाता है। किन्तु जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे इस प्रक्रिया का प्रस्ताव में एक विशेष तात्पर्य है। प्रजापति

१ ८ ३–१२। २ ८ ७ १।
३ देखिए बृहदारण्यक उपनिषद् ४ ४ ३।

इस विषय को स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य की आत्मा यथार्थ मे स्वय कर्ता है एवं स्वत.-सिद्ध है और इसलिए वह साध्य पदार्थ नही हो सकती। यह पुरुष है जो द्रष्टा है, देखे जाने वाला पदार्थ नही है।[1] यह गुणो का सघात नही है, जिसे 'विषय' कह सके किन्तु वह स्वय विषय है जो उन सब गुणो के परे किन्तु उनकी पृष्ठभूमि मे निरीक्षण करनेवाला ग्रह है। यह यथार्थरूप मे विषयी ज्ञाता है और इसलिए कभी ज्ञेय कोटि मे नही आ सकता। आत्मा के बहुतसे घटक, जिनका सामान्यरूप से उपयोग होता है, विषय की कोटि मे आ सकते हैं। यह दलील एक धारणा बना लेती है कि जो कुछ भी विषय की काटि मे आ सकता है उसे अनात्म होना चाहिए। ऐसे प्रत्येक विषय को हमे अलग कर देना चाहिए जो हमारी यथार्थ आत्मा के लिए विजातीय एव उससे भिन्न है। पहला उत्तर यह दिया गया कि यह देह जो उत्पन्न होती है, बढती है, क्षीणता को प्राप्त होती है और नष्ट होती है, यही यथार्थ मे आत्मा है। प्रजापति के अनुसार, आत्मा वह हे जो तब दिखाई पडती है जब हम अन्य पुरुष की आखो मे देखते है, अथवा पानी भरे पात्र मे या दर्पण मे देखने पर जो दिखाई पडता है वही आत्मा है। यह सुझाव दिया गया है कि चित्र मे तो केश और नाखून तक आ जाते हैं। इसलिए इस बात का निर्देश करने के लिए कि यह आत्मा नही है, प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि तुम अपने को सजाओ, बढिया किस्म के वस्त्र धारण करो और फिर अपना प्रतिबिम्ब जल मे अथवा दर्पण मे निहारो। और इन्द्र ने अपने ही समान व्यक्ति को बढिया वस्त्रो से सजे हुए और साफ-सुथरे रूप मे देखा। इसपर इन्द्र को सशय उत्पन्न हुआ। "यह छाया मे अथवा जल मे वर्तमान सजी-धजी आत्मा है जब शरीर सजा-धजा है, वह उत्तम वस्त्र पहने है जब शरीर भी उत्तम वस्त्र पहने है, वह भली प्रकार से साफ-सुथरी है जब शरीर भी साफ-सुथरा है, जब शरीर अन्धा होगा तो यह छायापुरुष भी अन्धा दिखाई देगा, यदि शरीर लगडा है तो यह भी लगडा दिखाई देगा, यदि शरीर अगविहीन है तो छायापुरुष भी अगविहीन दीखेगा और यदि वस्तुत: शरीर नष्ट हो जाएगा तो यह भी नष्ट हो जाएगा। इसलिए मैं इसमे सगति नही देखता।"[2] इन्द्र अपने गुरु प्रजापति के पास पहुचता है और एक दीर्घ व्यवधान के बाद उसे बताया जाता है कि "वह जो स्वप्नो मे सुखपूर्वक विचरण करती है वही आत्मा है।" शरीर यथार्थ मे आत्मा नही है, क्योकि शरीर सब प्रकार के दु.खो एव अपूर्णताओ का लक्ष्य बनता है जोकि भौतिक घटनाए है। शरीर चैतन्य का साधन-मात्र है और चैतन्य शरीर से उत्पन्न पदार्थ नही है। और अब इन्द्र से कहा जाता है कि स्वप्न देखनेवाली विषयी आत्मा है। किन्तु अब उसके आगे एक और कठिनाई आती है। "यद्यपि यह तो ठीक है कि उस आत्मा मे शारीरिक दोष के कारण दोष नही आता, न शरीर पर चोट लगने से चोट लगती है, न शरीर के लगडेपन से वह लगडी होती है, तो भी हो सकता है कि वे दोष उसका पीछा करके उसे स्वप्नो मे चोट पहुचा सकें। उसपर दु ख का असर तो होता है क्योकि दु ख के कारण वह आसू बहाती है, इसलिए इसमे भी मैं सगति नही देखता।"[3] और मानसिक अनुभवो के स्थान पर प्रजापति ने स्वप्न की अवस्थाओ को ही इसलिए उदाहरण के

१. ८ ७, ३। २. ८ ९, १। ३. ८: १०, २, ३।

लिए चुना क्योंकि स्वप्न शरीर के ऊपर अधिक निर्भर नहीं करते और अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण महत्वपूर्ण हैं। यह कल्पना की जाती है कि आत्मा बिना रोक टोक स्वप्नों में विचरण करती है और मन भी स्वप्नावस्था में शरीर के घटनाक्रम से स्वतन्त्ररूप में इतस्ततः गति करता है। यह मत बराबर बदलते रहनेवाले और परिवर्तनशील मानसिक अनुभवों एवं आत्मा को एक समान स्तर पर ला देता है। यह अनुभव करनेवाली आत्मा है और इन्द्र ने ठीक ही पहचाना कि यह अनुभव करनेवाला जीवात्मा आनुभविक घटनाओं के अधीन है। यह विषयी नहीं हो सकती क्योंकि यह प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। यद्यपि यह शरीर से स्वतन्त्र है किन्तु स्वप्न की अवस्थाओं की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और यथार्थ अहं अथवा आत्मा को अवश्यमेव सर्वथा स्वतन्त्र विद्यमान होना चाहिए। काल और जन्म की मर्यादाओं के ऊपर निर्भर अहं नित्य नहीं कहा जा सकता। स्थानीय एवं भौतिक परिस्थितियों में बंधी हुई आत्मा एक कालजन्य प्राणी है। यह भौतिक जगत रूपी संसार में भ्रमण करनेवाली है। यह अपने लिए अपूर्ण सामग्री से एक अपूर्ण जगत का निर्माण करती है। यह न तो अविनश्वर है और न ही इसे असीम स्वतन्त्रता प्राप्त है। हमें एक ऐसे विषयी की आवश्यकता है जो सब प्रकार के अनुभवों का आधार और उनका धारण करनेवाला हो एक अतिव्यापक सत्ता जिसकी स्वप्नावस्था एवं जागरितावस्था के अनुभव केवल अपूर्ण अभिव्यक्ति मात्र हों। केवल अवस्थाओं का प्रवाह स्वयं अपने को अपने आप धारण करने की क्षमता नहीं रख सकता और भौतिक अनुभव करनेवाली आत्मा स्वाधिकार से नित्य नहीं हो सकती। इन्द्र फिर एक बार प्रजापति के पास पहुंचता है और अपनी स्थिति को उसके आगे रखता है। एक लम्बे समय के पश्चात उसे इस प्रकार शिक्षा दी जाती है जब मनुष्य नींद में आराम करता है और पूर्ण विश्राम लेता है तथा कोई स्वप्न नहीं देखता वही आत्मा है।[१] प्रजापति ने इन्द्र की कठिनाई को समझ लिया। आत्मा को अपने उन्नत पद से उतारकर अवस्थाओं की शृंखला का दर्जा मात्र नहीं बताया जा सकता था क्योंकि उससे एक स्थिर अहं की वास्तविकता की आवश्यकता ही जाती रहती और आत्मा को अपने आकस्मिक अनुभवों के अधीन बना देना पड़ता। इन्द्र को इस विषय की शिक्षा देना है कि अनुभवगम्य बाह्य पदार्थों को एक स्थिर विषयी की आवश्यकता है जिससे वे अनुभव प्राप्त कर सकें। प्रजापति का आशय यह बात स्पष्ट करने का था कि जिस प्रकार एलिस के अद्भुत देश की कहानियों को छोड़कर अन्यत्र सब जगह मुंह बनाकर चिढ़ाना तो बिना बिल्ली की सत्ता के सम्भव नहीं हो सकता किन्तु बिल्ली के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह जरूर ही मुंह बनाकर चिढ़ानेवाली हो इसी प्रकार विषय की सत्ता के लिए विषयी का होना आवश्यक है किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि बिना विषय के विषयी भी गायब हो जाए। बिना आत्मा के कोई भी ज्ञान कोई भी कला एवं कोई भी नैतिकता सम्भव नहीं है। आत्मा के साथ सम्बन्ध से रहित विषय असत् रूप में हैं। विषयी की सत्ता में तो सब विषयों की सत्ता है, किन्तु विषयी स्वयं उन शेष विषयों की कोटि में नहीं है। इन्द्र को इस विषय का अनुभव

१ ८ ११ १।

करने योग्य अवस्था में लाने के लिए कि वह समझ सके कि आत्मा ही सब अनुभवों का ज्ञाता है, प्रजापति ने अपकर्षणपद्धति का उपयोग किया, जिसमें कुछ अपनी प्रतिकूलताएं भी हैं। साधारणतः हमारा जीवन विषयों में उलझा रहता है। हम संसार में बहुत फंसे हुए हैं। हमारी आत्मा मनोभावों, इच्छाओं और कल्पनाओं में इतनी खोई रहती है कि वह अपने को नहीं पहचान पाती कि वह यथार्थ में क्या है। केवल पदार्थनिष्ठ जीवन व्यतीत करने के कारण, प्राकृतिक वस्तुओं में ही अत्यधिक लीन रहने के कारण एवं संसार के व्यवसायों में कर्मण्यता के साथ निरन्तर संलग्न रहने के कारण हम समस्त वस्तुओं के प्रथम तत्त्व, मनुष्य की आत्मा, के विषय में विचार करने के लिए एक क्षण भी नहीं देना चाहते। हम समझ लेते हैं कि ज्ञान अपने-आप हो गया। इसपर चिन्तन करने का और इसकी जटिलताओं एवं गुत्थियों को सुलझाने का मतलब है मस्तिष्क पर दबाव डालना। यूरोपियन विचारधारा के इतिहास में ज्ञान की सम्भाव्यता का प्रश्न बहुत पीछे आकर उत्पन्न हुआ, किन्तु जब भी यह प्रश्न उठा तो इस बात का अनुभव किया गया कि जब तक आत्मा अपनी मानसिक क्रियाओं के साथ, कांट के अनुसार, अनुभवों के ज्ञात लक्षण के ऐक्य की स्थापना नहीं करती तब तक ज्ञान का होना असम्भव है। इसे ही प्लाटिनस ने 'साहचर्य' का नाम दिया। नितान्त प्राथमिक साक्षात्कार के लिए भी आत्मा की यथार्थ सत्ता आवश्यक है। प्रकट में जो इन्द्रियानुभव निष्क्रिय प्रतीत होते हैं, उनमें भी हम आत्मा की चेष्टा का अनुभव करते हैं। हरएक परिवर्तन एवं हरएक अनुभव एक केन्द्रीय आत्मा की कल्पना करता है। स्वयं परिवर्तनों को भी एक सम्पूर्ण सत्ता के अन्तर्गत परिवर्तन माना जाता है, जिन्हें हम सत्य समझकर जानने का प्रयत्न करते हैं। प्रजापति इस स्थिति को स्पष्ट करके आगे रखना चाहता है कि आत्मा निरन्तर विद्यमान रहती है, उस समय भी जबकि जागरित या स्वप्न अवस्था के अनुभव कुछ समय के लिए स्थगित एवं निष्क्रिय क्यों न रहें। सुषुप्ति की अवस्था में हमारे सामने कोई अनुभूत पदार्थ नहीं होते, किंतु इसी कारण हम यह नहीं कह सकते कि आत्मा भी विद्यमान नहीं है। प्रजापति इस बात को मानकर चलता है कि इन्द्र निद्रितावस्था में आत्मा की सत्ता स्वीकार करेगा, क्योंकि स्वप्नावस्था में भौतिक जगत् के साथ सामयिक विच्छेद एवं क्रमभंग हो जाने पर भी चेतना निरन्तर बनी रहती है; अन्य किसी प्रकार से इसकी व्याख्या नहीं हो सकती, यदि चेतनस्वरूप आत्मा की निरन्तर सत्ता को स्वीकार न किया जाए। देवदत्त एक प्रगाढ निद्रा से उठने पर भी देवदत्त ही रहता है, क्योंकि जिस समय वह सोने गया था उस समय उसके इन्द्रियानुभवों में जो क्रम था, वह सोकर उठने के बाद के अनुभवों के क्रम में संगत हो जाता है। उसके पूर्वानुभव वर्तमान विचारों के साथ परस्पर एक ही कड़ी में जुड़ जाते हैं, अन्य किसीके विचारों के साथ नहीं जुड़ते। अनुभवों का यह नैरन्तर्य हमें यह स्वीकार करने को विवश कर देता है कि चेतना के समस्त घटकों की पृष्ठभूमि में निरन्तर विद्यमान रहनेवाली एक स्थिर आत्मा है। बिना किसी विषय पर विचार करने के भी निद्रितावस्था में जो रहती है, वह आत्मा है। दर्पण केवल इसीलिए कि उसमें कुछ नहीं दिखाई देता, नष्ट नहीं हो जाता। प्रजापति यहां विषय के ऊपर विषयी के परम आधिपत्य को सिद्ध करना चाहता है, जो याज्ञवल्क्य के अनुसार तथ्य है, अर्थात् उस अवस्था

में भी जबकि सब विषय या प्रमेय पदार्थ विलुप्त हो जाते हैं विषयी या प्रमाता आत्मा निजी प्रकाश से वर्तमान रहता है।[1] 'जिस समय प्रकाश के पुंज सूर्य एवं चन्द्रमा अस्त हो जाते हैं और अग्नि बुझा दी जाती है तब आत्मा स्वयं अपने आपमें प्रकाशमान रहता है।'[2] किन्तु इन्द्र प्रजापति से आगे प्रश्न को अधिकतर मनोविज्ञान का पण्डित समझता है। वह यह समझता है कि समस्त दैहिक अनुभवों से विरहित एवं अमूर्त स्वप्न आदि के अनुभव-कलाप से भी विहीन यह विषयविहीन आत्मा एक प्रकार की निष्फल मिथ्याकल्पना-मात्र है। यदि आत्मा यह नहीं है जिसे यह जानती है जिसको अनुभव करती है एवं जिसके ऊपर क्रिया करती है यदि यह उससे सर्वथा वियुक्त है और इस प्रकार अपने घटकों से शून्य है तब क्या बच जाता है? कुछ नहीं ऐसा इन्द्र ने कहा, प्रत्येक पदार्थ में पृथक् हो जाना शून्य के समान है। 'गौतम बुद्ध एक वृक्ष के दृष्टान्त को लेते हैं और पूछते हैं कि यदि हम उसके सब पत्तों को झाड़कर परे फेंक दें शाखाओं को काट डालें छाल को भी निकाल फेंकें या एक प्याज की प्रत्येक परत को उधेड़ डालें तो क्या बचता है? कुछ नहीं। ब्रैडले निर्देश करता है कि ऐसा अहं या आत्मा जो अपने राशीभूत आत्मिक अनुभव के पूर्वकाल से पूर्व एवं परे भी विद्यमान रहने का दावा करता है एक नितान्त कोरी कल्पनामात्र एवं मिथ्या है और केवल एक विचालक्षय दानव ही होगा जिसे किसी भी प्रयोजन के लिए हम स्वीकार नहीं कर सकते।[3] इस मत के आधार पर स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा में आत्मा बिलकुल विद्यमान नहीं रहती। लॉक घोषणा करता है कि ऊंघने की प्रत्येक अवस्था आत्मा के विचार को निर्मूल सिद्ध कर देती है। नींद में एवं समाधि अवस्था में मन तो विद्यमान रहता नहीं इसलिए काल अथवा विचारों की परम्परा का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। बिना विचार के भी मन की विद्यमानता को मानना एक प्रकार का प्रत्याख्यान है यह कुछ भद्दी और निरर्थक कल्पना है।[4] 'लॉक और बर्कले से भी शताब्दियों पूर्व इन्द्र एक अनुभववादी हो गया है ऐसा प्रतीत होता है। लोत्स प्रश्न करता है कि यदि नितान्त स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रावस्था में आत्मा विचार भी करती है अनुभव भी करती है किन्तु किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता तो क्या आत्मा वास्तव में उस समय है और यदि विद्यमान है तो कैसे है?' कितनी बार उत्तर दिया गया है कि यदि यह सम्भव हो सकता तो आत्मा की सत्ता कुछ न होती। क्या न हम साहसपूर्वक स्वीकार करें कि जितनी बार ऐसा होता है आत्मा नहीं होती।[5] इन्द्र इस प्रकार की घोषणा करने का साहस रखता है।[6] वस्तुतः यह नष्ट हो जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण शिक्षा है जिसे भारतीय विचारधारा में बार बार भुला दिया गया है। बाह्य जीवन के निषेध का अर्थ है आभ्यन्तर देवता का नाश। ऐसे व्यक्तियों को जो समझते हैं कि हम विशुद्ध आत्मनिष्ठता के विचार द्वारा परम प्राप्तव्य लक्ष्य के उन्नत शिखर तक पहुंचते हैं इन्द्र और प्रजापति के संवाद की ओर ध्यान देना चाहिए। इन्द्र के मत में देह द्वारा उत्पन्न

१ बृहदारण्यक उपनिषद् ४ ३, ६। २ ब्रैडले एथिकल स्टडीज पृष्ठ ५२।
३ अपियरेंस ऐण्ड रियलिटी पृष्ठ ८६। ४ 'बर्कले का 'वर्क्स खंड १ पृष्ठ ३४।
५ मेटाफिज़िक्स अंग्रेजी अनुवाद खंड २ पृष्ठ ३१७।
६ विनाशमेवापीतो भवति। छान्दोग्य उपनिषद्, ८ ११, १ २।

मर्यादाओ मे स्वतन्त्र, काल एव देश की सीमा से भी स्वतन्त्र और विषय की सत्ता से भी रहित होने की अवस्था एक प्रकार की सरल शून्यता-मात्र है। यह विषयविहीन अह-डेकार्ट का यह अमूर्त चेतयिता (Cogito), काट के शब्दो मे यह औपचारिक एकत्व, यह विषयरहित विषयी एक असम्भवरूप है जिसकी कल्पना पृष्ठभूमि मे की जाती है और जिसका कोई सम्बन्ध आनुभविक चेतना के साथ नही है। दार्शनिक चिन्तन एव मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण दोनो ही हमे उक्त परिणाम की ओर ले जाते है। किन्तु प्रजापति आत्मा के उस अस्तित्व पर बल देने का प्रयत्न कर रहा था जिसपर इन्द्रियानुभव-सम्बन्धी परि-वर्तनो का कोई असर नही पडता। वह इस आशय को स्पष्ट करने के लिए आतुर था कि यद्यपि आत्मा चेतनावस्थाओ से एकदम पृथक् नही है, वह चेतनावस्था-स्वरूप भी नही है। डाक्टर मैक्टैगर्ट इस विषय को इस प्रकार प्रतिपादित करता है, "आत्मा के अन्दर क्या-क्या निहित है ?—वह प्रत्येक विषय जिसका उसे ज्ञान होता है। और आत्मा से बाह्य क्या है ?—उसी प्रकार, वह समस्त वस्तु-विषय जिसका ज्ञान उसे है। जो विषय उसके अत-र्गत नही है, उसके विषय मे वह क्या कह सकता है ? कुछ नही। और जिसके विषय मे वह कुछ कह सकता है वह इसके लिए बाह्य नही है। यही एकमात्र निष्कर्ष है। और इस विरोधाभास को दूर करने का कोई भी प्रयत्न आत्मा को विलुप्त कर देता है, क्योकि दोनो पक्ष अनिवार्य रूप से परस्परसम्बद्ध है। यदि हम इसे अन्य सब वस्तुओ से पृथक् करके एक विशिष्ट व्यक्तित्व देने का प्रयत्न करे तो वह सब विषयवस्तु जिसका इसे ज्ञान हो सकता है, नष्ट हो जाता है, और इसका वह व्यक्तित्व ही नष्ट हो जाता है जिसे सुरक्षित रखने के विचार से हमने प्रारम्भ किया था। किन्तु यदि दूसरी ओर हम इसके घटको की रक्षा का प्रयत्न करे, बाह्य वस्तुओ का एकदम विचार न करके केवल इसके आन्तरिक रूप पर ही जोर दे तो चैतन्य विलुप्त हो जाता है, और चूकि आत्मा के अतिरिक्त घटक कोई नही है, सिवा प्रमेय पदार्थों के जिनका ज्ञान प्राप्त करना ही उसका कार्य है, वे घटक भी नष्ट हो जाते हैं।"[1] आत्मा के सर्वातिशायी स्वरूप की कल्पना मे कहा दोष आता है, इसका दिग्दर्शन इन्द्र हमे कराता है। आत्मा को पूर्ण के जीवनरूप मे प्रदर्शित करना चाहिए न कि मात्र अमूर्त रूप मे। इसलिए आगे का क्रम यह है, जबकि इन्द्र प्रजापति के आगे अपनी कठिनाई की व्याख्या इन शब्दो मे करता है, "इस तथ्य मे कि स्वप्नरहित प्रगाढ निद्रा मे विषयी स्वय की सत्ता का भी ज्ञान नही रखता और न ही किसी अन्य विद्यमान पदार्थ का ज्ञान रखता है, वह एक प्रकार से सर्वथा शून्यरूप हो गया। इसलिए मैं इसमे भी सगति नही देखता।"[2] प्रजापति निर्देश करता है कि यह अभिज्ञा निरन्तर विद्यमान रहती है और परिवर्तनो के अन्दर भी समान रूप से रहती है। समस्त विश्व परमार्थ के विचार को आत्मसाक्षात्कार करने की एकमात्र प्रक्रिया है। "हे मघ-वन् ! यह शरीर मरणधर्मा है और सब कुछ नश्वर है। यह आत्मा का निवासस्थान मात्र है, जो आत्मा अमर है और शरीर से भिन्न है। आखो की पुतलियो मे जो पुरुष दिखलाई देता है यह वही है किन्तु आख स्वय मे देखने का साधन-मात्र है। वह जो

१. 'हेगलियन कास्मोलॉजी,' विभाग २७।
२. ८ ११, १।

विचार करता है कि मैं इसे सूघूं यह विचार करनेवाला आत्मा है, परन्तु नाक तो गन्ध आदि का अनुभव करने का साधन मात्र है।[1] आत्मा को एक अमूर्त औपचारिक तत्त्व के रूप में न दिखलाकर एक क्रियाशील व्यापक चेतना के रूप में दर्शाया गया है, हेगल के शब्दों में जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और अपने लिए भी वह सत् है। यह एक सरल, अपने में पूर्ण और नानाविध भेदयुक्त भी है। यह दोनों ही है, अर्थात् विषयी भी और विषय भी। विषय, जिनका ज्ञान हम अनुभव करते हैं, इसके ऊपर आधारित हैं। यथार्थ अनन्त आत्मा वह आत्मा नहीं है जो मात्र सीमित नहीं है। यह सीमित वस्तुओं की गणना के अन्दर नहीं आती किन्तु तो भी उन सबका आधार है। यह व्यापक आत्मा है, जो सर्वान्तर्यामी भी है और सर्वातिशायी भी है। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड इसीके अन्दर निवास करता है और इसीके अन्दर उच्छ्वास लेता है। चन्द्रमा और सूर्य इसके चक्षु हैं, अन्तरिक्ष की चारों दिशाएं इसके कान हैं, वायु इसका उच्छ्वास है।[2] यह एक देदीप्यमान प्रकाश है जो व्यक्ति के अन्तस्तल में प्रज्वलित होता है,[3] एक व्यापक आकाश जिसमें सब प्राणी जन्म ग्रहण करते हैं,[4] सृष्टिरचना का प्राणमूलक तत्त्व, ऐसा विषयी, जिसमें समस्त संसार स्पन्दन करते हुए गतिमान है।[5] इसके बाहर कुछ नहीं है। यही निश्चितरूप से समस्त पदार्थों की चेतना को धारण किए हुए है। समस्त विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो हमारे अन्दर स्थित इस असीम सत्ता में समाई हुई न हो। यह आत्मा जिसमें समग्र जगत परिवेष्टित है एकमात्र यथार्थ सत्ता है, जिसके अन्दर प्रकृति की सब घटनाएं और अनुभवों के भी कुल इतिहास वर्तमान हैं। हमारी अणु आत्माएं भी इसके अन्तर्गत हैं और यह उनके भी ऊपर है। यही विषयी है जो पदार्थानुभवों के समुच्चय से भी अधिक है और जो इसीकी अपूर्ण अभिव्यक्तिमात्र है। हमारी समस्त चेतनावस्थाएं इसी केन्द्रीय प्रकाश के इतस्ततः चक्कर काटती हैं। इसका विनाश होने से उनका भी विलोप हो जाएगा। विषयी के अभाव में अनुभवपुञ्ज भी नहीं रहेगा, देश एवं काल सम्बन्धी तत्त्वनाओं की व्यवस्था भी न रहेगी। इसीकी सत्ता के कारण स्मरण, अन्तर्ध्यान, ज्ञान और नैतिकता आदि सब सम्भव हो सकते हैं। उपनिषदों का मत है कि यह विषयी एकमात्र व्यापक आधार है जो सब व्यक्तियों में है। यह सब वस्तुओं में गूढ़रूप से है और सृष्टिमात्र में व्यापक है। इसके समान दूसरा कोई इसके अतिरिक्त नहीं है और न कोई अन्य विविक्त पद है।[6] 'श्वास लेते समय इसे ही श्वास का, बोलने के समय इसको वाणी का, देखने के कार्य में आंख का, सुनने में कान का और विचार करते समय इसे मानस का नाम दिया जाता

१ ८ १२। प्लेटो से तुलना कीजिए, जो अपने 'टाइमियस' नामक ग्रन्थ में दो आत्माओं के अन्दर भेद करता है—एक अमर्त्य और दूसरा मर्त्य। मर्त्य आत्मा में मनोवेग और राग निहित हैं। यह अनुभवात्मक अंश है जो विनश्वर जगत् का, जो परिवर्तनों एवं मृत्यु से पूर्ण है, सभागी है। अमर आत्मा एक बौद्धिक तत्त्व है जो मनुष्यों एवं संसार में एक समान व्याप्त है। एक दैवीय स्फुलिंग है जो मनुष्य के व्यक्तित्व में आबद्ध है (टाइमियस और फाएडो)। हमें अरस्तू के 'इन्टेलेक्टस एजेन्स' में भी यही विभेद मिलता है जो विनश्वर मन एवं स्मृति का विरोधी सिद्धान्त है।

२ मुण्डकोपनिषद् २ १; छान्दोग्य उपनिषद् ३ १३, ७।

३ छान्दोग्य १ ९१। ४ छान्दोग्य १ ११, ५। ५ कठ ६ २।

६ बृहदारण्यक ४ ३ २३; छान्दोग्य ८ १ ३।

है—ये सब संज्ञाएं इसीके भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए दी जाती हैं।"[1] इस प्रकार जिस आत्मा की व्याख्या की गई है वही यह स्थिर एव नित्य विषयी है जो जागरित एवं स्वप्न अवस्था मे, मरण एव निद्रा की अवस्था मे, बन्धन तथा मुक्ति की अवस्था मे बराबर एकरस रहता है। यह बराबर हर काल मे विद्यमान है और समस्त विश्व का सर्वेक्षण करता है। यह व्यापक विषयी भी है और उसी समय व्यापक विषय भी है। यह देखता है और नही भी देखता है। जैसाकि उपनिषद् ने कहा है, "जब फिर वह देखता नही, तो भी वह देख रहा है यद्यपि वह नही देखता, क्योकि उसके अविनश्वर होने के कारण, उस द्रष्टा के लिए देखने मे कोई व्यवधान नही होता, किन्तु उसके अतिरिक्त उस जैसा दूसरा कोई नही, उससे भिन्न भी नही, जो उसे देखे।"[2] यह आत्मा ही पूर्ण विश्व है। "मैं ही नि सन्देह यह सब विश्व ब्रह्माण्ड हू।"[3]

यह विश्वरूपी व्यापक आत्मा अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण दृष्टि का विषय नही है। शकर ने इसे इस प्रकार वर्णन किया है, "साक्षीरूप आत्मा चेतना को प्रकाशित करता है, किन्तु स्वय कभी चेतना का विषय नही बनता।" यह अनुभव की सामग्री नही है, प्रमेय नही है, यद्यपि सब प्रमेय पदार्थ इसीके लिए है। यह स्वय विचार नही है किन्तु समस्त विचार इसके लिए है। यह स्वय एक दृश्य वस्तु नही है, किन्तु समस्त दृष्टि-रूपी घटना का आधारतत्त्व है। काट के शब्दो मे, ज्ञाता स्वय इन्द्रियो द्वारा ज्ञेय भौतिक पदार्थो का हेतु होने के कारण प्रमाण का विषय नही बन सकता। काट कहता है, "किसी प्रमेय पदार्थ को जानने के लिए मुझे जिस ज्ञाता की पहले स्थापना करनी पडती है स्वय उसे मैं प्रमेय पदार्थ के रूप मे नही मान सकता।" समस्त अनुभवो का सम्पादन करनेवाला विषयी स्वय कभी अनुभूति का विषय नही बन सकता। क्योकि यदि यह भी अनुभूति का विषय हो तो प्रश्न उठता है कि इसका ज्ञान प्राप्त करनेवाला अन्य कौन होगा। ज्ञान सदा दो पक्षो के आधार पर क्रिया करता है। इसलिए यह आत्मा अव्याख्येय है, जिसकी परिभाषा नही हो सकती। अन्य कतिपय परमतत्त्वो की भाति इसे स्वयसिद्ध स्वीकार करना होता है। यह अन्य सबकी व्याख्या है यद्यपि स्वय यह अव्याख्येय ही रहता है। कोते की यह पुरानी समस्या कि विषयी लौटकर स्वय अपने को ग्रहण नही कर सकता, नितान्त कल्पना ही नही है। "यह आत्मा जो यह भी नही, वह भी नही और न और ही कुछ है, अमूर्त एव अनुभवातीत है क्योकि यह पकड मे नही आ सकती।"[4] उपनिषदें देह अथवा मानसिक अवस्थाओ की शृखलाओ अथवा बाह्य प्रत्यक्ष घटनाओ के अविच्छिन्नक्रमरूप अथवा चेतना के निरन्तर प्रवाह के साथ आत्मा के तादात्म्य का वर्णन करने से निषेध करती है। आत्मा ऐसा एक सम्बन्ध नही हो सकता जिसे सम्बन्धो की आधारभूमि की आवश्यकता हो, न ही वह घटको का परस्परसम्बन्धरूप है, क्योकि उसके लिए परस्पर सम्बन्ध करानेवाला एक स्वतन्त्र कर्ता चाहिए। हमे एक ऐसी व्यापक चेतना की यथार्थता को स्वीकार करने के लिए विवश होना पडता है जिसका चेतना के घटको के साथ बराबर साहचर्य है और जो घटको के अभाव मे भी अपनी स्वतन्त्र

१. बृहदारण्यक, १ ४, ७, कौषीतकि, अध्याय ३। २. बृहदारण्यक; ४ . ३,२३।
३. "अहमेव इद सर्वोऽस्मि।" ४. बृहदारण्यक, ३ . ७, ३; ४ ४,२२।

आगे चलकर बतलाती है कि उच्चतम अवस्था यह स्वप्नरहित निद्रावस्था नही, किन्तु आत्मा की इससे भिन्न एक चौथी अवस्था है अर्थात् तुरीय अवस्था। वह विशुद्ध आन्तरिक चैतन्य की अवस्था है जिसमे बाह्य एव आभ्यन्तर किसी भी प्रकार के पदार्थों का ज्ञान नही होता। प्रगाढ निद्रा मे मानवीय आत्मा एक ऐसे देश मे ब्रह्म के सग निवास करती है जो भौतिक इन्द्रियो के परिवर्तनात्मक जगत् मे दूर ऊपर है। तुरीय अवस्था प्रगाढ निद्रा के निषेधात्मक रूप को निर्विकल्प एव भावात्मक रूप प्रदान करती है। "यह चौथी अवस्था वह नही है जो विषयी का ज्ञान रखती हो, न ऐसी है जो विषय का ज्ञान रखती हो, न ऐसी है जो दोनो से अभिज्ञ हो, और न ही विशुद्ध चेतना का स्वरूप है, न पूर्ण चेतना का विशिष्ट पुञ्ज है और न वही है जिसे निविड अधकार कह सके। यह अदृष्ट है, सर्वातिशायी है, अज्ञेय है, अनुमानातीत है, अचिन्त्य है, अव्याख्येय है, आत्मचेतना का मूल तत्त्व है, ससार का पूर्णत्व है, सदा शान्तिमय, सर्वथा आनन्दमय, एकमात्र इकाई, यह नि सन्देह आत्मा है।"[1] ओकार इसका उपलक्षण है जो 'अ-उ-म्' मे मिलकर बना है, जो तीन अवस्थाओ—जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति को उपलक्षित करते है। यह ऐकान्तिक आत्मा नही है, किन्तु सबके लिए सामान्य आधार है जिसपर उन सबकी सत्ता आश्रित है।[2] प्रगाढ *निद्रा मे कहा जा सकता है कि हम एक स्थायी एकत्व मे पहुच गये, जिसमे कुल भेद लुप्त* हो जाते हैं और समस्त विश्व भी लुप्त हो जाता है। किन्तु इसे उन्नततम अवस्था नही समझा जा सकता, अत उससे भी ऊची निर्विकल्प एव भावात्मक एक अवस्था प्रस्तुत की गई है। भौतिक व्यक्ति के पास यदि अनात्म पहुचता है तो उसका व्यक्तित्व भी लुप्त हो जाता है। इसलिए यह आशका है कि प्रमेय विषयो के विलोप से आत्मा भी एक क्षीण अमूर्तरूप मे परिवर्तित हो जाएगी, किन्तु परम व्यापक आत्मा के अन्दर समस्त प्रमेय पदार्थों की सत्ता का भी समावेश हो जाता है। वही तक हम सासारिक पदार्थों का ज्ञान उपलब्ध करते हैं एव उनके प्रति लगाव रखते है, जहा तक कि वे हमारी आत्मा मे प्रवेश पाते है—आत्मा, जो अपने अन्दर विश्व के सभी पदार्थों का ज्ञान-सम्पादन करके सुरक्षित रखती है और जिसके बाहर कुछ नही है। यह स्वय अपरिवर्तित एव निरन्तर रहनेवाली सत्ता है, जो समस्त परिवर्तनो के अन्दर भी निरन्तर एकरस बनी रहती है। चित्तवृत्तिया आती हैं, गुजर जाती है और परिवर्तित होती हैं, किन्तु आत्मा सदा एकरस रहती है। इसका कोई आदि नही है, अन्त नही है, यद्यपि उन पदार्थों का जिनका इसे ज्ञान होता है, आदि भी है और अन्त भी है। "चेतना का विराम कभी नही अनुभव किया गया, न उसका कभी प्रत्यक्ष साक्षात् ही हुआ और यदि कभी हुआ भी तब साक्षी, अर्थात् जिसने अनुभव किया, स्वय पृष्ठभूमि मे विद्यमान रहा, जिसे उसी चेतना का निरन्तर स्थायी रूप समझना चाहिए।"[3] यह समस्त सत्ता की आधारभूमि है, जो उस सबका एकमात्र साक्षी है जिसका हम ज्ञान प्राप्त करते है एव सम्भावित आधार भी है, यद्यपि प्रमेय पदार्थों की प्रमाता के ऊपर की निर्भरता, जिसे बार-बार आग्रहपूर्वक दुहराया जाता है, बिलकुल स्पष्ट

१ १ · ७।

२. "त्रिषु धामसु यत्तुल्य सामान्यम्" (गौडपादीय कारिका, १. २०)।

३. देखें देवी भागवत, ३ · ३२, १५–१६।

नहीं है। आत्मा की तीनो अवस्थाएं—अर्थात जागति स्वप्न सुषुप्ति—उस अवस्था के साथ मिश्रित होकर जो इन सबका ज्ञान प्राप्त करती है क्रमश विश्व, तैजस प्राज्ञ एव तुरीय अवस्थाएं कही जाती हैं।[1]

इन तीनों अवस्थाओं—अर्थात जागति, स्वप्न एव सुषुप्ति—के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये तीनो ही अयथार्थरूप हैं यद्यपि अभावात्मक नही हैं। जो प्रारम्भ म असत है और अन्त म भी असत् है, मध्य म भी निश्चित रूप से असत होना चाहिए।[2] इस सिद्धान्त की दृष्टि से जागरितावस्था का अनुभव भी यथार्थ नहीं है। यदि कहा जाए कि स्वप्नावस्था अयथार्थ है क्योकि वह हमारे शेष अनुभवो के साथ मेल नही खाती तो क्या ऐसे ही जागरितावस्था के विषय म भी नही कहा जा सकता कि उक्त अनुभव भी स्वप्नावस्था के अनुभवो के साथ मेल नहीं खाते ? स्वप्न अपने क्षेत्र के अन्दर तो एक दूसरे से मेल खाते हैं ठीक जैसे कि जागरितावस्था के अनुभव। ससार भी आत्मा की विशेष मनोवत्तियों के सम्बन्ध से यथार्थ भासते हैं। जागरितावस्था के मानदण्ड का प्रयोग स्वप्नावस्था के ऊपर करना और इस प्रकार उसे दूषित ठहराना युक्तियुक्त नहीं है। स्वप्नावस्था एव जागरितावस्था दोनो ही के अनुभव अयथार्थ हैं यद्यपि भिन्न भिन्न श्रेणी के विचार से। प्रगाढ निद्रा की अवस्था इस प्रकार की अवस्था है जिसम हम बाह्य अथवा आभ्यन्तर किसी विषय का भी ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता। यह एक प्रकार का भेदशून्य पुज है जो अन्धकार के आवरण के नीचे छिपा है जिसकी तुलना हेगल की रात्रि की कल्पना से की जा सकती है जिसके अन्दर सब गाए एक समान काली हैं। हम यहा उच्चतम कोटि की अभावात्मक अवस्था मिलती है जहा दु ख नही है। किन्तु आत्मा इस दु ख के अभाव का नाम नही है। आत्मा भावात्मक आनन्दस्वरूप है। यह न जागरित अवस्था है न स्वप्नावस्था है न सुषुप्ति है बल्कि चौथी तुरीयावस्था है जो शेष तीनो की साक्षी एव उनसे भी सर्वातिशायी है। यह निषेधात्मक व्याख्या जो यहा दी गई है सकेत करती है कि हम सीमित प्राणी इसके अस्त्यात्मक स्वरूप को नहीं जान सकते। चौथी तुरीयावस्था की प्राप्ति तीनो का निषेध करके उतनी सम्भव नहीं है जितनी कि उन तीनों से ऊपर उठकर सम्भव है। हम परिमित शक्ति वाले प्राणियो के लिए उस आदर्श यथार्थसत्ता की व्याख्या करना असम्भव है यद्यपि उपनिषदें बलपूर्वक प्रतिपादन करती हैं कि वह शून्य नही है। तो भी उच्चतम सत्ता के विषय म मिथ्या विचारो का निराकरण करने के लिए और इस सत्य की स्थापना के लिए कि यह अमूर्त की कल्पना मात्र नहीं है वे अपर्याप्त धारणाएं हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। यदि सच पूछा जाए तो हम इसके विषय म कुछ नही कह सकते। फिर भी विवेचना के प्रयोजन से हम बौद्धिक धारणाओ का प्रयोग करने के लिए विवश होते हैं यद्यपि उनकी प्रामाणिकता सीमित है।

आत्मा की समस्या उपनिषदो म विवेचित बहुत महत्त्वपूर्ण समस्याओ मे से एक है। यही समस्या आगे चलकर भगवद्गीता मे एव वेदान्तसूत्रो म अध्यात्मविद्या के नाम

१ बौद्धदर्शन का चार चक्रों—काम, रूप अरूप और लोकोत्तर—का विभाग उक्त चारों अवस्थाओं से अनुकूलता रखता है।

२ गौडपादीय कारिका २ ६।

से पाई जाती है। आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण उपनिषदो की विरासत है, जोकि परिवर्ती भारतीय विचारधारा को उत्तराधिकार मे प्राप्त हुई है। इससे अनेक मिथ्या कल्पनाओं की उत्पत्ति हुई। आत्मा के स्वरूप के विषय मे बुद्ध और शकर, कपिल और पतञ्जलि आदि विविध विद्वानो के परस्पर-विरोधी सिद्धान्तो का मूल उपनिषदो मे मिल सकता है। उपनिषदो का आशय यह कभी भी नही था कि गम्भीरतर आत्मा को एकमात्र शून्य का रूप दे दिया जाए। यह अपने-आपमे पूर्णतम यथार्थसत्ता है, पूर्णतम चेतना है, और मात्र एक निषेधात्मक निश्चेष्ट नही है जिसपर किसी बेचैनी का प्रभाव न पड सके अथवा जो किसी दोष से आवृत न हो सके। तर्कसम्मत विचारधारा मे एक निषेधात्मक गति रहती है जहा यह सीमित के निषेध से उठती है, किन्तु आगे बढने के लिए यह केवल एक पडाव की ही भाति है। निषेधात्मक प्रक्रिया द्वारा आत्मा को यह जान लेना आवश्यक होता है कि इसकी सीमितता अथवा आत्मपूर्णता ही प्रधान तत्त्व नही है। अस्त्यात्मक विधि के मार्ग से यह अपने आत्म को सबके जीवन एव सत्ता मे जान सकती है। सब पदार्थ इसी सत्यस्वरूप आत्मा के अन्दर अवस्थित है। कुछ बौद्ध विचारक आत्मा का निरूपण केवल अभावात्मक या शून्य के रूप मे करते है और इस धारणा के आधार पर वे आध्यात्मिक ज्ञानी की दृष्टि से इसे भावरूप या अमूर्तरूप बताते है। हम इस आत्मा को चेतनता के क्षेत्र के किसी भी कोने मे नही ढूढ सकते और इसलिए वहा न मिलने पर हम तुरन्त इस परिणाम पर पहुच जाते है कि यह कुछ नही, अर्थात् शून्य है। साख्यकार ने इसे एक सरल एव विशुद्ध रूप मे माना है यद्यपि यह निष्क्रिय, प्राणशक्तिरूप एक तत्त्व है, जो प्रकटरूप मे सरल होने पर भी अपना एक विशिष्ट स्वरूप रखता है और इसीलिए हम साख्य के मत मे आत्माओ का बाहुल्य पाते है। कई वेदान्तियो का मत हे कि यथार्थ आत्मा अथवा ब्रह्म विशुद्ध है, निश्चेष्ट है, शान्तिमय है और बिकाररहित है, और वे कहते हे कि आत्मा केवल एक ही है। उसके निष्क्रिय पक्ष पर बल देने के कारण उसके शून्यरूप हो जाने का भय उनके मत मे अवश्य है। इसी प्रकार कुछ ऐसे बौद्ध सम्प्रदाय भी है जो आत्मा को केवल बुद्धि का रूप देकर उसे क्षुद्ररूप बना देते है, और उनके मत से यह बुद्धिरूप आत्मा किसी न किसी प्रकार बिना किसी घटक की सहायता के भी विचार कर सकती है।

८

ब्रह्म

अब हम विषयपक्ष की ओर से यथार्थ परमसत्ता की व्याख्या प्रारम्भ करते है, जिसे 'ब्रह्म' नाम से पुकारा गया है।[1] हमने देखा कि ऋग्वेद के समय मे अद्वैत का भाव आ गया था।

१ इस प्रश्न का उत्तर कि किस प्रकार 'ब्रह्म' शब्द उपनिषत्प्रतिपाद्य परमसत्ता का द्योतक हुआ, भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया है। हौग का मत है कि ब्रह्म का अर्थ है प्रार्थना, जो 'बृह्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है बढना या उत्पन्न होना। यह वह सत्ता है जो बढती है या उत्पन्न होती है। पवित्र प्रार्थनाए उत्पत्ति का कारण है और इसीसे आगे चलकर इसका उपयोग

उपनिषदों ने उस नित्य आत्मा की एक अधिक तर्कसंगत व्याख्या करने का कार्य अपने जिम्मे लिया जो सदा क्रियाशील भी है और सदा विश्राम भी करती है। एक और स्थान पर हमने निम्नकोटि के अपूर्ण विचारों से उठकर उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हुए अधिक पर्याप्त विचारों तक के क्रम को देखा है, जैसाकि तैत्तिरीय उपनिषद् में है।[1] तीसरी वल्ली में वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता के पास पहुंचकर प्रश्न करता है कि मुझे उस यथार्थसत्ता के स्वरूप की शिक्षा दीजिए, जिसके अन्दर से समस्त भूत या स्थावर एवं जंगम जगत् का विकास होता है और फिर जिसके अन्दर ही समस्त भूत समा जाते हैं। पुत्र के आगे ब्रह्म के सामान्य लक्षणों को रखते हुए पिता ने उसे आदेश दिया कि अब वह उस मूल तत्त्व का पता लगाए जिसमें ये सब लक्षण घट सकते हों। "वह जिसमें इन सब भूतों की उत्पत्ति हुई और उत्पन्न होने के पश्चात् जिसमें ये सब जीवन धारण करते हैं और वह जिसके अन्दर ये सब मृत्यु के समय समा जाते हैं, वही ब्रह्म है।"[2] संसार के पदार्थ सदा अपनी आकृतियां बदलते रहते हैं और इसलिए परमार्थरूप में उन्हें सत्य नहीं समझा जा सकता। इस परिवर्तमान पदार्थों से पूर्ण नामरूपात्मक विश्व की पृष्ठभूमि में ऐसी भी कोई सत्ता है जो स्थिर हो और जिसमें कभी परिवर्तन न होता हो? उपनिषद् की परिभाषा में इस जगत् को नामरूपात्मक कहा गया है, जिसका ज्ञान नाम और रूप या आकृति द्वारा होता है। पुत्र (भृगु) प्रकृति को ही परमसत्ता मान लेता है, क्योंकि बाह्य जगत् का वह सबसे अधिक सुव्यक्त स्वरूप है। लोकायत सम्प्रदाय वालों अर्थात् भौतिकवादियों का भी यही मत है। किन्तु पुत्र को शीघ्र ही मालूम होता है कि प्रकृति को यथार्थसत्ता मानने से जीवन की घटनाओं की उचित व्याख्या नहीं हो सकती। वनस्पति का विकास एक भिन्न प्रकार की व्याख्या से ही सम्भव है। वह प्राण अथवा जीवन की ओर संकेत करता है कि यही परम

प्रकृति की शक्ति के अर्थों में होने लगा, एवं आगे चलकर परमार्थसत्ता अथवा सर्वोत्कृष्ट सत्ता के अर्थों में आ गया। राथ के अनुसार ब्रह्म शब्द का प्रयोग सबसे पूर्व देवताओं के प्रति प्रेरित इच्छाशक्ति के अर्थों में हुआ। उसके बाद इसका प्रयोग पवित्र नियम के अर्थों में हुआ और आगे चलकर इसका अर्थ परमसत्ता हो गया। ओल्डनबर्ग का विचार है कि वैदिक काल में जबकि संसार में अनेक देवता भरे थे और ऐसी रहस्यपूर्ण शक्तियां भी विद्यमान थीं जो सुख और दुःख को उत्पन्न करने की क्षमता रखती थीं, सबसे अधिक शक्तिशाली मनुष्य चिकित्सक था, जिसके हाथ में जादू था और वह जो चाहता था उसे कार्यरूप में प्रकट कर देता था। उस समय ब्रह्म का प्रयोग भी जादू, वशीकरण अथवा मायावी के अर्थों में होने लगा। ब्राह्मणग्रन्थों के काल में यज्ञों में प्रयुक्त होनेवाले पवित्र मन्त्रों के अर्थ में इसका प्रयोग होता था। सम्भवतः इनमें से कुछ एक मन्त्रों का प्रयोग जादू का प्रभाव डालने के लिए भी होता हो। धीरे-धीरे यही शब्द उस प्रधान शक्ति के अर्थों में प्रयुक्त होने लगा जो संसार को उत्पन्न करती है। ड्यूसन का मत है कि "यह प्रार्थना है जो आत्मा को ऊंचा उठाती है जिसमें हमें सत्य का दर्शन होता है और इस प्रकार यह शब्द सत्य का द्योतक बन गया।" मैक्समूलर के अनुसार इसकी उत्पत्ति 'शब्द' से है, जैसा कि बृहस्पति अथवा वाचस्पति शब्द से स्पष्ट है, जिसका अर्थ है वाणी का स्वामी। "वह जो बोलता है ब्रह्म है।" (सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी, मैक्समूलरकृत, पृष्ठ ५२-७)। हमें इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अधिक झगड़ा करने की आवश्यकता नहीं। हमारे लिए तो स्पष्ट है—ब्रह्म का तात्पर्य है वह यथार्थसत्ता जो बढ़ता है, उच्छ्वास लेता है या उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है।

1. केयर्ड, ऐवोल्यूशन आफ रिलिजन, अध्याय १३।
2. ३ : १।

तत्त्व है।[1] प्रकृति मे जीवन का रहस्य सन्निहित नही है यद्यपि विना प्रकृति के जीवन-धारण नही हो सकता। जीवन के अन्दर ऐसी कोई शक्ति है जो इसे जडतत्त्वो को आत्मसात् करके उनके रूप को परिवर्तन करने योग्य वनाती है। यही शक्ति वह मौलिक तत्त्व है जो मानव के अन्दर वानस्पतिक पदार्थ को रक्त, अस्थि और मासपेशी के रूप मे परिवर्तित करने मे सहायता करती है। यही तत्त्व है जो विश्व को आच्छादित किए हुए है और जो मानव को अन्य समस्त जगत् के साथ सम्वद्ध किए है।[2] पुत्र को निश्चय है कि जीवन प्रकृति से पृथक् प्रकार की व्यवस्था मे आता है यद्यपि प्राण देह का सारभूत तत्त्व है।[3] किन्तु प्राण को समस्या का समाधान मानने पर भी वह असन्तुष्ट ही रहता है, क्योकि प्राणी-जगत् मे जो चेतनात्मक घटना हमारे सम्मुख आती है उसकी व्याख्या जीवनतत्त्व से नही हो सकती। मानस अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक चेतना एक ऐसा पदार्थ है जो जीवन एव प्रकृति से विलकुल विलक्षणस्वरूप है और जो समस्त प्राणधारक प्रक्रिया का मूर्धन्य प्रतीत होता है। इसलिए पुत्र मानने लगता है कि मानस ही ब्रह्म है। किन्तु यह भी पर्याप्त नही है, क्योकि ऐसी वौद्धिक घटनाए है जिनकी व्याख्या केवल प्रत्यक्ष ज्ञान से नही हो सकती। विज्ञान अथवा बुद्धि ब्रह्म है।[4] वौद्धदर्शन के कतिपय सम्प्रदाय इसी मत को स्वीकार करते है। अव पुत्र अनुभव करता है कि वौद्धिक आत्मचेतना अपूर्ण है, क्योकि वह असगति एव अपूर्णता के अधीन है। उपनिपदो का लक्ष्य यह प्रदर्शित करने मे है कि वुद्धि के स्तर पर द्वैत एव वाह्यता के तत्त्व विद्यमान रहते है, भले ही हम कितना ही उनसे ऊपर उठने की कोशिश क्यो न करे। ज्ञान और नैतिक जीवन मे परस्पर विपयी-विपय-सम्वन्ध है। केवल बुद्धि से ऊचा अवश्य कोई तत्त्व होना चाहिए, जहा कि सत्ता को ज्ञान की परिभापा मे नियन्त्रित न किया गया हो। सत्ता के एकत्व की माग है कि हम वौद्धिक स्तर से ऊपर उठे। विचार का सम्वन्ध, जैसा कि साधारणत समझा जाता है, उन पदार्थो से है जो दूरस्थित है और विचार की प्रक्रिया से पृथग्रूप है। इसकी पहुच वाहर की ओर उस विषय तक है, जो इससे पृथक् है एव विरुद्ध स्वभाव का है। यथार्थसत्ता विचार से भिन्न है और उस तक उच्चतम अव्यवहित सान्निध्य की तुरीयावस्था मे पहुचा जा सकता है और वह अवस्था ऐसी है जो विचार एव तदन्तर्हित भेदो से कही ऊपर है और जहा व्यक्ति प्रधान यथार्थसत्ता के साथ एकात्मरूप हो जाता है। आनन्द उच्चतम परिणाम है जिसमे ज्ञाता, ज्ञेय एव ज्ञान एकाकार हो जाते है। यहा आकर दार्शनिक खोज समाप्त हो जाती है, इससे यह लक्षित होता है कि आनन्द से ऊची और कोई सत्ता नही, वही परमसत्ता है। यह आनन्द एक प्रकार का क्रियाशील सुखात्मक अनुभव अथवा क्षमता का अवाध उपयोग है। यह शून्य मे विलोप होना नही, किन्तु प्राणी का पूर्णता को प्राप्त करना है।[5] "भेद करके देखनेवाले ज्ञानी अपने अधिक उत्कृष्ट ज्ञान के वल पर आत्मा का

१. प्राण का अर्थ है श्वास। देखिए, ऋग्वेद, १ . ६६, १, ३ : ५ं, २१, १० : ५६, ६।
२. देखिए, प्रश्नोपनिपद्, प्रश्न ७।
३ वृहदारण्यक उपनिपद्, १ ३, १०, देखिए, छान्दोग्य उपनिपद्, ६ . २, ४।
४ देखिए, ऐतरेयोपनिपद्, ३ . ३; तैत्तिरीय उपनिपद्, ३ ५।
५. देखिए, मुण्डक उपनिषद्।

साक्षात करते हैं जो केवल आनन्द एवं अमरता के रूप में प्रकाशमान है।"[1] सच पूछा जाए तो हम वस्तुतः आनन्दरूप उच्चतम यथार्थसत्ता का वर्णन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। यह प्रश्न भी कि यह अमूर्त है या मूर्तरूप है तर्कसंगत नहीं है। बौद्धिक आवश्यकताएं हमें प्रेरित करती हैं कि हम कुछ न कुछ वर्णन अवश्य करें। उसे केवल भावात्मक रूप में मानने की अपेक्षा मूर्तरूप में समझना अधिक यथार्थ है। प्रत्येक उच्चतर तत्त्व निम्नतर तत्त्व की अपेक्षा अधिक ठोस और समवेतरूप होता है। और इसलिए आनन्द जो ब्रह्म है अन्य सब तत्त्वों की अपेक्षा सबसे अधिक समवेततत्त्व है। इसीसे सब वस्तुएं विकसित होती हैं। समस्त वस्तुसमूह का धारण भी इसीसे होता है और इसीके अन्दर सब कुछ विलीन हो जाता है। भिन्न भिन्न भाग खनिज-जगत, वनस्पति जीवन, जीवजन्तु जगत एवं मनुष्य समाज उस परमोत्कृष्ट सत्ता के साथ किसी अमूर्तरूप या यान्त्रिक विधि से सम्बद्ध नहीं हैं। वे सब उसके अन्दर एकीभूत हैं और उसीके द्वारा अपनी सत्ता रखते हैं जो उन सबके अन्दर व्याप्त है। सब भाग इस विश्व ब्रह्माण्ड की इसी व्यापक आत्मा के अंश हैं और अपने अपने विशेष कार्यों के सम्पादन के लिए विशिष्ट विशिष्ट रूप लिये हुए हैं। ये सब भाग स्वतन्त्र सत्ता वाले अवयव न होकर उस एक के ही ऊपर अपनी सत्ता के लिए निर्भर करते हैं। भगवन! वह अनन्त किसके ऊपर आश्रित है? क्या अपनी महानता के ऊपर अथवा महानता के ऊपर भी नहीं? हरएक वस्तु इसके ऊपर आश्रित है, यह किसी अन्य वस्तु का आश्रित नहीं है। अनेक स्थलों पर (उपनिषदों में) अवयवों का सम्पूर्ण के साथ अंगांगीभाव से सम्बन्ध का भी वर्णन किया गया है। जैसे सब आरे एक धुरे के साथ जुड़े होते हैं और पहिये के बाह्य घेरे के भी अन्दर हैं, इसी प्रकार सब प्राणी, सब देवता, समस्त लोक और सब अवयव भी उसी आत्मा में निहित हैं।[2] यह वह पुरातन वृक्ष है जिसकी जड़ ऊपर की ओर हैं और जिसकी शाखाएं नीचे की ओर जाती हैं। वह प्रकाश का पुंज उज्ज्वल ब्रह्म है जो अमर है, सब लोक उसीके अन्दर निहित हैं और उसके बाहर कुछ नहीं है।[3]

हमने आनन्दरूप में परमसत्ता की व्याख्या की है और इस प्रकार इस कथन का खण्डन हो जाता है कि परमसत्ता अव्याख्येय है। सर्वांग सम्पूर्ण सत्ता को जानने के सब रचनात्मक प्रबन्ध अन्त में सामान्यरूप से एक समवेतपूर्ण के ही परिणाम तक पहुंचते हैं। किन्तु यदि हम व्याख्यात सत्ता का समन्वय अव्याख्यात के साथ करने का प्रयत्न करें, जिसका समर्थन उपनिषदें भी करती हैं, तब हमें कहना पड़ेगा कि वर्तमान सन्दर्भ में आनन्द अन्तिम सत्ता नहीं है बल्कि यह आनन्द तो केवल मनुष्य के चिन्तन की उच्चतम उपलब्धि है। यह परम अथवा नित्य सत्ता नहीं है जो सदा अपनी निजी विशिष्टता में रहती है। तार्किक मस्तिष्क के दृष्टिकोण से पूर्णसत्ता ही यथार्थ है और संसार की विविधता इसीके अन्तर्गत समाती है। सहृतरूप आनन्द प्रामाणिक सत्ता है अथवा यथार्थता है जिसकी अभिव्यक्ति विचारशक्ति के अन्दर होती है और इसीको रामानुज ने उच्चतम ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है। विशुद्ध ब्रह्म जो सब गुणों से

१ मुण्डक २ : ८। ७ बृहदारण्यक, २ : ५, १५।
२ कठोपनिषद्, २ : ६ : १ और भी देखिए तैत्तिरीय उपनिषद् १ : १०; भगवद्गीता, १५ : १।

मुक्त है, निरुपाधिक सत्ता है, अथवा निर्गुण ब्रह्म है, जिसे शकर ने स्वीकार किया है। प्रथम प्रकार का ब्रह्म, अर्थात् रामानुजाचार्य का ब्रह्म, एक सुव्यवस्थित पूर्णसत्ता है और दूसरा, अर्थात् शङ्कर का प्रतिपादित ब्रह्म, एक अव्याख्येय यथार्थसत्ता है। फिर भी शङ्कर के मत से भी दूसरे प्रकार का ब्रह्म अपने को प्रथम प्रकार के रूप मे दर्शाता है। और अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञात सत्ता ज्ञान से परिपूर्ण है।[1]

इस प्रकार के मतभेद के परिणामस्वरूप ही आनन्द की व्याख्या के विषय मे बहुत अधिक वादविवाद उपनिषदो मे पाया जाता है। शकर तो स्पष्टरूप से कहते है कि आनन्दमय अपनी माया के सयोग से प्रकट करता है कि यह एक घटनात्मक कार्य है। यदि यह आत्मा से भिन्न न होता तो इसके विषय मे तर्क हो ही न सकता। यदि यह विशुद्ध ब्रह्म है तो इसे आकृति देना एव इसके साथ सिर, अग आदि का जोडना, जैसाकि तैत्तिरीय उपनिषद् करती है, असङ्गत होगा। यदि आनन्द ही ब्रह्म है तब ब्रह्म का अलग वर्णन करना, एक पूछ की तरह, निरर्थक है।[2] इसलिए शकर इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि "आनन्दमय आत्मा एक कार्य है, किन्तु निर्विकल्प आत्मा कार्य नही है।" दूसरी ओर रामानुज का तर्क है कि यह आनन्द ही ब्रह्म है। माया का सयोग केवल प्राचुर्य अथवा पूर्णता का सकेत करता है। यद्यपि प्रकृति एव जीवन आदि के विषय मे यह स्पष्ट-रूप से कहा जाता है कि अन्दर कोई और है, जैसे 'अन्योऽन्तर आत्मा', आनन्द के विषय मे इस प्रकार की अन्तर्निविष्ट किसी अन्य सत्ता का कथन नही किया जाता। अग आदि का साथ मे वर्णन करना कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नही है। पुच्छयुक्त ब्रह्म का मतलब यह न समझा जाना चाहिए कि यह आनन्द एव ब्रह्म के अन्दर किसी प्रकार के अन्तर की ओर सकेत करता है। दोनो का सम्बन्ध परस्पर अगागीभावरूप भी हो सकता है,[3] जो आरोपक उपयोग मे कभी-कभी सार्थक होता है। आनन्दमय के वर्णन के साथ-साथ ही उपनिषदो मे 'सोऽकामयत्' कहा है, अर्थात् उस (पुंल्लिग) ने इच्छा की, और यह पुंल्लिगवाचक प्रयोग केवल आनन्दमय के लिए ही हो सकता है न कि 'पुच्छं ब्रह्म' के लिए, जो नपुसक-

१ उपनिषदों का यह निश्चित सिद्धान्त है कि परमसत्ता अव्याख्येय, अथवा अनिर्वचनीय है यद्यपि वे इसके विषय में बौद्धिक विवेचन उपस्थित करती है, जो नितान्त सत्य नही है। यदि कोई बौद्धिक विवेचन कभी सत्य समझा जा सकता है तो यह वह है जिसकी रामानुज ने स्थापना की है। उपनिषदों के वास्तविक भाव को लेकर शकर का कहना है कि तर्क द्वारा जहा तक हम ऊचे से ऊचा जा सकते है, अर्थात् रामानुज द्वारा प्रतिपादित, उससे भी ऊचे दर्जे की सत्ता कोई है। शकर के दर्शन की विवेचना करते समय हम इस विषय का प्रतिपादन करेंगे कि वे किस प्रकार उच्चतम सत्ता के विषय में प्रतिपादन की गई समस्त धारणाओं की अपूर्णता की स्थापना करते है। उनका तर्क है कि हम परमसत्ता के विषय में यह नहीं कह सकते कि वह सान्त है अथवा अनन्त है, अथवा दोनों ही है या दोनों में से एक भी नही। यही बात सब प्रकार के अन्य सम्बन्धों—जैसे पूर्ण का अश के साथ, पदार्थ का उसके गुण के साथ, कारण का कार्य के साथ—के विषय में भी है। विचार की सीमाओं का एक विवेकपूर्ण निरूपण, जैसाकि हमें शकर के ग्रन्थों में मिलता है, क्यों सम्भव हो सका इसका कारण ढूढने से प्रतीत होगा कि उपनिषदों के और शकर के बीच बौद्धदर्शन की जो परम्परा आ गई उसके कारण यह स्थिति सम्भव हो सकी।

२ ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा।

३. समुदायसमुदायीभाव।

निग है। सुख के पर्याय सब रूपों जैसे प्रिय, मोद आदि का समावेश आनन्द के अन्दर हो जाता है और इस प्रकार उपनिषद् अपने अन्तिम विश्रामस्थान को पहुंच जाता है जब यह आनन्द को प्राप्त कर लेता है। उसी उपनिषद् में हमें कितने ही स्थल ऐसे मिलते हैं जहां पर कि आनन्द शब्द पर्यायरूप से अन्तिम सत्ता के लिए प्रयुक्त हुआ है।

यह प्रत्यक्ष है कि सारा वाद-विवाद इस सन्देह के कारण उठा है कि हम तर्क से प्राप्त हुई उच्चतम सत्ता को आनन्द मानें अथवा नितान्त परमसत्ता को आनन्द मानें। उपनिषदों ने किसी भी स्थान पर विभेदक सीमा का स्पष्ट चिह्न नहीं दिया है जहां कि रामानुज के समवेतपूर्णस्वरूप ब्रह्म एवं शंकर के सरल एवं निरुपाधिक ब्रह्म के जो अन्तर्दृष्टि में प्राप्तव्य है, मध्य में स्पष्ट भेद किया जा सके। यदि हम दोनों को बिलकुल पृथक कर दें तो यह हमारे लिए फिर असम्भव हो जाएगा कि हम ठोस अस्ति रूप जगत के सही भेदपरक मूल्यांकन को स्वीकार कर सकें। उपनिषदों का संकेत है कि ईश्वर और ब्रह्म यथार्थ में एक ही हैं। अत्यन्त सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि से यदि हम विवेचन करें और शब्दों का संकुचित अर्थों में पूरी सावधानी के साथ प्रयोग करें तो हम देखेंगे कि जब हम 'मैं मैं हूं' ऐसा कहते हैं तो उस समय परमसत्ता से थोड़ा-सा ही ह्रास होता है जो केवल कल्पना में हो आ सकता है।[1] इस आभासमात्र शून्य को लेकर ही शंकर विशुद्ध सत्ता को जो सबका आधारभूत विचार और सत्य है देशकाल और कारण से आबद्ध जगत की उत्पत्ति का कारण बना डालता है। उपनिषदें परोक्षरूप से स्वीकार करती हैं कि ज्यों ही हम विशुद्ध ब्रह्म का विचार करते हैं हम शून्य को भेदक तत्त्व और आधार स्वीकार कर लेते हैं। चेतनस्वरूप ईश्वर जो आगे चलकर सुव्यवस्थित पूर्णसत्ता के रूप में विकसित होता है, अधिक से अधिक अंश में सत् है और न्यून से न्यून अंश में असत्। उसमें विषयत्व का भाव सबसे न्यून है और बाह्यता के साथ उसका सम्पर्क है। वही एक जगत की सत्ताओं के रूप में अभिव्यक्त होता है और यही कारण है कि हम सांसारिक पदार्थों में निहित अस्तित्व के अंश को उस परमसत्ता से उनको पृथक करने वाली दूरी को मापकर निश्चित करने में समर्थ होते हैं। प्रत्येक निम्न श्रेणी उच्चतम सत्ता का ह्रासमात्र है यद्यपि बराबर विद्यमान पदार्थों में ऊंचे से ऊंचे से लेकर नीचे से नीचे तक हम ब्रह्म की भी अभिव्यक्ति पाते हैं एवं देश, काल और कारण भाव के लक्षणों को भी साथ-साथ पाते हैं। निम्न स्तर के पदार्थ विशुद्ध ब्रह्म से उच्चतर स्तर के पदार्थों की अपेक्षा अधिक दूरवर्ती हैं यहां तक कि उपनिषदों का आनन्दमय, रामानुज का समवेत ब्रह्म और शंकर का ईश्वर ये सब उस विशुद्ध परमसत्ता के निकटतम हैं। इससे और अधिक सामीप्य विचार में नहीं आ सकता। सर्वोपरि ब्रह्म अथवा आनन्द विज्ञान के स्तर पर अथवा आत्मचैतन्य के स्तर पर जीवितरूप ईश्वर बन जाता है जो स्वेच्छा से मर्यादासम्पन्न है। ईश्वर अथवा आत्मा एकत्व की आधारभित्ति है और प्रकृति अथवा अनात्म द्वैत अथवा बहुत्व रूपी तत्त्व बन जाता है।[2]

१ बृहदारण्यक १ ४ १।
२ देखिए तैत्तिरीय उपनिषद् १ ८ के सूत्रों पर किया गया शांकरभाष्य एवं रामानुजभाष्य १ १ ६।

९

ब्रह्म और आत्मा

विषयी और विषय, ब्रह्म और आत्मा, विश्वीय एव आत्मिक दोनो ही तत्त्व एकात्मक माने गए है, ब्रह्म ही आत्मा है।[1] "वह ब्रह्म जो पुरुष के अन्दर है और वह जो सूर्य मे है, दोनो एक है।"[2] ईश्वर के सर्वातिशायित्व का भाव, जो ऋग्वेद मे है यहा पर आकर सर्वान्तर्यामी के भाव मे परिणत हो गया है। अनन्त सान्त से परे नही, बल्कि सान्त के अन्तर्गत है। उपनिषदो की शिक्षा विषयीपरक रहने से यह परिवर्तन हुआ। विषयी एव विषय के मध्य तादात्म्य का अनुभव भारत देश मे उस समय हुआ जबकि अभी प्लेटो का जन्म भी नही हुआ था। ड्यूसन इसके सम्बन्ध मे इस प्रकार कहता है, "यदि हम इस विचार को नाना आलकारिक आकृतियो से, उन्नततर वर्ग के पदार्थों से, जो बहुत अधिक वेदान्तसूत्रो मे पाए जाते है, पृथक् करके अपना ध्यान इसके ऊपर केवल इसकी दार्शनिक विशुद्धता को ही लक्ष्य करके स्थिर करे, अर्थात् ईश्वर एव आत्मा के, ब्रह्म और आत्मा के तादात्म्य पर ध्यान दे, तो पता लगेगा कि इसकी यथार्थता उपनिषदो से भी दूर, उनके काल और जिस देश मे उनका निर्माण हुआ उससे भी दूर है; प्रत्युत कहना होगा कि समस्त मनुष्य-जाति के लिए इसका अमूल्य महत्त्व है। भविष्य को देखने मे तो हम असमर्थ है, हम नही जानते कि अभी क्या-क्या और गवेषणाए एव दैवीय ज्ञान मानवीय आत्मा के विषय मे जिज्ञासुओ की बेचैनी के कारण सामने आएगे किन्तु हम एक बात निश्चय एव विश्वास के साथ कह सकते हैं कि भविष्य का दर्शन भले ही कोई नया एव असाधारण मार्ग ढूढ निकाले, यह दार्शनिक तत्त्व स्थिररूप से अखण्डित रहेगा और इससे किसी प्रकार का अतिक्रम सभव न हो सकेगा। यदि कभी इस महान समस्या का कोई और व्यापक समाधान निकल भी आया—जोकि ज्यो-ज्यो आगे ज्ञान की वृद्धि होगी और कितने ही पदार्थ दार्शनिको के सामने आएगे—तो उसकी कुजी वही मिलेगी जहा प्रकृति के रहस्य खुल सकते है, अर्थात् अपनी आत्मा के अन्तस्तल के अन्दर ही, बाहर नही। इसी अन्तस्तल के अन्दर सबसे पहले उपनिषदो के विचारको ने, जिन्हे अनन्त समय तक प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाएगा, इस तत्त्व को ढूढ निकाला था जबकि उन्होने पहचाना कि हमारी आत्मा, हमारे अन्तस्तल मे विद्यमान सत्ता ब्रह्म के रूप मे है और वही व्यापक भौतिक प्रकृति एव उसकी समस्त घटनाओ के अन्दर सत्तात्मक रूप से व्याप्त है।"[3] विषयी एव विषय का यह तादात्म्य केवल एक अस्पष्ट कल्पना ही नही है, किन्तु समस्त विषयमगत विचार, अनुभव और इच्छाए आवश्यक रूप से इसकी ओर सकेत करते है। यदि मानवीय आत्मा स्वय अचिन्त्य, अपराजेय एव प्रेमपात्र बनने के अयोग्य होती तो यह प्रकृति पर विचार न कर सकती, उसपर विजय न पा सकती और न उससे प्रेम ही कर

१ तैत्तिरीय उपनिषद्, १ ५।

२ २ ८, और भी देखिए, ३ १०; छान्दोग्य, ३ : १३,७; ३ १४, २, ४, बृहदारण्यक, ५ ५, २, मुण्डक, २ १, १०।

३ 'फिलासफी ऑफ द उपनिषद्स', पृष्ठ ३९–४०।

सकती। प्रकृति एक विषयी (प्रमाता) के लिए विषय (प्रमेय पदार्थ) है बिलकुल बुद्धिगम्य, स्वयं युक्तिसंगत जो वन में आने एवं प्रेम करने योग्य है। इसका अस्तित्व मनुष्य के लिए है। नक्षत्रगण उसके चरणों में जलते हुए प्रदीपरूप हैं और रात्रि का अन्धकार उसे लोरियां देकर सुलाने के लिए है। प्रकृति हमें जीवन के आध्यात्मिक तत्त्व की ओर चलने को पुकारती है और इस सम्बन्ध में आत्मा की सब आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। प्रकृति का निर्माण, नियन्त्रण एवं संचालन विश्वात्मा के द्वारा होता है। जब से चिन्तन प्रारम्भ हुआ, विषयी एवं विषय की यह एकता के ज्ञेय सत्ता का अस्तित्व तथा जो सबमें व्याप्त और सबको अपने अन्दर समाविष्ट किए हुए है भक्त लोगों का सिद्धान्त रहा है। धार्मिक रहस्यवादी और गम्भीरतम पवित्रता वाले भक्त लोग सब इस महान वाक्य अर्थात वही तू है— तत्त्वमसि की यथार्थता के साक्षी हैं। हम इसे भले ही न समझ सकें किन्तु हमारी यह अज्ञानता हमें इसका प्रतिवाद करने का अधिकार नहीं देती।

ब्रह्म के विषय में बनाई गई भिन्न भिन्न धारणाएं आत्मा सम्बन्धी विचारों से अनुकूलता रखती हैं और इसी प्रकार ठीक इसके विपरीत भी हैं। जागृति स्वप्न सुषुप्ति और आत्मा की समाधि अवस्था का विचार परवर्ती वेदान्तग्रन्थों में स्पष्ट करके अलग अलग रूप में दिखाया गया है और वह ब्रह्म-सम्बन्धी विविध कल्पनाओं के अनुकूल बैठता है। उच्चतम ब्रह्म जो आनन्द है ठीक आत्मा का स्वरूप है जिसकी अभिव्यक्ति चौथी अवस्था अर्थात तुरीय अवस्था में होती है। उस अवस्था में विषयी और विषय एक ही है। द्रष्टा अर्थात देखनेवाला और दृश्यमान पदार्थ एक सम्पूर्ण ब्रह्म में समवेत होकर एकाकार हो जाते हैं। जब हम आत्मा का स्वयंचेतनस्वरूप व्यक्ति के साथ तादात्म्य-वर्णन करते हैं तो ब्रह्म को हम एक स्वयंचेतनस्वरूप ईश्वर के रूप में देखते हैं जिसके अन्दर एक विजातीय शक्ति है। चूंकि स्वयंचेतन व्यक्ति केवल एक भावात्मक वस्तु रह जाएगा जो घटक अर्थात विषय है जिसके कारण ही उसकी अपनी पृथक सत्ता है इसी प्रकार ईश्वर का भी एक विजातीय अवयव की आवश्यकता है। ईश्वर का विचार धार्मिक चेतना के लिए सबसे ऊंचा विषय है। जब आत्मा को मनुष्य की मानसिक एवं प्राणभूत शक्ति-रूप माना गया तो ब्रह्म का स्वरूप हिरण्यगर्भ का रह गया अर्थात विश्वात्मा का जिसकी स्थिति ईश्वर और मानव के मध्य की समझी जानी चाहिए। इस हिरण्यगर्भ का सम्बन्ध विश्व के साथ ठीक उसी रूप में है जिस रूप में कि मानवीय आत्मा का मानवीय देह के साथ है अर्थात विश्वरूप शरीर में विद्यमान शरीरी हिरण्यगर्भ है। हम यहां पर ऋग्वेद का प्रभाव दिखाई देता है। संसार में चेतनता एवं इच्छा की कल्पना की जाती है। मानस बराबर शरीर के साथ साथ रहता है। मानस की विस्तृततर व्यवस्थाओं का सादृश्य शरीर की विस्तृततर व्यवस्थाओं के साथ है। इस संसार का भी जिसके अन्दर हम रहते हैं इसी प्रकार का एक सहचारी मानस है और इस विश्वरूपी शरीर का मानस यही हिरण्य-गर्भ है। विश्वात्मा के इस भाव को उपनिषदों में भिन्न भिन्न नामों एवं आकृतियों में वर्णन किया गया है। इसे कार्यब्रह्म कहा गया है जो कारणब्रह्म ईश्वर से भिन्नप्रकृति का है। यह कार्यब्रह्म उत्पन्न सब पदार्थों का समुच्चय है सान्त पदार्थ जिसके अंशमात्र

हैं। सब कार्यों का चेतनामय समुच्चय ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ है। यह ब्रह्म से सर्वथा भिन्न नही है। ब्रह्म विशुद्ध है, व्यक्तिरूप है, नितान्त आत्मस्वरूप है और एक एव अद्वितीय है, अथवा उस जैसी दूसरी कोई सत्ता नही है। एक समय मे उसे कर्ता अर्थात् ईश्वर के रूप मे देखा जाता है और अन्य समय मे कार्यरूप मे, अर्थात् हिरण्यगर्भ के रूप मे। यहा तक कि यह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा भी ब्रह्म के ही अन्दर से आता है।[1] "वही ब्रह्मा का उद्गम-स्थान है।" समस्त विषयात्मक ब्रह्माण्ड इसी प्रमाता विषयी द्वारा धारण किया जाता है। जबकि व्यक्तिरूप विषयी विलुप्त हो जाते हैं वह उस समय भी, अर्थात् प्रलयकाल मे भी, नई सृष्टि के विषय मे सकल्प करनेवाला विद्यमान रहता है। जब हम आत्मा का अपने शरीर के साथ तादात्म्य करते है, ब्रह्म विश्वमय अर्थात् विराड्रूप होता है। विराट् ही सब कुछ है, अर्थात् समस्त विश्व की एकत्र सारवस्तु दैवीय शरीर के रूप मे है। यह वस्तुओ का समुच्चय अर्थात् समस्त सत्पदार्थों का एकत्रीकृत पुञ्ज है। "यह वह है—समस्त उत्पन्न पदार्थों का आभ्यन्तर आत्मा, अग्नि जिसका सिर है, सूर्य और चन्द्रमा जिसकी आखे है, चारो दिशाए जिसके कान हैं, वेद जिसकी वाणी है और उन वेदो का प्रादुर्भाव भी उसीसे हुआ है, वायु जिसका श्वसित है, समस्त विश्व ब्रह्माण्ड जिसका हृदय है और जिसके चरणो से पृथ्वी का प्रादुर्भाव हुआ।"[2] विराट् का शरीर भौतिक पदार्थो की सहति से बना है। वह अभिव्यक्तरूप ईश्वर है जिसकी इन्द्रिया सब दिशाए है, जिसका शरीर पाच तत्त्व हैं और जिसकी चेतना 'मैं ही सब कुछ हू' इस भावना से दीप्तिमान होती है। विराट् के विकास से पूर्व सूत्रात्मा का भी विकास अवश्य हुआ होगा जोकि विश्वप्रज्ञा अथवा हिरण्यगर्भ है और जिसका वाहन सूक्ष्म शरीरो की सहति है। हिरण्यगर्भ के पीछे विराट् अपने रूप मे प्रकट होता है। विराट् के रूप मे हिरण्यगर्भ प्रत्यक्ष होता है। जब तक कार्य का विकास होता है, यह सूत्रात्मा सूक्ष्म शरीर से सम्पृक्त चेतना-स्वरूप होता है। उसकी उपस्थिति केवल प्रारम्भिक कारण मे विज्ञान एव क्रिया की सभाव्यता के रूप मे है। व्यापक आत्मा की ससार के मूर्तरूप भौतिक पदार्थो मे अभिव्यक्ति की सज्ञा विराट् है और विश्व ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म प्रकृति (सामग्री) की उसी प्रकार की अभिव्यक्ति की सज्ञा ब्रह्मा है। सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ है। सर्वोपरि आत्मा, जो कारण-कार्यभाव से परे है वह ब्रह्म है, किन्तु जब यह अनात्म से पृथक् रूप मे आत्मप्रज्ञ हो जाता है, हम इसे ही ईश्वर सज्ञा से पुकारते हैं।[3] निम्नतालिका हमे इस योजना का सकेत देती है :

विषयी (आत्मा)	*विषय (ब्रह्म)*
१ शरीरी आत्मा (विश्व)	१ ब्रह्माण्ड, व्यवस्थित विश्व (विराट् अथवा वैश्वानर)
२ तैजस आत्मा	२. विश्व की आत्मा (हिरण्यगर्भ)
३ प्रज्ञारूप आत्मा	३. आत्मप्रज्ञ (ईश्वर)
४. तुरीयावस्था-स्थित आत्मा	४ आनन्द (ब्रह्म)

१. मुण्डक, ३ : १३, १।
२. मुण्डक, ४ : ४, ११।
३ सुषुप्ति अवस्था में विषयी आत्मा और विषय जगत् दोनों ही उपस्थित तो रहते हैं, किन्तु दमन किए हुए अप्रकाशित रूप में रहते हैं, यद्यपि सर्वथा विलुप्त नही होते।

यदि एक तार्किक व्यवस्था का आश्रय लिया जा सके तब हम कह सकते हैं कि *उपनिषदों का ब्रह्म आध्यात्मिक भाव (अमूर्त) नहीं है अनिर्दिष्ट सत्ता भी नहीं है* न ही मौन की शून्यता है। यह अत्यन्त पूर्ण और सबसे अधिक यथार्थसत्ता है। यह एक जीवित ऊर्जस्वी एवं सक्रिय आत्मा है जो यथार्थसत्ता की अनन्त और नानाविध आकृतियों का उद्गम एवं धारणकर्ता है। विभिन्नताएं मायास्वरूप में विलुप्त हो जाने के स्थान में उच्चतम सत्ता में परिवर्तित हो जाती हैं। ओम् सनातन अक्षर जिसका प्राय ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए प्रयोग किया जाता है अपना मूर्तरूप अभिव्यक्त करता है।[1] यह सर्वोपरि आत्मा का उपलक्षण है सबसे ऊंचे (प्रकृष्ट) का प्रतीक है।[2] ओम् ठोस मूर्तता एवं पूर्णता का प्रतीक है। परवर्ती साहित्य में यह सर्वोपरि आत्मा के तीन मुख्य लक्षणों को व्यक्त करता है जिन्हें ब्रह्मा विष्णु और महेश नाम से मूर्तरूप दिया गया है। अ विश्व का स्रष्टा ब्रह्मा है 'उ' रक्षक विष्णु का उपलक्षण है और म शिव अर्थात संहारकर्ता है।[3] ईश उपनिषद हमें *ब्रह्म की उपासना दोनों प्रकार की अर्थात अभिव्यक्त* और अव्यक्त अवस्थाओं में करने की आज्ञा देती है।[4] उपनिषदें जिस एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करती हैं वह केवल भावात्मक रूप नहीं है। उसमें पृथक्त्व है किन्तु तादात्म्य भी है। ब्रह्म अनन्त है, इन अर्थों में नहीं कि सान्त पदार्थ उससे बाहर हैं किन्तु इन अर्थों में है कि वह समस्त सान्त पदार्थों की आधारभित्ति है। वह नित्य है इन अर्थों में नहीं कि वह एक ऐसी वस्तु है जो पीछे और सब काल से परे है—मानो दो भिन्न अवस्थाएं हों एक कालवाची और दूसरी नित्य जिसमें से एक दूसरी से उन्नत है परन्तु इन अर्थों में नित्य है कि वह उन समस्त पदार्थों में जिन्हें काल व्याप सकता है वही कालातीत (अकालपुरुष) है। परमसत्ता न तो अनन्त है और न ही सान्त है आत्मा अथवा उसका साक्षात्कार एक जीवन अथवा इसकी नानाविध अभिव्यक्तियां हैं किन्तु वह यथार्थसत्ता है *जिसके अन्तर्गत आत्मा है और जो आत्मा से भी ऊपर सर्वातिशायी है* आत्मा भी है इसका साक्षात्कार भी है जीवन और उसकी अभिव्यक्ति भी है। यह एक ऐसा आध्यात्मिक वसन्त है जो प्रस्फुटित होता है फलता फूलता है और अपने आपको अनगिनत सीमित केन्द्रों में विभक्त करता है। ब्रह्म शब्द का अर्थ है विकास, और यह जीवन गति एवं उन्नति का द्योतक है किन्तु मृत्यु निश्चेष्टता अथवा स्थिरता का द्योतक बिलकुल नहीं। परमार्थसत्ता को सत् चित् और आनन्दरूप अर्थात स्थिति चेतना एवं परमसुख के रूप में वर्णन किया जाता है। ज्ञान सामर्थ्य और क्रिया उसके स्वरूप से हैं। यह स्वयंभू है।[5] तैत्तिरीय उपनिषद कहती है कि ब्रह्म सत् चित्स्वरूप और अनन्त है। यह एक भावात्मक यथार्थसत्ता है वह पूर्ण है यह भी पूर्ण है (पूर्णमदः पूर्णमिदम्)।[6] अब

१ ओम् नित्यसत्ता का उपलक्षण मात्र है उसी प्रकार जैसे कि एक मूर्ति विष्णु का उपलक्षण है— प्रतिमेव विष्णोः (तैत्तिरीय उपनिषद् पर शांकर भाष्य १ ८)

२ मनु २ ८३ और भी देखिए तैत्तिरीय उपनिषद् १ ७ कठ उपनिषद् १ २ १५-१६।

३ देखिए छान्दोग्य उपनिषद् १ ३ ६-७ बृहदारण्यक उप० २ ३ १ और मैत्री ६,४-५।

४ उभयं सह अर्थात् दोनों को साथ साथ।

५ स्वयम्भूः ईशा ७।

६ बृहदारण्यक, ५ १ १।

यह प्रत्यक्ष है कि परमसत्ता विचार नही है, अथवा गत्यात्मक शक्ति नही है, अथवा एकदम अनासक्त बाह्य वस्तु भी नही है, किन्तु सारभूत तत्त्व एव स्थिति का, आदर्श एव यथार्थ का, ज्ञान, प्रेम और सौन्दर्य का एक जीवित समष्टिरूप ऐक्य है। किन्तु जैसाकि हमने पहले भी कहा है, इसका वर्णन हम 'नेति नेति' के रूप मे ही कर सकते है, यद्यपि स्वय मे यह एक अभावात्मक अनिर्दिष्ट तत्त्व नही है।

१०

प्रज्ञा और अन्तर्दृष्टि

बुद्धि का लक्ष्य उस ऐक्यरूप वस्तु की खोज करना है जिसमे विषयी एव विषय दोनो एकसाथ समाविष्ट हो। तर्क एव व्यावहारिक जीवन दोनो का ही क्रियात्मक सिद्धान्त है कि इस प्रकार की एक ऐक्यरूप वस्तु है। उसके घटको का पता लगाना दार्शनिक प्रयास का उद्देश्य है। किन्तु बुद्धि के अपने अन्दर उस पूर्ण को ग्रहण करने की योग्यता के अभाव के कारण यह प्रयास असफल रहकर हमे निराशा की ओर अग्रसर करता है। बुद्धि नाना प्रकार के प्रतीको एव रूढ सिद्धान्तो, सम्प्रदायो और रूढिगत परम्पराओ के कारण परमसत्ता को ग्रहण करने के लिए अपने-आपमे अपर्याप्त है, "जिस तक न पहुचकर वाणी और मन दोनो वापस लौट आते हैं (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह)"[१]। "दृष्टि वहा नही पहुच सकती, न वाणी और न मन ही पहुच पाते है। हम नही जानते। हम यह भी नही समझते कि कैसे कोई इसके विषय मे शिक्षा दे सकता है।"[२] परमसत्ता को इस प्रकार के प्रमेय पदार्थ के रूप मे भी नही उपस्थित किया जा सकता कि बुद्धि उसे ग्रहण कर सके। "वह उसे कैसे जाने जिसकी शक्ति से वह सबको जानता है? हे प्रिय! वह अपने-आपको, जो ज्ञाता है, कैसे जान सके।"[३] विषयी का विषय के रूप मे ज्ञान करना असम्भव है। यह "देखा नही जाता किन्तु देखनेवाला है, सुना नही जाता किन्तु सुननेवाला है, प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नही है किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान करनेवाला है, अज्ञात है किन्तु जाननेवाला है।"[४] आत्मा का अभाव केवल इसीलिए कि वह प्रमेय नही बन सकता, नही कहा जा सकता। यद्यपि मानव की बौद्धिक योग्यता इसे प्रत्यक्षरूप से नही जान सकती तो भी उन सबकी सत्ता ही न होती यदि आत्मा की सत्ता न होती।[५] "वह जिसका चिन्तन मानव के मन द्वारा नही हो सकता किन्तु जिसकी प्रेरणा से ही मन के अन्दर चिन्तन करने की शक्ति आती है केवल उसीको ब्रह्म करके जानो।"[६] बुद्धि चूकि देश, काल, कारण और शक्ति आदि के विभागो की सीमा के अन्दर रहकर कार्य करती है,

१. तैत्तिरीय, २.४।
२ केन, २ ३, मुण्डक, २ ' १; देखिए कठ, १ ३, १०।
३. बृहदारण्यक, २ ४, १३, और भी देखिए ३ ' ४, २।
४ बृहदारण्यक ३ ७, २३, देखिए ३ : ८, ११।
५ देखिए, बृहदारण्यक, ३ ' ८, ११, २ ४, १४; ४ ' ५, १५।
६ केनोपनिषद्।

इसलिए ये हमें प्रतिरोध एवं असत्याभास में लाकर फंसा देते हैं। या तो हम प्राणि-कारण की कल्पना करके चलें, और उस अवस्था में कारणकार्यभाव व्यापक सिद्धान्त नहीं रह सकता अन्यथा हमें वापस लौटकर कहीं ठहरने को जगह नहीं मिलेगी। इस जटिल समस्या का समाधान केवल बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता। जहां परम को जानने के प्रश्न उठेंगे, बुद्धि अपने को वहां साधनहीन और कोरा पाएगी यह उसे स्वीकार करना ही होगा। देवता इन्द्र के अन्दर हैं, इन्द्र पिता ईश्वर के अन्दर है और पिता ईश्वर ब्रह्म में है किन्तु ब्रह्म किसके अन्दर है? अब याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं अब आगे अधिक प्रश्न मत कीजिए।[1] हमारे बौद्धिक विभाग केवल इन्द्रियगम्य भौतिक जगत की व्याख्या देश काल और कारणों से आबद्ध आकृतियों के रूप में कर सकते हैं किन्तु यथार्थसत्ता इन सबसे परे है। देश को यह अपने अन्दर धारण करती है किन्तु स्वयं देश की सीमा में बद्ध नहीं काल को अपने अन्दर धारण करते हुए भी स्वयं काल की सीमा में बद्ध नहीं यह काल से ऊपर है प्रकृति की कारण कार्य के नियम से बद्ध व्यवस्था को अपने अन्दर धारण करती अवश्य है किन्तु यह स्वयं कार्य-कारण नियम के अधीन नहीं है। स्वयंसतस्वरूप ब्रह्म काल देश एवं कारण से सर्वथा स्वतन्त्र है। उपनिषदों में इसकी काल से स्वतन्त्रता का प्रतिपादन कुछ असस्कृत ढंग से किया गया है। ब्रह्म को सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक, अनन्त रूप में महान और अनन्त रूप में लघु कहा गया है।[2] हे गार्गी वह जो अन्तरिक्ष से ऊपर है और वह जो पृथ्वी के भी नीचे है वह जिसे मनुष्य भूत वर्तमान और भविष्य कहते हैं, उस सबकी रचना अन्दर और बाहर देश के अन्तर्गत है। किन्तु फिर इस देश की रचना भीतर और बाहर किसके अन्दर हुई? हे गार्गी! सत्य के अन्दर इस अविनाशी के अन्दर सब देश अन्दर और बाहर गुथा हुआ है।[3] ब्रह्म का वर्णन किया गया है कि वह काल की मर्यादा से स्वतन्त्र है अर्थात् वह नित्य है जिसका न आदि है न अन्त है अथवा एक तात्कालिक अवधि है जिसे एक नियमित काल-व्यवधान की आवश्यकता नहीं है। वह भूत और भविष्यत के विचार से मुक्त है।[4] और सबका प्रभु है। जिसके चरणों में काल लोटता रहता है।[5] कारण-सम्बन्धी सम्बन्धों से सर्वथा स्वतन्त्रता पर बल देते समय ब्रह्म का एक अचल सत्ता के रूप में निरूपण किया गया है जो प्रादुर्भाव होने के समस्त नियमों से पूर्ण स्वतन्त्र है क्योंकि कारणकार्यभाव का व्यापक नियम वहीं लागू होता है। ब्रह्म की कारणकार्यभावात्मक सम्बन्धों से स्वतन्त्रता होने की इस प्रकार की स्थापना से ब्रह्म की नितान्त स्वयंसत्ता के भाव एवं उसकी अपरिवर्तनीय सहिष्णुता का समर्थन होता है और इससे अनेक प्रकार की मिथ्या धारणाएं उत्पन्न होती हैं। संसार में जितने भी परिवर्तन होते हैं कारणकार्यभाव के नियम की ही वजह से होते हैं। किन्तु ब्रह्म इस नियम के अधीन नहीं है। ब्रह्म के अन्दर कोई परिवर्तन नहीं होता यद्यपि कुल परिवर्तन उसके आश्रित हैं। दूसरा कोई उससे बाहर नहीं है और न ही उससे भिन्नप्रकृति है। ब्रह्म के

१ बृहदारण्यक ३ ६ १।
२ बृहदारण्यक ३ ८ ७ और भी देखें ४ २ ४ छान्दोग्य ३ १४ ३ और ८ २४,७।
३ कठ उपनिषद् २ १४।
४ बृहदारण्यक ४ ४ १५।　　　　　　　　　　५ ४ ४, १६, १७।

अन्दर सब प्रकार के द्वैतभाव को मिटा देना है। समस्त देशगत सामीप्य, कालजनित पूर्वापर-क्रम एवं सम्बन्धों की परस्पर-निर्भरता इसके आश्रित है। इस गम्भीर दार्शनिक संश्लेषण की प्राप्ति हमें नहीं हो सकती, जब तक कि हम बुद्धि के क्षेत्र में ही अटके रहते हैं। उपनिषदों का कभी-कभी दावा है कि विचार के द्वारा हमें उस परमसत्ता का अपूर्ण एवं आंशिक चित्र ही मिलता है, अन्य समयों में वे यहां तक दावा करती हैं कि विचार के द्वारा व्यवस्थित ढंग से हम यथार्थसत्ता तक पहुंच ही नहीं सकते। क्योंकि विचार (बुद्धि) सम्बन्धों के ऊपर आश्रित है और इसलिए वह सम्बन्धविहीन परमसत्ता को ग्रहण नहीं कर सकता। किन्तु इस पृथ्वी पर ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो देश एवं काल में अवस्थित होकर उस परमसत्ता को अभिव्यक्त न करता हो। कोई भी ज्ञान नितान्त असत्य नहीं है, यद्यपि नितान्त सत्य भी कोई ज्ञान नहीं है। एक सुव्यवस्थित संपूर्ण सत्ता का भाव सत्य के अत्यधिक निकट है यद्यपि यह भी पूर्णरूप में सत्य नहीं है क्योंकि इसका स्वरूप सापेक्ष जो है। यह परमसत्ता का सबसे उच्च स्वरूप है जहां तक मानवीय मस्तिष्क की पहुंच हो सकती है। केवल समझ लेने के भाव से भी बुद्धि, जिसे कि काल, देश एवं कारण रूपी परिमित विभागों की सहायता से कार्य करना पड़ता है, अपर्याप्त है। तर्क भी असफल रहता है, यद्यपि यह हमें समझने की कोटि में आगे अवश्य ले जाता है। यह हमें यथार्थसत्ता को प्राप्त नहीं करा सकता, जो विचारमात्र नहीं किन्तु आत्मस्वरूप है। परमसत्ता न सत्य है और न मिथ्या है। हमारे अपने निष्कर्ष उस परमसत्ता के विषय में सत्य अथवा मिथ्या हो सकते हैं क्योंकि वे विचार और परमसत्ता के मध्य विद्यमान द्वैत का संकेत करते हैं। यदि हम उस परमसत्ता तक पहुंचना चाहते हैं जहां मनुष्य का अस्तित्व और दैवीय सत्ता मिलकर एकाकार हो जाते हैं तो उसके लिए हमें विचार से दूर जाना होगा, विरोधी मतों के परस्पर संघर्ष से भी दूर, और ऐसे सत्याभासों से भी दूर जो हमारे सामने उपस्थित होते हैं जब हम अमूर्त एवं केवल भावात्मक विचार के सीमित विभागों द्वारा अपना कार्य सम्पादन करते हैं। केवल उसी अवस्था में जबकि विचार पूर्णता को प्राप्त होता है, हम अन्तर्दृष्टि द्वारा परमसत्ता की झलक को ग्रहण कर सकते हैं। संसार-भर के सब ब्रह्मसाक्षात्कारवादियों ने इस सत्य के ऊपर बल दिया है। पास्कल ने ईश्वर की अज्ञेयता का विस्तार से निरूपण किया है। और बोस्युएट हमें आशा दिलाते हुए कहता है कि पथविच्युतियों में भी हमें निराश न होना चाहिए, प्रत्युत विश्वास के साथ उन सबको एक प्रकार की स्वर्ण-शृङ्खलाओं के समान समझना चाहिए जो मरणधर्मा मनुष्य की दृष्टि से परे ईश्वर के राजसिंहासन पर जाकर मिल जाती हैं।

उपनिषदों के अनुसार एक उच्चतर शक्ति है जो हमें इस केन्द्रीय आध्यात्मिक सत्ता को ग्रहण करने योग्य बनाती है। आत्मिक विषयों का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि से ही होना चाहिए। योग की प्रक्रिया एक क्रियात्मक अनुशासन है जो इसकी प्राप्ति के मार्ग की ओर निर्देश करती है। मनुष्य के अन्दर दैवीय अन्तर्दृष्टि की योग्यता है, जिसे यौगिक अन्तर्दृष्टि कहते हैं, जिसके द्वारा वह बुद्धिगत भेदों से ऊपर उठकर तर्क की पहेली को बुझा लेता है। विशिष्ट आत्माएं विचार के उच्च शिखर तक पहुंचकर आभ्यन्तर निरीक्षण द्वारा परमार्थसत्ता को पा लेती हैं। इस आध्यात्मिक सिद्धि के द्वारा "जो श्रवण-

गोचर नहीं था वह श्रवणगोचर हो जाता है जो अप्रत्यक्ष था वह प्रत्यक्ष हो जाता है और जो अज्ञात था वह ज्ञात हो जाता है।[1] जिस क्षण हम नक स ऊपर उठकर धार्मिक जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ करते हैं बुद्धि की सब समस्याएं स्वय अपना समाधान आप म कर लेती हैं। इसीलिए उपनिषदें हम आदेश देती हैं कि हम बुद्धि एव आत्मचेतना सम्बन्धी अपने गव को एक ओर रखकर एक शिशु के समान नवीन एव निरुपाधिक दृष्टिकोण से सत्य को प्राप्त करना चाहिए। ब्राह्मण को विद्या को छोडकर एक बच्चे की भाति शुद्ध चित्त बन जाना चाहिए।[2] बिना पुरुष एक छोटे बच्चे का रूप धारण किए कोई मनुष्य ईश्वर के राज्य म प्रवेश नहीं पा सकेगा। निश्छल और शुद्धचेता बडे म बडे सत्य को प्राप्त कर लेते हैं जिन्हे व्यवहारकुशल बुद्धि सिद्ध नहीं कर सकती। बहुत शब्दों (वाग्जाल) के पीछे नहीं पडना चाहिए क्योकि उसमे व्यर्थ म वाणी को श्रम करना पडता है।[3] अध्ययन से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती मेधा से भी नहीं और पुस्तकों के बहुत अधिक ज्ञान से भी नहीं।[4] इसे योगी लोग आभ्यन्तर ज्योति के प्रकाश के क्षणों म प्राप्त करते हैं।[5] यह अव्यवहित ज्ञान अथवा निकटतम तात्कालिक अन्तर्दृष्टि है। योगी लोगों के अनुभव म आत्मा अपने को सर्वोपरि सत्ता के सान्निध्य म उपस्थित पाती है। यह अभिन्नता चिन्तन और परमसत्ता के सुख म मग्न हो जाती है। उसके समीप पहुच कर यह अपने अस्तित्व को भी भूल जाती है। इससे ऊचा और कुछ नहीं है और स्व वस्तुए इसीके अन्दर सन्निविष्ट हैं। न तब किसी पाप का डर रहता होता किसी असत्य का भय नहीं होता अपितु यह पूर्णरूप से ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त करती है। इस प्रकार की आध्यात्मिक झलक हम सब प्रकार की कामना एव दुःख से मुक्त करके शान्ति प्रदान करती है। आत्मा अपने इस उच्चपदारोपण म उसके साथ जिसको वह प्रत्यक्ष कर रही है अपनी एकात्मता का अनुभव करती है। प्लाटिनस कहता है, "ईश्वर के दर्शन म जो द्रष्टा है वह तक नहीं है किन्तु तर्क से बडा एव तर्क के पूर्व की अवस्था है जिसकी धारणा तर्क को भी पहले से करनी पडती है और वह इस दर्शन का विषय है। वह जो उस समय अपने आपको देखता है जब वह देखता है अपने को एक सरल प्राणी के रूप म देखेगा और ऐसे ही रूप म अपने साथ भी संयुक्त होगा और इसके अन्दर अनुभव करेगा कि मैं भी तद्रूप हो गया हू। यदि वस्तुत इस आगे को द्रष्टा और दृश्य के मध्य विवेचन करना सम्भव हो सके और दृढतापूर्वक यह निश्चितरूप से न कहा जा सके कि दोनो एक ही हैं तो हम यह भी न कहना चाहिए कि वह देखेगा वरन् वह जिसे देखेगा वही हो जाएगा। वह उसके साथ घनिष्ठ रूप से संयुक्त है और उसके साथ एकाकार है जिस प्रकार दो समकेन्द्रिक वृत्त होते हैं। जब व एक दूसरे के अन्दर

१ छान्दोग्य ६ १३ और भी देखिए बृहदारण्यक २ ४ ५।

२ मुण्डक ३ १ ८।

३ बृहदारण्यक ३ ५ १। ड्यूसन ए न्फन म अनुवाद को उद्धृत किया है देखिए पृ० १४८ मूलर इसका अनुवाद इस प्रकार करते हैं अध्ययन को समाप्त करके ब्राह्मण को बच्चे की शक्ति का आश्रय लेना चाहिए। इसका आधार बाल्य शब्द पर है, बल शब्द से ... के अध्ययन पर है। तस्माद् ब्राह्मण पाण्डित्य निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।

४ बृहदारण्यक ४ ४ २१। ५ कठोपनिषद् २ २८।

समाविष्ट होते हैं तो एक है और अलग किए जाने पर ही वे दो भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है।"[1] मानवीय मानस की सब महत्त्वाकाक्षाए, इसकी बौद्धिक मागे, इसकी मनोभाव-सम्बन्धी आकाक्षाए एव सकल्परूप आदर्श ये सब वहा चरितार्थ हो जाते है। मनुष्य के पुरुषार्थ का यह सर्वोपरि लक्ष्य है, अर्थात् वैयक्तिक जीवन की समाप्ति। "यह उसकी परमगति है, यह उसकी परमसम्पत्ति है, यह उसका परमलोक है, और यह उसका परम-आनन्द है।"[2] एक स्तर पर यह प्रत्यक्ष अनुभव के ही समान है, किन्तु अन्य प्रत्यक्षज्ञान से इसका इतना भेद है कि यह विषयगत प्रत्यक्ष ज्ञान नही है जिसकी यथार्थता को अन्य लोग परख सके। अनुमानजन्य ज्ञान की भाति इसे अन्यो को नही दिया जा सकता। इसकी औपचारिकरूप से व्याख्या करना असम्भव है। यौगिक अन्तर्दृष्टि मूकरूप अव्यक्त है (जिसे वाणी द्वारा प्रकाशित नही किया जा सकता)। जिस प्रकार एक जन्मान्ध को हम इन्द्रधनुष की सुन्दरता नही समझा सकते, न ही सूर्यास्त का सौन्दर्य समझा सकते है, ठीक उसी प्रकार एक ऐसे लौकिक व्यक्ति को जिसे योगसमाधि का अनुभव नही है, योगी के साक्षात्कार की व्याख्या करके नही समझाया जा सकता। यौगिक अनुभव का अन्तिम सन्देश यह है कि *"ईश्वर ने यह मेरे मस्तिष्क मे डाला और मै इसे तुम्हारे मस्तिष्क मे नही डाल सकता।"* केवल इसी कारण कि इस अनुभव को दूसरे को नही दिया जा सकता, इसका प्रामाण्य ज्ञान के अन्यान्य प्रकारो से न्यून नही हो जाता। हम इस अनुभव का वर्णन केवल रूपक अलकारो द्वारा ही कर सकते है, क्योकि वह हमे चौंधिया देनेवाला एव मूक बना देनेवाला है। इस अनिर्वचनीय का पूरा-पूरा विवरण नही दिया जा सकता। राजा वाष्कलि ने जब बाह्व से कहा कि वह ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या करे तो वह मौन रहा। जब राजा ने अपने निवेदन को फिर दोहराया तो उस महात्मा ने उत्तर दिया, "मै तुम्हे इसे बतलाता हू किन्तु तुम इसे समझते नही, 'शान्तोऽयमात्मा' यह आत्मा शान्ति का स्वरूप है, निश्चल।"[3] बुद्धि द्वारा प्रस्तुत किसी भी परिभाषा के लिए हम उत्तर मे केवल यही कहेगे कि यह ठीक नही है, यह उपयुक्त नही है।[4] नकारात्मक परिभाषाए प्रकट करती है कि किस प्रकार सकारात्मक गुण, जो हमे ज्ञात है, उच्चतम सत्ता के विषय मे अपर्याप्त ठहरते है। "उसको मापना कठिन है जिसका गौरव वस्तुत महान है।"[5] ब्रह्म के साथ परस्पर-विरोधी गुणो का प्रयोग यह प्रकट करता है कि जब तक हम बुद्धि से सम्बन्धित तर्कशास्त्र का प्रयोग करते है, हम नकारात्मक भावो का प्रयोग करने के लिए विवश होते है यद्यपि ब्रह्म का साक्षात् जब अन्तर्दृष्टि द्वारा होता है तो कितने ही सकारात्मक लक्षण अभिव्यक्त होते है। "यह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है, महत् से भी महत्तर है।"[6] "यह गति

१ इंगे : 'प्लाटिनस', खण्ड २ : पृष्ठ १४०।

२. "एषास्य परमा गति', एषास्य परमा सम्पत्, एषोऽस्य परमो लोक, एषोऽस्य परम आनन्द।" (बृहदारण्यक, ४ ३, ३२)।

३. शाकर भाष्य, ३ : २, १७।

४ देखें बृहदारण्यक, ३ ६, २६, ४ २, ४; ४ ४, २२, ४ : ५, १५, २ ३, ६, कठ, ३ : १५; प्रश्न, ४ : १०; छान्दोग्य, ७ २४, १, मुण्डक, १ : १, ७; २ : १, २; ३ : १, ७-८।

५. यजुर्वेद।

६. श्वेताश्वतर, ३ . २०, केन १ ३।

गति करता है, यह गति नहीं भी करता, यह दूर भी है और समीप भी है, यह इन सबके अन्तर्निविष्ट है और इन सबके बाहर भी है।[1] असंगत प्रतीत होनेवाली ये परिभाषाएं विचार की विषम असम्यक्ता की ताणण रही हैं।

प्रत्येक प्रकार के आनुभविक ज्ञान में परमसत्ता का संकेत मिलता है, क्योंकि संसार का प्रत्येक भौतिक पदार्थ उस परमसत्ता के ऊपर आश्रित है, यद्यपि कोई भी पदार्थ पूर्णरूप में उसकी अभिव्यक्ति नहीं करता। इस प्रकार वे लोग जो समझते हैं कि वे परमात्मा को नहीं जानते उसे जानते हैं, यद्यपि अपूर्णरूप में, और वे लोग जो समझते हैं कि वे परमसत्ता को जानते हैं उसे निश्चय ही नहीं जानते। यह एक प्रकार का आधा ज्ञान और आधा अज्ञान है। केन उपनिषद् में कहा है, "वह उन लोगों के लिए अज्ञात है जो जानते हैं और उनके लिए ज्ञात है जो नहीं जानते।"[2] उपनिषदों का अभिप्राय यह नहीं है कि बुद्धि एक अनुपयोगी पथप्रदर्शक है। बुद्धि द्वारा प्राप्त यथार्थसत्ता का विवरण अयथार्थ नहीं है। बुद्धि वहां असफल होती है जहां यह उक्त सत्ता को उसके पूर्णरूप में ग्रहण करने का प्रयत्न करती है। अन्य प्रत्येक स्थान पर इसे सफलता प्राप्त होती है। बुद्धि जिस वस्तु की गवेषणा करती है वह मिथ्या नहीं है, यद्यपि वह परमरूप से यथार्थ सत्य नहीं है। कारण और कार्य में, पदार्थ और उसके गुण में, पाप और पुण्य में, सत्य एवं भ्रांति में, विषयी और विषय में जो सत्याभास प्रतीत होते हैं वे मनुष्य की परस्पर सम्बद्ध परिभाषाओं को पृथक्-पृथक् करके देखने की प्रवृत्ति के कारण हैं। किन्ते की आत्म एवं अनात्म सम्बन्धी दार्शनिक समस्या, काट के सत्याभास, ह्यूम का घटनाओं का नियमानुकूल साथ विरोध करने के अभनिरपेक्ष विसंवाद—इन सबका समाधान हो जा सकता है यदि हम इस बात को स्वीकार कर लें कि परस्पर विरोधी अवयव परस्पर एक दूसरे के पूरक अंग हैं, जिन सबका आधार एक ही सामान्य तत्त्व है। बुद्धि के निषेध की आवश्यकता नहीं, किन्तु उसकी अनुपूर्ति की आवश्यकता है। अन्तर्दृष्टि के ऊपर जिस दर्शन पद्धति का आधार हो, जरूरी नहीं कि वह तर्क एवं बुद्धि के विपरीत ही हो। जहां बुद्धि का प्रवेश सम्भव नहीं है ऐसे अन्धकारमय स्थानों में अन्तर्दृष्टि प्रकाश डाल सकती है। यौगिक अन्तर्दृष्टि से प्राप्त निष्कर्षों को तार्किक विश्लेषण के अधीन करने की आवश्यकता है। और केवल यही प्रक्रिया ऐसी है कि परस्पर संशोधन एवं पूर्ति के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति सात्त्विक एवं सन्तुलित जीवन बिता सकता है। यदि अन्तर्दृष्टि की सहायता न ली जाए तो बुद्धि द्वारा प्राप्त किए गए निष्कर्ष नीरस, निस्सार, अधूरे एवं आंशिक ही रहेंगे। दूसरी ओर नैसर्गिक अन्तर्दृष्टि के निष्कर्ष विचारशून्य, मूक, अन्धकारावृत एवं अस्पष्ट प्रतीत होंगे जब तक कि उन्हें बुद्धि का समर्थन प्राप्त न हो। बुद्धि के आनन्द की प्राप्ति अन्तर्दृष्टि के अनुभव द्वारा होती है, क्योंकि सर्वोपरि परब्रह्म के अन्दर समस्त विरोधी विषयों का समन्वय हो जाता है। केवल वैज्ञानिक ज्ञान और अन्तर्दृष्टि के अनुभव के साहचर्य से ही हमारे यथार्थ अन्तर्ज्ञान की वृद्धि हो सकती है। अकेला तर्क हमें इस क्षेत्र में सहायता नहीं कर सकता।[3] यदि हम बुद्धि द्वारा दी गई अन्तिम

१ ईशोपनिषद्, अध्याय ५।
२ २, ३।
३ कठोपनिषद् २ : ९।

व्यवस्था से ही सन्तोष करें तो उस अवस्था में बहुत्व एवं व्यक्तियों के स्वातन्त्र्य को ही दर्शनशास्त्र का अन्तिम निर्णय समझना होगा। प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष विश्व का अन्तिम लक्ष्य होगा। अमूर्त भावात्मक बुद्धि हमें मिथ्या दर्शन एवं अनुचित नैतिक मान्यताओं की ओर ले जाएगी। इस प्रकार के ज्ञान में ब्रह्म आवृत रहेगा।[1] एकदम चिन्तन में न जाने की स्थिति सम्भवतः इस प्रकार के बुद्धिवाद में अधिक उत्तम है। "वे सब जो उस वस्तु की उपासना करते हैं जो अविद्या है, प्रगाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं; और वे जो विद्या की उपासना करते हैं वे उससे भी प्रगाढ़तर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं।"[2] बुद्धि द्वारा प्राप्त विविधता का ज्ञान, जिसके साथ आत्मदर्शन नहीं है, मिथ्या विश्वास अथवा अज्ञान से भी अधिक बुरा है। जीवन एवं तर्क की असंगतियों एवं अन्तर्विरोधों को इमर्सन द्वारा वर्णित ब्रह्मा के अन्दर समवेत करना ही होगा।

> जो मुझे एकदम नहीं गिनते उनकी गणना भ्रान्तिपूर्ण है;
> जब मेरा ध्यान करते हैं तो उनकी उड़ान सम्भव हो सकती है
> क्योंकि मैं ही पंख हूं जिनके सहारे वे उड़ सकते हैं,
> संशयकर्ता भी मैं हूं और संशय भी मैं ही हूं।

वह एक ही एकमात्र नित्य आत्मा है जो इस संसार की नानाविध सम्पत्ति को उसके सब मनोवेगों, असंगत विरोधाभासों, भक्तिपूर्ण भावों, सत्यों एवं असंगतियों के रहते हुए भी अभिव्यक्त करता है, अपने अन्दर ग्रहण करता है, एकीभूत करता है, और उसका सुखोपभोग भी करता है। दुर्बलात्मा व्यक्ति इस सर्वात्मरूप यथार्थसत्ता से अनभिज्ञ होने के कारण बौद्धिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी एवं नैतिक संघर्ष में क्लान्त एवं निराश हो जाते हैं। किन्तु उन्हें इस सत्य से उत्साहवर्धक प्रेरणा लेनी चाहिए कि सामंजस्य का सुखानुभव परस्पर-विरोधी अवयवों के संघर्ष के अन्दर से ही उत्पन्न होता है। प्रतीयमान अन्तर्विरोध आत्मिक जीवन से सम्बद्ध है। वही एकमात्र सत्ता जीवन और विचारधारा के समस्त विरोधों में अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त करती है, जो ह्यूम की जटिल समस्याएं, कांट की समस्याएं एवं प्रत्यक्षवाद के अन्तर्द्वन्द्व और सिद्धान्त-परिकल्पना की रूढ़ियां हैं।

तर्क की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि पर, एवं विज्ञान की अपेक्षा आनन्द पर अधिक बल देने के कारण उपनिषदें अद्वैतवाद की समर्थक प्रतीत होती हैं, जिनका वर्णन हम अपनी प्रस्तावना में कर आए हैं। जब तक हम तर्कसंगत विचारों को लेकर यथार्थसत्ता के ऊपरी पृष्ठ पर ही स्पर्श करते रहेंगे, हम आत्मा की गहराई में नहीं पैठ सकेंगे। आनन्द के अन्दर मनुष्य को यथार्थसत्ता का सबसे अधिक और अगाधतम स्वरूप उपलब्ध होता है। मानवीय अनुभव द्वारा जिस गहराई का अभी तक अनुसन्धान नहीं हो सका, अर्थात् आनन्दमय, उसीके अन्दर यथार्थसत्ता की सामग्री निविष्ट है। तर्कपद्धतियां जीवन रूपी प्रचुर मूल्यवान खान की गहराई में नीचे उतरने की उपेक्षा करती हैं। जो कुछ विज्ञान का विषय हो गया वह अयथार्थ है यद्यपि इसका झुकाव व्यापक एवं पदार्थनिष्ठ होने की ओर

१. "मेनया पिहित" (अर्थात्, जो बुद्धि के आवरण से प्रत्यक्ष नहीं होता), तैत्तिरीय उपनिषद्।
२. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ ४-१०, देखें ईशोपनिषद, अध्याय ६।

है। और यथार्थ में आत्मनिष्ठ या ।है जो किसी प्रकार की धारणा एवं विभाग के रूप में नहीं परिणत हो सका है। विज्ञान द्वारा हम जिस सुव्यवस्थित पूर्ण तत्त्व पर पहुंचते हैं उसमें ब्रह्म के साथ अभिन्नता पर मोहर लगकर पक्की हो जाती है। अन्तर्दृष्टि भी उसी अभिन्नता (तादात्म्य) को दर्शाती है। इस अभिन्नता के ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने में हम पहले ऊपर ऊपर से इसे नानाविध भेदों में विभक्त करते हैं और फिर उनको मिलाकर एक विशेष पद्धति द्वारा अभिन्नता तक पहुंचते हैं। किन्तु जिस यथार्थता को हमने एक बार भिन्न भिन्न भागों में विभक्त कर लिया उसे फिर से केवल तर्क द्वारा एकत्व को नहीं प्राप्त कराया जा सकता। जैसा कि हम अनेक बार कह चुके हैं तर्क का एक बार का ही प्रयोग तद्रूप सत्ता को पद्धति विशेष में परिणत कर देने के लिए पर्याप्त है।

११

सृष्टि रचना

ऊपर दिए गए हमारे ब्रह्म के स्वरूप सम्बन्धी विवरण से यह स्पष्ट है कि उपनिषदें भौतिकवादी एवं जीव (प्राणशक्ति) वादियों के विकास के सिद्धान्त से सन्तुष्ट नहीं हैं। भौतिक प्रकृति तब तक जीवन एवं चेतना के रूप में विकसित नहीं हो सकती जब तक कि तद्विषयक सामर्थ्य उसके अपने स्वरूप के अन्दर निहित न हो। बाह्य वातावरण के कितने भी प्रयाधान क्यों न लगें व भूतों के संघातमात्र प्रकृति के अन्दर से जीवन को उत्पन्न नहीं कर सकते। आनन्द विकास का अन्तिम परिणाम नहीं हो सकता जब तक कि प्रारम्भ में आनन्द की विद्यमानता स्वीकार न की जाए। परिणामी किसी न किसी अवस्था में चाहे वह अप्रकाशित अवस्था में ही क्यों न हो बराबर उपस्थित रहता है। संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने उपादान एवं अन्तिमरूप के लक्षणों को धारण किए रहता है। एक पुत्र के अन्दर जो कुछ उपलक्षित होता है वह उसके पिता के कारण है और जो कुछ पिता के अन्दर है वह पुत्र के अन्दर भी प्रकट होता है।[1] संसार की प्रत्येक वस्तु केवल व्यक्तिगतरूप में मनुष्य ही नहीं तत्त्वरूप से स्वयं यथार्थसत्ता का स्वरूप है। विकास से तात्पर्य वस्तुओं की अन्तर्गत क्षमताओं की अभिव्यक्ति है जो बाधक शक्तियों के हट जाने से प्रकट हो जाती है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम सांसारिक पदार्थों में विकास की भिन्न भिन्न श्रेणियों का वर्णन करते हैं। दार्शनिक का लक्ष्य उनके अन्दर एकत्व को ढूंढ़ना है। संसार की गणनावस्था का आधार वही एक आत्मा है। निःसन्देह यदि यह आनन्द आकाश में न होता तो कौन जीवन धारण कर सकता था या श्वास ले सकता था?[2] सूर्य ठीक समय पर उदय होता है नक्षत्रगण अपनी कक्षा में घूमते हैं और सब पदार्थ अपनी अपनी व्यवस्था में स्थित हैं और अपने कर्तव्यों में मूर्छित नहीं होते उसी नित्य आत्मा की सत्ता के कारण जो कभी उदय नहीं न कभी सोता है जो सदा सा सीहर से विद्यमान है। सब पदार्थ उसीकी ज्योति से ज्योतिष्मान हैं उसीकी ज्योति से यह सब विश्व प्रकाशित है।[3]

१ ऐतरेय आरण्यक २ १ ८, १।
२ तैत्तिरीय उपनिषद् वल्ली २।
३ मुण्डक २ २, १।

आनन्द ही ससार का आदि एव अन्त है, कार्य भी है कारण भी है, विश्व का मूल है और लक्ष्यस्थान भी है।[1] निमित्त कारण और अन्तिम कारण दोनों एक हैं। प्रकृति, जिससे विकास की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है, एक स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उसने अपने अन्दर उच्चतर आनन्द को छिपा रखा है। क्रमिक उन्नति मे सम्भाव्य कारण से वास्तविक कारण की ओर सक्रमण होता है। प्रकृति के अन्दर जीवन की अपेक्षा स्थितिशक्ति अधिक है, अस्तित्व के क्रमबद्ध नमूनो के अन्दर सबसे पीछे आनेवाले अधिकतर विकसित और आकृतिरूप हैं, जबकि पहले वाले अधिकतर कार्यक्षम किन्तु आकृतिविहीन होते है। अरस्तू के शब्दो मे पूर्वतर प्रकृति है और पीछे की आकृति है। प्रकृति निष्क्रिय तत्त्व है जिसको शक्ति ने निविष्ट करने की अथवा ज्ञान के साथ सपृक्त होने की आवश्यकता होती है। तर्कशास्त्र के वर्णन के अनुसार ईश्वर प्रकृति का निरीक्षक है, जो इसमे गति देता है। यह ईश्वर प्रज्ञान है, अर्थात् अनादिकाल से क्रियाशील आत्मचेतनबुद्धिरूप है।[2] परिवर्तन के समस्त साम्राज्य की जिम्मेदारी उसीके ऊपर है। उपनिषदे पूर्व से विद्यमान प्रकृति को बनाकर उसमे से सृष्टि की रचना करनेवाले एक सर्वशक्तिमान कारीगर को स्वीकार करने मे सकोच अनुभव करती हैं। यदि प्रकृति ईश्वर से बाह्य है, भले ही हम उस प्रकृति को केवल स्थितिशक्ति के रूप मे ही स्वीकार करे, तो हम द्वैतवाद से नही बच सकते, क्योकि ईश्वर प्रकृति के विरोधी स्वभाव वाला रहेगा। इस प्रकार का द्वैतभाव अरस्तू के दर्शनशास्त्र का एक विशिष्ट लक्षण है, जिसमे उन्होने एक सर्व-प्रथम गति देनेवाले को एव सर्वप्रथम प्रकृति को स्वीकार किया है। उपनिषदो के अनुसार आकृति एव प्रकृति दोनो सतत क्रियाशील चेतना और निष्क्रिय अचेतना एक ही अद्वितीय यथार्थसत्ता के स्वरूप हे। प्रकृति स्वय एक देवता है।[3] इसकी प्रथम आकृतियां अर्थात् अग्नि, जल और भूमि भी दैवीय समझी जाती है, क्योकि उन सबमे एक आत्मा के द्वारा ही चैतन्य आता है। सांख्य-प्रतिपादित द्वैतवाद उपनिषदो को रुचिकर नही है। सर्वातिशायी यथार्थसत्ता आधार अथवा व्याख्या है उस सवर्ष की जो आत्मा एव प्रकृति के मध्य चलता है।[4] यह समझा जाता है कि सारे ससार मे एक ही सामान्य प्रयोजन काम करता है, और परिवर्तन की आधारभूमि भी एक समान है। उपनिषदे अनेक अद्भुत और मिथ्या कल्पनाओ के द्वारा सृष्टिरचना का वर्णन करते हुए ससार के एकत्वरूपक सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। ब्रह्म ही इस सृष्टि की एकमात्र व सम्पूर्ण व्याख्या है अर्थात् वही इस सृष्टि का उपादान एव कारण भी है। ससारके विभिन्न सत्त्व उस एक ही विकास-रूप रज्जु मे गाठो के समान हैं, जिसका प्रकृति से प्रारम्भ होकर आनन्द मे अन्त होता है।

"उसने अपने को अपने-आप मे बनाया।"[5] "वह सृष्टि की रचना करता है और फिर उसमे प्रविष्ट होता है।"[6] एक देहधारी ईश्वर प्रजापति ने अकेले रहते-रहते ऊब-

१. मूल और तूल, ऐतरेय आरण्यक, २ . १, ८, १।
२. ऐतरेय आरण्यक, १ ३, ३, ६।
३ छान्दोग्य उपनिषद्, ६ ८, ४–६।
४. प्रश्नोपनिषद्, १ : ३।
५ तैत्तिरीय उपनिषद्, और भी देखें, बृहदारण्यक, २.१, २०, मुण्डक, १ : १, ७, २ . १, १।
६. बृहदारण्यक, ४ ७।

कर प्रत्येक पदार्थ को जो विद्यमान है अपने अन्दर से प्रादुर्भूत किया अथवा यों कहना चाहिए कि उसने अपने को दो भागों में विभक्त किया पुरुष और स्त्री के रूप में।[1] कहीं-कहीं शरीरधारी अथवा उत्पन्न सत्ता को इस रूप में दर्शाया गया है कि वह स्वयं एक भौतिक आधार से उद्भूत हुई। दूसरे अवसरों पर पदार्थों के मौलिक तत्त्व को दर्शाया गया है कि वही अपने को सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त करती है।[2] आत्मा पदार्थों के अन्दर ठीक उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है जैसे कि नमक पानी में घोला जाकर सारे पानी को व्याप्त कर लेता है। आत्मा से पदार्थ ठीक उसी प्रकार प्रादुर्भूत होते हैं कि जैसे कि प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं अथवा जैसे मकड़ी के अन्दर से उसके द्वारा बुने गए जाले के तागे निकलते हैं अथवा जैसे बांसुरी में ध्वनि निकलती है।[3] जहां किसी वस्तु का प्रादुर्भाव होने पर भी उससे उसके उद्भवस्थान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ऐसे सिद्धान्त को भी प्रस्तुत किया गया है। सूर्य से प्रकाश निकलता है फिर भी उससे सूर्य में कोई परिवर्तन नहीं आता। यह उस परवर्ती मत की युक्तियुक्त व्याख्या प्रतीत होती है जिसके अनुसार एक व्यक्ति केवल ब्रह्म का आभास अथवा अभिव्यक्ति ही है। मकड़ी द्वारा जाला बुने जाने, माता द्वारा बच्चे को जन्म देने और वाद्य-यन्त्र द्वारा स्वरों के निकलने के सब दृष्टान्त यह बतलाने के लिए हैं कि किस प्रकार कारण और कार्य का परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। ब्रह्म और जगत में परस्पर तादात्म्य का ही सम्बन्ध है जो इस सब प्रतीक एवं रूपक सम्पदा में प्राप्त होता है। बाह्य जगत कुछ भिन्न नहीं है जो कि आत्मा के साथ-साथ भिन्नरूप में विद्यमान है। सत्ता का परम आधार अर्थात ब्रह्म और इन्द्रियगम्य स्थिति अर्थात जगत—परस्पर भिन्न नहीं हैं। इसलिए जगत का भाव बिना किसी अवशिष्टांश के उस एकमात्र सत्ता ब्रह्म के अन्दर ही सन्निविष्ट मान लेने से, स्वतः विलुप्त हो जा सकता है। उपनिषदों का सिद्धान्त इस विषय में निश्चित है कि ब्रह्म ही एकमात्र समस्त जगत् के जीवन का प्रादुर्भाव-स्थान है और वही एकमात्र सूत्र है जो समस्त बाहुल्य को एकमात्र एकत्व में आबद्ध किए हुए है। बाहुल्य एवं एकत्व की समस्या की व्याख्या करते समय उपनिषदें उपमाओं और प्रतीकों का ही आश्रय लेती हैं किन्तु कोई निश्चित उत्तर नहीं देतीं। ब्रह्म के ज्ञान के अभाव में इन्द्रियगम्य जगत का ब्रह्म के साथ किस प्रकार सम्बन्ध है इस बारे में कोई दृढ़ सिद्धान्त स्थिर नहीं कर सकते। दोनों परस्पर असम्बद्ध नहीं हो सकते क्योंकि जो कुछ भी विद्यमान है वह सब एक ही सत्ता है तो भी हम यह नहीं जानते कि कितने सूक्ष्मरूप में वह एक है। प्रथम पहलू के विषय में कहा जाता है कि ब्रह्म ही जगत का निमित्त एवं उपादान कारण है, जबकि दूसरे पहलू के विषय में यही कहा गया है कि हम इसके बारे में कुछ भी नहीं जानते। यह माया

[1] बृहदारण्यक १, ४, ३। इसमें चीन देश के 'यंग' और 'यिन' के सिद्धान्त से भी मिलता-जुलता सिद्धान्त मिलता है। आदिम सृष्टि के पूर्व विश्वब्रह्माण्ड का भंग इन्हीं दो परस्पर विरोधी तत्त्वों अर्थात् प्रसरण एवं संकुचन द्वारा हुआ। यांग सब प्राणियों में पुरुष शक्ति और यिन स्त्री शक्ति है। इसकी तुलना एम्पिडोक्लीज़ के मत के साथ भी कीजिए।

[2] छान्दोग्य ३, १९।

[3] छान्दोग्य ७, २१, २; ६, २, १; बृहदारण्यक ४, ५; मुण्डकोपनिषद् २।

है, अथवा रहस्यमय है, अथवा अनिर्वचनीय, जैसाकि शकर ने इसे कहा है। हम यह भी नही पूछ सकते कि किस प्रकार सम्बन्धविहीन ब्रह्म इस जगत् के साथ सम्बद्ध है। कल्पना की जाती है कि सम्बन्धो से जकडा हुआ जगत् किसी प्रकार भी ब्रह्म के स्वरूप को परिवर्तित नही कर सकता। दृश्यमान जगत् का विनाश किसी प्रकार का भी ह्रास ब्रह्म के अन्दर नही ला सकता। ब्रह्म सम्बन्धो पर आश्रित इस दृश्यमान जगत् से पृथक् भी रह सकता है और रहता भी है (जैसेकि प्रलयकाल मे)। ब्रह्म की सत्ता के लिए जगत् कोई अनिवार्य घटक नही है। यदि ब्रह्म व जगत् दोनो को अपने अस्तित्व के लिए एक-दूसरे पर निर्भर माना जाएगा तो उससे ब्रह्म मे हीनता का आधान हो जाएगा और वह भी जगत् के समान काल एव प्रयोजन के अधीन होने के कारण जगत् के स्तर पर आ जाएगा। परमब्रह्म के जगत् के साथ सम्बन्ध की व्याख्या करने मे असामर्थ्य प्रकट करने का अर्थ यह न लगाया जाना चाहिए कि परिमित शक्ति वाले मानव ने जो यह धारणा बनाई है कि इस भौतिक जगत् ने ब्रह्म के ऊपर एक प्रकार का परदा हम लोगो के लिए डाल रखा है जिससे हमे ब्रह्म का दर्शन नही होता—उस धारणा का इससे प्रत्याख्यान हो जाता है, क्योकि यह घोषणा की जा चुकी है कि देश, काल और कारण से जकडा हुआ दृश्यमान जगत् ब्रह्म के अन्दर अपना अस्तित्व स्थिर रखता है। सम्बन्धो से जकडे हुए इस जगत् मे परमब्रह्म इतनी दूर तक उपस्थित है कि हम बाह्य जगत् और उसके मध्य के व्यवधान की दूरी को माप सकते है एव उन पदार्थो की श्रेणियो का मूल्याकन भी कर सकते है। ब्रह्म जगत् के अन्दर है यद्यपि जगत्स्वरूप नही है। उपनिषदे इस प्रश्न का उत्तर सीधी तरह से नही देती। नानाविध विवरणो का समन्वय करने का जो एकमात्र उपाय है वह यही है कि हम ब्रह्म की परम स्वात्मपूर्णता को स्वीकार करे। ब्रह्म की परिपूर्णता उपलक्षित करती है कि समस्त लोक-अवस्थाए, एव पक्ष और भूतकाल, वर्तमानकाल एव भविष्यत्काल की सब अभिव्यक्तिया इस ब्रह्म के अन्दर इस प्रकार से यथार्थरूप मे देखी जा सकती हैं कि बिना ब्रह्म के उनकी सत्ता कुछ नही है, यद्यपि वह स्वय अन्य सब विद्यमान पदार्थो से स्वतत्र अपना अस्तित्व रखता है। यदि सही-सही जो दार्शनिक स्थिति है, अर्थात् ब्रह्म व जगत् के मध्य ठीक-ठीक क्या सम्बन्ध है, इसे हम नही जानते, और उसके अनुसार न चलकर हम उसके स्वरूप का वर्णन करने लगे तो यह कहना अधिक सत्य होगा कि जगत् सर्वोपरि परमब्रह्म का स्वयमर्यादित रूप है, अपेक्षा इसके कि हम जगत् को उसकी रचना करके माने। क्योकि परमब्रह्म द्वारा सृष्टि की रचना मानने का उपलक्षित अर्थ होगा कि परमब्रह्म जगत् की रचना के इतिहास मे एक समय और एक स्थिति पर अकेला था। परमब्रह्म को जगद्रूपी कार्य का कालक्रम से पूर्ववर्ती कारण मानना ठीक नहीं है। जगत् का परमब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप मे वर्णन करना अधिक उत्तम है। वस्तुत कई स्थलो पर उपनिषदो ने स्पष्टरूप मे कहा है कि यह जगत् परमब्रह्म का एक प्रकार से विकास है। प्रकृति स्वयस्फूर्ति की एक प्रणाली अथवा अपने-आप विकसित होनेवाला स्वतन्त्र शासन है, क्योकि यह ब्रह्म की शक्ति का सचार है। इस विकास के अन्दर पहला पडाव इन दो अवयवो—अर्थात् स्वयचेतन ब्रह्म और भौतिक प्रकृति की निष्क्रिय कार्यक्षमता—के उदय होने मे निष्पन्न होता है। ब्रह्म की आत्मनिर्भरता परमसत्य है और हम यह नही कह सकते कि ससार इसके साथ किस रूप

में सम्बन्धित है। यदि हम किसी न किसी समाधान अथवा व्याख्या के लिए आग्रह ही करें तो सबसे अधिक सन्तोषजनक व्याख्या जो हो सकती है वह यह है कि हम परमसत्ता को एक प्रकार की भेदसम्पन्न एकता के रूप में अथवा एक पूर्ण सक्रिय आत्मा के रूप में स्वीकार कर लें। इस प्रकार हम आत्म एवं अनात्म तक पहुंचते हैं जो एक दूसरे के ऊपर क्रिया प्रतिक्रिया करते हुए समस्त विश्व का विकास करते हैं।[1] निजाभिव्यक्ति भी परमब्रह्मरूप सत्ता का सारतत्त्व है। क्रियाशीलता जीवन का नियम है। शक्ति सत्ता के अन्दर निहित है। शक्तिरूप माया उस सत्ता के अन्दर संभावित कारण के रूप में अनन्तकाल से वर्तमान है।

उपनिषदों में कहीं भी ऐसा सुझाव नहीं पाया जाता कि यह समस्त परिवर्तनों से युक्त संसार एक निराधार भ्रमजाल है केवल घटनात्मक प्रदर्शनमात्र है अथवा एक छायाओं का पुंज है। उपनिषदों के कर्ताविद् और कविहृदय रचयिता बराबर इस प्राकृतिक जगत के अन्दर जीवनयापन करते रहे और उन्होंने इस जगत से दूर भागने का कभी विचार तक नहीं किया। उपनिषदों की शिक्षा में कहीं भी यह नहीं है कि जीवन एक भयानक दुःस्वप्न है और जगत एक निर्जन एवं शून्य है। इसके विपरीत उनकी दृष्टि में इस सामञ्जस्यपूर्ण जगत में जीवन की धड़कन और स्फुरण के अतिरिक्त ताल और लय के साथ सुमधुर जीवन के चिह्न वर्तमान हैं। यह जगत ईश्वर का अपना ही अभिव्यक्त रूप है। यह सब

[1] स्वर्गीय बाबू भगवानदास ने अपने 'प्रणववाद' नामक अनूदित ग्रन्थ में जो गार्ग्यायण-रचित बताया जाता है उपनिषदों के एक महान वाक्य 'अहं एतन्न' में यह नहीं की उच्च श्रेणी की दार्शनिक व्याख्या की है। अहं अथवा आत्मा स्वयंप्रकाश ईश्वर है। एतत् प्रकृति अर्थात् अनात्म, को कहा गया। इन दोनों के मध्य के सम्बन्ध को 'न' अर्थात् निषेधरूप से कहा है। 'आत्मा अनात्म नहीं है।' ओम् शब्द में 'अ' आत्मा का द्योतक है 'उ' अनात्म का और 'म' दोनों के निषेध का द्योतक है कि ये तीनों एकसाथ मिलकर 'ओम्' में मिल गए हैं जो प्रणव है। जगत् को अहं के निषेधात्मक विचार के रूप में कहा गया है। इसे आत्मा अपने असली स्वरूप में पहुंचने के लिए स्वीकार करता है (जैसा दर्शनशास्त्र में कहा है 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्')। एतत् अवास्तविक छायामात्र है जबकि अहं यथार्थ सत्य है। यह व्याख्या सुकल्पित है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस वस्तु का निषेध किया गया है वह एतत् (अनात्म) जो अहं (आत्मा) की छायामात्र है नहीं है बल्कि केवल एतत् (अनात्म) है जो अहं से सर्वथा भिन्न है। उन अनेक पदार्थों का जो आत्मा से अलग और भिन्न हैं, निषेध है। ब्रह्मरूप यथार्थता के कारण ही यदि इस परिभाषा का प्रयोग युक्तियुक्त समझा जा सके तो कुछ भेद है। भारतीय विचारधारा में यह प्रतीक 'ओम्' कई प्रकार के विषयों को व्यक्त करता है। हर प्रकार के त्रय का प्रतीक ओम् है यथा सत्, असत् और आविर्भूत होना, जन्म, जीवन और मृत्यु, प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा, सत्त्व, रजस् और तमस्, भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्, ब्रह्मा, विष्णु और शिव। ब्रह्मा, विष्णु और शिव का विचार एक ही सर्वोपरि सत्ता के विविध पहलुओं पर बल देता है जिसके अन्दर तीनों स्थितियां निहित हैं। परमेश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के बल से सृष्टि की रचना करता है अथवा दार्शनिक भाषा में एक नित्य विश्व को स्थिर करता है। इस विश्व के स्थिर करनेवाले ईश्वर को ही ब्रह्मा कहते हैं। वह इसे देखता है, इसके विषय में चिन्तन करता है इसको धारण करता है और अपने से भिन्न प्रकृति वाला होने से उससे सुखलाभ करता है। यह परमात्मा विष्णु है। वह फिर इसे अपने साथ एकत्व में वापस ले लेता है क्योंकि वह स्वयं अविलुप्त है उस अवस्था में वह शिव है। वे लोग जिनकी कल्पना में ये तीनों भिन्न भिन्न हैं तीन देहधारी प्रतिनिधियों की कल्पना करते हैं, जिनके तीन भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य हैं।

दृश्यमान भिन्न-भिन्न आकृतिया उसने अपनी प्रसन्नता से निर्माण की है।[1] किन्तु एक प्रचलित मत ऐसा भी है जिसके अनुसार उपनिषदो के सिद्धान्त की अमूर्त एव भावात्मक अद्वैतवाद के साथ समानता वर्णन की जाती है जो इस जगत् के सम्पन्न जीवन को मात्र एक खाली स्वप्न समझता है। किन्तु यदि हम अपने दैनिक जीवन के अनुभव को लेकर चले और उनका विवेचन करे तो हमे दो ही अवयव अन्त मे जाकर मिलते है अर्थात् आत्मचेतन ईश्वर एव अनिर्धारित प्रकृति। बौद्धिक दृष्टि से तो हमे इन दोनो के एक होने का निश्चय है। हमारी कठिनाई केवल इन दोनो के सामजस्य दिखलाने मे है, विषयी और विषय एक ओर, और उपनिषदो मे स्पष्टरूप से जिनका व्याख्यान किया गया है वह ब्रह्म दूसरी ओर। यथार्थसत्ता एक ही है तो भी हमे दो सत्ताए प्रकटरूप मे मिलती है। इसी द्वैत के कारण जगत् मे कुल भिन्नता है। हमारे सामने एक खाली दीवार है। यदि दर्शनशास्त्र साहसी और नेकनियत है तो इसे कहना पडेगा कि इन दोनो के बीच का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। एक ही सत्ता न मालूम कैसे दो मे विभक्त हो जाती है। उपस्थित परिस्थितियो मे यही मत तर्कसम्मत प्रतीत होता है। "सीमाबद्ध केन्द्रो के अन्दर परमसत्ता की अन्तर्निहित रूप मे विद्यमानता और सीमित केन्द्रो की परमसत्ता के अन्दर विद्यमानता—इसे मैने सदा ही अव्याख्येय समझा है "इसको समझना हमारी बुद्धि से परे है।"[2] उक्त दोनो के मध्य सम्बन्ध को उपनिषदो ने अनिर्वचनीय माना है और परवर्ती वेदान्त इसको माया के नाम से पुकारता है।

सन्तोषप्रद व्याख्या न कर सकने मे कठिनाई इसलिए है कि मानवीय मानस अपूर्ण है और उसके प्रयोग मे आनेवाले साधन—अर्थात् भेदक वर्ग—देश, काल और कारण अपर्याप्त भी है और परस्पर-विरोधी भी है। इस जगत् के वे पक्ष जो उन्हे मालूम है, आंशिक है और यथार्थस्वरूप मे सत्य नही है। उन्हे एक प्रकार से अलौकिक सत्ता की छाया कहा जा सकता है, किन्तु उस वास्तविक सत्ता के किसी प्रयोजन के वे नही है। हमारे अपने सीमित अनुभवो मे जो भी पदार्थ आते है वे कही न कही जाकर भग्न हो जाते है और असगत प्रतीत होते है। जब सब सीमित अनुभव मर्यादित और अपूर्ण है, उनकी अपूर्णता की भिन्न-भिन्न श्रेणिया है, तो उन सबको एक ही स्तर पर रख देना उचित न होगा, न उन सबको एक समान यथार्थ अथवा असत्य ही मानना उचित होगा। माया का सिद्धान्त सीमित पदार्थो के सामान्य स्वरूप को एक अमूर्त भावात्मक रूप मे अभिव्यक्त करता है जिसमे परमसत्ता से यह कुछ ही न्यून बैठता है।

जहा एक ओर मानवीय अपूर्णता के कारण उत्पन्न हुई बौद्धिक नम्रता से उपनिषदो के विचारको को विवश होकर सर्वोपरि यथार्थसत्ता के विषय मे 'नेति नेति'-परक ही कथन करना पडा, वहा दूसरी ओर उपनिषदो के आदर्शो का मिथ्या अनुकरण करनेवाले अत्यन्त अभिमान एव साहसिकता के साथ घोषणा करते है कि ब्रह्म एक अत्यन्त

१ "आनन्दरूपम् अमृत यद्विभाति।"

२ ब्रैडले 'माइड' सख्या ७४, पृष्ठ १५४। तुलना कीजिए, ग्रीन "इस पुराने प्रश्न का कि ईश्वर ने जगत् को क्यों बनाया, कभी उत्तर न मिला और न मिलेगा। जगत् की क्या आवश्यकता है यह हम नहीं जानते हम इतना ही जानते हैं कि जगत् है।" (प्रोलेगोमिना टु एथिक्स', विभाग, १००)।

सत्ता (एकजातीय) और व्यक्तिवर्गगत प्रभेद (नानात्व) है—यह एक ऐसी कल्पित धारणा है जो उपनिषदों के भाव के सर्वथा विपरीत है। ब्रह्म के स्वरूप की इस प्रकार की एक सुनिश्चित व्याख्या कर देना कभी भी न्यायसंगत नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ तक कि शंकर ने भी यही कहा है कि यथार्थसत्ता अनन्त (असीम) है और इसका सुनिश्चित स्वरूप नहीं है।

थिबौत के अनुसार इस वाक्य में जिसका निश्चित झुकाव ब्रह्म को सर्वगुणातीत एवं व्यक्तिवर्गगत और भिन्नतारहित प्रत्यय के पुंज के रूप में उपस्थित करने की ओर है।[1] और यदि गुणात्मक ज्ञान की प्रतीति का निषेध नहीं किया जा सकता तो एक पूर्णमात्र परिकल्पना के लिए और कोई मार्ग खुला नहीं था सिवाय इसके कि वह इसकी यथार्थता का ही निषेध करे और इसे भ्रममात्र कहकर इसकी व्याख्या करे जिसका कारण एक असत् तत्त्व है और जो ब्रह्म के साथ नित्य से सम्पृक्त रहता है किन्तु जो ब्रह्म को स्पर्श भी नहीं कर सकता केवल इसलिए कि वह स्वयं स्वभाव से असम्पृक्त है।[2] थिबौत के अनुसार माया विविधता की अभिव्यक्ति को यथार्थसत्ता के साथ एकस्वरूप में समन्वित करती है किन्तु इसीलिए एक अमूर्तरूप (भावात्मक) ब्रह्म का भाव एक निरर्थक विचार है जो कि स्वविरोधी उपनिषदों को मान्य नहीं हो सकता। उपनिषदें परम यथार्थसत्ता के अमूर्तरूप भावात्मक विचार का समर्थन नहीं करतीं। उपनिषदों का दार्शनिक सिद्धान्त एकेश्वरवाद की अपेक्षा अद्वैतपरक (अर्थात् अद्वैत के प्रभाव वाला) अधिक है। विषयी एवं विषय के मध्य का भेद यद्यपि जगत् में वास्तविक प्रतीत होता है किन्तु परमार्थरूप में इसमें अन्तर नहीं है। इस रूप में विचार को विषयी और विषय के रूप में आधा आधा नहीं बाँट सकते क्योंकि दोनों की पृष्ठभूमि में ब्रह्म की सत्ता विद्यमान है। द्वैत का निषेध करते हुए भी यह दृढ़तापूर्वक इसे स्वीकार नहीं करता कि सब पदार्थ विलीन होकर एकत्व के रूप में परिणत हो सकते हैं, व्यावहारिक रूप में भले ही यह स्वीकार कर लें।[3]

1. वेदान्तसूत्रों की भूमिका, पृष्ठ १२३।
2. वही, १२५।
3. हम देखते हैं कि उन पदार्थों में जो ब्रह्म और जगत् की एकता की व्याख्या करने के लिए मिट्टी (लोहा आदि) के दृष्टान्त का प्रयोग करते हैं इनमें से एक का प्रयोग हुआ है "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" इन वाक्यों का अर्थ यह प्रतीत होता है कि सब पदार्थ एक ही सत्ता के परिवर्तित रूप हैं यद्यपि नामभेद से भिन्न भिन्न हैं। शंकर की व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ हुआ कि परिवर्तन (विकार) उत्पन्न होता है और रहता भी केवल वाणी में ही है, यथार्थ में कोई परिवर्तन नहीं है। यह केवल नाममात्र है और इसलिए अयथार्थ है।' यद्यपि व्यावहारिक रूप से इन्द्रियगम्य है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह मिथ्या है। साथ में इस विषय पर भी ध्यान देना चाहिए कि यह कथन उद्दालक का है जो भौतिकवाद को मानता है और जो केवल आकृतिजन्य परिवर्तन को स्वीकार करता है। उसके मत में प्राकृतिक जगत् एक निरन्तर प्रवाह है जिसमें गुणभेद से भिन्न वस्तु एक दूसरे से भिन्न हैं। अनिरुद्धवाद में कहा गया है कि नाम परिवर्तन मात्र से ही विकास की प्रतीति होती है। उपनिषदों में नाम और रूप (आकृति) का उपयोग व्यक्तित्व को दर्शाने के लिए किया गया है। देखिए, बृहदारण्यक १, ४, ७। एक का अनेक रूप में विकास प्राथमिक तत्त्व में नाम एवं रूप के सम्मिश्रण के कारण ही है। किन्तु यह कहीं नहीं कहा गया कि नाम द्वारा निर्दिष्ट परिवर्तन असत्य है। अवश्य ही ब्रह्म के अतिरिक्त इनकी पृथक् यथार्थसत्ता नहीं है। नामरूप वह नहीं है जो ब्रह्म के

अन्य कतिपय उपनिपदो के अनुकूल व्याख्याकार भी दृढतापूर्वक कहते है कि उपनिषदे माया के सिद्धान्त को ससार की भ्रान्तिपूर्णता के अर्थ मे स्वीकार करती है। आइए, हम यह देखे कि उनका इस प्रकार का कथन कहा तक मूल्य रखता है। ड्यूसन, जिसने यूरोप मे वेदान्त के सिद्धान्त का प्रचार करने मे बहुत अधिक प्रयत्न किया है, निर्देश करता है कि सृष्टि-रचना के विपय मे चार भिन्न प्रकार के सिद्धान्त उपनिपदो मे आते है। वे है (१) प्रकृति अनादिकाल से ईश्वर के अस्तित्व से स्वतन्त्ररूप मे विद्यमान है, ईश्वर केवल उसको आकार देता है किन्तु उसकी रचना नही करता, (२) ईश्वर असत् से विश्व की रचना करता है, और विश्व ईश्वर से स्वतन्त्र है यद्यपि यह विश्व उसकी रचना है, (३) ईश्वर अपने को ही परिवर्तित करके सृष्टि की उससे रचना करता है, और, (४) ईश्वर ही एकमात्र यथार्थसत्ता है और सृष्टि कुछ नही है। उसके अनुसार, अन्तिम मत ही उपनिपदो का मौलिक मत है। देश और काल से बद्ध ससार एक आभास-मात्र है, एक भ्राति है, ईश्वर की छाया-मात्र है। ईश्वर को जानने के लिए हमे इस भासमान जगत् का निषेध करना होगा। ड्यूसन का ही अपना यह विश्वास कि प्रत्येक सत्यकर्म का सार-तत्त्व ससार की वास्तविकता से निपेध करना है, उक्त मत की ओर झुकाव का कारण है। उक्त परिणाम पर स्वतन्त्ररूप से पहुचकर वह अपने सिद्धान्त का समर्थन प्राचीन भारत के दर्शनशास्त्रो—उपनिपद् और साख्य—मे से, प्राचीन ग्रीस के परमेनिड्स और प्लेटो मे से, एव अर्वाचीन जर्मनी के काट और शोपनहावर मे से खोज निकालने के लिए उत्सुक है। अपने सिद्धान्त की पुष्टि के प्रति आतुरता की लहर मे आकर वह सत्यो की ओर भी बिलकुल ध्यान नही देता। वह स्वीकार करता है कि उपनिपदो का सर्वोपरि मुख्य सिद्धान्त सर्वेश्वरवाद-विपयक है जबकि मौलिक सिद्धान्त है माया, भ्राति की कल्पना। सत्य के दबाव मे आकर ही उसे यह स्वीकार करने के लिए विवश होना पडा है कि सर्वेश्वरवाद 'सर्वोपरि' सिद्धान्त है। और यह कि भ्राति का विचार आधारभूत है, उसके वास्तविकता के अध्ययन का परिणाम है। इन दोनो के बीच, अर्थात् सर्वेश्वरवाद के तथ्य एव अध्ययन के परिणामस्वरूप भ्रातिसत्ता के मध्य, समन्वय होना ही चाहिए। ड्यूसन यह कहकर अपना प्रयोजन इस प्रकार से साध लेता है कि यह साधारण स्थिति के मानव के लिए

शब्द 'नेम' (नाम) और 'फॉर्म' (आकृति) से प्रकट होता है। वह अरस्तू की 'आकृति' और 'प्रकृति' के अनुकूल है। और दोनों एकसाथ मिलकर ससार के व्यक्तियों के द्योतक है। बौद्धमत में रूप से तात्पर्य मूर्त शरीर से है और नाम से तात्पर्य सूक्ष्म मानस से है। उपनिषदों में नाम और आकृति के विकास का तात्पर्य एकमात्र ब्रह्म को व्यक्तित्व प्रदान करना है। व्यक्तित्व सृष्टि-रचना का सिद्धान्त-तत्त्व है और यह विश्व-रचना की प्रक्रिया का मुख्य स्वरूप है। वस्तुए और मानव अतिम रूप मे परमात्मा के अस्तित्व के केवल प्रकार मात्र है। वे अपने-आपमे यथार्थ नही है। इस प्रकार केवल ब्रह्म ही यथार्थ है। उनका पृथक्त्व केवल कृत्रिम है। उपनिपदों में मोक्ष का स्वरूप नामरूपात्मक पृथक्त्व के भाव का नष्ट हो जाना ही है। मुण्डकोपनिपद् में कहा है : "वह जिसने उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर लिया है, विश्वात्मा के साथ संयुक्त हो जाता है और नामरूप से रहित होकर नदियों के समान, जैसे वे विश्राम लेने के लिए समुद्र मे समा जाती है, वह भी विश्वात्मा मे विलीन हो जाता है।" आगे चलकर कहा गया है कि कारण कार्य की अपेक्षा अधिक यथार्थ है। परमात्मा ही समस्त जगत् एव जड़ जगत् का कारण है। जैसे सोने के आभूषणों का आधार सोना है, इसी प्रकार ब्रह्म सारे जगत् का आधार अथवा सामान्य सत्ता है।

उसके घोर विरोध एवं इन्द्रियानुभव की माँग को शान्त करने के लिए एक प्रकार की रियायत है। क्योंकि मूलभूत विचार—जिसे कम से कम सिद्धान्त के रूप में ही हरएक स्थिति में यहाँ तक कि निम्नतर स्थिति में भी दृढ़ता के साथ स्वीकार किया गया है और जो प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता का स्थिर रखता है—केवल आत्मा की ही एकमात्र यथार्थ सत्ता में विश्वास है इसलिए केवल इस धारणा के साथ और इसके बावजूद जगत का यथार्थता की आनुभाविक चेतना के लिए यह न्यूनाधिक छूट प्रदान की गई है जिसका कभी भी पूर्णतः त्याग नहीं किया जा सकता।[1] भ्रान्ति विषयक कल्पना के समर्थन में सबसे पहला तर्क यह है कि उपनिषद् मात्र ब्रह्म की ही यथार्थसत्ता पर बल देता है। इसका तात्पर्य यह है कि संसार असत्य है। आत्मा ही एकमात्र यथार्थसत्ता है इसमें हम सहमत हैं। यदि हम उसे जान लें तो सब कुछ जाना जाता है। यह धारणा कि द्वैत अथवा बहुत्व है ही नहीं अर्थात् उस सत्ता में बाह्य परिवर्तन कोई नहीं होता स्वीकार करने योग्य है। किन्तु कोई भी परिवर्तन उसके अन्दर या बाहर है ही नहीं और होना ही नहीं और द्वैत एवं बाहुल्य भी नहीं है इस प्रकार की एक अपवादरहित स्थापना समझ में नहीं आ सकती। डयूसन कहता है कि प्रकृति जो बहुत्व एवं परिवर्तन के रूप में हमारे सामने प्रकट होती है केवल भ्रांति है।[2] उनने हो बल के साथ मजर तक करता है कि 'उपनिषदों की आत्मा की एकमात्र यथार्थता का प्रतिपादन करनेवाली शिक्षाओं का स्वाभाविक एवं तर्कसम्मत परिणाम भी यही निकलता है कि समस्त दृश्यमान जगत जो सदृरूप में हमारे समक्ष भासित हो रहा है केवल भ्रान्तिमात्र है।[3] इन तर्कों में अनन्त (असीम) को मिथ्या अर्थों में लिया गया है। जो सीमाबद्ध नहीं है उसे अनन्त के समान समझ लिया गया है और जो नित्य है उसे अभौतिक के समान मान लिया गया है। जब नित्यसत्ता को कालातीत अमूर्तभाव के रूप में माना गया तो सांसारिक जीवन जो कालबद्ध है, स्वतः ही अवास्तविक हो जाता है। देश और काल से आबद्ध संसार के साथ परमार्थ और नित्यजगत का विरोध स्वतः ही अन्तिम रूप से एवं शाश्वत हो जाता है। परन्तु उपनिषद् कहीं भी यह नहीं कहती कि अनन्त में सान्त बाहर है। जहाँ कहीं भी वे बलपूर्वक कहती हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र यथार्थसत्ता है वे बड़ी सावधानी के साथ यह भी कथन करती हैं कि संसार का आधारभूत भी ब्रह्म में है और इसी दृष्टि से वह (संसार) भी उसी ब्रह्म का अन्तर्गत है। सीमित पदार्थ अनन्त ब्रह्म के अन्दर हैं यह आत्मा ही समस्त विश्व है।[4] यह प्राण है। यह वाणी है। यह मानस है। विश्व में सब कुछ यही है। ब्रह्म नीच से नीच दर्जे की घूल में भी है और एक क्षुद्र रजकणिका में भी है। यथार्थसत्ता की स्वीकृति के अन्दर उन सबकी भी स्वीकृति आ जाती है जो उसके ऊपर आधारित हैं। ब्रह्म को एक

1. ई० डिस्सन: आफ दि उपनिषद्स पृष्ठ १६१–१६२।
2. पञ्चदशी: नाटकदीपप्रकरण १ २३७।
3. डॉयसन: पाद पृष्ठ ६८।
4. छान्दोग्य, ३ ४ २६।
5. मुण्डकोपनिषद् २ २, ११; कठोपनिषद्, २ ५ २; तैत्तिरीय ३ १; छान्दोग्य ३ १४ ३। १४ २–४ १, १ बृहदारण्यक २ ४ ६ ४ ५ ७ २ ५, १ ५ १, १ ७ ५, १६।१ ५ ११। ७, १५ ४ ४ २१।

मात्र यथार्थ सत् मान लेने से उन सब पदार्थों की सापेक्ष सत्ता की भी स्वीकृति जो उसके अन्तर्गत है या उसके ऊपर आश्रित है, स्वत ही निष्कर्षरूप मे आ जाती है।

ड्यूसन बलपूर्वक कहता है कि "उन अंशो से जो घोषणा करते है कि आत्मा के ज्ञान से ही सबका ज्ञान हो जाता है, बहुत्व के विचार का स्वत खण्डन हो जाता है।" हम इस विवादग्रस्त विषय से सहमत नही हो सकते। यदि आत्मा विश्व की आत्मा है और अपने अन्दर समस्त विचारशील प्राणियो एव प्रमेय पदार्थों को भी समवेत किए हुए है, तब स्वभावत यह परिणाम निकलता है कि यदि उसका ज्ञान हो जाए तो अन्य सब कुछ स्वत ही जाना जा सकता है। जो सत्यज्ञान हमे मोक्ष का मार्ग दिखाता है, अन्तर्वासिनी सत्ता का साक्षात् करने मे भी सहायक होता है। ऐसा कोई सुझाव नही है कि आत्मा और यह ससार एक-दूसरे से पृथक् है। उस अवस्था मे, इन्द्र ने शका उपस्थित करते हुए जो कुछ प्रजापति से कहा था, वह ठीक ही हो जाएगा और आत्मा जो प्रत्येक नियमित और प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थ को अपने से बाह्य रखती है, स्वय केवल एक कोरी अमूर्तरूप भावात्मक सत्तामात्र रह जाएगी। यदि हम भेदो को दृष्टि से ओझल कर देते है तो हम परमार्थसत्ता को एकमात्र असत् के रूप मे पहुचा देते है। इस प्रकार सापेक्ष जगत् की सापेक्षता का निषेध करके हम परमार्थसत्ता की समस्या को कुछ भी नही सवारते। नित्यरूप ब्रह्म इन्द्रियगम्य भौतिक जगत् को एकदम असत् और शून्यात्मक कहकर सर्वथा छोड नही सकता। मानव के धार्मिक एव नैतिक, दार्शनिक एव सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र मे उपलब्ध ऊचे से ऊचे अनुभव का यह उचित आग्रह है कि इन्द्रियगम्य भौतिक जगत् की वास्तविकता को नित्यसत्ता के अन्दर, सान्त की वास्तविकता को अनन्त के अन्तर्गत विद्यमान, एव ईश्वर से उत्पन्न मानव की यथार्थता को हम स्वीकार करे। आकस्मिक घटना एव व्यक्ति का निषेध करने का तात्पर्य होगा कि हम आवश्यक एव व्यापक को मिथ्या समझते है। उन अनेक वाक्यो के विषय मे जो ससार को ब्रह्म मे आधारित घोषित करते है, ड्यूसन यो कहकर समाधान कर देता है कि यह भौतिक चेतना के साथ एक प्रकार की रियायत है। यदि उपनिषदो के मत मे ससार भ्रान्तिमात्र होता तो उपनिषदें कभी भी गम्भीरतापूर्वक ससार के सापेक्षता-विषयक सिद्धान्तो का प्रतिपादन न करती। ड्यूसन ने एक अव्यवहार्य व्याख्या को अपनाया है और एक ऐसी स्थापना का, जो मौलिक रूप से दोषपूर्ण है, समर्थन करने के लिए मनमाने तर्कोंवाली युक्तियो का उपयोग किया है। ड्यूसन ने स्वय भी माया के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने का श्रेय महान जर्मन दार्शनिक काट को देने का प्रयत्न करने के प्रसग मे स्वीकार किया है कि उपनिषदो के विचारको ने उक्त सिद्धात की परिकल्पना नही की थी, या कि सभवत वे इसमे सुस्पष्ट नही थे। क्योकि वह लिखता है कि "अभी तक और सदा ही एकमात्र ब्रह्म और उसकी बहुगुणित अभिव्यक्तियो के अन्दर बहुत बडा भेद है, और न तो प्राचीन विचारक और न काट से पूर्व का कोई विचारक इस भाव तक पहुच सका कि देश और काल मे जितना भी अभिव्यक्त प्रपञ्च है वह मात्र आत्मजात अथवा विषयीगत घटना एव प्रतिभास है।"[1] ड्यूसन का यह सुझाव तो वस्तुत

१ पञ्चास्तिकायसमयसार, १०३। ड्यूसन काट के सिद्धान्त की व्याख्या उपनिषदों के अनुसार [illegible]

था कि दोनों

ठीक ही है कि उपनिषदों ने संसार की विषयीनिष्ठता के मत को कभी भी स्वीकार नहीं किया। सृष्टिरचना सम्बन्धी भिन्न भिन्न कल्पनाएं केवल यह प्रदर्शित करने के लिए प्रस्तुत की गई हैं कि ब्रह्म और जगत के मध्य अनिवार्य निर्भरता है। हम स्वीकार करते हैं कि ऐसे भी वाक्य हैं जो प्रतिपादन करते हैं कि यह नामरूपात्मक चित्र विचित्र जगत एक ही परमसत्ता के अन्दर से विकसित हुआ है। इनसे यही ध्वनित होता है कि सब वस्तुओं का मौलिक सारतत्त्व एक ही यथार्थसत्ता है और यदि हम नामरूपात्मक जगत में ही खो जाएंगे तो इस बात का भय है कि हम उस अन्तस्तल में निहित सारतत्त्व की प्राप्ति न हो सकेगी जो इन सब भेदों का मूल कारण है। हम कह सकते हैं कि यह नामरूपात्मक जगत ही, इस अमरणधर्मा सारतत्त्व को हमसे छिपाकर रखता है।[1] उस अद्भुत सत्ता को जो सब नश्वर वस्तुओं के चारों ओर व्याप्त है हम परदे के पीछे से झांकना होता है। देश और काल से आबद्ध पदार्थ वस्तुओं के सारतत्त्व को आवृत रखते हैं। यह जीवन का क्षणिक रूप इसका अविनाशी सत्य नहीं है। वास्तविक सत्ता इन सब वस्तुओं से ऊपर है। वह अपने आपको इस दृश्यमान जगत के द्वारा अभिव्यक्त करती है। किन्तु यह अभिव्यक्ति साथ साथ गोपन भी है। अभिव्यक्ति जितनी ही अधिक स्पष्टतया दर्शित होती है यथार्थ सत्ता उतनी ही अधिक गुप्त होती जाती है। परमात्मा अपना गोपन करता है और अपने आपको प्रकट भी करता है केवल अपने चेहरे पर आवरण कर लेता है। वस्तुओं का अन्तर्निहित आशय इन्द्रियों के साक्ष्य के विपरीत है। यह विश्व जहां एक ओर उसकी महिमा को अभिव्यक्त करता है वहां दूसरी ओर उसके परम एवं विशुद्ध स्वरूप का गोपन भी करता है। सत्य वह अद्भुत सारतत्त्व एक परमसत्ता है जो घटनाओं से विरहित और मर्यादाओं से निर्लिप्त इस रचनात्मक सृष्टि के बहुगुणत्व एवं बाहुल्य के

का ही उसने इस रूप में समझा। कांट को चिन्ता है कि उसके प्रत्ययवाद को बर्कले के विषयविज्ञानवाद के समान न समझ लिया जाए ठीक उसी तरह जैसे शंकर को चिन्ता है कि उनके प्रत्ययवाद को और बौद्धमत के विषयविज्ञानवाद को एक समान न समझ लिया जाए। इस भवन शापेन्हावर के समान ड्यूसन भी सोचता है कि कांट के द्वारा प्रत्ययवाद का निराकरण एक मूर्खता भरा पीछे का विचार था और भयंकर भूल था। कांट के पाठक ड्यूसन के मत से सहमत हो सकेंगे यह सन्देहास्पद है। कांट का यह प्रसिद्धान्त भी जिसमें आचार सम्बन्धी उस नियम के प्रत्यक्षीकरण को अमरता का आधार बताया गया है जो हमारे अन्दर निविष्ट है—एक ऐसा परिणाम जिसे केवल सन्निकटन की अनन्त प्रक्रिया द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है—हमें साधारण अर्थों में अमरता के विषय में तो नहीं किन्तु पुनर्जन्म के विषय में बतलाता है। (पृष्ठ ३१४)।

[1] बृहदारण्यक १ ६ । अमृतं सत्येन छन्नम्। सत् शब्द के द्व्यर्थक होने के कारण ही उपनिषदों के यथार्थसत्ता विषयक मत के विषय में बहुत कुछ भ्रम हुआ है। सत् का अर्थ है वह सब जो विद्यमान है। परिवर्तनशील एवं उन्नतिशील संसार इस अर्थ में सत् है। सत् से तात्पर्य उस यथार्थ सत्ता से भी है जो समस्त परिवर्तनों में अपरिवर्तित, अमर अथवा अमृतरूप में एक समान विद्यमान रहती है। तैत्तिरीय पहले को सत् और दूसरे को त्यत् कहता है। चूंकि त्यत् विद्यमान सत् के विपरीत गुण है, इसे कभी कभी असत् अथवा अनृत नाम से कहा गया है (तैत्तिरीय २ ६)। साधारण तौर से नित्यसत्ता अथवा ब्रह्म को सत् और परिवर्तनशील संसार को असत् कहा जाता है। (छान्दोग्य, ६ २ १ १६ १)।

कारण आवृत रहती है। इस विश्व के पदार्थ, जिनमे सान्त जीवात्मा भी सम्मिलित है, अपने को कल्पितरूप मे पृथक् एव स्वतन्त्र अस्तित्ववान अनुभव करते हैं और आत्म-सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने मे निरत रहते प्रतीत होते है। वे भूल जाते है कि वे सब एक तत्समान शक्ति से उत्पन्न हुए है और उसीसे उनका धारण भी होता है। यह विश्वास माया अथवा भ्राति के कारण है। "वृक्ष की प्रत्येक क्षुद्र पत्ती मे भी यह समझ लेने की चेतना विद्यमान हो सकती है कि वह एक सर्वथा भिन्न सत्ता है जो सूर्य के प्रकाश एव वायु मे अपने को बनाए हुए है और जब शीतकाल आता है तो वह मुरझाकर गिर पडती है और वही इसका अन्त है। वह सम्भवत यह नही समझ सकती कि उसे निरन्तर वृक्ष के तने से निकलनेवाले द्रव से सहारा मिलता है और अपनी ओर से वह भी वृक्ष को आहार पहुचा रही है और यह कि उसकी आत्मा समस्त वृक्ष की भी आत्मा है। यदि वही पत्ती वस्तुतः अपने को समझ सकने की योग्यता रखती तो वह अनुभव करती कि उसकी आत्मा अधिक गहराई मे और घनिष्ठता के साथ पूरे वृक्ष के जीवन के सग एकात्मभाव से सम्बद्ध है।"[1] ऊपर की चेतना की लहरो के नीचे अन्तस्तल मे जीवन की अगाध सामान्य गहराई मे वह स्रोत है जहा से सब प्रकार की अन्यान्य सत्ताओ का विकास हुआ है। यदि हम पदार्थों को पृथक् एव स्वतन्त्र सत्ताधारी मान ले तो हम एक ऐसा परदा खडा कर लेते है जो हमारी दृष्टि से सत्य को दूर हटा देता है। सीमित पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे मिथ्या कल्पना उस दिव्य प्रकाश को हमारी दृष्टि से तिरोहित कर देती है। जब हम गौण कारणो की तह मे पैठकर समस्त पदार्थों के सारतत्त्व को ग्रहण करने का प्रयत्न करते है तो सब आवरण फट जाते है और हमे स्पष्ट हो जाता है कि उन सबकी पृष्ठभूमि मे जो तत्त्व है वह वही है जो समानरूप से हम सबके अन्दर विद्यमान है। छान्दोग्य उपनिषद् मे पिता व पुत्र के परस्पर सवाद मे (६ १०, और आगे) गौण कारणो की पृष्ठभूमि मे जाकर यह जानने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है कि सब पदार्थों मे ऐक्य है।

> "वहा से मेरे लिए न्यग्रोध वृक्ष का एक फल लाकर दो।" "यह लीजिए, भगवन्, यह है।" "इसे फोडो।" "लीजिए भगवन्, यह फूट गया।" "तुम्हे इसमे क्या दिखाई देता है?" "ये बीज है जो अत्यन्त सूक्ष्म है।" "इनमे किसी एक को फोडो।" "लीजिए भगवन्, यह फूट गया।" "तुम्हे इसमे क्या दिखाई देता है?" "कुछ नही भगवन्!"
>
> पिता ने कहा, "हे मेरे पुत्र, वह सूक्ष्म तत्त्व जो तुम्हे उसमे प्रत्यक्ष नही होता वस्तुत उसी तत्त्व से इस महान न्यग्रोध वृक्ष की सत्ता है। हे मेरे पुत्र! विश्वास करो इस सत्य पर कि यह एक सूक्ष्म तत्त्व ही है और इसीके अदर सब कुछ वर्तमान है और अपनी आत्मा को धारण करता है। यही सत्य है। यही आत्मा है। और तू, हे श्वेतकेतु, तू यही है।"

आगे चलकर पिता पुत्र के सम्मुख कुछ और प्राकृतिक पदार्थों को क्रमश उपस्थित करता है और बलपूर्वक कहता है कि वह जीवन की दार्शनिक एकता को ग्रहण करे एव

१ एडवर्ड कारपेण्टर 'पैगन ऐण्ड क्रिश्चियन क्रीड्स', पृष्ठ २०१।

मान्व-जीवन के विश्व जीवन के साथ तारतम्य को भी समझने का प्रयत्न करे। हम आसानी के साथ उस परमार्थसत्ता की कल्पना नहीं कर सकते जो नानाविध भौतिक पदार्थों के कारण तिरोहित रहती है। हम संसार में इतने अधिक लिप्त रहते हैं सांसारिक अनुभवों में इतने अधिक डूबे रहते हैं और अपने ही प्रति इतने अधिक लीन रहते हैं कि उस सत्ता की यथार्थता का ग्रहण नहीं कर सकते। हम ऊपर के धरातल पर ही रह जाते हैं आकृतियों से चिपटे रहते हैं और आभास मात्र दृश्यमान पदार्थों की पूजा करते हैं।

डयूसन यह कथन करते समय उपनिषदों के दार्शनिक मौलिक सत्य को दृष्टि से बिल्कुल ओझल कर देता है कि उपनिषद् के दार्शनिक विचार के अनुसार समस्त विश्व सब कुछ धन सम्पत्ति एवं ज्ञान अन्त में अवश्यमेव शून्य में परिणत होकर विलुप्त हो जाएगा क्योंकि वे हैं ही शून्यरूप।[1] इस कल्पना के आधार पर यह भी आवश्यक हो जाता है कि उन सब उपनिषद्वाक्यों का भी कोई न कोई उचित समाधान किया जाए जो विश्व के आधारस्वरूप ब्रह्म और व्यक्तिरूप आत्मा के भौतिक तत्त्व को एकात्मक कहते हैं। डयूसन आगे चलकर इसकी भी व्यवस्थापना यों करता है ब्रह्मवाद में ब्रह्म को एक भौतिक तत्त्व की आकृति देकर (उपनिषदों ने) अपनी अनुकूलता (समवायरूपक) के भाव को यहां भी प्रदर्शित किया है।[2] उपनिषद् हमारे अन्दर अत्यन्त अणुरूप में अवस्थित आत्मा का हमसे बाहर अवस्थित अनन्तरूप में महान आत्मा के साथ तादात्म्य-वर्णन करती हुई एक विशेष प्रकार का सुख अनुभव करती है।[3] जब हम कष्ट में होते हैं हम ईश्वर को बीच में डालने की आवश्यकता नहीं है केवल दुर्बल मानव स्वभाव के साथ अनुकूलन करने की आवश्यकता है।

आध्यात्मिक ज्ञान आत्मा के अतिरिक्त और किसी भी यथार्थसत्ता का प्रतिवाद करता है और वह आत्मा चेतनस्वरूप है। इसके विरुद्ध भौतिक मत हमें यह बताता है कि बहुगुणविशिष्ट एक संसार बाह्यरूप से अवस्थित है। इन दो परस्पर विरोधी स्थापनाओं के परस्पर सम्मिश्रण से इस सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई कि विश्व यथार्थ है और फिर भी आत्मा एकमात्र यथार्थसत्ता रहती है क्योंकि आत्मा ही विश्व है। यह समझना आसान नहीं है कि दोनों स्थापनाएं परस्पर विरोधी कैसे हैं और परिणाम में किस प्रकार से इनके मध्य कोई समवाय नहीं हो सकता। जब यह कहा जाता है कि ब्रह्म के बाहर कोई अन्य यथार्थसत्ता नहीं है उसका तात्पर्य यह होता है कि आत्मा ही विश्व की आत्मा अथवा चेतनारूप है अन्य सब कुछ जिसके अन्दर समवेत है। इसी प्रकार जब यह कथन किया जाता है कि एक बहुगुण विशिष्ट विश्व हमसे बाहर अवस्थित है तो हमें से तात्पर्य बना भौतिक (सांसारिक) व्यक्तियों से है जो मन एवं शरीर से मर्यादित हैं जो अपना स्थानीय आवासस्थान एवं भौतिक आकार प्रकार रखते हैं। निश्चय ही ऐसे प्राणियों के लिए संसार वास्तविक है। जिस आत्मा की हम खोज है वह ज्ञान का विषय नहीं है अपितु समस्त ज्ञान का आधार है। यह भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के जगत के लिए एक समान पूर्वधारणा है। विचारशील प्राणी अथवा जीव जो मनोवैज्ञानिक अहं है आकृतिक जगत के अंग हैं। इस

१ पञ्चास्तिकायसमयसार १६८। २ वही १७१।
३ वही २७। ४ वही ४५।

जगत् मे वे बाह्यरूप से अन्य प्राणियों के ऊपर क्रिया करते है और प्रतिकाररूप मे उनके ऊपर क्रिया की जाती है। किन्तु तर्कशास्त्र की दृष्टि से सम्बद्ध पदार्थों से युक्त जगत् की सत्ता के लिए आत्मा की सत्ता एक आवश्यक शर्त है। समस्त सत्ता आत्मा की सत्ता के लिए ही है। जगत् हम मनोवैज्ञानिक आत्माओ के लिए परे और दूर है। यह विश्व की आत्मा में विद्यमान है। परिणाम यह निकला कि विश्व हमारे लिए यथार्थ मे सत् है क्योंकि हम अभी पूर्णता तक पहुँची हुई आत्माए नही हैं। आत्मा ही एकमात्र यथार्थसत्ता है और यह अपने अन्दर विश्व को भी समाविष्ट किए हुए है। इसके अतिरिक्त और कोई भी स्थापना तर्कसगत न होगी। भौतिक (अनुभवात्मक) आत्माओ के रूप में हम जगत् के समीप विपरीत गुण वाले हैं और पदार्थों द्वारा मर्यादित है। जिस प्रकार हमारा जीवन, जो पहले-पहल प्रकृति के एकदम विरुद्ध प्रतीत होता है, आगे चलकर शनै:-शनै: पदार्थों के यान्त्रिक पक्ष को परिवर्तित करके अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है, उसी प्रकार विषयी को भी पदार्थ को रूपान्तरित करना होता है। उस समय जो कुछ प्रारम्भ मे बाह्य एवं प्रमेय पदार्थ था, विषयी की क्रियाशीलता के लिए पूर्वस्थित आवश्यक उपाधि बन जाता है। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे चलती रहती है और अन्त मे जाकर पूर्णरूप से प्रमेय पदार्थ को दबा देती है और पूर्ण एकता धारण कर लेती है। उस समय विषयी के मार्ग मे कोई बाधा नही रह जाती, किन्तु तब भी लक्ष्य की प्राप्ति नही होती। विरोध का नष्ट हो जाना आत्मा के विकास का लक्षण-मात्र है। इस परिणाम पर कि जगत् केवल आभास-मात्र है, हम तब पहुच सकेंगे जब व्यक्तिरूप आत्मा को—विकास की शृ खला की इस विशेष कडी को जो देश और काल से आबद्ध है, परम यथार्थसत्ता के रूप मे स्वीकार किया जाएगा। यदि हम, जिस रूप मे हम है इसी रूप मे आत्मा होते, यदि हम एकमात्र यथार्थ-सत्ता होते तब हमसे विपरीत जगत् एक जादू का खेल-मात्र ही होता। किन्तु वह आत्मा जिसे यथार्थसत्ता के रूप मे वर्णन किया जाता है, पूर्ण आत्मा है, जिस स्थिति मे अभी हमे पहुचना है। उस पूर्णस्वरूप आत्मा के लिए जो उस सबको जो हमारे अन्दर एव हमसे बाहर अवस्थित है, अपने अन्दर समाविष्ट रखती है, कुछ भी विपरीत एव विरोधी नही है। इस प्रकार मर्यादित आत्मा के—जो मानव के अन्दर है और जो सब प्रकार की असगति और परस्पर-विरोध से आबद्ध है—और परम ब्रह्म के अन्दर परिभ्राति कर देने से ही ड्यूमन को इन दोनो के अन्दर एक कल्पना तक प्रतिद्वन्द्विता की प्रतीति होती है और इसे दूर करने के लिए वह एक कृत्रिम उपाय का आश्रय लेता है।

ऐसे भी कुछ परिच्छेद उपनिषदो मे है जो प्रतिपादन करते है कि हमे ब्रह्म मे नानात्व नही देखना चाहिए।[1] इन परिच्छेदो मे जगत् के ऐक्य की ओर सकेत किया गया है। एक अनन्त के ऊपर बल दिया गया है, अनेक सान्त सत्ताओ के ऊपर नही। अपनी जागरित अवस्था मे हम विषयी एव विषय के मध्यगत विरोध को वास्तविक कल्पना कर लेते हैं। किन्तु धीर-गम्भीर चिन्तन हमे बतलाता है कि यह विरोध चरम नही है। विषयी एवं विषय का द्वैत परमसत्य नही है। जब यह कहा जाता है कि द्वैत ही सब कुछ नही है,

१. देखिए, बृहदारण्यक, ४ ४, १९।

अथवा द्वैत भ्रान्तिमूलक नहीं है तो इसका तात्पर्य यह न समझना चाहिए कि द्वैतभाव है ही नहीं अथवा परस्परभेद अथवा विविधता एकदम है ही नहीं। बौद्धदर्शन के एक सम्प्रदाय-विशेष के इस मिथ्या मत का शंकर ने घोर विरोध किया है। जब तक हम इस जगत् के परमब्रह्म से भिन्न स्वरूप की कल्पना में रहेंगे हम मार्गभ्रष्ट हैं। मात्र घटक की ब्रह्म से पृथक् सत्ता का उपनिषदों ने विरोध किया है। नमक व जल की, अग्नि व उसके स्फुलिंगों की, मकड़ी व जाले के तन्तुओं की तथा बांसुरी व उसके स्वरों की उपमाओं के आधार पर जिनका उपयोग उपनिषदों ने संसार के साथ ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या करने में किया है तर्क करते हुए ओल्डनबर्ग कहता है कि हम इन सब तुलनाओं के पीछे—जिनके द्वारा मानवों ने आत्मा की जीवन-शक्ति को विश्व के अन्दर अपनी समझ में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया और जिसे उन्होंने निश्चित समझ लिया यद्यपि यह केवल आंशिक ही है—सब वस्तुओं में आत्मा से भिन्न एक तत्त्व को लक्षित कर सकते हैं। एक भारतीय विचारक का कहना है कि आत्मा विश्व में उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त है जैसे कि लवणयुक्त जल में लवण व्याप्त होता है किन्तु इसके गुणवर्णन में हम आसानी के साथ आगे यह भी कह सकते हैं कि यद्यपि नमकीन जल का एक भी बिन्दु नमक से रहित नहीं है फिर भी जल की सत्ता लवण से सर्वथा भिन्न रहती है। और इस प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि आत्मा भारतीय विचारक के लिए अवश्य एकमात्र प्रकाशमान वास्तविकता है—एकमात्र सार्थक सत्ता, जो पदार्थों के अन्दर है किन्तु पदार्थों में एक अवशेष रह जाता है वह यह नहीं है। इस प्रकार के मतों के विरोध में ही द्वैतवाद के निषेध की आवश्यकता प्रतीत होती है। उपनिषदें इस विषय को स्पष्ट करती हैं कि वे रचनात्मक विश्व को आत्मा से पृथक् मानने को उद्यत नहीं हैं। उनका बराबर यही आग्रह है कि आत्मा अनुभवों की पर्याप्त क्षमता रखती है। अमूर्त प्रत्ययवाद के विपरीत उपनिषदों के सिद्धान्त का वशिष्ट्य यह है कि वे दृढ़ विश्वास के साथ सत्य घटना के प्रति भक्तिमान हैं। इसका सर्वोच्च तत्त्व अथवा ईश्वर एक नित्यस्थायी आत्मा है[1] जो सर्वाश्रयी है और अपने अन्दर प्रमेय जगत्[2] को एवं प्रमाता मानव को भी समाविष्ट रखता है।[3] सबसे उन्नत अवस्था में मात्र एक ब्रह्म ही सत् रहता है। उसके अतिरिक्त हम कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता श्रुतिगोचर नहीं होता और न ही ज्ञानगोचर होता है। आत्मा की सर्वोत्कृष्ट ज्योति में[4] हम विषयी और विषय के एकत्व को अनुभव करते हैं संसार की सापेक्षता एवं विरोधों के अस्थायी स्वरूप को अनुभव करते हैं। वहां फिर न दिन रहता है न रात रहती है न कोई अस्तित्व रहता है और न कोई अनस्तित्व रहता है—केवल ईश्वर रहता है।[5] सेंट पाल कहता है जब वह जो पूर्ण है आ जाता है तब वह जो अंशमात्र है विलुप्त हो जाता है। इसी प्रकार रीजब्राक का कहना है कि चतुर्थावस्था एक प्रकार की रिक्तावस्था है जो हम परमेश्वर के चरम प्रेम एवं दिव्य ज्योति में एकात्म्य स्थापित करती है। जिसमें कि मनुष्य अपने आपको भूल जाता है और फिर केवल प्रेम के अतिरिक्त

१ अधिदैवम्।　　　　　　　　　　　　　　२ अधिभूतम्।
३ अध्यात्मम्। देखिए तैत्तिरीय १ : ७।　　　　　४ छान्दोग्य, ७ : २३।
५ आत्मबुद्धिप्रकाश।　　　　　　　　　　　६ श्वेताश्वतर ४ : १८।

और किसी भी वस्तु को—न अपने को न परमेश्वर को और न किसी भी प्राणी को—नही पहचानता है।" यह आभ्यन्तर अनुभव का अखण्ड एकत्व ही है, जिसकी ओर उन सब परिच्छेदो मे सकेत किया गया है जिनका निर्देश हमे यह है कि सर्वोच्च सत्ता मे हम किसी प्रकार का भेद न माने।

हम स्वीकार करते हैं कि उपनिषदो के अनुसार बहुत्व, काल का अनुक्रम, देश मे सहसत्ता, कार्य-कारण-सम्बन्ध, विषयी (प्रमाता) एव विषय (प्रमेय) के परस्पर-विरोध—ये सब सर्वोच्च सत्ता नही हैं। किन्तु इसका आशय यह नही कि इनकी सत्ता ही नही। उपनिषदें माया के सिद्धान्त का केवल इन अर्थो मे समर्थन करती है कि पृष्ठभूमि मे एक सत्ता ऐसी है जिसमे शरीरधारी ईश्वर से लेकर तार के खम्भे तक सब पदार्थ समाविष्ट हैं। शकर कहते हैं, "आत्मा समस्त जीवधारी प्राणियो के हृदय मे वर्तमान है अर्थात् ऊपर ब्रह्म से लेकर नीचे एक नरकुल तक मे।" व्यक्तित्व की भिन्न-भिन्न श्रेणिया एक ही परमसत्ता के आशिक प्रकाश हैं। माया प्रत्ययात्मक स्तर पर ही यथार्थसत्ता के अन्तर्हृदय मे अवस्थित अपने भेद को दर्शाती है और उसे, अपने को विकसित होने के लिए आगे बढाती है। विशेष पदार्थ है भी, और नही भी। उनकी मध्यवर्ती सत्ता है। परमसत्ता की पूर्णता के मानदण्ड से मापने पर, जो अमर्यादित सत्ता की पूर्णता है, बहुत्व से भरा जगत् जिसमे दु ख और परस्पर विभेद है, न्यूनतम वास्तविक सत् है। सर्वोपरि एकमात्र सत्ता से तुलना करने पर इसमे सत्ता का अभाव हैं। यदि हम मनुष्यो एव ससार के पदार्थो को एक तत्त्व का छायारूप भी मान ले तो भी जब तक वह तत्त्व यथार्थ सत् है, छाया भी अपेक्षाकृत सत्ता रखेगी। यद्यपि सासारिक पदार्थ यथार्थसत्ता के अपूर्णरूप है, किंतु वे उसके मायावी स्वरूप नही हैं। परस्पर-विरोध और अन्तर्द्वन्द्व जो प्रत्यक्ष दिखाई देते है वे उस परमसत्ता के सापेक्ष प्रकार है जोकि पृष्ठभूमि मे विद्यमान हैं। द्वैत और अनेकत्व यथार्थसत्ता नही है।[1]

अविवेकी चेतना शीघ्रता से यह धारणा बना लेती है कि सान्त जगत् परमरूप से सत् है। किन्तु वास्तविकता यह नही है। जगत् की आकृतिया और शक्तिया अन्तिम एव चरमरूप मे ऐसी नही है। उन्हे स्वय अपनी व्याख्या की आवश्यकता है। वे स्वत - प्रादुर्भूत अथवा स्वाश्रित भी नही है। उनकी पृष्ठभूमि मे और उनसे दूर भी कुछ है। हमे विश्व को ईश्वर के अन्दर विलीन करना होगा, सान्त को अनन्त के अन्दर एव अनालोचनात्मक प्रत्यक्ष सत्ता को आध्यात्मिक ब्रह्म मे विलीन करना होगा। उपनिषदो मे कही भी इस प्रकार का सकेत नही है कि ये पदार्थ जो हमारे चारो ओर अनन्त देश के विस्तार मे और अपने भौतिक शरीरो के कारण है जिनका हमारे साथ सम्बन्ध है, केवल आभास-मात्र हैं।

उपनिषदो के सिद्धान्त की समीक्षा बहुत कुछ इस मिथ्या विचार के आधार पर हुई है कि वह जगत् के भ्रान्तिस्वरूप का समर्थक है। यह दृढतापूर्वक तर्क किया जाता है कि उन्नति अवास्तविक है, क्योकि उन्नति एक प्रकार का परिवर्तन है और परिवर्तन अवास्तविक

१. यही कारण है कि कुछ उपनिषदों में 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। देखिए, बृहदारण्यक, २ : ४, १४ ; ४ : ३, ७ ; ४ : ४, १६।

है क्योकि काल, जिसके अन्तर्गत परिवर्तन होता है अवास्तविक है। किन्तु सारा दोषारोपण एक मिथ्या धारणा के आधार पर है। यह सत्य है कि परमसत्ता काल के अन्तर्गत नही है किन्तु काल परमसत्ता के अन्तर्गत है। परमसत्ता के अन्तर्गत ही हमे वास्तविक विकास मिलता है जो रचनात्मक विकास है। भौतिक प्रक्रिया एक वास्तविक प्रक्रिया है क्योकि यथार्थसत्ता अपने को भौतिक परिवर्तनो के अन्दर एव उनके द्वारा ही अभिव्यक्त करती है। यदि हम यथार्थसत्ता की खोज किसी नित्य एव कालातीत शून्य में करेंगे तो वहां हम इसे नही पाएगे। उपनिषदें जिस विषय पर बल देती हैं वह केवल यह है कि काल की प्रक्रिया का आधार एव सार्थकता एक ऐसी परमार्थसत्ता मे है जो कालातीत है। वास्तविक उन्नति के लिए परम यथार्थसत्ता की धारणा आवश्यक है। बिना इस सर्वज्ञानी परमसत्ता के हमें यह निश्चय नही हो सकता कि विश्व का निःसरण एक प्रकार का विकास है और परिवर्तन उन्नति है, एव ससार का अन्तिम लक्ष्य श्रेयस (पुण्य) की विजय है। परमसत्ता हमे इस विषय का निश्चितरूप से विश्वास दिलाती है कि विश्व की प्रक्रिया अस्तव्यस्तरूपक नहीं किन्तु सुव्यवस्थित है और यह कि विकास अव्यवस्थित रूप मे नही है न ही किन्हीं आकस्मिक परिवर्तनो का परिणाम है। यथार्थसत्ता असम्बद्ध अवस्थाओ की शृङ्खला भी नहीं है। यदि ऐसा होता और यदि परमार्थसत्ता कोई न होती तो हम ऐसी निरन्त प्रक्रिया के चगुल में जा फसते जिसकी पृष्ठभूमि मे कोई भी योजना अथवा प्रयोजन कार्य करता न प्रतीत होता। परमसत्ता का एकत्व जगत के विकास मे बराबर और आदि से अन्त तक अपना कार्य करता है। हम असहाय रूप मे एक ऐसे पदार्थ को ग्रहण करने के लिए निश्चय ही सघर्ष नही कर रहे हैं जिसका अभी अस्तित्व नही है अथवा भविष्य मे भी कभी न होगा। एक अर्थ मे यथार्थसत्ता की अभिव्यक्ति इस विकास के दौरान मे हर क्षण मे होती है। विद्यमान और आनेवाले दोनो ही एकात्मक और एकरूप हैं। इस दृष्टिकोण से उपनिषदो की शिक्षा मे अनिवार्य सामजस्य मिलता है। वे जगत की भ्रान्तिरूपता के सिद्धान्त की बिलकुल भी समर्थक नही हैं। होपकिंस कहता है कि 'क्या प्राचीन उपनिषदो मे कहीं भी ऐसा कुछ है जिससे यह प्रदर्शित होता हो कि उनके रचयिता भौतिक जगत को भ्रान्तिरूप समझते थे? बिलकुल भी नही।'[1]

१२

यथार्थसत्ता की अवस्थाए

जहा तक परमसत्ता का सम्बन्ध है, श्रेणियो का कोई प्रश्न सर्वथा ही नही उठता। श्रेणीबद्धता का विचार केवल सीमित बुद्धि के लिए ही कुछ अर्थ रखता है जो वस्तुओ के अन्दर

१ जर्नल आफ द अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी २२ पृष्ठ ३८५। सर आर जी० भण्डारकर का मत है कि 'यह सम्मति जो कुछ प्रसिद्ध विद्वानों ने भी प्रकट की है, कि उपनिषदों की शिक्षा की प्रमुख विषयवस्तु जगत् को भ्रान्तिरूप से निरूपण करना है और एक आत्मा का ही अस्तित्व है एक मिथ्या धारणा है और मैं यहा तक कह सकता हू कि इस प्रकार की सम्मति एक असमीक्षात्मक निर्णय है।' ('वैष्णविज्म' पृष्ठ २, पाद टिप्पणी)।

भेद करती है। इसका परमार्थरूप मे कुछ महत्त्व नही है। जबकि जगत् की अनेकता को एकत्वरूप मे परिणत कर दिया गया तो श्रेणियो का विचार स्वत. ही दब गया। उपनिषदो की आध्यात्मिक सत्ता मे सत्ताओ की कोई क्रमिक व्यवस्था नही है। तो भी अनुभवात्मक जगत् मे इसका अपना महत्त्व है। जगत् की कुल उन्नति इसको अपने अन्दर स्थान देती है। सत्ता की हरएक उन्नति की माग एव हरएक परिवर्तन इसकी पूर्व-कल्पना करता है। सापेक्ष भौतिक जगत् मे यथार्थसत्ता के स्वरूप का सामीप्य प्रत्येक पदार्थ के अन्दर यथार्थसत्ता के अश की न्यूनाधिकता की परख करता है। परमसत्ता के विषय मे हम इतना कुछ पर्याप्त ज्ञान रखते है कि इस जगत् मे इस ज्ञान का उपयोग कर सकें। उपनिषदो के इस मत की शकर ने रक्षा की है। इस समस्या के समाधान मे कि ब्रह्म ज्ञात है अथवा अज्ञात, और यदि ज्ञात है तो हमे इसके स्वरूप के विषय मे जिज्ञासा नही करनी चाहिए और यदि अज्ञात है तो भी जिज्ञासा का कोई मूल्य नही, शकर कहते है कि आत्मा के रूप मे यथार्थसत्ता नि सन्देह ज्ञात है। यह इस प्रकार के कथनो के द्वारा हमे अपना ज्ञान करा देती है, यथा, 'मैं प्रश्न करता हू', अथवा 'मैं सन्देह करता हू'; यह कि यथार्थसत्ता कोई वस्तु है, स्वत प्रकट सत्य है। हमे केवल उसके स्वरूप को ही समझना है। यह यथार्थसत्ता जिसका हम अनुभव करते हैं, परख का काम देती है जिसके द्वारा हम अन्य सत्ताओ मे सत्य की मात्राओ को जान सकते हैं। जगत् के भ्रान्तिमय होने का सिद्धान्त यथार्थसत्ता की श्रेणियो के विचार के साथ मेल नही खा सकता। उपनिषदें हमारे सम्मुख सत्ताओ की एक विभिन्न श्रेणीयुक्त धर्मसत्ता प्रस्तुत करती है, जिसमे सर्वोपरि सत्ता सर्वग्राही परमसत्ता है जो मुख्य उद्भव एव जगत्-सम्बन्धी प्रक्रिया का अन्तिम विलयन-स्थान भी है। उच्च एव नीच विभिन्न प्रकार के अस्तित्वमय प्राणी सब उसी एक परमसत्ता की अभिव्यक्ति है, क्योकि इस पृथ्वी पर कोई वस्तु अकेली स्थिर नही रहती, चाहे वह कितनी ही अपेक्षाकृत अपने-आपमे पूर्ण अथवा आत्मनिर्भर प्रतीत होती हो। प्रत्येक सीमित पदार्थ अपने अन्दर भेद रखता है, जिन भेदो के कारण ही वह परमसत्ता से दूर है। जबकि परमसत्ता सब सीमित पदार्थों के अन्दर भी है और उनको आच्छादित भी किए हुए है, पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न है—अपनी-अपनी आच्छादनीयता के श्रेणीभेद से एव उस पूर्णताभेद के कारण जो अपनी अभिव्यक्ति बाहर की ओर करती है।

> समस्त अश एक समान नही, किन्तु एक-से प्रतिभासित है—
> एक उज्ज्वल ज्योति से।...

जड प्रकृति की अपेक्षा सुव्यवस्थित चेतनामय जीवन मे यथार्थसत्ता की अभिव्यक्ति अधिक प्रचुर मात्रा मे होती है और चेतन प्राणियो मे भी मानव समाज मे सबसे अधिक मात्रा मे अभिव्यक्ति होती है। यथार्थसत्ता की अभिव्यक्ति की पर्याप्त-अपर्याप्त मात्रा ही सब पदार्थों के ऊचे या नीचे दर्जे की निर्णायक है। जीवन प्रकृति की अपेक्षा ऊची श्रेणी मे है। आत्मचेतना का विचार केवल चेतना से अधिक ठोस एव पूर्ण है। "वह व्यक्ति जो अतर्निहित आत्मा के क्रमिक विकास से अभिज्ञ है, अधिक विकास को प्राप्त होता है। इस जगत् मे पौधे,

बीज से मनुष्य की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार मनुष्य के अन्दर अन्न का सारभूत तत्त्व है।"[1] जीवन के भौतिक आधार का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार प्रकृति के विकास का क्रम प्रतिपादन करता है। सबसे उच्च पदार्थ मे सबसे नीचे पदार्थ के गुण विद्यमान है। आकाश सबसे पहले आता है, जिसका एकमात्र गुण 'शब्द' है। यही वह वस्तु है जिसके कारण हम सुनते है। आकाश से हम वायु की ओर चलते है जिसमे आकाश का गुण है और उसके साथ-साथ स्पर्शगुण भी है। इसीके कारण हम सुनते है एव छूकर अनुभव करते हैं। वायु से अग्नि की ओर आते है। यह वह वस्तु है जिससे हम सुनते, अनुभव करते एव देखते है। अग्नि से हम जल की ओर आते है। हम इसका स्वाद भी ले सकते है। जल से पृथ्वी की ओर आते है, जिससे हम सुनते, अनुभव करते, देखते, स्वाद लेते और सूघते है। यद्यपि यह विज्ञान जिसकी प्राचीन समय मे कल्पना की गई थी, आज के समय मे कृत्रिम, कल्पित एव विचित्र प्रतीत हो सकता है, तो भी इस वर्णन मे एक सिद्वात काम करता था। हम यह सबसे पूर्व उपनिषदो मे ही देखते है कि पाच तत्त्वो के सिद्धात का वर्णन है। पदार्थो एव पचतत्त्वो की तन्मात्रा के मध्य मे भेद का सुझाव सबसे प्रथम यही मिलता है।[2] छान्दोग्य उपनिषद् मे अनेक स्थानो पर सकेत है कि ससार के पदार्थ गुण-भेद के कारण परस्पर एक-दूसरे से भिन्न है और अनन्त हिस्सो मे विभक्त हो सकते है। उद्दालक इस कल्पना को विचारार्थ प्रस्तुत करता है कि प्रकृति के अनेक हिस्से हो सकते है और विभिन्न गुणो के कारण पहचाने भी जा सकते है। वस्तुओ का परस्पर रूप परि-वर्तित होना ऐसी कोई चीज नही है। जब हम दही का मन्थन करके उसमे से मक्खन निकालते है तो दही मक्खन के रूप मे परिवर्तित हो जाता हो ऐसी बात नही है, किन्तु मक्खन के कण पहले से दही मे विद्यमान थे जो मन्थन की क्रिया से ऊपर आ जाते है।[3] अनक्सागोरस नामक दार्शनिक का कथन कि भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राकृतिक तत्त्व एक-दूसरे के अन्दर प्रवेश करते है, इसीके समान है "तब यदि एक भौतिक तथ्य, जैसेकि एक पौष्टिक भोजन का परिपाक, यह प्रदर्शित करता हुआ प्रतीत होता है कि अनाज मास और अस्थि के रूप मे परिवर्तित हो गया है, तो हमे इस घटना की व्यवस्था अवश्य इस रूप मे करनी होगी कि अनाज के अपने अन्दर वह वस्तु इतनी अधिक सूक्ष्म राशि मे उपस्थित है जो हमे प्रत्यक्ष तो नही हो सकती किन्तु वही परिवर्तित होती है। यथार्थरूप मे अनाज मास, रक्त, मज्जा एव हड्डी के कणो को अपने अन्दर निहित रखता है।"[4] कणाद का अणुवाद भी इस मत से प्रस्तुत किया जाता है, अर्थात् कण ही परस्पर मिलते है और अलग होते है। प्रकृति को एक अव्यवस्थित पुज के रूप मे वर्णन किया गया है जैसेकि नाना वृक्षो के रस को परस्पर फेटकर उन्हे शहद मे मिला दिया जाए।[5] इस मत मे सांख्यमत को लक्षित करना असम्भव नही है। प्रकृति के विकास की व्याख्या करते हुए बताया जाता है

१ तैत्तिरीय उपनिषद्, २ . १।
२ देखिए, प्रश्न, ४ ८, ऐतरेय, ३ ३, कठ, ३ १५, प्रश्न, ४ ४।
३ छान्दोग्य, ६ . ६, १।
४ ऐटम्सन 'दि डिवेलपमेंट ऑफ ग्रीक फिलासफी', पृष्ठ ५०।
५. छान्दोग्य, ६ ९, १–२।

कि या तो जीवात्मा का प्रवेश प्रकृति के अन्दर होता है अथवा आत्मा के द्वारा नानाविध श्रेणियों में उसके अन्दर चेतना का प्रवेश कराया जाता है। कभी कभी यह भी कहा जाता है कि गति का तत्त्व स्वयं प्रकृति के अपने अन्दर विद्यमान है। यद्यपि प्राण अथवा जीवन का प्रादुर्भाव प्रकृति से ही है किन्तु प्रकृति के द्वारा इसकी व्याख्या नहीं हो सकती। इसी प्रकार से चेतनता यद्यपि इसका प्रादुर्भाव जीवन से ही है, प्राण अथवा जीवन की कल्पना द्वारा बुद्धि में नहीं आ सकती। जब हम मनुष्य तक पहुंचते हैं तो हमें आत्म चेतना का विचार होता है। मनुष्य पाषाणों नक्षत्रों पशुओं एवं पक्षियों से उच्च श्रेणी का है, क्योंकि वह तर्क और इच्छा प्रेम एवं विवेक में साथ दे सकता है तो भी उच्चतम वह भी नहीं है क्योंकि उसे भी प्रतिकूलता का दुःख अनुभव होता है।

इससे पूर्व कि हम इस विभाग से आगे बढ़ें आइए हम इसपर विचार करें कि क्या उपनिषद् के सिद्धांत का सर्वेश्वरवाद के रूप में निरूपण करना ठीक है। सर्वेश्वरवाद के मत से ईश्वर और पदार्थों के समस्त पुंज में सारूप्य है एवं इस मत में ईश्वर सर्वातिशायी नहीं है। यदि संसार के प्रसारण में परमसत्ता सम्पूर्णरूप से समाविष्ट होकर उससे अतिरिक्त रूप में कुछ नहीं रहती अर्थात् उक्त दोनों एकरूप हो जाते हैं तो इसीका नाम सर्वेश्वरवाद है। किन्तु उपनिषदों में ऐसे परिच्छेद आते हैं जो स्पष्टरूप से कहते हैं कि संसार के प्रसरण में परमसत्ता का स्वरूप पूर्णरूप से उसके अन्दर समाविष्ट होकर निःशेष नहीं हो जाता। संसार की विद्यमानता से परमसत्ता का पूर्णत्व सर्वथा नष्ट (अथवा विलुप्त) नहीं होता। एक सुन्दर रूपक में यह कहा गया है वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है उस पूर्ण में से यह पूर्ण उद्धृत होता है। इस पूर्ण को उस पूर्ण में से निकाल लेने के पीछे जो बच जाता है वह तब भी पूर्ण है। परमेश्वर भी अपने को सृष्टिरूप में परिवर्तित करने पर अपने स्वरूप में से कुछ भी नहीं खोता। प्राचीन से प्राचीन समय में अर्थात् ऋग्वेद में भी यही कहा गया है कि सब प्राणी मात्र पुरुष का केवल चतुर्थांश हैं जबकि अवशिष्ट तीन चौथाई अविनश्वर रूप में प्रकाशमान लोकों में स्थित रहता है।[1] बृहदारण्यक के अनुसार (५ १४) ब्रह्म के एक पग में तीन लोक हैं दूसरे में तीन प्रकार का वेदज्ञान है तीसरा पग तीन जीवितजीवितपूर्ण उच्छ्वास (प्राण अपान उदान) हैं एवं चौथा पृथ्वी के ऊपर उठकर सूर्य के समान द्युतिमान है।[2] उपनिषदें स्पष्टरूप में कहती हैं कि विश्व परमेश्वर के अन्दर है। किन्तु यह मत उन्होंने कहीं नहीं प्रतिपादित किया कि विश्व परमेश्वर है। परमेश्वर विश्व से महान् है क्योंकि विश्व उसका कार्य है। वह इतना तो है ही किन्तु इससे भी परे है ठीक जैसे मनुष्य का व्यक्तित्व शरीर से परे है क्योंकि शरीर इसके जीवन का साधनमात्र है। उपनिषदें परमात्मा को जगत् में व्याप्त रूप से निरूपण करती हैं। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि परमेश्वर बाहर स्थित होकर विश्व की रचना करता है और जगत् से भिन्न रहता है। परमेश्वर जगत् के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है और यह जगत् उसकी सत्ता का अभिव्यक्ति मात्र है। परमब्रह्म अपनी अन्तःपूर्णता में समस्त पदार्थों से पूर्ण स्थिर है जहां भौतिक

[1] १० ९० ३; देखिए छान्दोग्य उपनिषद् भी, ३ १२ ६।
[2] ५ १४ १२।

एवं पार्थिव सत्ताओं के रूप में अपने स्वयं का सदृश निर्माण किया है, अपने इन सब अभिव्यक्त रूपों से भी ऊपर विद्यमान रहता है। परमेश्वर विश्व के ऊपर भी है और विश्व में समाविष्ट भी है। उपनिषदें उस परिभाषा के प्रचलित अर्थों में सर्वेश्वर-वादी नहीं हैं। पदार्थ बिना किसी एकता, प्रयोजन अथवा गुणभेद के एकमात्र पुञ्जरूप में एकत्र नहीं हो गए, जिन्हें परमेश्वर के नाम से पुकारा जाता है। परमात्मा के देहधारी देवता स्वरूप के विचार के विरुद्ध उपनिषदें विद्रोह करती हैं। वे यह भी नहीं कहतीं कि परमेश्वर जगत् के बाहर है एवं कभी-कभी अलौकिक दैवीय प्रेरणा अथवा चमत्कार-पूर्ण हस्तक्षेप द्वारा अपनी उपस्थिति का महत्त्व अनुभव कराता रहता है। यह सर्वेश्वर-वाद है, यदि सर्वेश्वरवाद से तात्पर्य यह है कि परमेश्वर हम सबके जीवनों की मौलिक यथार्थसत्ता है और यह कि बिना उसके हम नहीं जीवित रह सकते। इस जगत् में प्रत्येक पदार्थ सीमित भी है; और अनन्त भी; पूर्ण भी है, अपूर्ण भी। प्रत्येक वस्तु अपने से परे एक श्रेयस् की खोज में है; अपनी सीमितता को दूर करना चाहती है और पूर्णता प्राप्त करना चाहती है। सान्त अपने को सर्वातिशयी बनाने के लिए प्रयत्न करता है। यह स्वरूप से इस विषय की स्थापना करता है कि अनन्त आत्मा सान्त के अन्दर काम कर रहा है। यथार्थसत्ता असत् का आधार है। यदि परब्रह्म की अन्तर्यामिता के सिद्धांत से उपनिषदों के सर्वेश्वरवाद की पर्याप्त मात्रा में दोषशुद्धि हो जाती हो, तो उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धांत को सर्वेश्वरवाद के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इन अर्थों में सर्वेश्वरवाद प्रत्येक सत्यधर्म का अनिवार्य स्वरूप है।

१३

जीवात्मा

उपनिषदों का मत है कि सान्त पदार्थों की श्रेणी में जीवात्मा के अन्दर यथार्थसत्ता का अंश सबसे उच्चकोटि का है। यह परमब्रह्म के स्वरूप के सबसे अधिक निकट है, यद्यपि यह स्वयं परमब्रह्म नहीं है। ऐसे भी परिच्छेद उपनिषदों में हैं जिनमें सान्त जीवात्मा का विश्व के प्रतिबिम्ब के रूप में प्रतिपादन किया गया है। समस्त संसार सान्त जीवात्मा के अनन्तता-प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्न की प्रक्रिया-स्वरूप है और यही प्रसरणशील शक्ति जीवात्मा में पाई जाती है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार, विश्व के अनेक अवयव (घटक) जीवात्मा के स्वरूप में दृष्टिगोचर होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में (६, २, ३ और ४) कहा गया है कि अग्नि, जल और पृथ्वी मिलकर अनन्त सत्ता के तत्त्व को साथ लेकर जीवात्मा की सृष्टि करते हैं।[1]

१ "ईश्वर ने समस्त अन्तरिक्ष, पृथ्वी और प्रकाशपुंजों को,
पशु-पक्षी, मीन और कीट-पतंगों को
एकत्र कर प्रतिष्ठित किया मानव में—
विभिन्न जीवन-शृंखलाओं का पुनर्गठन कर
समस्त सृष्टि के योग, इस सूक्ष्म-ब्रह्माण्ड मानव को रचा।" —ब्राउनिंग।

यथार्थसत्ता की विविध अवस्थाओं के परस्पर मिलने का लक्ष्यबिंदु मानव है। शरीरस्थ प्राण सांसारिक वायु के अनुरूप है, मानस आकाश के अनुरूप, अर्थात मानव का मन संसार के आकाश (ईथर) के अनुरूप है और ठोस भूतरूप शरीर भौतिक अवयवों के अनुरूप है। मानव आत्मा का सम्बन्ध ऊपर से नीचे तक सत्ता की प्रत्येक श्रेणी के साथ है। इसके अन्दर एक दैवीय अंश है जिसे हम आनन्ददायक चेतना के नाम से पुकारते हैं अर्थात् आनन्द की अवस्था जिसके द्वारा विशेष क्षणों में यह परमसत्ता के साथ साक्षात घनिष्ठ सम्बन्ध में संयुक्त हो जाता है। सान्त आत्मा अथवा शरीरधारी आत्मा वह आत्मा है जिसके साथ इन्द्रियों एवं मन का सम्बन्ध है।[1]

विभिन्न अवयव अस्थिर समानता में हैं। 'दो पक्षी एक जैसे और परस्पर मित्र उस एक ही वृक्ष से चिपटे हुए हैं। उनमें से एक तो वृक्ष के स्वादु फलों का स्वाद लेता है किन्तु दूसरा फलों को खाए बिना उसकी ओर ताकता रहता है। उसी संसार रूपी वृक्ष में मानव ईश्वर के साथ निवास करता है। आपत्तियों में घिरकर वह मूर्छित होता है और अपनी ही असमर्थता के ऊपर दुःख प्रकट करता है। किन्तु जब वह दूसरे को देखता है—जगत के स्वामी को तो उसके सान्निध्य में प्रसन्न होता है। आहा उसकी कितनी दिव्य ज्योति है! उस समय उसकी विपत्तियों का अन्त हो जाता है।'[2] प्राकृतिक और दैवीय दोनों ने अभी तक एक स्थायी सामंजस्य नहीं प्राप्त किया। वैयक्तिक जीवात्मा की सत्ता सतत परिणति को प्राप्त कर रही है एक ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील है जो यह नहीं है। मानव के अन्तर्हित अनन्त सत्ता जीवात्मा को प्रेरणा करती है कि वह बहुत्व के अन्दर एकत्व स्थापित करे जो समस्या उसके सामने है। सान्त और अनन्त के मध्य जो यह प्रसरण निरन्तर संसार की प्रक्रिया में विद्यमान है मानव चेतना के रूप में सम्मुख आ जाता है। उसके जीवन के बौद्धिक मनोभाव-सम्बन्धी एवं नैतिक—प्रत्येक पक्ष में इस संघर्ष का अनुभव किया जा सकता है। परमेश्वर के राज्य में वह प्रवेश पा सकती है जहां कि नित्य यथार्थताएं परम प्रेम और परम स्वातन्त्र्य के रूप में केवल अपने व्यक्तित्व को विलोप करके और अपनी समस्त सान्तता को अनन्तता में परिणत करके एवं मानवीयता को देवत्व में परिणत करके निवास करती हैं। किन्तु जब तक वह सान्त है और मानवीय रूप धारण किए है उसे फल की प्राप्ति नहीं हो सकती न वह अन्तिम लक्ष्य तक ही पहुंच सकती है। वह सत्ता जिसमें यह चेष्टा देखी जा सकती है अपने से दूर का निर्देश करती है और इसलिए मनुष्य जीवन से भी ऊपर जाना ही होता

और भी देखें ऐतरेय ३ ३ श्वेताश्वतर, २ १२, ६ प्रश्न ६ ११। जीवात्मा विश्व का संक्षिप्त रूप है और संसार जीवात्मा का विशाल रूप है। प्लेटो ने अपने टाइमियस ग्रन्थ में विश्व-ब्रह्माण्ड एवं क्षुद्र जगत् के मध्य विश्व एवं मानव के सादृश्य का वर्णन किया है। परमब्रह्म ने संसार की आत्मा को मिश्रित करके परिवर्तनशील और परिवर्तनरहित के मध्य में विश्व के मध्य में बैठा दिया (३४ बी)। उसके अनुसार विश्व मानव का ही बृहदाकार रूप है। देखिए, तैत्तिरीय, १ ३ और उसपर आनन्दगिरि की टीका।

१ छान्दोग्य उपनिषद् ८ १२ ३।

२ मुण्डक ३ १ २ देखिए ऋग्वेद १ १६४, २०।

है। सान्त जीवात्मा अपने-आपमें पूर्णसत्ता नहीं है। यदि वह ऐसी हो तो परमेश्वर केवल एक अन्य स्वतन्त्र व्यक्ति-मात्र रह जाएगा,जो सान्त जीवात्मा द्वारा परिमित होगा। आत्मा की यथार्थता अनन्त में है। और अयथार्थता, जिससे पीछा छुड़ाना है, सान्त है। यदि अन्तर्यामी आत्मा को पृथक् कर दें तो सान्त जीवात्मा उस यथार्थता को भी जो कुछ उसमें है, खो देती है। अनन्त की अन्दर उपस्थिति के कारण से ही मानव को उन्नत पदवी प्राप्त होती है। जीवात्मा अपना अस्तित्व एवं अपनी स्थिति दोनों ही विश्वात्मा से प्राप्त करती है। आत्मा पूर्ण है (Sub specie aeternitatis)।[1] एक मनोवैज्ञानिक पक्ष ऐसा है जिसपर आत्माएं एक-दूसरे को परे हटाती हैं एवं एक-दूसरे से अतिरिक्त रहती हैं। इस प्रतीयमान घटना से हमें यह अनुमान न लगा लेना चाहिए कि वस्तुतः आत्मा एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। पृथक्त्व केवल एक प्रकार से प्रतीयमान भेद है। इसे सादृश्य के रूप में ही समझना चाहिए, अन्यथा यह केवल हमारे मनों का अमूर्तीकरण रह जाएगा। आत्माओं के पृथग्भाव की कल्पना मान लेने पर सत्य के आदर्शों, सदाचार एवं प्रेम के लिए फिर कोई स्थान नहीं रह जाता। इस प्रकार इस बात की परिकल्पना होती है कि मनुष्य जिस स्थिति में है, पूर्ण नहीं है; और वास्तविक आत्मा से भी ऊंची कोई सत्ता है जिसको प्राप्त करना मन की शान्ति के लिए आवश्यक है। "और जीवात्मा की स्वतन्त्र यथार्थता, जब हम इसकी परीक्षा करते हैं, यथार्थ में केवल एक भ्रान्ति ही प्रतीत होती है। समुदाय के अतिरिक्त मनुष्य पृथग्रूप में क्या है? यह सबके अन्दर सामान्य रूप से वर्तमान मन ही है जो मनुष्य रूपी जीव को यथार्थता प्रदान करता है, और स्वतन्त्र रूप में वह और जो कुछ भी हो, मानवीय नहीं है'''यदि सामाजिक चेतना के विषय में नाना प्रकार की आकृतियों में यह सत्य है, यह उस सामान्य मन के विषय में भी कम सत्य नहीं है जो सामाजिक से भी अधिक है। सान्त मानस, जो धर्म के क्षेत्र में और धर्म के लिए एक धार्मिक इकाई का निर्माण करते हैं, वस्तुत. अन्त में कोई दृष्टिगोचर मूर्त रूप नहीं रखते, किन्तु तो भी सिवाय एक अदृश्य समुदाय के सदस्य होने के नाते वे यथार्थ एकक नहीं है। संक्षेप में कह सकते हैं कि एक जो अन्दर अवस्थित आत्मा है यदि उसे हटा दें तो धर्म के लिए और कोई आत्मा नहीं रह जाती।"[2]

यद्यपि व्यक्तिगत जीवात्मा निम्नतम प्रकृति के साथ संघर्ष करती हुई संसार में सबसे ऊंची है, फिर भी यह इतनी ऊंची नहीं जिसे ग्रहण किया ही जाना चाहिए। मनुष्य की विसंवादी आत्मा को अपनी स्वतन्त्रता एवं सामंजस्य का आह्लाद और परमसत्ता की प्राप्ति का सुख प्राप्त करना चाहिए। केवल उसी समय जबकि उसके अन्दर स्थित ईश्वर अंश को पहचान लेता है, और केवल तभी जबकि आदर्श अपनी फल-प्राप्ति तक पहुंच जाता है, मनुष्य का अंतिम लक्ष्य पूरा हो सकता है। संघर्ष, परस्पर-विरोध और जीवन के विरोधाभास ये सब अपूर्ण विकास के लक्षण हैं, इसके विपरीत सामंजस्य, हर्ष, और शान्ति विकास की प्रक्रिया की पूर्णता को द्योतित करते हैं। जीवात्मा एक प्रकार का युद्धक्षेत्र है, जिसमें युद्ध होता है। युद्ध को समाप्त होना ही चाहिए और विरोधों से ऊपर उठना

१. देखिए शंकर, 'इण्ट्रोडक्शन टु वेदान्तसूत्र'।
२. ब्रैडले: 'ट्रुथ ऐण्ड रियलिटी', पृष्ठ ४३५।

आदर्श को ग्रहण करना चाहिए। ईश्वर के प्रति झुकाव जो पूर्णताप्राप्त मनुष्य में प्रारम्भ होता है उस समय पूर्णरूप से सफल होगा। विश्व के और सब पक्षों में मनुष्य ऊंचा है और जैसे ही वह अनन्त के साथ ऐक्य प्राप्त कर लेता है उसका लक्ष्य पूरा हो जाता है। प्रकृति के अन्दर जीवन गुप्तरूप से निहित है और जब जीवन विकसित हो जाता है तो प्रकृति का लक्ष्य पूरा हो जाता है। जीवन के अन्दर चेतना गुप्त रहती है और जब जीवन चेतना को स्वतन्त्र कर देता है इसका उद्देश्य पूरा हो जाता है। जब बुद्धि अभिव्यक्त होती है तब चेतना का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। किन्तु बुद्धि का सत्य तभी प्राप्त होता है जब वह ऊंचे दर्जे के आत्मज्ञान में विलीन हो जाती है जो स्वयं में न तो विचार है न इच्छा और न अनुभव ही है किन्तु तो भी विचार का लक्ष्य है, इच्छा का उद्देश्य है और अनुभव की पूर्णता है। जब सान्त जीवात्मा शिरोमणि सत्ता ब्रह्म को प्राप्त कर लेती है अर्थात् उस परब्रह्म को जिससे यह प्रादुर्भूत हुई थी तो धार्मिक जीवन का भी लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। "जब एक ज्ञानवान मनुष्य के लिए जीवात्मा सब पदार्थों का स्वरूप हो जाती है और जब उसने एक बार उस ऐक्य का साक्षात्कार कर लिया तो उसके लिए फिर क्या दुःख एवं क्या कष्ट रह जाता है।"

१४

उपनिषदों का नीतिशास्त्र

उपनिषदों के नीतिशास्त्र का मूल्यांकन करने के लिए हम उनके द्वारा प्रतिपादित आदर्श की तात्त्विक उलझनों पर पहले विचार करना होगा और फिर उपनिषद्-वाक्यों में दिए गए सुझावों को विकसित करना होगा। हमारे पूर्व के विवादों से यह स्पष्ट हो गया कि उपनिषदों का आदर्श परमेश्वर के साथ ऐक्यभाव प्राप्त करना है। संसार की रचना इसके अपने लिए नहीं हुई है। यह परमेश्वर से प्रादुर्भूत होता है और इसीलिए इसे परमेश्वर के अन्दर ही विश्राम करने के लिए प्रयत्न करना है। संसार की प्रक्रिया के अन्दर बराबर इस सान्त का प्रयत्न अनन्तता की प्राप्ति की ओर है। शेष संसार की भांति अपने अन्दर अव्यवस्थित अनन्त के दबाव का अनुभव करके मानव अपने हाथ उन्नततम के पास पहुंचने के लिए फैलाता है। 'सब पक्षी अपने अभीष्ट आवासस्थान की ओर जाते हैं। इसी प्रकार यह सब जगत सर्वोपरि परब्रह्म के प्रति जाता है।'[1] 'क्या मैं तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट हो सकता हूं हे प्रभु, जैसे तुम हो? हे प्रभु, तुम मेरे अन्दर प्रविष्ट हो जाओ मैं पवित्र और शुद्ध हो जाऊं हे प्रभु!'[2] 'तुम मेरे विश्रामस्थान हो।'[3] 'परमेश्वर के साथ एकत्व को प्राप्त कर लेना मनुष्य का आदर्श है। मानवीय चेतना एवं अन्य सबके अन्दर जो भेद है वह यह है कि जहां और सब सान्त की खोज करते हैं केवल मनुष्य को ही अन्तिम उद्देश्य का विचार है। विकास के अनेक युगों के पश्चात् मनुष्य को विश्व की महान योजना का ज्ञान प्राप्त हो सका है। केवल वही अनन्त के आह्वानों को अनुभव कर

१ प्रश्न ४ : ७।　　　　　　　　　　　　　　　२ तैत्तिरीय, १ : ४।
३ तैत्तिरीय १ : ४ देखें बृहदारण्यक ४ : ३ : ३२।

सकता है। और पूरे ज्ञान के साथ दैवीय पदवी को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ता है, जो उसकी प्रतीक्षा मे है। परमसत्ता सान्त आत्मा के लिए एक निश्चित लक्ष्य है।

यह सबसे उन्नत एव पूर्ण है,सबसे अधिक वाछनीय आदर्श है,इस बात का कई प्रकार से प्रतिपादन किया गया है।यह एक ऐसी अवस्था है "जो भूख-प्यास से बहुत ऊपर,दु ख और मति-विभ्रम से भी ऊपर औ वृद्धावस्था एव मृत्यु से भी ऊपर है।" "जैसे सूर्य, जो विश्व का चक्षु है, अत्यन्त दूर स्थित है और आखो को होनेवाले रोगो से सर्वथा अछूता रहता है,ठीक इसी प्रकारसे यह एक, आत्मा, जिसका निवास सब प्राणियो मे है, पृथक् निर्लिप्त रहती है और इसे ससार के दु ख नही व्यापते।" बहुत्वसम्पन्न ससार मे रहना, अपना सब कुछ क्षुद्र-रूप आत्मा के ऊपर निछावर कर देना और इस प्रकार रोग एव दु ख की अधीनता मे रहना वस्तुत. दुर्भाग्य का विषय है। उन कारणो का निराकरण करना जो हमे सान्त सत्ता की ओर ल जाते है, मनुष्य का उचित उद्देश्य है। बहुत्ववाद से वापस लौटकर एकत्व मे आ जाना एक आदर्श लक्ष्य है और अत्यधिक महत्त्व का है। यह मनुष्य की जीवात्मा को पूर्णरूपेण सन्तोष देता है। तत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार, यह 'प्राणाराम मन आनन्द शान्तिसमृद्धम् अमृतम्'—जीवन एव मन को आह्लाद देनेवाला,शान्ति एव नित्यता की पूर्णता है। निम्न स्तर के लक्ष्य, जिनके पीछे हम लालायित रहते है, इसी जीवित शरीर को सन्तोषदायक सिद्ध हो सकते है अथवा मानसिक इच्छाओ की पूर्ति कर सकते है, किन्तु वे सब इसके अन्दर निविष्ट है, और यह उनसे भी ऊपर है। हमारे आगे भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख हे, जो हमारे जीवन के भिन्न-भिन्न स्तरो के अनुकूल है; जैसे जीवनदायक सुख, इन्द्रियभोगजन्य सुख, मानसिक एव बौद्धिक सुख। किन्तु सबसे उन्नत एव उत्कृष्ट सुख आनन्द है।

हमे उपनिषदो मे जो कुछ भी नीतिशास्त्र उपलब्ध होता है वह सब इसी उद्देश्य का सहकारी है। कर्तव्य कर्म उच्चतम पूर्णता के उद्देश्य की प्राप्ति का साधनमात्र है। इस सर्वोन्नत अवस्था से कम मे कही सन्तोष नही मिल सकता। सदाचार का महत्त्व भी तभी है जबकि वह उक्त लक्ष्य की प्राप्ति की ओर हमे अग्रसर करे। मनुष्य के हृदय के अन्दर जिसका अकुर उपस्थित हे उस पूणता के प्रति धार्मिक स्फुरण की यह अभिव्यक्ति है। यह नित्य यथार्थसत्ता के प्रति श्रद्धा एव भक्ति का भाव ही है जो हमारी चेतनामय आत्मा को विवश करता है। इस कथन का कि कर्तव्य कर्म "परमात्मा की वाणी की कठोर पुत्री है" यही अर्थ है। हमारे जीवन का पूर्ण आदर्श केवल नित्यसत्ता मे ही उपलब्ध होता है। सदाचार का नियम पूर्ण बनने के लिए एक निमन्त्रण के समान है, "जैसे तुम्हारा स्वर्गस्थ परमपिता पूर्ण है।"

इससे पूर्व कि हम नैतिक जीवन के विवेचन को हाथ मे ले, हम उन आपत्तियो पर भी विचार कर ले जो साधारणत उपनिषदो की दार्शनिक पद्धति मे नीतिशास्त्र की सम्भावना के विरुद्ध की जाती हे। यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सब एक है तो नैतिक सम्बन्ध कैसे बन सकते है। यदि परमसत्ता पूर्ण है तब फिर उसे प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार के प्रयत्न को आवश्यकता ही कहा रह जाती है, क्योकि वह तो पहले ही उपलब्ध है। परन्तु अद्वैतवाद का अर्थ यह नही है कि पुण्य एव पाप के मध्य जो

भेद है उसे सर्वथा उडा दिया जाए। अन्यता के एव बहुगुणता के भाव को जो नैतिक जीवन के लिए बहुत आवश्यक है उपनिषदों ने मान्यता दी है। उनका कहना है कि हम अपने पडोसी के प्रति प्रेम करने एव ससार के एकत्व को प्राप्त करने के लिए कहने का कोई अर्थ ही नहीं है यदि परस्पर भेद भाव मनुष्यों के जीवन में मौलिकरूप से विद्यमान है। यदि मनुष्य वस्तुत एक दूसरे से लीबनीज के मूलजीवों (स्वयभू व्यक्तियों) की तरह बाह्य एव पृथक् पृथक् हैं और यदि पूर्वस्थित साम्य में कोई सुधार नहीं हो सकता तब तो नैतिक आदर्श की प्राप्ति असम्भव है। यदि हमे अपने पडोसी से प्रेम करने का आदेश दिया जाता है तो इसीलिए क्योकि यथार्थ में सब एक हैं। मेरा पडोसी और मैं अपनी अन्तरात्मा में वस्तुत एक ही हैं—यदि ऊपरी एव क्षणभगुर भेदो से हम ऊपर उठ सकें। यथार्थ आत्मा जो परमार्थरूप से और नित्यरूप में विशुद्ध है देश और काल की परिवर्तनशील उपाधियों से परे है। हम अपने पृथक्त्व से ऊपर उठने को जो कहा जाता है यह निरर्थक वचन नहीं है। मोक्ष का यौगिक अर्थ है छुटकारा पाना। इन्द्रियों के विषयों के बन्धनों एव व्यक्तित्व से तथा उस सबसे जो सकीर्ण और सान्त है अपने को मुक्त कर लेने का नाम मोक्ष है। यह स्वात्मा के विस्तार एव स्वतन्त्रता का परिणाम है। सम्पूर्ण सौजन्य का जीवन बिताने का ही तात्पर्य है कि हम अपने और अन्य सबके जीवनों में एकत्व को ग्रहण कर चुके हैं। यह आदर्श जिसके लिए मानव का नैतिक स्वरूप लालायित रहता है केवल उसी अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है जबकि यह सान्त आत्मा अपने सकीर्ण व्यक्तित्व से ऊपर उठकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ अपने तादात्म्य को पहचान लेती है। मोक्ष का मार्ग आत्मा की उन्नति का मार्ग है। अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर जिस यथार्थसत्ता के अन्दर हम रहता है वही सबसे उच्च है और उसी यथार्थसत्ता पर उपनिषदों में विशेष बल दिया गया है।

यह कहा जाता है कि नैतिक पुरुषार्थ के लिए कहीं जगह नहीं है क्योंकि मनुष्य स्वभाव से दैवीय है। केवल इसलिए कि ईश्वर का निवास मनुष्य के अन्दर है यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि इसके साथ ही समस्त पुरुषार्थ की समाप्ति हो जाती है। ईश्वर मनुष्य के अन्दर अवश्य है किन्तु इतना अधिक प्रकटरूप में नहीं है कि मनुष्य उधर से बिलकुल गाफिल रहकर और बिना किसी पुरुषार्थ के ही उसकी सत्ता को सुरक्षित रख सके। ईश्वर मनुष्य के अन्दर सम्भावना के रूप में विद्यमान है। मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह उसे पुरुषार्थ एव बल से ग्रहण करे अर्थात उसकी सत्ता का अनुभव करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो अपने कर्तव्य से च्युत होता है। मनुष्य के अन्दर ईश्वर की उपस्थिति सत्य घटना भी है और सम्पादन योग्य कार्य भी है एक समस्या भी है और एक निधि भी। मनुष्य अपने अज्ञान के कारण बाह्य आवरणों के साथ जो भौतिक एव मानसिक आवरणमात्र हैं अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। परमसत्ता के प्रति उसकी अभिलाषा का सबध उसकी सान्तता एव परिमित शक्तियों के साथ होता है। यद्यपि व्यक्तिरूप जीवात्मा में दिव्य ज्योति का प्रकाश होता है वह स्वय पूर्णरूप में दैवीय नहीं है। उसकी दैवीयता यथार्थ नहीं है किन्तु सम्पूर्णता को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा लिए हुए परमात्मा का एक अशमात्र है। वर्तमानरूप में वह धूल भी है और

देवता भी है, वह ईश्वर और पशु से मिलकर बना है। नैतिक जीवन का यह काम है कि वह अदैवीय तत्त्व को निकाल बाहर कर दे, उसका सर्वथा नाश करके नही अपितु दैवीय भाव से उसे दबाकर।''[1] प्रकृति की सान्त दाय एव आत्मा के अनन्त आदर्श के बीच मे मनुष्य एक प्रकार का विसवाद है और उसे प्रकृति के विशृङ्खल तत्त्वो को क्रमश. दिव्य आत्मा के प्रति झुकाकर अपने लक्ष्य तक पहुचने के लिए पुरुषार्थ करना होता है। यह उसका उद्देश्य है कि वह अपनी सत्ता के परिमित आवरण को छिन्न-भिन्न करके अपने को प्रेमपूर्वक दिव्य एव पूर्ण आत्मा के साथ सयुक्त कर ले। नैतिकता की समस्या का महत्त्व उस मनुष्य के लिए अत्यधिक है जिसका जीवन सान्त एव अनन्त के मध्य मे एक सघर्ष का एव राक्षसी तथा दैवीय तत्त्वो के मध्य सग्राम का है। मनुष्य सघर्ष के लिए उत्पन्न हुआ है और बिना विरोध के अपने-आपको नही पहचान सकता।

राथीतर का तथ्य, पौरुशिष्टि की तपस्या एव मौद्गल्य की विद्वत्ता[2] आदि उच्चतम सत्ता को प्राप्त करने के नाना प्रकार के मार्गों से—जिनका उल्लेख उपनिषदो में मिलता है—यह स्पष्ट है कि उस युग के विचारको ने नीतिशास्त्र की समस्याओ पर पर्याप्त चिन्तन किया था। विभिन्न विचारको के मतो का विस्तार से वर्णन न करके हम केवल कुछ ऐसी सामान्य स्थापनाओ का ही यहा वर्णन करेगे जिन्हे उन सबने समानरूप से अगीकार किया है।

नीतिशास्त्र का आदर्श है अपने-आपको पहचानना। नैतिक आचार आत्माभिज्ञानपूर्वक आचरण है, यदि आत्मा से तात्पर्य हमारा उस भौतिक (आनुभविक) अह से न हो जिसमे सब प्रकार की दुर्बलता एव असस्कृति, स्वार्थपरायणता और लघुता सम्मिलित है, बल्कि मनुष्य के उस गम्भीरतम स्वरूप से हो जो सब प्रकार के स्वार्थमय व्यक्तित्व के बन्धनो से स्वतन्त्र है। पाशविक अह की वासनाए एव राग, अहभाव की इच्छाए एवं महत्त्वाकाक्षाए जीवनधारिणी शक्तियो को आत्मा के निम्न स्तर तक बद्ध रखती हैं और इसलिए उनको वश मे रखना आवश्यक है। आत्मा की उन्नति के लिए एव उच्चतम सत्ता को ग्रहण करने के लिए जो बाधाए अथवा विरोधी प्रभाव है उन्हे दबाना होगा। नैतिक जीवन विचारशील एव तर्कसगत जीवन है, वह केवल इन्द्रियभोग एव सहज प्रवृत्ति का जीवन नही है। ''आत्मा को रथ मे बैठनेवाला स्वामी करके जानो, शरीर को रथ करके जानो, बुद्धि को रथ-सचालक सारथी करके जानो, तथा मन रास (लगाम) की जगह है, इन्द्रिया घोडो की जगह हैं और सासारिक पदार्थ मार्ग हैं। बुद्धिमान लोग इन्द्रियो एव मन से सयुक्त आत्मा को ही भोक्ता कहकर पुकारते हैं। किन्तु जो व्यक्ति दुर्बल है और अज्ञानी है उसकी इंद्रिया उसके वश मे न रहकर शैतान घोडो की तरह रथी के वश से बाहर होकर इधर-उधर निरुद्देश्य रूप से दौडती हैं। इसके विपरीत जिसे ज्ञान है और जो मानसिक बल से युक्त है उसकी इन्द्रिया भली प्रकार वश में रहती हैं जैसेकि अच्छे घोड़े एक रथी के वश मे रहते हैं। ऐसा व्यक्ति जो अज्ञानी है और विवेकशून्य एव अपवित्र है, अमरत्व को कभी प्राप्त नही

१ 'इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ एथिक्स', (१९१४), पृष्ठ १६६।
२ तैत्तिरीय उपनिषद्, १ ९।

कर सकता न अभौतिक अवस्था को ही पहुच सकता है बल्कि बार बार जन्म (आवागमन) के चक्र म घमता है। किन्तु वह जो ज्ञानी है और विवेक शक्ति रखता है और पवित्र है उस अवस्था तक पहुच जाता है जहा से फिर उसे इस जन्म के चक्र म लौटने की आव यकता नहीं होती। [1] कामना की सहज प्रवत्ति को वश म रखना होगा। जब कामना जीवन के शासनसूत्र को हाथ म ले ले तो आत्मा के लिए घ्वस अवश्यम्भावी है क्योंकि मनुष्य-जीवन का यह धम नहीं है। यदि हम बुद्धि द्वारा निर्दिष्ट आदर्श को ग्रहण नहीं करते और एक उच्चतर नतिक धम को भी स्वीकार नहीं करते तो हमारा जीवन पशु के समान होगा जिसका कोई स य नहीं कोई उद्देश्य नहीं और ऐसे जीवन मे हम बिना सोच-समझे दिन रात काम म रत रहते हैं प्रम करते हैं किसीसे घृणा करते हैं किसीको अत्यन्त प्यार से गले लगाते हैं और बिना किसी प्रयोजन व कारण के किसीकी जान तक ले लेते हैं। बुद्धि के द्वारा हमें स्मरण होता है कि भौतिक प्रकृति मात्र से भी ऊची कोई सत्ता है और बुद्धि ही हमें प्ररणा करती है कि हम अपनी भौतिक सत्ता को मानुषिक सत्ता म परिणत करें जिस सत्ता का कुछ अथ है कुछ प्रयोजन है। इस प्रकार के संकेतों के रहते हुए भी यदि हम इसके विरुद्ध सुखोपभोग को अपने सब कार्यों का उद्देश्य बनाते तो हमारा यह जीवन नतिक बुराई का जीवन होगा और मनुष्य योनि के अनुरूप भी हम न रह सकेंगे। केवल बुद्धिसम्पन्न होने से ही मनुष्य पशुओं से ऊपर नतिक नहीं उठता यदि हम अपनी बुद्धि का प्रयोग उसी प्रकार करें जिस प्रकार कि पशु अपनी सहज प्रवत्तियों का करते हैं। [2] केवल दुराचारी जन ही ससार के भौतिक पदार्थों को देवता करके मानते है व उनकी पूजा करते हैं। अब विरोचन अपने विचार से सन्तुष्ट असुरों के पास गया और उन्हें इस सिद्धात का उपदेश देने लगा कि केवल शरीरधारी आत्मा की पूजा करनी चाहिए और इसीकी एकमात्र सेवा करनी चाहिए और वह जो शरीर की पूजा करता है एव इसकी सेवा मे रत रहता है इहलोक एव परलोक दोनो लोकों को प्राप्त करता है। इसलिए वह ऐसे मनुष्य को जो अग्र है तो मनुष्य किन्तु जो इस लोक मे दान नहीं करता जो श्रद्धावान नहीं है और एकदम यज्ञ नहीं करता असुर नाम से पुकारते हैं क्योंकि इस प्रकार के सिद्धात असुरों के ही होते हैं। [3] हमारा जीवन जब उस माग म प्ररित होगा तब निष्फल आशाओं एव भयों के ही अधीन रहेगा। विवेकी जीवन मे एकता एव सगति स्पष्ट लक्षित होगी। मानवीय (अर्थात आसुरी जीवन के विपरीत) जीवन के विभिन्न भाग क्रमबद्ध और एक ही सर्वोपरि आदर्श की अभिव्यक्ति करेंगे। किन्तु यदि बुद्धि के स्थान म हमारे प्रेरक हमारी इन्द्रियां होंगी तो हमारा जीवन एक ऐसे दपण के समान होगा जिसमे क्षणिक वासनाएं एव अस्थिर प्रवत्तियां ही प्रतिबिम्बित हो सकेंगी। उस व्यक्ति को जो इस प्रकार का जीवन व्यतीत करता है डागबरी के समान केवल गधा ही कहा जाएगा। उसके जीवन का जो जीवन की केवल असम्बद्ध एव बिखरी हुई घटनाओं की शृ खलामात्र होगा कोई प्रयोजन नहीं होगा वह किसी काम का नहीं होगा और न ही उसका कोई उद्देश्य होगा। एक विवेकी जीवन म

१ कठ उपनिषद्।
२ काट थियरी आफ एथिक्स ऐबट राचित।
३ छान्दोग्य ८ ८ ४-५।

कर्म का प्रत्येक क्रम, इसकेपूर्व कि उसे अंगीकार किया जाए, सबसे पहले बुद्धि के न्याया-लय मे उपस्थित किया जाएगा और उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति की उसकी क्षमता को परखा जाएगा और उसी अवस्था मे उसपर आचरण किया जाएगा जबकि वह जीवात्मा व्यक्तित्व के उपयुक्त सिद्ध होगा।"[1]

इस ससार मे नि स्वार्थ निष्ठा वाला जीवन ही विवेकपूर्ण जीवन है। बुद्धि हमे यह बतलाती है कि विश्वात्मा के अतिरिक्त, जिसका कि वह अशमात्र है, जीवात्मा के अपने पृथक् स्वार्थ कुछ नही है। यदि मात्र वह इन्द्रियभोग-सम्बन्धी अपनी पृथक् सता के विचारो को त्याग दे तो वह भाग्य के बन्धन से मुक्ति पा जाएगी। वह मनुष्य जो अपने जीवन मे निजी हितो को सामाजिक हितो के अधीन कर देता है, सज्जन या धर्मात्मा है एव जो इसके विपरीत आचरण करता है, दुर्जन या दुरात्मा है। जीवात्मा स्वार्थपरक कर्मो को करती हुई अपने को बन्धन मे बाध लेती है जो केवल उसी अवस्था मे कट सकते है जबकि वह पुन अपने व्यापक विश्वात्मा के जीवन मे अधिकार का दावा करती है। इस प्रकार के समचिन्तन का मार्ग सबके लिए खुला है और आत्मा के विस्तार की ओर हमे ले जाता है। यदि हम पाप से दूर रहना चाहते है तो हमे स्वार्थ से बचना चाहिए, हमे अपने अणुरूप जीवात्मा के सर्वोपरिता-विषयक मिथ्याभिमानो एव मूर्खता-पूर्ण असत्यो को दूर करना चाहिए। हममे से प्रत्येक अपने को एक अनन्य इकाई एव अपने भौतिक शरीर तथा मानसिक घटनाचक्र की परिधि से बाहर की किसी सत्ता से सर्वथा पृथक् अहम् मानता है। वे सब भाव जो नैतिक दृष्टि से दोषपूर्ण है इसी अहभाव से उत्पन्न होते हैं। हमे अपने जीवन एव आचरण मे इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि सब वस्तुए ईश्वर मे है और ईश्वर के लिए है। एक ऐसा व्यक्ति जिसने इस तथ्य को समझ लिया है, अपने जीवन के परित्याग की भी कामना करेगा सब प्रकार के स्वार्थपरक पदार्थो से घृणा करेगा और अपनी सब सम्पत्ति को भी बेच देगा और यदि ससार उसे घृणा करे तब भी उसे कुछ लगाव न होगा, वह केवल इस प्रकार के आचरण से ईश्वर के विश्वव्यापी जीवन के साथ तादात्म्य प्राप्त कर सकता है। एक प्रकार से उपनिषदो की नैतिक शिक्षा वैयक्तिक या जीवात्मा-सम्बन्धी है, क्योकि इसका उद्देश्य आत्मा के स्वरूप को पहचानना है। किन्तु यहा वैयक्तिक शब्द का अर्थ पृथक्त्व नही है। अपने-आपको पहचानना, अपने को सर्वोत्तम के साथ तादात्म्यरूप मे पा जाना है और वह सबके लिए एक समान है। नैतिक जीवन ईश्वरोन्मुख या ईश्वरकेन्द्रित जीवन होता है। ऐसा जीवन मानवता के प्रति उत्कट प्रेम और श्रद्धा से ओतप्रोत होताहै, और सान्तको साधन बनाकर अनन्त की साधना करता है। वह छोटे-छोटे उद्देश्यो के लिए स्वार्थपरक साहस का कार्य मात्र नही होता।[2]

सान्त पदार्थ हमे वह सन्तोष प्राप्त नही करा सकते जिसकी हमारी आत्मा को भूख है। जिस प्रकार बुद्धि के क्षेत्र मे हमे आनुभाविक जगत् के पदार्थो मे यथार्थसत्ता की उपलब्धि नही होती, उसी प्रकार से हमे सान्त परितोषो द्वारा नैतिक क्षेत्र मे परम

१. 'इण्टरनेशनल जर्नल आफ एथिक्स', (१९१४), पृष्ठ १७१–७२।
२ ईश उपनिषद्, १।

साधुता की प्राप्ति नहीं हो सकती।' 'अनन्त आनन्दमय है जबकि सान्त पदार्थों में आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता।' वन के लिए प्रस्थान करते हुए याज्ञवल्क्य ने अपनी सारी सम्पत्ति को अपनी दोनों पत्नियों, मैत्रेयी और कात्यायनी के बीच बांट देने का प्रस्ताव उपस्थित किया। मैत्रेयी नहीं समझ सकी कि वह क्या करे, अपनी गृहस्थी के पदार्थों के सन्दर्भ में गोचर की हुई वह बाहर की ओर केवल वन की दिशा में ही देखने लगी। उस दिन उसने एक क्षुद्र व्यक्ति को जो बिना किसी उद्देश्य के बिना विश्राम किए जल्दी जल्दी काम कर रहा था बहुत कुछ बुरा भला कहा। सान्त पदार्थ जो कुछ हम उनके द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं उससे ठीक विपरीत परिणाम देते हैं। हमारी अन्तरात्मा सच्चा सन्तोष चाहती है और किसी अवस्था में भी उससे न्यून नहीं, जोकि अनन्त शक्ति ही हमें प्राप्त करा सकती है। हम सान्त पदार्थों की खोज करते हैं व हम प्राप्त हो जाते हैं किन्तु उनसे सन्तोष एवं तृप्ति नहीं होती। हम समस्त संसार को भी क्यों न विजय कर लें तो भी हम असन्तोष बना ही रहता है—हम फिर भी चाह करते हैं कि विजय करने के लिए और भी अधिक संसार क्यों न हुए। वह जहां तक पहुंचा है उससे भी आगे जाना चाहता है। यदि आकाश में भी पहुंच जाए तो भी उससे परे जाने की कामना करता है। 'हममें से अधिकतर व्यक्ति उस मार्ग पर हैं जिससे धन सम्पत्ति मिलती है किन्तु अनेक मनुष्य उसमें नष्ट हो जाते हैं।' पदार्थों के दास बनकर और बाह्य वस्तुओं में अपने को लिप्त करके हम यथार्थ आत्मा को भूल जाते हैं। इसी से कोई मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। 'अचेत युवक की दृष्टि में परलोक का विचार कभी उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वह लक्ष्मी की माया से मूर्च्छा में डूबा हुआ है। वह मानता है कि यही लोक है। इससे अन्य और कोई लोक नहीं। इस प्रकार से बार बार वह मृत्यु के चंगुल में फंसता है।' 'बुद्धिमान मनुष्य अमर (ब्रह्म) के स्वरूप को पहचानकर इस लोक के अस्थायी पदार्थों में कुछ स्थिरता नहीं पाते।' ईश्वर से वियुक्त होकर मनुष्य दारुण व्यथा का अनुभव करता है और ईश्वर के साथ योग होने के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उसके हृदय की भूख को नहीं मिटा सकती। 'जीवात्मा की अपरिमित महत्त्वाकांक्षाएं आत्मरूप से ऐसी सुन्दर (अभिराम) सत्ता के लिए जो निष्कलंक रूप से पवित्र और विशुद्ध है देश काल एवं इन्द्रियों की बेड़ियों में जकड़े हुए परिमित पदार्थों द्वारा तृप्त नहीं हो सकतीं। ऐसे भी अनेक मनुष्य हैं जो परम योग्य सत्ता के साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने के आदर्श की प्राप्ति की इच्छा रखते हैं। किन्तु जब तक वह सत्ता मात्र एक अन्य मानवीय सत्ता ही है जिसके साथ देश और काल का बन्धन लगा हुआ है उनका आदर्श पूर्ण नहीं हो सकता। किसी अन्य मानुषिक सत्ता—स्त्री या पुरुष के अन्दर प्रेम एवं सौन्दर्य के पूर्णरूप को खोजना केवल अपने को धोखा देना है। पूर्णता

१ छान्दोग्य ७ २४। २ ऐतरेय आरण्यक ३ २ १।
कठ उपनिषद् २ -३। ४ कठोपनिषद् ६।
५ क। ।

५ मुझे त्यागकर देने से तुम सब अयत्नदयनीय हो। मैं कभी भी नहीं जानता कि कौन मुझे बचा सकता है —(जेन)।

का ग्रहण करना तो केवल नित्य में ही संभव है और इसके लिए संसार एवं सांसारिक सम्पत्ति से असंग होना आवश्यक है। प्रारम्भ से ही ऐसे व्यक्ति रहे हैं जिन्होने संसार से विरक्त होने मे ही दु ख से त्राण पाने का प्रयत्न किया है। बहुत-से व्यक्ति ऐसे भी हुए हैं जो स्त्री-पुत्र, सब पदार्थों एवं अपनी चल सम्पत्ति का त्याग करके और भिक्षुकरूप धारण करके अकिञ्चनता एव जीवन की पवित्रता द्वारा ही मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा मे घर से निकल पड़े। तपस्वियों के इन समुदायो ने जिन्होंने उन सब बन्धनो को तोड़ दिया जो उन्हे गृहस्थ-जीवन मे आबद्ध रखते थे, बौद्धो के वैराग्य के मार्ग का आश्रय लिया। पवित्र त्याग का जीवन ही मोक्ष का प्रधान मार्ग समझा गया है।

परिणाम यह निकलता है कि उपनिषदें नैतिक जीवन के आन्तरिक स्वरूप पर बल देती हैं और आचरण के प्रेरक भाव को अधिक महत्त्व देती हैं। आभ्यन्तर पवित्रता बाह्य क्रियाकलापो एवं लक्षणो की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती है। उपनिषदें केवल इतना ही आदेश नही करती कि "चोरी मत करो", "किसीकी हत्या मत करो"; बल्कि वे यह घोषणा भी करती हैं कि "लोभ मत करो", अथवा "किसीसे घृणा मत करो एव क्रोध, दुर्भावना तथा लालच के वशीभूत मत होओ।" मन को पहले अवश्य शुद्ध-पवित्र करना होगा, क्योंकि यदि जड़ को वैसे ही बना रहने दिया जाए तो केवल वृक्ष की पत्तियो को काट देने मात्र से कोई लाभ नही। आचरण का निर्णय उसके विपर्यीगत मूल्य किंवा त्याग की मात्रा के आधार पर किया जाता है।

उपनिषदों के अनुसार, समस्त ससार मनुष्य की आत्मा के ही समान ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। यदि उक्त सिद्धात पर बल देने का तात्पर्य यह समझा जाए कि समस्त प्रेम संकुचित होकर अन्त मे अहभाव मे ही समा गया है, तो उपनिषदें स्वीकार कर लेती हैं कि नैतिक तत्त्व और प्रेम उच्चतम सत्ता की प्राप्ति के ही स्वरूप हैं किन्तु अहभाव के अधीन हैं। याज्ञवल्क्य का मत है कि आत्मप्रेम अन्य सब प्रकार के प्रेम की नींव में निहित है। लक्ष्मी, सम्पत्ति, जाति एव देश का प्रेम आत्मप्रेम के विशिष्ट रूप हैं। सान्त पदार्थ का प्रेम केवल यान्त्रिक महत्त्व रखता है, जबकि नित्य का प्रेम आतरिक मूल्य रखता है। "पुत्र इसलिए प्यारा है, क्योकि उसमे नित्यसत्ता का निवास है।" सान्त पदार्थ हमे आत्मा की पहचान करने मे सहायक होते हैं। नित्य के प्रति जो प्रेम है केवल वही सर्वोपरि प्रेम है और यह स्वय अपना पुरस्कार है, क्योकि परमेश्वर प्रेमस्वरूप है।[1] परमेश्वर का प्रेम आनन्द है; उससे प्रेम न करना दु ख का कारण है। परमात्मा के प्रति प्रेम करना ज्ञान एवं अमरत्व प्राप्त करना है। उसके प्रति प्रेम न रखने से मनुष्य का जीवन सशय और भ्राति, दु.ख एव मृत्यु का शिकार होता है।[2] सब सत्य-धर्मों मे हम इसी सर्वोपरि भाव को पाते हैं। "वह जो मेरे प्रति पापकर्म करता है, अपनी आत्मा का अनिष्ट करता है। वे सब जो मुझसे दूर रहते हैं, मृत्यु से प्रेम करते हैं।"[3] पापी मनुष्य आत्मघाती हैं—उन्हें उपनिषदो ने 'आत्महनो जना.' कहा है।

१. कामायतन, बृहदारण्यक, ३ : ६, ११।
२. बृहदारण्यक, ४ : ४, ५।
३. प्रॉव०, ८ : ३६; देखें, ईश उपनिषद्।

उपनिषदें हम निर्देश करती हैं कि हम स्वार्थमय प्रयत्नों को त्याग दें किन्तु सब हितों को नहीं। अहंभाव से पृथक रहकर ईश्वर से संयुक्त होना ही उपनिषदों की मांग है। एक प्रशान्त महात्मा कामना तो रखता है किन्तु स्वार्थपरक कामनाएं नहीं। "जिस व्यक्ति की इच्छाएं नहीं हैं जो इच्छाओं से विमुक्त है जिसकी इच्छाएं पूर्ण हो चुकी हैं, जिसकी इच्छा मात्र लक्ष्य केवल आत्मा है, वह चाहे तो ब्रह्म को भी पा सकता है।[1] काम जिसका परित्याग करने को हमें कहा जाता है वस्तुतः इच्छा नहीं है—किन्तु केवल पाशविक इच्छा है। कामवासना पशुरूपी मनुष्य की प्रबल इंद्रिय प्रेरणा का नाम है। काम के परित्याग का शास्त्रों में उपदेश है किन्तु यह केवल निष्क्रियता नहीं है। हमें आदेश दिया गया है कि हम अपने को कामवासना एवं लालसा से विमुक्त करें, बाह्य वस्तुओं की चकाचौंध से अलग रहें सहजप्रवृत्तिजन्य उत्कट अभिलाषाओं की पूर्ति से दूर रहें।[2] वास्तविक इच्छा का निषेध नहीं किया गया है। यह सब पदार्थ के ऊपर निर्भर करती है। यदि मनुष्य की इच्छा विषयासक्ति के प्रति है तो वह व्यभिचारी हो जाता है, यदि सुन्दर पदार्थों की अभिलाषा है तो कलाकार बन जाता है, और यदि ईश्वर प्राप्ति की इच्छा है तो वह सन्त बन जाता है। मोक्ष एवं ज्ञान की प्राप्ति की इच्छाओं का अत्यधिक महत्त्व है। इच्छाओं में भी भेद है अर्थात् सत्य एवं मिथ्या इच्छाएं।[3] हमें निर्देश किया गया है कि हम केवल सत्य इच्छाओं में ही भाग लें। नचिकेता जैसी धर्मनिष्ठा एवं पितृभक्ति सती सावित्री-सा प्रगाढ़ प्रेम एवं पतिभक्ति, यह दूषण नहीं है। सृष्टि के स्वामी का काम इच्छा के अर्थों में है। उसने कामना की (स अकामयत), आओ मैं अनेक बन जाऊं। यदि परम प्रभु भी इच्छा करता है तो हम क्यों न करें? उपनिषदों में हमें कहीं भी अनुराग एवं प्रेम की नितान्त निन्दा नहीं मिलती। हमें अभिमान रोष कामवासना आदि के निर्मूलन का तो आदेश किया गया है किन्तु प्रेम के कोमल मनोभावों करुणा एवं सहानुभूति इत्यादि का त्याग देने का आदेश नहीं है। यह ठीक है कि जहां तहां उपनिषदें तपस्या का धार्मिक सिद्धि के रूप में प्रतिपादन करती हैं किन्तु तपस्या का केवल अर्थ है आत्मशक्ति का विकास अर्थात् आत्मा को दैहिक दासता से मुक्त करना गम्भीर चिन्तन अथवा मानस को सशक्त बनाना 'जिसका तपस विचारस्वरूप है।[4] जीवन एक प्रकार का महान पर्व है जिसमें हमें निमन्त्रित किया गया है जिसमें कि हम तपस्या या आत्मत्याग, दान या उदारता आर्जव या सत्य-व्यवहार अहिंसा या किसीको कष्ट न पहुंचाना और सत्य-वचनों का प्रदर्शन कर सकें।[5] तपस्या अथवा त्याग द्वारा निरपेक्षता का भाव द्योतित होता है। 'अमरत्व की प्राप्ति न तो कर्म से, न सन्तान से और न धन-सम्पदा से वरन् त्याग द्वारा ही होती है।'[6] छान्दोग्य उपनिषद् (५ १०) में कहा है 'श्रद्धा तप' श्रद्धा ही तपस्या है। बाह्य पदार्थों

१ बृहदारण्यक, ४ ४, ६।

२ सच्चे महात्मा का वर्णन किया गया है कि वह शान्त दान्त उपरत एवं समाहित हो। इस सबमें तात्पर्य है वासना पर विजय।

३ छान्दोग्य, ७ १ ३।

४ मुण्डक, १ १ ९।

५ छान्दोग्य ३ १६ तैत्तिरीय १ ९।

६ नारायणीय ४ २१।

के बन्धन से मुक्त होने के लिए हमें वन के एकान्त में जाने की जरूरत नही, न एकांतवास को बढाने की आवश्यकता है और न तपस्या की, जिससे कि सासारिक पदार्थों का संबध एकसाथ ही छूट जाए। "त्याग भाव से तुम भोग करो," (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा.) ईश उपनिषद् में कहा है। हम संसार का सुखानन्द तभी प्राप्त कर सकते हैं जबकि हम सांसारिक सम्पदा के विनाशजनक दु ख के बोझ से दबे हुए न हो, हम ससार मे राजाओ के समान रह सकते है यदि हम लोलुपता की भावना को बिलकुल ही आश्रय न दें। हमारा सांसारिक सुखानुभव हमारी निर्धनता के साथ सीधा सम्बन्ध रखता है। त्याग की पुकार पृथक्त्व केभाव को सर्वथा मिटा देने के अर्थ मे है, और निरपेक्ष प्रेम सारे धर्म का यथार्थ सार है।[1]

वैदिककाल के पश्चात् भारतीय विचारधारा मे एक परिवर्तन हुआ।[2] अथर्ववेद के वैराग्यवाद के कारण रहस्यवादी प्रवृत्ति ने बल पकडा। ऋग्वेद की ऋचाओ के निर्माण-काल मे एक प्रकार के स्वार्थपरक भोग के लिए स्वच्छन्दता थी। मानवीय आत्मा की सहज धार्मिक भावना ने जोर मारा और उपनिषत्काल में इन्द्रियो के अत्याचार के विरोध में प्रबल आवाज सुनाई दी। आत्मा को और अधिक नि सहाय एव दु खी होकर उस विषय-वासना का अनुसरण नही करना होगा जो सिर उठाती है एव उपद्रव करती है। किन्तु इस त्याग के भाव की, उपनिषदो के काल मे, परवर्ती काल के मूर्खतापूर्ण वैराग्य के रूप में अवनति नही हुई, जिसमे शरीर को दागना आदि ऐसी ही अन्यान्य क्रियाएं प्रचलित हो गई। बुद्ध की भाति ही भारद्वाज भी सासारिक जीवन एव वैराग्य दोनो का विरोध करता है।[3] हम यहां तक कहेगे कि यह अपरिमित और हठधर्मिता की पराकाष्ठा को पहुचा हुआ वैराग्यवाद यथार्थ त्याग को लक्षित नही करता, वरन् एक प्रकार से स्वार्थपरता का ही रूपान्तर है। व्यक्तिगत और एकान्त मोक्ष की प्राप्ति के लिए इस विचार को लेकर किए गए प्रयत्न कि हमारी आत्मा अन्य सब एकत्रित सासारिक आत्माओ से अधिक मूल्यवान है, किसी यथार्थ एव विनम्र आत्मा का प्रकटीकरण नही है। उपनिषदो का निर्देश है कि हम कर्म करें किन्तु निर्लिप्त होकर करें। धार्मिक मनुष्य वह नही है जो संसार का त्याग करता है और एक निर्जन स्थान या मठ मे विश्राम प्राप्त करता है, बल्कि वह है जो ससार मे रहते हुए सासारिक पदार्थों से प्रेम करता है, केवल अपने ही लिए नही किन्तु उस अनन्त के लिए जो उनमे निहित है एव उस व्यापक विश्वात्मा के लिए जो उनके अन्दर गुप्त है। उसके लिए ईश्वर निरुपाधिक महत्त्व रखता है और सब पदार्थ सापेक्ष महत्त्व रखते हैं एवं वे सब ईश्वर तक अथवा पूर्णसत्ता तक पहुचने के लिए वाहनरूप हैं। प्रत्येक साधारण पालन किया हुआ कर्तव्य, प्रत्येक वैयक्तिक स्वार्थत्याग आत्मा को ग्रहण करने मे सहायक होता है। हम पिता (त्रिदेव) बन सकते हैं, क्योंकि वह एक उपाय है जिससे हम अपने सकीर्ण व्यक्तित्व से ऊपर उठकर अपने-आपको अधिक विस्तृत

१. "रे मूर्ख, जिसे तू बोता है उसके फलने में जल्दी नहीं हो सकती, सिवा इसके कि वह नष्ट हो जाए।"—(बाइबिल, कोरिंथियस, १५ : ३६)।

२. देखें, रीज डेविड्स : 'बुद्धिज्म, हिब्बर्ट लेक्चर्स', पृष्ठ २१–२२।

३. देखें, मुण्डक उपनिषद्।

प्रयोजनों के उपयुक्त बना सकते हैं। मानवीय प्रेम केवल दैवीय प्रेम की छायामात्र है। हम अपनी पत्नी से प्रेम कर सकते हैं उस आनन्द के लिए जो प्रत्येक पदार्थ के हृदय में वर्तमान है। "यथार्थ में पति पति होने मात्र से प्रिय नहीं होता किन्तु आत्मा के लिए प्रिय होता है," यह उपनिषद् का वचन है। यही कथन निरन्तर पुनरुक्ति के साथ किया जाता है स्त्री, पुत्र, राज्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों, सांसारिक धर्मों देवताओं, जगम जगत एवं विश्व आदि को विषयरूप में आगे रखकर। वे सब इस संसार में अपने लिए नहीं किन्तु उस नित्यसत्ता के लिए हैं।[1] संसार के पदार्थों को पाप के प्रति लुभाने के लिए नहीं अपितु आनन्द प्राप्ति के साधनरूप में सिरजा गया है।जहां हमारा दृष्टिकोण एक बार यथार्थ हो गया हमें धन-सम्पत्ति आदि सब कुछ मिल सकता है।[2] "ततो मे श्रियम् आवह" उसके पश्चात् मुझे लक्ष्मी प्राप्त कराओ। शंकर निर्देश करते हैं कि लक्ष्मी असंस्कृत व्यक्ति के लिए बुराई की जड़ है किन्तु बुद्धिमान के लिए नहीं। संसार की वस्तुएं जो प्रकटरूप में अदैवीय या भौतिक प्रतीत होती हैं धार्मिक आत्मा की सतत प्रतिद्वन्द्वी हैं। उसे उन वस्तुओं के पशुत्व से संघर्ष करना पड़ेगा और उन्हें दैवीय शक्तियों की अभिव्यक्ति का रूप देना होगा। वह यह सब कार्य इस निर्लिप्त भाव से करता है।[3] निर्लिप्त अथवा असंग होने से तात्पर्य है ऐसे प्रत्येक बन्धन को शिथिल करना, जिससे यह आत्मा पृथ्वी के साथ बंधी हुई है और किसी भी भूमंडलीय पदार्थ के ऊपर निर्भर न करना एवं किसी भी भौतिक इन्द्रियगम्य पदार्थ की ओर झुका हुआ न होना। दूसरे लोग हमारे विषय में क्या कहते या सोचते हैं या हमसे क्या कराना चाहते हैं उसकी तनिक भी परवाह न करना। अपने काम में हम ऐसे जुट जाएं जैसेकि एक योद्धा तैयार होकर युद्धभूमि में जाता है। परिणाम क्या होगा इसकी तनिक भी चिन्ता न करना। श्रेय सम्मान प्रसिद्धि अनुकूल परिस्थिति सुख सुविधा स्नेह मोह आदि की उस समय जरा भी परवाह न करना जबकि किसी धार्मिक कर्तव्य के लिए उनका बलिदान आवश्यक हो। [1]उपनिषदें आध्यात्मिक संघर्ष के लिए शारीरिक तैयारी की हमें प्रेरणा करती हैं। स्वच्छता, उपवास, इन्द्रियनिग्रह एकान्तवास इत्यादि का विधान शरीर शुद्धि के लिए किया गया है। मेरा शरीर समर्थ हो मेरी जिह्वा अत्यन्त मधुर हो, मैं कानों से अधिक सुन सकूं।[4] तात्पर्य यह है कि हम शरीर को बाधक (अवष्टम्भ) एवं आत्मा के ऊपर भार मानकर तुच्छ न समझें इसी प्रकार यह शरीर का पवित्रीकरण इन्द्रियों का स्वातन्त्र्य, मन का विकास अपने शरीर को कष्ट देने के समान भी नहीं है।[5] आगे चलकर छान्दोग्य उपनिषद्[6] में हमें यह भी निर्देश किया गया है कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति उन्हें ही होती है जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। ब्रह्मचर्य वह नियन्त्रण है जिसमें से प्रत्येक विद्यार्थी को गुरु से विद्याध्ययन करते समय गुजरना पड़ता है। यह संसार के त्याग के साथ तपस्या या वैराग्य

१ बृहदारण्यक २ ४ ५। २ तैत्तिरीय १ ४।

३ न्यूमैन 'युनिवर्सिटी स्केचेज' पृष्ठ १२७। ४ तैत्तिरीय १ ४।

५ गफ ने तपस् का आत्मपीडन के अर्थ में अनुवाद करके गलती की है। तैत्तिरीय उपनिषद् (१ ४) में जो निर्देश किया गया है वह इस अर्थ में है कि शरीर को ब्रह्म के निवास के योग्य बनाया जाए।

६ ८ ४ ३।

नही है, क्योंकि उसी उपनिषद् ने ८ : ५ मे ब्रह्मचर्य को यज्ञो के अनुष्ठान के समान स्थान दिया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो एक प्रकार का संकेत था जिससे ब्रह्मचर्य की मिथ्या व्याख्या, अर्थात् संसार-निवृत्ति की, न की जा सके। शरीर आत्मा का सेवक है, कारागाररूप नही। उपनिषदो मे इस प्रकार का कोई सकेत कही नही है जिसमे यह आदेश हो कि हमे जीवन, मन, चेतना, बुद्धि आदि का त्याग कर देना चाहिए। दूसरी ओर अन्त:स्थ दैवीय शक्ति का सिद्धान्त हमे इससे ठीक विपरीत दिशा में ले जाता है।

गफ का कहना है कि "उपनिषदों की व्याख्या के अनुसार, भारतीय ऋषि-मुनि दैवीय जीवन मे भाग लेने का प्रयत्न केवल पवित्र भावना, उच्च विचार एवं कठोर परिश्रम द्वारा नही, और न ही सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा सत्य-कार्य द्वारा अपितु एकान्तवास, अनासक्ति निष्क्रियता एव समाधि द्वारा भी करते हैं।"[1] यूकन के अनुसार, उपनिषदो का लक्ष्य "अधिकतर संसार मे घुसकर उसपर विजय पाना इतना नही है जितना कि उससे अनासक्ति एवं मुक्ति पाना है, कठोर से कठोर बाधा के विरुद्ध भी स्थिर रखने के लिए जीवन को दीर्घ बनाना नही है, वरन् प्रत्येक प्रकार की कठोरता को कम *करना एवं नरम करना है तथा एक प्रकार की विलीनता, धीरे-धीरे तिरोधान हो जाना* एव गम्भीर चिन्तन है।"[2] यहा पर वर्णित यह मत कि उन अवस्थाओ से जिनसे मनुष्य-जीवन का निर्माण होता है, मुक्ति पाना ही उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय है, पूर्णरूप से मिथ्या विचार है। उपनिषदें हमे जीवन को त्याग देने का उपदेश नही देती, न इच्छाओ को ही वर्जित करने का निर्देश करती हैं। नैतिक जीवन का सार इच्छा का प्रत्याख्यान करना नही है। मिथ्या वैराग्य—जो जीवन को एक स्वप्न व भ्रान्ति-मात्र समझता है और जो विचार कुछ भारतीय विचारको एव यूरोपीय विचारको के मन मे भी बार-बार आता है और उन्हे परेशान करता है—उपनिषदो के व्यापक भाव के सर्वथा विपरीत है। सासारिक जीवन मे एक स्वस्थ प्रसन्नता की लहर वातावरण मे हमे उपलब्ध होती है। ससार से विरक्त हो जाने का तात्पर्य मनुष्य-जाति के प्रति निराशा एव ईश्वर का पराभव है। "केवल कर्म करते हुए ही एक सौ वर्ष की आयु तक मनुष्य को जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए।"[3] ससार को त्याग देने का आदेश कही नही है, किन्तु उसकी पृथक् सत्ता मानने के स्वप्न को त्याग देने का आदेश अवश्य है। हमें उपनिषदो मे परदे के पीछे झाककर प्राकृतिक जगत् एवं मनुष्य-समुदाय के अन्दर स्थित ईश्वर को ग्रहण करने का आदेश दिया गया है। जो ससार के साथ निकटतम लगाव है उसे त्यागना है, उसके बाह्य स्वरूप से पृथक् होकर ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त होना है जिससे कि यह संसार अपने अन्दर के व हमारे अन्दर के दैवीय अश को अभिव्यक्त होने का अवसर दे सके। उपनिषदो की ससार के प्रति धारणा यह है कि यह मनुष्य की आध्यात्मिक क्रिया-शीलता के मार्ग मे विरोध उत्पन्न करनेवाला है। त्याग की दार्शनिक शिक्षा, जो वैराग्य-परक नीतिशास्त्र का विधान है, और संसार से ऊबकर एक क्लान्त मन.स्थिति बना लेना विश्व के स्रष्टा का अपमान है, हमारी अपनी आत्मा के प्रति भी अपराध है एव उस ससार के

१. 'फिलासफी ऑफ़ द उपनिषद्स', पृ० २६६–२६७।
२. 'मेन करेंट्स', पृ० १३।
३. ईश उपनिषद्, २।

प्रति भी दूषण है जिसका आधार हमारे ऊपर है। उपनिषदें परमेश्वर में आस्था रखती हैं और इसीलिए संसार में भी आस्था रखती हैं।

उपनिषदें केवल सत्यधर्म के भाव पर बल देकर ही नहीं सन्तुष्ट हो जाती, वे हमें हमारे कर्तव्यों का एक विधान विशेष भी देती हैं जिसके बिना नैतिक आदर्श एक अनिश्चित मार्गप्रदर्शक ही रह जाता है। आचरण की वह प्रत्येक अवस्था धार्मिक है—जहां वासना पर नियन्त्रण रखा जाता है और बुद्धि ही सर्वोपरि शासन करती है, जहां स्वार्थमय व्यक्तित्व की संकीर्णता से मुक्ति प्राप्त करके आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होना होता है जहां हम निरन्तर अनथक रूप से कर्म में तत्पर रहते हैं क्योंकि हम सब दैवीय योजना में परस्पर सहयोगी हैं। और उससे विपरीत कोई भी अवस्था अधार्मिक है। आत्मसंयम, उदारता और करुणा सद्गुण हैं।[1] इस सिद्धान्त का कि बायां हाथ न जाने कि दायां हाथ क्या करता है, निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया गया है : "श्रद्धा से दान दो न कि अश्रद्धा से, बहुतायत से दो, लज्जा से दो, भय से दो, सहानुभूति के साथ दो।"[2] छान्दोग्य उपनिषद् (३ : १७) में ईश्वर का ध्यान, दानशीलता, सत्य व्यवहार, अहिंसा और सत्यभाषण—सदाचार के ये प्रकार बताए गए हैं।[3] पशुजगत् को पीड़ा देने में संकोच करना शिकार हुए शशक के लिए दुःख प्रकट करना हमारे आधुनिक भावों के अनुसार मूर्खतापूर्ण भावुकता हो सकती है जो केवल तुनकमिजाज स्त्री जाति के ही योग्य है। किन्तु उपनिषदों में पशुसृष्टि के प्रति प्रेम को एक महान धर्म समझा गया है। इस भूमि पर उन सबके प्रति जिनमें जीवन है दयालुता एवं करुणा रखना भारतीय नीतिशास्त्र का एक सामान्य रूप है। आखेट के लिए एक मृग को मारना एवं कौतूहल के लिए किसी चूहे को सताना पाप गिना गया है। वासनाओं पर विजय पाने के लिए कभी-कभी विशेष नियन्त्रण का विधान है। भारतीय विचारक मानते हैं कि मन शरीर के ऊपर निर्भर करता है और इसलिए मन की पवित्रता के लिए वे भोजन की शुद्धि का होना आवश्यक बताते हैं।[4] वासनाओं का नियन्त्रण स्वेच्छा से किया जाना चाहिए किन्तु जहां वह सम्भव न हो वहां बलपूर्वक नियन्त्रण के साधनों का प्रयोग किया जाता है। तपस्या अथवा वासनाओं का वशीकरण बलपूर्वक बाह्य साधनों द्वारा किए जाने एवं 'न्यास' अथवा धार्मिक भावनाओं के द्वारा वासनाओं के त्याग में भेद किया जाता है। तपस्या का विधान वानप्रस्थ के लिए है जो निम्नतर श्रेणी में है और न्यास संन्यासी के लिए है। मन को एकाग्र करने को एवं चिन्तन की यौगिक प्रक्रियाओं की भी साधना करनी चाहिए। बुद्धिमान मनुष्य को अपनी वाणी का विलोप मन के अन्दर और मन का विलोप बुद्धि के अन्दर करना चाहिए।[5] समाधि एवं ध्यान स्थिति का विधान मन की शुद्धि के लिए किया गया है। जीवात्मा को आदेश दिया गया है कि वह अपने सब विचारों को अन्दर की ओर प्रवृत्त करके केवल ईश्वर का ही ध्यान करे उसकी कृपा की भिक्षा के लिए नहीं किन्तु उसके साथ तादात्म्य प्राप्ति के लिए। किन्तु चिन्तनात्मक जीवन का यह उन्नत स्वरूप

१ बृहदारण्यक उपनिषद्, ५ : २।
२ तैत्तिरीय उपनिषद्, १ : ११।
३ और भी देखें, ३ : ६, १२।
४ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।
५ कठ उपनिषद्, १ : ३, १३।

यथार्थसत्ता से बाहर नहीं है। यह केवल साधनमात्र है, जिसके द्वारा हम वस्तुओं की यथार्थता को देख सकते है। सतर्क एवं सूक्ष्म मन के द्वारा ही वह देखा जा सकता है।[1] ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास ये चारो आश्रम बनाए गए हैं, जिनमे से गुज़रकर मनुष्य धीरे-धीरे अपने को सांसारिक मल से शुद्ध कर सकता है और तब अपने आध्यात्मिक निवासस्थान मे प्रवेश पाने का अधिकारी हो जाता है।

प्रत्येक आर्य के लिए जब समाज के प्रति उसके समस्त कर्तव्य पूरे हो जाएं तो ससार से विरक्त होकर विश्राम करने का विधान है और यह मनुष्य-जीवन के अन्त भाग मे होता है। तपस्वी परिव्राजक, जिसका जीवन प्रेमस्वरूप है और आचरण धार्मिक है, अपनी दृष्टि स्वर्ग की ओर मोडता है और संसार के प्रलोभनो से अपने को स्वतन्त्र रखता है। भारत के निश्छल किन्तु भक्तिभावपूर्ण मुनियों को अविनाशी सौंदर्य और अनहद नाद का साक्षात्कार स्वप्नरूप मे हो जाता था। वे उस परम आदर्श के इतने सान्निध्य में रहते थे कि उसके अस्तित्व से आकृष्ट हो सकते थे। हमारे लिए यह केवल स्वप्नमात्र हो सकता है किन्तु वे इसी स्वप्न मे जीवन व्यतीत करते थे, और यह इसलिए उस सत्ता से अधिक यथार्थ है, अर्थात् भौतिक सत्ता से अधिक यथार्थ है, जिसकी वे उपेक्षा किया करते थे। तपस्वियो के लिए शरीर एवं आत्मा को साधने के वास्ते एक कठोर व्रत का विधान है क्योंकि केवल तपस्वी ही इस प्रकार का आदर्श जीवन व्यतीत कर सकते हैं। तपस्वी का जीवन कठोरतम पवित्रता एवं निर्धनता द्वारा शासित होना चाहिए। उसे पीत वस्त्र धारण करने चाहिए, अपने सिर को मुडाकर भोजन के लिए नगर के अन्दर भिक्षावृत्ति करनी चाहिए। ये साधन हैं जिनसे आत्मा के अन्दर नम्रता आती है। आत्मा सावधानी के साथ नियमित प्रार्थनाओ एव उपवासो के द्वारा चिरस्थायी आनन्द को प्राप्त कर सकती है। एक तपस्वी को महान बनानेवाली वस्तुए उसकी पवित्रता एव नम्रता हैं। चतुर जादूगर के से हस्तकौशल या वातोन्मत्त स्वप्न देखने की सामर्थ्य से तपस्वी महान नही होता, किन्तु विषयभोग क्रोध-वासना और इच्छा से रहित एवं पवित्र रहने से वह महान पदवी को प्राप्त करता है। यह जीवित हुतात्मापन आत्महत्या से भी कही अधिक कठिन है। मृत्यु आसान है। जीवन है जो भाररूप एव कष्टप्रद है। वह व्यक्ति सच्चा तपस्वी नही है जो अपने सामाजिक बन्धनो से बचने के लिए गृह एवं मनुष्य-समाज का त्याग करता है। न वही सच्चा तपस्वी है जो इसलिए संन्यासी बन जाता है चूंकि उसे जीवन मे असफलता मिली। इसी अन्तिम प्रकार के सन्यासी समस्त सन्यासी-सस्था के अपमान का कारण बनते हैं। सच्चा सन्यासी वह है जो आत्मसयम एव धार्मिक भावना के द्वारा मनुष्य-जाति के लिए कष्ट सहन करता है। जीवन का श्रम हमारे ऊपर डाला गया है कि हम अहभाव से रहित होकर पवित्र बनें। और सामाजिक सस्थाए आत्मोन्नति मे सहायक बनने के लिए निर्माण की गई योजनाएं है। इस प्रकार से गृहस्थाश्रम के पश्चात् परिव्राजक साधु की अवस्था का विधान है। उपनिषदें घोषणा करती है कि आत्मज्ञानी व्यक्ति अपने सब प्रकार के स्वार्थमय हितो को छोडकर परिव्राजक सन्यासी

१. कठ उपनिषद्, ३ : १२।

बनते हैं। "उसको, अर्थात आत्मा को, जानकर ब्राह्मण लोग भावी सन्तति की कामना त्याग देते हैं वैयक्तिक सम्पत्ति की इच्छा का भी त्याग कर देते हैं एवं सांसारिक ऐश्वर्य की इच्छा छोड़कर परिव्राजक होकर विचरते हैं। [1] प्राचीन भारत में यद्यपि संन्यासी निर्धन और अकिंचन था दैनिक दान के ऊपर जीवन का निर्वाह करता था, किसी प्रकार की शक्ति अथवा अधिकार भी नहीं रखता था, तो भी उसे इतने सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था कि संसार के चक्रवर्ती राजा भी उसके आगे झुकते थे। पवित्र जीवन का इतना आदर सम्मान था।

आश्रमधर्म जो हिन्दूधर्म का प्रधान लक्षण था, समस्त जीवन में आत्मा की शक्ति भर देने का प्रयत्न करता है। उसका बल इस विषय पर था कि विवाहित जीवन के लिए भी पहले से कठोर पवित्रता या ब्रह्मचर्य द्वारा पूरी तैयारी की आवश्यकता होती है। उपनिषद् के विचारकों के मत में विवाह एक धार्मिक संस्कार है एवं दैवीय सेवा की एक पद्धति है।[2] गृहस्थी का निवासस्थानगृह एक पवित्र वेदी है और कोई भी धार्मिक अनुष्ठान पूर्ण नहीं होता जिसमें धर्मपत्नी भाग न ले। जब एक व्यक्ति पूरी तरह से मानवीय प्रेम की उष्णता दीप्ति एवं पारिवारिक प्रेम को विवाह के द्वारा अनुभव कर लेता है तब उसके पश्चात् उसे धन धान्य गृह एवं परिवार के प्रति मोह से विमुक्त हो जाना चाहिए जिससे कि वह विश्व मात्र का निवासी होने की महत्त्वपूर्ण भावना को अनुभव कर सके। यदि बौद्धधर्म चिरकाल तक एवं स्थायी रूप से भारतीयों के हृदयों पर अधिकार बनाए रखने में असमर्थ सिद्ध हुआ तो उसका कारण यह था कि उसने विवाहित जीवन के विपरीत अविवाहित (अपरिग्रह अथवा ब्रह्मचर्य) जीवन को इतना अधिक उत्कृष्ट बना दिया और बिना किसी पूर्व-तैयारी के हर किसीको संन्यास के उच्चतम आश्रम में प्रविष्ट होने का अधिकार दे दिया। संन्यासीवर्ग एक ऐसे धार्मिक बंधुओं की संस्था है जिनके पास निजी सम्पत्ति कुछ नहीं जो जन्म जाति, एवं राष्ट्रीयता के भेद से परे हैं और जिनका धर्म प्रसन्नता की भावना से प्रेम व सेवा के भाव का सर्वत्र प्रचार करता है। वे इस मर्त्यलोक में ईश्वर के प्रतिनिधि अथवा रामदूत हैं जो पवित्रता के सौंदर्य नम्रता के सामर्थ्य, निर्धनता के आनन्द एवं सेवा-स्वातन्त्र्य के साक्षी हैं।

जातिपरक नियम समाज के प्रति कर्तव्यों का विधान करते हैं। मनुष्य को अपने कर्तव्य-कर्म का पालन करना चाहिए भले ही उसका परिणाम कुछ भी हो। योग्यताओं के अनुसार कर्तव्य कर्मों का विधान किया गया है। ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं अपितु आचरण से माना गया है। निम्नलिखित आख्यान इसकी यथार्थता को स्पष्ट करता है

१ ओल्डनबर्ग के अनुसार यह भारतीय वैराग्यवाद का प्राचीनतम प्रमाण है। "आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर समस्त सांसारिक वस्तुओं का त्याग करके संन्यासी बन जानेवाले इन साधुओं से ही केन्द्रिक विकास एक सीधी रेखा में आगे बढ़ते हुए बुद्ध तक पहुंचता है, जिन्होंने निर्वाण की प्राप्ति के लिए अपने बंधु-बांधवों का गृह छोड़ा और धन-सम्पदा का त्याग किया तथा पीत वस्त्र धारण कर संन्यास ग्रहण किया। भारत में निष परमात्मा के सिद्धान्त का प्रादुर्भाव और वैराग्यपूर्ण जीवन की उत्पत्ति साथ-साथ हुई। ये एक ही महत्त्वपूर्ण घटना की दो अवस्थियां हैं।" (ओल्डनबर्ग 'बुद्ध', ११)।

२ देखें, तैत्तिरीय उपनिषद्, १।

"जाबाला का पुत्र सत्यकाम अपनी माता के पास जाकर बोला, 'हे माता, मैं ब्रह्मचारी बनना चाहता हू। मै किस वंश का हू ?'

माता ने उसे उत्तर दिया, 'हे मेरे पुत्र! मैं नही जानती कि तू किस वंश का है। अपनी युवावस्था मे जब मुझे दासी के रूप मे बहुत अधिक बाहर जाना-आना होता था तो तू मेरे गर्भ मे आया था। इसलिए मैं नही जानती कि तू किस वंश का है। मेरा नाम जाबाला है। तू सत्यकाम है। तू कह सकता है कि मै सत्यकाम जाबाल हू।'

हरिद्रुमत् के पुत्र गौतम के पास जाकर उसने कहा, 'भगवन्, मैं आपका ब्रह्मचारी बनना चाहता हू। क्या मै आपके यहा आ सकता हू ?'

उसने सत्यकाम से कहा, 'हे मेरे बन्धु, तू किस वंश का है ?'

उसने कहा, 'भगवन्, मै नही जानता कि मै किस वंश का हू। मैंने अपनी माता से पूछा था और उसने यह उत्तर दिया अपनी युवावस्था मे जब दासी का काम करते समय मुझे बहुत बाहर जाना-आना होता था तब तू मेरे गर्भ मे आया। मैं नही जानती कि तू किस वंश का है। मेरा नाम जाबाला है और तू सत्यकाम है।—इसलिए हे भगवन्, मै सत्यकाम जाबाल हू।'

गौतम ने सत्यकाम से कहा कि, 'एक सच्चे ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई इतना स्पष्टवादी नही हो सकता। जा और समिधा ले आ। मै तुझे दीक्षा दूगा। तू सत्य के मार्ग से च्युत नही हुआ है।'"[1]

उपनिषदों के समस्त दार्शनिक ज्ञान का झुकाव विभागो के संघर्ष को नरम करने एव जातिगत द्वेष और विरोधो के उन्मूलन की ओर है। परमेश्वर सब जातियो मे एक समान अन्तर्यामीरूप आत्मा है। इस प्रकार सब एक समान ही सत्य को ग्रहण कर सकते है और इसीलिए सबको सत्य की शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार समानरूप से है। क्षत्रियो का प्रतिनिधि सनत्कुमार नारद को, जो ब्राह्मण था, वस्तुओ के परम रहस्य के बारे मे शिक्षा देता है। उच्च श्रेणी का दर्शन-ज्ञान एव धर्म किसी प्रकार से भी केवल ब्राह्मणवर्ग तक ही सीमित नही था। हम ऐसे राजाओ के विषय मे पढते है जो अपने समय के प्रसिद्ध शिक्षको को आत्मा-सम्बन्धी गम्भीर समस्याओ का उपदेश देते थे। जनक और अजातशत्रु क्षत्रिय राजा थे, जिन्होने धार्मिक सभाओ का आयोजन किया, जिनमे दार्शनिक प्रश्नो पर वाद-विवाद हुए। यह युग तीक्ष्ण बौद्धिक जीवन का था। साधारण जन भी दार्शनिक समस्याओ मे रुचि प्रदर्शित करते थे। ज्ञानी पुरुष शास्त्रार्थ के लिए उत्सुक होकर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक चक्कर लगाते पाए जाते हैं। उपनिषदो के ब्राह्मण ग्रन्थकारो की सत्य के प्रति इतनी यथार्थ निष्ठा थी कि वे इस विषय को सहर्ष स्वीकार करते है कि इन अनुसधानो मे क्षत्रियो ने एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।[2] स्त्रियो को—यद्यपि उन्हे पर्याप्त आश्रय प्राप्त था—जहा तक कि जीवन के संघर्ष का सम्बन्ध है,

१. छान्दोग्य, ४, ४, ४।
२. देखे, कौषीतकि उपनिषद्, ४ : ४, ७ : बृहदारण्यक, ३ : ८ : छान्दोग्य, ५ : ३, ७।

पुरुषों के समान ही मोक्ष प्राप्ति के लिए धार्मिक चेष्टा करने का अधिकार प्राप्त था। मैत्रेयी और गार्गी आत्मा सम्बन्धी गम्भीर प्रश्नों पर शास्त्रार्थ करती हैं और दार्शनिक विवाद सभाओं में भी भाग लेती हैं।[1]

यह सत्य है कि उपनिषदें ज्ञान को मोक्ष का साधन मानने पर बल देती है। तरति शोकम् आत्मवित् आत्मा को जाननेवाला सब दुःखों से पार उतर जाता है। ब्रह्मविद् ब्रह्म व भवति ब्रह्म का जाननेवाला निश्चय ही ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। चूंकि उपनिषदें ज्ञान पर बल देती हैं और समस्त सदाचार को उसका पूर्ववर्ती स्वीकार करती है ऐसे भी समालोचक हैं जिनका कहना है कि उपनिषदें ज्ञान के प्रति अपने उत्साह में इच्छा को अपने स्थान से गिराकर गौण स्थान देती हैं। ड्यूसन यह कहने के बाद कि ज्ञानियों के लिए सदाचार का कोई अर्थ नहीं है कहता है कि अज्ञानियों के लिए भी इसकी आवश्यकता नहीं। नैतिक आचरण प्रत्यक्षरूप में तो नहीं पर अप्रत्यक्ष रूप में भले ही ऐसे ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हो जो मोक्ष को प्राप्त कराता है। क्योंकि यह ज्ञान ऐसा कुछ बन जाना नहीं है जिसकी सत्ता पहले न रही हो और जो उचित साधनों से उत्पन्न किया गया हो किन्तु उसका अनुभवमात्र है जो अनन्तकाल से विद्यमान था।[2] किन्तु उपनिषदें ज्ञान को शब्द के संकीर्ण अर्थ में मोक्ष प्राप्ति के एकमात्र साधन के रूप में स्वीकार नहीं करतीं। वह आत्मा केवल वेद के ज्ञानमात्र से प्राप्त नहीं हो सकती न बहुत पढ़ने से ही प्राप्त होती है।[3] सत्य जीवन पर बल दिया गया है। ज्ञान के साथ धर्म का रहना आवश्यक है। यदि ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु में नैतिक एवं धार्मिक योग्यता नहीं है तो उसे प्रवेश नहीं मिल सकता चाहे उसके अन्दर कितना ही उत्साह एवं प्रबल जिज्ञासा का भाव क्यों न हो। हम यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि ज्ञान केवल बौद्धिक योग्यता का ही नाम नहीं है। यह आत्मा से सम्बन्ध रखता है। ब्रह्मज्ञान के विद्यार्थी का मन अत्यधिक चंचल नहीं होना चाहिए न ही वह संसार में इतना लिप्त हो कि सर्वोच्च सत्ता में ध्यान ही न लगा सके। उसका हृदय ईश्वर भक्ति द्वारा पवित्र एवं उत्साहपूर्ण होना चाहिए। उपनिषदों में हम ऐसे कतिपय व्यक्तियों के विषय में सुनते हैं जिन्हें पहले एक दीर्घ नैतिक एवं धार्मिक नियन्त्रण में से गुजरना पड़ा इससे पूर्व कि ब्रह्मज्ञान के विशेषज्ञ ऋषियों ने उन्हें अपना शिष्य बनाना स्वीकार किया। प्रश्न उपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि ने छः जिज्ञासुओं को एक वर्ष तक और नियन्त्रण में रहने के लिए वापस कर दिया था। छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकाम जाबाल को जंगल में गुरु के पशुओं को चराने के वास्ते भेज दिया जाता है जिससे कि वह एकान्त चिन्तन की प्रवृत्ति को बढ़ाए और प्रकृति के सम्पर्क में आए। उपनिषदें जिस ज्ञान के ऊपर बल देती हैं वह श्रद्धा अथवा विश्वास है जो आत्मा की शक्ति का जीवित नियम है। जैसे वृक्ष के ऊपर फल आता है ज्ञान को भी कार्य में अभिव्यक्त होना चाहिए। जब हमारे पास ज्ञान है तो समझना चाहिए कि हमारे अन्दर सचाई है। उसे हम अपनाएं और उसके द्वारा अपने अन्दर

१ बृहदारण्यक, २ ४।
२ फिलासफी आफ द उपनिषद्स पृष्ठ ३६।
३ मुण्डक ३ २ ३ और भी देखिए ३ १ ८।
४ देखें कठ उपनिषद् १ २ २४–२५।

उचित परिवर्तन करे। 'एक ऐसे व्यक्ति के लिए जो दुराचरण से विरत नही हुआ, जो शान्त नही है, जो समाहित नही है और जिसके हृदय मे शान्ति नही है,' यह सम्भव नही है; अर्थात् मात्र ज्ञान से ही ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए रामानुज ने ज्ञान की व्याख्या मे ध्यान, समाधि, अथवा उपासना एव पूजा को स्थान दिया है। ज्ञान की इस प्रकार की परिभाषा, जिसमे नैतिक जीवन को स्थान न दिया गया हो, किसी प्रकार भी उचित नही मानी जा सकती। यह सत्य है कि उपनिषदो का कहना है कि मात्र कर्मो से काम नही चलेगा जब तक कि उनमे आत्मा के साथ एकत्व की अभिव्यक्ति न हो। "नही, वह व्यक्ति जो यह नही जानता कि आत्मा को यहा कुछ महान पवित्र कार्य करना है, अन्त मे उसका कर्म उसके लिए नष्ट हो जाएगा, और यदि मनुष्य अपनी आत्मा को ही सत्य समझकर उसकी पूजा करता है तो उसका कर्म नष्ट नही होगा। क्योकि जो कुछ भी वह इच्छा करता है उसकी प्राप्ति उसे इसी आत्मा से होती है।"[1] इस वाक्य का यही आशय है कि ज्ञानपूर्वक कर्म करने चाहिए। सर्वोपरि सत्ता के प्रति श्रद्धा से विहीन कर्म स्फूर्तिरहित एव निस्तेज रहते है।[2] मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य केवल यान्त्रिक सदाचरण से ही प्राप्त नही किया जा सकता। यज्ञो के अनुष्ठान करते हुए सब कामो मे, सब कर्मकाण्डो मे आत्मा ऊची उठती है किन्तु यह आवश्यक नही कि अनन्त के साथ उसका तादात्म्य ही हो जाए। सब कर्म यथार्थ आत्मा के हित की उन्नति के विचार को रखते हुए करने चाहिए। बिना ईश्वर के हमारे जीवन का न कोई लक्ष्य है, न सत्ता है और न कोई सहारा है। इस प्रकार के अनुष्ठानो एव यज्ञो को उपनिषदो ने दूषित ठहराया है जो केवल इसी विचार से किए जाते है कि उनसे अधिकाधिक मात्रा मे इहलोक अथवा परलोक मे हमे भलाई मिले। हमे अपने कर्तव्य का पालन केवल इस प्रकार की प्रेरणा को लेकर कि परलोक मे हमे लाभ होगा अथवा ईश्वर के पास हमारी जमा-पूजी रहेगी, न करना चाहिए। ब्राह्मणो के अन्दर कर्तव्य के इस प्रकार के यान्त्रिक भाव का निषेध करते हुए उपनिषदे एक आवश्यक सत्य पर विशेष बल देती है। किन्तु वे इस मत का कि कर्म और ज्ञान दोनो एक-दूसरे से पृथक् है एव केवल ज्ञान ही मोक्षदायक है, एकदम समर्थन नही करती है। उपनिषदे ऐसे आध्यात्मिक जीवन पर बल देती है जिसमे ज्ञान एव कर्म दोनो का यथोचित समन्वय हो।

ठीक जिस प्रकार बुद्धि के आदर्श की प्राप्ति तब तक नही हो सकती जब तक हम केवल बुद्धि के ही स्तर तक रहते है—किन्तु उस स्तर से ऊचा उठने पर ही अर्थात् अन्तर्दृष्टि द्वारा उसकी प्राप्ति होती है—इसी प्रकार नैतिकता के आदर्श तक भी तब तक नही पहुच सकते जब तक हम केवल नैतिक स्तर तक ही रह जाए—वहा तभी पहुचा जा सकता है जब हम धर्म का आश्रय ले। नैतिक स्तर के ऊपर हमारे स्वरूप के दोनो पक्ष सान्त एव अनन्त परस्पर प्रतिद्वन्द्वी रहते है। सान्त मे अहभाव अथवा अहकार की गन्ध आती है, और यह व्यक्तिपरक आत्मा की व्यापक परब्रह्म से पृथक्त्व का भाव उत्पन्न करता है। उसके अन्तर्निहित अनन्त विश्व मे स्थित अपनी सत्ता को ग्रहण करने के लिए बलपूर्वक

१ बृहदारण्यक, १ . ४, १५।
२. देखें, बृहदारण्यक, ३ . ८, १०।

प्रेरणा करता है। आत्मा के विश्लेषण या वियोजन की प्रवृत्ति के कारण आत्मपूर्णता का विरोध होता है। हम नैतिक जीवन व्यतीत करके निम्नतर प्रकृति को वश में रखने का प्रयत्न करते हैं किन्तु जब तक निम्नतर सर्वांग में धार्मिक न हो जाए आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। तभी और केवल उसी अवस्था में जबकि हम अपने व्यक्तित्व की बाह्यता को नष्ट कर देते हैं और उसके साथ ही पृथक्त्व के भाव को भी नष्ट कर देते हैं हम धर्म के आनन्द को प्राप्त करते हैं और आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता को ग्रहण करते हैं।

इस धार्मिक सिद्धि की सम्भाव्यता ही सदाचार की पूर्वकल्पना है। बिना इसके हम कभी निश्चय नहीं हो सकता कि हमारी नैतिक महत्त्वाकांक्षाएं पूर्ण हो सकेंगी या नहीं। सामने विपत्तियों भयों मृत्यु एवं रोगों के रहते हुए भी यह दृढ विश्वास कि प्रतीयमान असंगति और विरोधों के रहते हुए भी सब वस्तुएं अन्तिम भलाई के लिए ही कर्म करती हैं हमें प्रोत्साहन देता रहता है। नैतिकता का आधारतत्त्व धर्म है। ईश्वर हम यह सुरक्षा का भाव प्रदान करता है कि संसार बिलकुल ठीक है और मनुष्य की विजय अवश्यम्भावी है। जब एक मनुष्य उस अगोचर अमूर्त अनिर्वचनीय अगाध के अन्दर अपना विश्रामस्थान खोजता है तो उसे शान्ति प्राप्त होती है। इसके विपरीत यदि मनुष्य उसके अन्दर एक व्यवधान एवं पृथक्त्व मानता है तब उसकी बेचैनी बनी रहती है और यह बेचैनी ऐसे मनुष्य की है जो अपने को विवेकी समझता है।[1] इस प्रकार का धार्मिक आश्वासन रहने पर परिस्थितियों का दबाव अथवा मनुष्य का अत्याचार हमें अशान्त नहीं कर सकता। हमारा कोई भी प्रतिद्वन्द्वी हमारे अन्दर क्रोध या कटुता पैदा नहीं करा सकता। नैतिकता को धर्म से अन्त प्रेरणा प्राप्त होती है। धर्म के अभाव में नैतिकता का तात्पर्य है अनन्त समय तक प्रयत्न करते रहना एक सतत विकास किसी पदार्थ के प्रति एक अन्त रहित महत्त्वाकांक्षा जिसे हम कभी प्राप्त नहीं कर सकते। धर्म के अन्दर ये सब सिद्धि सुख एवं फल की प्राप्ति के रूप में परिणत हो जाते हैं। तब सान्त के सामर्थ्य की निर्बलता दूर हो जाती है और सान्त को एक विशेष महत्त्व एवं जीवनोद्देश्य का अधिकार प्राप्त हो जाता है। जब एक बार यह चेतना प्राप्त हो जाती है दैहिक सत्ता रहे या समाप्त हो जाए इसके प्रति मनुष्य उदासीन हो जाता है।[2] मनुष्य परमेश्वर के प्रति प्रेम के उत्साह एवं मानव समाज की सेवा में अपने को खपा देता है। वह इस बात की भी परवाह नहीं करता कि वह मार्ग जिसपर उसे चलना है निर्बाध है या बाधाओं से भरा है। जब मनुष्य सत्य को ग्रहण कर लेता है बुराई स्वयं उससे दूर भाग जाती है और स्वयं नष्ट हो जाती है ठीक जैसे एक मिट्टी का ढेला किसी कठोर पत्थर से टकराकर चकनाचूर हो जाता है।[3]

१ बृहदारण्यक, ४ २ ४।

२ दुश्चरित्र व्यक्ति को मैंने बड़ा शक्तिसम्पन्न पाया है और एक हरे भरे तजात्र वृक्ष के समान बराबर विस्तार में फलते देखा है। तो भी वह मर गया और देखो, उसका कहीं अस्तित्व ही नहीं रहा। मैंने ऐसे व्यक्ति का पता लगाना चाहा किन्तु उसका तो नामोनिशान भी मिट गया। पूर्ण मनुष्य की ओर लक्ष्य करो और धार्मिक पुरुष को देखो क्योंकि उस व्यक्ति का लक्ष्य शान्ति है। 'साम ३७ ३५-३७।

३ छान्दोग्य १ ७।

जैसे अन्तर्दृष्टि का क्षेत्र बौद्धिक अवस्थाओ से बहुत दूर और ऊपर है, इसी प्रकार से धार्मिक स्तर (क्षेत्र) भी भलाई और बुराई से बहुत ऊपर है। जिसने परमसत्ता को प्राप्त कर लिया वह सब प्रकार के नियमो से ऊपर है।[1] यह विचार, कि क्यो मैंने भला काम नही किया अथवा मैंने क्यों पाप किया, ऐसे व्यक्ति के मन को कष्ट नही देता।[2] वह किसीसे नही डरता, और न ही अपने भूतकाल के अच्छे या बुरे कर्मो का कोई सोच करता है। "वह अमरत्वप्राप्त अच्छाई या बुराई दोनो से परे है, उसने कितना किया और कितना अधूरा छोड़ दिया इससे उसे दु ख नही होता; उसके क्षेत्र पर किसी कर्म का प्रभाव नही पडता।" इस सिद्धान्त मे एक पापी जीवन के कर्मों के मिट जाने की सम्भाव्यता की भी गुजाइश है, यदि हृदय-परिवर्तन हो जाए। इसी सिद्धान्त के ऊपर ईसाइयो के इस मत का आधार है कि कितना भी पाप क्यो न हो, वह मोक्ष मे बाधक नही हो सकता, यदि दृढ निश्चयपूर्वक उसका प्रायश्चित्त कर लिया गया है। जब एक बार आत्मा यथार्थसत्ता को प्राप्त कर लेती है, 'जिसके अन्दर निवास करना स्थायी आनन्द है', मनुष्य की देह दिव्य ज्योति से आपूर्ण हो जाती है और उसके अन्दर वह सब जो हीन एव नीच है, मुरझाकर नष्ट हो जाता है। नैतिकता के प्रश्न का कुछ महत्त्व नही रह जाता क्योकि अब जीवात्मा तो कुछ करती ही नही, उसकी इच्छा ईश्वर की इच्छा और उसका जीवन ईश्वर का जीवन है। वह पूर्ण से सयुक्त हो चुकी है और इसलिए स्वय भी पूर्ण हो गई। समस्त कर्म अब ईश्वर मे ही होता है। अब ईश्वर एव जीवात्मा के अन्दर और कोई भेद ही नही रहता। डाक्टर बोसनकट ने अपनी छोटी-सी उत्तम पुस्तक 'धर्म क्या है' मे इस एकत्व की मूल भावना की उच्चतम अवस्था का प्रतिपादन किया है। "प्रेम की पवित्रता और सर्वोपरि शुद्ध सत्त्व की इच्छा के साथ सयुक्त होकर तुम न केवल यही कि सुरक्षित हो गए, प्रत्युत तुम स्वतन्त्र और शक्तिसम्पन्न भी हो जाते हो · एकत्व मे इस प्रकार का विभाग करके कि इतना मुझसे आया उतना ईश्वर से आया, तुम्हारा अभिप्राय सिद्ध न होगा। तुम्हे अपने को उसके अन्दर गहराई तक पहुचा देना होगा अथवा वह तुम्हारे अन्दर गहराई मे प्रविष्ट हो जाए—इनमे से जो भी भाषा तुम्हे अधिक उपयुक्त जचे।"[3]

दुर्भाग्यवश धार्मिक जीवन के इस केन्द्रीय तथ्य का अर्थ भारतीय विचारधारा के अच्छे-अच्छे विद्यार्थी भी पर्याप्त मात्रा मे नही समझ पाए। उपनिषदो के सबसे अर्वाचीन समीक्षक डा० ह्यूम कहते है, "उपनिषदो के सिद्धान्त एव ग्रीस देश के तत्त्वविद् दार्शनिको के सिद्धान्त मे अधिक मतभेद इस विषय मे है कि एक ज्ञानी पुरुष केवल अपने ज्ञान

१ कौषीतकि, २ . ८, बृहदारण्यक, ४ ४, २२। २ तैत्तिरीय उप०, २ ६।

३ पृष्ठ २०–२१, "जिस प्रकार जल की एक बूद शराब के बर्तन में पडकर उसका रंग एव स्वाद ग्रहण कर लेती है और जैसे पिघला हुआ लोहा अग्नि के समान बनकर अपनी आकृति खो बैठता है, एव सूर्य की धूप से सयुक्त वायु जैसे उसी सूर्यकिरण सरीखी बन जाती है, और उस समय वह प्रकाशित नही अपितु स्वय प्रकाशस्वरूप प्रतीत होती है, इसी प्रकार सन्तपुरुषों मे मानवीय प्रेम एक वर्णनातीत रूप में द्रवित होकर अपने को परब्रह्म की इच्छा के अन्दर मिश्रित कर लेता है। यदि उस अवस्था में मनुष्य के अन्दर मनुष्यत्व का कुछ भी अश शेष रह जाएगा तो ईश्वर के सर्वात्मभाव का कुछ अर्थ ही नही होता। एक विशिष्ट सत्ता उस समय विद्यमान रहेगी, यद्यपि अन्य आकृति, अन्य वैभव एव एक अन्य शक्ति के रूप में।" (सेंट बर्नार्ड, 'माइंड' से उद्धृत, १६१३, पृष्ठ ३२६)।

के कारण धार्मिकचरित्र भी हो सकता है या नही, अथवा ज्ञान की शिक्षा का परिणाम अनिवार्यरूप से धार्मिक जीवन होना चाहिए या नही। यहा कुछ आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति से सब पुराने पाप नष्ट हो जाते हैं और उक्त ज्ञान को प्राप्त कर लेनेवाला भिक्षक को छोड़कर उसी प्रकार पापमय जीवन म आगे भी चल सकता है बिना किसी दण्ड को भोगे यद्यपि इस प्रकार के कर्म अन्य सबके लिए जिन्हे आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है जघन्य पाप समझे जा सकते हैं। [1] हम पहले कह आए हैं कि उपनिषदो का ज्ञान न तो आध्यात्मिक ज्ञान-सम्बन्धी पाण्डित्य है और न ही तार्किक या आध्यात्मिक खण्डन-मण्डन-सम्बन्धी निपुणता ही वरन वह उच्चतम सत्ता का विश्व के मध्य मे सर्वोपरि शक्ति के रूप मे प्रत्यक्षीकरण है। यह धार्मिक प्रत्यक्षीकरण तभी सम्भव होता है जबकि मनुष्य प्रकृति का सम्पूर्णरूप म कल्पनात्मक एव क्रियात्मक दोनो ही पक्षो म परिवर्तन हो जाए। जिसे डा० ह्यूम ने कुछ आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति कहा है वह केवल उन्हीके लिए सम्भव हैं जिनका हृदय पवित्र हो। उन्हे पूरी स्वतन्त्रता है। उस उच्चतम अवस्था म एक चोर चोर नही है एव एक हत्यारा भी हत्यारा नही है। पुण्य व पाप उसका पीछा नहीं करते क्योकि वह उस समय हृदय के सब दुःखो पर विजय प्राप्त कर लेता है। [2] स्वतन्त्र मनुष्य जो चाहे कर सकते हैं और उन्हें कोई दण्ड नही मिल सकता। किन्तु यह स्वातन्त्र्य स्वरता का उन्माद नही है। [3] ब्रह्मसाक्षात्कारवादी अपना विधान अपने आप ही है। वह अपना भी स्वामी है एव उस ससार का भी स्वामी है जिसम वह रहता है। विधान व बन्धन उन मनुष्यो के लिए आवश्यक हैं जो स्वभावत अपनी अन्तरात्मा के आदेशो के अनुसार आचरण नहीं करते। किन्तु उन व्यक्तियो के लिए जो अपने स्वार्थमय अहभावो से ऊपर उठ गए हैं नैतिकता स्वय उनके अस्तित्व का प्रतिबिम्ब बन जाती है और विधान की पूर्ति प्रेम मे हो जाती है। उनके अन्दर दुष्कर्म करनेकी सम्भावना भी नही रहती। बाहर का दबाव आन्तरिक स्वीकृति मे परिणत हो जाता है। जब तक धार्मिक जीवन की प्राप्ति नहीं होती नैतिकता का विधान एक प्रकार का बाह्य आदेश प्रतीत होता है जिसका पालन प्रयत्नपूर्वक और दुःख उठाकर भी करना ही होता है किन्तु जब प्रकाश उपलब्ध हो गया यह आत्मा का आभ्यन्तर जीवन बन जाता है और सहज रूप से एव अन्त स्फूर्ति के साथ काम करता है। एक सन्त पुरुष का कार्य अपने को आत्मा की स्फूर्ति के नितान्त अधीन कर देना है किन्तु बाह्य विधान के नियमो के प्रति अनिच्छा से आज्ञापालन नहीं है। हमारे सम्मुख एक निःस्वार्थ आत्मा का आदेश आता है जिसमे कर्म के पुरस्कार अथवा उल्लघन के दण्ड का निरूपण नही होता। परम्परागत एव प्रचलित आदेश बाह्य कर्तव्य एव नैतिक विधि विधानो का उसके लिए कुछ अर्थ नही है। आत्मा उस सर्वोपरि परमानन्द को पाकर प्रसन्न होती है सब पदार्थों के एकत्व को प्रत्यक्ष देखती है और ससारमात्र से उसी प्रकार प्रेम करती है जसे हम अपनी अपनी पृथक आत्माओ से प्रेम करते हैं। एक पूर्ण सदभावना भी इस प्रकार सदाचार-सम्बन्धी नियमो के अधीन रहेगी किन्तु इसी कारण स नियमो के बन्धन म रहकर काय करने के लिए बाध्य नहीं होगी क्योकि

१ द थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स की भूमिका पृष्ठ ६०।
२ बृहदारण्यक ४।
३ रवीन्द्रनाथ ठाकुर साधना पृष्ठ १८।

विषयीनिष्ठ सघटन के कारण नैतिकता के भाव से ही उसका निश्चय हो सकेगा। इसलिए दैवीय अथवा पवित्र इच्छा के लिए कोई आदेशात्मक एव अवश्यकर्तव्य नही हो सकते। यहा 'अवश्यकरणीयता' के लिए को कोई स्थान नही है, क्योकि इच्छाशक्ति और विधान यहा एकाकार हैं।[1] नैतिक नियम इसकी अभिव्यक्ति है और इसलिए उसे नही बाध सकते। इस प्रकार का सर्वोपरि आत्मा गुणो का निर्माणकर्ता और 'स्वराट्'[2] है, अर्थात् स्वय नियमस्वरूप है। ससार की योजना मे तीन वर्ग के प्राणी है (१) वे जोकि अपनी सत्ता के लिए प्रयत्न करते है और क्षुधाओ की पूर्ति के लिए कार्य करते है : दुश्चरित व्यक्ति जो यदि कभी सदाचरण भी करते है तो स्वार्थ को ही लेकर करते है जैसे या तो स्वर्ग की कामना से अथवा नरक के भय से, (२) ऐसे व्यक्ति जो विधान से अभिज्ञ है और अत्यन्त प्रयत्न से कष्ट उठाकर भी उसके अन्तर्गत रहने का प्रयत्न करते है क्योकि उनकी आत्मा असामजस्य या पृथक्त्व के अधीन है, और (३) ससार की रक्षा करनेवाले, जिन्होने जीवन के सघर्ष पर विजय पाकर शान्ति प्राप्त की है ऐसे व्यक्ति जीवन के प्रयोजन से अभिज्ञ हैं और स्वत ही बिना किसी प्रयत्न के उसके अनुकूल आचरण करते है। उपनिषदे हमे आदेश देती है कि जहा कही सशय हो अथवा कठिनाई का अनुभव हो वहा ब्रह्मज्ञानी लोग, जो कर्तव्यनिष्ठ हैं, जैसा आचरण करते हो वैसा ही आचरण करे।[3] ये महापुरुष अपना दैनिक कार्य करते रहते है एव स्वभाव से ही अपने सद्गुणो का विस्तार करते रहते हैं जैसेकि नक्षत्रगण प्रकाश प्रदान करते है और जैसे पुष्प अपने सौरभ को सर्वत्र वायुमण्डल मे वितरित करता है, यहा तक कि वे स्वयं भी इससे अनभिज्ञ होते है। इस प्रकार की अवस्था प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। परब्रह्म के साथ ऐक्य स्थापित करने की सम्भावना केवल उसकी वास्तविकता से ही हो सकती है। मनुष्य के सर्वशक्तिमान आत्मा के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित हो सकने का प्रमाण स्वय तादात्म्य प्राप्त हो जाना ही है। ईसाई मत के विचारको के अनुसार, ईश्वर की मनुष्य के रूप मे इस प्रकार की एक सम्पूर्ण अभिव्यक्ति ईसामसीह के व्यक्तित्व मे पाई जाती है। उपनिषदो की घोषणा है कि सब मनुष्यो मे दैवीय सम्पूर्णता तक उठने की सम्भावना रहती है और उसके लिए यदि वे प्रयत्न करें तो उसे प्राप्त कर सकते है।

चूकि नैतिकता का अर्थ केवल अपूर्ण ससार के लिए ही है, जिसमे वर्तमान रहकर मनुष्य अपने उच्चतम स्वरूप को ग्रहण करने के लिए सघर्ष करता है, यह कभी-कभी कहा जाता है कि उपनिषदो की आध्यात्मिक पद्धति मे नैतिकता के लिए कोई उचित स्थान नहीं है। ड्यूसन का कहना है कि "जब आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो गया तब प्रत्येक कर्म का, और इसलिए प्रत्येक नैतिक कर्म का भी, कुछ अर्थ नही रह जाता, अर्थात् उसमें पुण्य एवं पाप का प्रश्न ही नही उठता।"[4] अभी तक हम बराबर इस प्रकार की आपत्तियोका सकेत कर रहे हैं। नैतिक क्रियाशीलता अपने-आपमे उद्देश्य अथवा लक्ष्य नही है। इसे पूर्णजीवन मे परिवर्तित करना है। केवल पूर्णजीवन ही सर्वोपरि महत्त्व रखता है। जैसाकि तालमद

१. काट : 'मेटफिजिक्स आफ मोरल्स', पृष्ठ २१ (ग्रन्ट सस्करण)।
२. स्वयमेव राजा।
३ तैत्तिरीय, १ . ११।
४. फिलासफी ऑफ द उपनिषद्स', पृष्ठ ३६२।

में गुण्डर्सन ... अंश है। मुक्त व्यक्ति सर्वशक्तिमान परब्रह्म के साथ सृष्टि के निर्माण में भाग लेते हैं। यहां नैतिकता एक विधान विशेष का आज्ञापालन है जिसका स्थान सभ्य के प्रति स्वतन्त्र रूप से रखा जा सकता है जो दूसरों के प्रति स्वयंस्फुरित अनिवार्य है। इस अवस्था में आत्मा परब्रह्म में विलीन हो जाती है। केवल यही सर्वोपरि मूल्य रखती है किन्तु उस अवस्था की प्राप्ति के लिए जो नैतिक संघर्ष किया जाता है वह व्यर्थ नहीं जाता।

१५

धार्मिक चेतना

धर्म यथार्थ में जीवन एवं अनुभव का विषय है। उपनिषदें धार्मिक चेतना की उन्नति के लिए तीन श्रेणियों का विधान करती हैं : श्रवण अर्थात् विद्वानों से शास्त्रीय उपदेशों को सुनना, मनन अथवा चिन्तन अर्थात् उक्त उपदेशों पर विचार करना, और निदिध्यासन अर्थात् मग्न होकर अथवा एकाग्रता के साथ ध्यान करना।[1] पहली श्रेणी में धार्मिक जीवन में परम्परा के स्थान का सम्मान रहता है। जीवित ईश्वर में विश्वास की दीक्षा के लिए किसी न किसी प्रकार की परम्परागत दैवीय प्रेरणा आवश्यक है। "धन्य हैं वे जिन्होंने बिना प्रत्यक्ष किए भी उसकी सत्ता में विश्वास कर लिया।" अधिकांश मनुष्य परम्परा एवं धार्मिक प्रतीकों अर्थात् मूर्तिपूजा आदि तक ही रह जाते हैं। उपनिषदों के अनुसार रूढ़िवाद को धर्म न समझ लेना चाहिए। परिश्रमपूर्वक अपनी बुद्धि की योग्यता से हम धार्मिक परम्परा के तात्त्विक अर्थ एवं उसके अन्तर्निहित सत्य को ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरी श्रेणी में युक्तिपूर्ण विचार की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम श्रेणी में जो कुछ परम्परागत होने के कारण स्वीकार कर लिया गया अब वह तार्किक निर्णय का रूप धारण करता है। सत्य को समझना मात्र ही से यथार्थसत्ता की प्राप्ति नहीं हो जाती। उच्चतम श्रेणी की धार्मिक चेतना के लिए यथार्थसत्ता अनुमान का विषय न रहकर साक्षात्कार का विषय हो जाती है। यथार्थसत्ता के इस प्रकार के अनुभव, अनन्त के विषय में इस प्रकार की चेतना के लिए एक ऐसी विचार पद्धति के विकास की आवश्यकता है जो केवल तर्क से सर्वथा भिन्न हो। निदिध्यासन अथवा मग्नता के साथ ध्यान हमें एक तार्किक विचार को धार्मिक विचार के रूप में परिवर्तित करने में सहायक होता है जिसे हम दर्शन कहते हैं और जो पहले से स्वीकृत सत्य का क्रियात्मक प्रत्यक्षीकरण है। यह स्वतन्त्ररूप से एकान्त में रहकर प्राप्त होता है और हिटमन के समान गणित ज्योतिष के तार्किक अध्ययन के अनन्तर एकदम मौन रहकर नक्षत्रों को निहारते रहना है। यह एक प्रकार से मानसिक दृष्टि के सामने उस पदार्थ को उपस्थित करना है जिसे हम जानना चाहते हैं। ध्यानमग्नता को अचेतनावस्था अथवा मूर्च्छावस्था के साधनरूप में न मान लेना चाहिए क्योंकि इन

१ बृहदारण्यक उपनिषद्, २ : ४ : ५; ४ : ५ : ६। उदयन ने अपनी 'कुसुमांजलि' (१ : ३) में एक वृत्त उद्धृत किया है जिसमें आगम अर्थात् धर्मशास्त्र, अनुमान और ध्यान का वर्णन है।

अवस्थाओ को बहुत कडे शब्दों मे दूषित ठहराया गया है। ये केवल मन को पदार्थ मे स्थिर करने मे सहायता करती हैं। विचार के समस्त उतार-चढाव को एव इच्छा के विभेदो को वश मे करके हम मन को पदार्थ के अन्दर स्थिर रहने, उसके अन्दर प्रवेश करने और उसके साथ एकाकार हो जाने की अनुमति प्रदान करते है। परमेश्वर की उपासना, सदाचरण और सत्य का पालन करना—यह सब आत्मा के अन्दर सत्य-जीवन के निर्माण मे सहायक होते है। जिस समय कल्पनापरक मन परमेश्वर की सत्ता का चिन्तन करता है तब उसका मनोवेग-स्वरूप परमात्मपरक भक्ति मे लीन हो जाता है। उस समय पदार्थ हमसे बाह्य नही रहता, जैसाकि साधारण अनुभव मे रहता है। उस समय प्रबल भावनामय आत्मदर्शन होता है, जिसका स्फुरण समस्त सत्ता के अन्दर प्रतीत होता है मानो परमात्मा के साथ एकीकरण हो रहा हो। पूजा करनेवाला उसके निकट हो जाता है जिसकी वह पूजा करता है। पदार्थ उस अवस्था मे केवल घटकमात्र न रहकर ध्यान करने-वाले की चेतना का रूप धारण कर लेता है। एक अर्थ मे मन का परिवर्तन स्वय सत्ता का परिवर्तन हो जाता है। उपनिषदे हमे गौण देवताओ की अन्त प्रेरणा के विषय मे बत-लाती हैं एव उसके साथ-साथ ब्रह्म की परमानन्ददायक समाधिस्थ अन्त प्रेरणा का भी वर्णन करती हैं। जब तक अन्त प्रेरणा के विषय प्रमेय पदार्थों मे परिमितता एव व्यक्तित्व का लेशमात्र भी रहेगा, परम लक्ष्य की प्राप्ति नही हो सकती। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए हमे ब्रह्म-विषयक अन्त प्रेरणा होना आवश्यक है।

यह स्पष्ट है कि उपनिषदो मे प्रतिपादित धर्म मनुष्य के एकदम परिवर्तन के ऊपर बल देता है। धर्म मात्र एक औपचारिक पन्थ, अथवा नैतिक नियन्त्रण, किंवा रूढिगत कट्टर सम्प्रदाय नही है। यह कहना असत्य होगा कि उपनिषदे मनुष्य-स्वभाव के तर्करहित पक्ष की सर्वथा अवहेलना करती है। उन्होने भावुकतापूर्ण एव कल्पनात्मक धर्म के लिए भी उचित स्थान रखा है। उपनिषदें उन विरोधो से भी सर्वथा अनभिज्ञ नही हैं जो साधारण धार्मिक चेतना मे प्रकट हो सकते है। यदि परमेश्वर सद्वृत्ति का पूर्ण-रूप है तब नैतिकता स्वय ही सिद्ध है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु को, जिसकी सत्ता है, पूर्ण इच्छा की अभिव्यक्ति होना चाहिए। यदि परमेश्वर ससार का रचयिता है तब वह ऐसी ही वस्तु की सृष्टि करेगा जो उसके अपने स्वभाव को परिमित कर देगी। या तो उत्पन्न जगत् उसके स्रष्टा परमात्मा से भिन्न है जिस अवस्था मे वह अपनी ही सृष्टि से सीमित हो गया, अथवा दोनो एकसमान है, यह एक ऐसी सम्भाव्य कल्पना है जो प्रत्येक धर्म एव नीतिशास्त्र को अमान्य रहेगी। धर्म मे हम मनुष्य की इच्छा के विरुद्ध परमेश्वर की इच्छा को रखते हैं। यदि दोनो एक है तब नीति का कोई प्रश्न नही उठता, क्योकि उस अवस्था मे मानवीय इच्छा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। यदि दोनो पृथक् है तब परमेश्वर भी परिमित एव सान्त ठहरता है और एक सान्त परमेश्वर हमारे अन्दर विश्वास उत्पन्न नही करा सकता। इसके अतिरिक्त यदि परमेश्वर मे हम स्वतन्त्र इच्छा का गुण स्वीकार करते हैं तो वह कर्मो को भी उलट सकता है और उस अवस्था मे मन की मौज मुख्य व्यवस्थापक बन जाती है। किन्तु दूसरी ओर वह नियमो के अधीन है और हमारे कर्मो के अनुसार ही हमारे साथ व्यवहार करता है तब उसकी स्वतन्त्रता

निरा पाखण्ड है। यद्यपि धर्मसम्मत ईश्वर परमसत्तात्मक ब्रह्म की परिमित अभिव्यक्ति है, यह केवल कल्पनात्मक विषय नही है। सान्त मन द्वारा कल्पित परमसत्ता के विश्व के रूप मे विकास मे सबसे पूर्व विद्यमान प्राणी ईश्वर है, जिसे स्वयचेतन विश्वात्मा भी कहा जाता है। वह देहधारी परमसत्ता है। उपनिषदें उसका तादात्म्य वस्तुओं की आदर्शात्मक प्रवृत्ति के साथ जोडने की चिन्ता नही करती, जिसे आदर्श के विपरीत विरोध एव सघर्ष का मुकाबला करना पड़े; क्योकि उस अवस्था मे वह अपने पद से गिरकर सान्त के स्तर पर आ जाएगा। उपनिषदो के अनुसार परमसत्ता एव ईश्वर दोनों एक हैं। हम इसे सर्वोपरि ब्रह्म के नाम से इसलिए पुकारते है कि सान्त से ऊपर का भाव व्यक्त हो सके, इसकी अज्ञेयता एव विश्वजनीनता का द्योतन हो सके। इसीको हम ईश्वर इसलिए कहते है कि उसके दैहिक रूप पर बल दिया जा सके क्योकि धार्मिक भक्ति के लिए उसकी आवश्यकता है। परमब्रह्म एव देहधारी ईश्वर के मध्य इस प्रकार का सम्बन्ध समझना चाहिए, जैसाकि यथार्थ प्रभु का सम्बन्ध मूर्ति के साथ है।[1] और तब भी दोनो है एक ही। परमसत्ता दोनों रूप रखती है—देहधारी भी और अमूर्त भी।[2] सर्वोपरि सत्ता मे ध्यान लगाना विश्व के स्वामी के प्रति भावनाप्रधान भक्ति है। जीवात्मा ईश्वर को एक सर्वातिशयी रूप मे समझता है और प्रबलरूप से उसके अनुग्रह की आवश्यकता अनुभव करता है। देवप्रसाद अथवा ईश्वर की दया मनुष्य की बन्धन से मुक्ति की अवस्था है। "यह आत्मा न तो बहुत अध्ययन से, न बुद्धि के ही द्वारा, और न बहुत शास्त्रज्ञान से प्राप्त हो सकता है। जिस मनुष्य को यह आत्मा स्वय चुनता है अर्थात् जिसपर प्रभु स्वय कृपा करते है, वही इसे प्राप्त कर सकता है, और उसके ही सम्मुख यह विश्वात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है।"[3] कभी-कभी धार्मिक आवेश इतना अधिक बढ जाता है कि भक्त चिल्ला उठता है कि "यही वह है जो उस मनुष्य को पुण्यकर्म करने के लिए प्रेरित करता है जिसे वह ऊपर उठाना चाहता है, और यही है वह जो उस मनुष्य को पापकर्म करने के लिए प्रेरणा देता है जिसे वह नीचे गिराना चाहता है।"[4] जीवात्मा और परमात्मा की एकता बहुत अधिक सयम एव कठोर परिश्रम द्वारा सिद्ध होती है। जब धर्म का आदर्श प्राप्त हो जाता है, व्यक्तित्व का भाव उठ जाता है। हम ज्यो-ज्यो धार्मिक अनुभव मे ऊपर उठते है, हम उपास्य एव उपासक के मध्य तादात्म्य अनुभव करने लगते हैं, यहा तक कि अन्त मे दोनों सयुक्त होकर एक हो जाते है। उस अवस्था मे परम्परागत अर्थो मे उपासना का भाव ही नही रहता। परमब्रह्म के अनन्तरूप का तब अनुभव होता है जो समस्त विश्व मे व्याप्त होकर मनुष्य की आत्मा को भी प्लावित कर रहा है। उस समय हमारी मर्यादाए लुप्त हो जाती है और मनुष्य की अपूर्णता के कारण उत्पन्न हुए दोष स्वय विलीन हो जाते हैं। धर्म का लक्ष्य धर्म का ऊंचा उठना है। आदर्श धर्म वह है जो उस द्वैतभाव पर जिसको लेकर वह चलता है,

१. तैत्तिरीय उपनिषद् पर शाङ्कर भाष्य, १ : ६; "शालग्राम इव विष्णो।"
२. मूर्तामूर्तम्। तैत्तिरीय उपनिषद् पर शाकर भाष्य, १ : ६।
३. मुण्डक उपनिषद्, ३ : २, ३; कठ, २ : २३।
४ कौषीतकि, ३ : ८।

विजय प्राप्त करता है। धार्मिक पूजा भय के भाव से प्रारम्भ होती है भक्ति एवं प्रेम तथा नित्य के साथ संगम के मार्ग से गुजरती है और समाधि अवस्था में जाकर शेष हो जाती है जहां ईश्वर एवं जीवात्मा एक दूसरे के अन्दर समा जाते हैं। धार्मिक पूजा का विधान तभी तक के लिए है जब तक पूर्णावस्था की प्राप्ति नहीं होती।

उपासना अथवा धार्मिक पूजा के अपूर्ण प्रकार पूर्णता को प्राप्त करने के साधन रूप में अंगीकार किए जाते हैं। उपनिषदों को परस्पर विरोधी मतों के साथ अत्यधिक न्याय करने में कहां कहीं असंगत कल्पनाओं को भी अपनाना पड़ा है जो उस समय की जनता में प्रचलित थीं। कुछ लोगों का जादू में विश्वास था। अन्य कइयों ने प्राकृतिक शक्तियों को मन की एकाग्रता एवं तपस्या की अन्यान्य प्रक्रियाओं द्वारा दबाने का प्रयत्न किया, अन्य कुछ व्यक्ति ऐसे थे जो निरर्थक औपचारिक विधियों में ही लिप्त रह गए कुछ व्यक्ति देवताओं को पूजते थे और कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने अपनी धार्मिक अन्तर्दृष्टि द्वारा इस परिवर्तनशील जगत से बच निकलने का मार्ग ढूंढ़ लिया। उपनिषदों के विचारक मनुष्य की विवेकशक्ति की दुर्बलता को भली प्रकार जानते थे कि इसके कारण सब पदार्थों में सर्वकाल में और सर्वदेश में विद्यमान परब्रह्म को मनुष्य स्थान विशेष काल-विशेष एवं पदार्थ विशेष में मर्यादित एवं निविष्ट मान लेता है इसीलिए उन्होंने स्वीकार किया कि यदि पूजा की निम्नतर विधियों का एकदम निषेध कर दिया जाएगा तो भय है कि कहीं ईश्वर इस जीवन से एकदम ही बहिष्कृत न हो जाए। एकदम पूजा न करने से किसी भी प्रकार की पूजा का प्रचलित रहना अच्छा है। और इसीलिए यह कहा गया है कि हम जिस किसी प्रकार की पूजा को अपनाते हैं वैसे ही बन जाते हैं। मनुष्य को आश्रय के रूप में ब्रह्म की उपासना करने दो तो उसे आश्रय मिलेगा उस ब्रह्म के महान स्वरूप की पूजा करने दो तो वह भी महान बन जाएगा। उसे ब्रह्म को मानस के रूप में पूजने दो तो उसमें भी मानसिक शक्ति का विकास होगा। और उसे ब्रह्म के रूप में ब्रह्म की उपासना करने दो तो वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेगा।[1] परब्रह्म भिन्न भिन्न मनुष्यों में अपना प्रकाश भिन्न भिन्न रूपों में करता है। किन्तु इसका अवतारवाद के सिद्धान्त के साथ नहीं मिलाना चाहिए क्योंकि उपनिषदों में अवतारवाद का कहीं पता नहीं मिलता। धार्मिक भाव से परब्रह्म के ध्यान को उपनिषदों ने धर्म का सबसे उत्कृष्ट रूप स्वीकार किया है उससे दूसरी श्रेणी का है अन्तःस्थ प्रभु के प्रति भावनापूर्ण भक्ति, और सबसे निम्न श्रेणी का धर्म वैदिक देवी-देवताओं की पूजा है।

यह प्रायः कहा जाता है कि उपनिषदें किसी प्रकार की धार्मिक पूजा को स्वीकार नहीं करतीं। डाक्टर मैक्डूगल लिखता है चाहे कितनी ही स्पष्टता के साथ सच्ची पूजा का भाव लक्षित किया गया हो कभी-कभी उस एक ही ग्रन्थ में उपास्य एवं उपासक के मध्य भेदभाव का नितांत निषेध पाया जाता है अर्थात उपास्य एवं उपासक को एक ही बताया गया है, क्योंकि पूर्ण विकसित आस्तिकवाद की यही मांग है।[2] उपनिषदें जीव एवं ब्रह्म की एकता पर बल देती हैं। इन दोनों में जो अपेक्षाकृत भेद हमें दिखाई देता

१ तैत्तिरीय, २ १० देखें छान्दोग्य भी १ ३ १ बृहदारण्यक १ २, १३।
२ 'द उपनिषद्स एण्ड लाइफ' पृष्ठ ६।

है, ऊंचे उठकर एकत्व में वह लुप्त हो जाता है। "यदि कोई मनुष्य अन्य देव की पूजा करता है इस विचार को लेकर कि वह और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं, वह अज्ञानी है।"[1] एकत्व उपनिषदों के सिद्धान्त का सर्वोपरि तत्त्व है। परब्रह्म को अन्तर्यामी मानना उपनिषदों का केन्द्रीय तत्त्व है। यदि धार्मिक पूजा के साथ उनकी संगति नहीं बैठती तो इसका अर्थ केवल यह होगा कि सत्य धर्म के लिए आस्तिकता को कोई स्थान नहीं, क्योंकि एक यथार्थ आस्तिकवाद के लिए ब्रह्म को अन्तर्यामी मानना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक सत्य-धर्म इस विषय की घोषणा करता है कि सान्त पदार्थ स्वयं अपने आधार पर नहीं है और न अपने-आप विकसित हुए हैं, किन्तु परब्रह्म सबके ऊपर है, सबके अन्दर है, सबके मध्य में है; वह सत्ता की आधारभूमि है, जीवन का स्रोत एवं इच्छा का लक्ष्यबिन्दु है। "यदि मैं ऊपर चढ़कर स्वर्ग में पहुंचू तो वहा भी तू है, यदि नरक को मैं अपना आश्रय बनाऊं तो देखता हूं कि तू वहां भी है। यदि मुझे प्रातःकालीन स्वच्छ वायु के पंख मिल जाए और समुद्र के गहनतम भाग में निवास करूं तो वहां भी तेरा ही हाथ मुझे पहुंचाएगा।"[2] "ईसा कहते हैं कि क्या मैं यहां उपस्थित ईश्वरमात्र हूं, और दूरस्थित ईश्वर नहीं हूं? क्या कोई अपने को ऐसे गुप्त स्थानों में भी छिपा सकता है जहां मैं उसे नहीं देख सकता? ईसा कहते हैं, क्या अन्तरिक्ष और पृथ्वी लोक मुझसे पूरित नहीं हैं?" "ईश्वर के अन्दर ही हम निवास करते हैं, समस्त चेष्टाएं करते हैं एवं अपनी सत्ता को स्थिर रखते हैं।"[3] और "जो प्रेम में निवास करता है वह परमेश्वर में निवास करता है, और परमेश्वर उसके अन्दर निवास करता है।"[4] प्रत्येक सच्चा धर्म ईश्वर को अन्तर्यामी मानता है, और उत्कृष्टरूप से ईश्वरवादी है।

१६

मोक्ष या मुक्ति

क्या धार्मिक आत्मज्ञान की सर्वोच्च अवस्था परब्रह्म के साथ सन्धि हो जाना है, या केवल शून्यता के रूप में लुप्त हो जाना है? उपनिषदों का मत है कि सर्वोच्च अवस्था में व्यक्तित्व का विश्लेषण हो जाता है, यह स्वार्थमय एकाकीपन का त्याग है, किन्तु यह केवल शून्यता अथवा मृत्यु नहीं है। "जिस प्रकार बहनेवाली नदियां समुद्र में जाकर विलुप्त हो जाती हैं और अपने पृथक् नाम एवं रूप को खो बैठती हैं, इसी प्रकार एक ज्ञानी पुरुष नाम और रूप से मुक्त होकर दैवीय शक्ति के समीप पहुंच जाता है, जो सबसे दूर है।"[5] उपनिषदें संकीर्ण जीवात्मा को परमसत्ता स्वीकार नहीं करतीं। वे मनुष्य जो वैयक्तिक अमरत्व के लिए प्रार्थना करते हैं, जीवात्मा की परमार्थता को मानते हैं एवं इस जगत् से परे भी उसकी स्थिरता पर बल देते हैं। परिमित शक्ति वाले जीवन में यथार्थ तत्त्व, जीवात्मा के स्वरूप में सबसे श्रेष्ठ है, वह अनन्त है और वह भौतिक सत्ता की सीमाओं के

१ बृहदारण्यक, १ ४, १०।
२ 'साम', १३९।
३ सेंट पाल।
४. सेंट जॉन।
५ मुण्डक, ३ २, ८, प्रश्न उपनिषद् भी देखें, ६. ५।

परे भी विद्यमान रहता है। महत्त्वपूर्ण अंश का नाश नहीं होता। इस संसार में जिन धार्मिक महत्ता की खोज में हम रहते हैं और जिन्हें अपूर्णरूप में प्राप्त कर पाते हैं सर्वोच्च अवस्था में हम उन्हें परमार्थरूप में पाते हैं। मनुष्य के रूप में हम अपने आदर्शों तक अपूर्णरूप में पहुंच पाते हैं जो क्षणिक प्रकाश के रूप में एवं अन्तर्दृष्टि के क्षणों में कभी कभी प्राप्त होते हैं। सर्वोच्च अवस्था में हम उन तक पूर्णता के साथ, सर्वांशरूप से एवं परमरूप से पहुंचते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् हमें बताती है कि इस जगत् में जो आनन्द हम प्राप्त होता है वह दैवीय आनन्द की छायामात्र है, उसका एक तुच्छ-सा उपलक्षण है।[1] जीवन रूपी समुद्र में सब प्रकार के कष्टों के पश्चात् हम एक ऐसे रेतीले किनारे पर नहीं पहुंचते जहां भोजन के लिए हम कुछ प्राप्त न हो और हम भूख से प्राण दे दें। मुक्त अवस्था को आत्मा की पूर्णतम अभिव्यक्ति मानना चाहिए। यदि स्वयं परब्रह्म को एक अमूर्तरूप भावात्मक सत्ता माना जाए तो ईश्वर की ओर उठने का अर्थ होगा कि हम एक शून्यात्मक अथाह गर्त में अपने को गिरा रहे हैं। और उस अवस्था में मनुष्य का लक्ष्य शून्य बनना होगा। उपनिषदें इस परिणाम को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। उच्चतम अवस्था प्रशान्तता एवं परमाह्लाद की अवस्था है। यह आनन्द की अवस्था है *जहां प्राणी का प्राणीरूप विनष्ट हो जाता है किन्तु वह अपने स्रष्टा के साथ* एकात्म हो जाता है अथवा यों कहना अधिक यथार्थ होगा कि वह उस स्रष्टा के साथ अपनी एकता का अनुभव कर लेता है। हम इस पूर्णता का ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकते। हम प्रतीकों का ही प्रयोग करते हैं। नित्य जीवन का स्वरूप एक आनन्द की अवस्था है अथवा मुक्ति है जीवात्मा का सुखपूर्ण विस्तार है। जहां स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोक एकत्र होकर आगे बढ़ते हैं।

इसके स्वरूप को सिवाय प्रतिकृति या रूपकअलंकार के अन्य किसी प्रकार से नहीं बताया जा सकता। इस जीवन में ऐसी अवस्थाएं भी हैं जिन्हें नित्य अथवा कालातीत सत्ता के उदाहरणस्वरूप कहा जा सकता है। बरनवान ह्यूगल हमें समाधि की अवस्थाओं के विषय में बतलाता है जो अनुभवी आत्मा की एकाग्रता के अनुपात में कालविहीन अर्थात् बिना तारतम्य के एवं समसामयिक प्रतीत होती हैं और इसीलिए नित्य हैं आत्मा की नित्यता यहां अन्य दृष्टियों से प्रत्यक्ष में परमेश्वर से समानता होने के कारण निष्कर्ष के रूप में नहीं जबकि आत्मा इस अवस्था में होती है बल्कि इसके विपरीत नित्यता स्वयं अनुभव का केन्द्र है एवं आत्मा के लिए दैवीय स्वरूप प्राप्त किए रहने के लिए विशेष आकर्षण का हेतु है। आत्मा के अमरत्व का अनुभव मृत्यु से पूर्व नहीं हो सकता जबकि इसके नित्यत्व का जिस अर्थ में संकेत किया गया है उसका इस जीवन सम्बन्धी अवस्थाओं में साक्षात् अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार अमरता में विश्वास की तो यहां कल्पना की जाती है किन्तु नित्यत्व का भाव मुख्य है।[2] किसी मधुर संगीत का आनन्द लेने में किसी कलात्मक वस्तु के चिन्तन में, किसी तर्क को पूर्णरूपेण ग्रहण करने में हमारे आगे एक अलौकिक अवस्था उपस्थित हो जाती है जिसमें

१ देखें २ : ८ बार्तिकि, १ : ३, ४ बृहदारण्यक, ४ : ३, ३३।

२ 'इटर्नल लाइफ' पृष्ठ २७।

परमेश्वर का दर्शन एव नित्यत्व का अनुभव हो जाता है।[1] भौतिक या लौकिक घटनाएं सब नित्य हो जाती हैं जब उन्हे परब्रह्म के सम्बन्ध में समझने का प्रयत्न किया जाए और इस प्रकार यथार्थरूप में देखा जाए।

चूंकि हमारे मानवीय दृष्टिकोण से परमसत्ता की पूर्णता का वर्णन करना सम्भव नही है, उपनिषदो ने भी परम मुक्ति या मोक्ष की अवस्था का यथार्थ एवं सूक्ष्म रूप मे वर्णन नही किया है। दो बराबर विरोधी वर्णन हमें उपनिषदो मे मिलते है, अर्थात् एक तो यह कि यह परमात्मा के सादृश्य की अवस्था है, एवं दूसरे वर्णन के अनुसार यह कि यह परमेश्वर के साथ ऐक्य की अवस्था है।

उपनिषदो मे ऐसे स्थल आए है जहा जीवात्मा के परब्रह्म के साथ एकाकार हो जाने का वर्णन है; यथा "प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर बाण चलाना चाहिए। जो वेधन करनेवाला है, बाण के ही समान हो जाता है एव लक्ष्यरूपी ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।"[2] आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है।[3] यहा पर जीवात्मा और ब्रह्म मे एकदम तादात्म्य-वर्णन किया गया है। आगे चलकर, "ये सब सर्वोच्च अविनश्वर ब्रह्म मे पहुचकर एकाकार हो जाते है।"[4] "वह सर्वोपरि अक्षर आत्मा मे विलीन हो जाता है।"[5] "वह सर्वज्ञ और सर्वात्मा हो जाता है।"[6] "वह समस्त मे प्रवेश करता है।"[7] मुक्तात्मा सब पदार्थों मे प्रविष्ट होता है और भावरूप मे तदात्मक हो जाता है। "उसको प्राप्त करने पर ऋषिगण का, जो अपने

१. संत आगस्टाइन ने अपने 'कन्फेशंस' में लिखा है, "मान लीजिए कि हमारी सारी शारीरिक हलचल सदा के लिए समाप्त हो जाए और जल, थल व नभ के समस्त इंद्रियग्राह्य रूप शात हो जाएं; मान लीजिए कि अन्तरिक्ष स्थिर हो जाए और यहा तक कि आत्मा भी निःशब्द हो जाए और अपनी निज की संज्ञा भूल जाए, मान लीजिए कि सारे स्वप्न और कल्पना की समस्त अभिव्यक्तिया, शब्द और संकेत आदि, तथा इस क्षणभगुर ससार से सम्बन्धित सब कुछ शात हो जाए, मान लीजिए कि ये सब चुप हो जाए—और यदि ये उससे कुछ कहें भी जो सब कुछ सुनता है, तो केवल यह कहें, 'हमने अपने-आपको नहीं बनाया है, बल्कि उसने हमें बनाया है जो चिरन्तन है'—मान लीजिए कि ये केवल इतना ही कहें और बिलकुल शात रहें, और उसीको सुनें जिसने इन्हें बनाया है, उसे ही बोलने दें, अपने माध्यम से नहीं बल्कि उसे स्वय बोलने दें, जिससे कि हम उसके शब्द सुन सकें—किसीकी चमड़े की जीभ से या किसी देवात्मा के माध्यम से नहीं, न ही गर्जन के माध्यम से या ऐसी किसी चीज के जरिये जो उसे छिपा देती है जिसे वह प्रकट करना चाहती है; मान लीजिए कि तब वह परमात्मा, जिससे हम इस प्रकार के प्रत्यक्षीकरणों के कारण प्रेम करने लगे हैं, बिना किसी माध्यम के हमारे सामने प्रकट होता है—ठीक उसी तरह जिस तरह कि अन्तर्दृष्टि के एक क्षणिक आलोक में हमें उस सर्वज्ञ और शाश्वत की अनुभूति प्राप्त होती है, जिसका स्थान सर्वोपरि है, अन्त में, मान लीजिए कि परमात्मा का यह दर्शन चिरकालिक हो जाए और इससे निम्न अन्य सभी वस्तुएं दृष्टि से ओझल हो जाए, ताकि केवल वही अपने दर्शक को मुग्ध कर सके और उसे एक रहस्यमय आनन्द में सम्मोहित कर सके, और हमारे जीवन को वह अन्तर्दृष्टि और आत्मप्रेरणा के उस क्षण के एक चिरस्थायी विस्तार में बदल दे जिसे हमने प्राप्त किया था—तो क्या यह वही स्थिति नहीं होगा जो इन शब्दों के अर्थ से इंगित है: 'तू अपने प्रभु के आनन्द को प्राप्त कर'?"

२. मुण्डक, २:२, २; कठ उप० भी देखें, २.१५।

३. शरवत् तन्मयो भवेत्।

४. मुण्डक, ३:२, ७; सर्वे एकीभवन्ति।

५. प्रश्न उप०, ४:९।

६. ४.१०; स सर्वज्ञः सर्वो भवति।

७. १:७, सर्वम् एवाविशन्ति।

परे भी विद्यमान रहता है। महत्त्वपूर्ण अंश का नाश नहीं होता। इस संसार में जिन धार्मिक महत्ता की खोज में हम रहते हैं और जिन्हें अपूर्णरूप में प्राप्त कर पाते हैं सर्वोच्च अवस्था में हम उन्हें परमार्थरूप में पाते हैं। मनुष्य के रूप में हम अपने आदर्शों तक अपूर्णरूप में पहुंच पाते हैं जो क्षणिक प्रकाश के रूप में एवं अन्तर्दृष्टि के क्षणों में कभी कभी प्राप्त होते हैं। सर्वोच्च अवस्था में हम उन तक पूर्णता के साथ, सर्वांगरूप से एवं परमरूप से पहुंचते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् हमें बताती है कि इस जगत् में जो आनन्द हम प्राप्त होता है वह दैवीय आनन्द की छायामात्र है उसका एक तुच्छ सा उपलक्षण है।[1] जीवन रूपी समुद्र में सब प्रकार के कष्टों के पश्चात् हम एक ऐसे रेतीले किनारे पर नहीं पहुंचते जहां भोजन के लिए हम कुछ प्राप्त न हो और हम भूख से प्राण दें। *मुक्त अवस्था को आत्मा की पूर्णतम अभिव्यक्ति मानना चाहिए। यदि स्वयं* परब्रह्म को एक अमूर्तरूप भावात्मक सत्ता माना जाए तो ईश्वर की ओर उठने का अर्थ होगा कि हम एक शून्यात्मक अथाह गर्त में अपने को गिरा रहे हैं। और उस अवस्था में मनुष्य का लक्ष्य शून्यता होगा। उपनिषदें इस परिणाम को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। उच्चतम अवस्था प्रमाणता एवं परमाह्लाद की अवस्था है। यह आनन्द की अवस्था है जहां प्राणी का प्राणीरूप विनष्ट हो जाता है किन्तु वह अपने स्रष्टा के साथ एकात्म हो जाता है अथवा यों कहना अधिक यथार्थ होगा कि वह उस स्रष्टा के साथ अपनी एकता का अनुभव कर लेता है। हम इस पूर्णता का ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकते। हम प्रतीकों का ही प्रयोग करते हैं। नित्य जीवन का स्वरूप एक आनन्द की अवस्था है अथवा मुक्ति है जीवात्मा का सुखपूर्ण विस्तार है। जहां स्वर्गलोक एवं इहलोक एकत्र होकर भाग करते हैं।

इस स्वरूप को सिवाय प्रतिकृति या रूपक प्रकार के अन्य किसी प्रकार से नहीं बताया जा सकता। इस जीवन में ऐसी अवस्थाएं भी हैं जिन्हें नित्य अथवा कालातीत सत्ता के उदाहरणस्वरूप कहा जा सकता है। बरनवान ह्यूगल हमें समाधि की अवस्थाओं के विषय में बतलाता है जो अनुभवी आत्मा को एकाग्रता व अनुराग में कालविहीन अर्थात् बिना तारतम्य के एवं समसामयिक प्रतीत होती हैं और इसीलिए नित्य हैं आत्मा की नित्यता यहां अन्य दृष्टियों से प्रत्यक्ष में परमेश्वर से समानता होने के कारण निष्कर्ष के रूप में नहीं जबकि आत्मा इस अवस्था में होती है बल्कि इसके विपरीत नित्यता स्वयं अनुभव का केन्द्र है एवं आत्मा के लिए दैवीय स्वरूप प्राप्त किए रहने के लिए विशेष आकर्षण का हेतु है। आत्मा के अमरत्व का अनुभव मृत्यु से पूर्व नहीं हो सकता जबकि इसके नित्यत्व का जिस अर्थ में संकेत किया गया है उसका इस जीवन सम्बन्धी अवस्थाओं में साक्षात् अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार अमरता में विश्वास की तो यहां कल्पना की जाती है किन्तु नित्यत्व का भाव अवश्य है।[2] किसी मधुर संगीत का आनन्द लेने में किसी कलात्मक वस्तु के चिन्तन में किसी तर्क को पूर्ण रूप ग्रहण करने में हमारे प्राण एक अलौकिक अवस्था उपस्थित हो जाती है, जिसमें

१ देखें २ ८ कौषीतकि १ ३, ५; बृहदारण्यक, ४ ३, ३२।
२ इम्मार्टल मन, पृष्ठ ५७।

परमेश्वर का दर्शन एवं नित्यत्व का अनुभव हो जाता है।[1] भौतिक या लौकिक घटनाएं सब नित्य हो जाती हैं जब उन्हें परब्रह्म के सम्बन्ध में समझने का प्रयत्न किया जाए और इस प्रकार यथार्थरूप में देखा जाए।

चूंकि हमारे मानवीय दृष्टिकोण से परमसत्ता की पूर्णता का वर्णन करना सम्भव नहीं है, उपनिषदों ने भी परम मुक्ति या मोक्ष की अवस्था का यथार्थ एवं सूक्ष्म रूप में वर्णन नहीं किया है। दो बराबर विरोधी वर्णन हमें उपनिषदों में मिलते हैं, अर्थात् एक तो यह कि यह परमात्मा के सादृश्य की अवस्था है, एवं दूसरे वर्णन के अनुसार यह कि यह परमेश्वर के साथ ऐक्य की अवस्था है।

उपनिषदों में ऐसे स्थल आए हैं जहां जीवात्मा के परब्रह्म के साथ एकाकार हो जाने का वर्णन है; यथा "प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर बाण चलाना चाहिए। जो वेधन करनेवाला है, बाण के ही समान हो जाता है एवं लक्ष्यरूपी ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।"[2] आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है।[3] यहां पर जीवात्मा और ब्रह्म में एकदम तादात्म्य-वर्णन किया गया है। आगे चलकर, "ये सब सर्वोच्च अविनश्वर ब्रह्म में पहुंचकर एकाकार हो जाते हैं।"[4] "वह सर्वोपरि अक्षर आत्मा में विलीन हो जाता है।"[5] "वह सर्वज्ञ और सर्वात्मा हो जाता है।"[6] "वह समस्त में प्रवेश करता है।"[7] मुक्तात्मा सब पदार्थों में प्रविष्ट होता है और भावरूप में तदात्मक हो जाता है। "उसको प्राप्त करने पर ऋषिगण का, जो अपने

१. सन्त आगस्टाइन ने अपने 'कन्फेशन' में लिखा है, "मान लीजिए कि हमारी सारी शारीरिक हलचल सदा के लिए समाप्त हो जाए और जल, थल व नभ के समस्त इन्द्रियग्राह्य रूप शान्त हो जाएं; मान लीजिए कि अन्तरिक्ष स्थिर हो जाए और यहां तक कि आत्मा भी निःशब्द हो जाए और अपनी निज की सत्ता भूल जाए, मान लीजिए कि सारे स्वप्न और कल्पना की समस्त अभिव्यक्तियां, शब्द और संकेत आदि, तथा उस क्षणभंगुर संसार में सम्मिलित सब कुछ शान्त हो जाए, मान लीजिए कि ये सब चुप हो जाएं—और यदि ये उससे कुछ कहें भी जो सब कुछ सुनता है, तो केवल यह कहें, 'हमने अपने-आपको नहीं बनाया है, बल्कि उसने हमें बनाया है जो चिरन्तन है'—मान लीजिए कि ये केवल इतना ही कहें और बिलकुल शान्त रहें, और उसीको सुनें जिसने इन्हें बनाया है, उसे ही बोलने दें, अपने माध्यम से नहीं बल्कि उसे स्वयं बोलने दें, जिससे कि हम उसके शब्द सुन सकें—किसीकी चमड़े की जीभ से या किसी देवात्मा के माध्यम से नहीं, न ही गर्जन के माध्यम से या ऐसी किसी चीज के जरिये जो उसे छिपा देती है जिसे वह प्रकट करना चाहती है, मान लीजिए कि तब वह परमात्मा, जिससे हम इस प्रकार के प्रत्यक्षीकरणों के कारण प्रेम करने लगे हैं, बिना किसी माध्यम के हमारे सामने प्रकट होता है—ठीक उसी तरह जिस तरह कि अन्तर्दृष्टि के एक क्षणिक आलोक में हमें उस सर्वज्ञ और शाश्वत की अनुभूति प्राप्त होती है, जिसका स्थान सर्वोपरि है, अन्त में, मान लीजिए कि परमात्मा का यह दर्शन चिरकालिक हो जाए और इससे निम्न अन्य सभी वस्तुएं दृष्टि से ओझल हो जाएं, ताकि केवल वही अपने दर्शक को मुग्ध कर सके और उसे एक रहस्यमय आनन्द में सम्मोहित कर सके, और हमारे जीवन को वह अन्तर्दृष्टि और आत्मप्रेरणा के उस क्षण के एक चिरस्थायी विस्तार में बदल दे जिसे हमने प्राप्त किया था—तो क्या यह वही स्थिति नहीं होगी जो इन शब्दों के अर्थ से इंगित है: 'तू अपने प्रभु के आनन्द को प्राप्त कर'?"

२. मुण्डक, २ : २, ४; कठ उप० भी देखें, २ : १५।
३. शरवत् तन्मयो भवेत्।
४. मुण्डक, ३ : २, ७, सर्वं एकीभवन्ति।
५. प्रश्न उप०, ४ : ९।
६. ४ : १०; स सर्वज्ञः सर्वो भवति।
७. १ : ७, सर्वम् एवाविशन्ति

ज्ञान से सन्तुष्ट हैं प्रयोजन सिद्ध हो जाता है व सब प्रकार की इच्छाओं से विरक्ति और पूर्ण शान्ति के साथ सर्वव्यापी आत्मा को सब ओर से प्राप्त करके बराबर ध्यान मन को एकाग्र रख प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होते हैं। 'उपनिषदों की जो मान्यता कि ब्रह्म ही एकमात्र सर्वग्राही सत्ता है सन्दर्भ निर्दिष्ट ध्यानमय कर सकते हैं कोई ऐसा या बताना नहीं हो सकता। ' बिना किसी संशय के और वेदान्त के ज्ञान का महत्त्व खूब अच्छी तरह से समझकर गम्य में भावपर जिनके मन त्याग से पवित्र हैं उस ब्रह्म के लोक को प्राप्त करते हैं और जब उनका देह छूटता है तब उनका आत्मा अमर एवं सर्वोपरि परब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है और वे सब प्रकार से मुक्त हो जाते हैं। ' मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अपनी एकता को इस प्रगाढ़ रूप में अनुभव करती है कि यह अपने को संसार का स्रष्टा कहती सकती है। मैं भोजन हूं मैं ही खानेवाला हूं। मैं विषयी हूं मैं ही विषय हूं एवं मैं दोनों ही हूं। मैं ही आदिजन्मा हूं एवं संसार का संहारक भी मैं हूं। मैं सूर्य के सदृश प्रकाश हूं। मैं संसार एवं अमर देवताओं का केन्द्रबिन्दु हूं। ' उक्त स्थल यह उपलक्षित करते प्रतीत होते हैं कि द्वैत का भाव है ही नहीं और इसलिए सर्वोच्च अवस्था में कर्म का प्रश्न ही नहीं उठता। यह चेतनता से रहित होने के पश्चात् भी जीवन लगता है जब शरीर विलीन हो जाता है एवं मन भी विलुप्त हो जाता है और सब कुछ एक निःसीम अन्धकार में खो जाता है। अगर हम चाहें तो इस स्वप्नों से रहित निद्रा अथवा चेतनाविहीन शान्ति का नाम दे सकते हैं। जब याज्ञवल्क्य ऋषि ने मैत्रेयी को इस दशा में समझाया जिस प्रकार नमक का एक ढला जल में छोड़ने पर उसमें एकदम घुल मिल जाता है और पुनः हम उसे स्वरूप में नहीं पा सकते किन्तु जल पर से भी जब लें वह नमकीन ही मिलेगा यही अवस्था यथार्थ में इस महान आत्मा की है जो निरन्तर है अपरिमित है ज्ञान की सम्पूर्ण इकाई है इन्हीं प्राणियों के द्वारा यह अभिव्यक्त हुई और इन्हीं के साथ अन्तर्धान हो जाएगी। मृत्यु के बाद चेतना की कोई सत्ता नहीं रहती। मैत्रेयी कहती है 'तुम्हारा यह वचन कि मृत्यु के पश्चात् कोई चेतना नहीं रहती मुझे भ्रम में डालता है। याज्ञवल्क्य उत्तर देता है मैंने ऐसी तो कोई बात नहीं कही जिससे तुम्हें भ्रम हो यह बिलकुल बोधगम्य है। जहां सत्ताओं में द्वैतभाव रहता है एक दूसरे को देख सकता है एक दूसरे की गन्ध ले सकता है एक दूसरे से भाषण कर सकता है एक दूसरे की बात सुन सकता है एक दूसरे के विषय में सोच सकता है एक दूसरे को जान सकता है। किन्तु जब प्रत्येक पदार्थ आत्मरूप हो गया तो वह किसके द्वारा और किसको देखेगा किसके द्वारा और किसकी गन्ध लेगा किसके द्वारा और किससे भाषण करेगा किसके द्वारा और किसे सुनेगा सोचेगा या जानेगा ? किस साधन से उसे जानेगा जिसके द्वारा वह समस्त विश्व को जान सकता है ? इससे यह बात स्पष्ट है कि किसी विशेष रूप में जिसे हमारी बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती जीवात्मा ऐसी मुक्ति प्राप्त करती है जिसमें सब प्रकार की चेष्टा प्रत्यक्ष ज्ञान विचार अथवा चेतना का अभाव रहता है क्योंकि यह सब द्वैतपरक दृष्टि में ही सम्भव है। ये सब चेष्टाएं विषयी एवं विषय के परस्पर विरोध

१ मुण्डक ३ , ५। २ ३ २, ६। ३ तैत्तिरीय, ८।

के ही ऊपर निर्भर करती हैं और सापेक्षात्मक जगत् में ही उनकी सम्भावना रहती है। परमलोक में जाकर सब प्रकार का द्वैतभाव विलुप्त हो जाता है ऐसा कहा गया है, और उसके साथ ही साथ प्रत्यक्ष ज्ञान एवं कर्म भी विलुप्त हो जाते हैं। यह उस अवस्था में स्वयं निरवस्थायी एवं अपरिवर्तनीय आत्म हो जाता है जिसकी पूर्णता में सब प्रकार की गति मन्द हो जाती है, सब रंग फीके पड़ जाते हैं, और सब शब्द समाप्त हो जाते हैं। यह मोक्ष का निषेधात्मक पक्ष है, यही सब कुछ है जिसे सीमित बुद्धि ग्रहण कर सकती है। इसका विधायक पक्ष भी है। केवल इसीलिए कि हम परिमित शक्ति वाले होने के कारण परमार्थ अवस्था की पूर्णता का वर्णन नहीं कर सकते, यह निषेधात्मक शून्यता नहीं है। निषेधात्मक दृष्टि से जीवात्मा सब प्रकार के विभेद को छोड़कर उस रूप में प्रतीत होती है जो न यह है न वह है किन्तु एक अनिर्दिष्ट मध्यवर्ती प्रकार की वस्तु है। ऐसे बेपरवाह प्राणी जो इन सब मामलों में सोते हुए से प्रतीत होते हैं, वस्तुतः बहुत सक्रिय हो सकते हैं। जब विध्यात्मक पक्ष पर बल दिया जाएगा, मुक्तात्मा को एक पूर्णताप्राप्त जीवात्मा के रूप में हम समझ सकेंगे, जिसका दर्जा सर्वोपरि परमसत्ता के ही समान है।[1] ऐसे वाक्यों में जहां कहा गया है कि मुक्तात्मा अपनी सब इच्छाओं की पूर्ति करते हुए लोकों में भ्रमण करती है, उससे यह ध्वनित होता है कि मुक्तात्मा की अभी भी सक्रिय सत्ता है। "इन लोकों में विचरती हुई, इच्छानुसार भोजन करती हुई, नाना आकारों को अपनी इच्छानुसार धारण करती हुई वह गीत गाती हुई विराजती है।"[2] और फिर भी उसे इस प्रकार की भावना होती है कि वह ईश्वर के साथ एकाकार है। छान्दोग्य के अनुसार, अमरत्व से तात्पर्य है अपने को देवताओं के देश की ओर ऊपर उठाना।[3] मुण्डक उपनिषद् में इसे ईश्वर का साहचर्य कहा गया है।[4] ईश्वर के साथ नितान्त समानता का सुझाव भी दिया गया है।[5] दैहिक कर्म के लिए गुंजाइश बतलाने के लिए कहा गया है कि जीवात्मा परमेश्वर के समान हो जाती है। सर्वोच्च सत्ता की यथार्थ अवस्था के विषय में कितने भी मतभेद भले ही क्यों न हों, एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि यह निष्क्रिय न होकर सक्रिय अवस्था है जो स्वातन्त्र्य एवं पूर्णता से युक्त है। यदि ठीक-ठीक कहें तो कहना होगा कि हम उस अवस्था का वर्णन नहीं कर सकते किन्तु यदि उसकी परिभाषा अवश्य ही चाहिए तो कह सकते हैं कि उसे दैवीय जीवन की अवस्था समझा जा सकता है। आत्मा की सत्ता एकदम गायब नहीं हो जाती जैसेकि सूर्य की किरण सूर्य में समा जाती है, अथवा समुद्र की लहर समुद्र में समा जाती है और संगीत के स्वर एक स्वरलहरी में समा जाते हैं। जीवात्मा का संगीत सांसारिक गति में विलुप्त नहीं होता। यह सर्वदा के लिए एक-समान है और फिर भी एकसमान नहीं है। यह कहा जाता है कि मुक्तात्मा सबके साथ एकाकार हो जाती है और ईश्वर के साथ एक होकर जीवन व्यतीत करती है। मुक्तात्मा के इस प्रकार के विध्यात्मक वर्णन से एक वैयक्तिक पृथक्त्व के भाव का संकेत मिलता है, यद्यपि इस प्रकार के वैयक्तिक पृथक्त्व का आधार आत्मभावना का कोई रूप नहीं है।

१. परमं साम्यम् उपैति। मुण्डक, ३ १, ३।
२. तैत्तिरीय, ३. १०, ५।
३. ८ : २२।
४. ३ २, ६।
५. ३ १, ३।

जीवात्मा का इस प्रकार का मोक्ष जीवन परमसत्ता के साथ एकत्व का आनन्द अनुभव करने के लिए आवश्यक है। यद्यपि आत्माभिव्यक्ति के लिए इस प्रकार के व्यक्तित्व के बन्धन का धारण है फिर भी हमें बताया जाता है कि जीवात्मा में अपने गौरव एवं अमरता के महत्त्व की चेतना भी विद्यमान रहती है। वह अनुभव करती है कि विश्व रूपी नाटक में ईश्वर काम कर रहा है जिसमें दैवीय चेतना अपना भाग अभिनीत करती है। मुक्तात्मा भी उसी नाटक में अभिनय करती है और पूर्णरूप से सत्य का धारण किए रहती है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो उसके प्रयोजन के लिए न भुक सके। "वह वायुओं को अपने देवदूत बनाती है और जाज्वल्यमान अग्निशिखाएं उसके मन्त्रिगण हैं।" मुक्तात्मा की नानाविध परिभाषाओं के दार्शनिक समन्वय के लिए अभी हम और कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अहंभाव को भी इसी जीवन में पृथक करना सम्भव है और वह व्यक्ति जो इसी जीवन में पूर्णता को प्राप्त कर लेता है जीवन्मुक्त कहलाता है। उसका अमरत्व-सम्बन्धी गुण उसकी गति सम्बन्धी स्वतन्त्रता में ही प्रकट होता है।

उपनिषदों के सिद्धान्तों के रहस्यमय होने के कारण उन्हीं एकसमान सन्दर्भों में से ही विभिन्न मतभेद प्रकट हो गए। कुछ बौद्धधर्मानुयायी उपनिषदों के मुक्तावस्था-सम्बन्धी विचार को सर्वथा अभाव के रूप में प्रतिपादित करते हैं एवं कुछ वेदान्ती इसे सर्वोपरि परमार्थसत्ता में तल्लीन हो जाना कहते हैं। कुछ अन्य लोगों का मत है कि यह एक नित्यसत्ता है जो विचार, प्रेम एवं सर्वोपरि परब्रह्म में आत्मसात हो जाती है। किन्तु यह एकदम मिट जाना अथवा शून्य हो जाना नहीं है। भक्तिभाव से पूर्ण कवि का यह घोषित करना कि "मैं शक्कर खाकर उसका स्वाद लेना चाहता हूं किन्तु शक्कर नहीं बनना चाहता" इसी मत को प्रकट करता है। वैष्णव एवं शैव मत के धार्मिक दर्शनशास्त्री भी इसी पक्ष को स्वीकार करते हैं। किन्तु प्रायः सभी भारतीय विचारक इस विषय पर एकमत हैं कि मोक्ष जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूट जाने का नाम है। ईश्वर के साथ सम्मिलन नित्य हो जाने का ही दूसरा नाम है। दृश्यमान जगत की परिभाषा में यदि हम नित्यता की परिभाषा करें तो यह जन्मरहित एवं मृत्युरहित अवस्था ही है।

१७

पाप और दुःख

पाप की समस्या वेदान्त दर्शन की समस्त पद्धतियों के मार्ग में एक बाधक के रूप में है। सान्त के उन्नति करने की आध्यात्मिक समस्या के विषय में हम पहले लिख चुके हैं। यहां पर अब हमारे सामने नैतिक पापाचरण का प्रश्न है। वैदिक ऋचाओं में वैदिक शिक्षाओं के अनुकूल आचरण करना पुण्य है और उनके विपरीत आचरण पाप है। उपनिषदों में नित्य जीवन का ज्ञान पुण्य है और अज्ञान पाप है। इस मिथ्या दृष्टि को व्यक्त करनेवाला आचरण एवं उसके कारण आत्मा का पृथक्त्व ही पाप है। उपनिषदों के मत में संसार के समस्त पदार्थों की प्राप्ति केवल ईश्वरप्राप्ति के साधन के रूप में ही स्वीकार करने योग्य है। यदि हम उन्हें ठोस और पृथग्रूप से मानें और अपने को भी एक पृथक् इकाई

माने तब हम नैतिक दृष्टि से पाप के भागी हैं। अहंभाव मे पूर्ण की सर्वोपरि सत्ता से निषेध करना अथवा अपनी सर्वांगपूर्णता की घोषणा करना भ्रान्ति है। और आचरण मे अहं द्वारा पूर्ण की सर्वश्रेष्ठता का निराकरण पाप है। छोटी अन्तर्दृष्टि से, जो स्वार्थमय अहं को जन्म देती है और अपनी संकीर्णता के कारण सब प्रकार के त्याग मे संकोच करती है, पाप उत्पन्न होता है। उपनिषदें पाप को न तो माया अथवा भ्रान्ति ही कहती है और न उनकी दृष्टि मे यह कोई स्थायी भाव है। हर अवस्था मे मनुष्य का कर्तव्य है कि वह नम्रतापूर्वक इसके आगे झुके। पाप इस अर्थ मे अयथार्थ है कि इसे अवश्य पुण्य मे परिवर्तित होना है। यह इसी सीमा तक यथार्थ है कि इसके स्वभाव को बदलने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

अपनी आत्मा को ईश्वर से ऊचा समझना पाप है, जबकि आत्मचेतना के स्थान मे परमात्मचेतना की स्थापना पवित्रता है। मनुष्य हमेशा के लिए पाप मे लिप्त नही रह सकता। यह अस्थायी सन्तुलन की अवस्था मे है एव वस्तुओ के स्वभाव का विरोधी है। उपनिषदो के मत मे नैतिकता वस्तुओ के यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त करती है। अन्त मे केवल पुण्य का ही आधिपत्य रहता है। "सत्य की ही जय होती है अनृत की नही।"[1] पाप एक निषेधात्मक वस्तु है, अपने अन्दर परस्पर-विरोधी एव मृत्यु का सिद्धात; पुण्य, यथार्थ एव विध्यर्थक वस्तु और जीवन का तत्त्व है। पाप कभी सबको सन्तोषप्रद सिद्ध नही हो सकता, यह वर्तमान समय की करुणाजनक अशान्ति से स्पष्ट हो जाता है, यद्यपि ससारने इतनी भौतिक समृद्धि, सुख-सुविधा एव यन्त्रो पर विजय पा रखी है।

उपनिषदो मे कितने ही स्थलो पर ब्रह्म की प्राप्ति के मार्ग मे आनेवाली कठिनाइयो पर बल दिया गया है। "वह व्यक्ति दिव्य है जो उस आत्मा के विषय मे शिक्षा दे सके जिसके विषय मे बहुत-से व्यक्ति सुन भी नही पाते, जिसके विषय मे बहुत-से यदि सुन भी ले तो समझ नही पाते, और दिव्य है वह जो उसे समझ सकने मे समर्थ हो सके।"[2] मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग 'एक उस्तरे की धार की भाति तीक्ष्ण है जिसपर चलना कठिन एव पार करना अत्यन्त ही कठिन है।'[3] आत्मा के स्वरूप का ज्ञान निर्बाध विकास का अथवा विना विघ्न-बाधाओ के उसमे आगे बढ सकें ऐसा नही है। पूर्णता की ओर अग्रसर होने मे कष्ट एव दु ख का अनुभव होना आवश्यक है। कठोर चकमक के पत्थरो मे परस्पर बलपूर्वक रगड होना आवश्यक है क्योकि विना उसके आग की चिनगारी उत्पन्न नही हो सकती। अमूर्त प्रकाश एव वायु का आनन्द लेने के लिए पक्षी के बच्चे को अण्डे के कठोर बाह्यावरण के भेदन का कष्ट एव वियोग सहना आवश्यक है। नैतिक आचरण को पदार्थों के स्वभाव के प्रतिकूल भी जाना होता है। पुण्य एव सुख हमेशा साथ-साथ नही रहते। "श्रेय और ही पदार्थ है एव प्रेम उससे भी भिन्न पदार्थ है। इन दोनो का उद्देश्य भिन्न है और ये मनुष्य को बन्धन मे जकडते है। श्रेय के मार्ग का आश्रय लेनेवाले का कल्याण होता है,और जो प्रेय के मार्ग का आश्रय लेता है वह उद्देश्य से भ्रष्ट होता है।"[4] प्राकृतिक अभिलाषा की पूर्ति मे सुख प्रतीत होता है जबकि श्रेयमार्ग की माग है कि

१. मुण्डक, ३ : १, ६।
२. कठ, १ : २, ७, भगवद्गीता, २ २९।
३. कठ उपनिषद्, १ ३, १४।
४. वही, १ : २, १, २।

प्राकृतिक प्रेरणा शक्ति को वश में किया जाए। मनुष्य नैतिक साधना द्वारा यथार्थ आत्मा को साक्षात् करता हुआ प्रतीत होता है, जिसे उसने किसी प्रकार खो रखा है। किन्तु जब तक यथार्थ आत्मा की सिद्धि न हो, नीति का विधान एक बाह्य प्रेरणा का रूप स्वीकार कर लेता है। पुण्य सुखकारी प्रतीत नहीं होता। नैतिकता संकेत करती है कि हीनतर प्रवृत्ति के साथ संघर्ष करना होगा जिसका अनुसरण सुखकर प्रतीत होता है। जब मनुष्य अपने को प्राकृतिक बन्धनों से मुक्त करने के लिए संघर्ष करता है तो जीवन में घोर द्वन्द्व होता है। दुःख उन्नति की एक अवस्था है संघर्ष अस्तित्व का नियम है एवं त्याग विकास का सिद्धांत है। जितना ही अधिक संघर्ष एवं त्याग होगा, प्रसन्नता एवं स्वतन्त्रता भी उतनी ही अधिक होगी। प्रत्येक उन्नति का यह विनाशक पक्ष है। धार्मिक जीवन में *लाभ का तात्पर्य भौतिक जीवन में ह्रास है। किन्तु यह ह्रास वास्तविक नहीं है।* यदि यह ह्रास वास्तविक और परमरूप में होता तब वह नितान्त ह्रास होता और उसे हम सहन न कर सकते। मनुष्य के पुत्र (ईसा) को यदि अपना खोया हुआ अधिकार पुनः प्राप्त करना है तो उसे कदाचित् उद्धार के मूल्य के रूप में दुःख झेलना ही होगा। यह हमारे सम्मुख जीवन का एवं इस भौतिक जगत के अपूर्ण स्वरूप को प्रकट करता है। स्तोत्रकार डेविड कहता है कि मुझे दुःख मिला यह मेरे लिए हितकर है क्योंकि दुःख परमेश्वर का दूत बनकर हमारे सम्मुख जगत की अपूर्णता का प्रदर्शन करता है और यह दर्शाता है कि इस लोक का जीवन केवल प्रासंगिक है। और आत्मा के प्रशिक्षण में दुःख के निग्रह का भी अपना उपयोग है। क्योंकि बाधा के कारण आत्मा को अपनी पूरी शक्ति लगाने का अवसर मिलता है जिससे उसे उन्नति के लिए विवश होना पड़ता है। अन्तरिक्ष जितना ही अधिक कृष्णवर्ण होगा नक्षत्रगण उतनी ही अधिक ज्योति से चमकेंगे। दुःख का एकदम विनाश नहीं हो सकता जब तक कि मानवीय अवस्थाओं में रहकर जीवन यापन करना है। जब तक कि अपना सम्पूर्ण सत्य परब्रह्म को अर्पित नहीं कर दिया जाता तब तक क्रमिक उन्नति की प्रक्रिया दुःख के मार्ग से निष्पन्न नहीं हो सकती। उपनिषद् में कहा है कि मनुष्य यथार्थ में एक यज्ञ का रूप है।[1] जब तक हम परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर पाते तब तक जीवन निरन्तर मरण की क्रिया है। जीवन एक ऐसा स्थान है जहां मानवीय आत्मा नित्य की प्राप्ति के लिए छटपटाती है एवं यन्त्रणा सहती है। पर्दे के बाद पर्दा उठता है। दैवीय जीवन तक पहुंचने से पूर्व जीवन की भ्रान्तियों को समूल नष्ट करके दूर फेंकने की आवश्यकता है और वाञ्छित आकांक्षाएं भी समाप्त होनी चाहिए।

१८

कर्म

कर्म का सिद्धांत नैतिक जगत में वही स्थान रखता है जो भौतिक जगत में एकरूपता के *सिद्धान्त का है। यह नैतिक शक्ति के संरक्षण का सिद्धान्त है।* ऋग्वेद में वर्णित ऋत के रूप में शांति एवं सुव्यवस्था का आभास देखा जा सकता है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार

१ छान्दोग्य ३ । १६ । १ ।

नैतिक जगत् मे अनिश्चित एवं मनमाना कुछ नही है।[1] हम वही काटते हैं जो बोते हैं। पुण्य के बीज से पुण्य की खेती फलेगी, पाप का फल भी पाप होगा। छोटे से छोटा कर्म भी चरित्र पर असर रखता है। मनुष्य जानता है कि कर्म मे प्रवृत्त करानेवाली जो कुछ प्रवृत्तिया उसके अन्दर अब विद्यमान है उसके अपने जान-बूझकर किए गए चुनाव का परिणाम है। ज्ञानपूर्वक किए गए कर्म आगे चलकर अनजाने स्वभाव बन जाते हे। और आज जो हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तिया है वे भी पूर्व मे ज्ञानपूर्वक किए गए अपने ही कर्मों का परिणाम है। नैतिक विकास को हम ठीक उसी प्रकार रोकने मे असमर्थ है जैसे समुद्र के ज्वार को एव नक्षत्रो के मार्ग को रोकना कठिन है। कर्म के उल्लघन का प्रयत्न ठीक उसी प्रकार निष्फल होगा, जिस प्रकार मनुष्य अपनी छाया को लाघ नही सकता—अर्थात् जैसे मनुष्य की छाया बराबर साथ रहती है, कर्म भी बराबर साथ रहता है। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि हमारे जीवन के अन्दर सब कर्मो का लेखा रहता है, जिसे काल धुधला नही कर सकता और न मृत्यु ही मिटा सकती है। पुराने वैदिक विचार के इस प्रकार के दूषणो को दूर करने के लिए कि देवताओ को उद्देश्य करके यज्ञ करने से पापो से मुक्ति मिल सकती है, कर्म-सिद्धान्त के ऊपर विशेष बल दिया गया है। यह घोर दण्डाज्ञा की घोषणा करता है कि जो मनुष्य पाप करेगा वह मृत्यु को अवश्य प्राप्त होगा। यज्ञो द्वारा नही अपितु सुकर्म द्वारा ही मनुष्य पुण्यात्मा बनता है। "पुण्यकर्मो से मनुष्य पुण्यात्मा एव पापकर्मो से पापी होता है।"[2] आगे कहा है कि "मनुष्य इच्छाशक्ति का प्राणी है—इस ससार मे जैसी उसकी भावना होती है, मृत्यु के पश्चात् उसी प्रकार का वह बन जाएगा।"[3] इसलिए हमारे वास्ते विधान है कि सदिच्छा करो और पुण्यकर्म करो। "अपने मन से जिन-जिन लोको की वह आकाक्षा करता है और जिन-जिन पदार्थो की वह इच्छा प्रकट करता है उस पवित्र मनवाले को वे लोक और वे ही पदार्थ उपलब्ध हो जाते है। इसलिए जो भूति (अभिव्यक्त शक्ति) की इच्छा रखता है उसे उपसत्ता की उपासना करनी चाहिए जो आत्मा को जानती हो।"[4] कर्म के प्रतिफल के ही लिए इस जन्म एव मृत्यु वाले ससार की सृष्टि होती है, जो अनादि है एव अनन्त है। कर्म का सिद्धान्त अपनी लपेट मे मनुष्यो, देवताओ, पशुजगत् एव वनस्पति सबको ले लेता है।

चूकि वैयक्तिक जिम्मेदारी के भाव पर बल दिया जाता है, ऐसे भी समीक्षक है जो सोचते है कि कर्म-सिद्धान्त की सामाजिक सेवा से सगति नही बन सकती। यह कहा जाता है कि एक-दूसरे के बोझ पर बल नही दिया गया है। वस्तुत उपनिषदो का मत है

१ कार्लाइल इस सिद्धात को उस रूप मे रखता है, "हे मर्ख, तू सोचता है कि चूकि तेरी दुर्भाषा को नोट करने के लिए कोई बास्वेल यहा नही है, यह स्वय नष्ट हो जाएगी और इसका कुछ पता नही मिलेगा। कोई वस्तु नष्ट नही होती, न नष्ट हो ही सकती है, निरर्थक शब्द भी काल मे डाला गया बीज है, जो अनन्त समय तक फल देता रहेगा।" "अपने को धोखा मत दो, परमात्मा से बनावट नहीं की जाती, क्योकि जो कुछ मनुष्य बोता है वही उसे काटना भी होगा।"

२ बृहदारण्यक, ३ २, १३।

३ छान्दोग्य, ३ १४, १। और देखे, बृहदारण्यक, ४ ४, ५।

४ छान्दोग्य, ३ १, १०।

कि हमें समाजसेवा द्वारा ही कर्मों से मुक्ति मिल सकती है। जब तक हम स्वार्थ को लेकर काम करते हैं हम कर्मबन्धन के नियम के अधीन रहते हैं। जब हम निष्काम कर्म करते हैं तो मोक्ष को प्राप्त होते हैं। 'जब तक तुम इस प्रकार निष्काम कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करते हो ऐसा कोई कारण नहीं हो सकता कि कर्म तुम्हें बन्धन में डाल सकें।'[1] कर्म के कारण नहीं किन्तु स्वार्थमय कर्म के कारण ही हम जन्म और मृत्यु के बन्धन में पड़ते हैं। एक ऐसे युग में जबकि मनुष्य अपनी जिम्मेदारी से बचने के लिए सारा भार विधाता पर अथवा ग्रह-नक्षत्रों पर अथवा किसी अन्य सत्ता के ही ऊपर छोड़कर सन्तोष कर लेना चाहता हो कर्म सिद्धान्त ने बलपूर्वक कहा कि मनुष्य अपने आप ही अपने को बन्धन में डालता है जैसे एक पक्षी स्वयं ही अपने लिए घोंसला बनाता है।[2] जो कुछ हमें डरावना प्रतीत होता है वह अन्धकारपूर्ण भाग्य नहीं है वरन् हमारे अपने ही पूर्वकृत कर्म हैं। हम मृत्युचक्र के शिकार नहीं हैं। दुःख हमें पापकर्मों के पारिश्रमिक के रूप में मिलता है। यह निर्विवाद है कि इस प्रकार का विचार सदाचार के लिए बहुत प्रेरणा देता है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि मनुष्य के कर्मों को सीमित करने वाली कुछ शर्तें हैं। हमने अपने को नहीं बनाया है। जब हमारे आगे कोई असम्भव कार्य आता है तो हम अनुभव करते हैं कि हम जो चाहते हों वह कर सकें ऐसी बात नहीं है। कर्म सिद्धान्त को यदि ठीक ठीक समझा जाए तो वह नैतिक पुरुषार्थ को निरुत्साहित नहीं करता न वह मन को और न इच्छा को ही जकड़ता है। कर्म सिद्धान्त केवल इतना ही कहता है कि प्रत्येक कर्म पूर्वस्थित अवस्थाओं का अनिवार्य परिणाम है। कारण की कार्यरूप में परिवर्तित होने की प्रवृत्ति होती है। यदि जीवात्मा जो प्रकृति से ऊंचे स्तर पर है अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग न करे तो भूतकाल का आचरण और वर्तमान परिस्थिति मनुष्य के वर्तमान कर्म का कारण रहेंगे। मनुष्य मात्र प्रकृति की ही उपज नहीं है। वह कर्म से अधिक शक्तिशाली है। यदि कानून ही सब कुछ है तो किसी प्रकार की भी स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। मनुष्य जीवन केवल यान्त्रिक सम्बन्धों का ही नाम नहीं है। भिन्न भिन्न प्रकार के स्तर हैं यान्त्रिक प्राणधारक संवेदनायुक्त बौद्धिक एवं धार्मिक ये सब धाराएं एक-दूसरे को काटती हैं व एक दूसरे से कटती हैं एवं एक दूसरे में प्रवेश करती हैं। कर्म सिद्धान्त का जो मनुष्य की निम्नतर प्रकृति पर अधिकार रहता है उतना मनुष्य के अन्दर के धार्मिक अंश पर नहीं होता। मनुष्य के अन्तःकरण में जो अनन्त का अंश है वह सान्त की मर्यादाओं से ऊपर उठने में उसकी मदद करता है। जीवात्मा का तत्त्वसार मोक्ष है। उस स्वतन्त्रता का उपयोग करके मनुष्य अपनी भौतिक प्रवृत्तियों को रोकथाम कर सकता है एवं उन्हें वश में रख सकता है। इसीलिए उसका जीवन यान्त्रिक विधि से निर्धारित की जानेवाली अवस्थाओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। उसके मुक्ति प्राप्त करने के सब प्रयत्न केवल स्वभाव के धर्म पर ही नहीं अथवा परिस्थितियों के आग्रह के कारण ही नहीं बल्कि अन्तरात्मा की प्रेरणा से होते चाहिए। धार्मिक प्रवृत्ति उसके उपक्रम एवं पुरुषार्थ का आधार होनी चाहिए। यान्त्रिक भाग नियन्त्रण में रहना

1. ईशोपनिषद्, २।
2. मैत्रायण्युपनिषद्, ३ : २।

है। यदि मनुष्य केवल प्राकृतिक अवस्थाओ का ही समुदाय मात्र होता तो वह पूर्णतया कर्म-सिद्धात के अधीन रहता। किन्तु उसके अन्दर आत्मा का निवास है जो अधिष्ठाता (स्वामी) है। कोई बाह्य पदार्थ उसे विवश नही कर सकता। हमे निश्चय है कि ससार की भौतिक शक्तियो को धार्मिक शासन के आगे अवश्य झुकना चाहिए और इसलिए कर्म-सिद्धान्त को भी आत्मा की स्वतन्त्रता के आगे झुकना चाहिए। मनुष्य को उच्चतम स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि वह परब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। "जो मनुष्य विना आत्मा का ज्ञान प्राप्त किए और सत्य-इच्छाओ को विना जाने इस ससार से विदा होता है, प्रत्येक लोक मे उसका जीवन वधन का जीवन होता है जबकि उस मनुष्य के भाग मे जो आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके और सब सत्य-इच्छाओ को जानकर इस ससार से विदा होता है, सब लोको मे स्वतन्त्रता का जीवन है।"[1] परमात्मा के साथ एकाकार होना सर्वोच्च स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। हम जितना ही अधिक ईश्वर की सन्निधि मे जीवन व्यतीत करेगे उतना ही अधिक आत्मा के अधिकार का उपयोग करेगे और उतने ही हम मुक्त होगे। सम्पूर्ण ब्रह्म को पकडकर रखने मे, जिसके साथ हमारा नाता है, हम जितनी ही अधिक शिथिलता दिखाएगे उतने ही अधिक हम स्वार्थी है और उतने ही अधिक हम कर्म-वन्धन मे वधे हुए हैं। मनुष्य प्रकृति एव आत्मा के वीच डोलता है और इसीलिए स्वतन्त्रता और विवशता दोनो के अधीन है।

कर्म के दो पक्ष है, एक विश्व-सम्वन्धी, दूसरा मनोवैज्ञानिक। प्रत्येक कर्म अवश्य ही ससार मे अपना स्वाभाविक परिणाम छोडता है। उसके साथ ही साथ वह मनुष्य के मन पर भी एक असर छोड जाता है जो प्रवृत्ति के रूप मे परिणत हो जाता है। यह प्रवृत्ति अथवा सस्कार अथवा वासना ही है जिसके कारण हम फिर उस काम को दोहराने मे प्रवृत्त होते है जिसे हम एक वार कर चुके है। इस प्रकार से सव कर्म ससार मे अपना फल भी देते है और मन के ऊपर असर भी रखते हैं। जहा तक पहले प्रकार के कर्मो का सम्वन्ध है उनसे हम वच नही सकते, चाहे कितना ही प्रयत्न क्यो न करें। किन्तु मानसिक प्रवृत्तियो के ऊपर हम काबू पा सकते है। हमारे भविष्य-आचरण मे सब प्रकार की सभावना है। आत्मनियन्त्रण द्वारा हम सद्वृत्तियो को वलवती एव कुप्रवृत्तियो को निर्वल वना सकते है।

मनुष्यो के कर्मो के विषय मे भविष्यवाणी एव पूर्वगणना की जा सकती है। यदि वे विवेकपूर्ण है तो उनमे कुछ गुण रहेगे, उनके अन्दर हमे समानता दृष्टिगोचर होगी एव नि स्वार्थ प्रयोजन दिखाई देगा, आदि-आदि। किन्तु इससे हम यह धारणा नही वना सकते कि कर्मो का निर्णय किसी यान्त्रिक भाव मे हुआ है। प्रत्येक जीवात्मा स्वभावत. स्वतन्त्र है। उसके कर्म रील के धागे की तरह नही खुलते। मनुष्य को स्वतन्त्रता प्राप्त होती है जोकि धार्मिक जीवन का केन्द्रविन्दु है। परमात्मा ने उसे वाहर से स्वतन्त्रता प्रदान नही की है। उसे स्वतन्त्रता स्वभावत प्राप्त है। क्योकि उसका मूल परब्रह्म के अन्दर है। जितना ही अधिक वह अपने दैवीय स्वरूप को पहचान सकता है उतना ही अधिक वह मुक्त है।

१. छान्दोग्य, ८.१, ६।

कभी-कभी यह युक्ति दी जाती है कि कर्मसिद्धान्त भाग्यवाद के साथ मेल खा जाता है।[1] कर्म एक विवेकशून्य एवं अचेतन तत्त्व है जो समस्त संसार पर अधिकार जमाए हुए है। यह ईश्वर के भी अधीन नहीं है। हमें ऐसे न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है जो एक यान्त्रिक कानून का व्यवस्थापक हो। परमब्रह्म की सत्ता के साथ कर्मसिद्धान्त की कोई असंगति नहीं है। कर्म का नैतिक सिद्धान्त परमब्रह्म के रूप की अभिव्यक्ति है। मानवीकरण की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि एक दैवीय शक्ति सारी प्रक्रिया का नियन्त्रण एवं संचालन करती है। वेदों में इस नियम को ऋत कहा गया है। वरुण ऋत का स्वामी है। कर्म देवताओं के अपरिवर्तनशील भाव को बताता है।[2] यह यथार्थसत्ता के स्वरूप की अभिव्यक्ति है। नैतिक विकास में किसी प्रकार की स्वेच्छापूर्ण बाधा को यह असम्भव बना देता है। आधुनिक समय के वैज्ञानिक नियम व प्रकृति के सिद्धान्त भी इसी परिणाम पर पहुंचते हैं मनमानी हस्तक्षेप के अनुकूल वे भी नहीं बैठते। यदि ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए कर्म का आवश्यक है तो विज्ञान ने ऐसे ईश्वर को सदा के लिए विदा कर दिया। दैवीय हस्तक्षेप का भी नियमों के ही अधीन रहकर नियन्त्रण होना है। ईश्वर अपनी व्यक्तिगत चेष्टाओं एवं संकल्पों द्वारा कर्म नहीं करता जैसाकि मलिब्रान्श का मत है। केवल कर्म का सिद्धान्त ही हमें धार्मिक विश्व का ठीक-ठीक विचार दे सकता है। यह एक पूर्णब्रह्म के विवेकपूर्ण स्वरूप का हमारे सामने प्रतिपादन करता है। यह एक ढांचा है जिसके द्वारा जीवात्मा कर्म करती है। धार्मिक जगत की स्वतन्त्रता कठोर यान्त्रिक विवशता के साथ प्राकृतिक जगत में अभिव्यक्त होती है।[1] स्वतन्त्रता एवं कर्म एक ही यथार्थसत्ता के दो पक्ष हैं। यदि ईश्वर विश्व के अन्दर अवस्थित है तब उसका भाव भी इस जगत रूपी यन्त्र के अन्दर विद्यमान है। दैवीय शक्ति नियम में अपने को अभिव्यक्त करती है पर नियम ईश्वर नहीं है। ग्रीक विचारकों का भाग्य एथेंस में जीनो द्वारा संस्थापित दार्शनिक सम्प्रदाय का तर्क, चीनी दार्शनिकों का ताओ आदि त्रिकालाबाधित नियम के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं।

कर्म सिद्धान्त से बढ़कर कोई दूसरा सिद्धान्त जीवन एवं आचरण में इतना अधिक महत्त्व नहीं रखता। इस जीवन में हम जो कुछ होता है हम बिना किसी क्षोभ के स्वीकार करना चाहिए कि यह हमारे पिछले कर्मों का ही फल है। किन्तु भविष्य फिर भी हमारे

१ देखिए मैकनकोल 'इण्डियन थीइज़्म' पृ २२५।

२ देवानां ध्रुवाणि व्रतानि।

३ हमारे लिए कर्म के सिद्धान्त को उपनिषदों में प्रतिपादित भाग्य की व्याख्या के सिद्धान्त के विरुद्ध उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं है। ये दोनों परस्पर पृथक नहीं हैं। वैदिक सिद्धान्त की भांति यदि भाग्य सर्वोपरि है तो ईश्वर, देवता भी कर्म के अधीन होंगे। स्वयं देवता भी उस व्यक्ति को जो उनका प्रिय है मृत्यु के भयावह नियति से बचा नहीं सकते। स्वयं जेअस (ग्रीक देवता) विलाप करते हुए कहता है कि यह भाग्य की ही बात है कि उसके पुत्र सर्पीडोन को जो मुझे सर्वाधिक प्रिय है पैट्रोक्लस के हाथों मरना पड़ेगा। भाग्य के निर्णय को बदलने का साहस उसमें नहीं है। स्वयं किसी देवता के लिए भी भाग्य के आदेश को टालना सम्भव नहीं है। यूरिपिडीज में एथेन आस्तिकार्य के शब्दों का प्रयोग करते हुए कहती है भाग्य का आदेश देवताओं का और तेरा स्वामी है। कॉनफर्ड 'फ्राम रिलिजन टु फिलासफी' पृष्ठ १२ १३।

अपने वश मे है और इसलिए हम आशा एव विश्वास के साथ कर्म कर सकते है। कर्म भविष्य के प्रति आशा का सचार करता है एव भूतकाल को भूल जाने को कहता है। इससे मनुष्य-जाति को यह अनुभव होता है कि ससार के पदार्थो, सफलताओ एव विफलताओ से आत्मा के गौरव पर कोई अवाछनीय प्रभाव नही पड सकता। केवल पुण्य ही श्रेय है न कि पद और धन-दौलत, जाति अथवा राष्ट्रीयता। साधुता के अतिरिक्त अन्य कुछ श्रेय या कल्याणकारी नही है।

१९

पारलौकिक जीवन

उपनिषदो मे हम परलोक के सम्बन्ध मे वैदिक एव ब्राह्मण काल के विचारो से आगे का विकास पाते है, यद्यपि पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध मे अभी तक कोई सुसगत सिद्धान्त स्थिर नही हो सका है। उपनिषदो मे पुनर्जन्म का विचार सुस्पष्ट है। इसका प्राचीनतम रूप शतपथ ब्राह्मण मे हमारे सम्मुख आता है, जहा मृत्यु के पश्चात् फिर से जन्म लेने एव बार-बार मृत्यु का भाव प्रत्यपकार के साथ सम्मिश्रित रूप मे पाया जाता है। यह कहा गया है कि जिन व्यक्तियो को यथार्थ ज्ञान है, और जो अपने कर्तव्यो का ठीक-ठीक पालन करते है, मृत्यु के पश्चात् अमरत्व की प्राप्ति के लिए जन्म लेते है, जबकि दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति जिन्हे यह ज्ञान नहीं है और जो अपने कर्तव्यो के पालन मे लापरवाही करते है, बार-बार जन्म लेते है एव मृत्यु का शिकार बनते है।[1] ब्राह्मण परलोक मे भी जन्म एव मृत्यु धारण करता है। उपनिषदो मे इसी विश्वास को पुनर्जन्म के सिद्धान्त का रूप दिया गया है। हम नही कह सकते कि इन दोनो मतो का समन्वय हो सकता है या नही। कभी-कभी हमे वे दोनो एकसाथ मिलते है। अच्छे व बुरे कर्मो का दो प्रकार का प्रतिफल मिलता है—एक बार परलोक मे, और दूसरी बार इस मर्त्यलोक मे पुनर्जन्म के रूप मे। यह कहा गया है कि जीवात्मा मृत शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर जब ज्योतिर्मय आकार मे स्वर्ग की ओर यात्रा करती है तो वहा से तत्काल ही तीन मार्गो से नये जन्म मे वापस लौट आती है।[2] इस विषय की पर्याप्त साक्षिया हमारे पास है कि उपनिषत्काल मे पुनर्जन्म-विषयक विश्वास केवल परिपक्वता तक पहुचने के क्रम मे था, क्योकि उपनिषदो के कुछ स्थलो पर इसका एकदम पता नही मिलता।[3] पुनर्जन्म-सम्बन्धी विश्वास का वर्णन करनेवाले सबसे पूर्व के वाक्य छान्दोग्य (५ ३, १०) एव बृहदारण्यक (६ २) मे मिलते है।

अमरत्व का उच्चतम रूप ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाना ही है, यह मत उपनिषदो मे स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है। जिस समय देवताओ को ही सर्वोपरि सत्ताओ के रूप मे माना जाता था, स्वतन्त्रता का उनके साथ समवाय-सम्बन्ध था। अब ब्रह्म ही पदार्थो का प्रधान तत्त्व है एव ससार का परम आधार है। इस प्रकार ब्रह्म के

१ तुलना कीजिए, पुनर्मृत्यु का भाव। कौषीतकि ब्राह्मण, २५ १।

२ बृहदारण्यक, ६ २,१४।

३. नही [illegible]।

साथ योग का ही नाम नित्य जीवन है। जब तक हमारे अन्दर उच्चतर स्वतन्त्रता की कुछ भी न्यूनता रहेगी हम काल के क्षय का बन्धन रहेगा और हम जीवन के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में शीघ्रता के साथ गुजरते रहेंगे। जो आत्मा मुक्त नहीं हुई है वह जन्म एवं मृत्यु के अधीन रहती है और इसी लोक में बार-बार जन्म लेकर अपनी नियति का निर्माण करती है। जहां यथार्थ अमरत्व मुक्तात्माओं के लिए है कालक्रम में जीवन धारण करना बद्ध आत्माओं के लिए है। हम ऐसी प्रार्थना सुनने को मिलती है कि मैं उस वर्ण शून्य लोक में कदापि न जाऊं जो बिना दांतों के ही खाए डालता है।[1] कर्मों के अनुसार ही जन्म के प्रकार का निर्णय होता है। जब जीवात्मा अपने शुभ कर्मों से अपने को ऊंचा उठाती है तो उसे हम स्वर्ग कहते हैं और जब नीच कर्मों से अपने को नीचे गिराती है तो उसे हम नरक कहते हैं। इस संसार में जो जीवात्मा का अस्तित्व है वह यथार्थ अस्तित्व नहीं है। जब तक सान्त पदार्थ हमसे चिपटे रहेंगे हमें संसार की दासता में रहना होगा। सान्त पदार्थों के साथ जब तक हम चिपटे रहेंगे कभी भी परमसत्ता को प्राप्त नहीं कर सकेंगे भले ही हम उसके कितने ही समीप क्यों न आ जाएं। प्रगति या तो निरन्तर विकास का नाम है या फिर सतत आसन्नता है। जब सान्तता के घटक का सर्वथा त्याग कर दिया जाएगा तभी ईश्वर के साथ एकाकार होना सम्भव हो सकेगा और फिर संसार में लौटना न होगा।[2] संसार की आवश्यकता जीवात्मा के प्रशिक्षण के लिए है।

प्राकृतिक जगत हमें यह अनुभव कराता है कि इस लोक के सब पदार्थ किस प्रकार से अस्थिर एवं अवास्तविक हैं। इस संसार के अन्दर हम प्रत्येक पदार्थ का निरन्तर जन्म एवं निरन्तर विनाश पाते हैं। मरणधर्मा मनुष्य अन्न (अनाज) की तरह ही क्षीण होता है और अनाज की भांति ही फिर पैदा होता है।[3] विनाश केवल नये जीवन का अग्रदूत है। मृत्यु दूसरे जीवन का द्वार है। यद्यपि कर्म सिद्धान्त अभी तक योग्यता एवं अनुभव के मध्य में सूक्ष्मतर रूप में कोई समानता तो नहीं दिखला सका तो भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जन्म का स्वरूप मनुष्य के आचरण के ऊपर निर्भर करता है। ऐसे व्यक्ति जिनका आचरण उत्तम रहा है तुरन्त उत्तम जन्म-लाभ कर सकेंगे यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य। किन्तु ऐसे व्यक्तियों को भी जिनका आचरण पापमय होगा नीच योनि में जैसे सूअर, कुत्ते अथवा चाण्डाल का जन्म मिलेगा।

एक जन्म और दूसरे के बीच में निरन्तर एकरूपता बनी रहती है भले ही हमें उसकी चेतना न रहे। यह कोई बड़ी कमजोरी नहीं है क्योंकि कई बार तो मनुष्य जीवन के बड़े बड़े भाग तक विस्मृत हो जाते हैं। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध चेतना की निरन्तरता की अपेक्षा उपयोगिता के संरक्षण से अधिक है। चूंकि जीवात्मा ब्रह्म बन्धन के अधीन नहीं है इसलिए जन्म में जो स्थिर रहता है वह मनुष्य का कर्म ही है। हे याज्ञवल्क्य! क्या आत्मा शरीर की मृत्यु के उपरान्त विद्यमान रहती है? यदि मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त उसकी जीवात्मा अग्नि में, श्वास वायु में, आंखें सूर्य में, मन चन्द्रमा में, कान दिशाओं में विभिन्न दिशाओं में शरीर पृथ्वी में, आत्मा अंतरिक्ष में, शरीर

१ छान्दोग्य ८ १४,१।　　२ वही ४ १५ ६।
३ कठ १ ६।　　४ छान्दोग्य, ५ १०,७।

के बाल पौधो मे, सिर के बाल वृक्षो मे प्रवेश करते हैं, और रक्त एव वीर्य जल मे, तो फिर मनुष्य का क्या होता है ?" यह प्रश्न आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से किया। वे इस परिणाम पर पहुचते हैं, "यथार्थ मे अच्छे कर्मों के करने से वह पुण्यात्मा और बुरे कर्मों से पापात्मा होता है।"[1] जीवन की यथार्थता आचरण है, शरीर व मन नही। मृत्यु के विश्लेपण के पश्चात् भी यह विद्यमान रहती है। उपनिषदो का मत है कि कर्म मे परिवर्तन हो सकता है परन्तु विश्वात्मा स्थिर रहता है। किन्तु यदि कुछ बौद्ध विचारको के साथ सहमत होकर हम ब्रह्म को निरर्थक बताकर छोड दे तब हमे मानना पडेगा कि केवल कर्म ही स्थिर रहता है।

याज्ञवल्क्य के उपदेशो मे पशुओ की कोई चर्चा नही है, जो बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ खड के साथ समाप्त होते है, यद्यपि उसी उपनिषद् के अन्तिम परिच्छेदो[2] एवं छान्दोग्य, कौषीतकि आदि उपनिषदो मे आत्मा के पशुयोनि मे जाने का भी उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भाव आदिम जातियो के विश्वासो से लिया गया। ससार के प्राय सभी भागो मे अशिक्षित असभ्य लोगो का यह विचार रहा है कि मानवीय आत्माएं पशुओ के शरीर मे जा सकती है। आर्यजाति के आक्रान्ताओ ने भारत के आदिवासियो के ससर्ग मे आकर यह विचार ग्रहण किया कि पशुओ एव पौधो मे भी आत्मा है और मानवीय आत्मा भी कभी-कभी उनके अन्दर अपना निवासस्थान बनाती है। सब योनियो मे जीवन की पवित्रता, तथा पुष्प, कीट, पशु और मनुष्य मे उस आदिकारण की समानता आदि उपनिषदो के मूलभूत विचार थे, जिन्होने उपनिषदो को इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए विवश किया। इसका क्रियात्मक महत्त्व भी बहुत है। जगलो मे स्थित आश्रमो के अन्दर पशुओ के प्रति जो दया का भाव प्रदर्शित किया जाता था उसका कारण भी यही सिद्धान्त था। अभिमानी मनुष्य को अपनी कपटभद्रता एव पृथग्भाव का त्याग करके सेंट फ्रांसिस की नम्रता के साथ स्वीकार करना पडा कि काला भौरा भी उसका भाई है। जब हम आधुनिक विकासवाद पर एव उसके द्वारा मनुष्यो और पशुओ मे परस्पर बन्धुत्व पर दिए जानेवाले बल पर विचार करते है तो हमे आश्चर्य नही होता।

कोई भी दर्शन अपने भूतकाल का एकदम त्याग नही कर सकता। उपनिषदो को परलोक-जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्त के साथ-साथ पुराने वैदिक सिद्धान्त को भी मानना पड़ा, जिसके अनुसार परलोक मे पुरस्कार एव दण्ड का विधान था। मनुष्य की अनुदार आत्मा ने पुनर्जन्म के नये विचार को प्राचीन परलोकशास्त्र के साथ सयुक्त करने का प्रयत्न किया, जिसमे प्रेतात्माओ के आह्लादपूर्ण लोक का वर्णन था, जहा यम का शासन है एव दु खमय और अन्धकारपूर्ण लोक भी है। इसके कारण उपनिषद् के सिद्धान्त मे जटिलता उत्पन्न हो गई, क्योकि उसमे मृत्यु के पश्चात् तीन भिन्न-भिन्न मार्गों या यानो का वर्णन था। "क्योकि हमने एक ऋषि से भी सुना, 'मैंने मनुष्यो के लिए दो मार्ग सुने है, एक पितृलोक का मार्ग है और दूसरा देवलोक का मार्ग है। उक्त दोनो मार्गों पर ही समस्त जगम जगत् जो पितास्थानीय अन्तरिक्ष एव मातास्थानीय पृथ्वी के मध्य अवस्थित है, गति करता है।'"[3] उपनिषदे उन दो मार्गों का उल्लेख करती है जिनके द्वारा मृत पुरुष की आत्मा

१ बृहदारण्यक, ३ : २,१३ ।
२ वही, ६ : ३,१६ ।
३ वही, ६ : २,२ ।

इस लोक में किए गए कर्मों के फलों का उपभोग करती हैं। एक को 'देवयान अथवा अर्चिमार्ग' कहते हैं अर्थात् प्रकाशमय मार्ग और दूसरा पितृयान अथवा धूममार्ग अर्थात् अन्धकारमय मार्ग। पहला अग्नि इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में होकर ब्रह्मलोक अथवा सत्यलोक की ओर ले जाता है। उक्त क्षेत्र से फिर आत्मा लौटकर इस संसार में नहीं आती। जब तक ब्रह्मा को एक विषयाश्रित सत्ता के रूप में माना जाता रहा जो अपने राजभवन में ऊंचे सिंहासन पर बैठा था और जिसके पास पुण्यात्मा व्यक्ति ही जाते थे तभी तक देवयान का अभिप्राय रहा। किन्तु जब जीवात्मा एवं ब्रह्म का तादात्म्य हो जाता है तब ब्रह्मा का वह आसन डगमगा जाता है और देवयान उच्चतम सत्ता के साथ एकाकार होने का मार्ग बन जाता है। पितृयान का मार्ग भिन्न-भिन्न धूम्र एवं रात्रि आदि के अन्धकारमय क्षेत्रों में से गुजरकर चन्द्रलोक की ओर ले जाता है। वे आत्माएं जो देवयान के मार्ग से जाती हैं फिर लौटकर इस जगत् में जन्म नहीं लेतीं। परन्तु वे जो पितृयान के मार्ग से जाती हैं अपने सुकर्मों का फल भोगकर फिर इस लोक में जन्म लेती हैं। ब्यौरे में नाना प्रकार के मतभेद हैं। कौषीतकि उपनिषद् के मत से मृत्यु के पश्चात् सब आत्माएं चन्द्रलोक को जाती हैं यद्यपि चन्द्रलोक से कुछ पितृयान मार्ग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होती हैं जबकि अन्य आत्माएं—मनुष्य से लेकर कीट तक की—नाना की अनेक योनियों में अपने कर्म के गुणों एवं ज्ञान की श्रेणी के अनुसार जाती हैं।[1] देवयान एवं पितृयान क्रमशः प्रकाश एवं अन्धकार के राज्य के अनुसार हैं जिनके कारण इस संसार में जन्म लेते हैं। एक तीसरे मार्ग का भी उल्लेख मिलता है जो दुःखमय है एवं अन्धकार से आवृत है।[2] वह व्यक्ति जो ऐसी सूखी गायों का जिन्होंने जल एवं घास खा के बाद दूध [illegible] है किन्तु अब सूख गई हैं दान करते हैं वे अपने आप उन दुःखमय लोकों में जाते हैं।[3] यह तीसरा मार्ग है जिसपर कीड़े मकौड़े एवं सरीसृप जाकर इस संसार में जन्मते और मरते हैं।[4] मुक्तात्मा को जिसने ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य का साक्षात् कर लिया है अपने मोक्ष के लिए कहीं नहीं जाना होता है।[5] वह जहां भी रहती है ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करती है। उसके प्राण कहीं नहीं जाते। ब्रह्म होने के कारण वह ब्रह्म के स्वरूप में लीन हो जाती है।[6] जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है वे किसी भी मार्ग से नहीं जाते किन्तु वे जिन्हें उसकी प्राप्ति के लिए चढ़कर जाना है देवयान के मार्ग से जाते हैं। चूंकि क्रमिक चढ़ाई का वर्णन किया गया है इसलिए इसे क्रममुक्ति कहकर पुकारा जाता है।

पुनर्जन्म की योजना की व्याख्या विविध प्रकार से की जाती है। तब उसको ज्ञान और कर्म एवं पूर्व अनुभव उसे हाथ पकड़कर ले जाते हैं। जैसे एक कीड़ा रेंगते रेंगते घास के ऊपर आ जाता है और एक बार सार शरीर को सिकोड़ लेता है तब दूसरी घास के सिरे पर आगे बढ़ता है इसी प्रकार मनुष्य भी जिसने अपना शरीर छोड़ दिया है सिकुड़कर नये जन्म में अग्रसर होता है। आगे चलकर जैसे एक सुनार सोने का एक टुकड़ा

१ १ २ ३। २ बृहदारण्यक ४ : ४ : ११। ३ कठ १ : ३।
४ बृहदारण्यक ६ : २ : १६ डॉयसन ने भी मान लिया कि [illegible] [illegible] एवं मैट पात [illegible] [illegible] में [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] एवं [illegible] की [illegible] रिलिजन [illegible] [illegible] और मैट पात।
५ कठ ६ : १४। ६ बृहदारण्यक ४ : ४ : ६। ७ वही ४ : ४ : ३।

लेकर और उसे घडकर दूसरी आकृति बनाता है जो अधिक नई एव आनन्दप्रद होती है, उसी प्रकार इस शरीर को छोडकर एव उसी ज्ञान के साथ आत्मा एक ऐसी अधिक नई आनन्दप्रद आकृति बनाती है जो इस संसार के अनुकूल हो।" "जैसे एक मूर्तिकार एक मूर्ति से सामग्री लेकर उससे अपनी छैनी द्वारा दूसरी आकृति बनाता है जो अपेक्षाकृत अधिक नई एव अधिक सुन्दर होती है वैसे ही यह आत्मा भी अपना शरीर छोडकर और अज्ञान को दूर करके अपने लिए एक अन्य अपेक्षाकृत नये एव अधिक सुन्दर आकार का निर्माण करती है वह चाहे पितरो का हो, गन्धर्वों का हो या देवताओ का, प्रजापति का हो या ब्रह्म का अथवा अन्य प्राणियो का।[1] कही-कही यह कहा गया है कि मृत्यु के उपरान्त अपने अन्दर जीवनधारक नैतिक प्रवृत्तियो को एकत्र करके आत्मा विदा होती है, और उन सबको दूसरे शरीर मे साथ ले जाती है, चाहे वह शरीर उन्नत हो या नही जैसाकि छोडे हुए शरीर के द्वारा किए कर्मों के अनुसार उसे नये जन्म मे प्राप्त हुआ है।[2] इस मत को उसके पश्चात् के सिद्धान्तो मे लिंग-शरीर का नाम देकर अधिक विकसित किया गया और थियोसोफिस्टो के द्वारा इस मत का ज्ञान पश्चिमी पाठको तक पहुचाया गया। वे इसे सूक्ष्म शरीर कहते है। यह सूक्ष्म शरीर मन एव आचरण का वाहक बनता है, और भौतिक शरीर के विनाश के साथ इसका विनाश नही होता। यही सूक्ष्म शरीर नये भौतिक शरीर का आधार बनता है और उसीके ऊपर नये जन्म मे नया शरीर बराबर भौतिक-रूप मे निर्मित होता है तथा स्थिर रहता है। यह भी कहा गया है कि एक ही यथार्थसत्ता से सब प्राणी अपने-अपने वैयक्तिक जीवनो मे आते है, और उसीमे फिर विलीन हो जाते है।[3]

उपनिषदे भौतिकवादियो के इस मत का समर्थन नही करती कि मृत्यु से जीवात्मा नष्ट हो जाती है। उन्हे जीवन की निरन्तरता मे दृढ विश्वास है और उनका मत है कि शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी एक वस्तु विद्यमान रहती है। पुरुष-स्त्री का लैंगिक सम्बन्ध ऐसी अवस्थाए उत्पन्न कर देता है जिनमे नया जीवन प्रकट होता है। किन्तु यह अपने-आपमे नये जीवन की पर्याप्त व्याख्या नही है। चेतना की उत्पत्ति की व्याख्या केवल एक कोशाणु के विकास के द्वारा नही की जा सकती। आध्यात्मिक ज्ञान-सम्बन्धी यह कल्पना कि प्रत्येक बार जब बच्चे का जन्म होता है तो ईश्वर एक नये जीवात्मा का निर्माण करता है, उपनिषदो की कल्पना से अधिक सन्तोषप्रद नही प्रतीत होती जिसके अनुसार जीव अपने को वीर्यरूपी बीज मे अभिव्यक्त करता है और जो योनि उसे आवश्यक रूप से प्राप्त होनी होती है उसमे जाता है।

पुनर्जन्म की कल्पना उसी प्रकार की एक बिलकुल तर्कसम्मत कल्पना है जैसी अन्यान्य कितनी ही कल्पनाए हमे दार्शनिक क्षेत्र मे मिलती हैं और जो निश्चय ही नितान्त-शून्यता अथवा नित्य-प्रतिकार की कल्पनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक सन्तोषप्रद हैं। इस जगत् मे प्रतीयमान जितनी भी नैतिक अव्यवस्था अथवा दु खो की विशृंखलता है, पुनर्जन्म

१ बृहदारण्यक, ४ ४. ४, देखें, छान्दोग्य भी, ५ १०,७; कौषीतकि, १.२, बृहदारण्यक १ ४,१६।

२. देखें, बृहदारण्यक ४ ३. ३८, ४ . ४, ५, प्रश्न, ३ : १०; कौषीतकि, ४ . ३।

३. छान्दोग्य, ६. ९. २ ६ . १०, १, २।

एवं कर्म का सिद्धान्त ही उसकी व्याख्या कर सकता है। दुःख का अनुचित विभाजन विश्व की विवेकपूर्णता के विरुद्ध जाता प्रतीत होता है। जैसे भौतिक इन्द्रियगम्य जगत की असमानताएं तार्किक विश्वास के लिए एक प्रकार की चुनौती है, इसी प्रकार नैतिक अव्यवस्था इस जगत में काम करनेवाले सिद्धान्त के औचित्य के लिए एक चुनौती है। यदि हमारा जन्म विवेकपूर्ण है तो फिर किसी प्रकार की भी बौद्धिक एवं नैतिक अस्तव्यस्तता नहीं होनी चाहिए थी। यदि नैतिक अस्तव्यस्तता एक नियति है तो परिणाम नैतिक जड़ता या शक्तिहीनता के रूप में होगा। नैतिक जगत में दृष्टिगोचर हो रही आश्चर्यजनक अस्तव्यस्तता को एक धर्मस्वरूप एवं महान जगत के शासक ईश्वर के अस्तित्व के साथ हम समन्वय करना ही होगा। यह विचार करके कि संसार का सगठन एक अव्यवस्थित रूप में हुआ है, हम सन्तोष नहीं कर सकते। जो कल्पना नैतिक जगत की अव्यवस्था एवं दुःखों के कारण की खोज करते-करते मनुष्यों के कर्म-स्वातन्त्र्य तक पहुंचती है, उन असमानताओं की व्याख्या नहीं कर सकती जिन्हें लेकर मनुष्यों को इस संसार में डाल दिया गया है। प्रारम्भिक रचना में विद्यमान पारस्परिक भेद दैवीय व्यवस्था सम्पन्न विश्व के साथ विरोध में पड़ते हैं। यह पुनर्जन्म की कल्पना ही है जो हमारे आगे इन प्रारम्भिक भेदों या असमानताओं की एक व्याख्या उपस्थित करती है। यह हमें अनुभव कराती है कि संसार में सुख और दुःख प्रगतिशील शिक्षा एवं चरित्र के कारण हैं। दण्ड केवल प्रतिशोध के विचार से ही नहीं अपितु सुधार के विचार से भी दिया जाता है। हम अपने पापों के लिए दण्ड मिलता है और साथ साथ उसी प्रायश्चित्तरूप दण्ड से हम पवित्र भी हो जाते हैं। हमें जो दुःख मिलता है वह हमारी भलाई के लिए है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त के प्रादुर्भाव सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर हमने पूर्वानुमान के आधार पर दिया है। हमने देख लिया कि किस प्रकार से इसका स्वभावतः उस विचार समुदाय के अन्दर से प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उपनिषदों को घर रखा था। वेद हमें दो मार्गों अर्थात देवों एवं पितरों के मार्गों का पता देते हैं। भारत के आदिनिवासी मानवीय आत्माओं के वृक्षों एवं पशुओं के अन्दर प्रवेश का विचार हमें देते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिफल की आवश्यकता पर बल दिया गया है। उपनिषदों का काम इन सब प्रस्तुत सामग्री को संसार के सिद्धान्त के रूप में परिणत कर देना मात्र था। इसलिए हमें इसके आदिम उद्भव की स्वतन्त्र खोज के लिए इधर उधर भटकना न होगा। यदि प्राचीन ग्रीस में इसी प्रकार के सिद्धान्त हमें मिलते हैं तो उनके उद्भव एवं विकास स्वतन्त्र रहे होंगे, यद्यपि आधुनिक विद्वान इस मत के विरुद्ध हैं। इस प्रश्न पर हम भारतीय एवं ग्रीक विचार परदा विचारकों के प्रमाण उद्धृत करते हैं। मैकडानल कहते हैं कि "भारतीय दर्शन एवं विज्ञान के ऊपर पिथागोरस की निर्भरता बहुत अधिक मात्रा में सम्भव है। पिथागोरस के सम्बन्ध में कहना होगा कि उसके लेखों में आया हुआ आवागमन का सिद्धान्त बिना किसी पूर्व सम्बन्ध एवं पृष्ठभूमि के है और ग्रीक विद्वान उसे विदेशों से लिया गया समझते थे। मिस्र से उसे यह नहीं मिल सकता था, क्योंकि प्राचीन मिस्र में इसका कहीं पता नहीं मिलता।"[1]

1. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४२२।

गौम्पर्ज़ लिखते है, "पिथागोरस के सिद्धान्तो एव भारतीय सिद्धान्तो मे निकटतम अनुकूलता है, केवल सामान्यरूप मे ही नही किन्तु विवरण मे भी अनुकूलता है, जैसेकि शाकाहार के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे, और यह कहा जा सकता है कि जिस व्यवस्था के अनुसार जन्म-जन्मान्तर के पूरे चक्र की व्याख्या सूत्ररूप मे की गई है, वह सब भी ठीक उसी रूप मे दोनो जगह एक समान मिलती है। इस समता को हम केवल आकस्मिक कह सके यह प्राय. असम्भव है। यह धारणा बनाना अनुचित न होगा कि उक्त जिज्ञासु ग्रीक विद्वान ने, जो बुद्ध का समकालीन था एव जरतुश्त का भी समकालीन हो सकता है, न्यूनाधिक मात्रा मे पूर्व की धार्मिक कल्पनाओ की शिक्षा को यथार्थरूप मे ग्रहण कर लिया हो, क्योकि वह युग बौद्धिक विक्षोभ का युग था और यह आदान-प्रदान फारस के माध्यम से हुआ।"[1] एक बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि भारतीयो ने इस सिद्धान्त को कही बाहर से उधार नही लिया।

२०

उपनिषदों का मनोविज्ञान

यद्यपि उपनिषदो मे किसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का पता नही मिलता फिर भी हम उनमे से ऐसे विचारो को एकत्र कर सकते है जिन्हे उन्होने अन्यत्र से ग्रहण किया है। प्रश्न उपनिषद् मे[2] दस इन्द्रियो का, जिनमे पाच कर्मेन्द्रिया और पाच ज्ञानेन्द्रिया है, उल्लेख है जो क्रमश. कर्म एव ज्ञान के उपकरण है। ये इन्द्रिया मन की अधीनता मे रहकर कार्य करती है, मन एक केन्द्रीय इन्द्रिय है जिसके मुख्य कार्य है प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना और कर्म करना। मन के बिना इन्द्रिया निष्प्रयोजन है।[3] यही कारण है कि मन को प्रधान इन्द्रिय कहा गया है। मन अथवा प्रज्ञा रूप साधन के अभाव मे वाणी किसी पदार्थ का ज्ञान नही करा सकती। वह कहती है कि "मेरा मन उपस्थित नही था।" "मैंने उस जगत् को नही देखा।" प्रज्ञा के अभाव मे आख किसी आकृति का ज्ञान नही करा सकती।[4] "मेरा मन अनुपस्थित था, इसलिए मैंने नही देखा, मेरा मन कही और था, मैने नही सुना, इस प्रकार यह प्रकट है कि मनुष्य अपने मन के साधन से देखता है और मन के साधन से सुनता है।"[5] मन को स्वरूप से भौतिक माना गया था।[6] इसलिए इन्द्रियानुभव के लिए उपनिषदो ने प्रतिपादन किया है कि केवल इन्द्रिय ही पर्याप्त नही है और न केवल उसका कर्म ही पर्याप्त है, अपितु एक आत्मा का होना आवश्यक है जो उस इन्द्रिय के साधन से देखती है, वही वस्तुत द्रष्टा की आख है। इन्द्रियो के अपने विषयभूत पदार्थो के साथ सन्निकर्ष होने से प्रत्यक्ष ज्ञान

१ 'ग्रीक थिंकर्स', खण्ड १, पृष्ठ १२७। एक भिन्न मत के लिए देखिए, कीथ लिखित 'पिथागोरस ऐण्ड ट्रांसमाइग्रेशन', जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, १९०९।

२. ४ : २।

३ बृहदारण्यक, १. ५, ३।

४ कौषीतकि।

५. बृहदारण्यक, ३. २, ४।

६ प्रोफेसर अलेक्जैंडर मन को एक विशेष सत्ता के रूप में मानते हैं और उसकी रचना को भी भौतिक बताते हैं, जैसेकि भौतिक-विज्ञान का विद्युदणु होता है।

सक्रिय रहती है। स्वप्नावस्थाओ मे कहा गया है कि इन्द्रिया निष्क्रिय रहती हैं और मन के अन्दर लुप्त रहती हैं—किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान इस स्थिति को स्वीकार नही करता। उपनिषदो के अनुसार, जब तक हमारी इन्द्रिया सक्रिय है, हम केवल ऊघते है, किन्तु स्वप्न नही देख सकते। हम उस समय अर्धजागरित अवस्था मे रहते है। वास्तविक स्वप्नावस्थाओ मे केवल मन ही स्वतन्त्र व बन्धनरहित रूप मे सक्रिय रहता है। जागरित एव स्वप्न अवस्थाओ मे भेद केवल इतना है कि जागरित अवस्था मे मन बाहर के प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर निर्भर करता है जबकि स्वप्नावस्था मे यह अपने अनुभवो का निर्माण करता है और उनका आनन्द लेता है। नि:सन्देह यह जागरित अवस्था के समय की सामग्री का उपयोग करता है। सुषुप्ति अथवा प्रगाढ निद्रा भी मनुष्य के जीवन की एक साधारण घटना है। उस अवस्था मे मन एव इन्द्रिया दोनो ही निष्क्रिय रहते है। आनुभाविक चेतना उस समय स्थगित रहती है और इसीलिए विषयी एव विषय का भेद भी उस समय स्थगित रहता है। यह कहा गया है कि इस अवस्था मे विषयविहीन चेतना रहती है जबकि जीवात्मा अस्थिर रूप मे परमसत्ता के साथ सम्पृक्त रहती है। हो सकता है यह सत्य हो, किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि यह पूर्ण अभाव की अवस्था नही है। यह स्वीकार करना कठिन है कि जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था मे निरन्तर विद्यमान रहती है एव आनन्द का अनुभव करती है, यद्यपि वह उस समय सब प्रकार के अनुभव से वचित है। वस्तुत उपनिषदे स्वय मनोवैज्ञानिक एव अचेतन क्रियाओ की व्याख्या उस प्राण रूपी जीवन के तत्त्व से करती हैं जो श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया एव रक्त-सचालन आदि का नियन्त्रण करता है। सम्भवत यान्त्रिक स्मृतिशक्ति भी निरन्तर रहनेवाली चेतना की व्याख्या कर सके। अभिज्ञा का अभाव रहते हुए भी यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जीवात्मा निद्रितावस्था मे यथार्थ आनन्द का अनुभव कर सकती है। तुरीयावस्था एकत्व की चेतना का नाम है, यद्यपि उसके भौतिक अनुभव उसके अन्दर नही आते। समस्त विश्व के एकत्व का अलौकिक अनुभव ही धार्मिक जीवन का चरमोत्कर्ष है।

इससे पूर्व कि हम उपनिषदो की अ-वेदान्तिक प्रवृत्तियो के विषय पर आए, उपनिषदो के सामान्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण को सक्षेप मे समझ लेना आवश्यक है। एकदम प्रारम्भ मे ही हमने कहा था कि उपनिषदो की स्थिति मे बहुत कुछ सदिग्धता है जिसके कारण उनकी भिन्न-भिन्न व्याख्याए हो सकती है। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि शंकर का अद्वैत, अर्थात् जीव एव ब्रह्म का अभेद, अथवा रामानुज की परिवर्तित स्थिति इन दोनो मे से कौन-सा मूल धार्मिक सिद्धात का अन्तिम निष्कर्ष है। उन प्रवृत्तियो पर जो किसी भी दिशा मे पूर्ण की जा सकती है, विचार करना होगा। उपनिषदो को उन दोनो के परस्पर मतभेदो का कुछ भी ज्ञान नही है। अद्वैत-प्रतिपादित ब्रह्म, जिसकी प्राप्ति अन्तर्दृष्टि से होती है, और ठोस रूप मे परिभाषित यथार्थसत्ता—दोनो मे वस्तुत कोई अन्तर नही, क्योकि ये दोनो केवल उसी एक सत्ता की अभिव्यक्ति के दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। ये दोनो क्रमश अन्तर्दृष्टि द्वारा एव बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा उस एकमात्र यथार्थसत्ता को समझने के प्रकार है। प्रथम मत के अनुसार यह जगत् परब्रह्म का आभासमात्र है, दूसरे मत के अनुसार यह ईश्वर की अभिव्यक्ति है। दोनो मे से किसी भी मत के

अनुसार यह विश्व बिलकुल असत् या भ्रान्तिरूप नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से हमारे लिए सांसारिक अनुभवों का कुछ भी महत्त्व न रह जाएगा। बौद्धमत एवं उसके विभिन्न सम्प्रदायों के प्रभाव से परमार्थसत्ता के अन्तःतत्त्व पर और संसार के घटनात्मक स्वरूप पर गौडपाद एवं शंकर की दर्शनपद्धतियों में बल दिया जाने लगा। वस्तुतः इस प्रकार का अद्वैत दर्शन वैदिक परिभाषा में माध्यमिक अध्यात्मविद्या की परिवर्तित व्याख्या है। महाकाव्यों एवं भगवद्गीता द्वारा धार्मिक पुनर्गठन एवं न्याय में आस्तिकवाद पर दिए गए बल के कारण विशिष्टाद्वैत अथवा रामानुज के परिवर्तित अद्वैतवाद का विकास हुआ। वस्तुतः अद्वैतवादी परिशुद्ध 'सौगत' अर्थात् शुद्ध हुए बौद्ध कहलाते हैं और विशिष्टाद्वैतवादी परिशुद्ध 'नैयायिक' अर्थात् शुद्ध हुए न्यायशास्त्र के अनुयायी कहलाते हैं।

२१

उपनिषदों में सांख्य और योग के तत्त्व

उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त की प्रतिपक्षी दर्शनपद्धतियों के, प्रधान सांख्य और योग के, बीज भी विद्यमान हैं। सांख्यदर्शन पुरुष और प्रकृति के मध्य एक द्वैतभाव की स्थापना करता है जिसमें प्रकृति समस्त सत्ताओं का उपादान या आदिकारण है एवं पुरुष साक्षीरूप से प्रकृति के विकास का द्रष्टा है। यह पुरुषों के अनेकत्व में भी विश्वास करता है जो प्रमाता (विषयी) हैं।[1] उपनिषदें पुरुषों के अनेकत्व का समर्थन नहीं करतीं यद्यपि समीक्षा की स्वाभाविक प्रक्रिया और उक्त सिद्धान्त के एक पक्ष का विकास हमें इस परिणाम तक पहुंचाते हैं। हमने देख लिया कि किस प्रकार उपनिषदों का अद्वैतवाद धार्मिक प्रयोजनों के लिए एकेश्वरवाद में परिणत हो जाता है। एकेश्वरवाद उपलक्षित करता है जीवात्मा की पृथक् सत्ता को जो सर्वोपरि ब्रह्म से विरुद्ध पक्ष में है। परिणामस्वरूप जीवात्मा संख्या में अनेक ठहरती हैं। किन्तु सांख्य के अनुयायी इस बात को अनुभव

१. एक अव्यक्त अथवा प्रकृति का विचार, जो सब विभेदों का कारण है, उपनिषदों में स्पष्टरूप से प्रस्तुत किया गया है। 'इन्द्रियों से परे उनके विषयों के मूलतत्त्व हैं। इन मूलतत्त्वों से परे मन है, मन से परे आत्मा है जिसे महत् कहते हैं। महत् से परे अव्यक्त है जो प्रकट नहीं है, अव्यक्त से परे पुरुष है, पुरुष से परे और कुछ नहीं है।' (कठ, ३ १ ११ और भी देखें ६ ७, ८।) अव्यक्त से परे, जिससे सब सृष्टि उत्पन्न हुई है, केवल ईश्वर है। 'तपस् से ब्रह्म आकार में बढ़ जाता है और इससे अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राण, मन, तत्त्व, जगत्, कर्म और कर्म के साथ उसके फल।' (मुण्डक १ १)। इस सन्दर्भ में आए हुए 'अन्नम्' अथवा अन्न की व्याख्या शंकर ने 'अव्याकृत' अर्थात् अप्रकट अर्थ में की है। प्रश्न उपनिषद् ४ में हमें एक ऐसा वर्णन मिलता है जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार सब पदार्थ पांच तत्त्वों की व्यवस्था के अनुसार तदनुरूप मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म तत्त्वों समेत अविनाशी के अन्दर विलीन हो जाते हैं। देखें प्रश्नोपनिषद्, ४ ८। उपनिषदों में बताया गया है कि प्रकृति पुरुष या ब्रह्म में से निकलती है। 'पुरुष' शब्द का अर्थ है—सर्वोपरि आत्मा। ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य का यह सिद्धान्त है कि पुरुष साक्षीमात्र है और वह स्वयं कुछ नहीं करता, दो पक्षियों के विषय में जो एक सन्दर्भ आता है उसमें प्रेरित है जिनमें से एक तो स्वादु फल का उपभोग करता है और दूसरा उसका स्वाद बिना लिए केवल साक्षीरूप से देखता रहता है।" मुण्डक, ३ १ १।

करने लगते है कि सर्वोपरि ब्रह्म एव जीवात्माओ की स्वतन्त्र सत्ता को बराबर के लिए मान्य ठहराना कठिन है। एक दूसरे का उच्छेदक है। उन दोनो मे से किसी न किसी को, चाहे सर्वोपरि ब्रह्म को और चाहे जीवात्माओं को, निरर्थक ठहराना ही पडेगा। जब उत्पादन की क्रिया प्रकृति को सौप दी गई तो ईश्वर अनावश्यक हो गया। ईश्वरविहीन केवल भौतिक प्रकृति के हिस्से उत्पत्ति की क्रिया को सुपुर्द करने का विरोध उपनिषदो ने किया है। उनका झुकाव प्रधानतया एक परम आत्मा का समर्थन करने की ओर है जिसकी पृष्ठ-भूमि पर विषयी (प्रमाता) एव विषय (प्रमेय पदार्थ) उदित होते हैं।[1]

योगदर्शन के प्रारम्भिक भाग उपनिषदो मे पाए जाते है। उपनिषदो के लेखको का यह दृढ विश्वास है कि हम अपनी अपूर्ण बुद्धि के द्वारा यथार्थसत्ता का ठीक-ठीक ज्ञान नही प्राप्त कर सकते। उन्होने मनुष्य के मन की एक दर्पण से उपमा दी है, जिसमे यथार्थसत्ता स्वय प्रतिबिम्बित होती है। हम यथार्थसत्ता को किस सीमा तक जानते है यह बात हमारी मानसिक अवस्था के ऊपर निर्भर करती है कि वह उक्त सत्ता के पूर्ण वैभव के अनुरूप अपने को बना सकती है या नही। अन्धे को रगो की अभिव्यक्ति नही होती और न ही बहरे को सगीत का आभास होता है, इसी प्रकार दुर्बलात्मा पुरुष को दार्शनिक सचाई का आभास नही हो सकता। जानने की प्रक्रिया को निर्माण न कहकर उपलब्धि कहना अधिक उपयुक्त है एव इसकी उत्पत्ति नही होती, अभिव्यक्ति होती है। परिणाम-स्वरूप यदि किसी प्रकार का दोष अथवा अपूर्णता यन्त्र (मन) मे रहेगी तो अभिव्यक्ति भी अपूर्ण एव विकृत होगी। स्वार्थपरक कामनाए एव मनोवेग मन रूपी यन्त्र एव यथार्थसत्ता, इन दोनो के बीच अभिव्यक्ति के लिए आ जाते है। जब प्रमेय पदार्थ का व्यक्तित्व यन्त्र (मनरूपी साधन) के स्वरूप मे कुछ अनुचित परिवर्तन कर देता है तो प्रतिबिम्ब भी धुधला हो जाता है। द्रष्टा की अज्ञानता प्रमेय पदार्थ को उसकी अपनी कल्पनाओ से ढक लेती है। उसके अपने बद्धमूल पक्षपात पदार्थो के यथार्थरूप के ऊपर छा जाते हैं। साधन के दोषो के यथार्थ स्वरूप मे भ्राति एक प्रकार की अनधिकार चेष्टा है। सत्य की खोज के लिए एक निष्पक्ष एव व्यक्तित्वहीन मनोभाव (रुख) रखने की आवश्यकता है और वह सब जो व्यक्तिगत है, इस सत्यान्वेषण की प्रक्रिया मे एक बडी बाधा उपस्थित करता है। हमे मन की भ्रष्ट रचना एव विफलता से अपने को बचाना चाहिए। मन की आग्रहशील या हठी शक्तियो को झुकाना चाहिए जिससे कि वे सत्य के सक्रमण के निर्बाध मार्ग बन सकें। योग की विधि उचित निर्देश देती है कि किस प्रकार मन को परिष्कृत करके एक उत्तम दर्पण के समान बनाया जा सकता है और वैयक्तिक तत्त्वो से रहित करके स्वच्छ रखा जा सकता है। यह केवल इसी नियन्त्रण के द्वारा सम्भव है कि हम उस श्रमसाध्य एव स्फूर्तिमान व्यक्तित्वहीनता की ऊचाई तक पहुच सकते है जहा से ससार के मेधावी एव गुणी आत्मा (ऋषि-महर्षि) सुदूर परोक्ष की झाकी लेते है यह प्रणाली उपनिषदो के आत्मा-सम्बन्धी सिद्धात के अनुरूप है। हमारी साधारण चेतना नित्य जगत् की ओर से पीठ फेर लेती है और इस नश्वर एव कृत्रिम जगत् मे ही खो जाती है जिसकी रचना

१. देखें, ऐतरेय, १ : १, २, बृहदारण्यक, १ : ४, ३, छान्दोग्य, ६ : २, ६, तैत्तिरीय, २ : १।

न्द्रियजन्य अनुभवों के आधार पर मन करता है। जब हम इस लौकिक आत्मा से ऊपर उठते हैं हम अभावात्मक नहीं अपितु एक घनीभूत भावनामय आत्मा की प्राप्ति होती है। जब तक आत्मा अपनी अनुभवसिद्ध घटनाओं के अस्पष्ट क्रम में बंधी रहती है उसकी शक्तियां पूर्णरूप में कार्य नहीं कर सकतीं। जब आत्मा आनुभविक सत्ता की मर्यादाओं से ऊपर उठती है विश्व सारी जीवन घनीभूत हो जाता है और हम अपनी आत्मा को वैभवशाली एवं अपने व्यक्तित्व को वर्धमान अनुभव करने लगते हैं और तब वह सारे अनुभव को अपने अन्दर आकृष्ट कर लेती है। निम्न श्रेणियों में—जबकि आत्मा का तादात्म्य केन्द्र विशेष के साथ रहता है जिसका निर्माण देश और काल की घटनाओं के द्वारा होता है—अनुभवजन्य जगत उसकी अपनी कृति नहीं होता। अनुभव के एक संकुचित क्षेत्र में चिपके रहने से हम ऊपर उठना ही चाहिए। इसके पूर्व कि हम अपने अन्दर उस आनुभविक जगत का पूर्णरूप से संग्रह कर सकें जिसके केन्द्र व परिधि ईश्वर एवं मनुष्य हैं। उस समय हम उस उन्नत अवस्था को पहुंचते हैं जहां पहुंचकर उपनिषद् के अपने शब्दों में जो कुछ अन्दर है और जो बाहर है उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं रह जाता। योगदर्शन की प्रणाली में इस बात पर बल दिया गया है कि मिथ्या बाह्य दृष्टि को दूर करना आवश्यक है इससे पूर्व कि आन्तरिक आदर्श को जीवन एवं अभिव्यक्ति के लिए अवसर प्राप्त हो सके। हम छायामात्र जगत में रहने का त्याग करना होगा इससे पूर्व कि हम नित्य जीवन को ग्रहण कर सकें।

योग की प्रणाली के अनुसार मानसिक एवं धार्मिक नियन्त्रण के अन्दर में गुजरना आवश्यक है। उपनिषदें भी इसी बात पर बल देती हैं कि लक्ष्य पर पहुंचने से पूर्व कठोर तपस्या एवं धार्मिक जीवन बिताना आवश्यक है। प्रश्न उपनिषद् में पिप्पलाद ईश्वर के विषय की जिज्ञासा के लिए आए हुए छः जिज्ञासुओं को एक वर्ष और नियन्त्रण में बिताने के लिए यह आदेश देकर वापस लौटा देता है कि "तुम जाओ और एक वर्ष और ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करो तपस्या करो एवं श्रद्धा को धारण करो। ब्रह्मचर्य के जीवन में परिवार से कोई सम्बन्ध न रहने के कारण विद्यार्थी का मन विचलित नहीं होता और इसीलिए वह अपने कार्य में पूरा पूरा ध्यान दे सकता है। आत्मनिग्रह एवं तपश्चर्या उसे मानसिक शान्ति प्रदान करते हैं और मन निश्चल होकर ज्ञान का सम्पादन करने में समर्थ होता है। प्रत्येक कार्य के लिए श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। योगदर्शन का एवं सभी प्रकार की आध्यात्मिक रहस्यमय शिक्षाओं का सारतत्त्व है कि मनुष्य को स्वयं को साधारण स्तर से ऊंचे उठाकर उच्चकोटि के स्तर पर पहुंचाने से ही दैवीय चेतन सत्ता के साथ साक्षात्कार हो सकता है अन्यथा नहीं।

हम मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने मन को वश में करना आवश्यक है। क्योंकि यह मन ही हमें बाह्य पदार्थों के साथ जकड़ता है और हम उनका दास बनाकर रखता है। बाह्य पदार्थों एवं परिस्थितियों के शिकार रहते हुए हम सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार एक शिलाखण्ड पर गिरा हुआ वर्षा का जल नीचे की ओर उतरकर चारों ओर बिखर जाता है इसी प्रकार वह मनुष्य जो गुणों में नानात्व को देखता है उनके पीछे चारों ओर भागता है। जैसे स्वच्छ जल स्वच्छ जल में डाला जाने पर भी वही

अर्थात् उसी स्वच्छ रूप में रहता है, इसी प्रकार हे गौतम, एक विचारक की आत्मा है, जो ज्ञानी है।"[1] उस मनुष्य का मन जिसने अपनी आत्मा को नहीं पहचाना, इधर-उधर भटकता है जिस प्रकार कि ऊंचा चट्टानों पर पड़ा हुआ जल सब दिशाओं में फैल जाता है। किन्तु जब उसका मन पवित्र हो जाता है, वह जीवन रूपी महान समुद्र में समाकर उसके साथ एकाकार हो जाता है जिसका निवासस्थान समस्त मरणधर्मा आकृतियों की पृष्ठभूमि में है। यदि बाह्य विषयों में दौड़ने के लिए मन को खुली छुट्टी दे दी जाए तो वह बालुकामय भूमि में तितर-बितर हो जाएगा। जिज्ञासु एवं सत्य के अन्वेषक को उचित है कि वह मन को अन्दर की ओर खींचकर रखे और बराबर वश में किए रहे जिससे कि वह आन्तरिक कोष को प्राप्त कर सके। वाणी को हमें मन के अधीन करना चाहिए, मन को विचार के अधीन और विचार को विश्वव्यापी चेतना के अधीन करना चाहिए; केवल उसी अवस्था में हमें नित्य की गम्भीर शान्ति का अनुभव हो सकता है।[2] केवल उसी अवस्था में जबकि 'पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन समेत निश्चल रहती हैं और बुद्धि भी निश्चेष्ट रहती है,' हम सर्वोच्च सत्ता तक पहुंच सकते हैं।[3] "उपनिषद् रूपी धनुष को पकड़कर—जो महान अस्त्र है—और उसमें ऐसा बाण चढ़ाकर जिसे निरन्तर समाधि द्वारा तीक्ष्ण बना लिया गया है, उसे हे सौम्य, भावपूर्ण मुद्रा से उसी एकमात्र अक्षर ब्रह्म को लक्ष्य करके छोड़ना चाहिए।"[4] कौषीतकि उपनिषद् में कहा गया है कि प्रातर्दन आत्मसंयम अथवा संयमन की एक नई पद्धति का संस्थापक था जिसे आन्तरम् के नाम से पुकारा जाता है।[5] यह इस बात पर बल देता है कि मनुष्य को अपनी वासनाओं एवं मनोवृत्तियों पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए। उपनिषदों में कहीं-कहीं संकेत किया गया है कि प्राण को वश में करके समाधि-अवस्था लाई जा सकती है,[6] यद्यपि अधिकतर वह मन की एकाग्रता का ही प्रतिपादन करती हैं।[7] अलौकिक परिभाषाएं यथा 'ओम्', 'तद्वनम्'[8] 'तज्जलान्'[9] आदि ऐसी सांकेतिक परिभाषाएं हैं जिनके ऊपर हमें अपना ध्यान केन्द्रित करने का निर्देश किया गया है। मन की स्थिरता का मार्ग कुछ समय के लिए मन को अन्य सब पदार्थों को भूलकर केवल एक ही पदार्थ में गड़ा देना है। केवल अभ्यास के द्वारा ही इस कला में निपुणता प्राप्त की जा सकती है।

परवर्ती (नवीन) न्यायतर्क का एक ही संकेत मुण्डक उपनिषद् में पाया जाता है।[10]

१. कठ उपनिषद्, २ : १५।

२. कठ उपनिषद्, २ : १३, तुलना कीजिए, "विचार उसी समय सबसे उत्तम होता है जबकि मन अपने अन्दर संगृहीत होता है, और अन्य कोई पदार्थ उसे कष्ट नहीं देता, यथा न शब्द, न कोई दृश्य, न दुःख, न कोई सुख, और जब उसे शरीर में भी कुछ प्रयोजन नहीं होता, न किसी इन्द्रिय एवं मनोभाव से ही सम्बन्ध होता है किन्तु जिस समय उसकी महत्त्वाकांक्षा परमार्थ की प्राप्ति के प्रति ही लक्षित होती है।" (प्लेटो के 'फीडो' से)।

३. कठ उपनिषद्, २ १२।

४. मुण्डक उपनिषद्, २ २,२।

५. आन्तरम् अग्निहोत्रम्, २ ५।

६. बृहदारण्यक, १ ५,२३।

७. प्रश्न उपनिषद्, ५ : १।

८. केन उपनिषद्, ४ : ६।

९. छान्दोग्य, ३ १४, १।

१०. ३ २,४, ड्यूसन एवं ह्यूम इस पाठ को दूसरे ही अर्थ में लेते हैं।

"बलहीन पुरुष इस आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता, इसी प्रकार आवेश अथवा तप से अथवा लिङ्ग से आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।' जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे कि 'लिङ्ग' न्यायशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका प्रयोग शृंखला अथवा लक्षण के अर्थों में अनुमान प्रमाण में 'मध्यपद' हेतु अथवा साधन के रूप में किया गया है।[1] कतिपय परिच्छेदों में यह भी प्रतिपादन किया गया है कि ज्ञान का अनुभववादी सिद्धान्त है कि यथार्थ सत्ता का स्वरूप अनुमान प्रमाण की आगमन विधि द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। 'मिट्टी के एक ढले से मिट्टी से बने सब पदार्थ जान जाते हैं। सोने की एक सिल्ली से सोने से बने सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।'[2] प्रतर्दन आग्रहपूर्वक कहता है कि ज्ञान केवल विषयी एवं विषय के पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा ही सम्भव है।

२२

दार्शनिक अग्रनिरूपण

उपनिषदें दार्शनिक अन्वेषण के मुख्य मुख्य विवाद विषयों का निर्णय करती हैं एवं अनुगामी दार्शनिक संवाद की पद्धतियों का भी स्पष्टरूप से निर्देश करती हैं। हमने देख लिया कि उपनिषदों में अन्यान्य सिद्धान्तों के संकेतों के अतिरिक्त विशुद्ध दार्शनिक आदर्शवाद (वेदान्त कल्पनावाद अथवा मायावाद) के तत्त्व पाए जाते हैं जो संसार की सापेक्ष सत्ता पर बल देते हैं एवं आत्मा के एकत्व और पूर्णता पर और उसके साथ साथ एक नैतिक व धार्मिक जीवन पर भी बल देते हैं। यद्यपि उपनिषदों में जो समन्वय प्रदर्शित किया गया है—जिसके साथ आत्मचेतना के एकत्व का मौलिक विचार भी जुड़ा हुआ है और यही तत्त्व सब वस्तुओं को एक लड़ी में बांधता है—वह उपनिषदों के विचार को शक्तिमान बनाता है किन्तु उपनिषदों के विचार की निर्बलता इस विषय में है कि उक्त समन्वय की सिद्धि स्पष्ट तर्क द्वारा न की जाकर केवल अन्तर्दृष्टि द्वारा की गई है। यह उन विभिन्न घटकों में परस्पर समन्वय के लिए कोई तार्किक समाधान उपस्थित नहीं करता यद्यपि सारे यथार्थ दर्शन के केन्द्रीय भाव पर उपनिषदों के विचार का सुदृढ़ अधिकार है।

वैदिक धर्म के विश्वासों के ऊपर उपनिषदों के विचारकों ने विशेष ध्यान दिया। यद्यपि उपनिषदों ने उक्त विश्वासों की आलोचना करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया तो भी भूतकाल की उस विरासत ने कहीं कहीं बाधा अवश्य दी। उपनिषदों ने भविष्य की प्रगति के लिए योद्धा किन्तु साथ साथ प्राचीनता के महत्त्व के प्रति भी श्रद्धालु भक्त रहने का प्रयत्न किया। परिणाम से ज्ञात होता है कि यह कार्य निश्चय ही उनके लिए कठिनतर सिद्ध हुआ। उपनिषदों के धर्म ने जहां एक ओर विशुद्ध एवं धार्मिक सिद्धान्त का प्रचार किया, जिसमें पूजा की किन्हीं विशेष विधियों का विधान नहीं था और इसी लिए न ही किसी पुरोहितशाही शासन का प्रश्न उठता था तो भी उन्होंने उक्त विधियों के प्रति सहिष्णुता दिखाई प्रत्युत वह सकते हैं कि उन्हें अंगीकार भी कर लिया। नाना

१ लिंग—शृङ्खला (कड़ी)। देखें छान्दोग्य भी ६ ८,४।
२ छान्दोग्य उपनिषद्, ६ १,४–६।

प्रकार के कर्म, जो ऋषियों ने मन्त्रों में दृष्ट किये, यथार्थ हैं और त्रेतायुग में उनका अधिकतर व्यवहार होता था; उन्हें सदा सदिच्छा से प्रेरित होकर करो। कर्मफल की प्राप्ति का यही साधन है।"[1] वैदिक देवताओं का सूर्य के अन्दर अपना स्थान था। कोई भी व्यक्ति जनता को उन देवताओं के परित्याग के लिए नहीं कहता था जिनकी पूजा करने की वह अभ्यस्त थी। प्रतिभासम्पन्न समाधान, सुझाव एवं प्रतीकवाद पुराने मिथ्या-विश्वासों की नये आदर्शवाद के साथ सगति लगातार व्याख्या करने में सहायक सिद्ध हुए। यद्यपि उस समय की माग थी कि धार्मिक आदर्श के प्रति भक्ति प्रदर्शित की जाए, तो भी उपनिषदों में पर्याप्त मात्रा में अवसरवादिता पाई जाती है। उन्होंने आन्दोलन के रूप में बाह्य प्रमाणों एवं अत्यधिक रूढ़िवाद के बन्धनों से मनुष्यों को मुक्ति दिलाने से कार्य प्रारम्भ किया किन्तु पुरानी शृंखलाओं को ही मजबूत करने में समाप्ति की। जीवन के नये प्रकार से मूल्याकन की स्थापना के स्थान में उन्होंने परम्परागत विधियों का ही प्रचार किया। धार्मिक लोकतन्त्र का प्रचार उनकी स्थापना से बहुत भिन्न वस्तु है। उपनिषदों ने उच्चकोटि के ईश्वरज्ञान को पूर्वपुरुषों के विश्वासों के साथ मिलाने के लिए बहुत प्रशंसनीय प्रयत्न किया। किन्तु नये धार्मिक आदर्श और भूतकाल की मिथ्या कल्पनाओं के मध्य में कोई जीवित विकल्प भी हो सकता है इसे समय ने अनुभव नहीं किया। उपनिषदों के उच्चकोटि के आदर्शवाद ने कभी जनसाधारण में प्रचलित आन्दोलन का रूप धारण नहीं किया। समाज के ऊपर इनका पूर्णरूप से प्रभाव कभी नहीं रहा। यज्ञपरक धर्म का अब भी बोलबाला था, उपनिषदों ने उसे प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी। पुराने विश्वास को एक प्रकार से एक नये क्षेत्र से नवीन शक्ति के साथ प्रेरणा मिल गई। यदि उपनिषदों का आदर्शवाद जनसाधारण में प्रवेश पा सकता तो जाति का चरित्र बिलकुल ही नये ढाचे में ढल जाता और सामाजिक सस्थाओं में निश्चय ही नई जागृति आ जाती। किन्तु इसमें से कुछ भी नहीं हुआ। मिथ्या विश्वासों से भरपूर निम्नश्रेणी का धर्म ही जनसाधारण में फैला रहा। पौरोहित्य सशक्त हो गया। धार्मिक सस्थाओं की अनुदारता या कट्टरपन एवं जनता के प्रति घृणा भी साथ-साथ वर्तमान रही, यद्यपि पूर्ण जीवन के कतिपय उपासकों ने भी उच्चतम भाव को अवश्य अपना लिया। यह धार्मिक विरोधों एवं अव्यवस्था का युग था। उपनिषदों की शिक्षाएं अत्यन्त लचकीली बन गईं। उन्होंने अपने अन्दर विशुद्ध आदर्शवाद से लेकर असस्कृत मूर्तिपूजा तक के परस्पर नितान्त विरोधी सिद्धान्तों को भी चिपकाए रखा। परिणाम यह हुआ कि उच्चकोटि के धर्म को निम्न श्रेणी के धर्म ने एकदम ढक दिया।

हर स्थान पर हमें परस्पर-विरोधी कल्पनाएं मिलती थीं। धर्म के क्षेत्र में एक ओर वैदिक बहुदेववाद था तो दूसरी ओर उपनिषदों के एकेश्वरवाद और आध्यात्मिक जीवन से मिश्रित यज्ञों का क्रियाकलाप भी विद्यमान था। सामाजिक क्षेत्र में जन्मपरक जातिभेद था, जिसकी कठोरता को विश्वव्यापकता के उदारभाव ने कम कर दिया था। परलोक-विज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जन्म का विचार था, जिसके साथ नरक के विचार भी सम्मिलित थे।

१ मुण्डक उपनिषद्, १ २, १।

किन्तु सत्य को असत्य ने दबा रखा था और ब्राह्मणधर्म की अव्यवस्था अपनी समस्त परस्पर विरोधी कल्पनाओं के साथ उपनिषदों के पश्चात् एवं बौद्धकाल से पूर्व के समय में चरम सीमा तक पहुंच गई। यह काल एक प्रकार की धार्मिक शुष्कता का काल था जबकि सत्य कठोर रूप धारण करके परम्परा में परिणत हो गया और नैतिकता भी दैनिक कार्यक्रम में परिणत हो गई। जीवन कर्मकाण्ड एवं क्रियाकलाप की परिपाटी मात्र बन गया। मनुष्य का मन विधि-व्यवस्थाओं एवं कर्तव्यों के पालनरूपी लौहचक्र के अन्दर ही घूमने लगा। समस्त वातावरण में क्रियाकलापों से दम घुट रहा था। बिना कुछ मन्त्र उच्चारण किए या उपचार किए मनुष्य बिस्तर से उठकर प्रातःकाल का कोई कृत्य यथा मुंह धोना, हजामत करना एवं प्रातराश करना आदि भी नहीं कर सकता था। यह एक ऐसा युग था जिसमें एक क्षुद्र एवं अज्ञान सम्प्रदाय छोटे छोटे एवं निःसार मिथ्या विश्वासों से पूरा भरा हुआ था। एक नीरस एवं हृदयहीन ज्ञान पद्धति—जिसे एक शुष्क और कट्टरतापूर्ण धर्म का समर्थन भी प्राप्त था और जो आडम्बर एवं अनिवार्यता से भरपूर थी—विचारशील थोड़े-से व्यक्तियों को थोड़े समय तक एवं जनसाधारण को अधिक समय तक सन्तोष न दे सकी। अब विश्लेषण का युग आरम्भ हुआ जबकि उपनिषदों के विद्रोह को क्रियात्मक रूप देने के लिए क्रमबद्ध रूप में प्रयत्न प्रारम्भ हुए। उपनिषदों के एकेश्वरवाद एवं वैदिक अनेकेश्वरवाद का असंगत गठबन्धन, उपनिषदों का धार्मिक जीवन एवं वेदों का यज्ञपरक दैनिक जीवन, उपनिषदों का मोक्ष और संसार और वैदिक नरक व स्वर्ग, उपनिषदों की विश्वव्यापकता और प्रचलित जन्मपरक जात पांत अब और अधिक साथ साथ नहीं चल सकते थे। समय की सबसे बड़ी मांग थी कि पुनः संघटन होना चाहिए। समय प्रतीक्षा कर रहा था कि एक गम्भीरतर और आध्यात्मिक धर्म का प्रचार साधारण जनसमाज में होना ही चाहिए। इससे पूर्व कि यथार्थ समन्वय हो सके अवयवों को—जो कृत्रिमरूप में परस्पर जुड़े हुए थे—उस संयुक्त रूप से छिन्न भिन्न करना अत्यन्त आवश्यक था जिसमें वे अमूर्त रूप में परस्पर विरोधी होने पर भी एक दूसरे के निकट लाए गए थे। बौद्धों, जैनियों एवं चार्वाकों अथवा भौतिकवादियों ने प्रचलित धर्म की कृत्रिम अवस्था की ओर निर्देश किया। इनमें से प्रथम दो ने अर्थात् बौद्धों एवं जैनियों ने एक पुनर्गठन का प्रयत्न किया और आत्मा की नैतिक मांगों के ऊपर बल दिया। किन्तु उनके ये प्रयत्न क्रान्तिकारी आधार पर आश्रित थे। जब उन्होंने उपनिषत्प्रतिपादित नैतिक विश्वव्यापकता के सिद्धान्त का प्रचार किया तो उन्होंने कल्पना की कि उन्होंने ब्राह्मणधर्म की जात-पांत तथा यज्ञपरक क्रियाकलाप तथा प्रचलित धर्म की प्रामाणिकता को सर्वथा उखाड़ फेंका है। अनन्तर गीता एवं अर्वाचीन उपनिषदों ने भूतकाल में मिलकर तद्विरुद्ध तत्त्वों को अधिक अनुदार नीति के साथ समन्वित किया। यह हो सकता है कि उपनिषदों के पश्चात्काल में जो धर्म प्रचलित था उसके विरोध में नितान्त और अनुदार प्रयत्न देश के भिन्न भिन्न भागों में किए गए। बौद्धमत एवं जैनमत ने पूर्व की दिशा में एवं भगवद्गीता ने पश्चिम दिशा में जो प्राचीन वैदिक धर्म का गढ़ था, प्रचार किया। अब हम बौद्धिक हलचल, विद्रोह एवं पुनर्गठन के इसी युग की ओर चलते हैं।

उद्धृत ग्रन्थ

मैक्समूलर 'द उपनिषद्स', (सैक्रेट बुक्स आफ द ईस्ट, खण्ड १ और १५)।

ड्यूसन . 'द फिलासफी आफ द उपनिषद्स'।

गफ 'द फिलासफी आफ द उपनिषद्स'।

बरुआ : 'प्री-बुद्धिस्टिक इण्डियन फिलासफी'।

महादेव शास्त्री 'द तैत्तिरीय उपनिषद्'।

रानाडे 'द साइकालोजी आफ द उपनिषद्स' (इण्डियन फिलासाफिकल रिव्यू), १९१८-१९१९।

ह्यूम 'द थरटीन प्रिंसिपल उपनिषद्स'।

द्वितीय भाग

महाकाव्य काल

पांचवां अध्याय

भौतिकवाद

महाकाव्य काल—इस काल के प्रचलित विचार—
भौतिकवाद—भौतिक सिद्धान्त—सामान्य समीक्षा ।

१

महाकाव्य काल

यद्यपि दोनो महाकाव्यो अर्थात् रामायण एव महाभारत मे वर्णित घटनाए अधिकतर उस वैदिककाल की है जबकि प्राचीन आर्य बडी सख्या मे गगा की उपत्यका मे आकर बसे थे—कुछ लोग दिल्ली के आसपास, पाचाल लोग कन्नौज के समीप, कौशल लोग अवध के समीप, और काशी लोग बनारस मे—किन्तु ऐसी कोई साक्षी हमे उपलब्ध नही है जो यह सिद्ध कर सके कि इन महाकाव्यो की रचना ईसा से पूर्व की छठी शताब्दी से पूर्व हुई हो। स्वय वेदमत्रो के भी क्रमबद्ध अवस्था मे आने का काल वही है जिस समय आर्य लोग गगा की उपत्यका मे फैल रहे थे। सम्भवत यही समय था जबकि महाकाव्य महाभारत मे वर्णित कौरवो एव पाडवो के बीच महासग्राम हुआ। भारतीय परम्परा और महाभारत के अन्तर्गत साक्ष्य के आधार पर वेदो के सग्राहक महर्षि व्यास भी उक्त काल मे वर्तमान थे। रामायण मे उन युद्धो का वर्णन है जो आर्य लोगो एव यहा के मूलनिवासियो के मध्य हुए जिन्होने आर्यसस्कृति को अपना लिया। महाभारत उस समय का ग्रन्थ है जबकि वैदिक ऋचाए अपनी मौलिक शक्ति व अर्थ को खो चुकी थी और कर्मकाण्डप्रधान धर्म सर्वसाधारण को अधिक आकृष्ट करता था और जन्मपरक जाति को प्रधानता दी जाने लगी थी। इसलिए हम महाकाव्यो की रचना का समय ईसा से पूर्व छठी शताब्दी के लगभग कही रख सकते है। यद्यपि उनके अन्दर अवस्थाओ के अनुसार ईसा के २०० वर्ष पश्चात् तक परिवर्तन होते रहे और उस समय ये महाकाव्य अपने अतिम अर्थात् वर्तमान रूप मे आ गए।

ऐसे अनेको सकेत है जिनके आधार पर यह सिद्ध हो सकता है कि यह युग बौद्धिक रुचि के प्रति प्रबलरूप से जागरूक था जिसमे प्रचुर मात्रा मे दार्शनिक स्फूर्ति और अन्यान्य क्षेत्रो मे विकास उपलब्ध होते है। उस युग की नैतिक प्रेरणा का जिसमे

अनेक प्रकार की स्फूर्ति मिश्रित थी ठीक ठीक वर्णन करना कठिन है। उस समय की जनता आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक समस्याओं के साथ संघर्ष करती हुई पाई जाती है। यह एक युग था जो अद्भुत अनियमितताओं एवं पारस्परिक विरोधों से भरपूर था। बौद्धिक विकास के प्रति उत्साह एवं नैतिक गम्भीरता के साथ साथ दूसरे पक्ष में आत्म-संयम का अभाव एवं वासना के नियन्त्रण का अभाव भी पाया जाता है। यह चार्वाकों एवं बौद्धों का युग था। तन्त्र मन्त्र एवं विज्ञान, संशयवाद (स्याद्वाद) एवं अन्धविश्वास, स्वच्छन्द जीवन एवं तपस्या (आत्मसंयम) साथ साथ एक दूसरे से मिले जुले पाए जाते हैं। जबकि जीवन की बलवान शक्तियां अपना प्रभुत्व जमाती हों तो यह स्वाभाविक ही है कि कितने ही व्यक्ति उद्दाम कल्पनाओं की अधीनता स्वीकार कर लें। इन सबके होते हुए भी विचारों की जटिलता एवं स्वाभाविक प्रवृत्तियों ने परस्पर मिलकर जीवन को रोचक बनाने में सहायता की। स्वतन्त्र विचार पर बल देने के कारण बौद्धिक हलचल ने परम्परागत प्राचीन शास्त्रों के प्रामाण्य रूपी बन्धन को शिथिल करके सत्य की खोज में उन्नति होने का मार्ग खोल दिया। शास्त्र की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट करना अब भयावह न रह गया।

अन्तर्दृष्टि का स्थान अब समीक्षा एवं संशयान्वेषण और धार्मिक विश्वासों का स्थान दर्शनशास्त्र लेने लगे। जीवन की अद्भुत अनिश्चितता एवं संदिग्धता संसार को अर्थशून्य सिद्ध करने के लिए किए गए परस्पर विरोधी प्रयत्न, मनमाने पन्था और मतों की भटका देनेवाली अव्यवस्था एवं विचार की समाप्ति जिनका निर्माण दुःखों में ग्रस्त एवं भय से त्रस्त किसी भी नये तथा अपरीक्षित मार्ग को प्राप्त करके प्रसन्न हो जाने वाली मनुष्य जाति ने किया, तथा अविश्वास की मरुभूमि, शक्ति यौवन और उद्यम के मध्य में क्लान्ति व उदासीनता—इन सबके कारण महाकाव्यकाल भारतीय विचारधारा का एक महत्त्वपूर्ण काल है। अस्वस्थमनस्कता एवं शक्तिहीनता तथा स्नायु दौर्बल्य से पीडित व्यक्ति संसार में सर्वत्र अपने इस रोग की चिकित्सा या तो विश्राम और शांति से प्राप्त करते हैं अथवा कला, ज्ञान और सदाचार द्वारा उससे परित्राण और निर्वाण खोजते हैं या फिर नशा करके अचेतावस्था, वक्तव्य एवं उन्माद द्वारा उसकी शांति का उपाय करते हैं। इस प्रकार दर्शनशास्त्र सम्बन्धी परीक्षणों के इस युग में अनेक नई नई पद्धतियां सामने लाई गईं। एक मत विशेष की प्रतिद्वन्द्विता में दूसरा मत लाया गया एवं आदर्श की प्रतिद्वन्द्विता में दूसरा आदर्श सामने आया। विचारधारा के स्वभावों में केवल अकेले एक ही विचार के प्रभाव से नहीं अपितु अनेक विचारों की संगठित शक्ति के द्वारा परिवर्तन किया गया। ऋग्वेद के अन्दर स्वतन्त्र कल्पना के अंश और संशयवाद के संकेत पहले से उपस्थित थे।[1] पूजा के बाह्य स्वरूप के प्रति अत्यधिक भक्ति होने पर भी ब्राह्मण ग्रन्थों तक में दार्शनिक विवाद के लिए एक निःशंक आकांक्षा हमें मिलती है। जब मनुष्यों की तर्क सम्बन्धी उत्कट जिज्ञासा को यों ही दबा देने के लिए प्रयत्न किए जाते हैं तो मनुष्य का मन उसके प्रति विद्रोह करता है और एक अवश्यम्भावी प्रतिक्रिया हमारे

१ ऋग्वेद ७ : ८९ : ३-४ ।

सामने आती है, जिसके परिणामस्वरूप सब प्रकार के औपचारिक प्रामाण्य के प्रति अधीरता एव भावुक जीवन का उद्रेक, जिसे कर्मकाण्ड-सम्बन्धी धर्म ने दीर्घकाल तक दबाकर रखा था, उमड पडते है। उपनिषदो ने जिज्ञासा के भाव को विकसित किया, भले ही वे पुराने वैदिक मत का कितना भी दम भरती रही हो। जब एक बार हम विचार को अपना अधिकार प्रकट करने का अवसर दे देगे, तो फिर हम उसे मर्यादाओ के अन्दर नियन्त्रित करके नही रख सकते। जिज्ञासा की नई विधियो का प्रचलन करके एवं मस्तिष्क को एक नई विधि से नये ढाचे मे ढालकर उपनिषदो के विचारको ने अन्य सबसे कही अधिक उस युग की विचारधारा को प्रेरणा प्रदान की। अपने दार्शनिक वादविवादो के द्वारा उपनिषदो ने एक परिवर्तन का उद्‌घाटन किया जिसका पूरा-पूरा तात्पर्य एव प्रयाण की दिशा स्वय उनपर भी प्रकट नही थी। यह विशेष ध्यान देने योग्य विषय है कि जहा उपनिषदो की विचारधारा ने गगा के प्रदेश के पश्चिमी भाग मे विकास पाया, वहा पूर्व के भाग ने उसे प्राप्त तो किया अवश्य, किन्तु उसे इतना अधिक अपने जीवन मे ढाला नही। पश्चिम की कल्पनाओ को पूर्व-भाग ने बिना सशय प्रकट किए अथवा बिना पूर्णरूप से उसपर विवाद उठाए अगीकार नही किया।

राजनैतिक सकटकालो ने भी मनुष्यो के मन को अस्थिर कर दिया। छोटी रियासतो मे, जो उस काल मे बन रही थी, छोटी-छोटी बातो पर अनबन चलती थी। विदेशी आक्रमणकारियो ने देश की शान्ति को भग कर रखा था। उस युग के अध पतन, राजाओ की कामवासना और जनसाधारण की अर्थलोलुपता की बडी-बडी शिकायते सुनी जाती थी। एक बौद्धसुत्त (सूक्त) कहता है, "मैं इस ससार मे धनवानो को देखता हू। उन वस्तुओ मे से जिनका सग्रह उन्होने अपनी मूर्खतावश किया है, वे कुछ भी दूसरो को नही देते, वे बडी उत्सुकता के साथ धनसचय करते जाते हे और अधिकाधिक उसके भोग करने मे लिप्त होते जाते हैं। एक राजा भले ही पृथ्वी-भर को क्यो न विजय कर ले और समुद्र-पर्यन्त समस्त भूभाग का भी शासक क्यो न हो जाए, तो भी उसका लालच बढता ही जाता है और वह चाहता है कि समुद्र के उस पार को भी प्राप्त कर ले। राजा एव अन्यान्य प्रजाजन भी अपनी अतृप्त इच्छाओ को साथ लिए हुए मृत्यु का ग्रास बनते है··· न तो सगे-सम्बन्धी, न मित्र, न ही अन्यान्य परिचित व्यक्ति मरते हुए मनुष्य को बचा सकते है, उत्तराधिकारी लोग उसकी जायदाद को ले लेते है किन्तु उसे तो अपने कर्मो का ही पुरस्कार मिलता है, मरनेवाले के साथ उसका सचित कोश नही जाता, न पत्निया साथ जाती है, न बच्चे साथ जाते है, न जायदाद और न ही राज्य साथ जाता है।"[1] असफलता के भाव ने, सरकार एव समाज की असफलता ने, ससार के प्रति निराशा ने, मानवजाति के आत्मसशय ने मनुष्य को विवश किया कि वह आत्मा एव मनोभावो को पहचानना सीखे। उधर ऐसे भी व्यक्ति थे जो अपूर्ण एव क्षणिक जीवन को एकदम भुलाकर पवित्रता का जीवन व्यतीत करने के लिए उद्यत थे और ऐसे एक अत्यन्त दूर अवस्थित स्वप्नजगत् मे पहुचना चाहते थे जो पाप एव भ्रष्टाचार से रहित है और भूत, वर्तमान

१. ओल्डनबर्ग: 'बुद्ध', पृष्ठ ६५।

और भविष्यत् में सदा एकसमान रहता है। लगभग सभी लोग अशान्ति विरक्ति एवं निराशा के साथ जीवन से विमुख हो गए थे। परलोक के आकर्षणों के आगे वर्तमान के प्रलोभन हार खा गए थे। लोग मोक्षप्राप्ति के लिए छोटे से छोटे मार्ग की ओर लोलुप दृष्टि से ताक रहे थे। सांसारिक क्षेत्र में पराजय का अनुभव ही उस युग में लोगों को दैवीय प्रेरणा देने लगा था। एक सद्गुणी परमेश्वर का भाव स्वभावतः जगत् के नैतिक शासन के साथ-साथ रहता है। जब इस लोक में जीवन के स्वरूप के सम्बन्ध में ही संशय उत्पन्न होता है तो परमेश्वर की सत्ता में विश्वास भी ढीला पड़ जाता है। जब हरएक व्यक्ति सोचता है कि जीवन दुःखमय है या कम से कम यह कि जीवन एक आशंकापूर्ण वरदान है तो पुराने विश्वास को लेकर आगे चल सकना आसान नहीं रह जाता। नाना विधियों का विश्वास इस प्रकार एक स्वप्न की भांति छिन्न भिन्न हो रहा था। प्रामाणिकता का बन्धन शिथिल हो गया था और परम्परा के बन्धन भी उसके साथ ढीले पड़ गए थे। विचारधारा के इस विक्षुब्ध वातावरण में जबकि पुराना विश्वास खण्डित हो रहा था और मनुष्य के स्वातन्त्र्य की घोषणा की जा रही थी अनेकों आध्यात्मिक मतों एवं निरर्थक कल्पनाओं की सृष्टि हुई। एक ऐसे युग में जबकि नैतिक दुर्बलता का भाव जड़ पकड़ रहा था स्वभावतः मनुष्य किसी भी धार्मिक मत का आश्रय लेने के लिए उत्सुक था। उस युग में हमें केवल इन्द्रियगम्य संसार के ऊपर आग्रह करते हुए भौतिकवादी मिलते हैं और मिलते हैं अपने बहुमूल्य मनोवैज्ञानिक एवं उच्च श्रेणी के नीतिशास्त्र सम्बन्धी शिक्षाओं के साथ प्रकट हुए बौद्ध लोग। दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्ति भी मिलते हैं जो डूबते हुए निराश मनुष्य की भांति आश्रयरूप वेदों से ही चिपटे रहे। सुधारकों ने परलोक की सम्भाव्य कल्पना में निषेध करते हुए अपना पूरा बल पवित्र जीवन व्यतीत करने एवं उत्तम कर्म करने पर ही देने का संकल्प किया। त्यागियों तपस्वियों एवं तीर्थंकरों (तरणी बनानेवालों) ने नये पन्थों के संस्थापक होने का दावा किया। गौतम बुद्ध एवं वर्धमान महावीर स्वामी सबसे प्रमुख सुधारक थे। बौद्धग्रन्थों में अन्यान्य कतिपय विधर्मी शिक्षकों का भी वर्णन आता है यथा—संशयवादी संजय जिसने आत्मा के समस्त ज्ञान का निराकरण करके केवल शान्ति की प्राप्ति के प्रति जिज्ञासा तक ही अपने को मर्यादित रखा, अजित केशकम्बलिन एक भौतिकवादी था जिसने आन्तरिक ज्ञान का सर्वथा खण्डन करते हुए प्रतिपादन किया कि मनुष्य केवल चार तत्त्वों से मिलाकर बना है जो मृत्यु के साथ ही छिन्न भिन्न हो जाते हैं। उदासीनतावादी पुराण काश्यप ने नैतिक विभिन्नताओं को अमान्य ठहराते हुए आत्मा के अकारण एवं आकस्मिक उद्भव[1] के मत को अंगीकार किया। भाग्यवादी मस्करिन् गोसाल ने प्रतिपादन किया कि जीवन अथवा मृत्यु पर मनुष्य का कोई वश नहीं है एवं सब वस्तुएं जीवित जीव हैं जो निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया के अधीन हैं और इसका कारण उनकी अपनी अन्तर्निहित शक्ति है और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि वे पूर्णता प्राप्त नहीं कर लेते।[2] और ककुद कात्यायन ने प्रतिपादन किया कि सत्ता पृथ्वी जल अग्नि वायु देश और आत्मा

१ अहेतुवाद। सामञ्ञफलसुत्त। दीघ निकाय १।
२ मज्झिम निकाय १ देखें सत्रकृतांग भी।

इन सब तत्त्वो मे अपने-अपने गुणो के कारण भिन्नता है और सुख एव दु ख परिवर्तन के घटक है जिससे व्यक्ति उत्पन्न होते है एव नष्ट होते है।[1] गणनातीत ऐसे शिक्षक देश के भिन्न-भिन्न भागो मे उत्पन्न हुए जिन्होने मोक्ष के रहस्य के उद्‌घाटन करनेवाले सुसमाचार की घोषणा की।

ऐसी अनेक पुनर्निर्माणकारी विचारधाराओ का प्रारम्भ महाकाव्य काल के साथ जोडा जा सकता है जिन्होने आगे चलकर सस्कृति को समृद्ध बनाया। यद्यपि वे इस काल मे भी वर्तमान रही किन्तु उन्हे पूरी शक्ति प्राप्त नही हुई जब तक कि हम उक्त महाकाव्य काल के अन्त तक नही पहुच गए। जीवन के दैवीय नियमन मे रोग और उसका उपचार साथ-साथ ही प्रकट होते है, और जहा कही भी भ्रान्ति की विपाक्त धाराए बहती है वही पर जीवन के ऐसे वृक्ष उत्पन्न हो जाते है जिनके पत्तो से राष्ट्रो के रोगो की चिकित्सा हो जाती है। वैदिक ऋषियो एव उपनिषदो की शिक्षाए सूत्रो मे लाकर सक्षिप्त रूप मे एकत्र कर दी गई। नीरस तार्किक विचारो व उच्चतम भक्तिपरक विचारो का प्रचार प्रारम्भ हुआ। सबसे पहले चार्वाक, बौद्ध एव जैन प्रकट हुए। उसके तुरन्त पश्चात् प्रतिक्रिया के रूप मे उपनिषदो के आस्तिक पक्ष पर बल देने के प्रयत्न किए गए। बौद्धमत एव जैनमत नैतिक पक्ष पर बल देने के कारण मनुष्य की गहनतम धार्मिक मागो एव मनोभावो को पौष्टिक भोजन देने मे असमर्थ रहे। जब उपनिषदो के क्षीणकाय अमूर्त भावो अथवा वेदो की उज्ज्वल देवमाला द्वारा भी जनसाधारण को सन्तोष प्राप्त न हो सका तो जैनियो एव बौद्धो के नैतिक सिद्धान्त-सम्बन्धी अस्पष्ट आदर्शवाद सन्तोष दे ही कैसे सकते थे। तब पुन सगठन का काल आया और एक ऐसे धर्म की उत्पत्ति हुई जो अपेक्षाकृत कम औपचारिक था, कम नीरस था और उपनिषदो के सम्प्रदाय से, उस समय की व्याख्या के अनुसार, अधिक सन्तोषप्रद था। उस धर्म ने जनता के आगे एक जीवित देहधारी ईश्वर को उपस्थित किया, जबकि अब तक एक अनिश्चित, अस्पष्ट एव नीरस परमेश्वर की भावना उनके सामने थी। भगवद्‌गीता जिसमे कृष्ण को विष्णु का अवतार करके दर्शाया गया है, उपनिषदो का नित्य ब्रह्म, पचरात्र पद्धति, तथा श्वेताश्वतर एव अन्यान्य अर्वाचीन उपनिषदो का शैववाद, और बौद्ध-धर्म का महायान सम्प्रदाय, जिसमे बुद्ध का एक नित्य परमेश्वर के स्वरूप मे वर्णन किया गया है—ये सब इसी धार्मिक प्रतिक्रिया के रूप है। इस युग मे कतिपय कल्पनापरायण व्यक्तियो ने दार्शनिक पद्धति पर बल देकर नये प्रकाश को आगे भी बढाया। क्रमबद्ध दर्शन के अकुर भी उगते हुए दिखाई देने लगे। साख्य और योगदर्शन अपने प्राचीन रूप मे एव न्याय और वैशेषिक स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए, यद्यपि इन्होने अपनी जड़ को सुदृढ करने के लिए वेदो की मान्यता की ओर निर्देश किया। दोनो मीमासाग्रन्थो का उद्‌भव अधिक प्रत्यक्ष रूप मे वैदिक ऋचाओ के भाष्यो के आधार पर हुआ। यह बिलकुल निश्चित है कि उन सब दर्शनपद्धतियो का प्रकाश एव प्रचार महाकाव्य काल की समाप्ति के लगभग ही हुआ। उस समय के परस्पर-विरोध इन परस्पर-विरोधी

१. तुलना कीजिए, इसके साथ एम्पिडोक्लीज के दर्शन की, जिसमे चार तत्त्वो और परिवर्तन के दो घटको का वर्णन किया गया है—अर्थात् राग जो जोडता है और द्वेष जो पृथक् करता है।

दर्शन पद्धतियों में भी प्रकट हुए जिनमें से प्रत्येक ने उस युग के भाव के एक विशेष पक्ष का निर्देश किया। इस युग के तीन भिन्न भिन्न विचारों के स्तरों में भेद करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है जोकि कालक्रम से एवं तार्किक दृष्टि से भी एक दूसरे के पश्चात् वर्ती हैं (१) विद्रोही पद्धतियां यथा चार्वाक मत जैनमत और बौद्धमत (६०० ई० पू०) (२) आस्तिकवाद सम्बन्धी पुनर्निर्माण जो भगवद्गीता एवं अर्वाचीन काल की उपनिषदों में पाया जाता है (५०० ई० पू०) और (३) छः दर्शनशास्त्रों का कल्पनापरक विकास (३०० ई० पू०) जिसने ईसा के लगभग २०० वर्ष बाद तक एक निश्चित रूप धारण किया।

२

इस काल के प्रचलित विचार

इससे पूर्व कि हम तीन दार्शनिक पद्धतियों—अर्थात् भौतिकवाद जैनमत एवं बौद्धमत—को लें हम संक्षेप में उन विचारों पर भी दृष्टिपात कर लें जो उस काल में जनसाधारण में फैले हुए थे। पुनर्जन्म एवं जीवन के दुःखमय होने का विचार जिसके साथ अनित्यता का भाव भी जुड़ा हुआ था उस समय प्रचलित था। जीवन दुःखमय है और संसार के पदार्थ हमें प्रलोभनों में फंसाकर केवल दुःख का कारण बनते हैं यह विचार उपनिषदों की देन थी जो दाय के रूप में प्राप्त हुई थी। नचिकेता द्वारा यम से पूछे गए प्रश्नों की ओर ध्यान दीजिए क्या हम युवतियां अश्व या धन सम्पदा एवं राज्य तक को प्राप्त करके भी वस्तुतः सुखी हो सकते हैं जब हम तुम्हें (अर्थात् अवश्यम्भावी मृत्यु को) सामने देखते हैं?[1] फिर फिर जन्म लेने का जो चक्र है वह केवल दुःख को बढ़ाता है। बिना कहीं अन्त के एक जन्म से दूसरे जन्म और एक जीवन से दूसरे जीवन की यह धारणा एक नीरस कल्पना प्रतीत होने लगी जिसके कारण जीवन ही निरर्थक और आह्लाद शून्य हो जाता है। "यह आत्मा एक ऐसी नियति के अन्तिम निर्णय के विचार को तो सहन कर सकती है जिसमें यन्त्रणा का सदा के लिए अन्त हो सके किन्तु एक संसार से दूसरे संसार एक जन्म से दूसरे जन्म और सदा होते रहनेवाले विनाश की भयानक शान्ति के साथ निरन्तर संघर्ष का विचार ऐसा है जोकि वीर से वीर पुरुष के हृदय को भी इस परिणामरहित और कभी अन्त न होनेवाली सांसारिक व्यवस्था को देखकर ठण्डा कर दे सकता है।"[2] इस युग में उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक सम्प्रदाय ने अनित्यता के भाव को अंगीकार किया है। इसे भिन्न भिन्न नामों से पुकारा गया है जैसे जगद्व्यापार संसार व्यवहार प्रपञ्च आदि। कर्म का सिद्धान्त इसका आवश्यक एवं सहज परिणाम है। यह प्रश्न भी अनिवार्य है कि क्या इस चक्र से उन्मुक्त होने का कोई मार्ग है तथा क्या मृत्यु से छुटकारा पाने का भी कोई साधन है। मुनियों के आश्रमों में अथर्ववेद में वर्णित कठोर तपस्याएं की जाती थीं जिससे कि अलौकिक शक्ति प्राप्त की जा सके। तपस्या में

[1] कठ उपनिषद्।
[2] ओल्डनबर्ग 'बुद्ध', पृष्ठ ४५।

जीवन को पवित्र करने की शक्ति विद्यमान है, इस बात मे विश्वास दृढ था। कठोर तपस्या ने उपनिषदो मे वर्णित ध्यान एव चिन्तन की प्रणाली का स्थान ग्रहण कर लिया। परमेश्वर का अलौकिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मा को मौन-धारण का व्रत लेना आवश्यक है। तपस्वियो के समुदाय देश-भर मे बिखरे हुए थे जो अपने-आप कष्ट सहन करने का अभ्यास करते थे। जन्मगत जाति को अधिकाधिक मान्यता दी जा रही थी।

३

भौतिकवाद

भौतिकवाद उतना ही पुराना है जितना कि दर्शनशास्त्र, और बुद्ध के पूर्व भी इस मत का पता मिलता है। ऋग्वेद की ऋचाओ मे भी इसके अकुर पाए जाते है। "अनेक प्रमाण यह दर्शाते हैं कि बौद्धमत से पूर्व के भारत मे भी विशुद्ध भौतिकवाद की घोषणा करने-वाले लोग प्रकट हुए थे। और इसमे सन्देह नही कि उन सिद्धान्तो के अनुयायी गुप्तरूप मे, जैसे आज भी है, बराबर रहे हैं।"[1] बौद्धधर्म के प्राचीन ग्रन्थो मे इस सिद्धान्त के उद्धरण मिलते हैं। "मनुष्य चार तत्त्वो से मिलकर बना है। जब मनुष्य मरता है तो पार्थिव तत्त्व लौटकर पृथ्वी के अन्दर फिर से आ मिलता है। जलीय तत्त्व जल मे वापस मिल जाता है, अग्नितत्त्व वापस आकर अग्नि मे मिल जाता है और वायवीय तत्त्व फिर वायु मे मिल जाता है। इन्द्रिया देश के अन्दर समा जाती है। बुद्धिमान और मूर्ख एक-समान, जब शरीर छिन्न-भिन्न होता है, नष्ट हो जाते है और आगे के लिए उनकी सत्ता नही रहती।"[2] भौतिकवादी बौद्धमत के आविर्भाव से पहले अवश्य रहे होगे, क्योकि प्राचीनतम बौद्धग्रन्थो मे उनका वर्णन है।[3] महाकाव्यो मे भी भौतिकवाद के उल्लेख है।[4] मनु ने नास्तिको (जो परमात्मा के अस्तित्व का खण्डन करे) का उल्लेख किया है और पाखण्डियो (विधर्मियो) का भी।[5] भौतिकवादियो के सिद्धान्त के विषय मे शास्त्रीय प्रमाण बृहस्पति के सूत्र कहे जाते है, जो विलुप्त हो गए है। हमारे मुख्य आधार अन्यान्य सम्प्रदायो के विवादात्मक ग्रन्थ है। 'सर्वदर्शनसग्रह' के पहले अध्याय मे उक्त सम्प्रदाय की शिक्षा का सक्षिप्त सार दिया गया है।

१. गार्वे . 'द फिलासफी आफ ऐन्शियेण्ट इण्डिया', पृष्ठ २५।

२ रीज डेविड्स 'डायलॉग्स आफ बुद्ध', २, पृष्ठ ४६।

३. रीज डेविड्स 'अमेरिकन लेक्चर्स', पृष्ठ २४।

४. देखें, शान्तिपर्व, श्लोक १४१४ और १४३०–१४९२, और शल्यपर्व, ३६१९, और विष्णु-पुराण भी देखें, ३ १८, १४–२६।

५. 'इन्स्टिट्यूट्स आफ मनु', २ ११, ३ : १५०, १६१, ४ · ३०, ६१, १६३, ५ . ८९, ८ : २२, ३०९' ९ . ६५, ६६; १२ : ३३, ९५, ९६।

भी विनष्ट हो जाती है। "वह बुद्धि जो अचेतन अवयवो की परिवर्तित आकृतियो के अन्दर निहित पाई जाती है, ठीक उसी प्रकार से उत्पन्न होती है जिस प्रकार पान की पत्ती, सुपारी, कत्था और चूना के परस्पर सम्मिश्रण से लाल रंग पैदा होता है।"[1] जिस प्रकार कुछ उपकरणो के परस्पर सम्मिश्रण से उनके अन्दर नशा उत्पन्न कर देनेवाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार से चार तत्त्वो के परस्पर सयोग से चेतना उत्पन्न हो जाती है। चार तत्त्वो के उपस्थित रहने पर चेतन जीवन स्वत. उनके अन्दर से प्रकट हो जाता है, ठीक जैसेकि अलादीन के चिराग को रगडने से राक्षस प्रकट हो जाता था। विचार प्रकृति की ही एक प्रक्रिया है। कैबेनीज के प्रसिद्ध कथन के शब्दो का यदि हम प्रयोग करे तो कहेगे कि मस्तिष्क क्षरणक्रिया द्वारा विचार को उसी प्रकार से उत्पन्न करता है जिस प्रकार जिगर से पित्त क्षरित होता है। शरीर से भिन्न किसी पृथक् आत्मा के अस्तित्व को मानने की आवश्यकता नही है। शरीर का बुद्धिगुण से युक्त होना ही पर्याप्त है। "आत्मा ही स्वय शरीर है जोकि ऐसे गुणो से पहचाना जा सकता है जिनका सकेत इस प्रकार के कथनो मे रहता है, जैसे 'मैं बलवान हू', 'मैं युवा हू', 'मै वृद्ध हू', 'मैं एक अधेड हू', आदि-आदि।"[2] आत्मा एव शरीर के पृथक्-पृथक् अस्तित्व की कोई साक्षी हमे उपलब्ध नही है, क्योकि शरीर से भिन्न आत्मा हमे दिखाई नहीं देती। "शरीर से पृथक् अवस्था मे विद्यमान आत्मा को किसने देखा है? क्या जीवन प्रकृति की परम सापेक्षिक व्यवस्था का परिणाम नही है?"[3] चेतना अनिवार्यरूप से शरीर के सम्पर्क से ही पाई जाती है। इसलिए यह शरीर ही सब कुछ है। मनुष्य वह है जो कुछ वह भोजन करता है। सदानन्द ने भौतिकवादियो के चार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो का वर्णन किया है। विवाद का मुख्य विषय जीवात्मा-सम्बन्धी विचार है। एक सम्प्रदाय के अनुसार, जीवात्मा एव मूर्त शरीर मे तादात्म्य है। दूसरा सम्प्रदाय इन्द्रियो को ही आत्मा मानता है और तीसरा प्राण के साथ उसके तादात्म्य का वर्णन करता है और चौथा विचार के इन्द्रिय अर्थात् मस्तिष्क के साथ के तादात्म्य को बताता है।[4] किसी भी मत से क्यो न हो, जीवात्मा एक प्राकृतिक व्यापार है। अपनी इस स्थिति के समर्थन मे भौतिकवादी धर्मग्रन्थ का प्रमाण देते है और हमे उपनिषद् की ओर निर्देश करते हैं, जो कहती है, "इन तत्त्वो से प्रादुर्भूत होने के कारण यह नष्ट हो जाती है। मृत्यु के बाद जब ये तत्त्व नष्ट हो जाते है, बुद्धि भी नही रहती।"[5] इससे यह परिणाम निकलता है कि यह सोचना मूर्खता है कि भविष्यजन्म मे जीवात्मा अपने कर्मो का पुरस्कार पानेवाली है। यह एक भ्रान्तिपूर्ण निर्णय है, जिससे कि अन्य लोक की कल्पना की भी धारणा बनानी होती है। इस लोक के अतिरिक्त और कोई लोक नही—न स्वर्ग है और न नरक ही। ये सब पाखण्डियो के मस्तिष्क की उपज है। धर्म एक मूर्खतापूर्ण मतिभ्रम एव एक प्रकार का मानसिक रोग है। ससार की व्याख्या के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नही। धार्मिक अन्धविश्वासो एव पक्षपातो के कारण मनुष्यो को दूसरे लोक एव ईश्वर को

१ सर्वसिद्धान्तसारसग्रह, २ ७।
२. वही, २ ६।
३ प्रबोधचन्द्रोदय, २।
४ वेदान्तसार।
५ बृहदारण्यक उपनिषद्, २ ४, १२।

सुकृत कर्म प्रपच अथवा भ्राति मात्र है और सुखभोग ही यथार्थ सत् है। यह जीवन इसी जीवन के साथ समाप्त हो जाता है। उत्तम अथवा शुभ चरित्र, उत्कृष्ट, पवित्र एव दयालु प्रत्येक पदार्थ के प्रति अश्रद्धा थी। उक्त भौतिकवाद का आशय केवल इन्द्रिय-भोग एव स्वार्थपरायणता, किंवा उत्कट इच्छा की पूर्ति करना मात्र है। विषय-वासना एव नैसर्गिक प्रवृत्ति को वश मे करने की कोई आवश्यकता नही, क्योकि उन सबको प्रकृति ने मनुष्य को दायभाग के रूप मे दिया है। जहा एक ओर उपनिषदो ने मनुष्य-जाति के लिए निवृत्ति-मार्ग एव कठोर जीवन बिताने का विधान किया और इसके अतिरिक्त विश्व के प्रति परोपकार और प्रेम के भाव का विकास करने का आदेश दिया, वहां भौतिकवादी उद्दाम शक्ति, अहम्मन्यता एव सब प्रकार के प्रामाण्य के प्रति घोर अश्रद्धा का प्रचार करते है। यह उचित नही है कि एक व्यक्ति शासन करे और बाकी सब उसकी आज्ञा का पालन करें क्योकि सब मनुष्य एक ही प्रकार की सामग्री से बने है। नैतिक नियम सब मनुष्यो की अपनी स्वीकृत परम्पराए है। जब हम उपवास एव तपस्या की निषेधात्मक पद्धतियो का अनुसरण करते है उस समय जीवन के अनिवार्य लक्ष्य को भूल जाते है, जो केवल सुखोपभोग है। "ऐसे व्यक्ति जो जिज्ञासा प्रकट करते है कि पशुओ की हत्या करना, इन्द्रियो के भोग मे लिप्त रहना, और दूसरे की वस्तु को हरना न्यायसगत है अथवा नही, उनका यह कार्य जीवन के मुख्य उद्देश्य के अनुकूल नही है।"[1] बौद्धो के इस मत के विषय मे कि प्रत्येक सुख के साथ दु ख लगा हुआ है, भौतिकवादी उत्तर देता है, "वे यह कल्पना कर लेते है कि चूकि प्रत्येक सुख के साथ दु ख लगा हुआ है, इसलिए तुम्हे सुखो का भी त्याग कर देना चाहिए, किन्तु ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य है जो छिलके के सहित धान को इस बात का विचार किए बिना कि इसके अन्दर कितना बढिया अन्न का कण निहित है, केवल उसकी भूसी के कारण उसे फेक देगा।"[2] "और न तुम यही कह सकते हो कि इन्द्रियसुख मनुष्य-जीवन का ध्येय नही है, केवल इसलिए कि उसके साथ कुछ न कुछ दु ख मिला रहता है। बुद्धिमत्ता का कार्य यही है कि जहा तक हो सके, हम सुख का उसके शुद्धरूप मे उपभोग कर लें और उस दु ख को जो सदा उसके साथ जुडा रहता है, एक ओर हटा दे। इसलिए हमारा काम यह नही है कि दु ख के डर से हम उन सुखो से भी मुख मोड ले जिन्हे हमारा स्वभाव सहज प्रवृत्ति के कारण उपादेय मानता है।"[3]

वेदो के प्रामाण्य का निषेध बडे कटु शब्दो मे किया गया था। वैदिक मन्त्र तीन दोषो अर्थात् असत्य, असगति और पुनरुक्ति के दोषो से भरे पडे है।

> "स्वर्ग कही नही है, अन्तिम मोक्ष भी नही है और न ही अन्य लोक मे कोई आत्मा है, और न ही चारो वर्णो के एव आश्रमो आदि के कर्म कोई यथार्थ प्रभाव उत्पन्न करते हैं।
>
> अग्निहोत्र, तीनो वेद, तपस्वी के त्रिदण्ड, और देह मे भस्म रमा लेना इन सबको प्रकृति ने उन व्यक्तियो की आजीविका का साधनरूप बनाया है, जो ज्ञान से शून्य हैं और पुरुस्त्व से भी विहीन है।

उन्नत करने के लिए किए गए कितने भी उदार प्रयत्न सर्वथा निष्प्रभाव सिद्ध होते, यदि शताब्दियों की उदासीनता एव अन्धविश्वास को चार्वाक-सम्प्रदाय सरीखे एक विस्फोटक बल के द्वारा एकसाथ न हिला दिया गया होता। भौतिकवाद ने प्रामाणिकता के सिद्धान्त का निराकरण करके व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता के महत्त्व की घोषणा की। व्यक्ति के लिए ऐसे किसी भी विषय को स्वीकार करना आवश्यक नही जिसका समर्थन तर्क की क्रिया द्वारा प्राप्त न हो सके। यह एक प्रकार से मनुष्य का अपने अन्तस्तर के भाव के प्रति पुनरावर्तन-मात्र था और उस सबका निराकरण था जो केवल बाह्य एव विदेशी है। चार्वाकदर्शन उस युग को भूतकाल के बोझ से, जो उसे बलपूर्वक दबाए हुए था, छुटकारा दिलाने के लिए एक हठधर्मी वाला प्रयत्न था। रूढिवाद को हटाना आवश्यक था, जिसमे भौतिकवाद ने बहुत बडी सहायता की, ताकि दार्शनिक कल्पनाओ के रचनात्मक प्रयत्नो के लिए स्थान बन सके।

परवर्ती काल की भारतीय विचारधारा मे भौतिकवाद के साथ स्वभावत बहुत कठोर एव घृणास्पद व्यवहार किया गया। शास्त्रीय तर्क को प्राय. ही दोहराया जाता है, जिसके अनुसार एक प्रमेय पदार्थ मे से प्रमाता विषयी को निकालना असम्भव है क्योकि बिना प्रमाता की पूर्वसत्ता के प्रमेय पदार्थ नही हो सकता। चेतना प्राकृतिक शक्तियो का परिणाम नही हो सकती। शरीर के अतिरिक्त आत्मा कोई वस्तु नही है, इस मत की समीक्षा इन हेतुओ के आधार पर की जाती है—(१) शरीर के अतिरिक्त चेतना को ग्रहण करने की हमारी अक्षमता से यह उपलक्षित नही होता कि चेतना शरीर का गुण है, क्योकि शरीर चेतना को ग्रहण करने मे केवल सहायक मात्र हो सकता है। प्रकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान बिना प्रकाश के नही हो सकता, किन्तु इससे यह परिणाम नही निकाला जा सकता कि प्रकाश का प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रकाश है अथवा उसका गुण है। (२) यदि चेतना शरीर का गुण होती तो शरीर का ज्ञान एकदम नही हो सकता था, क्योकि चेतना उस पदार्थ का गुण नही हो सकती जिस पदार्थ के विषय मे कोई अन्य व्यक्ति अभिज्ञानवान हो, यद्यपि उसका गुण हो सकती है जो ज्ञानवान है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जाएगा कि प्रमाता को अपने स्थान से च्युत करके प्रमेय पदार्थ या उसके गुण का दर्जा नही दिया जा सकता। (३) यदि चेतना शरीर का गुण होती तो उसके प्रत्यक्ष ज्ञान की क्षमता शरीर के स्वामी के अतिरिक्त दूसरो मे भी रहती, क्योकि हमे मालूम है कि भौतिक वस्तुओ के गुणो का प्रत्यक्ष ज्ञान दूसरो को हो सकता है। किन्तु एक व्यक्ति की चेतना उसका निजी गुण है और इसलिए उसका ज्ञान दूसरो को वैसा नही हो सकता, जैसा अपने को होता है। (४) शरीर स्वय भी एक साधनस्वरूप है। इसका उपलक्षण यह है कि इसे वश मे रखने के लिए किसी अन्य की आवश्यकता है। चेतना उस नियन्त्रणकर्ता मे है। इस प्रकार भौतिकवादी की स्थिति स्वय अपने को खण्डित करती है। यदि मनुष्य केवल प्रकृति का पुतला है तो यह समझ मे नही आ सकता कि वह किसी प्रकार के भी नैतिक आदर्शो का निर्माण कैसे कर सकता है! केवल प्रत्यक्ष ज्ञान ही ज्ञान का साधन है, इस मत की समीक्षा विचारको के अनेक सम्प्रदायो ने की है। हम यहा केवल एक उदाहरण 'साख्यतत्त्व-कौमुदी' से देते है. "जब भौतिकवादी स्थापना करता है कि अनुमान ज्ञान का साधन

नहीं है तो उसे यह ज्ञान किस प्रकार से होता है कि अमुक व्यक्ति अज्ञानी या संशयग्रस्त अथवा भ्रम में पड़ा हुआ है? क्योंकि अज्ञान, संशय और भ्रान्ति का ज्ञान दूसरे मनुष्यों के अन्दर इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा तो हो नहीं सकता। इस प्रकार भौतिकवादी को भी अन्य मनुष्यों के अन्दर अज्ञान भ्रान्ति के ज्ञान का उनके व्यवहार और वाणी द्वारा अनुमान ही करना होता है। और इस प्रकार से इच्छा न रहते हुए भी भौतिकवादी के लिए अनुमान को ज्ञान का साधन स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।' धूर्ततावाद और संशयवाद ज्ञान के प्रत्यक्षवादात्मक सिद्धान्त को निरन्तर स्वीकार किए रहने के परिणाम हैं। इस मत के आधार पर ये सब बड़े-बड़े विचार जो संसार को हिला देते हैं, असत्य ठहर जाएंगे क्योंकि उन्हें किसी भी भौतिक साधन से मापा नहीं जा सकता। इन सब दोषों के रहते हुए भी जो ऊपर से ही स्पष्ट देखे जा सकते हैं इस सम्प्रदाय का प्रचलित विचारों पर पर्याप्त प्रभाव रहा और इसने भूतकाल के आकर्षण को भंग कर दिया। इसने दर्शनशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों के लिए एक ऐसे निर्णय का प्रयोग किया जो आस्तिकवाद की कल्पनाओं एवं प्रामाणिकता के आदेशों से ऊपर उठा हुआ और उनसे स्वतन्त्र था। जब मनुष्य पूर्वकल्पित धारणाओं और धार्मिक अन्धविश्वासों से स्वतन्त्र होकर चिन्तन करने लगते हैं तब वे सरलता से भौतिकवाद में विश्वास करने के लिए झुक जाते हैं यद्यपि गम्भीरतम चिन्तन के पश्चात् वे उससे दूर हट जाते हैं। बिना किसी अन्य की सहायता के तर्क हम कहां तक दार्शनिक कठिनाइयों को हल करने में सफलता कर सकते हैं इसका सबसे पहला उत्तर हमें भौतिकवाद में मिलता है।

उद्धृत ग्रन्थ

सर्वदर्शनसंग्रह : कावेल एवं गफ द्वारा अनूदित, अध्याय १।
सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, शंकर के नाम से प्रसिद्ध, एम. रंगाचार्य द्वारा अनूदित, अध्याय २।
प्रबोधचन्द्रोदय, अंक २।
कोलब्रुक : मिसलेनियस एस्सेज, १, पृष्ठ ४०२ और आगे।
म्योर : जर्नल ऑफ द रायल एशियाटिक सोसायटी, १८६२, खण्ड १९, पृष्ठ २९९ और आगे।

छठा अध्याय

जैनियों का अनेकान्तवादी यथार्थवाद

जैनमत—वर्धमान—जैन साहित्य—अन्य पद्धतियों के साथ सम्बन्ध—ज्ञान का सिद्धान्त—जैन तर्कशास्त्र का महत्त्व—मनोविज्ञान—तत्त्वविद्या—नीतिशास्त्र—ईश्वरवाद के सम्बन्ध में जैनदर्शन का मत—निर्वाण—उपसहार।

१

जैनमत

जिस प्रकार बौद्ध लोग बुद्ध (जागरित) के अनुयायी है, जैनी लोग 'जिन' के अनुयायी कहे जाते है। 'जिन' का तात्पर्य है विजेता। यह उपाधि वर्धमान को दी गई है, जो जैनियो के अन्तिम तीर्थंकर थे। यह ऐसे स्त्री-पुरुषो लिए भी प्रयुक्त हो सकती है जिन्होने अपने निम्नकोटि के स्वभाव पर विजय पा ली होऔर इस प्रकार सर्वोच्च सत्ता का साक्षात्कार लिया हो। 'जैनमत' शब्द सकेत करता है कि जैनदर्शन का स्वरूप मुख्यत नैतिक है।

२

वर्धमान

वर्धमान, जो आयुमे बुद्ध से बडे और उनके समकालीन थे, मगध देश, वर्तमान बिहार प्रान्त, के एक क्षत्रिय सरदार के द्वितीय पुत्र थे। जनश्रुति के अनुसार, उनका जन्म ५९९ ई० पू० मे हुआ और वे ५२७ ई० पू० मे मृत्यु को प्राप्त हुए। "वर्धमान अपने पिता के ही समान काश्यप थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जब तक उनके माता-पिता मृत्यु को प्राप्त नही हो गए तब तक वे अपने पिता के ही साथ रहे, और उनके बडे भाई नन्दिवर्धन उक्त राज्य के उत्तराधिकारी हुए जो उनका था। फिर अट्ठाईस वर्ष की आयु मे अपने शासको की अनुमति लेकर उन्होने धार्मिक जीवन मे प्रवेश किया, जो पाश्चात्य देशो की भाति भारत में भी छोटे लडको के लिए अपनी महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति के लिए एक उत्तम कार्यक्षेत्र प्रस्तुत करता था। बारह वर्ष तक उन्होने तपस्या का जीवन व्यतीत किया। यहा तक कि देश की राधा नामक जगली जातियों मे भी काम किया। पहले वर्ष के पश्चात् ही वे

बिलकुल नग्न रहकर घूमने लगे। आत्मनिग्रह की तयारी के इन बारह वर्षों के बाद ही वर्धमान को 'कैवल्य अवस्था' प्रारम्भ होती है। इसके पश्चात उन्हें सर्वज्ञरूप में माना जाने लगा और वे जैनियों के तीर्थंकर, अर्थात मोक्षमार्ग के संस्थापक माने जाने लगे। उन्हें 'जिन' अर्थात धार्मिक विजेता और महावीर अर्थात महान वीर आदि की उपाधियां प्रदान की गईं जो शाक्यमुनि को भी प्रदान की गई थीं। अपने जीवन के अन्तिम तीस वर्ष उन्होंने अपनी धार्मिक पद्धति के प्रचार में और तपस्वियों की एक संस्था के संघटन में व्यतीत किए। इस संस्था को, जैसाकि हम ऊपर दर्शा आए हैं, अधिकतर उन राजकुमारों का संरक्षण प्राप्त हुआ जिनके साथ उनका रिश्ता मां की ओर से था।[1] वर्धमान अपने-आपको उन पूर्वज एवं क्रमागत तेईस तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के केवल प्रवर्तक अथवा व्याख्याकार के रूप में उपस्थित करते हैं जिनका इतिहास पूर्णाधिक रूप में पौराणिक कल्पना के रूप में ही मिलता है। वे किसी नये मत के संस्थापक नहीं थे अपितु पूर्व से विद्यमान पार्श्वनाथ के मत के सुधारक मात्र थे। कहा जाता है पार्श्वनाथ ईसा से ७७६ वर्ष पूर्व मृत्यु को प्राप्त हुए थे। जैन परम्परा के अनुसार जैनदर्शन का उद्भव ऋषभदेव से हुआ जिन्होंने कई शताब्दी पूर्व जन्म धारण किया था। इस प्रकार की पर्याप्त साक्षी उपलब्ध है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि ईसा से एक शताब्दी पूर्व भी ऐसे लोग थे जो ऋषभदेव की पूजा करते थे जो सबसे पहले तीर्थंकर थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्धमान एवं पार्श्वनाथ से पूर्व भी जैनमत प्रचलित था। यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है—ऋषभदेव, अजितनाथ एवं अरिष्टनेमि। भागवत पुराण इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभ जैनमत के संस्थापक थे। इस सबमें जो कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य का अंश हो, किन्तु जैनी लोगों का विश्वास है कि उनके मत का प्रचार बहुत पूर्व अनेक युगों से महान तीर्थंकरों की परम्परा में किसी न किसी तीर्थंकर द्वारा किया जाता रहा है।

वर्धमान के अनुयायी अधिकतर कुलीन क्षत्रियों में से ही आए थे और उन्होंने उनके अन्दर से ही एक समुदाय का नियमित संघटन किया जिसमें पुरुष एवं महिलाएं दोनों ही वर्ग के साधारण नागरिक तथा आश्रमवासी सदस्य सम्मिलित थे। यह मानने के लिए हमारे पास पर्याप्त कारण है कि वर्धमान के प्रभाव से श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के अनुयायी इस संस्था में सम्मिलित हो गए थे—अर्थात वे जो उनके साथ इस विषय में सहमत थे कि सब प्रकार की सम्पत्ति के पूर्ण परित्याग के अन्दर सब प्रकार के वस्त्रों का परित्याग भी आ जाता है और वे भी जो पार्श्वनाथ द्वारा प्रचलित संस्था के अनुयायी थे जो इस प्रकार के परित्याग की पराकाष्ठा को स्वीकार नहीं करते थे और वस्त्रों को आवश्यक समझते थे। सम्भवतः इसी तथ्य का उल्लेख उत्तराध्ययन[2] में दिए गए दो धार्मिक सम्प्रदायों केशी एवं गौतम के सम्मिलन के वृत्तान्त में आता है। यह प्रश्न कि वस्त्रों का परित्याग किया जाए अथवा वस्त्र धारण

१ जैकोबी : सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, खण्ड २२, भूमिका, पृष्ठ १५। और भी देखें, पृष्ठ २१७ और आगे।

२ लेक्चर २३।

किए जाए, आगे चलकर जैनियो मे एक बडे विभाजन का कारण बना—अर्थात् एक वे हुए जो श्वेत वस्त्र धारण करते हैं और दूसरे वे जो दिगम्बर अर्थात् दिशाओ को ही अपना वस्त्र समझकर नग्न रहते है। यह विभाजन ईसा के पश्चात् ७९ अथवा ८२ वर्ष मे हुआ।

उक्त दोनो सम्प्रदायो मे दार्शनिक सिद्धान्त-सम्बन्धी मतभेद इतना नही है जितना कि नैतिक सिद्धान्त-सम्बन्धी मतभेद है। दिगम्बरपन्थी मानते हैं कि केवली अथवा पूर्ण-ज्ञानी सन्त वे हैं जो बिना भोजन के जीवन-निर्वाह करते हैं; और वह साधु जो कुछ भी सम्पत्ति अपने पास रखता है, जिसमे वस्त्र धारण करना भी आ जाता है, निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त नही कर सकता, तथा कोई स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नही है। ये लोग वर्धमान तीर्थंकर को भी नग्नरूप मे और बिना किसी शृगार के ही प्रस्तुत करते है, जिनकी दृष्टि नीचे की ओर है। उनका विचार है कि वर्धमान आजन्म ब्रह्मचारी थे। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रामाणिक ग्रन्थो को अस्वीकार करते हैं, और उनके अपने प्रामाणिक ग्रन्थ कोई नही हैं।

३

जैन साहित्य

लोगो के मन मे तो पूर्ववत् धार्मिक विश्वास सुरक्षित था, किन्तु धर्मशास्त्रो का ज्ञान धीरे-धीरे क्षीण हो रहा था, जबकि ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी मे धार्मिक नियम बनाने की आवश्यकता तीव्ररूप से अनुभव होने लगी। इसी प्रयोजन को लेकर पाटलिपुत्र मे ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी के लगभग एक परिषद् का आयोजन हुआ, हालाकि धार्मिक नियमो को अन्तिम रूप दिया गया वल्लभी वाली परिषद् मे, जिसमे प्रधान पद का आसन देवर्द्धि ने ग्रहण किया था। यह परिषद् उसके ८०० वर्ष पश्चात् लगभग ४५४ ईस्वी मे हुई थी। ८४ ग्रन्थो को धार्मिक साहित्य मे प्रामाणिक माना गया। उनमे से ४१ तो सूत्र-ग्रन्थ है, कितने ही प्रकीर्णक, अर्थात् वर्गीकरणविहीन ग्रन्थ है, १२ निर्युक्तिग्रन्थ अथवा टीकाए है, एक महाभाष्य अर्थात् वृहद् टीका है। ४१ सूत्रो मे ११ अग, १२ उपाग, ५ छेद, ५ मूल, एव ८ विविध ग्रन्थ, जैसे भद्रबाहु का 'कल्पसूत्र', सम्मिलित है।[1] ये सब अर्धमागधी भाषा मे लिखे गए, किन्तु आगे चलकर सस्कृत जैनधर्म की प्रिय भाषा हो गई। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार, सन् ५७ ईस्वी मे उस पवित्र जनश्रुति को लिपिबद्ध किया गया जबकि उक्त ज्ञान के निष्णात विद्वानो का उपलब्ध होना कठिन हो गया और वर्धमान एव अन्यान्य केवलिनो ने क्या कहा इसके सकलन का साधन केवल जनश्रुति और उनकी अपनी स्मृति ही रह गई। इस प्रकार उन धर्मग्रन्थो का निर्माण, जिनमे ७ तत्त्व, ९ पदार्थ, ६ द्रव्य एव ५ अस्तिकायो[2] का वर्णन है, इन श्रुतियो एव स्मृतियो के आधार पर ही हुआ।[3]

१. जैकोबी द्वारा अनूदित 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट' खण्ड २२।

२. देखिए, जैनी : 'आउटलाइस आफ जैनिज्म', परिशिष्ट ५।

३. श्वेताम्बरों के अत्यधिक आप्त ग्रन्थो मे निम्नलिखित ग्रन्थ दार्शनिक महत्त्व के है (१) उमा-

४

अन्य पद्धतियों के साथ सम्बन्ध

बौद्धमत एवं जैनमत दोनों ही किसी एक प्रभावशाली सृष्टिकारण की सत्ता को मानने से निषेध करते हैं एवं दैवीयसत्ता की उपासना करते हैं ऐसे पुरोहितों की सत्ता को मानते हैं जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हों और किसी भी कारण तथा किसी भी प्रयोजन के लिए जीवहिंसा को पाप समझते हैं। उक्त दोनों मतों के संस्थापक वे थे जिन्होंने अपने को पूर्ण बनाया यद्यपि वे जन्म से ऐसे नहीं रहे। दोनों ही मत वेदों के प्रामाण्य के यदि विरोधी नहीं तो कम से कम उसके प्रति उदासीन अवश्य हैं। बुद्ध एवं वर्धमान के जीवन एवं शिक्षाओं में भी पाई जानेवाली अद्भुत समानताओं के कारण कभी-कभी यह कहा जाता है कि बौद्ध एवं जैन मत दोनों एक ही हैं और यह कि जैनमत बौद्धमत की एक शाखा मात्र है। बार्थ लिखता है "वर्धमान का—जिन्हें अधिकतर उपयोग में आनेवाले महावीर अथवा वर्तमान युग के जिन नाम से पुकारना अधिक उचित होगा—दिव्य चरित्र हमारे आगे गौतम बुद्ध के साथ सम्बन्ध के इतने अधिक और इतने विशिष्ट अंश प्रस्तुत करता है कि हम विवश होकर अपनी सहज प्रेरणा से इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि वही एक व्यक्ति दोनों चरित्रों का नायक है। दोनों ही का जन्म राजकुल में हुआ बड़ी सामान्य नाम उन दोनों के बन्धुओं एवं शिष्यों के पाए जाते हैं। उन दोनों का जन्म और मृत्यु एक ही देश में और एक ही युग में हुए। अधिकृत ऐतिहासिक सूचनाओं के अनुसार जिन का निर्वाण ईसा से पूर्व ५२६वें वर्ष में और बुद्ध का ५४३वें वर्ष में हुआ और यदि

स्वाति का तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (ईसा के पश्चात् तीसरी शताब्दी में लिखित)। इसमें दस अध्याय हैं और कई लेखकों ने इसपर टीकाएं की हैं। यह एक बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ है (२) सिद्धसेन दिवाकर का न्यायावतार (ईसा के पश्चात् ५वीं शताब्दी में लिखित) (३) हरिभद्र का 'षड्दर्शनसमुच्चय' (९वीं शताब्दी में लिखित) (४) मेरुतुंग (१४वीं शताब्दी) का 'षड्दर्शनविचार' नामक ग्रन्थ भी इसी काल का ग्रन्थ है यद्यपि इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। दिगम्बरों के मुख्य धार्मिक ग्रन्थों में निम्न लिखितों का नाम लिया जा सकता है (१) कुन्दकुन्दाचार्य का पञ्चास्तिकायसार (१० वर्ष ईसापूर्व ?)। कहा जाता है कि कुन्दकुन्दाचार्य वास्तव में एलाचार्य हैं और 'तिरुक्कुरल' का रचयिता है जबकि तिरुवल्लुवर केवल उक्त ग्रन्थ का प्रकाशक था, (२) विद्यानन्द का 'जैनश्लोकवार्तिक' (८वीं शताब्दी) (३) गुणभद्र का आत्मानुशासन (९वीं शताब्दी) (४) अमिचन्द्र का 'तत्त्वार्थसार' (५) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (९वीं शताब्दी) (६) नेमिचन्द्र का 'द्रव्यसंग्रह' (११वीं शताब्दी) जिसमें द्रव्यों का वर्णन है (७) गोम्मटसार जिसमें ५ भावों पर संवाद है यथा, ('बन्धमान', जो बन्धन में आता है बन्धस्वामी वह जो बांधता है बन्धहेतु' अर्थात् बन्धन का कारण और 'बन्धभेद' अर्थात् बन्धन तोड़ने के उपाय (८) लब्धिसार जो लब्धि अर्थात् प्रवृत्ति के विषय का प्रतिपादन करता है (९) क्षपणासार जिसमें उन उपायों एवं साधनों के विषय में संवाद है जिनके द्वारा कषायों या वासनाओं को दूर किया जा सकता है (१०) त्रिलोकसार' जिसमें तीन लोकों अथवा विश्व के तीन विभागों का वर्णन है और (११) सकलकीर्ति का 'तत्त्वार्थसारदीपिका' (सन् १४६४)। मल्लिषेण का स्याद्वादमञ्जरी (१३वीं शताब्दी) और देवसूरि का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' (१२वीं शताब्दी)। ये अन्य ग्रन्थ भी पर्याप्त महत्त्व के हैं। इनमें से कई ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद 'सेक्रेड बुक्स आफ द जैन्ज' नामक पुस्तकमाला में हो गया है।

उपर्युक्त सामग्री के अन्तर्गत अनिश्चितता की मात्रा का विचार करके कहे तो कह सकते है कि दोनो का काल बिलकुल एक ही है। इसी प्रकार के अन्य आकस्मिक सघटन भी दोनो की अन्य सब परम्पराओ मे पाए जाते है। बौद्धो के समान जैनियो का भी दावा है कि उन्हे मौर्यवशीय राजाओ का आश्रय प्राप्त था। बिहार प्रान्त का वही जिला जो एक के लिए पवित्र भूमि है, प्राय: दूसरे के लिए भी पवित्र है, और दोनो के तीर्थस्थान भी बिहार प्रदेश, गुजरात, राजस्थान मे आबू पर्वत, एव अन्य स्थानो मे भी सर्वत्र साथ-साथ मिले हुए है। यदि हम इन सिद्धान्तो की अनुकूलता, सघटन, धार्मिक रीति-रिवाजो एवं परम्पराओ आदि की सूक्ष्मरूप से परस्पर तुलना करें तो अनिवार्यरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो मे से कोई एक मत दूसरे का सम्प्रदायरूप है, और किसी अश मे दूसरे की नकल मात्र है। इसके अतिरिक्त जब हम कई ऐसे उपाख्यानो पर विचार करते है जो बौद्ध एव ब्राह्मण धर्म की परम्पराओ मे एक समान पाए जाते हैं और जिस प्रकार के सम्बन्धो का महावीर के उपाख्यानो मे अभाव है, और जब हम विचार करते है कि बौद्ध-मत को अपने पक्ष मे अशोक की राज्य-विज्ञप्तिया प्राप्त थी, और यह कि उसी समय से अर्थात् हमारे युग से तीसरी शताब्दी पूर्व बौद्धधर्म के पास एक ऐसा समृद्ध साहित्य उपस्थित था जिसकी कुछेक उपाधिया हमारे समय तक भी आई है, जबकि दूसरी ओर जैनधर्म के विषय मे असदिग्ध साक्षिया भी ईसा की मृत्यु के पश्चात् पाचवी शताब्दी से पूर्व हमे नही ले जाती ; और विशेषकर जब हम आगे इस विषय पर चिन्तन करते है कि बौद्धो की मुख्य पवित्र भाषा पाली भी इतनी ही प्राचीन है जितने प्राचीन कि सम्राट् अशोक के ये आज्ञापत्र है, और दूसरी ओर जैनियो की पवित्र भाषा अर्द्धमागधी एक प्राकृत बोली है जो स्पष्ट ही अधिक अर्वाचीन है, और इन सबके साथ जब हम उन नतीजो को जोडते है—जो हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे अनिश्चित अवश्य है—जो जैनमत की आन्तरिक विशेषताओ मे पाए जाते है, जैसेकि इसकी अधिक परिपक्व क्रमबद्धता बन्धन-रहित विस्तार को बढाने की प्रवृत्ति और अपनी प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए किया गया अत्यन्त अधिक घोर परिश्रम,—तो हम बिना किसी सकोच के य स्वीकार कर सकते है कि उक्त दोनो मतो मे से बौद्धधर्म का दावा मौलिकता के विषय मे सबसे अधिक युक्तियुक्त है।"[1] यद्यपि कोलब्रुक का इसके विरोध मे यह कहना है कि जैनमत दोनो मे अधिक प्राचीन है क्योकि वह अध्यात्मवाद मे विश्वास करते हु मानता है कि हरएक पदार्थ मे जीव है।[2] दोनो मत भारतीय परम्परा के विरुद्ध जाते है जिसके अनुसार बौद्ध एव जैन मत दोनो ही परस्पर एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है हिन्दू शास्त्रकारो को इस विषय मे कभी भी भ्रान्ति नही हुई और उनके साक्ष्य का समर्थन ग्यूरीनोट, जेकोबी एव बुल्हर आदि अन्य कतिपय विद्वानो ने भी किया है। अब य निश्चितरूप से स्थापित किया जा चुका है कि वर्धमान स्वय एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे जो गौतम बुद्ध से सर्वथा भिन्न थे और जैनदर्शन भी बौद्धदर्शन से एक सर्वथा स्वतन्त्र पद्धति है। ग्यूरीनोट ने वर्धमान एवं गौतम बुद्ध की पाच महत्त्वपूर्ण, भेदसूचक घटनाओं

१ बार्थ - 'द रिलिजन्स आफ इण्डिया', पृष्ठ १४८–१५०।

२ कोलब्रुक 'मिसलेनियस एसेज', २, पृष्ठ २७६।

की ओर—अर्थात उनके जन्म, उनकी माताओं की मृत्यु के सम्बन्ध में उनके गृहत्याग के विषय में और ज्ञानप्राप्ति एवं मृत्यु के सम्बन्ध में—निर्देश किया है। वर्धमान का जन्म वैशाली में ५९९ वर्ष ईसापूर्व के लगभग हुआ, जबकि गौतमबुद्ध का जन्म कपिलवस्तु में लगभग ५६७ वर्ष ईसापूर्व हुआ। वर्धमान के माता पिता अपनी वृद्धावस्थापर्यन्त जीवित रहे जबकि दूसरी ओर गौतम बुद्ध की माता पुत्रजन्म के कुछ समय बाद ही स्वर्ग सिधार गई। वर्धमान ने अपने सगे सम्बन्धियों की अनुमति लेकर तपस्या का जीवन स्वीकार किया जबकि इसके विपरीत गौतम बुद्ध अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध साधु बने थे। वर्धमान को तपस्या में बारह वर्ष लगे जबकि गौतमबुद्ध ने छः वर्ष में ही ज्ञान प्राप्त कर लिया। वर्धमान की मृत्यु पावापुरी, बिहार में ५२७ वर्ष ईसापूर्व हुई। जबकि गौतम बुद्ध की मृत्यु कुशीनगर उत्तरप्रदेश में लगभग ४८८ वर्ष ईसापूर्व हुई। जकोबी ने बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैनधर्म की प्राचीनता एवं बौद्धधर्म से सर्वथा पृथक्त्व को कितने ही स्पष्ट एवं भिन्न भिन्न प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है जिनका हम यहां संक्षेप में पाठकों की रुचि के लिए उनके विद्वत्तापूर्ण सवालों का उल्लेख करते हुए निर्देश करेंगे।[1] बौद्ध ग्रन्थों के निग्गण्ठ लोग (जिन्हें किसी प्रकार का बन्धन नहीं है) वर्धमान के अनुयायी हैं और यदि इन्हें उससे अधिक प्राचीन न भी मानें तो निग्गण्ठ कम से कम ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी में वर्तमान रहना चाहिए। पाली बौद्ध साहित्य का नातपुत्त वर्धमान है। बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थों में दिए गए निग्गण्ठों के सिद्धान्त के उल्लेख से निग्गण्ठों एवं जैनियों की एकात्मता का समर्थन होता है। निग्गण्ठ नातपुत्त सब वस्तुओं का ज्ञाता एवं द्रष्टा है पूर्णज्ञान एवं श्रद्धा का दावा रखता है तपस्याओं द्वारा पुराने कर्मों का समूल नाश एवं निवृत्तिमार्ग के आश्रय द्वारा नए कर्मों के निरोध की शिक्षा देता है। जब कर्म का अन्त हो जाता है तो दुःख का भी अन्त हो जाता है।[2] अशोक के शिलालेखों में जैन सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है।[3] स्वयं बौद्धग्रन्थों में जैनियों को बौद्धमत के प्रतिद्वन्द्वी रूप में उल्लेख किया गया है। उक्त आन्तरिक साक्ष्य दोनों मतों के पार्थक्य का समर्थन करता है। आत्मा एवं ज्ञान सम्बन्धी जैनदर्शन का सिद्धान्त जैनधर्म का एक इतना अधिक विशिष्ट सिद्धान्त है और बौद्धदर्शन के तत्त्विषयक सिद्धान्तों से इतना भिन्न है कि उसे उधार लिया हुआ किसी भी हालत में कह ही नहीं सकते। उक्त दोनों दर्शनों में प्रतीयमान कर्म एवं पुनर्जन्म विषयक समानताओं के आधार पर कुछ सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि उक्त दोनों सिद्धान्त समस्त भारतीय दर्शनों में समानरूप से पाए जाते हैं। उक्त सब हेतुओं से हम जैनधर्म को बौद्धधर्म से प्राचीन समझते हैं।' एम० पौसिन

१ देखिए भूमिका खण्ड २२ और ४५, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट।

२ सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट खण्ड २ पृष्ठ १५ और आगे। मज्झिमनिकाय के महानामसुत्त पर बुद्धघोष की टीका में शीतजल में जीवन सम्बन्धी विचार का उल्लेख है एवं जैनों द्वारा आजीविक के इस सिद्धान्त के कि आत्मा में रंग या वर्ण हैं खण्डन का भी उल्लेख है। सामञ्ञफलसुत्त में भगवान पार्श्वनाथ के चार व्रतों का वर्णन करता है। मज्झिमनिकाय (५६) एवं महावग्ग (६ ३१) में हमें बुद्ध द्वारा वर्धमान के कुछ शिष्यों के मतपरिवर्तन का वृत्तान्त मिलता है।

३ देखिए विंसेंट स्मिथ अशोक पृष्ठ १९२–१९३।

की सम्मति है कि जनधर्म "एक शक्तिशालो परिव्राजको की सस्था थी जिसका प्रादुर्भाव अथवा पुनर्गठन शाक्यमुनि के कुछ वर्ष पूर्व हुआ।"[1]

कोलब्रुक के अनुसार, जैनमत एव साख्यदर्शन मे बहुत-से अश परस्पर मिलते-जुलते है। ये दोनो ही प्रकृति को अनादि एव अनत मानते है, एव ससार की निरन्तरता मे विश्वास करते है। एक का द्वैतवाद दूसरे के द्वैतवाद से भिन्न नही है। भेद केवल इतना ही है कि जहा साख्य भौतिक जगत् एव प्राणियो का विकास पुरुष एव प्रकृति के तत्त्वो से सम्पन्न हुआ मानते है, जैनमतावलम्बी इनके विकास का कारण आद्य प्रकृति को मानते है।[2] समानता केवल प्रतीयमान है। आत्मा की क्रियाशीलता के विषय मे जैनियो के विचार और न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त मे अधिक समानता है अपेक्षा साख्य-सिद्धान्त के, जिसके अनुसार आत्मा केवल साक्षीमात्र है किन्तु स्वय कर्ता नही है। न ही उनमे कुछ अधिक अनुकूलता है यहा तक कि कारण-कार्यभाव जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त मे भी उक्त दोनो का मतैक्य नही है।

जैनमत का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी प्राय यह दर्शाने का प्रयत्न करते है कि उक्त मत एक प्रकार से उस समालोचनापटु, चतुर किन्तु न्यायप्रिय क्षत्रिय अर्थात् वर्धमान, महावीर का उस चतुर एव सिद्धान्तशून्य ब्राह्मण के विरुद्ध विद्रोह था जो अन्य सबको चतुर्थाश्रम मे सन्यस्त होने के अधिकार से वचित रखता था और यज्ञ करने के अधिकार पर भी एकमात्र ब्राह्मण-जाति का ही दावा रखता था। इस प्रकार की कल्पना उचित नही है। ब्राह्मणो ने सन्यास आश्रम के लिए इस प्रकार का कोई दावा कभी नही किया, क्योकि द्विजमात्र को (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को) सब आश्रमो मे से गुज़रने का समानरूप से अधिकार था। इस विद्रोह का कारण यदि ब्राह्मणो का पृथग्भाव होता तो इसका नेतृत्व क्षत्रिय नही अपितु अन्य जाति के लोग करते क्योकि इस मामले मे क्षत्रिय भी ब्राह्मण के ही समान अच्छा या बुरा समझा जाता था। हमारे पास यह मानने का कोई कारण नही है कि जनसाधारण के दु खो के कारण ही जैनमत का उदय हुआ। महाकाव्यकाल के प्रारम्भ मे जो विचार के क्षेत्र मे एक सामान्य हलचल पैदा हुई यह उसी हलचल की अभिव्यक्ति के रूप मे उत्पन्न हुआ अतएव जैनमत के प्रादुर्भाव का कारण हमे ब्राह्मण-विरोधी पक्षपात के रूप मे गढने की कोई आवश्यकता नही है। जब जीवन के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न मत एव सिद्धान्त, जो भिन्न-भिन्न वर्गो के लोग रखते हो, एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं, उस समय विचारो का परस्पर आदान-प्रदान होना अनिवार्य हो जाता है जो अनुभव एव विश्वास के असाधारण विकास को जन्म देता है, और जैनमत इसी प्रकार की मानसिक बेचैनी का आविर्भाव है।

उपनिषदो के असन्तुलित रूप मे प्रतिपादित पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने यह विचार जनसाधारण को दिया कि इस जगत् की सब वस्तुओं मे आत्माए है। स्वभावत. जैनधर्मावलम्बी का विश्वास था कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ—यथा अग्नि, वायु और पौधे मे भी जीवात्मा है। इस प्रकार के मत के आगे पहले के लोगो की यज्ञ के प्रति साधारण रुचि

१. 'ऽ पे ट निर्वाण', पृष्ठ ६७।
२. 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र', (टीका), ३ : ६।

नहीं ठहर सकती थी। इस प्रकार विद्रोह के लिए समय अनुकूल था। जब इस विश्वास को कि सब वस्तुएं—पशु एवं कीट पतंग, पौधे और पत्ते—जीवात्मा से युक्त हैं पुनर्जन्म के सिद्धान्त के साथ जोड़ दिया गया तब तो जीव हिंसा किसी भी रूप में स्वतः भयावह प्रतीत होने लगी। वर्धमान ने इस विषय पर बल दिया कि हम किसी भी जीव को चाहे खेल में चाहे मनोरंजन के लिए अथवा यज्ञ में कभी हानि नहीं पहुंचानी चाहिए। इस विरोध की स्थिति को और अधिक सुदृढ़ करने के लिए जैनियों ने ईश्वर की सत्ता का भी निराकरण किया क्योंकि ईश्वर के तुष्टीकरण के लिए ही यज्ञ किए जाते थे। जीवन में जो दुःख हैं उनके लिए ईश्वर को जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। जीवन के दुःखों से निवृत्ति का उपाय ढूंढने के लिए जैनमत ने आन्तर एवं बाह्य तपस्या या कठोर जीवन का विधान किया। जब हम पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं हम शून्यरूप निर्वाण में न पहुंचकर एक ऐसी सत्ता में पहुंचते हैं जो गुणों एवं सम्बन्धों से रहित है और उस अवस्था में पुनर्जन्म की कोई सम्भावना नहीं रहती।

जैनदर्शन को अवैदिक कहा जाता है क्योंकि यह वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करता। इसलिए यह अपनी दर्शन पद्धति को भी जिन की दैवीय प्रेरणा का रूप नहीं दे सकता। इसका दावा केवल इतना ही है कि यह दर्शन चूंकि यथार्थता के अनुकूल है इसलिए इसे स्वीकार करना चाहिए। कहा जाता है कि इसकी विश्व रचना सम्बन्धी योजना तर्क एवं अनुभव के ऊपर आश्रित है। अपने अध्यात्मशास्त्र में जैनी लोग वस्तुतः यथार्थता का स्वीकार करते हैं यद्यपि वे उसको उपनिषदों की पद्धति से क्रमबद्ध नहीं रखते। प्रकृति का विश्लेषण करके उसे आणविक रचना बतलाया गया है। पुरुषों का निष्क्रिय साक्षीरूप छुड़वाकर उन्हें सक्रिय प्रतिपादन किया गया है। जैनदर्शन की मुख्य मुख्य विशेषताएं हैं—इसका प्राणिमात्र का यथार्थरूप में वर्गीकरण, इसका ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त जिसके साथ संयुक्त हैं इसके प्रख्यात सिद्धान्त स्याद्वाद एवं सप्तभंगी अर्थात् निरूपण की सात प्रकार की विधियां और इसका संयमप्रधान नीतिशास्त्र अथवा आचारशास्त्र। इस दर्शन में अन्यान्य भारतीय विचार पद्धतियों की भांति क्रियात्मक नीतिशास्त्र का दार्शनिक कल्पना के साथ गठबन्धन किया गया है। यथार्थवादी अध्यात्मविद्या एवं साधनाशील शीलाचार या नीतिविद्या तो वर्धमान को अपने पूर्वपुरुषों से भी प्राप्त हो सकती थी किन्तु उसका ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त उसका अपना है और दर्शनशास्त्र के इतिहास के विद्यार्थी के लिए अपना एक विशेषत्व रखता है।

५

ज्ञान का सिद्धान्त

जैन दार्शनिक ज्ञान के पांच प्रकारों को स्वीकार करते हैं : मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय एवं केवल।[1] (१) मतिज्ञान साधारण ज्ञान है जो इन्द्रिय के प्रत्यक्ष सम्बन्ध द्वारा प्राप्त होता है। इसीके अन्तर्गत आते हैं स्मृति, संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञा अथवा पहचान और

१. उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र १ : ६, और सद्दर्शनसंग्रह, ५।

तर्क, अथवा प्रत्यक्ष के आधार पर किया गया आगमन अनुमान, अभिनिबोध या अनुमान, अथवा निगमन विधि का अनुमान।[1] मतिज्ञान के कभी-कभी तीन भेद किए जाते है अर्थात् उपलब्धि अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान, भावना अथवा स्मृति, और उपयोग अथवा अर्थग्रहण।[2] इन्द्रियो, एव मन (जिसे इन्द्रियो से भिन्न होने के कारण अनिन्द्रय भी कहते है) के सयोग के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे मतिज्ञान कहते है। मतिज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व हमे सदा दर्शन होता है। (२) श्रुतिज्ञान अथवा शब्द या आप्त प्रमाण वह ज्ञान है जो लक्षणो, प्रतीको अथवा शब्दो द्वारा हमे प्राप्त होता है। जबकि मतिज्ञान हमे परिचय द्वारा मिलता है, यह ज्ञान केवल वर्णन द्वारा प्राप्त होता है। श्रुतिज्ञान भी चार प्रकार का है—लब्धि अथवा स सर्ग या साहचर्य, भावना अथवा ध्यान देना, उपयोग अथवा अर्थ-ग्रहण, और नय अथवा वस्तुओ के तात्पर्य के नाना पक्ष।[3] नय को यहा इसलिए दर्शाया गया है चूकि धार्मिक ग्रन्थो की भिन्न-भिन्न व्याख्याए विवाद के लिए उपस्थित की जाती है। (३) देश और काल की दूरी रहते हुए भी वस्तुओ का जो सीधा या प्रत्यक्ष ज्ञान है उसे अवधि कहते है। यह ज्ञान असाधारण दृष्टि द्वारा अतीन्द्रिय विपयो का ज्ञान है। (४) मनःपर्याय, अन्य व्यक्तियो के वर्धमान एव भूत विचारो का साक्षात् ज्ञान; जैसे टेली-पैथी द्वारा दूसरो के मन मे प्रवेश किया जाता है। (५) केवल अथवा पूर्णज्ञान, सब पदार्थों एव उनके परिवर्तनो का पूर्णज्ञान प्राप्त कर लेना।[4] यह देश, काल एव विषय की सीमा से रहित सर्वज्ञता है। पूर्णचेतना के लिए सम्पूर्ण यथार्थता प्रत्यक्षरूप मे प्रकट है। यह ज्ञान जो इन्द्रियो के ऊपर निर्भर नही है और जो केवल अनुभवगम्य ही है एव वाणी द्वारा जिसका वर्णन नही किया जा सकता, केवल ऐसे पवित्रात्माओ के लिए ही सम्भव है जो बन्धनो से मुक्त हो चुके है।

पहले तीन प्रकार के ज्ञानो मे भ्रान्ति की सम्भावना है, किन्तु पिछले दोनो मे कोई दोप नही हो सकता।[5] ज्ञान की यथार्थता के लिए उसमे कार्यक्षमता का होना, एवं हमे इस योग्य बनाने की क्षमता का होना कि हम भलाई को ग्रहण करके बुराई का त्याग कर सकें, आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान हमे प्रमेय पदार्थों का तदनुरूप साक्षात् कराता है और इसीलिए वह क्रियात्मक रूप से उपयोगी है। विपरीत ज्ञान हमारे सामने वस्तुओ को ऐसे सम्बन्धो मे प्रस्तुत करता है जिसमे वे अवस्थित नही है। जब हम एक रस्सी को साप समझ बैठते है तब हमारी भूल इसमे है कि हम साप को वहां देखते है जहा वह नही है। विपरीत ज्ञान सदा विरोध के अधीन होता है जबकि यथार्थ ज्ञान को विरोध का कभी भय नही होता। भ्रात ज्ञान की विशेपता इसमे है कि उसमे सशय रहता है, जो मति एव श्रुति दोनो पर असर रखता है, विपर्यय अथवा भूल रहती है, अथवा सत्य का

१ 'पञ्चास्तिकायसमयसार', ४१; जैनमत के तर्कक्रम को जानने के लिए न्याय के ऊपर जो अध्याय है उसे द्वितीय खण्ड में देखिए।

२. वही, ४२।

३. वही, ४३।

४ उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र, १ २९।

५ वही, १ · ३१, पृष्ठ ४२।

विरोधी जो अवधि में पाया जा सकता है एवं अनध्यवसाय अथवा अप्रत्यय ज्ञान जिसका कारण असावधानी एवं उदासीनता हो सकती है। आठ प्रकार के ज्ञान हैं जिनमें पांच सही एवं तीन गलत हैं। एक समय में केवल एक ही ज्ञान सक्रिय रहता है।[1]

उस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं जो साक्षात् रूप में होता है और वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाता है जो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान के माध्यम द्वारा प्राप्त हो। पांच प्रकार के ज्ञानों में मति और श्रुति परोक्ष हैं और शेष प्रत्यक्ष हैं।[2] मति अथवा साधारण ऐन्द्रिय बोध जो हमें इन्द्रियों एवं मन के द्वारा प्राप्त होता है परोक्ष है क्योंकि यह इन्द्रियों पर निर्भर करता है।[3] कुछ व्यक्ति ऐन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात् मानते हैं।[4] ज्ञान चार प्रकार का है—दृष्टिगत संवेदनाओं द्वारा होनेवाला, दृष्टिभिन्न संवेदनाओं द्वारा होनेवाला एवं वह जो अवधि की क्षमता के द्वारा अथवा असामान्य दृष्टि या अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शन की शक्ति द्वारा होता है और अन्तिम प्रकार का वह जो केवल अथवा अनन्त बोध है जो सीमाओं से रहित है और सम्पूर्ण यथार्थसत्ता को ग्रहण करता है।

चैतन्य जीव का सारतत्त्व है और चैतन्य की अभिव्यक्ति दो प्रकार की है अर्थात् दर्शन और ज्ञान।[5] दर्शन में सूक्ष्म विवरण नहीं रहता किन्तु ज्ञान में वह उपस्थित रहता है। दर्शन एक साधारण बोध है किन्तु ज्ञान धारणात्मक बोध है। 'वस्तुओं के सामान्य गुणों का वह बोध जिसमें विशेष गुणों का अभाव रहता है और सूक्ष्म विवरण का ग्रहण नहीं होता दर्शन कहलाता है।'[6] इसकी कई अवस्थाएं हैं यथा (१) व्यञ्जनावग्रह

१ उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र १ ३० ।

२ वही १ ११ और १ ।

३ वही, १ १४ ।

४ पञ्चास्तिकायसमयसार, ४८ सिद्धसेन दिवाकर एवं न्यायावतार ४ को भी देखिए। कहीं कहीं प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का कहा है—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक में अवधि मनःपर्यय और केवल और सांव्यवहारिक में दोनों, अर्थात् वह जो इन्द्रियों के द्वारा (इन्द्रिय निबन्धन) होता है एवं वह जो इन्द्रियों द्वारा नहीं होता (अनिन्द्रिय निबन्धन)। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष वह है जो हमें प्रतिदिन के जीवन में होता है और जो कि ऊपर प्रत्यक्षबोध और स्मृति निर्भर करते हैं। 'प्रमाणमीमांसावृत्ति' ने इसकी परिभाषा करते हुए इसे बोध को इच्छा की पूर्ति करनेवाला कर्म बताया है। समीचीन प्रवृत्ति निवृत्तिरूपो व्यवहार सव्यवहार। केवलिन के ज्ञान में प्रत्यक्ष सच्चा अथवा सम्पूर्ण होता है और अन्य अवस्थाओं में विकृत अर्थात् त्रुटियुक्त होता है। परोक्ष भी पांच प्रकारों में विभक्त किया गया है (१) स्मृति अथवा स्मृतिजन्य अथवा उसकी स्मृति जिसे हमने पहले देखा व अनुभव किया है जैसा इसी मनुष्य के विषय में स्मरण करना जिसे हमने पहले देखा था (२) प्रत्यभिज्ञा अर्थात् वह ज्ञान जो वस्तुओं के परस्पर सादृश्य से उत्पन्न होता है जैसे हम एक नये पदार्थ को जिसके विषय में पहले सुना था पहचान लेते हैं (३) तर्क अथवा व्याप्तियों के आधार पर दलील करना (४) अनुमान अर्थात् एक मध्य पद के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना और (५) आगम अथवा किसी प्राचीन पुरुष के वचन का प्रमाण। प्रमाणनयतत्त्वालङ्कार में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान में परस्पर भेद केवल स्पष्टता के अंश से ही है, देखिए २ और ३। इसका कारण यह है कि जैनियों के मत में बाह्य इन्द्रियों का योग केवल अप्रत्यक्ष रूप में ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होती है।

५ सर्वदर्शनसंग्रह ४ । ६ वही, ४३ ।

जिसमें चेतनावर्धक पदार्थ का प्रभाव इन्द्रियो के परिधिस्थ उपान्तो के ऊपर होता है और उसके द्वारा विपयी विषय के साथ विशेप सम्पर्क में आता है; (२) अर्थावग्रह, जिसमे चेतना को उत्तेजना मिलती है और एक सवेदना का अनुभव होता है और जिसमे व्यक्ति को विपय या प्रमेय पदार्थ का ज्ञानमात्र होता है; (३) ईहा, जिसमे मन प्रमेय विपय का विवरण जानने की इच्छा करता है एव इसके अन्य वस्तुओं के साथ सादृश्य और विभेद को जानने की अभिलापा करता है, (४) अवाय, जिसमे वर्तमान और भूत काल की पुनः पुष्टि होती है और प्रमेय विपय की पहचान कि अमुक है अमुक स्वरूप नही है आदि; और (५) धारणा, जिसमे हमे यह प्रतीति होती है कि सवेदनाए पदार्थो के गुणो का प्रकाश करती है। इसका परिणाम[1] एक प्रकार का अनुभव होता है जिसके कारण ही हम आगे चलकर पदार्थ का स्मरण करने मे समर्थ होते है। यह विश्लेपण प्रत्यक्ष ज्ञान के माध्यमजन्य स्वरूप को अभिव्यक्त करता है और हमे यह भी वतलाता है कि पदार्थ मनोतीत यथार्थता रखता है। जैन लोग वलपूर्वक कहते है कि चैतन्य से परे एव उसके अतिरिक्त भी प्रमेय पदार्थ की यथार्थसत्ता है जिसका हमे इन्द्रियो द्वारा वोध होता है एव वुद्धि द्वारा ग्रहण होता है। पदार्थो के गुण एव सम्बन्ध अनुभव मे प्रत्यक्षरूप मे प्राप्त होते है और केवल विचार एव कल्पना की ही उपज नही है। जानने की प्रक्रिया से प्रमेय पदार्थ मे कोई परिवर्तन नही होता। ज्ञान और उसके विपय मे जो परस्पर सम्बन्ध है वह भौतिक पदार्थों के सम्वन्ध मे केवल वाह्य है, यद्यपि आत्मचेतना के विपय मे यह सर्वथा भिन्न प्रकार का है। जीव की चेतना सदा सक्रिय रहती है और यह क्रियाशीलता अपने स्वरूप का एवं पदार्थ के स्वरूप का भी प्रकाश करती है। ज्ञेय अथवा ज्ञान के योग्य पदार्थो मे आत्मा एव अनात्म अर्थात् चेतन और जड दोनो ही सम्मिलित है। जिस प्रकार प्रकाश अपने को भी प्रकट करता है और अन्यान्य पदार्थो को भी प्रकट करता है इसी प्रकार ज्ञान अपनी एव अन्य सब पदार्थो की अभिव्यक्ति करता है। न्याय-वैशेपिक का सिद्धान्त कि ज्ञान केवल वाह्य सम्बन्धो का ही प्रकाश करता है किन्तु अपना प्रकाश नही करता, जैनियो को अभीष्ट नही है। किसी भी पदार्थ को जानने के साथ-साथ ही जीवात्मा अपने को भी तत्काल जानता है। यदि यह अपनी सत्ता से अनभिज्ञ रहता तो अन्य कोई उसे यह ज्ञान न दे सकता। प्रत्येक इन्द्रियवोध एव ज्ञान के कार्य मे इस प्रकार का कथन उपलक्षित रहता है कि "मैं इसे अमुक-अमुक प्रकार से जानता हू।" ज्ञान का उपयोग हमेशा जीवात्मा द्वारा होता है। चेतना अचेतन या जड-पदार्थो का प्रकाश कैसे कर सकती है, यह प्रश्न विलकुल निरर्थक है, क्योकि ज्ञान का स्वभाव ही पदार्थों को अभिव्यक्त करने का है।

आत्मचेतना के विपय मे ज्ञान या प्रमा और प्रमेय या ज्ञेय पदार्थ के मध्य मे सम्बन्ध अत्यन्त सन्निकृष्ट है। ज्ञानी एव ज्ञान, अर्थात् ज्ञान के कर्ता एव ज्ञान, परस्पर अविभाज्य है यद्यपि उनमे भेद किया जा सकता है। आत्मचैतन्य के अन्दर ज्ञान का विपयी या प्रमाता, ज्ञान का विपय और स्वय ज्ञान एक ही ठोस इकाई के भिन्न-भिन्न

१. सस्कार।

पहलू मात्र है। ज्ञान से विहीन कोई जीव नहीं है क्योंकि ऐसा होने से होगा जीव के स्वतन्त्र स्वरूप को ही छीन लेना और उसे अचेतन या जड़ द्रव्यों की कोटि में पहुंचा देना, और बिना जीवात्मा के ज्ञान हो ही नहीं सकता क्योंकि इससे ज्ञान एकदम आधार विहीन हो जाएगा।

अपनी पूर्ण अवस्था में जीवात्मा विशुद्ध ज्ञान एवं दर्शन या अन्तर्दृष्टि है[1] जिनका एक ही समय में उदय होता है अथवा ये दोनों साथ रहते हैं। ऐहलौकिक जीवों में ज्ञान से पूर्व दर्शन होता है।[2] सम्पूर्ण ज्ञान संशय विमोह या विपरीतता एवं विभ्रम या अनिश्चितता से रहित होता है।[3] ऐसे कर्म जो दर्शन के विविध प्रकारों को धुंधला बना देते हैं दर्शनावरणीय कर्म कहलाते हैं और ऐसे कर्म जो विविध प्रकार के ज्ञान को अस्पष्ट बना देते हैं ज्ञानावरणीय कर्म कहलाते हैं। जीवात्मा में समस्त ज्ञान है यद्यपि उसका प्रकाश तभी होता है जबकि विघ्नकारी माध्यम दूर हो जाता है। लालसाएं एवं भावावेश व अनुराग ही बाधक हैं जिनके कारण जीवात्मा में भौतिक अंश प्रविष्ट होता है और ये जीवात्मा को अपने स्वाभाविक कर्म को पूर्ण शक्ति के साथ सम्पन्न करने से रोकते हैं और हमारे ज्ञान को तात्कालिक उपयोगी पदार्थों तक ही सीमित रखते हैं और इस प्रकार यथार्थसत्ता के वे पहलू जिनमें हमारी रुचि नहीं होती हमारे अपने ही क्रियात्मक ध्यान से छिपे रहते हैं। जब जीवात्मा ज्ञान को ढकनेवाले प्रकृति के प्रभावों से निर्मुक्त हो जाती है और स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य करने लगती है तब यह सर्वज्ञता का पात्र बनती है और भूत भविष्यत् एवं वर्तमान के सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकती है। अपने भौतिक अनुभवमय जीवनों में जीवात्मा की विशुद्धता जड़ प्रकृति के सम्पर्क से मलिन हो जाती है। इसे दूर करके और इसकी शक्तियों को नष्ट करके हम अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकते हैं। जब विरोधी शक्तियों को पूर्णतया उखाड़ फेंका जाता है तब जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्वरलहरी के अनुकूल स्पन्दन करती है और अपने अपरिमित ज्ञान के कर्म का सदुपयोग करती है। जीवात्मा का विशिष्ट गुण ज्ञान है और उसमें जो भेद प्रदर्शित होते हैं वे प्रकृति के साथ उसके सम्पर्क के कारण हैं।

ज्ञान दो प्रकार का है प्रमाण अर्थात् पदार्थ को उसी रूप में जानना जिस रूप में वह है और नय अर्थात् पदार्थ का किसी सम्बन्ध विशेष के साथ ज्ञान। नय का सिद्धान्त अथवा पृथक् पृथक् दृष्टिकोणयुक्त पदार्थों का ज्ञान जैनदर्शन के तर्कशास्त्र का एक अपना निजी एवं विशिष्ट लक्षण है। नय एक दृष्टिकोण है जिसके आधार पर हम किसी पदार्थ के विषय में कोई कथन करते हैं। हम अपने दृष्टिकोणों की परिभाषा एवं भेद पृथक्करण (अमूर्तीकरण) की प्रक्रिया द्वारा करते हैं। उक्त दृष्टिकोणों के साथ जिन कल्पनाओं अथवा आंशिक सम्मतियों का सम्बन्ध है वह उन अभीष्ट उद्देश्यों की उपज हैं जिन्हें लेकर हम चलते हैं। इन पृथक्करणों एवं लक्ष्य विशेषों पर ध्यान देने के कारण ही ज्ञान में सापेक्षता आती है। किसी विशेष दृष्टिकोण को अपनाने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम अन्य दृष्टिकोणों का निराकरण करते हैं। किसी विशेष उद्देश्य को लेकर यह मत कि सूर्य

१ सर्वदर्शनसंग्रह ६। २ वही ४४। ३ वही, ४२।
४ इनके वर्गीकरण के लिए देखिए जैनी 'आउटलाइन्स आफ जैनिज्म' पृष्ठ ३ -३।

पृथ्वी की परिक्रमा करता है, उतना ही अधिक कार्यसाधक हो सकता है जितना कि यह दूसरा मत कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है। उपनिषदो मे भी हमे इस विषय की झाकी मिलती है कि किस प्रकार यथार्थसत्ता हमारे ज्ञान की भिन्न-भिन्न स्थिति मे अपने को विविध रूप मे अभिव्यक्त करती है। बौद्धमत का बहुत-सा भ्रम उसके परम सत्य के अन्दर प्रवाह के सापेक्ष सिद्धान्त की अतिशयोक्ति के कारण हुआ है। जो एक विशेष दृष्टिकोण से सत्य प्रतीत होता है वह एक अन्य दृष्टिकोण से सत्य नही भी हो सकता। विशेष-विशेष पहलू सम्पूर्ण सत्ता के सर्वथा अनुकूल कभी नही होते। सापेक्ष समाधान ऐसे अमूर्तीकरण है जिनके अन्तर्गत यथार्थसत्ता का ध्यान तो हो सकता है किन्तु वे उसकी पूर्णरूपेण व्याख्या नही कर सकते। जैनमत इसका आधारभूत एव मौलिक सिद्धान्त के रूप मे प्रतिपादन करता है कि सत्य हमारे दृष्टिकोणो के कारण सापेक्ष होता है। यथार्थ-सत्ता का सामान्य स्वरूप हमारे आगे नानाविध आशिक मतो के द्वारा आता है।

नयो को कई प्रकार से विभक्त किया गया है और हम उनमे से मुख्य विभागो को ही यहा लेंगे। एक योजना के अनुसार सात नय है, जिनमे से चार पदार्थो अथवा उनके अर्थों के साथ सम्बद्ध है और तीन शब्दो से सम्बन्ध रखते है, और ये सभी यदि अपने-आपमे पृथक् एव पूर्णरूप मे लिए जाए तो हमे हेत्वाभास (मिथ्या आभास) ही प्रतीत होगे। अर्थ (पदार्थ एव अर्थ) नय निम्नलिखित है

(१) **नैगमनय** इसकी व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है। यह कहा जाता है कि यह एक प्रयत्न-विशेष के प्रयोजन अथवा लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है जोकि बराबर और निरन्तर उसके अन्दर उपस्थित रहता है। जब हम ऐसे एक व्यक्ति को देखते है जो जल, अग्नि, बरतन आदि ले जा रहा है, और हम उससे प्रश्न करते हैं कि "तुम क्या कर रहे हो ?" तो वह कहता है, "मैं भोजन पका रहा हू", तो यह नैगमनय का एक दृष्टान्त है। यह हमे उस सामान्य प्रयोजन का बोध कराता है जो इन सब कर्मो की शृखला का नियन्त्रण कर रहा है और जीवन के हेतुविज्ञानपरक रूप पर बल देता है।[1] इसी मत को पूज्यपाद ने अगीकार किया है। सिद्धसेन इससे भिन्न मत को स्वीकार करता है। जब हम एक वस्तु का ज्ञान करते है अर्थात् उसके अन्तर्गत जातिगत एव विशिष्ट दोनो प्रकार के गुणो को जानते है और उनके अन्दर पृथक्-पृथक् भेद नही करते तो वह नैगमनय की अवस्था है। (२) **संग्रहनय** सामान्य विशिष्टताओ पर बल देता है। यह वर्गगत दृष्टिकोण है। यद्यपि यह सत्य है कि वर्ग व्यक्तियो से अतिरिक्त कोई वास्तविक पदार्थ नही है, किन्तु सामान्य विशेषताओ की जाच कभी-कभी बहुत उपयोगी होती है। सग्रहनय दो प्रकार का है—परसग्रह, अर्थात् अन्तिम वर्गविचार जो इस लक्ष्य का ध्यान रखता है कि सब पदार्थ यथार्थसत्ता के अव-यव हैं। अपरसग्रह हीनतर वर्गविचार है। अमूर्त परम स्थिति सग्रहनय का आभास है। जैनमत सामान्य अथवा व्यापक एव विशेष गुणो को मानता है यद्यपि वह इन्हे सापेक्ष मानता है। साख्य एवं अद्वैतवेदान्त विशेषो को नही मानते, जबकि बौद्धमत सामान्य को नही मानता। न्यायवैशेषिक दोनो को स्वीकार करते है और ठोस पदार्थ को सामान्य

१ देखिए, तत्त्वार्थसूत्र पर टीका, १ : ३३।

पर विचार दोनों को मिश्रण से निर्मित मानता है। किन्तु जैनमत न्याय और वैशेषिक की स्थापना मानता है जबकि न्यायवैशेषिक इस निरपेक्ष मानते हैं। (३) व्यवहारनय प्रचलित एवं परम्परागत दृष्टिकोण है जिसका आधार वैयक्तिक ज्ञान है। हम वस्तुओं को उनके समस्त रूप में लेते हैं और हम उनकी निजी विशेषताओं पर बल देते हैं। वस्तुओं की विशिष्ट प्रकार प्रकार का आकृष्ट करता है। भौतिकवाद की कल्पना और इसके साथ हम बहुत्ववाद को भी जोड़ सकते हैं इस नय के आभास हैं। (४) ऋजुसूत्रनय व्यवहारनय की अपेक्षा अधिक संकुचित है। यह पदार्थ की एक समय विशेष की अवस्था का विचार करता है। यह सब प्रकार के अन्तर नय और साम्य को भुला देता है। इसकी दृष्टि में यथार्थ क्षणिक है। वस्तु यथार्थ है जबकि वह वर्तमान क्षण में है। जैनमतानुयायी इस बौद्धदर्शन का पूर्वरूप समझते हैं। यह नय जहां एक ओर सत्ता के भावप्रधान और प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त की निःसारता को प्रकट करने में उपयोगी सिद्ध हो सकता है वहां दूसरी ओर वह सत्य के निरपेक्ष रूप के वर्णन के लिए सर्वथा अनुपयोगी है। शेष तीन शब्दनय हैं। (५) शब्दनय का आधार है यह तथ्य कि नाम का उपयोग हमारे मन में जिस पदार्थ का वह द्योतक है या उससे जिस पदार्थ का संकेत होता है उसे और उसके गुण सम्बन्ध अथवा क्रिया को उपस्थित करने के लिए होता है। प्रत्येक नाम अपना अर्थ रखता है और भिन्न भिन्न शब्द भी उसी एक पदार्थ का द्योतन कर सकते हैं। पदों और उनके अर्थों के बीच जो सम्बन्ध है वह सापेक्ष है और हम यदि इस बात को भुला देते हैं तो आभास या भ्रान्तियां उत्पन्न होती हैं। (६) समभिरूढ़नय पदों में उनके धात्वर्थ के आधार पर भेद करता है। यह शब्दनय का विनियोग या प्रयोग है। (७) एवम्भूतनय छठे प्रकार का विशिष्ट रूप है। किसी पदार्थ की अभिव्यक्ति में नाना विध पहलुओं और श्रेणी विभाजन में से केवल एक ही पद के धात्वर्थ से सूचित होता है और वही पहलू है जो किसी पद का वर्तमान में व्यवहृत होने वाला उचित अर्थ है। उसी पदार्थ को एक भिन्न परिस्थिति में भिन्न संज्ञा से युक्त करना चाहिए। इन सातों नयों में प्रत्येक की सीमा उससे अधिक विस्तृत है जिसमें इनका प्रयोग होता है। नैगम की सीमा सबसे अधिक विस्तृत है और एवम्भूत सबसे न्यून है। प्रत्येक नय अथवा दृष्टिकोण नाना प्रकारों में से जिनसे पदार्थ का ज्ञान किया जा सकता है केवल एक ही प्रकार को प्रस्तुत करता है। यदि किसी एक दृष्टिकोण को हम भ्रम के कारण सम्पूर्ण समझ लें तो यह नयाभास होगा। जैनियों की सम्मति में न्यायवैशेषिक सांख्य अद्वैतवेदान्त एवं बौद्ध दर्शन पद्धतियां क्रमशः प्रथम चार नयों को स्वीकार करते हैं और भ्रम से उन्हें सम्पूर्ण सत्य समझते हैं।

नयों के और भी भेद किए गए हैं (१) द्रव्यार्थिक—पदार्थ के दृष्टिकोण से और (२) पर्यायार्थिक—परिवर्तन अथवा अवस्था के दृष्टिकोण से। फिर इनमें से प्रत्येक के उपविभाग हैं। द्रव्यार्थिकनय वस्तुओं के स्थिर स्वरूप का विचार करता है जबकि पर्यायार्थिक उनके विनश्वर पहलुओं से सम्बन्ध रखता है।

चूंकि ये सब दृष्टिकोण सापेक्ष हैं हमारे पास नयनिश्चय भी है अर्थात सत्य एवं पूर्ण दृष्टिकोण। निश्चयनय दो प्रकार का है शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चय। शुद्धनिश्चय

प्रतिवन्धरहित यथार्थसत्ता का प्रतिपादन करता है जवकि अशुद्धनिश्चय प्रतिवन्धयुक्त सत्ता के विषय पर विचार करता है।

उन व्यक्तियो को जो दार्शनिक विचार की श्रेणियो की समीक्षा के रूप से परिचित है, यह वतलाने की आवश्यकता नही है कि यह नय अथवा दृष्टिकोण का सिद्धान्त एक तर्कसम्मत सिद्धान्त है। जैनी लोगो को छ अन्धो की पुरानी कहानी को उद्धृत करने का शौक है जिनमे से प्रत्येक ने एक हाथी के शरीर के भिन्न-भिन्न भाग पर हाथ रखा और उसी आशिक अनुभव के आधार पर सम्पूर्ण हाथी का विवरण देने का प्रयत्न किया। जिस व्यक्ति ने हाथी के कान को पकडा उसने यही विचार किया कि वह एक पखे के समान है। इसी प्रकार जिसने टाग पकडी उसने कल्पना की कि वह एक वडा गोलाकार खम्भा है, आदि-आदि। केवल उसी व्यक्ति ने जिसने समूचे हाथी को देखा था, प्रत्यक्ष अनुभव किया कि उनमे से प्रत्येक ने सत्य के केवल एक ही अग को जाना था। प्राय समस्त दार्शनिक विवाद दृष्टिकोण के भ्रम से ही उठते है। प्राय प्रश्न किया जाता है कि कार्य अपने उपादान कारण के ही समान अथवा उससे भिन्न होता है। सत्कार्यवाद का मत है, जिसे वेदान्त एव साख्यदर्शनो ने भी स्वीकार किया है, कि कार्य कारण के अन्दर पूर्व से ही विद्यमान रहता है और कारण की उस विशेष प्रक्रिया के द्वारा जिसमे से उसे गुजरना पडता है, वह केवलमात्र अभिव्यक्त हो जाता है। वैशेषिको के असत्कार्यवाद का मत है कि कार्य एक नई वस्तु है और पहले से विद्यमान नही था। जैनमत इन दोनो विवादो का अन्त यह कहकर करता है कि दोनो के विभिन्न दृष्टिकोण है। यदि हम सोने के हार रूपी कार्य को केवल पदार्थ समझ लें तो यह वही सोना है जिससे से इसका निर्माण हुआ है, किन्तु यदि हम उसे हार समझे तो वह एक नया पदार्थ है और वह पदार्थरूपी सोने मे अवश्य ही पहले से विद्यमान नही था। प्रत्येक दृष्टिकोण जो हमे ज्ञान प्राप्त कराता है, सदा ही आशिक होता है और उस तक हम पृथक्करण की प्रक्रियाओ द्वारा पहुचते है।

इन दृष्टिकोणो का सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोग निश्चय ही स्याद्वाद एव सप्तभङ्गी मे होता है। यह उपयोग निर्णय करने के सात भिन्न-भिन्न प्रकारो मे होता है, जो अलग-अलग और एकसाथ सयुक्त होकर स्वीकार करते है या निषेध करते है, विना किसी स्वत विरोध के और इस प्रकार एक वस्तुविशेष के नाना गुणो मे भेद करते है। जैनकल्पना के आधार पर निरूपण की कठिनाई दूर हो जाती है क्योकि इस मत के अनुसार पदार्थ के रूप मे उद्देश्य और विधेय समान है और रूपभेद के दृष्टिकोण से भिन्न भी है।

यह विचार स्याद्वाद कहलाता है क्योकि यह समस्त ज्ञान को केवल सम्भावित रूप मे ही मानता है। प्रत्येक स्थापना 'सम्भव है', 'हो सकता है' अथवा 'स्याद्' या 'शायद' इत्यादि रूपो मे ही हमारे सामने आती है। हम किसी भी पदार्थ के विषय मे निरुपाधिक या निश्चित रूप से स्वीकृतिपरक अथवा निषेधात्मक कथन नही कर सकते। वस्तुओ के अन्दर अनन्त जटिलता होने के कारण निश्चित कुछ नही है। यथार्थसत्ता के अन्यविध जटिल स्वरूप एव अनिश्चितता के ऊपर यह वल देता है। यह निरूपण की सम्भावना का निषेध नही करता, यद्यपि यह निरपेक्ष अथवा विशिष्ट निरूपण को स्वीकार नही करता।

यथार्थसत्ता का गतिशील स्वरूप केवल सापेक्ष और सोपाधिक निरूपण के साथ ही मेल खा सकता है। प्रत्येक स्थापना केवल कुछ विशेष अवस्थाओं में अर्थात परिकल्पित रूप में ही सत्य है।

इसका मत है कि किसी वस्तु अथवा उसके गुणों के विषय में कथन करने के, दृष्टिकोण के रूप से सात भिन्न भिन्न प्रकार हैं। एक दृष्टिकोण है जिसके अनुसार पदार्थ अथवा उसका गुण (१) है (२) नहीं है (३) है और नहीं भी है (४) अनिर्वचनीय है (५) है और अनिर्वचनीय भी नहीं है (६) नहीं है और अनिर्वचनीय है (७) है नहीं भी है और अनिर्वचनीय है।

१ स्याद् अस्ति—अपने उपादान स्थान समय और स्वरूप के दृष्टिकोण में वस्तु विद्यमान है अर्थात अपना अस्तित्व रखती है। मिट्टी से बना हुआ घडा मेरे कमरे में इस वर्तमान क्षण में और अमुक अमुक आकार व माप का विद्यमान है।

२ स्याद नास्ति—उपादान स्थान समय और अन्य पदार्थ के स्वरूप के दृष्टिकोण से वस्तु विद्यमान नहीं है अर्थात यह कुछ नहीं है। धातु से बना हुआ घडा एक भिन्न स्थान में अथवा समय में अथवा भिन्न आकार व माप का विद्यमान नहीं है।

३ स्याद अस्ति नास्ति—उसी दृष्टिकोण चतुष्टय से अपने व अन्य पदार्थ से सबद्ध यह कहा जा सकता है कि वस्तुविशेष है और नहीं है। एक विशेष अर्थ में घडा है और एक दूसरे विशेष अर्थ में घडा नहीं है। हम यहा कहते हैं कि वस्तुविशेष क्या है और क्या नहीं है।

४ स्याद अवक्तव्यम्—जबकि ऊपर के तीनों में हम कथन करते हैं कि एक वस्तु अपने आपमें है और अन्य क्रम में नहीं है यह सब कथन एकसाथ करना सम्भव नहीं है। इस अर्थ में एक वस्तु विवरण के योग्य नहीं है। यद्यपि घडे में इसके अपने रूप की उपस्थिति एव दूसरे स्वरूप की अनुपस्थिति दोनों एकसाथ है तो भी हम उसे व्यक्त नहीं कर सकते।

५ स्याद अस्ति च अवक्तव्यम्—अपने निजी चतुष्टय के दृष्टिकोण से और साथ ही साथ अपने एव अभावात्मक चतुष्टय के संयोग से एक वस्तु है और विवरण योग्य नहीं है। हम यहा एक वस्तु की सत्ता और इसकी अनिर्वचनीयता दोनों को लक्षित करते हैं।

६ स्याद नास्ति अवक्तव्यम्—अभावात्मक वस्तु के चतुष्टय के दृष्टिकोण से और साथ-साथ अपने निजी एव अभावात्मक वस्तु के चतुष्टय के दृष्टिकोण से एक वस्तु नहीं है और अनिर्वचनीय भी है। हम यहा पर एक वस्तु क्या नहीं है इस और इसकी अनिर्वचनीयता को लक्षित करते हैं।

७ स्याद अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम—अपने निजी चतुष्टय के एव अभावात्मक वस्तु के दृष्टिकोण से और साथ साथ अपने निजी एव अभावात्मक वस्तु के संयुक्त चतुष्टय के दृष्टिकोण से भी एक वस्तु है नहीं भी है और अनिर्वचनीय भी है। हम एक वस्तु की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करते हैं और उसके साथ में यह क्या है और क्या नहीं है

उसका भी प्रतिपादन करते है।[1]

किसी वस्तु अथवा उसके गुणो के विषय मे कथन करने के जो सात सम्भावित प्रकार हैं, उनमे पहले दो प्रकार मुख्य है, अर्थात् साधारण स्वीकारात्मक यह कि अमुक वस्तु अपने स्वरूप मे है, स्वद्रव्य (अपने भौतिक उपादान) मे, स्वक्षेत्र (अपने स्थान) में, और स्वकाल (अपने समय) मे वर्तमान है। और दूसरा साधारण निषेधात्मक यह कि अमुक वस्तु अपने पररूप (अर्थात् अन्य आकार) मे, परद्रव्य (अन्य भौतिक उपादान) मे, परक्षेत्र (अन्य स्थान) मे, एव परकाल (अन्य समय) मे वर्तमान नही है। दूसरा निषेधात्मक तथ्य है। इस सिद्धान्त का आग्रह है कि स्वीकृति एव निषेध दोनो परस्पर सम्बद्ध और सहचारी हैं। समस्त निर्णयो के दो रूप होते हैं। सब पदार्थ है भी और नही भी है, अर्थात् सद्-असदात्मक है।[2] एक वस्तु जो है वही है और जैसी नही है वैसी नही ही है। इस मत के अनुसार प्रत्येक निषेध का एक सकारात्मक आधार होता है। आकाश-कुसुम के समान कल्पनात्मक विचार भी एक सकारात्मक आधार रखते है अर्थात् जैसे आकाश और कुसुम तो दोनो पृथक्-पृथक् वास्तविक सत्ताए है यद्यपि उनका परस्पर-सम्बन्ध अवास्तविक है। यह मौलिक सत्य पर बल देता है, अर्थात् विचार के लिए परस्पर भेद करना आवश्यक है। ऐसा पदार्थ जिसे अन्य पदार्थो से भिन्न करके समझा जा सके, विचार मे नही आ सकता। ऐसा निरपेक्ष पदार्थ जो अन्दर और बाहर सब प्रकार के विभेदो से शून्य है, यथार्थ मे विचार का विषय नही हो सकता, क्योकि सब पदार्थ जो विचार के विषय है एक अर्थ मे है और दूसरे अर्थो मे नही भी है।

शङ्कर और रामानुज[3] दोनो ही 'सप्तभङ्गी न्याय' की इस आधार पर आलोचना करते है कि एक ही पदार्थ मे दो प्रकार के परस्पर-विरोधी गुण एक ही समय मे उपस्थित नही रह सकते। रामानुज लिखता है, "भाव एव अभाव ये दोनो परस्पर-विरोधी गुण किसी एक पदार्थ मे नही रह सकते जैसेकि प्रकाश और अन्धकार एक जगह नही रह सकते।" जैनी लोग यह भी स्वीकार करते है कि एक ही समय मे और एक ही अर्थो मे किसी पदार्थ मे परस्पर-विरोधी गुण नही रह सकते। जो कुछ वे कहते है वह यह है कि प्रत्येक पदार्थ जटिल स्वरूप का है अर्थात् भेदो के रहते भी एकात्म्यरूप मे विद्यमान है। वास्तविक सत्ता अपने अन्दर भेदो को समाविष्ट रखती है। ऐसे गुण जो भावात्मक या अमूर्त रूप मे परस्पर-विरोधी हैं, जीवन मे और अनुभव के साथ-साथ रहते है। वृक्ष हिलता है अर्थात् उसकी शाखाए हिलती है किन्तु स्वय वृक्ष नही हिलता क्योकि यह अपने स्थान मे स्थिर है और मजबूती से भूमि मे गडा हुआ है। हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम एक पदार्थ को स्पष्टरूप मे और अन्य पदार्थो से भिन्नरूप मे जाने, उसकी अपनी निजी सत्ता के रूप मे एव अन्य पदार्थो के सम्बन्ध मे भी उसकी सत्ता को पहचानकर रखे। दूसरे पक्ष के विषय में, जैसाकि वेदान्ती कहते हैं, सप्तभङ्गी न्याय की क्रियात्मक उपयोगिता कुछ नही है, यह उनकी एक निजी सम्मति है इसलिए इस विषय पर

१ तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ १४ ; पञ्चास्तिकायसमयसार, १६।

२. "स्वरूपेण सत्त्वात्, पररूपेण च असत्त्वात्।"

३. वेदान्तसूत्रों पर शाङ्करभाष्य, २ : २, ३३, वेदान्तसूत्रों पर रामानुज भाष्य २ : २, ३१।

कुछ कहने में समय नष्ट करना व्यर्थ है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सप्तभङ्गी न्याय जैनदर्शन के अन्य सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। यह अनेकान्तवाद का स्वाभाविक परिणाम है जिसका तात्पर्य है कि यथार्थसत्ता के अनेक रूप हैं। चूंकि यथार्थसत्ता की अनेक आकृतियां हैं और वह सदा परिवर्तनशील है इसलिए किसी भी पदार्थ को सर्वत्र सब जगह सर्व काल में और हर प्रकार से वर्तमान रहनेवाला नहीं माना जा सकता, और हमारे लिए यह असम्भव है कि हम एक ऐसे कठोर और अविचलित मत को स्वीकार ही करें।

६

जैन तर्कशास्त्र का महत्त्व

इससे पूर्व कि हम अगले विभाग पर आगे बढ़ें इस स्थल पर जैन तर्कशास्त्र द्वारा प्रस्तुत कतिपय आलोचनात्मक विचारों को भी उपस्थित कर देना अधिक उपयोगी होगा। प्रसंगवश हमने जैनियों के ज्ञानविषयक सिद्धान्त के प्रबल पक्ष का विवरण दिया है और उसपर वेदान्तियों द्वारा किए गए आक्षेपों के विरुद्ध उसका पक्षपोषण भी किया है। तो भी हमारी सम्मति में जैन तर्कशास्त्र हमें अद्वैतपरक आदर्शवाद की ओर ले जाता है और जिस हद तक जैनी इससे बचने का प्रयास करते हैं उस हद तक वे अपने निजी तर्क के सच्चे अनुयायी नहीं हैं। इस विषय सम्बन्धी अपनी आलोचना पर हम आध्यात्मिक दृष्टि से अपने संवाद में आगे चलकर बल देंगे। आइए यहां हम जैन तर्कशास्त्र के गूढार्थ को भली प्रकार से समझ लें।

सापेक्षता का सिद्धान्त तार्किक दृष्टिकोण से बिना एक निरपेक्ष की कल्पना के नहीं ठहर सकता। यह सत्य है कि परस्पर भेद का नियम जिसपर जैन तर्कशास्त्र अवलम्बित है यह भी स्वीकार करता है कि विचार के लिए भेद करना आवश्यक है किन्तु एक ऐसा पदार्थ जो अन्यों से सर्वथा भिन्न है विचार के लिए ऐसा ही अवास्तविक है जैसाकि वह पदार्थ जो अन्य पदार्थों के साथ एकरूप है। विचार केवल भेदमात्र ही नहीं है किन्तु यह सम्बन्धरूप भी है। प्रत्येक पदार्थ की सत्ता अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध रूप में और उनसे भिन्न रूप में ही सम्भव है। परस्पर भेद का नियम परस्पर-साम्यभाव के नियम का निषेधात्मक पक्ष है। सब प्रकार के भेद में एकत्व की भी पूर्वकल्पना रहती है। चूंकि जैनियों के अनुसार तर्क ही यथार्थसत्ता को जानने की कुंजी है यथार्थसत्ता की अन्तिम अभिव्यक्ति एक ठोस अद्वैतवाद में ही होनी चाहिए उसीके द्वारा सत्तामात्र की व्याख्या सम्भव है। यह एक सत्ता ऐसा नहीं है जो अनेक का बहिष्कार करता हो अथवा अनेकत्व को स्वीकार करके विद्यमान व्यवस्था अथवा एकत्व का निषेध करती हो। जैन तर्कशास्त्र सब प्रकार के पृथक्करण के प्रति विद्रोह करता है और किसी भी पक्ष अथवा वह एक या अनेक प्राप्ति के मिथ्या विभेद को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं होता। जैनी लोग स्वीकार करते हैं कि सब पदार्थ अपने व्यापक रूप में (जाति अथवा कारण) में एक हैं और विशिष्ट (व्यक्ति अथवा कार्य) रूप में अनेक हैं। उनके अनुसार ये दोनों ही आंशिक दृष्टिकोण हैं। सत्ताओं की अनेकता मानते हुए अर्थों में एक

सापेक्ष सत्य है। हमे पूर्ण दृष्टिकोण तक ऊपर उठना चाहिए और उस सम्पूर्ण की ओर दृष्टि रखनी चाहिए जो सव प्रकार के गुणो से वैभवसम्पन्न है। यदि जैनदर्शन अनेकत्ववाद तक ही रहे जो अधिकतर केवल सापेक्ष एव आशिक सत्य है, और यह जिज्ञासा न करे कि उच्चतर सत्य भी कोई है–जो एक ऐसी एकमात्र सत्ता की ओर निर्देश करता है जिसने इस विश्व के पदार्थो में व्यक्तिगत रूप धारण कर रखा है जो एक-दूसरे से मुख्यत अनिवार्य रूप मे हैं और अन्तर्यामी रूप मे सम्वद्ध है–तो वह अपने तर्क को स्वय दूर करके एक सापेक्ष सत्य को निरपेक्ष सत्य की उन्नत कोटि मे पहुचा देता है।

केवल इसी प्रकार का अद्वैतपरक सिद्धान्त जैनदर्शन के सापेक्षतावाद के साथ मेल खा सकता है, क्योकि सम्बन्ध जितने भी हैं वे उन वाह्य पदार्थो से, जिनसे वे सम्बन्ध रखते है, स्वतन्त्र नही है। अर्थ का प्रवेश सत्ता के अन्दर होता हे और उद्देश्य और विधेय अथवा प्रमाता और प्रमेय मे एक निकट सम्बन्ध रहता है। मन और वाह्य जगत् के अन्दर का द्वैतभाव, मनोवैज्ञानिक स्तर पर जो कुछ भी सत्य इसमे हो, दूर हो जाता है जबकि हम ज्ञान के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे तर्क का जो दृष्टिकोण है उस तक पहुचते है। यदि दो अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय जीवात्मा एव स्वतन्त्र यथार्थसत्ता पृथक्-पृथक् है तब ज्ञान सर्वथा सम्भव ही नही हो सकता। या तो ज्ञान स्वच्छन्द एव निराधार है अथवा द्वैतभाव मिथ्या है। ज्ञाता और ज्ञेय पृथक् सत्ताए नही है जो किसी वाह्य वन्धन से वधी हुई हो। वे द्वैत मे एक और एक मे दो हैं। यदि हम किसी एक पद को दवा दें तो सम्पूर्ण एक मे विलीन हो जाता है। ज्ञाता एव ज्ञेय का भेद दो स्वतन्त्र सत्ताओ के वीच का भेद नही है किन्तु इस प्रकार का एक भेद है जिसे स्वय ज्ञान ने अपने क्षेत्र के अन्दर निर्माण किया है। यदि जैनदर्शन का तर्कशास्त्र इस तत्त्व की आवश्यकता को स्वीकार नही करता जिसमे ज्ञाता और ज्ञेय का भेद अन्तर्निहित है तो इसका कारण यह है कि यह सम्पूर्ण सत्य के केवल आशिक रूप को ही ग्रहण करता है।

यदि हमे इसके सापेक्षता के सिद्धान्त की उपर्युक्त व्याख्या को स्वीकार करना है तो जीवात्मा, जो विभिन्न दृष्टिकोणो को अगीकार करती है, केवल इन्द्रियगम्य आनुभविक आत्मा नही हो सकती वरन् उससे गम्भीर कोई सत्ता होनी चाहिए। ज्ञान केवल वैयक्तिक ही नही होता। यदि सत्ता-विपयक विश्लेषण केवल आत्मनिष्ठ ही नही है तो हमे स्वीकार करना होगा कि अनेक व्यक्तियो के अन्दर एक ही आत्मा की क्रियाशीलता काम करती है जिसे हम ज्ञान के विपय के रूप मे जानते है। इससे पूर्व कि ज्ञान के सम्बन्ध मे कोई प्रश्न उठे, इस एक आत्मा को पूर्वरूप मे निरपेक्ष और अन्तिम सत्य के रूप मे मानना चाहिए जिसके ही अन्दर ज्ञाता एव ज्ञेय के सव भेद आ जाते हैं। और यह आत्मा क्षणिक अनुभव अथवा चेतना का अस्थायी रूप नही है।

इस तथ्य का कि हम अपनी सापेक्षता से अभिज्ञ है, अर्थ ही है कि हमे पूर्णतम विचार तक पहुचना है। उस उच्चतम निरपेक्ष दृष्टिकोण से ही निम्न कोटि की सापेक्षताओ की व्याख्या हो सकती है। समस्त यथार्थ व्याख्या ऊपर से नीचे की ओर होती है।

इसी निरपेक्ष तत्त्व की दृष्टि से हम सापेक्ष विचारो के महत्त्व को जानने के लिए किसी मानदण्ड का उपयोग कर सकेंगे और उनका मूल्याकन कर सकेंगे। परम सत्य के

साथ तुलना करने पर अन्य समस्त सत्य सापेक्ष ठहरता है। समस्त ज्ञान उपलब्ध सामग्री के ऊपर उठता है और अपने से परे का निर्देश करता है। पूर्णतर और उससे भी अधिक पूर्ण सत्य की ओर बढ़ने से प्रमेय पदार्थ अपने प्रयत्न में प्रतीयमान उपस्थित स्वरूप को खो बैठता है। जब हम निरपेक्ष ज्ञान तक पहुंच जाते हैं तो ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य का भेद स्वतः दूर हो जाता है। केवल ऐसी परम कोटि की प्राप्ति स्थिति में ही हम नीचे के पृथक्करण की भ्रांति को दूर कर सकते हैं। तब हम देखेंगे कि नानाविध सापेक्ष पक्ष एक गमन प्रक्रिया में आत्मा के मोक्ष के लिए अपने अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में एक प्रकार के पड़ाव मात्र हैं। ज्ञान के हरएक प्रकार को सापेक्ष के रूप में पहचानना, जिसमें एक पक्ष से अन्य पक्ष में पहुंचना आवश्यक है हमें विवश करता है कि हम एक ऐसी विस्तृततम यथार्थसत्ता को अंगीकार करें जो परम एवं स्वयं में निरपेक्ष है और जिसके अन्तर्गत सब सापेक्ष पक्ष आ जाते हैं।

किन्तु इस परम एवं निरपेक्ष सत्ता को भली प्रकार समझ लेने का भी कोई उपाय है? निश्चय ही अपने आंशिक मतों को एकत्र करके रख देने मात्र से हमारे सम्मुख निश्चित यथार्थसत्ता का भाव नहीं आ सकता। विभिन्न दृष्टिकोणों को केवल एकत्र कर देने से ही हम सत्य के निजी स्वरूप को नहीं पा सकते। यदि हम जैन तर्कशास्त्र के भाव का अनुसरण करें तो कहना पड़ेगा कि विचार के सापेक्ष पदार्थों में जकड़े रहने के कारण हम निरपेक्ष परमार्थसत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि विचार यथार्थसत्ता को ग्रहण नहीं कर सकता तो क्या और ऐसी कोई शक्ति हो सकती है जो उसको ग्रहण कर सकती है? यह प्रश्न स्पष्टरूप से नहीं उठाया गया है किन्तु इसका उत्तर निश्चितरूप से मान लिया गया है। केवल ज्ञान अथवा मुक्तात्माओं के ज्ञान के ऊपर ध्यान देकर विचार करने से हमें प्रतीत होगा कि जैन सिद्धांत उपलक्षण या संकेत द्वारा अन्तर्दृष्टि की विधि एवं निरपेक्ष परमसत्ता के सिद्धांत को स्वीकार कर लेता है।

जैनमत के अनुसार ऊंचे दर्जे का ज्ञान जिसमें अनुभव में अभिव्यक्त हुए सब प्रकार के रूप समन्वित हैं वह है जो केवलिन् अथवा मुक्त आत्माओं को होता है। यह सम्पूर्ण और निर्दोष ज्ञान है जो विशुद्ध एवं निर्दोष अवस्था में जीवात्मा का विशिष्ट रूप है। यह निर्दोष ज्ञान जो आत्मा का सारतत्त्व है अपने आपको भिन्न भिन्न प्राणियों की विभिन्न श्रेणियों में अभिव्यक्त करता है जिनका कारण प्रकृति का बाह्य बल है और जिसके सम्पर्क अथवा साहचर्य से ही कायरूप में आत्मा का निर्मल ज्ञान दबा रहता है। यह जड़ या चेतनाशून्य प्रकृति जब आत्मतत्त्व के साथ संयोग में आती है इसकी शक्ति को प्रभावहीन कर देती है—आत्मा एवं प्रकृति के साथ बन्धन के प्रकार के विविध सम्बन्धों के आधार पर। चेतना के सब भिन्न भिन्न प्रकार प्रकृति की विरोधी शक्तियों की कार्य प्रणाली पर निर्भर करते हैं। इनमें से एक वे हैं जिनके अन्दर ये शक्तियां अपना पूरा जोर जमाए हुए हैं और इन अवस्थाओं में आत्मा की ज्ञान सम्पादन-शक्ति केवल स्पर्श क्रिया द्वारा ही अपनी अभिव्यक्ति कर सकती है जैसे धातु आदि। दूसरी ओर वे आकृतियां हैं जिनमें से सारी प्राकृतिक शक्तियां हटा दी गई हैं और जो सर्वज्ञता की पूर्ण प्रभा को पहुंच सकी हैं। उक्त दोनों सीमाओं के मध्यवर्ती नमूनों का निर्णय ज्ञान के मार्ग में बाधकरूप

शक्तियों के सर्वांश मे अथवा आंशिक रूप मे विनाश के द्वारा हो सकता है। ज्ञान का, जो आत्मा का सारतत्त्व है, तिरोभाव एव अभिव्यक्ति प्रकृति के दबाव की मात्रा के अनुसार होती है। हरेक पदार्थ विश्वात्मा मे अन्तर्निहित है और केवल उन कारणो के दूर होने की अपेक्षा करता है जो ज्ञान की अभिव्यक्ति मे बाधक सिद्ध होते है। जब बाधक दूर हो जाते है तब आत्मा पूर्णधारणात्मक ज्ञान-स्वरूप हो जाती है, जो देश और काल की सीमाओ से परे है। उस समय आत्मा की उस पूर्ण आभा मे, जिसका सारतत्त्व चेतना है, न तो कोई मानसिक आवेग विघ्नकारक हो सकता है और न ही किसी प्रकार के स्वार्थ उसे धुधला बना सकते हे, और न हम यही कह सकते है कि इस पूर्व-अवस्थाओं मे कोई भेदक लक्षण रहते है। ज्ञान का विषय सम्पूर्ण यथार्थसत्ता है और ज्ञाता विषयी विशुद्ध प्रज्ञान बन गया, जिसमे भेदकारक किसी मर्यादा की सम्भावना नही है। इन्द्रिय-गम्य आनुभाविक जगत् के अवास्तविक भेद भी अब उसमे विद्यमान नही रहते। सक्षेप मे, भेद एक ऐसे तत्त्व के कारण हैं जो सदा नही रहता, और जो सदा स्थायी है वह आत्मा है जिसका स्वरूप चेतना है। जैनी लोग अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का समर्थन तर्क द्वारा नही कर सकते।

७

मनोविज्ञान

इससे पूर्व कि हम जैनदर्शन के आध्यात्मिक विचारो को ले, हम उनके मनोवैज्ञानिक मतो का दिग्दर्शन कर लें। वे मन और शरीर के द्वैत को स्वीकार करते है। वे पाच द्रव्य-इन्द्रियो अथवा भौतिक इन्द्रियो को भी पृथक् करके मानते है, और उनके प्रतिरूप पाच भावेन्द्रियो या ज्ञानेन्द्रियो की सत्ता को भी स्वीकार करते है।[1] रूप का सुखानुभव करने-वाली आख और उसके प्रमेय विषय के मध्य जो सामान्य घटक या अवयव है वह रंग है। रग को पहचानने मे, जोकि एक प्राकृतिक या भौतिक गुण है, आख की अनुकूलता है। चूकि इन्द्रिया जीव की केवल बाह्यरूप शक्तिया अथवा साधन हैं, वे घटक जो समस्त पदार्थो के सुखानुभवो को सम्भव बनाते है, स्वय आत्मा के अपने सघटन मे ही अवस्थित रहते हैं। इन्द्रिया सुखानुभव की योग्यता हैं और अनुभव-विषयक गुण, जो बाह्यरूप मे वर्तमान रहते है, सुखानुभव के विषय या भौतिक पदार्थ है। स्पर्श के आठ प्रकारो मे मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण के विभाग स्पष्ट देखे जा सकते है—उष्ण एव शीत, खुरदरा और चिकना, नरम और कठोर, हलका और भारी। इसी प्रकार स्वाद के पाच भेद हैं : चर-

१ तत्त्वार्थसूत्र, २ : १६। इसी प्रकार मन के भी दो पहलू है : एक भौतिक और दूसरा मनो-वैज्ञानिक। जब आत्मा को समस्त शरीर के अन्दर व्याप्त माना जाता है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा और देह दोनों एक ही सत्ता के भौतिक एव मनोवैज्ञानिक दो प्रतिरूप है। भौतिक विषयों या पदार्थों के मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्ष की व्याख्या के लिए उपस्थित की गई उक्त योजना एक प्रकार से निस्सार है। हम आत्मा एव देह के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या को बार-बार केवल यह दोहराकर हल नहीं कर सकते कि दोनो के गुण प्रत्येक इन्द्रिय मे वर्तमान रहते है।

परा या तीखा खट्टा कड़वा, मीठा और कषाय या कसला गंध के दो भेद हैं सुगंध और दुर्गंध रंग के पांच भेद हैं काला, नीला पीला सफेद और गुलाबी या पाटलवर्ण। इसी प्रकार नाद के सात भेद हैं षड्ज, ऋषभ गान्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषाद आदि। प्रत्यक्ष ज्ञान इंद्रिय के साथ पदार्थ का संनिकर्ष होने से उत्पन्न होता है। यह यांत्रिक संनिकर्ष मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्ष की सम्पूर्ण परिभाषा नहीं है। यह तो केवल उस आवरण को हटाने में सहायक हो सकता है जो जीवात्मा के ज्ञान को ढके रहता है। प्रमाता जीवात्मा ज्ञाता है भोक्ता भी है और कर्ता भी है—अर्थात वह जाननेवाला सुखानुभव करनेवाला और कर्म करनेवाला है। चेतना के तीन प्रकार बतलाए गए हैं ज्ञान अनुभव अथवा कर्मों के फलों का उपभोग[1] और इच्छा।[2] मानसिक प्रक्रिया और अनुभव का परस्पर निकट सम्बन्ध है। साधारणतः हमें पहले शारीरिक संवेदना होती है उसके बाद मानसिक क्रिया और अन्त में ज्ञान होता है।[3] जीव और पुद्गल के बीच का सम्बन्ध विषयी प्रमाता का विषय प्रमेय के साथ सम्बन्ध है। वह शक्ति जो उनका परस्पर संयोग कराती है ज्ञान नहीं है क्योंकि हम एक वस्तु को जानते हैं और तो भी उसके ऊपर कार्य न करें ऐसा सम्भव हो सकता है। सिद्धात्मा की सर्वज्ञता का तात्पर्य है चेतना के अन्दर विश्व का प्रतिबिम्ब यद्यपि आत्मा का बन्धन में आना आवश्यक नहीं है। परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया जीव की इच्छाओं के ऊपर निर्भर करती है। यह इच्छा का अधीनता और उसके कारण बन्धन जीव के लिए अनिवार्य नहीं कामनारहित इच्छा से रहित होना सम्भव है।

प्रत्येक जीव शरीर और आत्मा की सग्रथित रचना है जिसमें आत्मा क्रियाशील साझीदार है एवं शरीर निष्क्रिय भागीदार है। जैनमत विषयीविज्ञानवाद एवं भौतिकवाद दोनों के दावों का निराकरण मन और प्रकृति के साहचर्य को स्वीकार करके कर देता है। किन्तु जैनमत इस विषय का विचार नहीं करता कि आत्म एवं अनात्म में भेद मन के अनिवार्य स्वभाव की ही उपज है। यह दो पदार्थों के सिद्धान्त को स्पष्टरूप से स्वीकार करते हुए ज्ञान को उनसे सर्वथा भिन्न दोनों के मध्य एक प्रक्रिया के रूप में मानता है। जैनमत विकास के क्रम में भी किसी विचार से अभिन्न नहीं है जिसके अनुसार शरीर अपने विकास की उच्चतर अवस्थाओं में नये गुण धारण कर लेता हो। यह मन और शरीर के द्वैतभाव को मानकर ही सन्तुष्ट रहता है और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण तक आकर ठहर जाता है। यह पारस्परिक प्रतिक्रियाओं को स्वीकार नहीं कर सकता किन्तु इसे समस्त कठिनाइयों के रहते हुए भी समानान्तरता के भाव को स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ता है। कार्मिक प्रकृति स्वयं अपने अनिवार्य स्वभाव के कारण अपने परिवर्तन उत्पन्न करती है। जीव भी उसी प्रकार से अपने विचार की अशुद्ध अवस्थाओं द्वारा जो कर्म से नियन्त्रित हैं अपने विचारों में परिवर्तन उत्पन्न करता है। दोनों दो स्वतन्त्र शृंखलाएं बनाते हैं जो अपने आपमें पर्याप्त एवं पूर्ण हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कि जीव को कर्मों के फल में क्यों दुःख भोगना चाहिए यदि वे दोनों ही परस्पर एक दूसरे के ऊपर निर्भर नहीं हैं यह समाधान किया जाता है कि उनके मध्य एक प्रकार का पहले

1 कर्मफलचेतना।
2 पञ्चास्तिकायसमयसार ३८।
3 वही ३९।
4 वही, ६८।

से स्थित साम्य है।[1] ससार के अन्दर हमे भौतिक शरीर मिलते है जो विशाल भी है और छोटे भी, जिनमे से कुछ कार्मिक प्रकृति के हैं जिनकी प्रवृत्ति जीवो द्वारा आकृष्ट होने की ओर है। अपने साहचर्य के कारण जीव एव कार्मिक प्रकृति के परमाणु एकत्र होते हैं। कार्मिक प्रकृति का जीव के अन्दर पैठना इस निकट की सहस्थिति के कारण है। यह नही कहा जा सकता कि मन किसी क्रियात्मक प्रभाव का उपयोग करता है। 'पञ्चास्तिकाय-समयसार' का टीकाकार उस सम्बन्ध की व्याख्या एक डिबिया के दृष्टान्त से करता है, जो काजल के सम्पर्क से काली हो जाती है। दोनो आत्मनिर्णयकारी माध्यम किसी न किसी प्रकार समानरूप से परस्पर सयुक्त हो जाते है। चूकि दो शृखलाओ के मध्य प्रत्यक्ष कार्य-कारण सम्बन्ध का निषेध किया जाता है इसलिए रहस्यपूर्ण समानता से बढकर और कोई समाधान सम्भव नही है।

उक्त मत को मानने से ज्ञान एक रहस्य बन जाता है। यह निरपेक्ष सत्य नही रहता, जिसकी पृष्ठभूमि मे हम नही जा सकते। हम जानबूझकर एक सकुचित दृष्टि-कोण को अगीकार कर लेते हैं और ज्ञाता एव ज्ञेय के मध्य एक विरोध की कल्पना करते हुए मन को इस रूप मे मान लेते हैं जिसे बराबर एक अन्य वस्तु से सामना करना पडता है और जिसे हम परिस्थिति अथवा वातावरण के नाम से पुकारते है। हम उन पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नही करते जो बाह्य है, किन्तु उनकी प्रतिकृतिया एव चित्र ही हमारे आगे आते है जो बाह्य जगत् का प्रतिनिधित्व मात्र करते हैं। विचार एव यथार्थसत्ता के मध्य कभी भी अनुकूलता नही हो सकती जब तक कि उनके अन्दर कोई सामान्य घटक या अवयव न हो। किन्तु उस अवस्था मे यह सिद्धान्त कि मन अपने मन्दिर के अन्दर से एक विपरीतगुण विश्व को निहारता है, सर्वथा गिर जाता है।

कहा जाता है कि आत्मा के आयाम हैं, और उसमे विस्तार और सकोच की भी गुजाइश है। भौतिक शरीर से छोटे आकार मे आत्मा नही हो सकती क्योकि उस अवस्था मे यह शारीरिक प्रवृत्तियो को अपना करके अनुभव नही कर सकती। यह जब माता के गर्भ मे होती है तो बहुत लघु आकार की होती है किन्तु धीरे-धीरे शरीर के साथ विस्तृत होती जाती है और अन्त मे जाकर यह अपने पूर्ण आकार मे पहुच जाती है। इस पृथ्वी पर के प्रत्येक जीवन के अन्त मे यह भविष्यजन्म के बीज से सम्बद्ध होती है। आत्मा का शरीर के अन्दर विस्तार इसी प्रकार के अन्य प्रसरण की अवस्था के अनुरूप नही है क्योकि आत्मा की बनावट बहुत सादी है और उसके हिस्से नही हैं। "जिस प्रकार एक कमल जो लालमणि के रग का है, जब एक दूध के पात्र मे रखा जाएगा तो अपनी वही रक्त वर्ण की आभा दूध को प्रदान कर देगा, इसी प्रकार यह अपने निजी शरीर मे स्थित होकर अपनी आभा अथवा अपने बुद्धिचैतन्यको समस्त देह को दे देती है।"[2] आत्माए जो सख्या

१. पञ्चास्तिकायसमयसार, ७०–७७।

२ पञ्चास्तिकायसमयसार, ३३। साहर अपने 'साइकोलॉजी' नामक ग्रन्थ में कहता है कि "आत्मा सारे शरीर में उपस्थित है, यद्यपि निर्गुण अवस्था मे। इसके अतिरिक्त यह अन्य सब स्थानों पर भी उपस्थित है अपने पूर्ण सार रूप में, यद्यपि यह सर्वत्र अपने सब गुणों का उपयोग करने मे समर्थ भले ही न हो।"

म प्रमन्य हैं और मध्यम आकार भी हैं तावातम्य म अथवा इस पार्थिव जगत म जो देश व प्रमय रचना को घेरती हैं।[1] नगर के अनुसार[2] आत्मा को शरीर के आकार के समान आकार वाली मानने का सिद्धान्त नहीं टिक सकता क्योंकि शरीर के द्वारा सीमित होने के कारण यह भी मानना पडगा कि शरीर के समान आत्मा भी अनित्य है और यदि वह अनित्य है तो उसका अन्त म मोक्ष नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त जब एक आत्मा इस ज म म एक शरीर को छोडकर आगामी जन्म म बडे आकार के शरीर म जाएगी तो उसके मार्ग म कठिनाइयां आएगी। हम स्थूलरूप में कल्पना कर सकते ह कि आत्मा अवयवों के साथ अन्य अवयवों के संयोग से बडी एव अवयवों को घटाकर छोटी भी हो सकती है। नये अवयव निरन्तर आते रहेंगे और पुराने अवयव निकलते रहेंगे। इस प्रकार हम यह कभी निश्चय नही हो सकता कि वही एक आत्मा बराबर रहती है। यदि कहा जाए कि कतिपय आवश्यक अवयव बराबर अपरिवर्तित रूप में रहते ह तो आवश्यक एव आनुषगिक अवयवों म भेद करना कठिन होगा। जैनी लोग इन आपत्तियों का समाधान दृष्टान्तों के उद्धरण द्वारा करते ह। जिस प्रकार एक दीपक चाहे छोटे से छोटे बरतन म रखा जाए चाहे एक बडे कमरे म सारे स्थान को प्रकाशित करता है इसी प्रकार जीव भी भिन्न भिन्न शरीरों के आकारों के अनुकूलरूप से सिकुडता और फलता है।

८

तत्त्वविद्या

अध्यात्मविद्या के विषय म जनमत उन सब सिद्धान्तों के विरोध म है जो नैतिक उत्तरदायित्व पर बल नहीं देते। मनुष्य की मुक्ति म नैतिक हित ही निर्णायक दृष्टिकोण है। ईश्वर के द्वारा सृष्टि की रचना के सिद्धान्तों अथवा प्रकृति के अन्दर से अथवा असत् से सृष्टि के विकास सम्बन्धी सिद्धान्तों की समीक्षा इस आधार पर की गई है कि उक्त सिद्धान्त दुःख के उद्भव एव उससे छुटकारे की व्याख्या नहीं कर सकते।[3] यह समझना कि एक बुद्धिसम्पन्न प्रमाता पांच तत्त्वों के मेल से उत्पन्न होता है नैतिक दृष्टि से उतना ही निरर्थक है जैसेकि यह कल्पना कि सृष्टि का नानात्व केवल एक बुद्धिसम्पन्न या मेधावी तत्त्व की बहुगुण अभिव्यक्ति है। आत्मा को निष्क्रिय मानने से नैतिक विभेद अपना महत्त्व खो बठते हैं।[4] यह कथन कि आत्मा का अनादि और अनन्त होना तो अक्षुण्ण रहता है और ससार की सब घटनाएं सत्ता के घटकों के सम्मिश्रण एव पृथक्करण के परिणाम हैं आत्मा के अपने उपक्रम का ही नाश कर देगा और इस प्रकार के किसी भी कर्म के लिए आत्मा का नैतिक उत्तरदायित्व सर्वथा निरर्थक हो जाएगा।[5]

१ मध्यमपरिमाण अर्थात् न तो सर्वव्यापक ही है और न अणुरूप ही है।
२ शांकरभाष्य वेदान्तसूत्रों पर द्वितीय खण्ड २ ३३–३६।
३ सूत्रकृताग प्रथम १ १ ३ ५–९।
४ वही प्र १ १ ७–१ ११–१२ द्वि १ १६ १७।
५ वही प्र १ १ १३। ६ वही प्र १ १, १५ द्वि, १ २२–२४।

या जड है। अजीव तीनों प्रकार की चेतना से वर्जित है। यह ज्ञेय (विषय पदार्थ) है।[1] "जो नानाविध पदार्थों को जानता है एव उनका प्रत्यक्ष अनुभव करता है, सुख की इच्छा करता है और दु.ख से भय करता है, उपकार के भाव से अथवा किसीको नुकसान पहुचाने के विचार से कर्म करता है और उसके फलो का उपभोग करता है, वह जीव है।"[2] जीव और अजीव से तात्पर्य अहम् और अहभिन्न नही है। यह ससार के पदार्थों का एक विषयाश्रित या वस्तुपरक वर्गीकरण है जिसके कारण जीव और अजीव मे अन्तर है। जानदार प्राणी आत्मा और शरीर के सयोग से बने है और उनकी आत्मा प्रकृति से विरुद्धगुण होने के कारण नित्य है। अजीवो की भी मुख्यत' दो विभिन्न श्रेणिया हैं : एक तो वे जो अरूप या बिना आकृति के है जैसे धर्म, अधर्म, देश, काल; और दूसरे वे जो आकृतिसम्पन्न हैं, अर्थात् पुद्गल अथवा भौतिक पदार्थ।

प्रथम अजीव द्रव्य आकाश अथवा देश (अन्तरिक्ष) है। इसके दो विभाग हैं—(१) लोकाकाश, वह भाग जिसमे भौतिक पदार्थ है और (२) उसके परे का देश जिसे अलोकाकाश कहते हैं और जो बिलकुल शून्य है।[3] प्रदेश के बिन्दु की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की गई है . उस कुछ को प्रदेश के रूप मे जानो जो पुद्गल के एक अविभाज्य परमाणु से घिरा हुआ है और जो सब अन्य कणो को जगह दे सकता है।[4] इस प्रकार के प्रदेश मे एक अवयव धर्म का, एक अधर्म का, एक कण समय का और प्रकृति के कितने ही परमाणु एक सूक्ष्म अवस्था मे रह सकते हैं। देश (आकाश) अपने-आपमे न गति की अवस्था मे है और न ही स्थिरता की अवस्था मे।[5] पदार्थों के एकसाथ देश मे लटकते रहने से अस्तव्यस्तता आ जाएगी। विश्व के निर्माण के लिए उन्हे गति एव स्थिरता के किन्ही नियमो मे बद्ध होना आवश्यक है। धर्म गति का स्वभाव है। "धर्म स्वाद, रग, गन्ध, शब्द एव सम्बन्ध आदि गुणो से रहित है। यह सारे विश्व मे व्याप्त है, और सतत वर्तमान रहता है क्योंकि इसे पृथक् नही कर सकते, यह विस्तारसम्पन्न है, क्योंकि देश के साथ ही इसका भी विस्तार होता है। यद्यपि यह वास्तव मे एकप्रदेशी है तो भी व्यवहार मे अनेक प्रदेशो वाला है।"[6] यह अमूर्त अर्थात् अशरीरी है, अबाधित और अमिश्रित है। "चूकि अशरीरी रूप मे इसकी अनन्त अभिव्यक्तिया हैं, यह अगुरुलघु है और चूकि इसकी स्थिरता प्रकट एव अप्रकट रूप मे विवादास्पदरूप है, इसलिए यह एक वास्तविक सत्ता है। स्वय गति से बिना प्रभावित हुए भी यह गति के योग्य वस्तुओ को एव प्रकृति और जीवन की गति को नियन्त्रित करता है,"[7] "जैसेकि जल अपने-आपमे निश्चेष्ट एव उदासीन रहते हुए भी मछली की गति का नियन्त्रण करता है।"[8] धर्म के अन्दर प्रकृति के विशेष गुण नही है तो भी यह स्वय विद्यमान सत्ता है, जिसमे इन्द्रियग्राह्य गुणो का अभाव है। यह गति का माध्यम है यद्यपि इसका कारण नही है। अधर्म

१ पञ्चास्तिकायसमयसार, १३२। २ वही, १२९।
३. पञ्चास्तिकायसमयसार; और भी देखें सर्वदर्शनसग्रह, १९–२०।
४. सर्वदर्शनसंग्रह, २७। ५ पञ्चास्तिकायसमयसार, ९९ और १००।
६. वही, ९०। ७ वही, ९१।
८. वही, ८५, ९५; और भी देखें सर्वदर्शनसंग्रह, १७, और वर्धमानपुराण, १६ . २९।

धारण करने का गुण। ये सब गुण द्रव्यों में सामान्य हैं किन्तु इनके अतिरिक्त प्रत्येक द्रव्य की अपनी विशेषता भी रहती है। हम इन गुणों में से किसी को भी पृथक् करके उसे आधारभूत गुण का स्वर नहीं देना चाहिए। तो भी गुण द्रव्य के बिना अथवा द्रव्य गुण के बिना नहीं रह सकते।[1] जैनी लोग न्याय के इस सिद्धान्त को कि द्रव्य और गुण में नितान्त भेद है खण्डन करते हैं। किसी भी वस्तु की सत्ता अपने गुणों का लक्षण है और गुण वस्तु का अन्तरंग भाग है। भेद अन्योन्याश्रयत्व सम्बन्धी है विद्यमानता-सम्बन्धी नहीं। यदि द्रव्य अपने गुणों से नितान्त पृथक् और भिन्न है तब यह अनन्त प्रकार के अन्य द्रव्यों में भी परिवर्तित हो सकता है इसी प्रकार यदि गुण अपने द्रव्यों से अलग होकर विद्यमान रह सकते हैं तो फिर किसी द्रव्य की एकदम आवश्यकता ही नहीं रह जाती।[3] निर्गुण ब्रह्म की कल्पना और क्षणिकवाद का भी उपलक्षित रूप में खण्डन किया है।[4] द्रव्य और गुण बाह्यरूप से सम्बद्ध हो सकते हैं जैसे देवदत्त की गाय, और आन्तरिकरूप में सम्बद्ध हो सकते हैं जैसे लम्बे कद की गाय। जैसे धन और ज्ञान अपने स्वामियों को धनी और ज्ञानी बनाते हैं यद्यपि ये परस्पर सम्बन्ध के दो भिन्न प्रकारों अर्थात् एकता और भिन्नता को अभिव्यक्त करते हैं इसी प्रकार द्रव्य और गुणों के मध्य का सम्बन्ध तादात्म्य *और भिन्न के दो भिन्न भिन्न पहलुओं का संकेत करते हैं।* द्रव्य और गुण के बीच का सम्बन्ध एक प्रकार की समकालीन समानता एकता असम्भव पार्थक्य और अनिवार्य सरलता का है द्रव्य और गुणों की एकता परस्पर संयोग की नहीं है।[5]

द्रव्य को गुणों समेत किसी न किसी आकृति व अवस्था में विद्यमान होना चाहिए। अस्तित्व का यह प्रकार पर्याय है और परिवर्तन के अधीन है। सोना एक द्रव्य है जिसके लचीलेपन और पीतवर्ण रूपी गुणों में परिवर्तन नहीं होता। पर्याय अथवा आकृतियों के परिवर्तित होने पर भी गुण वर्तमान रहते हैं। पर्याय अर्थात् परिवर्तन दो किस्म के होते हैं (१) द्रव्य के अनिवार्य गुणों में परिवर्तन। जैसे के रंग में परिवर्तन हो सकता है यद्यपि रंग एक निरन्तर रहनेवाला गुण है।[6] (२) आनुषंगिक गुणों में परिवर्तन जैसे गदलापन। जल को हमेशा ही गदला नहीं रहना है।

समस्त सत्तात्मक विश्व दो प्रकार के वर्गों में अर्थात् जीव एवं अजीव या जड़ में विभक्त है और ये वर्ग बराबर रहनेवाले हैं जिनकी रचना नहीं की गई है और सह अस्तित्व वाले हैं किन्तु एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। जीव भोक्ता है और अजीव अथवा जड़ भोग्य है। जिसमें चेतना है वह जीव है और जिसमें चेतना तो नहीं है किन्तु जिसे स्पर्श कर सकते हैं जिसका स्वाद ले सकते हैं जिसे देख सकते हैं और सूंघ सकते हैं वह अजीव

१ पञ्चास्तिकायसमयसार १३। २ वही ५०।

३ विशेष के बिना सामान्य और सामान्य के बिना विशेष नहीं रह सकता। मणिभद्र हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय पर अपनी वृत्ति में पृष्ठ ४६ पर एक श्लोक उद्धृत करता है 'द्रव्यं पर्यायवियुतम्, पर्याया द्रव्यवर्जिताः क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा'।

४ पञ्चास्तिकायसमयसार ५३। ५ वही ५६।

६ सहभावी पर्याय। यह द्रव्य एवं उसके गुणों के साथ साथ वर्तमान रहता है।

७ क्रमभावी पर्याय। यह अन्य परिवर्तन के पश्चात् आता है।

या जड है। अजीव तीनों प्रकार की चेतना से वर्जित है। यह ज्ञेय (विषय पदार्थ) है।[1] "जो नानाविध पदार्थो को जानता है एव उनका प्रत्यक्ष अनुभव करता है, सुख की इच्छा करता है और दु.ख से भय करता है, उपकार के भाव से अथवा किसीको नुकसान पहुचाने के विचार से कर्म करता है और उसके फलो का उपभोग करता है, वह जीव है।"[2] जीव और अजीव से तात्पर्य अहम् और अहभिन्न नही है। यह ससार के पदार्थों का एक विषयाश्रित या वस्तुपरक वर्गीकरण है जिसके कारण जीव और अजीव मे अन्तर है। जानदार प्राणी आत्मा और शरीर के सयोग से बने हैं और उनकी आत्मा प्रकृति से विरुद्धगुण होने के कारण नित्य है। अजीवो की भी मुख्यत' दो विभिन्न श्रेणिया है: एक तो वे जो अरूप या विना आकृति के हैं जैसे धर्म, अधर्म, देश, काल; और दूसरे वे जो आकृतिसम्पन्न हैं, अर्थात् पुद्‌गल अथवा भौतिक पदार्थ।

प्रथम अजीव द्रव्य आकाश अथवा देश (अन्तरिक्ष) है। इसके दो विभाग हैं—(१) लोकाकाश, वह भाग जिसमे भौतिक पदार्थ हैं और (२) उसके परे का देश जिसे अलोकाकाश कहते हैं और जो विलकुल शून्य है।[3] प्रदेश के विन्दु की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की गई है· उस कुछ को प्रदेश के रूप मे जानो जो पुद्‌गल के एक अविभाज्य परमाणु से घिरा हुआ है और जो सब अन्य कणो को जगह दे सकता है।[4] इस प्रकार के प्रदेश मे एक अवयव धर्म का, एक अधर्म का, एक कण समय का और प्रकृति के कितने ही परमाणु एक सूक्ष्म अवस्था मे रह सकते है। देश (आकाश) अपने-आपमे न गति की अवस्था मे है और न ही स्थिरता की अवस्था मे।[5] पदार्थो के एकसाथ देश मे लटकते रहने से अस्तव्यस्तता आ जाएगी। विश्व के निर्माण के लिए उन्हे गति एव स्थिरता के किन्हीं नियमो मे वद्ध होना आवश्यक है। धर्म गति का स्वभाव है। "धर्म स्वाद, रग, गन्ध, शब्द एव सम्वन्ध आदि गुणो से रहित है। यह सारे विश्व मे व्याप्त है, और सतत वर्तमान रहता है क्योकि इसे पृथक् नही कर सकते, यह विस्तारसम्पन्न है, क्योंकि देश के साथ ही इसका भी विस्तार होता है। यद्यपि यह वास्तव मे एकप्रदेशी है तो भी व्यवहार मे अनेक प्रदेशो वाला है।"[6] यह अमूर्त अर्थात् अशरीरी है, अवाधित और अमिश्रित है। "चूकि अशरीरी रूप मे इसकी अनन्त अभिव्यक्तिया है, यह अगुरुलघु है और चूकि इसकी स्थिरता प्रकट एव अप्रकट रूप मे विवादास्पदरूप है, इसलिए यह एक वास्तविक सत्ता है। स्वय गति से विना प्रभावित हुए भी यह गति के योग्य वस्तुओ को एव प्रकृति और जीवन की गति को नियन्त्रित करता है,"[7] "जैसेकि जल अपने-आपमे निश्चेष्ट एव उदासीन रहते हुए भी मछली की गति का नियन्त्रण करता है।"[8] धर्म के अन्दर प्रकृति के विशेष गुण नही है तो भी यह स्वय विद्यमान सत्ता है, जिसमे इन्द्रियग्राह्य गुणो का अभाव है। यह गति का माध्यम है यद्यपि इसका कारण नही है। अधर्म

१ पञ्चास्तिकायसमयसार, १३२। २ वही, १२६।
३. पञ्चास्तिकायसमयसार, और भी देखें सर्वदर्शनसग्रह, १९–२०।
४. सर्वदर्शनसंग्रह, २७। ५ पञ्चास्तिकायसमयसार, ९९ और १००।
६ वही, ९०। ७. वही, ९१।
८. वही, ८५, ९५, और भी देखें सर्वदर्शनसंग्रह, १७, और वर्धमानपुराण, १६ : २९।

स्थिरता का स्वभाव है। यह भी इन्द्रियगणों से विहीन है, अशरीरी या अमूर्त है और लोकाकाश के समान विस्तार वाला है।[1] उक्त दोनों तत्त्व गतिशून्य, अभौतिक परमाणु-विहीन और रचना में अखण्डित हैं। धर्म एवं अधर्म गति एवं स्थिरता के उदासीन हेतु हैं। निमित्त कारण इससे भिन्न है, अन्यथा पदार्थ या तो सदा गतिमान ही रहें या स्थिर ही रहें। वे केवल गति और स्थिरता के सहचारी प्रतिबन्ध मात्र ही नहीं हैं अपितु विश्व की रचना में समस्त गतिमान एवं स्थिर पदार्थों की पृष्ठभूमि में कार्य करते हुए सिद्धान्त हैं। वे पृथक् पृथक् टुकड़ों के अस्तव्यस्त समुदाय को एक सुव्यवस्थित सम्पूर्ण बनाने में एकत्र जोड़नेवाले माध्यम का काम करते हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि जनदर्शन में धर्म और अधर्म से तात्पर्य अच्छे और बुरे कर्मों से नहीं है, जिनको प्रकट करने के लिए दूसरे शब्द पुण्य और पाप हैं। ये वे शक्तियां हैं जो गति और स्थिरता का *नियन्त्रण करती* हैं। देश धर्म और अधर्म को लेकर सब पदार्थों आत्माओं और प्रकृति की भी स्थिति के लिए उचित परिस्थिति का निर्माण करता है। देश तो रहने के लिए स्थान देता है और धर्म व अधर्म वस्तुओं के लिए गति या स्थिरता सम्भव करते हैं। आधुनिक दर्शनशास्त्र के अनुसार ये तीनों व्यापार अर्थात् विद्यमान रहना, गति करना एवं स्थिरता आकाश के ही गुण बतलाए गए हैं। वे तीनों ही गुण परस्पर एक दूसरे में समाविष्ट हैं। स्थान विशेष के दृष्टिकोण से ये एक ही प्रमाण एवं आकार के हैं, अर्थात् ऐसी एकता रखते हैं जिसमें पृथक्करण सम्भव नहीं है। व्यापारों की भिन्नता में ही उन्हें पहचाना जा सकता है।

काल को भी कभी अपद्रव्य समझा जाता है। यह विश्व की वह सर्वव्यापक आकृति है जिसके द्वारा संसार की समस्त गतियां सूत्रबद्ध हैं। यह एक *व्यवधानपूर्ण* परिवर्तनों की शृंखलाओं का केवल जोड़मात्र नहीं है किन्तु स्थिरता की एक प्रक्रिया है—भूत एवं वर्तमान काल को चिरस्थायी बनाना है।

काल का अस्तित्व तो है किन्तु उसमें कायत्व अथवा विशालता या विस्तार नहीं है। एकप्रदेशीय होने के कारण इसमें विस्तार नहीं है।[2] नित्य काल में (जिसकी न आकृति है न आदि और अन्त है) तथा सापेक्ष काल में (जिसका आदि और अन्त है तथा घंटे, मिनट आदि के भी परिवर्तन हैं) भेद किया जाता है। नित्यरूप काल को हम काल के नाम से एवं सापेक्ष प्रकार के काल को समय के नाम से पुकारते हैं। काल समय का महत्त्वपूर्ण कारण है। वर्तन अथवा परिवर्तनों की निरन्तरता परिणाम द्वारा अनुमान की जाती है।[3] *सापेक्ष समय का निर्णय परिवर्तनों अथवा वस्तुओं के अन्दर गति के द्वारा होता है।* यह परिवर्तन अपने आपमें निरपेक्ष काल के कार्य हैं। काल को चक्र अथवा पहिया या घूमनेवाला कहा जाता है। चूंकि काल की गति से सब पदार्थों की आकृति का विन्यास

१ पञ्चास्तिकायसमयसार ६४।

२ देखिए सर्वदर्शनसंग्रह २५। यदि हम कहें कि पुद्गल का एक अणु भी प्रदेश घेरता है और इसलिए उसे काय नहीं कह जा सकता तो उसका उत्तर यह है कि एक अणु यद्यपि एक प्रदेश में है लेकिन कई स्कन्धों में अनेक से अनेक प्रदेश वाला हो जाता है। इस कारण साधारण दृष्टिकोण से सबको काय कहते हैं। (सर्वदर्शनसंग्रह २६)।'

३ पञ्चास्तिकायसमयसार, २३–२६।

सम्भव होता है इसीलिए काल को सहारकर्ता भी कहा गया है।[1]

अगला विभाग पुद्गल अथवा प्रकृति का है, जिसपर विचार करना है। "इन्द्रियो, इन्द्रियो के गोलको, नाना प्रकार के जीवो के शरीरो, भौतिक मन एव कर्मों आदि के द्वारा जिसका प्रत्यक्ष होता है वे सब मूर्त अथवा आकृतिमान पदार्थ हैं। ये सब पुद्गल हैं।"[2] "शब्द, सयोग, सूक्ष्मता, कठोरता, आकृति, विभाग, अन्धकार और मूर्ति जिसमे चमक और उष्णता है—ये सब उस पदार्थ के परिवर्तन है जिसे पुद्गल कहते है।"[3] प्रकृति एक नित्य पदार्थ है जिसके गुणो एव इयत्ता या परिमाण का निश्चय नही है। बिना किन्ही कणो के जोडने या घटाने पर भी यह बढ या घट सकती है। यह कोई भी आकृति धारण कर सकती है और नाना प्रकार के गुणो का विकास कर सकती है। यह शक्ति की वाहक है जो तत्त्वरूप से गतिमूलक अथवा गति के स्वभाव की है। यह गति पुद्गल नामक पदार्थ की है और दो प्रकार की है—सामान्य गति, अर्थात् परिस्पन्द और विकास अर्थात् परिणाम। पुद्गल विश्व का भौतिक आधार है। स्वय प्रकृति को सूक्ष्मता और दृश्यमानता की विविध मात्राओ के छह भिन्न भिन्न प्रकारो मे अवस्थित कहा गया है। स्पर्श, स्वाद, गन्ध, वर्ण और शब्द आदि गुण पुद्गल से सम्बद्ध है। जैनियो का तर्क है कि आत्मा एव आकाश (देश) को छोडकर अन्य सब कुछ प्रकृति की उपज है। जो पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष मे आते हैं वे ठोस प्रकृति से बने हैं। हमारी इन्द्रियो की पहुच के परे भी सूक्ष्म प्रकृति है और यह कर्म की भिन्न-भिन्न श्रेणियो मे परिवर्तित हो जाती है।

जैन भौतिकशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त के अनुसार, विश्व का ढाचा परमाणुओ से निर्मित है। भौतिक पदार्थ, जो इन्द्रियो से जाने जाते है अणुओ अथवा परमाणुओ से निर्मित है। उनकी धारणा है कि पुद्गलो का एक नितान्त एकजातीय समूह है जो भिन्नताओ और गुणो द्वारा निश्चित नाना प्रकार के अणुओ मे विभक्त हो जाता है, अणु का आदि मध्य अथवा अन्त कुछ नही होता। यह अति सूक्ष्म नित्य एव निरपेक्ष परमसत्ता है। इसका न तो निर्माण होता है और न नाश होता है। यह स्वय अमूर्त है या आकृतिविहीन है यद्यपि अन्य सब मूर्त पदार्थो का आधार है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि यह आकृतिमान है इसलिए क्योकि केवली अथवा सर्वज्ञ पुरुष इसका प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकता है। अणुओ के अन्दर गुरुत्व बतलाया गया है। अधिक गुरुत्वसम्पन्न अणु नीचे की दिशा मे और हल्के अणु ऊपर की दिशा मे गति करते हैं। प्रत्येक अणु प्रदेश के एक अश को घेरता है।[4] सूक्ष्म अवस्था मे असख्य अणु एक ठोस अणु के प्रदेश को घेरते है। हरएक अणु का एक विशेष प्रकार का स्वाद, रग, गन्ध और सम्बन्ध होता है।[5] उक्त गुण नित्य एव स्थायी नही है। भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति अणुओ के परस्पर सयोग से होती है क्योकि अणुओ मे परस्पर आकर्षण की शक्ति रहती है। दो अणुओ से मिलकर एक सयुक्त पदार्थ बनता है जिनमे से एक लसदार या चिपचिपा और दूसरा सूखा अथवा दोनो ही भिन्न-भिन्न श्रेणी के लसदार व सूखे होते है। अणुओ का परस्पर सयोग उसी अवस्था मे होता

१. तुलना कीजिए "कालोऽस्मि", भ० गीता, ११ : ३२।
२. पञ्चास्तिकायसमयसार, ८६।
३. सर्वदर्शनसग्रह, १०।
४. पञ्चास्तिकायसमयसार, ८४।
५. वही, ५७।

है जबकि वे परस्पर विभिन्न प्रकृति के होते हैं। अणुओं के परस्पर आकर्षण एवं अपकर्षण को जैनी लोग स्वीकार करते हैं। अणुओं के अन्दर गति देना, धर्म और अधर्म के कारण होती है। उक्त संयुक्त पदार्थ अथवा स्कन्ध दूसरों के साथ सम्बद्ध होते हैं और वे अन्यों के साथ। इसी प्रकार सृष्टि का क्रम चलता है। इस प्रकार से पुद्गल दोनों प्रकार के अणुओं अथवा स्कन्धों में एवं उनके समूहों में विद्यमान रहता है। स्कन्ध युग्मसमूहों से लेकर अनन्त संयुक्त पदार्थ तक विविध प्रकार के होते हैं। प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ एक स्कन्ध है और भौतिक जगत् सम्पूर्ण रूप में एक महास्कन्ध अथवा महान् समूह है। भौतिक जगत् में जो भी परिवर्तन होते हैं अणुओं के विश्लेषण एवं संश्लेषण के ही कारण होते हैं।[1] हम पहले कह चुके हैं कि अणु सदा एक प्रकृति के नहीं रहते किन्तु उनके रूप में परिवर्तन अथवा परिणाम होता रहता है जो नये गुणों के धारण करने से होता है। इससे यह भी निश्चय निकलता है कि अणु भिन्न भिन्न प्रकार के नहीं हैं जो भिन्न भिन्न तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के अनुकूल हों। तत्त्वों के विशेष गुणों के विकसित होने के कारण अणु भिन्न भिन्न हो जाते हैं और तत्त्वों का निर्माण करते हैं। न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त है कि अणु अनेक प्रकार के हैं जितने प्रकार के तत्त्व हैं किन्तु जैनियों का विचार है कि एकजातीय अणु विभिन्न संयोग के द्वारा भिन्न भिन्न तत्त्वों को बनाते हैं। प्रारम्भिक अणुओं में गुणों के कारण कोई भेद हो इस विचार को जैनी लोग स्वीकार नहीं करते।[2] इस विषय में जैनी ल्यूसिप्पस एवं डमोक्रिटस के साथ सहमत हैं। अणुओं के श्रेणी विभाजन से निर्मित वर्गों की नानाविध आकृतियाँ होती हैं। कहा गया है कि अणु के अन्दर ऐसी गति का विकास भी सम्भव है जो अत्यन्त वेगवान हो यहाँ तक कि एक क्षण के अन्दर समस्त विश्व की एक छोर से दूसरे छोर तक परिक्रमा कर आए।

जैनमत के अनुसार कर्म भौतिक स्वभाव का या पौद्गलिक है। इसी आधार पर जैनी कल्पना करते हैं कि विचार एवं भाव हमारे स्वभाव पर असर डालते हैं एवं हमारी आत्माओं की प्रवृत्तियों को बनाते हैं अथवा उनमें परिवर्तन करते हैं। कर्म एक आधारभूत शक्ति है एवं प्रकृति सूक्ष्म आकृति है। कर्म को अभिव्यक्त करने योग्य प्रकृति सम्पूर्ण विश्व के देश को आवृत करती है। इसके अन्दर अच्छे एवं बुरे कर्मों के कार्यों को विकसित करने का विशेष गुण है। आत्मा बाह्य जगत के सम्पर्क में आकर यौगिक अर्थों में सूक्ष्म प्रकृति के कणों द्वारा आच्छादित हो जाती है। यही कर्म बन जाते हैं और एक शरीर विशेष की रचना करते हैं जिसे कर्म शरीर कहते हैं और जो अन्तिम मोक्ष से पूर्व आत्मा का साथ नहीं छोड़ता। यह कार्मिक प्रकृति आत्मा की ज्योति में बाधक सिद्ध होती है। भावकर्म जीवों के सन्निकट है जबकि द्रव्यकर्म का सम्बन्ध शरीर के साथ है। ये दोनों एक दूसरे में सम्बद्ध हैं यद्यपि ये चेतन एवं अचेतन की भाँति एक दूसरे से विभिन्नगुण एवं पृथक् हैं। कर्म इस प्रकार से अपना कार्य करता है कि प्रत्येक परिवर्तन जो घटित होता है एक प्रकार का चिह्न छोड़ जाता है जो स्थिर होकर भविष्य कर्म का आधार बन जाता है। यह वास्तविक रूप में विद्यमान है और जीवों के स्वभाव में कार्य करता है। कर्म की

१ पञ्चास्तिकायसमयसार, ८०—८३।
२ वही, ८४।

अवस्थाए पाच प्रकार की बताई गई है। इनमे से प्रत्येक अपने अनुकूल भाव अथवा मानसिक अवस्था का निर्णय करती है। 'उत्थान, दमन, अभाव, मिश्रित निरोध, अथवा अव्यवस्थित विचार के कारण जीव के पाच भाव, अथवा विचार-सम्बन्धी अवस्थाए है।'[1] अन्तिम वाला कर्म द्वारा अनियन्त्रित है जबकि अन्य चार भौतिक पक्ष मे परिवर्तनो द्वारा नियन्त्रित हैं। साधारण अवस्थाओ मे कर्म सफल होकर अपने उचित परिणामो को उत्पन्न करता है। आत्मा को औदयिक अवस्था मे स्थित बताया गया है। उचित साधन के द्वारा कुछ समय तक के लिए कर्म को अपना असर करने से रोका जा सकता है। यद्यपि इसे निष्क्रिय किया जा सकता है तो भी राख से ढकी हुई आग के समान उसका अस्तित्व नष्ट नही होता। उस समय आत्मा का औपशमिक अवस्था मे वर्णन किया जाता है। किन्तु जब कर्म को केवल अपना असर उत्पन्न करने से न रोककर उसका मूल नाश कर दिया जाए तब आत्मा क्षयिक दशा मे होती है, और यही दशा उसे मोक्ष की ओर ले जाती है। आत्मा की चौथी दशा भी है अर्थात् क्षयोपशमिक, जिसमे पूर्व की सब दशाओ का भी भाग रहता है। इस दशा मे कुछ कर्म समूल नष्ट हो जाते है, कुछ उदासीन हो जाते है एव कुछ क्रियाशील रहते है। यह दशा ऐसे पुरुषो की होती है जिन्हे हम सज्जन कहते है जबकि क्षयिक एव औपशमिक दशाए केवल पुण्यात्माओ की ही होती हैं।[2]

इस प्रकार अजीव-जगत् मे पाच वास्तविक वस्तुए हैं जिनमे से चार अभौतिक अथवा अमूर्त है अर्थात् देश, काल, धर्म एव अधर्म, और पाचवी वस्तु पुद्गल भौतिक अर्थात् मूर्त है अथवा आकृतिमान है। इन पाच पदार्थो के वर्ग से ससार अथवा लोक बना हुआ है और इनसे परे अपरिमेय अनन्त है जिसे अलोक कहते है।[3]

१. पञ्चास्तिकायसमयसार, ६२, उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम, परिणाम।

२ जब कर्म आत्मा के अन्दर प्रविष्ट होता है तब यह आठ प्रकार की प्रकृतियों में परिवर्तित हो जाता है जिनसे 'कार्मण शरीर' बन जाता है। इन आठ प्रकार के कर्मों में सम्मिलित है—ज्ञानावरणीय, अर्थात् वह जो आन्तरिक ज्ञान को ढक लेता है और जिसके कारण नाना श्रेणी का ज्ञान अथवा अज्ञान उत्पन्न होता है, दर्शनावरणीय, अर्थात् वह जिससे यथार्थ अन्तर्दृष्टि पर आवरण हो जाता है, वेदनीय, अर्थात् वह जो आत्मा के आनन्दस्वरूप को ढककर सुख एव दु ख को उत्पन्न करता है, और मोहनीय, अर्थात् वह जो आत्मा की विश्वास-श्रद्धा, आचरण, वासनाओं एव मनोवेगों के प्रति सत्प्रवृत्ति को ढककर सशय, भ्रान्ति तथा अन्यान्य मानसिक विक्षेपों को उत्पन्न करता है। शेष चार एक व्यक्ति-विशेष के पद के विषय में प्रतिपादन करते हैं। आयुष्क, अर्थात् वह जो मनुष्य के एक जन्म की अवधि का निर्णय करता है, नाम, अर्थात् वह जो नानाविध परिस्थितियों अथवा ऐसे तत्त्वों को जो मिलकर मानुषिक जीवन का निर्माण करते हैं, उत्पन्न करता है, अर्थात् सामान्य एवं विशेष गुणयुक्त शरीर को उत्पन्न करता है, गोत्र, अर्थात् जो जाति, जन्मपरक वर्ण एव एक व्यक्ति के सामाजिक पद का निर्णय करता है, और अन्तराय, अर्थात् जो आत्मा की आन्तरिक शक्ति के मार्ग में बाधा देता है एव इच्छा रहते हुए भी सत्कार्य करने से रोकता है।

कर्मसिद्धान्त के साथ-साथ लेश्याओं का सिद्धान्त है। लेश्या छ है। आत्मा के द्वारा गृहीत कर्म-समूह में एक अत्यन्त सूक्ष्म प्रकार का वर्ण रहता है जिसे हमारी आख नहीं देख सकती। उनका एक नैतिक आधार रहता है। आत्मा की दशा-विशेष उसके अपने निजी स्वरूप तथा उसमे सयुक्त कर्म के कारण होती है। प्रत्येक प्रकार के कर्म की अपनी पूर्वनिर्धारित मर्यादाए रहती हैं जिनके अन्दर ही उसे फल देकर नष्ट हो जाना है।

३. पञ्चास्तिकायसमयसार, ३।

प्रकृति अथवा भौतिक पदार्थों से भिन्न जीवात्माएं हैं जिन्हें जीव अर्थात् जीवन कहते हैं। जनग्रन्थों में जीव शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है और यह जीवन, प्राणशक्ति, आत्मा एवं चेतना आदि का द्योतक है। जीव जीवित अनुभव का नाम है जोकि बाह्य जगत के भौतिक पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। जीव संख्या में अनन्त हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। यथा (१) नित्यसिद्ध अर्थात् सदापूर्णरूप, (२) मुक्त अथवा जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है और (३) बद्ध जो कर्म के बन्धन में जकड़े हुए हैं। दूसरी श्रेणी के जीव शरीर धारण नहीं करेंगे। उन्होंने विशुद्धता प्राप्त कर ली है और वे पारलौकिक दशा में निवास करते हैं जिनका सांसारिक कार्यों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐहलौकिक जीव भ्रान्ति के शिकार बनते हैं और ये प्रकृति के जुए में जुड़े हुए निरन्तर जन्म धारण करते रहते हैं। मुक्त आत्माएं एकदम पवित्र हैं और उनके अन्दर प्रकृति का लेशमात्र भी नहीं है। उनके लिए आत्मा एवं प्रकृति के मध्य साझेदारी का नाता समाप्त हो चुका है। वे निरुपाधि जीव हैं जो पवित्रता एवं असीम चेतना का जीवन व्यतीत करते हैं तथा जिन्हें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एवं अनन्त सुख प्राप्त हैं। सोपाधि जीवों का जो जीवन के चक्र में घूम रहे हैं, क्रूर पराश्रयी प्रकृति पीछा करती है। अज्ञान के कारण जीव अपने को प्रकृति के समान समझ लेता है। यह स्पष्ट है कि जीव मुक्तात्मा के रूप में शुद्ध प्रमाता (ज्ञाता) की ओर निर्देश करता है जो सरल एवं भ्रष्टता से दूर है। यह उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मा के अनुकूल है जो तर्कसम्मत, स्वयम्भू, अपरिवर्तनशील ज्ञाता सब प्रकार के ज्ञानों से पूर्व अवस्थित, अनुभव एवं इच्छा का स्वरूप है। अशुचि संसारी जीव एक ऐसा वर्ग है जिसका निर्णय जीवन द्वारा होता है। इस प्रकार का सन्दिग्ध (द्वयर्थक) प्रयोग ही तत्त्वज्ञान के अध्यात्मशास्त्र में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों को उत्पन्न करता है। अन्तिम मोक्ष अवस्था को छोड़कर आत्मा बराबर प्रकृति के साथ सम्बद्ध रहती है और यह सम्बन्ध कर्म के कारण होता है। समस्त परिवर्तनों के अन्दर जीवात्मा एकसमान वर्तमान रहती है क्योंकि यह शरीर की उपज नहीं है। जैनी स्वीकार करते हैं कि न तो किसी नये पदार्थ का सर्जन होता है और न ही पुराने पदार्थ का विनाश होता है अपितु केवल तत्त्वों का एक नये रूप में सम्मिश्रण होता है। जीव असत्य हैं किन्तु समानरूप से नित्य हैं। उनका विशिष्ट सारतत्त्व चेतना है जो नष्ट तो कभी नहीं होती यद्यपि बाह्य कारणों से धुंधली भले ही हो सकती है। जीवों को साकार माना गया है किन्तु उनका आकार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न होता है। समय-समय पर जैसे-जैसे शरीरों के साथ उनका सम्बन्ध रहता है उन्हीं के आकारों के अनुसार उनके अन्दर भी संकोचन एवं प्रसारण होता है। जैनियों की दृष्टि में जीवों के वर्गभेद का प्रश्न बहुत महत्त्व रखता है क्योंकि वे अहिंसा पर बल देते हैं जिसका तात्पर्य है कि जीवन का अपहरण न होना चाहिए। इन्द्रियों की संख्या रखने के आधार पर जीवों को विभागों में बांटा गया है। पांच इन्द्रिय रखनेवाले जीव सबसे ऊंचे हैं अर्थात् जिनके पास स्पर्श, स्वाद, गन्ध, दर्शन और श्रवण के लिए पांच भिन्न-भिन्न इन्द्रियां हैं। और सबसे निम्न श्रेणी के जीव वे हैं जिनके पास एक ही इन्द्रिय है अर्थात् वे केवल स्पर्श का अनुभव कर सकते हैं। इन दोनों श्रेणियों के मध्य वे जीव हैं जिनके पास क्रमशः दो, तीन और चार

इन्द्रिया है। उच्च श्रेणी के प्राणी अर्थात् मनुष्य और देवता एक छठी इन्द्रिय भी रखते हैं, जिसे मन कहते है, और इन्हे विवेकसम्पन्न कहा जाता है।[1] आत्मा इन्द्रियो एव शरीर से सर्वथा भिन्न एक चेतनस्वरूप सत्ता है।[2] जीवात्मा अपने गुणज्ञान से भिन्न नही है और चूकि ज्ञान के साधन भिन्न-भिन्न प्रकार के है इसलिए बुद्धिमान व्यक्तियो ने इस विद्यमान जगत् को भी नानाविध माना है।[3] जीवात्मा को उसके अपने ज्ञान से पृथक् नही कर सकते। अविमुक्त जीवात्माओ मे ज्ञान एव सुख भी सकुचित अवस्था मे रहते है। केवल मनुष्य एव जन्तुओ मे ही नही किन्तु सौरमडल के पदार्थों से लेकर एक ओसकण तक मे जीवात्मा है। भिन्न-भिन्न तत्त्वो मे तात्त्विक जीवात्माओ का निवास है, यथा, पार्थिव जीवात्मा, आग्नेय जीवात्मा। ये तात्त्विक जीवात्माए उत्पन्न होती हैं एव मरती है और फिर उन्ही अथवा उनसे भिन्न तात्त्विक शरीरो मे जन्म लेती है। ये ठोस एव सूक्ष्म होती हैं। सूक्ष्म जीवात्माए दृष्टिगोचर नही होती। वनस्पति मे एक इन्द्रिय वाले ही जीव रहते है। प्रत्येक पौधा एक जीवात्मा का भी शरीर हो सकता है या अनेको शरीरधारी जीवों का भी निवासस्थान हो सकता है। यद्यपि अन्य भारतीय दार्शनिक भी वनस्पति मे जीव मानते है किन्तु जैन विचारको ने इस कल्पना को एक अद्भुत रूप मे विकसित किया है। ऐसे पौधे जिनमे एक ही जीव है, सदा ठोस रूपवाले होते है और ये ससार के ऐसे ही भागो में पाए जाते है जो वास-योग्य है। परन्तु ऐसे पौधे जिनमे से प्रत्येक मे अनेक वानस्पतिक जीवों की बस्ती है, सूक्ष्म हो सकते है और इसीलिए अदृश्य है एव ससार के समस्त भूभागो में बटे हुए हो सकते है। इन सूक्ष्म पौधो को 'निगोद' कहते है। वे असख्य जीवात्माओ से मिलकर बने है जो एक अत्यन्त छोटे पुञ्ज के रूप मे होती है, और इनमे श्वास-प्रश्वास की क्रिया एव आहारप्राप्ति की क्रिया सम्मिलित रूप मे होती है। असख्य निगोदो से मिलकर एक गोलाकार वृत्त बनता है और ससार उनसे भरा हुआ है। ये निगोद उन जीवात्माओं द्वारा रिक्तस्थानो को जिन्हे निर्वाण प्राप्त हो जाता है, नई जीवात्माओ को देते है। कहा जाता है कि एक अकेले निगोद के अत्यन्त छोटे-से भाग ने अनादिकाल से आज तक उन जीवात्माओ के स्थान मे जो मोक्ष को प्राप्त हो गई, नई जीवात्माओ की पूर्ति की है। इसलिए हम यह कभी आशा नही कर सकते कि ससार किसी समय भी जीवित प्राणियों से रिक्त हो जाएगा।[4] जैनकल्पना का एक विशिष्ट स्वरूप है कि जैनी अपने सिद्धान्त के अनुसार, अगरहित पदार्थों मे यथा धातुओ एव पत्थरो तक मे, आत्मा के अस्तित्व को मानते है।

आत्मा की स्थिति अपने शरीर की स्थिति के ऊपर निर्भर करती है। अगरहित शरीर के अन्दर आत्मा की चेतना निष्क्रिय रूप मे रहती है जबकि ऐन्द्रिय शरीर मे चेतना की स्फूर्ति स्पष्ट प्रतीत होती है। मनुष्य रूपी प्राणियो के अन्दर चेतना क्रियाशील रहती है। लोकोक्ति से तुलना कीजिए : "सबका स्वभाव एक समान नही होता . मनुष्य का स्वभाव अपना है, पशुओ का अपना, मछलियो का एक दूसरा है और पक्षियो का एक अन्य ही प्रकार का।"

१ देखें पञ्चास्तिकायसमयसार, ११८–१२६। २. वही, १२८।
३ वही, ४९; और भी देखिए ५८। ४. देखें लोकप्रकाश, ६ . ३१ और आगे।

जीवात्मा का लक्षण है ज्ञान और यद्यपि इसकी कोई आकृति नहीं है तो भी यह कर्ता है एवं कर्मों के फलों का उपभोक्ता है और शरीर के समान आकार वाला है।[1] इसके अन्दर वास्तविक परिवर्तन होते रहते हैं अन्यथा यह कारणरूप कर्ता न होगा।[2] जीवात्मा भावों अथवा विचारों का उपादान कारण (कर्ता) है जबकि कर्मिक प्रकृति निमित्त कारण है।[3] कुम्हार के मस्तिष्क में विचार है और घड़ा उसके अन्दर में है और इस प्रकार अपनी पहली मिट्टीरूप सामग्री से निर्मित होता है। फिर भी अपनी अनन्त आकृतियों अथवा रूपों में रहते हुए भी जीवात्मा अपने स्वरूप अथवा व्यक्तित्व को स्थिर रखती है। जन्म एवं मृत्यु जीवात्मा के केवल पर्याय भर हैं अर्थात् जीवात्मा के रूपान्तर मात्र हैं। मुक्त आत्मा वह है जिसकी जीवात्मा संसार में है।[4] जीवात्मा के लिए विकास की विकासात्मक प्रक्रिया के काल में बराबर उसमें रहने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि यह शरीर से स्वतन्त्र भी अपनी सत्ता रख सकती है। आत्मा एक ऐसी यथार्थसत्ता है जो प्रकृति से स्वतन्त्र है और किन्हीं अर्थों में भी उसकी उपज नहीं है। यह नित्य एवं स्थायी है जिसका न आदि है न अन्त है। केवल संयुक्त पदार्थ ही पुनः जुदा होकर नष्ट होते हैं।

हमने यहां संक्षेप से पांच अजीव द्रव्यों एवं एक जीव का वर्णन किया है। इन छः में से सिवाय काल के अन्य सब अस्तिकाय[5] अथवा ध्रुवस्थानीय सत्ताएं हैं और ध्रुवस्थानीय सम्बन्धों की सम्भावना रखती हैं। काल यथार्थसत्ता है किन्तु अध्रुवस्थानीय है। इस प्रकार यह एक द्रव्य है अर्थात् ऐसा पदार्थ जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है किन्तु अस्तिकाय नहीं है और एक विस्तृत परिमाण का है। अनेक द्रव्य एक ही स्थान में और एक दूसरे के अन्दर प्रविष्ट होकर अपने अनिवार्य स्वरूप को बिना खोए हुए गति कर सकते हैं। जैनियों के छः द्रव्य वैशेषिक सिद्धान्त के नौ तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी वायु प्रकाश जल आकाश काल दिशा मन एवं आत्मा आदि से भिन्न हैं। जैनी लोग उक्त नौ में से प्रथम चार तत्त्वों को प्रकृति के ही अन्तर्गत मान लेते हैं। ये प्रकृति के सामान्य गुण हैं और भिन्न भिन्न इन्द्रियों के अनुकूल हैं। आकार-परिवर्तनीयता एवं विभिन्न रूपों का एकीकरण कर लेने की क्षमता के कारण प्रकृति को इकाई माना गया है। वैशेषिक आकाश को शब्द का कारण मानते हैं जबकि जैन लोग शब्द की उत्पत्ति प्रकृति के अवयवों के अन्तर्गत हुए कम्पना से मानते हैं।[6]

समस्त विश्व का विभाजन जीव एवं अजीव इन्हीं दो वर्गों में हो सकता है। छः द्रव्यों में से जीव एवं पुद्गल मुख्य हैं। शेष सब या तो उनके व्यापारों के मूल स्रोत हैं अथवा उनकी प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप हैं। जीव की प्रकृति के अन्दर उलझन के अतिरिक्त संसार और कुछ नहीं है। जीव और पुद्गल सक्रिय द्रव्य हैं अथवा निमित्त कारण हैं जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक गति करते हैं। धर्म एवं अधर्म गतियों को नियन्त्रित करते हैं किन्तु परिवर्तन के न तो प्रत्यक्ष कारण हैं और न ही उसकी परोक्ष अवस्थाएं ही

१ सर्वदर्शनसंग्रह ३।
२ पञ्चास्तिकायसमयसार, ६५।
३ वही ६४।
४ वही, २७।
५ अस्ति—वर्तमान है काय—देश को घेरे हुए।
६ पञ्चास्तिकायसमयसार, ७।

हैं। और इसीलिए इन्हे सक्रिय-निष्क्रिय द्रव्य कहा जाता है। जीव एव अजीव के मध्य सयोजक कडी कर्म है। जीव एव अजीव के साथ कर्मों की उत्पत्ति, उनका फल देना एवं नष्ट होना जैनमत के तत्त्व अथवा सिद्धान्त है।[1] जीव एव अजीव प्रधान तत्त्व है जो प्रायः सयुक्त रहते है। जीव का अजीव से नितान्त स्वतन्त्र हो जाने का नाम ही मोक्ष है। सब प्रकार के पुरुषार्थ का यही लक्ष्य है। और यह आदर्श केवल कर्म को रोकने अथवा त्याग देने से ही प्राप्त हो सकता है। सवर वह है जो रोक देता है। इसके द्वारा हम उन द्वारो को रोक देते है जिनके मार्गो से कर्म आत्मा के अन्दर प्रवेश पाता है। निर्जरा वह है जो पूर्वकृत पापो को जडमूल से नष्ट कर देती है। इन दोनो की आवश्यकता आस्रव, अर्थात् अन्दर की ओर प्रवाह, एव बन्ध के कारण होती है। विजातीय द्रव्य का आत्मा मे प्रवेश करने का नाम आस्रव है। बन्ध वह है जो आत्मा को शरीर के साथ जकडकर रखता है। यह बन्ध मिथ्या विश्वास अथवा मिथ्या दर्शन, अविरति या त्याग का अभाव, प्रमाद अथवा आलस्य, कषाय या मनोवेगो एव मन, शरीर और वाणी के योग के कारण होता है।[2] मिथ्यात्व से तात्पर्य है एक वस्तु को जैसी वह नही है वैसी समझ लेना।[3] जहा अन्त.-स्राव एव बन्ध दुष्कर्मो का परिणाम होते हैं वहा सदाचार से उनमे रुकावट और उनका त्याग हो सकता है। बराबर हमे भाव (मानसिक) एव द्रव्य (भौतिक) मे भेद दिखाई देता है। विचार कर्म का निर्णय करते है।[4]

कर्मिक प्रकृति की उपस्थिति के कारण ही आत्मा शरीर धारण करती है। यही कर्मिक प्रकृति है जो जीवात्मा के स्वाभाविक गुणो अर्थात् ज्ञान एव अन्तर्दृष्टि को विगाडती है। जब तक अन्तिम स्वातन्त्र्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त नही होता, जीवात्मा प्रकृति से पृथक् नही होती। इस प्रकार से जीवात्मा मे दूषण आता है। प्रकृति का सूक्ष्म अश, जो कर्म मे परिवर्तित होने को उद्यत होता है, जीवात्मा मे प्रवेश करता है। जैसे प्रत्येक विशिष्ट कर्म किसी न किसी अच्छे, बुरे अथवा निरपेक्ष व्यापार से उत्पन्न होता है, ऐसे ही यह भी अपने आवर्तन मे किन्ही दु खद एव सुखद परिणामो को उत्पन्न करता है। जब कोई विशेष कर्म अपना प्रभाव उत्पन्न करता है तब जीवात्मा उससे छूट जाती है, और यदि यह कर्मो के त्याग की प्रक्रिया विना बाधा के हो जाती है तो प्रकृति का समस्त दोष या कलक नष्ट हो जाता है। किन्तु दुर्भाग्यवश ये त्याग एव बधन साथ-साथ चलते रहते हैं और जीवात्मा ससार-चक्र के अन्दर भ्रमण करती रहती है। मृत्यु के समय जीवात्मा अपने कर्म-शरीर के साथ कुछ ही क्षण मे अपने नये जन्मस्थान पर पहुच जाती है और वहा नया शरीर धारण कर लेती है एव नये शरीर के आकार के अनुसार अपनी आवश्यकतानुसार विस्तार अथवा सकोच कर लेती है। ऐहलौकिक जीवो के अपने जन्मो के अनुसार चार विभाग है,

१. सात तत्त्व हैं : जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष (तत्त्वार्थसूत्र ४)। कभी-कभी पाप और पुण्य भी इनके साथ जोड दिए जाते हैं और इस प्रकार हमारे सामने ९ पदार्थ हो जाते हैं। (पञ्चास्तिकायसमयसार, ११६; सर्वदर्शनसग्रह, २८)।

२. उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र ७ : १।

३. असनी सद्बुद्धि। अद्वैतवाद के आवरण व विक्षेप जैनियों के इस सिद्धान्त के साथ समता रखते हैं।

४. देखिए सर्वदर्शनसग्रह, २६ और आगे।

अर्थात् (१) वे जो नरक म जन्म लेते हैं (२) वे जो प्राणी जगत मे जन्म लेते हैं (३) वे जो मनुष्य समाज म जन्म लते हैं और (४) वे जो देवलोक में जन्म लते हैं।[1]

९

नीतिशास्त्र

यदि मोक्ष प्राप्त करना है तो निम्नश्रेणी की प्रकृति का उच्चतर आत्मा के द्वारा दमन किया जाना आवश्यक है। जब जीवात्मा उस बोझ से मुक्त होती है जो इसे नीचे की ओर दबाए हुए है तो वह विश्व के ऊपर शिखर तक उठ जाती है जहां मुक्तात्माओं का निवास है। अन्तरात्मा मे नितान्त परिवर्तन होने से ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। मनुष्य के स्वभाव मे सुधार करने एव नये कर्म के निर्माण को रोकने के लिए नैतिकता (सदाचार) के पूरे उपकरण की आवश्यकता है। निर्वाण का मार्ग त्रिरत्नो अर्थात भगवान जिन मे आस्था रखने उनके सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने और निर्दोष आचरण मे से होकर जाता है। तत्त्वो म या यथार्थसत्ता मे विश्वास रखना ही यथार्थ विश्वास है। सशय एव भ्रान्ति से रहित यथार्थ स्वरूप का जो ज्ञान है वही यथार्थ ज्ञान है। बाह्य जगत के पदार्थों के प्रति राग एव द्वेष के भाव स रहित जो तटस्थता का भाव है वही यथार्थ आचरण है।[2] ये तीनो एकसाथ मिलकर एक मार्ग बनाते हैं और तीनो पर एकसाथ ही आचरण करना चाहिए। ज्ञानी एव श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति का पाच प्रकार का आचरण ही सदाचार या धर्म है अर्थात (१) अहिंसा जिसका तात्पर्य केवल हिंसा के त्यागमात्र का भाव ही नही किन्तु समस्त सृष्टि के प्रति सच्ची दयालुता का भाव रखना है (२) उदारता एव सत्यभाषण (३) सदाचरण जसे अस्तेय या चोरी न करने का भाव (४) वाणी विचार एव कर्म की पवित्रता और (५) समस्त सासारिक स्वार्थों का त्याग। ये सब धर्मात्मा पुरुष के लक्षण हैं। अन्तिम नियम की व्याख्या को कभी कभी पराकाष्ठा तक पहुचा दिया जाता है और यह विधान किया जाता है कि धर्मात्मा पुरुष को बिलकुल नग्न रहना चाहिए। वस्तुत इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस सीमा तक हम भेदभाव के प्रति सचेत रहते हैं और लज्जा का भाव भी हमारे अन्दर रहता है तब तक हम मुक्ति से दूर रहते हैं। जनियो का नीतिशास्त्र विश्वास एव कर्म दोनो पर ही बल देता है। साधारण ससारी पुरुषो एव तपस्वियो के लिए भिन्न भिन्न नियमो का विधान है।[3] ऐसे सब कर्म जो मनुष्य को मानसिक शान्ति देते हैं पुण्यकर्म हैं। पुण्य अर्जन के नौ प्रकार हैं जसे भूखे को भोजन देना प्यासे को जल पिलाना गरीब को वस्त्र देना साधुओं को आश्रय देना आदि आदि। हिंसा अर्थात किसीको दुख पहुचाना बहुत बडा पाप है। अन्य पापो म असत्याचरण, बेईमानी अपवित्रता लोभ आदि की गणना है। क्रोध अभिमान छल लालच या तृष्णा हमे ससार से जकडते हैं और इनके विपरीत धर्य नम्रता निश्छलता एव सन्तोष

१ पञ्चास्तिकायसमयसार १६।
पञ्चास्तिकायसमयसार १०५ और उ। दक्षिण तत्त्वार्थसूत्र १ १।
३ तत्त्वार्थसत्र ७ और आगे।

धार्मिक प्रेरणाओ को वढावा देते है। अन्य पाप जैसे घृणा, कलह, मिथ्या निन्दा, किसीके विरुद्ध प्रचार करना, दूसरो को अपशब्द कहना, आत्मसयम का अभाव, मक्कारी, और मिथ्या विश्वास इत्यादि भी वर्जित वताए गए है। पाप ईश्वर के प्रति अपराध नही वल्कि केवल मनुष्य-समाज के प्रति अपराध है।

उत्तम उपासक वह है जो मनुष्य, पशु-पक्षी,
सवसे एक समान प्रेम करता है।
सर्वोत्तम उपासक वह है जो छोटे-वडे
समस्त पदार्थों से एक समान प्रेम करता है।

—कॉलरिज

जैनियो का नीतिशास्त्र या आचारविधान वौद्धों के नीतिशास्त्र की अपेक्षा कही अधिक कठोर है। जैन-नीतिशास्त्र के अनुसार, धैर्य या धृति सवसे ऊचा धर्म है एव सुख पाप का कारण है।[1] मनुष्य को दुःख एव सुख दोनो के प्रति उदासीन रहने का प्रयत्न करना चाहिए। यथार्थ मुक्ति सव प्रकार के वाह्य पदार्थों से मुक्त रहने मे ही है। "ऐसा जीव जो वाह्य पदार्थों के प्रति इच्छा के द्वारा सुख एव दुख अनुभव करता है, अपने-आपके ऊपर नियन्त्रण खो वैठता है और भटक जाता है तथा वाह्य पदार्थों के पीछे दौडता रहता है। उसका निर्णय दूसरे के अधीन रहता है।"[2] "वह जीव जो अन्यो के प्रति सम्वन्धों एव विजातीय विचारो से, अपने प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव के आभ्यन्तर स्वभाव के द्वारा मुक्त होकर अपने नित्यस्वरूप को पहचान सकता है, कहा गया है कि उसीके आचार को आत्मनिर्णय कह सकते है।"[3] "हे मनुष्य ! तू स्वय अपना मित्र है, तू क्यो अपने से भिन्न किसी अन्य मित्र की अभिलाषा रखता है ?"[4] हमे नितान्त भाग्यवाद पर ही भरोसा नही करना चाहिए क्योकि यद्यपि कर्म सव कुछ का निर्णायक है, फिर भी हमारा वर्तमान जीवन, जो हमारे अपने सामर्थ्य के अधीन है, भूतकाल के कर्मफलो मे परिवर्तन कर सकता है। विशेष पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वकर्मो के प्रभाव से हम वच भी सकते है। और इसमे ईश्वर का कोई हस्तक्षेप भी नही है। सयमी वीर पुरुष मनमौजी ईश्वर की अस्थिर कृपा के कारण सौभाग्यशाली नही है वरन् उस विश्व की व्यवस्था के कारण है जिसके वे अग हैं। समाधि का विधान इसलिए किया गया है कि इसके द्वारा हमे अपने व्रतो को पूर्ण करने के लिए वल प्राप्त होता है।[5] अनुशासन के कठोर स्वरूप का अनुमान एक गृहस्थ के जीवन के लिए विहित ग्यारह आश्रमो और जीवात्मा के चौदह विकास-विन्दुओ से किया जा सकता है। तपस्या के इस भयावह आदर्श का पालन भारत मे अनेक महान भक्तो ने किया जिन्होने अपने शरीर तक को त्याग दिया।

जैनमत का विशिष्ट स्वरूप है अहिंसा, अर्थात् उस सवके प्रति पूज्यवुद्धि एव उन सवके भोग का त्याग जिसमे जीव है। उक्त नियम का अत्यन्त कट्टरता के साथ पालन करने के कारण जैनियो मे कुछेक ऐसी विधिया प्रचलित हो गईं जिनका अन्य

१ आचारागसूत्र, 'सैक्रेड वुक्स आफ द ईस्ट', २२, पृष्ठ ४८, और भी देखिए पृष्ठ ७६–७७।
२ पञ्चास्तिकायसमयसार, १६३।
३ वही, १६५।
४ 'सैक्रेड वुक्स आफ द ईस्ट', २२, पृष्ठ ३३।
५ तत्त्वार्थसूत्र, ७·४–१०।

मनावलम्बी विद्वान उपहास करने लगे। कहीं किसी जीव की हत्या न हो जाए इस विचार से कुछेक जैनी चलने से पूर्व मार्ग में झाड़ू देते हैं, मुख पर पट्टी डालकर चलते हैं जिससे कि कोई जीवित जन्तु श्वास के साथ नाक में न चला जाए, पानी को छानकर पीते हैं और शहद का भी त्याग करते हैं। यह सत्य है कि शाब्दिक अर्थों में अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। महाभारत में कहा है: "यह संसार ऐसे जन्तुओं से भरा है जो आंखों से नहीं दिख सकते बल्कि तर्क द्वारा ही अनुमान से जाने जाते हैं। जब हम अपनी पलकों को चलाते हैं तो उनके अंग टूटकर गिर पड़ते हैं।"[1] भागवत पुराण कहता है : "जीवन अन्य जीवन का प्राण है।"[2] यदि इन साधारण तथ्यों को भुला दिया जाए तो जीवन लगभग असम्भव ही हो जाए। एक कट्टर जैनी के व्यवहार में एक प्रकार का विकृत भय कि कहीं किसी भी रूप में अकस्मात जीवहिंसा न हो जाए, सदा व्याप्त रहता है।

बौद्धमत जहां एक ओर आत्महत्या का निषेध करता है, जैनमत का कहना है कि इससे जीवन में वृद्धि होती है। यदि तपस्या कठिन प्रतीत हो, यदि हम अपने मनोवेगों को न रोक सकें और न तपस्या को सहन कर सकें तो ऐसी अवस्था में आत्महत्या का विधान है। कभी-कभी यह भी तर्कसंगत माना गया है कि बारह वर्ष तक तपस्या की तैयारी के बाद भी मनुष्य अपनी आत्महत्या कर सकता है, क्योंकि उस अवस्था में निर्वाण निश्चित है। उस युग की अन्य दार्शनिक पद्धतियों के अनुसार जैनदर्शन ने भी स्त्रियों को प्रलोभन के पदार्थों में परिगणित किया है।[3] भारतीय विचारधारा की अन्य पद्धतियों के ही समान जैनमत भी विश्वास करता है कि अन्य मतावलम्बी भी केवल जैनमत के नियमों का पालन करने से लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। रत्नशेखर अपने 'सम्बोध सत्तरी' नामक ग्रन्थ की प्रारम्भिक पंक्तियों में कहता है : "भले ही कोई श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य किसी भी मत का अनुयायी, जो कोई भी जीवात्मा के असली स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, अर्थात प्राणिमात्र को अपनी आत्मा के समान समझता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।"

जैन जातिप्रथा के विरुद्ध नहीं हैं, जो उनके अनुसार मनुष्य के आचरण से सम्बन्ध रखती है। "मनुष्य अपने कर्मों से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र बन सकता है।"... "जो सब प्रकार के कर्मों से मुक्त है उसीको हम ब्राह्मण कहते हैं।"[4] जैन और बौद्ध दोनों ही 'ब्राह्मण' शब्द को एक सम्माननीय पद समझते हैं जिसका प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के लिए भी हो सकता है जो जन्म से ब्राह्मण नहीं हैं।[5] जन्मगत जाति का मिथ्याभिमान और उसके कारण अन्य जातियों से पृथक रहने के विचार को जैनी लोग दूषित ठहराते हैं। 'सूत्रकृताङ्ग' जन्मपरक अभिमान की निन्दा करता है और उन आठ प्रकार के अभिमानों में इसकी गणना करता है जिनके कारण मनुष्य पाप करता है।[6]

१. शान्तिपर्व, १५, २६।   २. १, १३, ४६। "जीवो जीवस्य जीवनम्।"
३. सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, २२, ४८।
४. वही, ४५, १४०।   ५. वही, २२, ३०।
६. फिर भी जैनी अपने धर्माधिकारियों का चुनाव अन्यों की अपेक्षा विशिष्ट परिवारों में से ही करते हैं। वे अपने समाज में जाति या वर्ण को व्यवहार में मानते हैं।

जैन सघ या समाज के चार विभाग है जिनमे भिक्षु और भिक्षुणिया, तथा अन्य साधारण धर्मबन्धु एव धर्मभगिनिया सम्मिलित है। बौद्धसघ मे सासारिक सदस्य धार्मिक पुरोहितो से भिन्न थे और दोनो एक ही समुदाय के सदस्य नही होते थे। बौद्धो की अपेक्षा सख्या मे वहुत न्यून होने पर भी और धर्म-प्रचार के प्रति कोई विशेष उत्साह न होने पर भी जैनमत भारत मे जीवित है जवकि बौद्धमत गायव हो गया। श्रीमती स्टीवेन्सन इस ऐतिहासिक तथ्य की व्याख्या इस प्रकार करती है "जैनमत का स्वरूप कुछ ऐसा था कि जिसके कारण यह आवश्यकता पडने पर अपने आवश्यक अगो के जरिये आपत्ति से अपनी रक्षा कर सकने की क्षमता रखता था। बौद्धमत के समान इसने कभी अपने को उस समय के प्रचलित मतो से एकदम पृथक् नही किया। इसने सदा ब्राह्मणो को अपने पारिवारिक पुरोहितो के स्थान मे नियुक्त किया जो इनके जन्म के समय भी सब सस्कारो के अध्यक्ष होते थे, और प्राय वे ही मृत्यु एव विवाह आदि के समय और मन्दिरो मे पूजन आदि के लिए भी धर्माध्यक्ष होते थे। इसके अतिरिक्त अपने प्रमुख चरितनायको मे जैनियो ने हिन्दू देवताओ, यथा राम एव कृष्ण आदि के लिए भी कुछ स्थान सुरक्षित रख लिए थे। महावीर की सगठन-सम्बन्धी प्रतिभा के कारण भी जैनमत एक उचित स्थान मे खडा रहा क्योकि जैनमत ने सर्वसाधारण को भी सघ के आन्तरिक भाग के रूप मे स्वीकृत किया, जवकि वुद्धमत मे उनका कोई भाग न था और न उसकी व्यवस्था मे उनके लिए कोई स्थान था। इसलिए जव सारे देश मे अत्याचार के तूफान आए तव जैनमत ने सरलता के साथ हिन्दूधर्म के अन्दर शरण प्राप्त कर ली और हिन्दूधर्म ने अपने विशाल हृदय से सहर्ष उसका स्वागत किया, तथा विजेताओ को जैनमत एव उस विशाल हिन्दू-धर्म मे कोई भिन्नता प्रतीत न हो सकी।"[1]

कर्म के भौतिक दृष्टिकोण के कारण ही जैनी बौद्धो के विपरीत वाह्य कर्म को उसके आन्तरिक उद्देश्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। बौद्ध एव जैन मत दोनो ही जीवन एव व्यक्तित्व के त्याग के विषय मे एकमत है। दोनो की ही दृष्टि मे जीवन एक प्रकार का सकट है जिससे हर प्रकार से छुटकारा पाना आवश्यक है। इन दोनो मतो के अनुसार, हमे अपने-आपको उन सब वन्धनो से मुक्त करना है जो हमे प्रकृति के साथ जकडकर दु खो का कारण वनते है। ये दोनो ही निर्धनता एव पवित्र जीवन, शान्ति एव धैर्य के साथ दु खसहन को गौरवमय समझते है। हॉप्किंस परिहासपूर्वक जैनपद्धति का इन शब्दो मे व्यग्यचित्र प्रस्तुत करता है "जैन सम्प्रदाय वह है जिसमे इन मुख्य-मुख्य वातो पर वल दिया गया है, 'मनुष्य को परमेश्वर की सत्ता का निषेध करना चाहिए, मनुष्य की पूजा करनी चाहिए एव नुकसान पहुचानेवाले कीडो का भी पालन-पोषण करना चाहिए।' "[2] जैनमत एव वौद्धमत के नैतिक पक्षो मे जो अद्भुत समानताए पाई जाती हैं उनका कारण यह है कि दोनो ने ही इस विषय मे अपने विचार ब्राह्मणो द्वारा रचित ग्रन्थो से उधार लिए हैं। "ब्राह्मण तपस्वी एक आदर्श के रूप मे उनके आगे था जिससे

१. 'द हार्ट आफ जैनिजम', पृष्ठ १८–१९।
२. 'द रिलिजन्स आफ इण्डिया', पृष्ठ २९७।

दोनो ने तपस्वी जीवन की बहुतसी महत्त्वपूर्ण क्रियाएं एव संस्थाएं उधार के रूप में ग्रहण की।[1]

१०

ईश्वरवाद के सम्बन्ध मे जैनदर्शन का मत

असंख्य जीवों एव पदार्थों की परस्पर प्रतिक्रिया के सिद्धान्त को स्वीकार कर जैनदर्शन इस विश्व के विकास को सम्भव बना देता है। इसकी सम्मति मे जगत के सर्जन अथवा संहार के लिए भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसके मत से विद्यमान पदार्थों का नाश नहीं हो सकता और न ही असत से सृष्टि का निर्माण सम्भव है। जन्म अथवा विनाश वस्तुओं के अपने गुणों एव प्रकारों के कारण होता है।[2] पदार्थ ही अपनी पारस्परिक क्रिया एव प्रतिक्रिया से नये गुणसमूह को उत्पन्न करते हैं। असत से अथवा घटनाओं की शृंखला द्वारा संसार की सृष्टि हो सकती है—जैन इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। प्रकृति के नियमों का क्रमबद्ध कार्यक्रम भाग्य अथवा आकस्मिक घटना की उपज नहीं हो सकता। ईश्वरवादी के समान विश्व के एक स्रष्टा की धारणा बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। हम यह समझ मे नहीं आ सकता कि किस प्रकार एक अनिर्माता ईश्वर अचानक और तुरन्त एक स्रष्टा बन सकता है। इस प्रकार की धारणा के आधार पर किस प्रकार की सामग्री से संसार की रचना की गई—इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन होगा। संसार को बनाने से पूर्व वह किसी न किसी रूप मे विद्यमान था या नहीं? यदि कहा जाए कि यह सब ईश्वर की अनालोच्य इच्छा के ऊपर निर्भर करता है तो हम समस्त विज्ञान एव दर्शन को ताक मे रख देना पड़ेगा। यदि पदार्थों को ईश्वर की इच्छा के ही अनुकूल कार्य करना है तो पदार्थों के विशिष्टगुणसम्पन्न होने का क्या कारण है? विभिन्न पदार्थों का विशिष्टधर्मसम्पन्न होना भी आवश्यक नहीं यदि वे परस्पर परिवर्तित नहीं हो सकते। यदि ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ होता है तो जल जलाने का और अग्नि ठण्डक पहुंचाने का काम भी कर सकते थे। यथार्थ मे भिन्न भिन्न पदार्थों के अपने विशिष्ट व्यापार हैं जो उनके अपने अपने स्वभाव के अनुकूल हैं और यदि उनके वे व्यापार विनष्ट हो जाएं तो उन पदार्थों का भी विनाश हो जाएगा। यदि तर्क किया जाए कि प्रत्येक पदार्थ का एक निर्माता होना ही चाहिए तो उस निर्माता के लिए भी एक अन्य निर्माता की आवश्यकता होगी और इस प्रकार हम निरन्तर पीछे चलते चलेंगे और इस परम्परा का कभी भी अन्त न होगा। इस चक्र में से बच निकलने का एक ही मार्ग है कि हम एक स्वयम्भू स्रष्टा की कल्पना कर लें जो अन्य सब पदार्थों का स्रष्टा है। जैन विचारक प्रश्न पूछता है कि किसी एक प्राणिविशेष के लिए यह सम्भव हो सकता है कि उसे स्वयम्भू एव नित्य मान लिया जाए तो क्यों नहीं अनेक पदार्थों तथा प्राणियों को ही स्वयम्भू एव साधारण रूप मे स्वीकार कर लिया जाए। इस प्रकार जैनी अनेक पदार्थों

१ 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', २२, पृष्ठ २४।
२ षड्दर्शनसमुच्चय, १५।

की कल्पना की स्थापना करता है। वह कहता है कि वे सब पदार्थ अपने को व्यक्त कर सके इसी प्रयोजन से सृष्टि के रूप मे आ जाते हैं। जीवात्माओ से विशिष्ट समस्त विश्व मानसिक एव भौतिक अवयवो समेत बराबर अनादिकाल से विद्यमान रहता आया है जोकि बिना किसी नित्यस्थायी देवता के हस्तक्षेप और प्रकृति की शक्तियो के द्वारा ही अनेक आवर्तनो मे से गुजर रहा है। ससार मे स्थित विभिन्नताए काल, स्वभाव, नियति, कर्म एव उद्यम इन पाच सहकारी दशाओ के कारण हैं। बीज के अन्दर शक्ति अन्तर्निहित होने पर भी इससे पूर्व कि वह वृक्ष के रूप मे उदित हो, उसे काल अथवा मौसम की, प्राकृतिक वातावरण और भूमि मे बोए जाने के कर्म के रूप मे उचित सहायता की आवश्यकता होती है। इससे किस प्रकार का वृक्ष उत्पन्न होगा इसका निर्णय उसके स्वरूप द्वारा होता है।

यद्यपि ससार से भिन्न कोई ईश्वर नामक व्यक्ति नही है तो भी ससार के कुछेक तत्त्व जब उचित रूप से विकसित होते हैं तब वे देवता का रूप धारण कर लेते हैं। ये अर्हत् कहलाते है, अर्थात् सर्वोपरि प्रभु, सर्वज्ञ आत्मा जिन्होने समस्त दोषो पर विजय पा ली है। यद्यपि सृजनात्मक दैवीय शक्ति कोई नहीं है तो भी प्रत्येक जीवात्मा जब अपनी उच्चतम पूर्णता को प्राप्त होती हैं तब परमात्मा अथवा सर्वोपरि आत्मा बन जाती है।[1] उन शक्तियो की, जो मनुष्य की आत्मा मे छिपी पडी रहती है, सबसे ऊची, सबसे अधिक श्रेष्ठ और सबसे अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति ही ईश्वर है। सभी पूर्ण मनुष्य दैवीय शक्तिसम्पन्न है और उनमे छोटे बडे ओहदे का कोई भेद नही, अर्थात् सब एक समान हैं।

यथार्थ मे जैनदर्शन मे भक्ति का कोई स्थान नही है। इसके अनुसार, सब प्रकार के लगाव को समाप्त हो जाना चाहिए। वैयक्तिक प्रेम को तपस्या की ज्वाला मे भस्मसात् कर देना चाहिए। किन्तु मनुष्य दुर्बल है और इसलिए महान तीर्थकरो के प्रति भक्ति के लिए विवश हो जाता है, भले ही कितना ही कठोर तर्क उसे रोकने का प्रयत्न क्यो न करे। सासारिक जीवो की माग एक सम्प्रदाय व मत के लिए रहती ही है जो उनकी नैतिक एव धार्मिक अवस्थाओ के अनुकूल हो। जब जैनधर्म का प्रचार अपनी जन्मभूमि से दूर-दूर होने लगा तो साधारण मनुष्य की आवश्यकता उसकी धार्मिक महत्त्वाकाक्षाओ को पूर्ण करने के लिए प्रबल हो गई, अन्यथा अन्य देवताओ की उपासना करनेवाले लोग जैनमत मे दीक्षित नही किए जा सकते थे। जब कृष्ण की उपासना करनेवाले जैनमत मे प्रविष्ट हुए तो बाईसवे तीर्थंकर अरिष्टनेमि और कृष्ण मे एक सम्बन्ध स्थापित हो गया। बहुत-से हिन्दू देवता भी आ घुसे, यहा तक कि आज जैनियो मे भी वैष्णव और अवैष्णव दो भिन्न विभाग पाए जाते है।

पुण्यो का सचय हो जाने पर मनुष्य स्वर्ग मे देवता के जीवन का एक न एक रूप धारण कर सकता है। जब वह पुण्य अपना फल पूर्णरूप मे दे चुकता है तब वह जीवन समाप्त हो जाता है। देवता केवल शरीरधारी आत्माए है जो मनुष्यो एव पशुओ के समान है। उनमे भिन्नता केवल श्रेणी की है, जातिगत नही है। पूर्वजन्म के सुकृत

१. देवदूतों के सम्बन्ध में प्रोफेसर ऐलेक्जैण्डर के सिद्धान्त से तुलना कीजिए। 'स्पेस, टाइम ऐंड डीइटी', खण्ड २, पृष्ठ ३४६, ३६५।

दोनों ने तपस्वी जीवन की बहुतसी महत्त्वपूर्ण क्रियाएं एवं संस्थाएं उधार के रूप में ग्रहण की।"[1]

१०

ईश्वरवाद के सम्बन्ध में जैनदर्शन का मत

असंख्य जीवों एवं पदार्थों की परस्पर प्रतिक्रिया के सिद्धान्त को स्वीकार कर जैनधर्म इस विश्व के विकास को सम्भव बना देता है। इसकी सम्मति में जगत के सर्जन अथवा संहार के लिए भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसके मत से विद्यमान पदार्थों का नाश नहीं हो सकता और न ही असत से सृष्टि का निर्माण सम्भव है। जन्म अथवा विनाश वस्तुओं के अपने गुणों एवं प्रकारों के कारण होता है।[2] पदार्थ ही अपनी पारस्परिक क्रिया एवं प्रतिक्रिया से नये गुणसमूह को उत्पन्न करते हैं। असत से अथवा घटनाओं की शृंखलाद्वारा संसार की सृष्टि होसकती है—जैन इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। प्रकृति के नियमों का क्रमबद्ध कार्यक्रम भाग्य अथवा आकस्मिक घटना की उपज नहीं हो सकता। ईश्वरवादी के समान विश्व के एक स्रष्टा की धारणा बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। हम यह समझ में नहीं आ सकता कि किस प्रकार एक अनिर्माता ईश्वर अचानक और तुरन्त एक स्रष्टा बन सकता है। इस प्रकार की धारणा के आधार पर किस प्रकार की सामग्री से संसार की रचना की गई—इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन होगा। संसार को बनाने से पूर्व वह किसी न किसी रूप में विद्यमान था या नहीं? यदि कहा जाए कि यह सब ईश्वर की अनालोच्य इच्छा के ऊपर निर्भर करता है तो हम समस्त विज्ञान एवं दर्शन को ताक में रख देना पड़ेगा। यदि पदार्थों को ईश्वर की इच्छा के ही अनुकूल कार्य करना है तो पदार्थों के विशिष्टगुणसम्पन्न होने का क्या कारण है? विभिन्न पदार्थों का विशिष्टधर्मसम्पन्न होना भी आवश्यक नहीं यदि वे परस्पर परिवर्तित नहीं हो सकते। यदि ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ होता है तो जल जलाने का और अग्नि ठण्डक पहुंचाने का काम भी कर सकते थे। यथार्थ में भिन्न भिन्न पदार्थों के अपने विशिष्ट व्यापार हैं जो उनके अपने अपने स्वभाव के अनुकूल हैं और यदि उनके वे व्यापार विनष्ट हो जाएं तो उन पदार्थों का भी विनाश हो जाएगा। यदि तर्क किया जाए कि प्रत्येक पदार्थ का एक निर्माता होना ही चाहिए तो उस निर्माता के लिए भी एक अन्य निर्माता की आवश्यकता होगी और इस प्रकार हम निरन्तर पीछे चलते चलेंगे और इस परम्परा का कहीं भी अन्त न होगा। इस चक्र में से बच निकलने का एक ही मार्ग है कि हम एक स्वयम्भू स्रष्टा की कल्पना कर लें जो अन्य सब पदार्थों का स्रष्टा है। जैन विचारक प्रश्न पूछता है कि किसी एक प्राणिविशेष के लिए यदि सम्भव हो सकता है कि उसे स्वयम्भू एवं नित्य मान लिया जाए तो क्यों नहीं अनेक पदार्थों एवं प्राणियों को ही स्वयम्भूत एवं आधाररूप में स्वीकार कर लिया जाए। इस प्रकार जैनी अनेक पदार्थों

१ सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट २२, पृष्ठ २४।
२ पञ्चास्तिकायसमयसार १५।

कर्मों के पुरस्कारस्वरूप ही दैवीय शरीर एवं तपस्या से शक्ति एवं पूर्णता की अधिकता पाई जाती है। मुक्तात्मा देवताओं से ऊपर हैं। वे फिर से जन्म नहीं लेते। उनका इस संसार के साथ और अधिक सम्बन्ध नहीं रहता और न वे इससे प्रभावित ही कर सकते हैं। वे न तो सत्य तक पहुंचानेवाली सीधी चढ़ाई की ओर ही देखते हैं और न ऐसे व्यक्तियों को ही सहारा दे सकते हैं जो उच्चमार्ग में संघर्ष कर रहे हैं। विख्यात जनों को लक्ष्य करके जो पूर्णता को पहुंच चुके हैं और इस परिवर्तनशील एवं दुःखमय जगत् से दूर पहुंच गए हैं जो प्रार्थनाएं की जाती हैं उनका उत्तर वे नहीं दे सकते और न ही प्रार्थनाएं उन तक पहुंच पाती हैं क्योंकि संसार में क्या हो रहा है इसके प्रति वे नितान्त उदासीन हैं और सब प्रकार के मानसिक आवेगों से मुक्त हैं। किन्तु ऐसे देवता भी हैं जो सच्चे अनुशासन की निगरानी रखते हैं और उसपर नियन्त्रण रखते हैं।[1] वे प्रार्थनाओं को सुनते हैं और कल्याण भी करते हैं। जहां तक जनों का सम्बन्ध है उनकी उपासना की सबसे उत्तम विधि यह है कि उनके आदेशों का पालन किया जाए। अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को पहचानने से ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है तीर्थंकरों की भक्ति से नहीं।[2] समाधि द्वारा अथवा जिन की आराधना से आत्मा अवश्य पवित्र होती है। चूंकि अत्यन्त सरल जनधर्म में रियायत अथवा क्षमा को कोई स्थान प्राप्त नहीं था इसलिए जनसाधारण के मन को यह आकृष्ट न कर सका और इसीलिए अस्थायी समझौते ही किए गए।

११

निर्वाण

निर्वाण अथवा मुक्ति आत्मा की शून्यावस्था नहीं है वरन् उस परम आनन्द में प्रवेश है जिसका अन्त नहीं है। यह शरीर से वियोग तो है किन्तु सत्ता से रहित होना नहीं है। हम पहले कह चुके हैं कि मुक्तात्मा सब मनोवेगों से रहित होने के कारण आचरणशून्य हो जाती है उसका अपने अन्य साथियों के जीवन में कोई स्वार्थ नहीं रहता और न ही उनकी सहायता करने की रुचि रहती है। मुक्तात्मा न आकार में लम्बी और न छोटी न काली और न नीली न कड़वी और न तीखी न ठण्डी और न गरम होती है। शरीररहित पुनर्जन्म से भी रहित वह देखती है जानती है किन्तु उसका सादृश्य कुछ नहीं है जिसके द्वारा हम मुक्तात्मा के स्वरूप को जान सकें उसका सारतत्त्व भी आकृतिविहीन है अनियन्त्रित की कोई दशा नहीं हो सकती।[3] सिद्ध अवस्था संसार की श्रृंखला का न तो कारण है और न कार्य ही। यह नितान्त अनियन्त्रित है। मुक्तात्मा के ऊपर कारण कार्यभाव का कोई वश नहीं है। ऐसा जानो कि एक साधारण दृष्टिकोण से पूर्ण श्रद्धा ज्ञान एवं आचरण मुक्ति के कारण हैं किन्तु वस्तुतः मनुष्य की अपनी आत्मा इन तीनों से युक्त है (मुक्ति का कारण है)।[4] मुक्तात्मा के विषय में हम निश्चित रूप

१ शास्त्राधिष्ठाय देवता।
२ पञ्चास्तिकायसमयसार १७६ और आगे।
३ सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', २२ ५२।
४ पञ्चास्तिकायसमयसार ३६।
५ सर्वदर्शनसंग्रह ३ ४०

के देश या 'स्पेस' के साथ और लीब्नीज की प्रारम्भिक प्रकृति के साथ साम्य रखती है। पुद्गल की केवल भौतिकता प्रत्यक्ष मे आत्मा की विरोधी है। यह केवल भेदमात्र है और इसीलिए जैन तर्कशास्त्र की परिभाषा मे अयथार्थ है। जीव दोनो का सयोग है। यह भौतिक-आध्यात्मिक है।[1] यह प्रकृति के बोझ से युक्त और इसीलिए बन्धन मे जकडी हुई आत्मा है। ससार के सब जीव इस निषेधात्मक भौतिक तत्त्व से सम्बद्ध है। जैनमत का विश्वास है कि ये तीनो—अर्थात् विशुद्ध आत्मा, विशुद्ध प्रकृति एव जीव जो दोनो का सयोग है—सत् पदार्थ हैं, यद्यपि पहले दो हमे दृष्टिगोचर नही होते। पुद्गलस्कन्ध मे भी, जिसे हम देखते हैं, चेतना का एक अश है और उसी अश मे जीव है जिस अश मे अन्य पदार्थ है—जहा तक इसके सारतत्त्व का सम्बन्ध है। जैनियो के जीव एव अजीव आत्मा या चैतन्य एव प्रकृति या अचैतन्य के आनुभविक पृथक्करण नही है, अपितु दोनो के मध्य क्रिया-प्रतिक्रिया की उपज है। पुद्गल पर आत्मा की छाप है और जीव के अन्दर भी पहले से प्रकृति प्रविष्ट है। हम जीव और अजीव को सत् और असत् के साथ शब्द के अशुद्ध प्रयोग के कारण एक समान मान लेते है। यथार्थ मे आत्म एव अनात्म प्रारम्भिक तत्त्व हैं, जो परस्पर-विरोधी तत्त्व है, जो एक-दूसरे के अनुकूल नही हो सकते। जीव मे आत्म का अश प्रधान है और अजीव या जड मे अनात्म का अश। ये सम्पूर्ण विश्व मे दो विभिन्न व्यवस्थाओ का प्रतिनिधित्व करते है।

भौतिक अनुभव के अनुसार, जीवो से ससार बना हुआ है, और प्रत्येक जीव अपने मे एक ठोस इकाई है, एक सयुक्त पदार्थ है। यह अनेको मे एक है अथवा एक मे अनेक है। दोनो के बीच का सम्बन्ध अनादि है। इस ससार मे ये दोनो कभी पृथक् नही होते। सब जीवो का उद्देश्य, जिसकी प्राप्ति के लिए उन्हे अवश्य प्रयत्न करना चाहिए, समस्त भौतिक प्रकृति का परित्याग है। जितनी भी क्रिया ससार मे है, सबके केन्द्र जीव हैं।

हमे बताया जाता है कि इस विश्व मे आत्मा एव प्रकृति, प्रमाता और प्रमेय सर्वदा साथ-साथ पाए जाते है। सारे अनुभव के अन्दर हमे दोनो मे परस्पर द्वन्द्व मिलता है, जिसमे एक दूसरे के ऊपर आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करता है। यह जानना आवश्यक है कि जीव के अन्दर जो आध्यात्मिक अश है उसके कारण उसकी प्रवृत्ति ऊपर की ओर होती है, जबकि भौतिक अश की प्रवृत्ति नीचे की ओर रहती है। मनुष्य के शरीर मे निवास करनेवाला जीव प्रकृति के द्वारा इतना अधिक बोझल हो जाता है कि उसे पार्थिव जीवन मे से गुजरना पडता है।

जीवो की कई श्रेणिया है जिनकी व्यवस्था उनके आत्म-अश के अनात्म-अश के ऊपर न्यून एव अधिक आधिपत्य के अनुसार होती है। दिव्य जीवन की उच्चतम अवस्थाओ मे, जो देवताओ का स्तर है और जिसे पवित्रात्माओ अथवा सिद्धात्माओ से भिन्न करके समझना चाहिए जिनके अन्दर प्रकृति का अश नही रह गया है, हमे आत्मा के अनात्म के ऊपर आधिपत्य का सबसे अधिक एव अनात्म का न्यून से न्यून अश मिलता है। निम्नतम अवस्थाओमे हमे पदार्थो की विशुद्ध बाह्यतासे अन्वित ऐसी वस्तुए मिलती हैं जहा अनात्म-

चुके हैं तब के विषय में यह ज्ञान की सापेक्षता को अपना आधार मानता है क्योंकि यह प्रकट तथ्य है कि संसार में पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध स्थायी नहीं हैं और न स्वतन्त्र ही हैं, बल्कि व्याख्या के परिणाम हैं। इसके अतिरिक्त यह कल्पना कि यथार्थता एवं उसके अर्थ को पृथक नहीं किया जा सकता अध्यात्मविद्या में अनेकत्ववाद की नहीं अपितु एकेश्वरवाद की स्थापना करती है। वस्तुतः जनमत में जिस अनेकसत्तात्मक विश्व की कल्पना की गई है वह केवल सापेक्ष दृष्टिकोण से ही है किन्तु परम सत्[य] नहीं है।

जनमत में विश्व को अनेक जीवों से पूर्ण माना गया है। जैसे कि लीब्नीज ने भी यही माना कि संसार प्राणी वर्ग के मूलजीवों से भरपूर है। प्र[कृ]ति के छोटे से छोटे कण में भी अनेक जीवित प्राणी विद्यमान हैं जिन्हें जीवात्मा कहा जाता है। भौतिक प्रकृति के प्रत्येक भाग की हम पौधों से पूर्ण एवं बगीचे की भांति [की] कल्पना कर सकते हैं अथवा उस मछलियों से भरे हुए जलाशय के समान मान सकते हैं किन्तु प्रत्येक पौधे की प्रत्येक शाखा किसी भी जन्तुवर्ग का प्रत्येक सदस्य प्रत्येक बूंद भी अपने [भी]तरी भागों में इसी प्रकार का एक बगीचा अथवा जलाशय है। और यद्यपि भूमि एवं वायु जो [इ]स बगीचे के पौधों के अन्तर्गत हैं अथवा जलाशय का वह जल जो मछलियों के बीच है स्वयं [न] कि भले ही स्वयं न पौधा हो और न मछली हो उनके अन्दर भी पौधे एवं मछलियां उपस्थित [ह]ैं—आम तौर से इतने अधिक सूक्ष्मरूप में कि हमें वे इन्द्रियगोचर नहीं हो सकते। इस प्र[का]र इस विश्व में कुछ भी ऊसर नहीं है कुछ भी उत्पादन में अक्षम अथवा एकदम मृत नहीं है। अव्यवस्था भी नहीं है और है भी तो केवल प्रतीत होती है वास्तविक नहीं है ठीक वैसे ही जैसे कि एक जलाशय में दूर से हमें गति में अस्त-व्यस्तता दिखाई पड़ सकती है और [...] दिखाई पड़ सकते हैं जलाशय में मछलियों के झुण्ड जिसमें मछलियों में भेद नहीं किया जा स[के] [...]गा। हम देखेंगे कि जनमत की अध्यात्मशास्त्र सम्बन्धी योजना बहुत कुछ लीब्नीज के [...] जीवाणुवा[द] एवं बर्गसां के रचनात्मक विकासवाद से मिलती जुलती है।[1]

सब जीवित पदार्थ जीव हैं जीव वह है जो यान्त्रिक न हो। यह व[...]ना के जीवन तत्त्व के अनुकूल है। यह अनुभवकर्ता भी है और लीब्नीज के स्वयंभू [...] शक्ति के साथ अनुकूलता रखता है। यह एक ऐसी वस्तु है जिसके लिए यान्त्रिक व्याख्या [...] अपर्याप्त है। चूंकि जनमत उस युग की उपज है जबकि अभी दर्शनशास्त्र अपनी परिपक्[व] [...] अवस्था को नहीं पहुंचा था इसलिए हम देखते हैं कि इसे जीव एवं आत्मा अजीव एवं प्र[कृ]ति के मध्य यथार्थ भेद क्या है—इसका विचार ज्ञान नहीं था। जीव एक विद्यमान वस्तु का वि[...] प्रकार है। प्रकृति के बन्धन से मुक्त जीव को आत्मा कहा गया है। आत्मा प्राकृति[...]क मल से रहित विशुद्ध चेतना का नाम है। यह सब प्रकार के देश एवं बाह्यता से पृथ[क] है। यह शुद्ध और अपने आध्यात्मिक पद पर ऊंची उठी हुई आकृतिविहीन चेतनामात्र है। पुद्गल चेतनारहित विशुद्ध भौतिक प्रकृति नहीं है। इसके ऊपर पहले से ही आत्मा [...]ती छाया है। आत्मा जीवित सत्ता है और प्रकृति अमन का निषेधात्मक तत्त्व है। प्रकृति [...]

१ प्रारम्भ में जैनमत भले ही भौतिक [...] जनमत की दृष्टि में एक आदि स्थूल रूप में रहा हो, कि[न्तु] [...] चलकर जैन विचारकों ने निश्चित दार्शनिक भित्ति पर इसको विकसित किया जिसकी स्पष्ट व्या[ख्या] [...] की जा सकती है और समर्थन किया जा सकता है।

दैहिक यन्त्र द्वारा नियन्त्रित है और जो देश-काल मे बद्ध है, तभी जीवो की स्वतन्त्रता का भाव हमारे सम्मुख आता है। दूसरे शब्दो मे, यदि हम शकर की विख्यात परिभाषा का प्रयोग करे तो हमारे सम्मुख जीवो की अनेकता तभी तक है जब तक कि हम विषयी को भी स्वय विषय या प्रमेय अर्थात् एक आलोच्य विषय मानते रहे, अन्यथा नही। यदि हम विचारधारा के सकेतो का अनुसरण करे और विषयी (आत्मा) को सवेदना एव भावना के स्थान शरीर-सम्बन्ध से छुड़ा सकें एव विषय-पदार्थ के साथ के सब प्रकार के सम्पर्क से स्वतन्त्र कर सके, तो हम देखेगे कि यथार्थ मे विषयी केवल एक ही है। जैनमत ने इस उन्नत अवस्था के तत्त्व को समझने का प्रयत्न बिलकुल भी नही किया और न इस आदर्श की ओर ही दृष्टिपात किया, और यह भी सत्य है कि इस प्रकार का उच्च विचार हमारे इस स्तर पर है भी कठिन। मानवीय विचार के लिए आदर्श एव वास्तविक के मध्य एक दीवार खडी हो गई है। अपनी परिमित शक्ति अथवा अल्पज्ञता के कारण हमे एकदेशी अथवा अशपरिणामी को लेकर चलने के लिए विवश होना पडता है, जिससे हम अपने को मुक्त नही कर सकते।

जैनदर्शन ने परमसत्ता के एकत्व पर भी विचार किया है और उक्त विचार के विरुद्ध वह इस प्रकार से तर्क करता है "यदि सब प्राणियो मे केवल एक ही सामान्य आत्मा होती तो वे एक-दूसरे को कैसे जान सकते थे, और उनका अनुभव भी भिन्न-भिन्न प्रकार का नही हो सकता था, और इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, कीट, पतग और सरीसृप योनि के भिन्न-भिन्न प्राणी नही हो सकते थे। सब या तो मनुष्य होते अथवा देवता होते। इसके अतिरिक्त उन व्यक्तियो मे जो दूषित जीवन व्यतीत करते है एव उनमे जो इस ससार मे साधु आचरण करते है, कोई भेद भी न रहता।"[1] मनोवैज्ञानिक एव सासारिक अनुभव के स्तर पर जीवात्माओ के अनेकत्व का निषेध करने की कोई आवश्यकता नही, जहा कि कर्मों के फल का उपभोग करने का ही प्रश्न उठता है। जहा पर मन यान्त्रिक अवस्थाओ मे बद्ध है वहा जीवो की अनेकता का एक अर्थ अवश्य है, किन्तु हमारा प्रश्न यह है कि क्या हम इस अल्पशक्ति वाले जीव को परम सत्य मान सकते है? यदि यह परिमित शक्ति आत्मा की एक अनिवार्य अवस्था होती, ऐसी कि जिसे मनुष्य कभी भी दूर न कर सकता, तब तो जीवो की अनेकता यथार्थ है, किन्तु जैनियो का विश्वास है कि परिमितता आनुषगिक है, स्थायी नही है, इस अर्थ मे कि यह आत्मा का सारतत्त्व नही है और उस मुक्त अवस्था मे यह उन सब मर्यादाओ से सर्वथा मुक्त हो जाती है। ऐसी अवस्था मे यदि हम आत्मा की आनुषगिक अनेकता को ही सत्य की अन्तिम अभिव्यक्ति भी समझ लें तो यह विचार तर्कसम्मत न होगा। अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी विवाद का यह एक सर्वसम्मत एव सामान्य नियम है कि जो प्रारम्भ मे नही था और अन्त मे भी न रहेगा, उसकी वर्तमान प्रक्रिया मे भी यथार्थसत्ता स्वीकार नही की जा सकती।[2] अनेकता वास्तविक एव विद्यमान तो मानी जा सकती है किन्तु उसकी यथार्थता को नही माना जा सकता।

१ सूत्रकृताङ्ग, २ ७, ४८ और ५१, और भी देखिए १ १, १।
२ "आद्यावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।"

अंश अपने ऊंचे स्तर पर है। जब हम उनसे उठकर पौधों एवं जन्तुओं में पहुंचते हैं तो हमें आत्मा का अंश अधिक और अनात्म अंश कम मिलता है। उनके अन्दर एकता है एवं सरलता है जिससे उनका व्यक्तित्व बनता है। अपने वर्तमान जीवन में वे अपने भूतकाल को भी सजोए हैं। जब हम देवताओं के स्तर को प्राप्त करते हैं उस समय अनात्म न्यूनतम अंश में होता है। जीवन का सुख विश्व के ईश्वर सम्बन्धी मधुर सम्बन्ध तक उठ जाता है। धातुओं एवं देवताओं के मध्य में स्थित वस्तुओं में आत्म एवं अनात्म के अन्दर परस्पर संघर्ष होता है। विशुद्ध आत्मा एवं विशुद्ध प्रकृति में हमें पृथक रूप में धार्मिक एवं अधार्मिक अंश मिलता है भेद इतना ही है कि वह विशुद्ध रूप में अनुभवगम्य नहीं है।

क्या हम कह सकते हैं कि जीवों की अनेकता उक्त कल्पना के आधार पर आध्यात्मविद्या का परमसत्य है? हमें बताया गया है कि जीवों के अन्दर दो विभिन्न प्रवृत्तियां कार्य करती हैं। जो दृश्यमान जगत हमारे आगे है उसमें आत्म एवं अनात्म सत और असत का द्वैत विद्यमान है। सत यथार्थ है अर्थात आत्मा अपनी सर्वज्ञता के साथ है असत वह तत्त्व है जो आत्मा की सर्वज्ञता के ऊपर आवरण बनकर जीवन को मर्यादित कर देता है। अपने अंतःस्थ स्वरूप में अथवा अपनी सर्वज्ञता के उमड़ते हुए रूप में आत्मा समस्त विश्व को छा लेती है किन्तु जीव का एक बिन्दु के रूप में ह्रास हो जाता है जिसमें विश्व प्रतिबिम्बित होता है जैसे कि एक केन्द्र में। व्यक्तित्व का मूल असत है। यह एक प्रकार का निषेधात्मक तत्त्व है जो जीव को स्वार्थों का एक पृथक केन्द्र बनाता है जो सर्वज्ञ आत्मा की एक परिमित अभिव्यक्ति है एवं मनोवैज्ञानिक व्यवस्था में एक सत्ता है। शरीर अपूर्णता की एक श्रेणी है और वह आत्मा का एक आधारबिन्दु या दृष्टिकोण देता है। विविध प्रकार के जीव जैसे धातुएं पौधे जन्तु मनुष्य एवं देवता भिन्न भिन्न हैं क्योंकि उनके शरीर भिन्न भिन्न हैं। परिणाम यह निकलता है कि यद्यपि उनके अन्दर निवास करनेवाली आत्मा वही है लेकिन प्रकृतिरूप निषेधात्मक तत्त्व के कारण अनुभव में वह नानाव्यक्तित्व होता है। जीव का पृथक्त्व एवं व्यक्तित्व व्यवहार अथवा अनुभव के दृष्टिकोण से ही है। यथार्थ में समस्त जीवों का सारतत्त्व चेतना है।[1] आत्माओं का अनेकत्व एक सापेक्ष विचार है जो यथार्थसत्ता उस समय प्रस्तुत करती है जब हम सवेदना भावना एवं बन्धन पर बल देते हैं मानो यथार्थसत्ता के वही यथार्थ क्षण हों। जैनियों के ज्ञानविषयक सिद्धान्त में हम एक आनुभविक केन्द्र से ऊपर उठकर एक तार्किक विषयी या प्रमाता तक पहुंचने को विवश होना पड़ता है। विषयी एक इस प्रकार का स्थायी तथ्य है कि समस्त संसार इसीके लिए बना है।[2] जब अपूर्ण पृथक्करण के द्वारा चिन्तन के कारण वही विषयी न्यून होकर एक परिमित मन तक पहुंचता है जो

1. सर्वदर्शनसंग्रह ३ ७ और ८।

बोसनके इसमें तुलना कीजिए यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है कि ज्ञान की क्रिया में आत्मा सर्वव्यापी है। यह संसार में आती है जो इसकी अपनी सत्ता से भिन्न प्रकार का है और जो यह जिस किसीके सम्पर्क में आती है उसे अन्य आत्माओं के साथ सामान्य रूप से ग्रहण कर लेती है और इस प्रकार के ग्रहण में यह अपने आपमें पूर्ण नहीं रहती और न निवारण उसका कोई हो रह जाता है। (गिफर्ड लेक्चर्स, दूसरी माला अध्याय ७)।

तर्कशास्त्र के ही लिए है। यथार्थसत्ता केवल एक ही पूर्ण है—विशुद्ध आत्मा एवं विशुद्ध प्रकृति जिसके पृथक्करण मात्र हैं। वे एक ही सर्वव्यापक की आवश्यकताएं हैं, जो एक-दूसरे के विरोधी किन्तु एक ही पूर्णसत्ता के पृथक्-पृथक् किए जा सकनेवाले अवयव हैं। यह सर्वव्यापक ब्रह्म ही विश्व के जीवन में अपने को अभिव्यक्त कर रहा है। परस्पर विरोधियों का संघर्ष भी यथार्थसत्ता की सब श्रेणियों में वर्तमान है यद्यपि परमार्थसत्ता के समष्टिरूप में उन सब संघर्षों का अन्त हो जाता है। यदि जैन तर्क के अनुसार, विचार को ही परम पदार्थ मान लिया जाए और यथार्थसत्ता का भी मुख्य स्वरूप वही माना जाए जो तर्क से निर्णीत होता है, तब परिणाम एक समष्टिरूप एकेश्वरवाद या अद्वैतवाद ही निकलेगा। विशुद्ध आत्मा केवल एक भावात्मक परमार्थसत्ता है, जिसे किसी के विरुद्ध संघर्ष नहीं करना है, जो क्रियाशून्य है, आध्यात्मिक शक्ति है, एक गतिविहीन प्राणी है और केवल शून्यमात्र ही है। तो भी अनगढ़ रूप में जैनमत आत्मा की ऐसी अवस्था का प्रतिपादन करता है जो प्रकृति से सर्वथा पृथक् है जिसकी गति बराबर ऊपर की ओर है एवं नीचे की ओर आने की उसमें गुंजाइश नहीं है। कुमारिल भट्ट का कहना है कि सिद्धात्माओं की यथार्थता को तार्किक हेतु के आधार पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता। "हमें कोई भी सर्वज्ञ प्राणी इस संसार में दिखलाई नहीं देता और न ही उसकी यथार्थसत्ता अनुमान द्वारा स्थापित की जा सकती है।"[1] जैनी लोग अपनी कल्पना के आधार के लिए आत्मा के निजी स्वरूप के ऊपर निर्भर करते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति बाधाओं के दूर होने से स्वयं हो जाती है। कुमारिल भी स्वीकार करता है कि आत्मा के अन्दर एक स्वाभाविक योग्यता है, जिससे वह सब वस्तुओं को ग्रहण कर सकती है, और ऐसे साधन भी हैं जिनके द्वारा आत्मा की यह योग्यता विकसित की जा सकती है। यदि हम जैनदर्शन के इस पहलू पर बल दें और यह स्मरण रखें कि केवली व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञान होता है जो विचार से ऊंची श्रेणी का है तो हम ऐसे एकेश्वरवाद (अद्वैत) में पहुंच जाते हैं जो परमार्थरूप और अपरिमित है, जिसके कारण हम संघर्ष से जुटे संसार को, जहां पर सब पदार्थ यथार्थता एवं शून्यता के मध्य में ही घूमते रहते हैं, अयथार्थ समझ सकेंगे। संसार को हम उसी अवस्था में यथार्थ समझ सकते हैं जबकि हम विशुद्ध आत्मा के उच्चतम पक्ष की ओर से एकदम आंख बन्द कर लें। यदि हम इस तथ्य को समझ लें तो अनात्म भी केवल आत्मा का दूसरा अंश है, उसका कुछ प्रतिबिम्ब है, यद्यपि वह ठीक आत्मपक्ष के समान नहीं है और ऐसी वस्तु है जिसे अन्त में जाकर हमें अवश्य मिथ्या के रूप में जानना है। ऐसी अवस्था में संसार को हम समझ सकेंगे कि यह अनात्म के बल से निर्माण हुई एक प्रतीतिमात्र है, सत् नहीं है। इस प्रकार हमें शंकर द्वारा प्रतिपादित प्रकार के वेदान्त की ओर आना ही होगा। एक बात तो बिलकुल स्पष्ट है, आधे रास्ते में ही ठहर जाने के कारण जैनमत एक अनेकांतवादी यथार्थता का प्रतिपादन कर सका है।

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ ४१–४२।

आत्मा की अनन्तता के सिद्धान्त का समर्थन हमारे लिए तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि हम विषय का प्रतिपादन न करें कि परमावस्था में भी भिन्नता का कोई आधार हो सकता है। मुक्तावस्था की सगति पृथक् अस्तित्व के साथ कभी नहीं बैठ सकती क्योंकि आत्मा के पृथक् अस्तित्व के भाग में बाह्य पदार्थ एवं शारीरिक बन्धन सदा ही बाधक रहेंगे तो मुक्ति किसकी होगी ? आत्मा के पृथक्त्व में ही भ्रान्ति एवं पाप सम्भव है और मुक्ति इसी पृथक्त्व के विनाश का नाम है।

अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि में अद्वैत एवं द्वैत के प्रश्न का निर्णय इस संसार में दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के परस्पर सम्बन्ध के ऊपर निर्भर करता है। जब मूलस्रोत के प्रश्न पर जाते ही नहीं। हमारे पास भी उनके परमार्थसत्ता-सम्बन्धी विचार तक पहुंचने का कोई साधन नहीं है। और सर्वनियन्त्रणीय शक्ति के—जो मनमौजी एकमात्र सत्तात्मक शासक हो—सिद्धान्त का अनी लोग खण्डन करते हैं। यदि हम यह कहें कि जनमत ईश्वर प्रकृति एवं आत्मा तीनों को उसी के स्वरूप मानता है तो हमारे कथन में कुछ भी मिथ्या न होगा। ईश्वर कोई भिन्न सत्ता नहीं, आत्मा की अपनी अखण्डता के अतिरिक्त ईश्वर कोई अन्य सत्ता नहीं है। यदि इससे भिन्न किसी अन्य प्रकार की कल्पना ईश्वर के विषय में की जाएगी तो उससे ईश्वर सान्त अथवा परिमित ठहरेगा। मनुष्य का मन अपने को अन्य सबसे पृथक् समझ लेता है इसीलिए वह परिमित स्वरूप है, किन्तु यदि हम ऐसे मन की कल्पना करें जो सीमाओं में बद्ध न हो पर अपने को स्वयं में पूर्णता के साथ प्रस्तुत कर सके तब सीमाएं भी जो मानवीय अनुभव का विशिष्ट रूप हैं, तिरोहित हो जाएंगी। नित्यचेतना का अनुभव मनुष्य के सामर्थ्य के अन्तर्गत है। अपनी शक्ति के द्वारा हम समस्त सीमित आकृतियों के परे पहुंच सकते हैं। ध्यान में धारणा के मूलतत्त्व के साथ एकता रखकर जो सब मनों के साथ स्थापित करती है हम मनोवैज्ञानिक जीवात्मा से ऊपर उठते हैं जो अन्य सबसे पृथक् है। देश एवं काल से नियन्त्रित मन के ऊपर उठकर हम ऐसे मन में पहुंचते हैं जिसके द्वारा देश एवं काल के सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। अनन्त सत्ता सान्त के अन्दर निहित है। यही कारण है कि सीमित आत्मा सदा ही अपनी सीमितता को भंग करने के लिए संघर्ष करती रहती है और पूर्णतम स्वतन्त्रता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है और जब मुक्ति प्राप्त हो गई तो सब प्रकार की विजय प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की आत्मा के अतिरिक्त जीवों की अन्य कोई व्यवस्था नहीं है।

आध्यात्मिक एवं भौतिक प्रवृत्तियों के बीच, जिनके संघर्ष का इस संसार में अनुभव होता है, परस्पर क्या सम्बन्ध है ? क्या वे भेद एक ही पूर्ण के अन्दर हैं ? वे एक दूसरे के प्रति अच्छी तरह से अनुकूल प्रतीत होते हैं जिससे पूर्णता के प्रति प्रगति में सहायता प्राप्त होती है। यद्यपि वे एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं परन्तु वे उस एकता के विरोधी प्रतीत नहीं होते क्योंकि वह एकता विरोधियों का एक संश्लेषण है। ऐसी घटनाओं पर बल देकर जैन सिद्धान्त को हठात् एक पूर्ण सर्वव्यापक की सत्ता की ओर आना ही होगा जो भिन्न भी है और संयुक्त भी है। इस प्रकार के मत में न तो विशुद्ध आध्यात्मिक ही और न ही विशुद्ध भौतिक कुछ रह जाता है। इन दोनों का पृथक्करण केवल

सातवां अध्याय

प्रारम्भिक बौद्धमत का नैतिक आदर्शवाद

प्रारम्भिक बौद्धमत—बौद्ध विचारधारा का विकास—साहित्य—बुद्ध का जीवनवृत्त और व्यक्तित्व—तात्कालिक परिस्थितियां—बुद्ध और उपनिषदें—दु ख—दु ख के कारण—परिवर्तनशील जगत्—जीवात्मा—नागसेन का आत्मविषयक सिद्धान्त—मनोविज्ञान—प्रतीत्यसमुत्पाद, या आश्रित उत्पत्ति का सिद्धान्त—नीतिशास्त्र—कर्म एव पुनर्जन्म—निर्वाण—ईश्वर के सम्बन्ध में बुद्ध के विचार—धर्म के सकेत—क्रियात्मक धर्म—ज्ञानविषयक सिद्धान्त—बौद्धधर्म और उपनिषदें—बौद्धधर्म और सांख्यदर्शन—बौद्ध धर्म की सफलता।

१

प्रारम्भिक बौद्धमत

इसमे कोई सन्देह नही कि प्रारम्भिक बौद्धदर्शन दर्शनशास्त्र के इतिहास मे अत्यन्त मौलिक होने के कारण अपना एक विशेष स्थान रखता है। अपने मूलभूत विचारो एव साररूप मे यह उन्नीसवी शताब्दी के उन्नत वैज्ञानिक विचारो के साथ अद्भुत रूप मे मिलता-जुलता है। जर्मनी का आधुनिक निराशावादपरक दर्शन, जिसका प्रतिपादन शोपनहावर एव हार्टमान ने किया हैं, प्रारम्भिक बौद्धदर्शन की पुनरावृत्ति-मात्र है। उक्त सिद्धान्त के विषय मे कभी-कभी कहा जाता है कि यह 'बौद्धमत से भी कुछ अधिक असस्कृत एव प्राकृत' है। जहा तक यथार्थसत्ता के गत्यात्मक विचार का सम्बन्ध है, बौद्धदर्शन ने बर्गसा के रचनात्मक विकास से बहुत पूर्व इस सम्बन्ध मे एक सुन्दर रूप मे भविष्यवाणी कर दी थी। प्राचीन बौद्धधर्म एक ऐसे दर्शन की रूपरेखा को प्रस्तुत करता है जो वर्तमानकाल की क्रियात्मक मागो की पूर्ति के लिए सर्वथा अनुकूल है, और धार्मिक विश्वास और भौतिक विज्ञान के मध्य मे जो विरोध प्रतीत होता है उसमे परस्पर समन्वय स्थापित करने मे पूर्णतया सहायक है। उक्त विषय को हम विशदरूप से देख सकेंगे, बशर्ते कि हम प्राचीन बौद्धधर्म के सिद्धान्तो पर ध्यान देने तक ही अपने को नियमित रख सके और उसके परवर्ती विकास की उन विभिन्न पौराणिक मिथ्या कल्पनाओ पर अधिक बल न दे जो आदिम उपदेशो और स्वय उसके सस्थापक बुद्ध भगवान के आसपास एकत्र हो गई है।

उद्धृत ग्रन्थ

'सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट', खण्ड २२ और ४५।
'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स', खण्ड ७ में जैकोबी का 'जैनिज़्म एण्ड द जैन एटॉमिक थ्योरी' सम्बन्धी लेख।
उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र ('सैक्रेड बुक्स ऑफ द जैन्स')।
नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह ('सैक्रेड बुक्स ऑफ द जैन्स')।
कुन्दकुन्दाचार्य, पञ्चास्तिकायसमयसार ('सैक्रेड बुक्स ऑफ द जैन्स')।
जैनी, 'आउटलाइन्स ऑफ जैनिज़्म'।
मिसेज स्टीवेन्सन, 'द हार्ट ऑफ जैनिज़्म'।
बरोदिया, 'हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑफ जैनिज़्म'।
सर्वदर्शनसंग्रह, अध्याय ३।

के नियमो एव उपनियमो को पढकर सुनाए। और अन्त में बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द से कहा गया कि वह सुत्तपिटक को पढकर सुनाए, जिसमे बुद्ध के द्वारा प्रचार के समय मे वर्णित कहानियो एव छोटे-छोटे दृष्टान्तो का सग्रह है। एक दीर्घकाल तक बुद्ध की शिक्षा का प्रचार नियमपूर्वक शिक्षको एव शिष्यो द्वारा ही क्रमागत रूप मे होता रहा और उस शिक्षा को केवल ईस्वी सन् ८० के बाद ही लका के राजा वत्तगामनि के शासनकाल मे लेखबद्ध किया गया। "पुराने समय मे अत्यन्त विद्वान भिक्खु तीनो पिटको एव उनके ऊपर की गई टीकाओ को भी मौखिक प्रचार द्वारा ही आगामी सन्तति तक पहुचाते थे, किन्तु चूकि उन्होने अनुभव किया कि जनता प्राचीन शिक्षा से पीछे हटती जा रही है इसलिए भिक्खु लोग एकत्र हुए और इस विचार से कि सत्य सिद्धान्त स्थिर रह सके, उन्होने उन सिद्धान्तो को पुस्तक के रूप मे लिख डाला।"[1] पाली की धार्मिक व्यवस्था के तीन विभाग है—(१) सुत्त अथवा कहानिया, (२) विनय अथवा अनुशासन, (३) अभिधम्म अथवा सिद्धान्त। पहले सुत्तपिटक के पाच विभाग है, जिन्हे निकाय कहते है। इनमे से पहले चार मे मुख्यरूप से बुद्ध के सुत्त अथवा व्याख्यान है। ये वार्ता अथवा सवाद के रूप मे है। ये जिन सिद्धान्तो को समझाने की कोशिश करते है उनमे परस्पर कोई मतभेद नही है।[2] सवादो की इस पिटारी अथवा सुत्तपिटक के विषय मे रीज़ डेविड्स

१ महावश, अध्याय ३३।

२. पाच विभाग निम्नलिखित है—

[क] दीघनिकाय लम्बे भाषणों का सग्रह है जिसमे चौंतीस सुत्त है जिनमें से प्रत्येक बुद्धधर्म के सिद्धान्तो के किसी न किसी विवाद-विषय का प्रतिपादन करता है। इनमें से पहला है ब्रह्मजालसुत्त, दूसरा सामञ्ञफलसुत्त (तपस्वी-जीवन के पुरस्कार के विषय में)। अम्बट्ठसुत्त जन्मपरक जाति के विषय में बुद्ध के क्या विचार थे इसका प्रतिपादन करता है। कूटदन्तसुत्त ब्राह्मणधर्म एव बौद्धधर्म के परस्पर सम्बन्ध के विषय का प्रतिपादन करता है। तेविज्जसुत्त ब्राह्मण सस्कृति एव बौद्ध आदर्शों में परस्पर विरोध को प्रदर्शित करता है। महानिदानसुत्त में कारण-कार्य-सम्बन्ध का प्रतिपादन है। सिगालोवाद-सुत्त मे बौद्धगृहस्थो के कर्तव्य बतलाए गए हैं। महापरिनिब्बानसुत्त में बुद्ध के अन्तिम दिनों का वृत्तान्त दिया गया है।

[ख] मज्झिमनिकाय मे साधारण लम्बाई के भाषणों का सग्रह है। इसमें लगभग १५२ उपदेश, एव सवाद हैं जिनमें बौद्धधर्म के सब विवाद-विषय आ गए है।

[ग] सयुत्तनिकाय में सयुक्त भाषणों का सग्रह है। प्रसिद्ध धम्मचक्कपवत्तनसुत्त भी इसके अन्तर्गत है, अर्थात् धर्मचक्र को गति देने के सम्बन्ध में भाषण। इसे साधारणत वाराणसी के उपदेश के नाम से पुकारा जाता है और विनयपिटक में भी यह पाया जाता है।

[घ] अगुत्तरनिकाय मे २,३०० सुत्तों से कुछ अधिक है और ११ विभागों में बटे है। इनका क्रम ऐसा रखा गया है कि पहले में उन चीजों का वर्णन है जो एक प्रकार की है, दूसरे में उन चीजों का वर्णन है जो दो प्रकार की है, इत्यादि।

[ङ] खुद्दकनिकाय छोटे-छोटे टुकडों का सग्रह है। इसमें १५ विभाग है (१) खुद्दकपाठ, (२) धम्मपद, (३) उदान, (४) इतिवुत्तक, (५) सुत्तनिपात, (६) विमानवत्थु, (७) पेतवत्थु, (८) थेरगाथा, (९) थेरीगाथा, (१०) जातक, (११) निद्देस, (१२) पटिसम्भिदामग्ग, (१३) अपदान, (१४) बुद्धवंस, (१५) चरियापिटक। थेरगाथा और थेरीगाथा दोनों काव्य की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ और मानवीय रुचि से सम्पन्न हैं। मोक्ष और आनन्द-सम्बन्धी उनके गीत सघ के उन सदस्यो द्वारा रचित बताए जाते हैं जिन्हें बुद्ध के जीवनकाल में ही अर्हत्ता, पूर्ण शान्ति एव अनिर्वचनीय आनन्द की अवस्था, प्राप्त हो

२

बौद्ध विचारधारा का विकास

बौद्ध विचारधारा में भारत में भी एक हजार वर्ष से कुछ अधिक समय तक निरन्तर विकास दिखाई देता है। जैसाकि रीज डेविड्स का कहना है "ज्यों-ज्यों शताब्दियां गुजरती गई बौद्धधर्म की प्रायः प्रत्येक पुस्तक में स्वल्प मात्रा में परिवर्तन होता चला गया।" बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् दूसरी शताब्दी में बौद्धधर्म के सिद्धान्तों में कम से कम अठारह परिवर्तन तो स्पष्टरूप से मिलते हैं।[1] विचारों के राज्य में जीवन का अर्थ है परिवर्तन। सम्पूर्ण विकास को हम इसी एक युग के अन्दर नहीं डाल सकते। जहां एक ओर प्राचीन बौद्धधर्म एवं उसके हीनयान और महायान सम्प्रदाय इसी युग में आते हैं वहां बौद्ध विचारधारा के चार सम्प्रदाय हम इसके भी परे ले जाते हैं। इस युग के विषय में लिखते हुए हमारा विचार है कि बौद्ध सम्प्रदायों का उल्लेख करना भी उचित ही होगा क्योंकि इस युग के अन्त तक वे पर्याप्त मात्रा में विकसित हो गए थे।

३

साहित्य

प्रारम्भिक बौद्धधर्म का वृत्तान्त जानने के लिए हमें पिटकों पर निर्भर करना होगा जिनका अर्थ होता है नैतिक नियमों की पिटारियां। इन पिटकों में प्रतिपादित विचार स्वयं बुद्ध द्वारा उपदिष्ट भले ही न हों तो भी उनके लगभग निकटतम रूप में हैं जो आज हमें प्राप्य हैं। प्राचीन भारतीय बौद्ध इन्हींको बुद्ध भगवान के उपदेश एवं आचरण के रूप में मानते हैं। जिस काल में पिटक संगृहीत करके लेखबद्ध किए गए तब जिन सिद्धान्तों का बुद्ध के उपदेशों के रूप में जनसाधारण में मान्यता प्राप्त थी उन सबका वृत्तान्त हम पिटकों में मिलता है। बहुत सम्भव है ईसा से २४१ वर्ष पूर्व इन पिटकों का संग्रह हुआ और ये पूर्ण रूप में आए। और इसी समय तीसरी परिषद् का आयोजन हुआ। आज जो सामग्री हमें उपलब्ध है उसमें निःसन्देह ये सबमें अधिक प्राचीन एवं सबसे अधिक प्रामाणिक लेख हैं।

बौद्धधर्म की परवर्ती परम्पराओं के अनुसार गौतम की मृत्यु के थोड़े समय पश्चात् ही अथवा यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अनित्यता रूपी वायु के द्वारा जब वह ज्ञानदीप बुझा दिया गया तब बुद्ध के अनुयायियों के अन्दर सिद्धान्त के विषय में कुछ विवाद उठ खड़े हुए। उन विषयों का निर्णय करने के लिए मगध के समीप राजगृह में एक परिषद् बुलाई गई। जब सब भिक्षु लोग एकत्र हो गए तो बुद्ध के शिष्यों में सबसे अधिक विद्वान काश्यप से कहा गया कि वह अभिधम्मपिटक में प्रतिपादित अध्यात्म विद्याविषयक विचारों का पाठ करे। इसी प्रकार जो बुद्ध के उस समय में वर्तमान शिष्यों में सबसे पुराना शिष्य था उससे कहा गया कि वह विनयपिटक में [illegible]

1. [illegible] 'द सेक्ट्स ऑफ द बुद्धिस्ट्स', जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसा[illegible]

की सर्वोत्तम पुस्तक है, जैसी आज तक किसी भी देश मे नही लिखी गई होगी।" बुद्धघोष इसको पाली-पिटको के बाद सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ मानता है।[1] जहां एक ओर पालीपिटक बुद्ध की शिक्षाओ के, अधिकाश मे, अनुरूप माने जा सकते हैं, वहा 'मिलिन्द-प्रश्न' मे, हमे ऐसा प्रतीत होता है कि, बौद्ध शिक्षाओ की नकारात्मक व्याख्या अधिक है। नागसेन बौद्धमत का निषेधात्मक हठवाद के रूप मे प्रतिपादन करता है जो आत्मा, परमात्मा एव मुक्तात्माओ के भविष्य-जीवन आदि सब सिद्धान्तो को अस्वीकार करता है। वह सम्पूर्णरूप मे एक हेतुवादी है जिसने दृढता के साथ वैज्ञानिक पद्धति को स्वीकार करके ऐसे सब हठधर्मी विश्वासो को जिनका ताना-बाना धर्मात्माओ ने हीनतर पहलुओ को छिपाए रखने के उद्देश्य से सत्य की प्रतिमा के इर्द-गिर्द बना रखा था, एकदम विशीर्ण कर दिया। इस बात का अनुभव करके कि सत्य के जिज्ञासु को अवश्य स्वय सत्यमय होना चाहिए, उसने अपना मत प्रकट किया कि वे हठधर्मी विश्वास जिनका विधान धर्म मे है, मनुष्य-जाति को दु खो से छुटकारा नही दिला सकते। हो सकता है कि प्रत्यक्ष मे अपूर्ण सामग्री के आधार पर बुद्ध ने अपना निर्णय रोककर रखा हो। नागसेन ने बुद्ध की इस सावधानी मे सन्देह प्रकट किया और कमर कसकर सबका निषेध कर दिया। उसके अनुसार, किसी मत के विषय मे साक्ष्य का अभाव उसपर अविश्वास करने के लिए पर्याप्त कारण है। अपूर्व साक्ष्य के ऊपर विश्वास करना भयकर भूल ही नही, पाप है। बुद्ध की प्रवृत्ति ऐसी अवस्था मे निर्णय को रोक रखने की थी किन्तु नागसेन का सशोधन स्पष्ट खण्डन करने मे है। बुद्ध के विचारो का कठोर तर्क के साथ प्रतिपादन करते हुए उसने अनजाने उक्त विचारो की अपर्याप्तता को प्रकाश मे ला दिया।

बुद्धघोष का 'विसुद्धिमग्ग' एक पीछे का ग्रन्थ है (ईसा के ४०० वर्ष पश्चात्), जिसका निर्माण एक ब्राह्मण ने किया था जिसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। यह हीनयान के अर्हत् आदर्श का प्रतिपादन करता है और प्राचीन सिद्धान्त का विकास करता है। बुद्धघोष पहला बौद्ध टीकाकार है। उसका 'अत्थसालिनी' ग्रन्थ 'धम्मसगणी' पर बहुमूल्य टीका है। बुद्धघोष के काल से बहुत अधिक समय पश्चात् तक भी थेरवाद विकसित नही हो पाया। दार्शनिक नही, तो भी ऐतिहासिक महत्त्व के अन्य पाली ग्रथ ये है—दीपवश (चौथी शताब्दी ईसा के पश्चात्) और महावश (पाचवी शताब्दी ईसा के पश्चात्)। हम इस अध्याय मे प्राचीन बुद्धधर्म के विषय मे लिखते हुए पिटको एव कट्टर विचार वाली टीकाओ तक ही अपने को सीमित रखेगे। 'राजा मिलिन्द के प्रश्नो' का भी उपयोग करेंगे किन्तु एक विशिष्ट सीमा के अन्दर। अर्वाचीन ग्रन्थो का भी जहा उपयोग किया जाएगा, हम इस बात का ध्यान रखेगे कि ऐसा कोई विचार आगे न आए जो प्राचीन लेखो मे न मिलता हो।

१ 'सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', ३५, पृष्ठ १६।

का कहना है ' दार्शनिक अन्तर्दृष्टि की गहराई में एवं स्थान स्थान पर स्वीकृत गुजरात की प्रश्नात्मक विधि में व्यापक मस्तिष्क एवं उच्च भावना में, और उस काल के मर्यादित सुसंस्कृत विचारों की गरिमा में उपस्थित करने में ये संवाद बराबर पाठक को प्लेटो के संवादों का स्मरण कराते हैं। यह निश्चित है कि ज्योंही इस पिटक को भली प्रकार समझकर इसका अनुवाद किया जाएगा गौतम के संवादों का यह संग्रह हमारे दार्शनिक सम्प्रदायों एवं इतिहास में प्लेटो के संवादों के समान स्तर पर ही रखा जा सकेगा।

विनयपिटक में धार्मिक अनुशासन के विषय का प्रतिपादन और भिक्षु जीवन की साधना के लिए नियमों एवं उपनियमों का विधान है। इसके तीन मुख्य विभाग हैं जिनमें से दो के फिर उपविभाग हैं। [१] सुत्तविभंग—इसके विभाग हैं (क) पाराजिक और (ख) पाचित्तिय। [२] खन्धक—जिसके विभाग हैं (क) महावग्ग (ख) चुल्लवग्ग। [३] परिवार। *तीसरे अभिधम्मपिटक में[1] मनोवैज्ञानिक नीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया* है और प्रकरणवश अध्यात्मविद्या एवं दर्शनशास्त्र का भी प्रतिपादन है। इसके सात उपविभाग हैं—(१) धम्मसंगणी जिसका निर्माण ईसा के पश्चात् चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्ध में अथवा मध्य में हुआ बताया जाता है (२) विभंग (३) कथावत्थु (४) पुग्गलपञ्ञत्ति (५) धातु (६) यमक और (७) पट्ठान। यह पाली धर्मशास्त्र है जो थेरवाद के नाम से विख्यात सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है क्योंकि उनका संग्रह पहली परिषद् में बड़ों अथवा बुजुर्गों या स्थविरों द्वारा हुआ था।[2]

कभी कभी मिलिन्दपञ्ह अथवा राजा मिलिन्द के प्रश्न को जो बौद्ध शिक्षक एवं कुशल नैयायिक नागसेन तथा यूनानी राजा मेनाण्डर[3] (मिलिन्द) के बीच हुए संवाद के रूप में है पाली धर्मशास्त्र के अन्दर सम्मिलित किया जाता है जैसे कि स्याम में। यूनानी राजा मनाण्डर ने लगभग १२५ से ९५ ईसापूर्व तक सिन्धप्रदेश एवं गंगा की घाटी में शासन किया। इस ग्रन्थ का लंकाद्वीप में बहुत अधिक उपयोग होता है और वहां यह सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। यह ईसाईयुग के प्रारम्भ के लगभग या उसके पश्चात् किसी समय लिखा गया। हम इस बुद्ध की शिक्षाओं का सार-संग्रह नहीं मान सकते। उक्त विवाद बुद्ध की मृत्यु के लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् हुआ प्रतीत होता है और हमारे सामने बौद्धमत के उस स्वरूप को प्रस्तुत करता है जो कि बुद्ध के काल के बहुत पीछे जाकर प्रचलित रूप में आया। राजा मिलिन्द के प्रश्न रीज डेविड्स के अनुसार भारतीय गद्य साहित्य की अत्युत्कृष्ट कृति है और साहित्यिक दृष्टि से अपनी श्रेणी

गई थी। जातकों में जनश्रुति पर आधारित गौतम के पूर्वजन्मों का इतिहास दिया गया है। यह लोक साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। धम्मपद (सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट खण्ड १) में बुद्ध के सिद्धान्तों का सार दिया गया है। ऐसे व्यक्ति जिनमें तीनों पिटकों के अध्ययन के लिए आवश्यक धैर्य या क्षमता का अभाव है बौद्धधर्म के नीतिशास्त्र के साररूप इसी ग्रन्थ को पढ़ते हैं।

१ अभिधम्म का अनुवाद अंग्रेजी में साधारणतया मेटाफिजिक्स (अध्यात्मविद्या) किया जाता है परन्तु मूल पाली शब्द ही सिद्धान्त का उत्तम प्रतिपादन कर पाता है।

२ देखें ओल्डनबर्ग विनयपिटक पृष्ठ ३७।

३ सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट खण्ड ३५ और ३६।

की सर्वोत्तम पुस्तक है, जैसी आज तक किसी भी देश मे नही लिखी गई होगी।" बुद्धघोष इसको पाली-पिटको के बाद सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ मानता है।[1] जहा एक ओर पालीपिटक बुद्ध की शिक्षाओ के, अधिकाश मे, अनुरूप माने जा सकते है, वहा 'मिलिन्द-प्रश्न' मे, हमे ऐसा प्रतीत होता है कि, बौद्ध शिक्षाओ की नकारात्मक व्याख्या अधिक है। नागसेन बौद्धमत का निषेधात्मक हठवाद के रूप मे प्रतिपादन करता है जो आत्मा, परमात्मा एव मुक्तात्माओ के भविष्य-जीवन आदि सब सिद्धान्तो को अस्वीकार करता है। वह सम्पूर्णरूप मे एक हेतुवादी है जिसने दृढता के साथ वैज्ञानिक पद्धति को स्वीकार करके ऐसे सब हठधर्मी विश्वासो को जिनका ताना-बाना धर्मात्माओ ने हीनतर पहलुओं को छिपाए रखने के उद्देश्य से सत्य की प्रतिमा के इर्द-गिर्द बना रखा था, एकदम विशीर्ण कर दिया। इस बात का अनुभव करके कि सत्य के जिज्ञासु को अवश्य स्वय सत्यमय होना चाहिए, उसने अपना मत प्रकट किया कि वे हठधर्मी विश्वास जिनका विधान धर्म मे है, मनुष्य-जाति को दु खो से छुटकारा नही दिला सकते। हो सकता है कि प्रत्यक्ष मे अपूर्ण सामग्री के आधार पर बुद्ध ने अपना निर्णय रोककर रखा हो। नागसेन ने बुद्ध की इस सावधानी मे सन्देह प्रकट किया और कमर कसकर सबका निषेध कर दिया। उसके अनुसार, किसी मत के विषय मे साक्ष्य का अभाव उसपर अविश्वास करने के लिए पर्याप्त कारण है। अपूर्व साक्ष्य के ऊपर विश्वास करना भयकर भूल ही नही, पाप है। बुद्ध की प्रवृत्ति ऐसी अवस्था मे निर्णय को रोक रखने की थी किन्तु नागसेन का सशोधन स्पष्ट खण्डन करने मे है। बुद्ध के विचारो का कठोर तर्क के साथ प्रतिपादन करते हुए उसने अनजाने उक्त विचारो की अपर्याप्तता को प्रकाश मे ला दिया।

बुद्धघोष का 'विसुद्धिमग्ग' एक पीछे का ग्रन्थ है (ईसा के ४०० वर्ष पश्चात्), जिसका निर्माण एक ब्राह्मण ने किया था जिसने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। यह हीनयान के अर्हत् आदर्श का प्रतिपादन करता है और प्राचीन सिद्धान्त का विकास करता है। बुद्धघोष पहला बौद्ध टीकाकार है। उसका 'अत्थसालिनी' ग्रन्थ 'धम्मसगणी' पर बहुमूल्य टीका है। बुद्धघोष के काल से बहुत अधिक समय पश्चात् तक भी थेरवाद विकसित नही हो पाया। दार्शनिक नही, तो भी ऐतिहासिक महत्व के अन्य पाली ग्रथ ये हैं—दीपवश (चौथी शताब्दी ईसा के पश्चात्) और महावश (पाचवी शताब्दी ईसा के पश्चात्)। हम इस अध्याय मे प्राचीन बुद्धधर्म के विषय मे लिखते हुए पिटको एव कट्टर विचार वाली टीकाओ तक ही अपने को सीमित रखेगे। 'राजा मिलिन्द के प्रश्नो' का भी उपयोग करेंगे किन्तु एक विशिष्ट सीमा के अन्दर। अर्वाचीन ग्रन्थो का भी जहा उपयोग किया जाएगा, हम इस बात का ध्यान रखेगे कि ऐसा कोई विचार आगे न आए जो प्राचीन लेखो मे न मिलता हो।

१. 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', ३५, पृष्ठ १६।

४

बुद्ध का जीवनवृत्त और व्यक्तित्व

उपनिषदों की ओर से जब हम प्राचीन बौद्धमत की ओर आते हैं तो हम ऐसे ग्रन्थों में से निकलकर जिनके निर्माता एक से अधिक विचारक थे, एक ऐसे निश्चित मत की ओर आते हैं जिसकी स्थापना केवल एक व्यक्ति विशेष के द्वारा हुई थी। उपनिषदों में हम एक प्रकार के वातावरण का आश्चर्यजनक अध्ययन मिलता है जबकि बौद्धधर्म में मनुष्य के जीवन में विचार की ठोस अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। उस काल के ससार में विचारधारा की जीवन के साथ एकता ने एक प्रकार का अद्भुत कार्य किया। प्राचीन बौद्धमत की सफलता का कारण बुद्ध का जीवन और अपना निजी विशिष्ट व्यक्तित्व ही था।

यह कल्पना करते समय कोई भी मनुष्य अवश्य आश्चर्यचकित होगा जब उसे यह ज्ञात होगा कि ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व भारत में एक अद्वितीय राजकुमार ने जन्म लिया जो धार्मिक त्याग, उच्च आदर्शवादी जीवन की कुलीनता एवं मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम में अपने पहले और बाद के लोगों में अद्वितीय था। परिव्राजक के रूप में प्रचारक गौतम अपने अनुयायियों में और उनके द्वारा समस्त ससार में 'बुद्ध'[1] के नाम से विख्यात है जिसका अर्थ है 'जाननेवाला', जिसे ज्ञान का प्रकाश मिल गया है। ईसा से लगभग ५६७ वर्ष पूर्व उसने जन्म लिया। उसका अपना नाम सिद्धार्थ था, जिसका तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसने अपना उद्देश्य पूर्ण कर लिया हो। उसका घर का नाम गौतम, उसके पिता का नाम शुद्धोदन एवं माता का नाम माया था। वह शाक्यवंश के राज्य का उत्तराधिकारी था। कपिलवस्तु में, जो शाक्यों की राजधानी थी, उसका पालन-पोषण शुद्धोदन की दूसरी पत्नी महाप्रजापती द्वारा हुआ क्योंकि गौतम की माता उसके जन्म के सात दिन बाद ही मर गई थी। कहा जाता है कि उसने एक रिश्ते की बहिन यशोधरा के साथ विवाह किया जिससे उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ और जिसका नाम राहुल रक्खा गया और जो बाद में उसका शिष्य बना। बहुत बचपन से ही इस अनिर्वचनीय ससार के बोझ और इसके रहस्य ने प्रबलरूप में उसकी आत्मा पर दबाव डाला। इस जीवन की क्षणभंगुरता एवं अनिश्चितता ने उसकी आत्मा में प्रबलरूप में खलबली मचा दी और उसे इस विषय का अच्छी तरह ज्ञान हो गया कि लाखों मनुष्य अज्ञानरूपी अन्धकार के गहरे गढ़े में गिरकर पापपूर्ण जीवन बिताते हुए नाश को प्राप्त होते हैं। वे चार घटनाएं जिन्हें गौतम ने कपिलवस्तु के मार्ग पर देखा था—अर्थात् एक वृद्ध मनुष्य जो वर्षों के बोझ से झुक गया था, एक बीमार व्यक्ति जो बुखार में तप रहा था, एक मृत व्यक्ति की लाश जिसके पीछे शोक मनानेवाले रोते हुए और अपने केशों को नोचते हुए जा रहे थे तथा एक भिक्षुक साधु—इस शिक्षा का निर्देश करती हैं कि ससार के दुःखमय रूप ने गौतम के भावुक मन में एक प्रकार की उग्र पीड़ा उत्पन्न कर दी थी।[2] दुःख के ये दृश्य उसके अन्दर उस बोझ

[1] बुद्ध का अर्थ है प्रकाश देनेवाला और भारत में यह एक सामान्य सज्ञा है जो अनेक व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है।

[2] मरणशास्त्रना के बल ने इसी प्रकार से लार्ड मैंड को भी प्रेरणा दी थी कि उसने भी ससार के

के प्रति चेतना को जगाने के लिए पर्याप्त थे जो अज्ञानियो को अनन्तकाल से दबाता रहा है, यहा तक कि मनुष्य का उत्तम से उत्तम प्रयत्न भी उसपर काबू नही पा सका और जो मनुष्य-जाति के विनाश का कारण बना हुआ था। दु ख के व्यक्तिगत दृष्टान्त बुद्ध के लिए एक विश्वमात्र की समस्या बन गए। उसकी अन्तरात्मा विचलित हो उठी और उसे जीवन भयावह लगने लगा।

इन्द्रियगम्य पदार्थो के खोखलेपन ने उसके ऊपर यहा तक असर किया कि उसने नित्य मे ध्यान लगाने एव अपने साथी समस्त मनुष्य-समुदाय को जीवन की हीनता तथा विषयासक्ति की भ्रान्तियो से छुटकारा दिलाने का साधन ढूढ निकालने के लिए सब प्रकार के आराम, शक्ति एव राजभवन की धन-सम्पदा का त्याग कर दिया। उन दिनो सत्य के अन्वेषक मानसिक अशान्ति से बार-बार पीडित होने पर उद्विग्न होकर पर्यटक वैरागी बन जाते थे। प्रकाश की खोज करनेवाले को भी अपनी खोज प्रारम्भ करने के लिए ससार के बढिया पदार्थो को त्याग देना आवश्यक था। इस प्राचीन प्रथा के अनुसार, बुद्ध ने घर का त्याग कर दिया और एक तपस्वी का जीवन स्वीकार कर लिया। उसने अपने ठाट-बाट को उतार फेका, पीले वस्त्र धारण कर लिए, और प्रकाश एव शान्ति की खोज मे भिक्षावृत्ति आरम्भ करके ग्राम-ग्राम एव नगर-नगर मे चक्कर लगाना आरम्भ कर दिया। उसने इतना बडा त्याग केवल उन्तीस वर्ष की अवस्था मे किया।[1] उसने दार्शनिक विचार के द्वारा आध्यात्मिक विश्वास की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया और कुछ समय केवल विचारो के ही अज्ञात समुद्रो मे मानसिक यात्रा की, किन्तु उसे अधिक सफलता नही मिली। सूक्ष्म तर्कशास्त्र मानसिक अशान्ति का उचित उपचार नही है। दूसरे साधन शारीरिक तपस्याओ के थे। गौतम अपने पाच श्रद्धालु मित्रो के साथ उरुवेला के जगलो मे एकान्त प्रदेश मे गया और वहा उसने उपवास एव तपस्या के उन्माद मे आकर आत्मा की शान्ति के लिए ऐसी ही अन्यान्य अत्यन्त कठोर प्रकृति की शारीरिक यन्त्रणाओ के अधीन अपने को कर दिया। उसे इससे कोई शान्ति नही मिली, क्योकि सत्य अभी भी पहले की तरह बहुत दूर था। वह निराशोन्मत्त होने लगा और एक रात थककर मूर्छित हो गया और भूख के कारण लगभग मरने लगा। सत्य अभी भी समस्या था और जीवन एक प्रश्नचिह्न था।

दु ख पर चिन्तन किया, "जब उदासी, अभाव, निराशा एव दु खकातर वाणी, जिससे ससार भरपूर है, मेरे सामने आए, जब मेरा चिन्तन केवल अपने ही भविष्य तक नियमित न रहकर उस ससार-भर की ओर झुका जिसका मै केवल अशमात्र हू, तब मेरी अपनी निराशा का विस्तार सारी सृष्टि तक फैल गया और मरणशीलता का नियम मेरे आगे आया एक ऐसे भयावह रूप में कि मेरा तर्क एकदम हिल गया।" —डब्ल्यू० एस० लिली के 'मैनी मैन्शन्स' में उद्धृत 'महापदानसुत्तन्त। रीज डेविड्स का 'डायलॉग्स आफ बुद्ध', खण्ड २ भी देखिए।

१ प्रचलित किवदन्ती इस घटना का बलपूर्वक वर्णन करती है। यह कहा जाता है कि वह मध्य-रात्रि में उठा, अपनी पत्नी के कमरे के द्वार तक गया और उसे एक हाथ अपने बच्चे के सिर पर रखे हुए सोते देखा। उसकी इच्छा हुई कि अन्तिम बार अपने बच्चे को छाती से लगा ले किन्तु इस भय ने कि इस प्रकार बच्चे की युवती मा जाग जाएगी, उसे ऐसा करने से रोक दिया। वह वापस लौट आया और प्रकाश की खोज में रात के अन्धकार मे भाग निकला।

पूरे छः वर्ष तक कठोर तपस्या की साधना के पश्चात बुद्ध को उक्त पद्धति की निष्फलता का निश्चय हो गया। धन-सम्पदा का खोखलापन, भिन्न भिन्न सम्प्रदायों का ज्ञान और तपस्वी जीवन की कठोरता इन सबको उसने तुला में रखकर तोला और तो भी ये सब उसे हल्के प्रतीत हुए। संयम या इन्द्रियनिग्रह द्वारा पवित्र हो गए शरीर के साथ एवं विनय के कारण सुसंस्कृत हो गए मन से एवं एकान्तवास के द्वारा सर्वथा अनुकूल हो गए हृदय के साथ उसने वन्य प्रदेश में ज्ञान की खोज की। इसके अनन्तर वह संसार में परमात्मा की सृष्टि की ओर मुड़ा इस आशा से कि सम्भवतः सूर्योदय से एवं सूर्य की आभा और प्रकृति व जीवन के ऐश्वर्य से उसे कुछ सत्य की शिक्षा मिल सके। वह ध्यान एवं प्रार्थना में लग गया। किंवदन्तियों में उन वृत्तान्तों का वर्णन मिलता है कि किस प्रकार मार या कामदेव ने बुद्ध का ध्यान बंटाकर कभी प्रबल आक्रमणों द्वारा कभी आकर्षक प्रलोभनों के साधन से उसे अपने उद्देश्य से पथभ्रष्ट करने के नाना प्रयत्न किए। मार को सफलता नहीं मिली। बोधिवृक्ष के नीचे घास के बिछौने पर बैठे हुए गौतम पूर्वदिशा की ओर मुंह किए हुए था दृढ़ और अचल अपने मन को एक विशेष प्रयोजन में लगाए हुए— मैं अपने इस आसन से तब तक नहीं हिलूंगा जब तक कि मैं सर्वोपरि एवं परम (निरपेक्ष) ज्ञान को प्राप्त न कर लूं। उसने उसी वृक्ष के नीचे सात सप्ताह गुजारे। जब मन किसी महत्त्वपूर्ण एवं उलझी हुई समस्या में ग्रस्त हो तो वह आगे तो बढ़ता है शनैः शनैः पग उठाकर अपनी स्थिति को भी सुदृढ़ बना लेता है किन्तु जो उपलब्धियां उसे उस समय तक प्राप्त हुईं उनका बहुत अल्पमात्रा में ही भान हो सकता है जबकि अचानक हठात् प्रकट हुए किसी प्रकाश के प्रभाव से वह अपनी विजय को ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि गौतम के साथ भी ऐसा ही हुआ।[1] अपनी गम्भीर ध्यानावस्थित मुद्राओं में से एक मुद्रा में जबकि वह उस वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा था जिसे उसके भक्त अनुयायियों ने बोधिवृक्ष का नाम दिया अर्थात् बुद्धि का पीठ एक नवीन ज्ञान उसके मन में प्रस्फुटित हुआ। अपनी खोज की वस्तु उसके अधिकार में आ गई।

सात वर्षों की निरन्तर खोज और ध्यान के पश्चात् उन्होंने अपने को इस विश्वास से भरपूर अनुभव किया कि उन्हें सर्वकालस्थायी आनन्दातिरेक की प्राप्ति के मार्ग का प्रचार निराशाग्रस्त जनता में करना चाहिए। उन्होंने चार आर्यसत्यों एवं आष्टांग मार्ग के धर्माचरण का प्रचार व्याकुल संसार को किया। अध्यात्मशास्त्र के सूक्ष्म सिद्धान्तों में न जाकर उन्होंने नीतिशास्त्र के मार्ग का प्रचार किया जिससे कि वे पापपूर्ण एवं निन्दित जीवन से जनसाधारण की रक्षा कर सकें। अपनी शान्त एवं विनीत मुद्रा के कारण अपने जीवन के सौन्दर्य एवं गरिमा के कारण मनुष्यमात्र के प्रति अपने प्रेम की गम्भीरता एवं उमंग के कारण और अपने विचार एवं ज्ञानपूर्ण संवाद तथा अद्भुत भावाभिव्यक्ति के कारण उन्होंने स्त्री-पुरुषों के हृदयों पर एक असाधारण विजय प्राप्त कर ली। अपने पांच तपस्वी मित्रों को उन्होंने अपने सबसे प्रथम शिष्यों के रूप में चुना। इन

[1] देखें : ईलेक्ट्राइंग का 'दि बुद्ध', पृष्ठ २०३।

पाच शिष्यो को उन्होने अपने 'धर्मचक्रप्रवर्तन' का प्रथम उपदेश दिया। उन्होने उनके उपदेश को ग्रहण किया और वे बौद्धसघ रूपी सस्था के सबसे पहले सदस्य बने। शिष्यो की सख्या शनैः-शनैः बढती चली गई। नये धर्म के प्रचारार्थ धर्मप्रचारको को सब दिशाओ मे भेजा गया। बौद्धधर्म मे दीक्षित होनेवाले सबसे प्राचीन और सबसे अधिक प्रख्यात राजगृह के दो तपस्वी सारिपुत्त और मौद्गलायन थे, जिन्होने प्रारम्भिक पाच शिष्यो मे से अस्साजी नामक अन्यतम शिष्य से सत्य को ग्रहण किया। बुद्ध ने स्वय इनको अपने सघ मे प्रविष्ट किया। अन्य प्रसिद्ध शिष्य, जिन्होने बौद्धधर्म के इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान की पूर्ति की, इस प्रकार थे—उपालि, जिसने बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त सगठित हुई पहली परिषद् के समक्ष विनयपिटक का पाठ किया, काश्यप, जो परिषद् का अध्यक्ष था और अपने समय का प्रमुख बौद्ध था क्योकि यह कहा जाता है कि उसके आगमन की प्रतीक्षा मे ही बुद्ध के शरीर का दाहकर्मसस्कार कुछ समय के लिए रोक दिया गया था, और आनन्द, बुद्ध का चचेरा भाई और सबसे प्रिय शिष्य, जो कोमल भावनाओ के साथ बुद्ध के ऊपर सदा निगरानी रखता था और सब प्रकार की सावधानी बरतता था और बुद्ध की मृत्यु के समय भी सबसे अधिक उनके समीप था। सहस्रो व्यक्तियो ने उनके अनुयायियो मे अपनी गणना कराई। अनेक ब्राह्मण शिक्षको ने भी बौद्धधर्म मे दीक्षा ली। घर छोडने के बारह वर्ष पश्चात् जब बुद्ध अपने पिता के दरबार मे गए तब भी उनका उद्देश्य यह था कि वे अपने माता, पिता, पत्नी व पुत्र सबको अपने धर्म मे दीक्षित होने के लिए आमन्त्रित करे। बहुत-से ससारी पुरुष भी शिष्य बने, और कुछेक स्त्रियो को भी दीक्षित किया गया, जिन्होने बौद्ध भिक्षुणियो की सस्था बनाई।

लगभग चालीस वर्ष तक धर्मप्रचारक का जीवन व्यतीत करने के पश्चात् जब उन्होने यह अनुभव किया कि अब इस शरीर को त्यागकर परिनिर्वाण[1] प्राप्त करने का समय समीप आ रहा है तो उन्होने अपने अन्तिम कुछ घण्टे आनन्द को एव एकत्र भिक्षुओ को उचित निर्देश एव आदेश देने मे व्यतीत किए। सुभद्र नामक एक पर्यटक तपस्वी ने भी अन्तिम समय मे उनके उपदेशो को सुना और वह स्वय बुद्ध द्वारा दीक्षित हुआ उनका अन्तिम शिष्य था। बुद्ध ने अपने शिष्यो को आदेश दिया कि वे अपनी शकाओ और कठिनाइयो को कह डाले जिसमे कि वे उन्हे दूर कर सके। सब मौन रहे। तब उस महाभाग ने अपने धर्मबधुओ को सम्बोधन करके कहा : "और अब हे मेरे बन्धुओ, मैं तुमसे विदा होता हू, मनुष्य के अवयव क्षणभगुर है, पुरुषार्थ के साथ अपने मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करो।"[2] कहा जाता है कि उनका देहान्त अस्सी वर्ष की आयु मे हुआ। महान बुद्ध सदा

१. निर्वाण की प्राप्ति एव उसका उपभोग केवल जीवन के अन्दर ही सम्भव होता है, परिनिर्वाण की प्राप्ति केवल मृत्यु पर ही होती है, जिस समय शारीरिक जीवन का अन्त हो जाता है। देखिए 'परिनिब्बानसुत्त', सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, ११।

२ महापरिनिब्बानसुत्त, ६ : १। प्लेटो के 'फीडो' के अनुसार दर्शनशास्त्र मृत्यु के ध्यान का दूसरा नाम है। मारकस ओरेलियस से तुलना कीजिए : "सब कुछ अन्त में दुर्गन्ध देनेवाला और फेंकने लायक हो जाता है। सब वस्तुए एक समान है—परिचित, अस्थायी और अनुचित। मिट्टी इन सबको ढक लेगी, तब मिट्टी अपने आवर्तन में परिवर्तित हो जाएगी, तब परिवर्तन का परिणाम, तब परिणाम का परिणाम, और इस प्रकार अनन्तकाल तक चलता रहेगा। परिवर्तन एवं विविधता की लहरें साथ-साथ

के लिए पूर्व की एक अद्भुत आभा के उदाहरणस्वरूप रहेंगे, जिसमें भावनामय शान्ति विचारमग्न नम्रता एवं कोमल शान्त और अनन्त तक पहुंचनेवाला प्रेम—इन सबकी एकमात्र झलक मिलती थी। उन्हें भिन्न भिन्न नामों से भी पुकारा जाता है, यथा शाक्यमुनि, एवं तथागत अर्थात् जो सत्य तक पहुंच गया है।

जिन घटनाओं का यहां वर्णन किया गया है उन्हें प्रामाणिक माना जा सकता है। कितनी ही अन्य ऐसी घटनाएं भी हैं जिनका वर्णन ललितविस्तर[1] एवं जातक कथाओं में आया है जो न्यूनाधिक रूप में किंवदन्तियां हैं।[2] हम इस बात को न भूलना चाहिए कि उन बौद्धग्रन्थों का निर्माण जिनमें बुद्ध के जीवन का वृत्तान्त मिलता है उन घटनाओं के घटने के दो सौ वर्ष के पश्चात् हुआ इसलिए इसमें कुछ आश्चर्य न होना चाहिए कि उनमें बहुत सा अंश किंवदन्तियों का है जिनके साथ प्रामाणिकता का भी कुछ अंश सम्मिलित हो सकता है।[3] उनके अनुयायियों की श्रद्धा भावनाओं ने भी उनके जीवन को असंख्य किंवदन्तियों से अलंकृत कर दिया। इन घटनाओं से उस महान शिक्षक के वास्तविक जीवन का वर्णन तो इतना नहीं होता जितना कि इस बात का पता लगता है कि किस प्रकार उन्होंने अपने अनुयायियों के हृदयों और कल्पनाशक्ति को प्रभावित किया।[4]

५

तात्कालिक परिस्थितियां

प्रत्येक विचार पद्धति अपने अन्दर अपने समय की प्रवृत्तियों को धारण करती है एवं उन्हें प्रकट करती है और इसलिए उसे ठीक ठीक तभी समझा जा सकता है जबकि हम उस

उभरती हुई आती हैं और वह उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करता है जो सब मरणधर्मा वस्तुओं को घृणा की दृष्टि से देखेगा।' एडविन बेवन के 'हेलेनिज्म ऐण्ड क्रिश्चियेनिटी', पृष्ठ १८५ में उद्धृत।

१ एडविन आरनाल्ड की काव्य पुस्तक 'लाइट आफ एशिया'।

२ निदानकथा, खण्ड १, जातक एवं अश्वघोष का बुद्धचरित।

३ बुद्ध के जीवन का सबसे प्रारंभिक वृत्तान्त 'महापदानसुत्तन्त', दीघनिकाय सुत्त संख्या १४ में है। कहा जाता है कि इसमें बुद्ध का आत्मचरित है।

४ यह तो माना जा सकता है कि बुद्ध के विषय में जो प्रचलित वृत्तान्त मिलता है उसका अधिकांश किंवदन्तियों के आधार पर है, किन्तु हम यह स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हैं जैसाकि आधुनिक समय में प्रायः कहा जाता है कि यह सब किंवदन्तियों का ही स्वरूप है। हमारा तात्पर्य उस कल्पना से है जो एम० सेनार्ट द्वारा प्रचलित हुई और अन्य कुछ लोगों ने उसको बढ़ावा दिया अर्थात् बुद्ध की कथा एक मिथ्या कल्पना है जिसका आगे चलकर एक धर्म से सम्बन्ध हो गया और यह धर्म स्वभाव से उन्नति कर गया। एम० सेनार्ट का कहना है कि हमें बुद्ध की कथा में सूर्य की एक मिथ्या कल्पना मिलती है जिसके साथ कितना ही अनेक विषमांग प्रवृत्तियां आकर पीछे से जुड़ गई। हम इस धारणा को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हैं। बुद्ध की कथा के साथ जितनी घटनाओं का सम्बन्ध है वे स्वाभाविक हैं और वास्तविक परम्पराओं से सम्बद्ध हैं। हमें पुस्तकों की पहले से उपस्थिति की गवाही मिलती है। बुद्ध का धर्म कभी समझ में नहीं आ सकता जब तक कि हम उसे एक वास्तविक मेधावी पुरुष का कार्य न मानें जिसे आध्यात्मिक स्फूर्ति पर पूरा अधिकार था। एम० सेनार्ट स्वयं भी बुद्ध को

दृष्टिकोण को पहले ग्रहण कर ले जिसमे वह ससार की व्याख्या करती है, और साथ मे उस स्वाभाविक प्रेरणा को भी समझने का प्रयत्न करें जिसके कारण उक्त विचारपद्धति सम्भव हो सकी। उस प्रचलित साहित्य के द्वारा जो पीछे से लिखित रूप मे भी आ गया, हम समय की उन परिस्थितियो का अनुमान सहजरूप मे कर सकते है जिनके अन्दर बुद्ध भगवान ने जन्म लिया। उस समय भारत मे कोई एकच्छत्र साम्राज्य नही था किन्तु विशेप-विशेप गणजातियां और गोत्रो के शासक राजा लोग थे, जो अपने पृथक् छोटे-छोटे राज्य वनाने के लिए प्रयत्नशील थे। नाना प्रकार की स्थानीय भापाओ का प्रयोग होता था और सस्कृत सामान्यरूप से एक पवित्र भापा थी। वेदो को पहले ही रहस्यमय पवित्र ग्रन्थो के रूप मे मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। ऐसे रीति-रिवाज और सामाजिक नियम जिन्हे पीछे से मनुस्मृति मे धार्मिक नियमो का स्थान दिया गया, उस समय प्रचलित थे यद्यपि उनके अन्दर वह कठोरता अभी नही थी जो वाद मे उनमे प्रविष्ट हो गई। प्रसिद्ध छः दार्शनिक सम्प्रदायो का अभी पूर्ण विकास नही हुआ था, यद्यपि उस प्रकार की कल्पना का भाव जिसके कारण उक्त दर्शनपद्धतियो की रचना आगे जाकर सम्भव हो सकी, उस समय अपना काम कर रही थी। नैतिक जीवन मे शिथिलता आ गई थी, क्योकि अध्यात्म-विद्या की सूक्ष्म समस्याओ एव पारमार्थिक सवादो ने जनसाधारण की शक्ति को खपा रखा था।

उस समय समस्त वातावरण परस्पर-विरोधी मन्तव्यो एव कल्पनाओ के एक राशीभूत पुज से परिपूर्ण था, जिसे किसीने अगीकार किया तो दूसरे ने उसे मानने से निपेध किया, और जो व्यक्तियो के साथ वदलता था एव वैयक्तिक आचरण, भावनाओ एव उनके निर्माताओ की आन्तरिक इच्छाओ को प्रतिविम्वित करता था। उस समय ऐसे कोई मान्य सत्य एव सिद्धान्त नही थे जिन्हे सब लोग एकमत होकर स्वीकार कर सके, किन्तु मात्र द्रावक विचार एव अन्त.प्रेरणाए मिलती थी। उस समय मे जगत् एव आत्मा की नित्यता, अनित्यता, अथवा दोनो मे से एक भी नही, सत्य तथा आभास की पहचान, एक परलोक की वास्तविकता, मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व एव इच्छा के स्वातन्त्र्य आदि के विपय मे सवाद अपनी पूर्ण विकसित अवस्था मे आ गए थे। कुछेक विचारक मन और आत्मा को एक ही मानते थे, जवकि अन्य उनमे परस्पर-भेद मानते थे। कुछ परमेश्वर को सर्वोपरि मानते थे तो अन्य ऐसे भी थे जो मनुष्य को ही सर्वोपरि स्वीकार करते थे। कुछ का तर्क था कि हम इस विपय मे कुछ नही जानते; दूसरे कुछ व्यक्ति अपने श्रोताओ को वडी-वड़ी आशाओ एव विश्वास के साथ निश्चय दिलाकर सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते थे। कुछ परिष्कृत अध्यात्मविद्या-सम्वन्धी कल्पनाओ के निर्माण मे व्यस्त थे, इसके विपरीत, दूसरी ओर वे भी थे जो उक्त कल्पनाओ के खण्डन मे उतना ही परिश्रम कर रहे थे। उस काल मे वैदिक परम्परा से एकदम निरपेक्ष अनेक कल्पनाओ ने जन्म लिया। उस काल मे हमे निगण्ठ मिलते है जो अपनेको सववन्धनो से मुक्त कहते थे, श्रमण मिलते है अर्थात् ऐसे तपस्वी जो ब्राह्मणो से भिन्न थे, और जो

एक शिक्षक के रूप में तो मानते हैं, किन्तु समझते हैं कि उनके जीवन में सूर्य की मिथ्या कल्पना जोड़ दी गई है। बुद्ध के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाए कभी मिथ्या नही हो सकतीं।

संसार को त्याग देने में ही आत्मा के लिए नाश मानते थे, ऐसे भी थे जो आत्म नियन्त्रण के लिए दीर्घकाल तक अन्नग्रहण को त्याग देते थे। ऐसे भी थे जिन्होंने आध्यात्मिक साधना के लिए, संसारनिवृत्ति के लिए प्रयत्न किया था, तथा यथार्थिक वितर्कवादी भौतिकवादी एवं सन्देहवादी सभी तरह के लोग। इसके अतिरिक्त ऐसे भी थे जो अपने आत्माभिमान के कारण अपने से बढ़कर किसीको ज्ञानी नहीं समझते थे जैसे सच्चक जो धृष्टता के साथ यहां तक कह गया कि 'ऐसा कोई भी श्रमण, ब्राह्मण, धार्मिक आचार्य अथवा किसी सम्प्रदाय विशेष का मुखिया—भले ही वह अपने को पवित्रात्मा सर्वोपरि बुद्ध ही क्यों न कहे—नहीं है जो यदि शास्त्रार्थ में मेरे सामने आने का साहस करे तो लड़खड़ा न जाए, कांपने न लगे और उसे भय के मारे पसीना न छूटने लगे। और यदि मैं एक जड़ खम्भे पर भी अपनी वाणी का प्रहार करूं तो वह भी लड़खड़ा जाए और उसमें भी कंपकंपी आने लगे, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है!'[1] यह कल्पनाओं की अस्तव्यस्तता का काल था जो असंगत परमार्थविद्याओं एवं अनिश्चित वितण्डावादों और वाक्कलहों से भरपूर था।[2]

इस प्रकार अध्यात्मविद्या की ओर प्रवृत्ति रखनेवाले लोगों की समृद्ध कल्पना शक्ति देश, काल एवं नियतता आदि के प्रश्नों का समाधान करते हुए अपना मन बहलाती रही और उन्होंने दर्शनशास्त्र की अत्यन्त श्रेष्ठ कला को एक अत्यन्त सामान्य रूप दे दिया। किन्तु महान सत्य अस्पष्ट एवं रहस्यमय आध्यात्मिक ज्ञान के पीछे छिपे पड़े रहे। ये वे लोग हैं जो कल्पनात्मक मस्तिष्क के मार्ग में से स्फुटित होते हुए सत्य को नहीं ग्रहण कर सके। एक दूसरे के ऊपर आक्रमण करते हुए श्रद्धोन्माद ने, परस्पर विसंवादी या असंगत शास्त्रपद्धतियों ने एवं मिथ्या विश्वास के ज्वारभाटे ने मिलकर बुद्ध के हृदय पर एक अनीव असर डाला और वे इस परिणाम पर पहुंचे कि अध्यात्मविद्या सम्बन्धी ये सब विचार मनुष्य को शान्ति दे सकने में असमर्थ हैं। पारलौकिक कल्पनाओं के सूक्ष्म विभेदों से अथवा अविराम प्रश्नात्मक प्रवृत्ति से या दार्शनिक सम्प्रदायों के जटिल वाद-विवादों के द्वारा तर्क को सूक्ष्म और परिमार्जित करने से आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। निर्णयशून्य विचार भले ही मनुष्य के मस्तिष्क पर कोई कुप्रभाव उत्पन्न न करें, उसके नैतिक हित के लिए तो अवश्य ही हानिकर सिद्ध होता है। विचार के क्षेत्र की अव्यवस्था से नैतिक क्षेत्र में भी अव्यवस्था आती है। इसलिए बुद्ध ने परलोकशास्त्र सम्बन्धी वाद-विवादों को जिनसे कोई भी लाभ उन्हें प्रतीत नहीं हुआ, एकदम ही छोड़ देना उचित समझा। *बौद्धधर्म में अध्यात्मविद्या या परलोकशास्त्र का जो भी विषय हम मिलता है वह मौलिक धम्म नहीं है अपितु उसमें पीछे से जोड़ा गया है, अर्थात् अभिधम्म*[3] है। बौद्धधर्म अनिवार्यरूप से मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र एवं नीतिशास्त्र का समुच्चय है। उसमें

1. ओल्डनबर्ग : 'बुद्ध', पृष्ठ ७० ।

2. गौतमबुद्ध के समय में प्रचलित ६२ कल्पनाओं का जिनका ब्रह्मजालसुत्त में उल्लेख है रीज़ डेविड्स ने अपने 'अमरिकन लेक्चर्स आन बुद्धिज़्म' नामक ग्रन्थ में विश्लेषण किया है।

3. अभि परे धम्म, भौतिक विज्ञान। मंथर्मी का भाग चलकर अभिधम्म में विश्लेषण किया गया है। अरस्तू से तुलना कीजिए। दर्शन अध्यात्मविद्या प्रारम्भिक संवाद।

अध्यात्मशास्त्र सन्निविष्ट नहीं है।

भारत जैसे विस्तृत भूभाग में देवताओं की कल्पना करने में मनुष्य की अद्भुत क्षमता और बहुदेववाद के प्रति दुर्दमनीय मानसिक प्रेरणा को स्वच्छन्द कार्यक्षेत्र मिला। उस समय देवी-देवताओं और प्रेतात्माओं का ही शासन जनसाधारण के मन पर था, जिनमें नुकसान पहुंचाने और तंग करने की शक्ति थी, अथवा प्रसन्न होकर वरदान देने एवं गौरवान्वित कर देने की भी शक्ति थी। अधिकांश लोग वैदिकधर्म को बहुत ऊंची श्रद्धा से देखते थे, जिसमें तरह-तरह के सम्प्रदायों, क्रियाकलापों, कर्मकाण्डों और धार्मिक अनुष्ठानों की भरमार थी। ठीक यूरोप के उन मूर्तिपूजकों की भांति जो धनवान होने की अभिलाषा को लेकर अग्निदेवता को मस्तक नवाते थे और अपनी गृहसामग्री का दसवां हिस्सा अर्पण करते थे, बीमारी से छुटकारा पाने के लिए एस्कूलापिग्रस नामक देवता को मुर्गा चढाते थे, वे लोग देवताओं को प्रसन्न करने में लगे रहते थे। यहां तक कि एकेश्वरवादियों का परमेश्वर भी अधिकतर मनुष्यों के ही समान एक देवता था, यद्यपि वह वीर प्रकृति का था, और यदि उसे स्वतन्त्र छोड दिया जाए तो वह बहुत दयालु रहता था। पर यदि कोई उसकी अवहेलना करे तो क्रुद्ध हो जानेवाला था, और क्रोध शान्त हो जाने पर क्षमाशील भी था। उस एकमात्र परमेश्वर का अपने उपासकों के साथ सम्बन्ध मालिक और दास का सा था। वह प्रतिशोध के स्वभाव वाला युद्धदेवता, हमारे साथ जैसा चाहता था व्यवहार करता था और युद्ध में हमें शत्रुओं का सामना करने का आदेश देता था। वह संसार के अन्दर आवश्यकता से अधिक दखल देता था। धूमकेतु उसके कोप के प्रतीक थे, जोकि पापपूर्ण संसार को चेतावनी देने के निमित्त प्रेषित किए गए थे। यदि चेतावनी की अवहेलना की जाती तो वह जनसंख्या के दशांश का संहार करने के वास्ते महामारी भेज सकता था। चमत्कार उस समय के लिए साधारण घटना थी। यद्यपि उपनिषदों के द्वारा एक व्यापक नियम की कल्पना तो की जा चुकी थी किन्तु वह एक जागरित विश्वास के रूप में नहीं आई थी, और कठोर एकेश्वरवाद का परिणाम यह हुआ कि कुल उत्तरदायित्व परमेश्वर के ऊपर डाल दिया जाता था। यदि हम बुरे हैं तो उत्तरदायी वही परमेश्वर है, यदि अच्छे हैं तो भी वही उत्तरदायी है। या तो केवल मन की मौज से अथवा किसी पूर्वपुरुष के किसी पापकर्म द्वारा अपमान किए जाने के कारण उसने मनुष्यजाति के अधिकांश भाग को निराशा एवं दुःख का जीवन बिताने की व्यवस्था की है।

प्रत्येक पापकर्म परमात्मा के नियम का उल्लंघन है और उसको प्रसन्न करने का एकमात्र उपाय पश्चात्ताप करना एवं धूल में लोटना है। पाप करना परमेश्वर के प्रति अपराध करना है, इसलिए परमेश्वर को सन्तुष्ट रखना ही होगा। लोग पाप के स्वाभाविक परिणामों के प्रति उदासीन रहते थे यद्यपि मौखिक रूप से कर्म के प्रति निष्ठा दिखाई जाती थी। सब मनुष्यों के कार्यकलाप के ऊपर एक क्रुद्ध परमेश्वर का वज्र लटकता रहता था। परिणाम यह हुआ कि धर्म को जीवन से अलग समझा जाता था और परमेश्वर एवं संसार एक-दूसरे के विपरीत थे।

हिंसात्मक और क्रूर यज्ञों ने, जिनके द्वारा परमेश्वर की पूजा की जाती थी, बुद्ध के अन्तःकरण पर आघात किया। परमात्मा के विषय में मिथ्या विश्वास के कारण मनुष्य

के नैतिक जीवन को भारी क्षति पहुंची। बहुत से अच्छे व्यक्ति भी इस मिथ्या विश्वास से कि यह दैवीय आज्ञा है, बहुत सा शैतान का काम कर बैठते हैं। इस संसार में आचारशास्त्र एवं धर्म को एक दूसरे के अन्दर मिश्रित कर देने के कारण कितनी बुराई हुई—इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। धर्म के नाम पर ऐसे अनेक मत मनुष्य के जीवन में घुस गए थे और इस प्रकार हावी हो चुके थे कि धार्मिक प्रेरणा की रही सही चिनगारी को भी बुझा देना चाहते थे। इस स्थिति ने बुद्ध के मन पर भारी चोट पहुंचाई।

इस कल्पना के आधार पर सशयवादियों के लिए सदाचारी होना आवश्यक नहीं। जब सदाचार या नैतिकता का आधार दैवीय आज्ञा को माना जाएगा, जिसकी प्रेरणा भी एक अद्भुत रूप से दी गई हो, तो प्रत्येक वैज्ञानिक खोज एवं विचार का विकास नीति के ऐसे आधार को विनष्ट कर देगा। दुर्बल विश्वास वाला व्यक्ति सदाचारनीति की आज्ञाओं की अवहेलना कर दे तो कोई आश्चर्य नहीं।

ल्यूक्रेशियस के समान बुद्ध ने भी अनुभव किया कि यदि प्राकृतिक नियम दैवीय शक्ति में विश्वास के ऊपर विजय प्राप्त कर सकें तो संसार अधिक सुखी रहेगा। एक ऐसे धर्म के प्रचार द्वारा जो यह घोषणा कर सके कि प्रत्येक मनुष्य पुरोहितों की मध्यस्थता के बिना अथवा देवी देवताओं में विश्वास किए बिना भी अपने लिए मोक्ष प्राप्त कर सकता है, तो वह मानवीय स्वभाव के प्रति प्रतिष्ठा को बढ़ाकर नैतिकता की भावना को भी उन्नत करेगा। "इस प्रकार की कल्पना करना कि कोई दूसरा हमारे सुख एवं दुःख का कारण हो सकता है, एक मूर्खतापूर्ण विचार है।"[1] बुद्ध के प्रचार के उपरान्त प्राकृतिक नियम की स्थिरता एवं व्यापकता के अन्दर विश्वास ने एक प्रकार से भारतीय आत्मा की स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा का रूप ले लिया।

हम आगे चलकर देखेंगे कि बुद्ध के अनुसार, इस दृश्यमान जगत को अपनी व्याख्या के लिए किसी परमेश्वर की आवश्यकता नहीं है। कर्म का सिद्धान्त उसकी व्याख्या करने के लिए पर्याप्त है। एक उच्चसत्ता की स्थिति के संकेत तो हैं किन्तु यह तर्क द्वारा सिद्ध करने का विषय नहीं है। बुद्ध उपनिषद् की कल्पना का समर्थन करते हुए सेंट पाल के निर्णय की पूर्व कल्पना करते हैं, जब वे कहते हैं : "आश्चर्य है कि ईश्वर के विवेक एवं ज्ञान की विपुल राशि कितनी अगाध है, एवं उसके निर्णयों की भी खोज नहीं की जा सकती, उसकी कार्य करने की पद्धति का भी पता नहीं मिल सकता।"[2]

जन साधारण को तो उपनिषदों के ज्ञान का कुछ भी पता न था। इसीलिए उनकी शिक्षाएं तुच्छ मिथ्या विश्वासों की अस्त व्यस्त अवस्था में मिलकर खो गई।[3] ऐसे भी

[1] बोधिचर्यावतार। [2] रोमन्स ११ : ३३।

[3] ललितविस्तर नामक ग्रंथ में उस समय के भारत की अवस्था का जबकि बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया, इस प्रकार वर्णन है : "... [illegible] उत्कर्षावस्था में था तो उसने तपस्वियों का उन सब विविध विधियों पर विचार किया जिनका सामान्य लोग उस समय अभ्यास करते थे और जो तपस्याएं उनकी सम्मति में सब प्रकार की विषयासक्तियों से मन को ऊपर उठाती थीं। उसके मन में विचार आया कि मैं यहां इस जम्बूद्वीप में उत्पन्न हुआ हूं, इन लोगों के बीच जिनकी आगे तार्किकों अथवा संशय के प्रभावों से गिरे रहने के कारण बौद्धिक मुक्ति की कोई आशा नहीं रह गई है, और यह ऐसा समय है ... कि उनकी

लोग थे जिनका कहना था कि तपस्या के द्वारा देवताओ को अपनी इच्छा के अनुकूल झुकाया जा सकता है। एक तपस्वी के साथ बुद्ध के सवाद मे भोजन-सम्बन्धी बाईस प्रकार के आत्मनियन्त्रणो और वस्त्र-सम्बन्धी तेरह प्रकार के आत्मनियन्त्रणो का विवरण मिलता है। मिथ्या विश्वास की बर्बरता ने त्याग के सौन्दर्य को मलिन कर दिया, अथवा यो कहना चाहिए कि ग्रस लिया। वस्तुत: वे लोग जिन्होने आत्मा को ऊचा उठाने का प्रयत्न किया, अपने को पशुओ की कोटि मे नीचे गिराने लगे। साधारण जन ऐसे क्रियाकलापो मे एव अनुष्ठानो मे फसे हुए थे जिनका विधान ऐसे व्यक्तियो ने बनाया जो अपने अन्धभक्तो द्वारा दिए गए भोजन पर पलते थे और जिन्हे बुद्ध "प्रवचक एवं नाममात्र के पवित्र शब्द उच्चारण करके वृत्ति कमानेवाले निकम्मे, आलसी, शकुन-अपशकुन बतानेवाले, भूत-प्रेत झाडनेवाले ओझा, हमेशा अधिकाधिक ठगनेवाले आदि के नाम से पुकारते है।"[1] देश-भर मे सर्वत्र ऐसे पुरोहित-समाज का धर्म के क्षेत्र मे आधिपत्य था, जो दैवीय शक्ति का प्रतिनिधि होने का झूठा दावा भरता था। बुद्ध के मन मे ऐसे सच्चे ब्राह्मण के लिए जो ब्रह्म के सन्देशहर के रूप मे यह कह सकता कि "मुझे सोना या चादी कुछ नही चाहिए, न मैं इनसे किसी प्रकार का सम्पर्क रखता हू," हार्दिक प्रशसा का भाव था। किन्तु जब वही सन्देशहर पुरोहित बन गया और सोना-चांदी इकट्ठा करने लगा तब वह आध्यात्मिक उपहार के रूप मे मिली हुई अपनी शक्ति एव प्रतिष्ठा को खो बैठा और एक लगडे मनुष्य को यह कहकर सहारा देने मे अक्षम हो गया कि "उठो और चलो!" उसने आत्मिक रोग के रोगियो को आध्यात्मिक जीवन मे दीक्षा देकर उनकी चिकित्सा करना तो छोड दिया और अभिमानपूर्वक यह घोषणा करने लगा कि वह देवताओं का विश्वासपात्र है, और निर्धन अभावग्रस्तो को सम्बोधन करके यो कहने लगा कि "हे पुत्र, परमेश्वर के लिए यज्ञ करो और मुझे दक्षिणा दो, और तुम्हारे सब पाप उसके वहा क्षमा हो जाएगे।" धन-दौलत के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की पद्धति मानवीय हृदय के अन्तस्तल की आवश्यकताओ का समाधान नही कर सकती। जनसाधारण की दृष्टि मे नियमित कर्मकाण्ड के पालन, भजन-कीर्तन, तपश्चर्या एव प्रायश्चित्त, नाना प्रकार की शुद्धियो एव जीवन के सब क्षेत्रो मे लागू होनेवाली निषेधाज्ञाओ मे ही धर्म रह गया था।

अन्तर्निहित शक्तिया विषयासक्ति रूपी मगर की पकड में पड जाने के कारण वक्र गति में आ गई हैं। वे व्यक्ति मूर्ख हैं जो अपने-आपको भिन्न-भिन्न प्रकार की तपस्याओं एवं प्रायश्चित्तों से पवित्र करने और उन्हें बार-बार अपने मस्तिष्क में जमाने का प्रयत्न करते हैं। उनमें से कितने ही ऐसे हैं जो अपने मंत्रों का अर्थ भी नहीं समझ सकते, कुछेक अपने हाथों को चाटते हैं, कुछेक अत्यन्त मलिन हैं, कुछेक तो एकदम मन्त्रों का भी ज्ञान नहीं रखते कुछ अन्य धर्मस्रोतों की खोज में इधर-उधर भटकते हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो गाय, हरिण, घोडे, सुअर, बन्दर अथवा हाथी आदि की पूजा करते हैं। एक जगह भूमि पर पालथी मारे बैठकर महानता के लिए प्रयत्न करनेवाले लोग भी हैं। कई अपनी तपश्चर्या की साधना के लिए धुए एव अग्नि को भी निगलने का प्रयत्न करते हैं तथा सूर्य की ओर ताकते रहकर, पञ्चाग्निपूजा करके, एक पाव के सहारे खडे होकर अथवा एक भुजा बराबर ऊपर करके, एव घुटनों को हिलाते रहकर कष्ट सहन करते हैं। कुछ लोग ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, विष्णु, देवी एवं कुमार को नमस्कार करने में ही अपना गौरव समझते हैं।' "

1. रीज डेविड्स—'बुद्धिस्ट इण्डिया', पृष्ठ २१५, और भी देखिए 'डायलॉग्स आफ द बुद्ध'।

बुद्ध ने इन सब मिथ्या विश्वासों को जिन्हें साधारण जन धार्मिक नियमों का अंग मानने में अभ्यस्त से हो गए थे बिलकुल खोखला पाया। यह देखकर कि मनुष्यों का निरर्थक विषयों के लिए मूर्ख बनाया जा रहा है उन्होंने मिथ्या विश्वासों एवं तर्कहीनता के विरुद्ध अपनी वाणी को प्रखर किया और अपने शिष्यों को आदेश दिया कि वे तुच्छ बातों के शिकार बनने से परे रहकर सदाचार के धार्मिक नियमों का अध्ययन करें। उन्होंने देवताओं की दिव्यता का खण्डन किया और वेदों की प्रामाणिकता पर भी कुठाराघात किया।

बुद्ध के युग-जैसे विवेचन एवं प्रकाश के युग में—जबकि पुरातन विश्वासों का तो मूलोच्छेदन हो गया हो और परमार्थविद्या सम्बन्धी कल्पनाएं भी स्वप्न में देखी गई आकृतियों की भांति तिरोधान को प्राप्त हो रही हों। अनिवार्यरूप से धुन जानकार लोगों का भी गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया। मनुष्यों की आत्मा में बेचैनी थी और वे विध्वंसकारी मतभेदों से परेशान होकर पुराने विश्वास उखड़ जाने से किसी उत्तम सिद्धान्त की खोज में लगे थे। उस युग की इसी खोज का प्रतिबिम्ब हम प्राचीन बौद्धधर्म में देखने को मिलता है। बुद्ध ने सत्य के प्रति हृदय में उठनेवाली स्वाभाविक अभिलाषा की ओर संकेत किया और कहा कि वही शिव और सुन्दर है।

नाना सम्प्रदायों के एकाएक गिर जाने और विविध पद्धतियों के भी खण्डित हो जाने पर बुद्ध का यह कर्तव्य था कि वे नये सिरे से नीतिशास्त्र का निर्माण एक सुदृढ़ भित्ति के ऊपर करते। जैसे यूनान देश में प्लेटो एवं अरस्तू की सुन्दर एवं अधिक पूर्ण अध्यात्मविद्या सम्बन्धी दर्शन पद्धतियों के पश्चात् स्टोइक एवं एपिक्यूरियन लोगों की नैतिक कल्पनाएं आ गईं ठीक वैसे ही प्राचीन भारत में भी हुआ। जब दर्शनशास्त्र की नींवें हिल गईं तो विचारकों का ध्यान आचरण सम्बन्धी सिद्धान्तों की ओर गया। यदि नीतिशास्त्र का निर्माण अध्यात्मशास्त्र अथवा परमार्थविद्या जैसी बालू की अस्थिर भीत के आधार पर किया जाएगा तो उसका ठहरना अनिश्चित है। बुद्ध उसका निर्माण तथ्यों की सुदृढ़ चट्टान के आधार पर करना चाहते थे। प्राचीन बौद्धधर्म परमेश्वर की पूजा से मनुष्यों का ध्यान हटाकर मनुष्य-समाज की सेवा की ओर करने के अपने प्रयत्न में प्रत्यक्षवाद के साथ सादृश्य रखता है। बुद्ध की विशेष इच्छा विश्व की नये ढंग पर कोई व्याख्या करने की ओर इतनी नहीं थी जितनी कि कर्तव्य कर्म की भावना के प्रति जन साधारण की प्रवृत्ति उत्पन्न करने की थी। एक ऐसे धर्मप्रवर्तन का श्रेय उन्हींको है जो रूढ़ियों, पुरोहितवर्ग के आधिपत्य एवं यज्ञ याग-सम्बन्धी निरर्थक क्रिया-कलाप से सर्वथा मुक्त था और जो हृदय के आन्तरिक परिवर्तन और आत्मसंस्कृति पर अधिक बल देता था। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि संदिग्ध रूढ़ियों के स्वीकार करने एवं एक क्रुद्ध ईश्वर के क्रोध को शान्त करने के उद्देश्य से किए गए पापकर्मों से मोक्ष नहीं मिल सकता। अपितु चरित्र को निर्दोष करके पुण्यकर्मों में प्रवृत्त होने से ही मोक्षलाभ हो सकता है। उनके अनुसार नैतिक नियम किसी विशिष्ट मस्तिष्क का आकस्मिक आविष्कार नहीं है और न ही किसी सन्दिग्ध ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा प्राप्त रूढ़ि है अपितु वस्तुओं की यथार्थता की अभिव्यक्तिमात्र है। बुद्ध के अनुसार सत्य के अज्ञान के कारण ही संसार में सब प्रकार के दुःखों की सृष्टि हुई है। कठोर तपस्या के नैतिक महत्त्व का प्रतिवाद करना प्रचलित

धर्म का खण्डन करना, वैदिक प्रथावाद को घृणा की दृष्टि से देखना, सक्षेप मे दर्शनशास्त्र को धर्म का रूप देना यह एक महान कल्पनात्मक साहसिक कार्य है जिसके साहस का हम सही-सही मूल्याकन नही कर सकते। प्राचीन बौद्धमत की शिक्षाओ मे हमे तीन सुस्पष्ट विशेषताए मिलती हैं, अर्थात्—एक प्रकार की नैतिक तत्परता, परमार्थविद्या-सम्बन्धी प्रवृत्ति का अभाव एव अध्यात्मशास्त्र-सम्बन्धी कल्पना के प्रति अरुचि अथवा उससे विमुखता।

बुद्ध को अलौकिक सत्ता की भावना एव मिथ्या विश्वास के विचारो के ह्रास का भी ध्यान रखना पडा। ऐसे काल मे जबकि आत्मजिज्ञासा एव आत्मपरीक्षा के साथ-साथ मनुष्यो ने अधिक तीक्ष्ण दृष्टि के साथ उस सबको जिसे अभी तक बिना किसी विचार के स्वीकार कर लिया गया था, देखना प्रारम्भ कर दिया हो, यह असम्भव था कि विश्वास को बिना आलोचना के छोड दिया जाता। जब गम्भीर विचारको ने आत्मा की सत्ता को कल्पनामात्र बतलाकर एव अमरत्व को भ्रान्तिमात्र कहकर उनका निराकरण कर दिया हो, तब उनकी यथार्थता का प्रदर्शन करने से कोई लाभ न था। बुद्ध ने समीक्षक भावना को ग्रहण तो किया किन्तु उसकी मर्यादा भी बांध देना उचित समझा। उनकी विचार-पद्धति सशयवाद, उपेक्षावाद एव वाक्चापल्य की उग्र भावना के जो भौतिकवादियो की रही है, सर्वथा विपरीत थी, तो भी वे युग के प्रकाश को सग्रह करके उसपर ध्यान देते है और परम्परागत विश्वासो के अन्दर प्रविष्ट होकर उनकी सूक्ष्म आलोचना को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। अन्ततोगत्वा विचारपद्धतिया एव उनका क्रियात्मक प्रयोग एक प्रकार की व्यावहारिक कल्पनाए ही तो है, जिनके द्वारा परवर्ती काल के मनुष्य अपनी महत्त्वाकाक्षाओ को पूर्ण करने का प्रयत्न करते है और बढते हुए ज्ञान एव उन्नतिशील आन्तरिक प्रेरणा मे सामजस्य स्थापित करते है। वातावरण मे परिवर्तन हो गया, और ज्ञान मे भी वृद्धि हो गई। सशयवाद की भावना ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया। परम्परागत धर्म के ऊपर से आस्था उठ गई। विवेकी विद्वान अधिक विस्तृत कल्पनाओ के निर्माण मे निमग्न थे, जिनके आधार पर जीवनयापन सफल हो सके एवं जिनके द्वारा मनुष्य की स्वाभाविक महत्त्वाकाक्षाओ को, जिन्हे उच्छिन्न नही किया जा सकता, अनुभवो से प्राप्त सामग्री के साथ सामंजस्य मे लाया जा सके। बुद्ध ऐसे काल के प्रतिनिधि वक्ता बनकर आगे आए। प्रचलित मिथ्या विश्वासो के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया अपना स्थान जनता मे बना रही थी उसने बुद्ध के मन को बहुत प्रभावित किया। बुद्ध ने केवल घटनाओ के उस प्रवाह मे गति ला दी जो पहले ही से आगे बढता चला आ रहा था। उन्होने अपने युग की भावना को लक्ष्य किया और विवेकी पुरुषो की सन्दिग्ध एव क्रम-विहीन भावनाओ को वाणी प्रदान की, जिससे वे प्रकटरूप मे जनता के आगे आ सके। वे एकसाथ ही सन्देशहर भविष्यद्रष्टा एव समय की नैतिक प्रवृत्ति के व्याख्याकार थे। हेगल किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति का उसके युग के साथ क्या सम्बन्ध होता है इसकी तुलना ऐसे व्यक्ति के साथ करता है जो किसी महराबदार छत मे अन्तिम पत्थर उसमे दृढता लाने के लिए लगाता है। एक इमारत को बनाकर खडा करने मे अनेक हाथ मदद करते है किन्तु इसका श्रेय उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जो उसे पूर्णता तक पहुचाकर

निश्चिन्तता एवं सुरक्षा प्रदान करता है। बुद्ध का कार्य इसी प्रकार का एक महान क्रान्तिकारी का कार्य था जो अपने समय में भारत में महानतम विचारक था। बुद्ध का सम्बन्ध अपने पूर्ववर्ती विचारकों के साथ वैसा ही था जैसाकि सुकरात का अपने पूर्ववर्ती सोफिस्टों या प्राचीन यूनान के स्वच्छन्दता के पक्षपाती एवं विनाशवादी सम्प्रदायों के साथ था। जहां एक ओर उनकी विचारपद्धति प्रचलित समालोचना की लहर की अभिव्यक्तिमात्र थी, वहां दूसरी ओर उनका उद्देश्य उस लहर को प्रतिकूल दिशा में मोड़कर यथार्थसत्ता के आध्यात्मिक अर्थों में (धार्मिक अर्थों में नहीं) मनुष्य विचार को सुदृढ़ करना भी था। अमरत्व एवं ईश्वर के अस्तित्व पर भले ही विश्वास न किया जा सके, किन्तु तो भी कर्तव्य धर्म की मांग परम सत्य अवश्य है।

हम बुद्ध को हेतुवादी नहीं कह सकते क्योंकि हेतुवाद या युक्तिवाद की परिभाषा में धार्मिक विश्वासों को नष्ट करने के लिए तर्क के प्रयोग के प्रति जो मानसिक प्रवृत्ति है वही आती है।[1] बुद्ध ने अपने कार्य का प्रारम्भ केवल खण्डनात्मक इच्छा को लेकर नहीं प्रारम्भ किया न ही वे निषेधात्मक परिणामों पर पहुंचे। एक निरपेक्ष सत्य का जिज्ञासु होने के कारण उन्होंने अपने मन के अन्दर किसी प्रकार के पक्षपात को पहले से स्थान नहीं दिया। तो भी वे इन अर्थों में हेतुवादी थे कि वे यथार्थसत्ता का अध्ययन एवं अनुभव बिना किसी अलौकिक ईश्वरप्रेरणा को स्वीकार किए करना चाहते थे। इस विषय में बुद्ध आधुनिक वैज्ञानिकों के साथ एकमत हैं जिनकी सम्मति में प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या में किसी अलौकिक सत्ता के हस्तक्षेप का प्रवेश न होना चाहिए। बुद्ध की सम्मति में वस्तुएं एवं घटनाएं इस प्रकार दृढ़रूप में सम्बद्ध हैं कि वे विश्व की व्यवस्था में चमत्कारों के हस्तक्षेप को एवं मानसिक जीवन में किसी जादू के हस्तक्षेप को किसी प्रकार भी सहन नहीं कर सकते थे।

इस बात को अच्छी तरह से अनुभव करके कि ऐसे समय में जबकि सब प्रकार के विश्वासों के ऊपर से श्रद्धा उठ चुकी हो श्रद्धा के ऊपर बल देने से कोई लाभ नहीं हो सकता था उन्होंने तर्क और प्रत्यक्ष अनुभव पर अधिक भरोसा किया और अपने मत की ओर जनसाधारण को झुकाने के लिए केवल तर्कबल का ही प्रयोग किया। वे एक ऐसे धर्म की स्थापना करना चाहते थे जो विशुद्ध तर्क की मर्यादा के अन्दर आ सके और इस प्रकार से उन्होंने मिथ्या विश्वास एवं संशयवाद दोनों का ही मूलोच्छेदन कर दिया। उन्होंने कहीं भी अपने को पैगम्बर की श्रेणी में परिगणित कराना उचित नहीं समझा। वे एक नैयायिक हैं जो अपने प्रतिद्वंद्वियों को तर्क के द्वारा मुक्ति के मार्ग में ले जाना चाहते हैं। वे अपने अनुयायियों के सामने उस अनुभव को प्रस्तुत करते हैं जिसमें से वे स्वयं गुज़रकर आए हैं और उन्हें प्रेरणा देते हैं कि वे अपनी ओर से भी उनके विचारों एवं जिन परिणामों पर वे पहुंचे हैं उनकी यथार्थता की परीक्षा कर लें। उनके सिद्धान्त का आधार किंवदन्ती नहीं है अपितु इसका आशय है कि "आओ और देखो।"[2] बुद्ध मनुष्यों को मोक्ष दिलाने का कार्य नहीं करते वरन उस पद्धति का उपदेश देते हैं जिसपर

१. बेन : 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश रेशनलिज्म इन द नाइनटीन्थ सेंच्युअरी', खण्ड १, पृष्ठ ४।
२. संयुत्तनिकाय, ३।

चलकर वे अपने-आप मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, जिस प्रकार उन्होंने स्वय को मोक्ष प्राप्त कराया। मनुष्य उनके सत्य-प्रचार से आकृष्ट होते हैं, इसलिए नही कि बुद्ध ने ऐसा कहा है, किन्तु उनकी वाणी से जागृति प्राप्त करके उनके मतो के प्रकाश मे, जो कुछ वे उपदेश करते है उनका वैयक्तिक ज्ञान उदय होता है।"[1] उनकी पद्धति मनोवैज्ञानिक विश्लेपण की पद्धति है। उन्होंने अपने-आपको सब प्रकार की अनुचित कल्पनाओ से उन्मुक्त रखने एवं अनुभव की कच्ची सामग्री के द्वारा निर्माणकार्य करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार दु.ख से आतुर मनुष्य-जाति के अन्दर अपने विचारो के यथार्थ एव पक्षपातविहीन निष्कर्षों की अभिव्यक्ति द्वारा आध्यात्मिक उन्नति का मन्त्र फूका। "यदि मनुष्य वस्तुओ को उसी रूप में देखे जिस रूप मे वे हैं तो वह आभासो के पीछे दौडना स्वय बन्द कर देगा और जो महान श्रेयस्कर यथार्थसत्ता है उसीसे चिपट जाएगा।" इस प्रकार अध्यात्मशास्त्र-सम्बन्धी कल्पनाओ को एक ओर रखकर वे अनुभव मे आनेवाले इस जगत् मे कानून और व्यवस्था का शासन ढूढ लेते हैं। उनके मत मे बुद्धि की शक्ति अनुभव के क्षेत्र तक ही सीमित है और वह इसके लिए नियमों को स्वय खोज लेती है।

६

बुद्ध और उपनिषदें

आन्तरिक सघर्ष के रहस्योद्घाटन के लिए एव आत्मा के अनुभवो को जानने के लिए बुद्ध को भारतीय प्रकृष्ट प्रतिभा के ग्रन्थ उपनिषदें उपलब्ध थी। प्राचीन बौद्धमत अपने-आपमे नितान्त मौलिक सिद्धान्त नही है। भारतीय विचारधारा के विकास मे यह कोई अद्भुत लीला या असाधारण वस्तु नही है। बुद्ध ने अपने समय अथवा अपने देश के धार्मिक विचारो से पूर्णरूपेण सम्बन्ध-विच्छेद नही किया। अपने समय के परम्परागत एव विधिपरायण धर्म के प्रति प्रकट विद्रोह करना एक बात है एव उसकी पृष्ठभूमि मे वर्तमान जीवित प्रेरणा को सर्वथा त्याग देना दूसरी बात है। बुद्ध स्वय स्वीकार करते है कि आत्मसस्कृति के प्रयत्न द्वारा जिस धर्म की उन्होने खोज की है वह एक प्राचीन मार्ग है, वह आर्यमार्ग है और नित्य धर्म है। बुद्ध ने किसी नये धर्म की स्थापना नही की अपितु पुराने ही आदर्श की खोज की है। यह एक पुरानी मान्य परम्परा थी जिसे समय की माग के अनुकूल बनाया गया था। अपनी कल्पना के विकास के लिए बुद्ध को, केवल उपनिषदो से, वैदिक धर्म के बहुदेववाद एव धर्म के साथ जो असगत समझौते किए गए थे उन्हे निकाल देने की आवश्यकता थी, और ऐसे सर्वातिशयी परमतत्त्व को जिसकी अनुभूति विचार के द्वारा नही हो सकती और नीतिशास्त्र के लिए जो अनावश्यक था, दूर हटा देना था, किंवा उपनिषदो के नैतिक सार्वभौमवाद पर अधिक बल देना था। हम साहस के साथ कल्पना कर सकते है कि प्राचीन बौद्धमत उपनिषदो के विचार की नये दृष्टिकोण से पुनरावृत्तिमात्र है। रीज डेविड्स का कहना है : "गौतम का जन्म व पालन-पोषण, जीवन-

१ ओल्डनबर्ग 'बुद्ध'।

मापन एवं मृत्यु एक हिन्दू के रूप में हुई। गौतम के अध्यात्मशास्त्र एवं आचार सिद्धान्तों में ऐसा अधिक कुछ भी नहीं है जो किसी न किसी कट्टर सनातन धर्म के ग्रन्थों में न मिल सके और उसके अधिकांश नैतिक सिद्धान्त प्राचीन अथवा अर्वाचीन हिन्दू पुस्तकों से समानता रखते हैं। गौतम में जिस प्रकार की मौलिकता थी ठीक उसी प्रकार की पहले से विद्यमान थी उसे उसने उसी प्रकार से स्वीकार किया उसे बढ़ाया, अधिक श्रेष्ठ बनाया एवं उसे क्रमबद्ध किया जिसके विषय में पहले भी अन्य विचारकों के द्वारा अच्छी प्रकार कहा गया था और ठीक वैसे ही जैसे कि उसने औचित्य एवं न्याय के सिद्धान्तों को तार्किक परिणामों तक पहुंचाने के लिए प्रयत्न किया। पहले भी कतिपय प्रमुख हिन्दू विचारकों ने उन्हें स्वीकार किया था। उसके एवं अन्य शिक्षकों के मध्य भेद मुख्यरूप से यह था कि बुद्ध में अगाध तत्परता एवं लोककल्याण का भाव सार्वजनिक सेवा के रूप में विद्यमान था।[1] यह निश्चित है कि बौद्धधर्म ने दायभाग के रूप में ब्राह्मणधर्म से न केवल अनेक महत्त्वपूर्ण रूढ़ियों को ही लिया, किन्तु जो एक इतिहासज्ञ के लिए कुछ कम महत्त्व की वस्तु नहीं अपनी धार्मिक विचार की स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं मनोभाव भी उक्त धर्म से ग्रहण किए जो कि वाणी द्वारा प्रकट करने की अपेक्षा चिन्तन द्वारा अधिक समझ में आ सकता है।[2] कर्मकाण्ड के प्रति घृणा उनमें और उपनिषदों में एक समान है। शेष आर्य भारत के साथ साथ बुद्ध भी कर्म के सिद्धान्त को और मोक्षप्राप्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। यह निःसन्देह भौतिक जीवन की एक अनिवार्य घटना है भारतीय विचारधारा के सभी सम्प्रदाय—जिनमें उपनिषदें भी सम्मिलित हैं—स्वीकार करते हैं। बुद्ध स्वयं भी इस बात से अनभिज्ञ थे कि उनके सिद्धान्त और उपनिषदों के सिद्धान्त में कोई असंगति है। वे अनुभव करते थे कि उन्हें उपनिषदों एवं उनके अनुयायियों की सहानुभूति एवं समर्थन प्राप्त है। वे ब्राह्मणों एवं बौद्ध भिक्षुओं को एक ही श्रेणी में रखते थे और बौद्ध अर्हतों एवं साधुओं के सम्बन्ध में भी 'ब्राह्मण' शब्द का व्यवहार बड़े सम्मान व प्रतिष्ठा के साथ करते थे। बौद्धधर्म कम से कम अपनी प्रारम्भिक दशा में तो अवश्य ही हिन्दूधर्म की एक शाखामात्र था। बौद्धधर्म प्राचीन सनातनधर्म के ही दायरे में बढ़ा और समृद्ध हुआ।[3] प्राचीन बौद्धधर्म की इस समीक्षा में हम यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार उपनिषदों की भावना ही बराबर बौद्धधर्म के जीवन-स्रोत के रूप में रही है।

७

दुःख

अपने धार्मिक जीवन के अनुभव से बुद्ध को चार आर्यसत्यों के विषय में निश्चय हो गया—अर्थात् यह कि दुःख विद्यमान है कि इसका कारण (समुदय) भी विद्यमान है कि इसे दूर किया जा सकता है (निरोध) और यह कि इसमें सफलता प्राप्त करने का

1 'बुद्धिज्म' पृष्ठ ८३-८४। 2 ओल्डनबर्ग : बुद्ध पृष्ठ ५३।
3 रीज डेविड्स : 'बुद्धिज्म' पृष्ठ ८५।

भी मार्ग है।

पहला आर्यसत्य है दुःख की निरंकुशता। जीवन दुःखमय है। "अथ दुःख के विषय में आर्यसत्य यह है। जीवन दुःखदायी है, क्षीणता दुःखदायी है, रोग दुःखदायी है, मृत्यु दुःखदायी है, अप्रिय के साथ संयोग दुःखदायी है, प्रिय का वियोग दुःखदायी है और कोई उत्कट आकांक्षा जिसकी पूर्ति न हो सके वह भी दुःखदायी है। संक्षेप में पांचों ही समष्टि[1]-रूप में, जो आसक्ति से उत्पन्न होते हैं, दुःखदायी हैं[2]।" बुद्ध के समय में तीव्र बुद्धि वाले एवं गम्भीर भावना वाले व्यक्ति पूछते थे कि इस उकता देनेवाले जीवनचक्र का आशय क्या है। और बुद्ध उन लोगों को सम्बोधन करते हुए जो छुटकारे के मार्ग की अभिलाषा रखते थे, कहते थे कि निर्वाण का आश्रय लेना, जहां दुष्ट लोग कष्ट देना छोड़ देते हैं और थकावट भी समाप्त हो जाती है। दुःख पर बार-बार बल देना केवल बौद्ध-धर्म में नहीं है यद्यपि बुद्ध ने इसके ऊपर आवश्यकता से अधिक बल दिया है। विचार-धारा के सम्पूर्ण इतिहास में दूसरे किसीने मनुष्य-जीवन के दुःख का इतने अधिक कृष्णरूप में, और न ही इतनी गहन भावना के साथ वर्णन किया जितना कि बुद्ध ने किया है। विषाद, जिसकी पूर्वछाया उपनिषदों में पाई जाती है, बौद्धधर्म में मुख्य स्थान ग्रहण कर लेता है। सम्भवतः तपस्वियों के आदर्शों ने अर्थात् बिना किसी तर्क के निर्धनता को ऊंचा स्थान देने, आत्मत्याग की श्रेष्ठता एवं त्याग के आवेश ने बुद्ध के मन पर एक प्रकार से जादू का सा असर किया। इस संसार से छुटकारा पाने के लिए जनसाधारण की इच्छा को जागरित करने के लिए उन्होंने संसार के कृष्णपक्ष को कुछ अधिक बढ़ाकर जनता के समक्ष रखा। भले ही हम आराम और सुख के विस्तार के लिए एवं सब प्रकार के सामाजिक अन्याय को दबा देने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार पूरा प्रयत्न क्यों न कर लें तो भी मनुष्य को सन्तोष नहीं होगा। बुद्ध अन्त में कहते हैं कि मनुष्यजन्म दुःख है, अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करना दुःखदायी है, एवं भाग्य के उतार-चढ़ाव भयावह है।[3] धम्मपद में ऐसा कहा गया है "न तो आकाश में, न समुद्र के अन्तस्तल में और न पर्वत की

१. शरीर, मनोवेग, प्रत्यक्ष ज्ञान, इच्छा और तर्क।

२. 'फाउण्डेशन आफ द किंगडम आफ राइटसनेस', पृष्ठ ५।

३. बुद्ध ने कहा है "प्राणियों की संसार रूपी महायात्रा अनादिकाल से चल रही है। ऐसे किसी उद्गमस्थल का पता नहीं है जहां से चलकर प्राणी अज्ञान की भूल-भुलैया में फंसकर और अपने अस्तित्व की तृष्णा के बन्धनों में बंधकर इधर-उधर भटकते फिरते हैं। हे भिक्षुओ, बताओ कि चार महा-सागरों में जो जल है वह अधिक है या तुम्हारे उन आंसुओं का जल अधिक है जिन्हें तुमने अपनी इस दीर्घ यात्रा में इधर-उधर भटकते हुए बहाया है, और इसलिए बहाया है कि जो तुम्हें हिस्से में मिला है उससे तुम्हें घृणा है और जो तुम्हें प्रिय है वह तुम्हारे हिस्से में नहीं आया? माता की मृत्यु, भाई की मृत्यु, सम्बन्धों की हानि, सम्पदा की हानि, इन सबका तुम युगों से अनुभव करते आ रहे हो, और जब युगों से तुमने इनका अनुभव किया है तो और भी आंसू तुमने बहाए हैं, इस महायात्रा में इधर-उधर भटकते हुए, कष्ट सहन करते हुए और रोते हुए तुमने जो आंसू बहाए हैं, और इसलिए बहाए हैं कि जो तुम्हें हिस्से में मिला है उससे तुम्हें घृणा है और जो तुम्हें प्रिय है वह तुम्हारे हिस्से में नहीं आया, तुम्हारे ये आंसू चारों महासागरों के जल से अधिक हैं।" संयुत्तनिकाय, ओल्डनबर्ग: 'बुद्ध' पृष्ठ २१६-२१७।

कन्दराओ में—संसार में कहीं भी ऐसा स्थान नहीं मिलेगा जहां मृत्यु के आक्रमण से बच-कर निवास किया जा सके।' बड़े से बड़ा आचरणशूर भी और कला की महानतम कृति भी एक न एक दिन अवश्य ही मृत्यु का ग्रास बनेगा। सब पदार्थ नष्ट होनेवाले हैं। हमारे स्वप्न हमारी आशाएं हमारे भय और हमारी इच्छाएं सब भुला दी जाएंगी जैसे कि कभी रही ही न हों। महान कल्प गुजरते जाएंगे, और कभी न समाप्त होनेवाली पीढ़ियां भी शीघ्रता के साथ गुजर जाएंगी। मृत्यु की सार्वभौमिक शक्ति का कोई सामना नहीं कर सकता। मृत्यु जीवन का नियम है। सब मानवीय वस्तुओं की क्षणभंगुरता ही विषाद का उद्गम है, जिसके अधीन अधिकांश व्यक्ति हैं। हमारा मन अपने लक्ष्य के सारतत्त्व को नहीं पकड़ सकता और न हमारे जीवनों में ऐसे पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है जिनका आभास मन को स्वप्न में होता है। समस्त इच्छापूर्ति के साथ दुःख लगा हुआ है। मनुष्य के स्वभाव में जो दुःख है और जिसके साथ अनादिकाल से कामना सम्बद्ध है और जो पहले ही से इतना अभाव उत्पन्न कर देता है कि इससे पूर्व कि मनुष्य उसकी पूर्ति के लिए शक्ति प्राप्त कर सके हमें अनिवार्य रूप से यह अनुभव कराता है कि जीवन एक अभि-शाप है। विचार की घोर यन्त्रणा से व्यथित होकर, आकस्मिक घटना से धोखा खाकर प्रकृति की शक्तियों से हारकर कर्तव्य के स्थूल बोझ से, मृत्यु के भय से और आनेवाले जीवनों की भयानक कल्पना से जहां फिर जन्म का दुःखान्त नाटक दोहराया जाएगा, मनुष्य बिना आक्रन्दन किए नहीं रह सकता कि "अच्छा हो, मैं छुटकारा पा जाऊं मुझे मरने दो।" इस संसार के सब दुःखों से छुटकारा पाने का इलाज इस संसार को छोड़ देना ही है।

विवेकी व्यक्ति के लिए क्षणभंगुरता का वर्णनातीत विषाद एवं धर्माचरण की दयनीय निष्फलता स्पष्ट लक्षित होनेवाले सत्य हैं। कांट अपने 'पापशयवाद या ईश्वर न्यायवाद' में सब दार्शनिक पद्धतियों की असफलता नामक एक लेख (१७६१) में लीब्नीज़ के आशावाद के खण्डन में प्रश्न पूछता है "क्या कोई विवेकी पुरुष जिसने बहुत दीर्घकाल तक जीवन व्यतीत किया हो एवं मानवीय जीवन के महत्त्व पर भी ध्यान दिया हो फिर से जीवन के नगण्य नाटक में प्रविष्ट होना पसन्द करेगा? मैं यह नहीं कहता कि उन्हीं अवस्थाओं में किन्तु किन्हीं भी अन्य अवस्थाओं में क्या वह जीवन में स्वेच्छापूर्वक प्रविष्ट होना पसन्द करेगा?" महान दार्शनिकों की उदासी एवं तीव्र सन्ताप उनके विचार के ही परिणाम हैं। जो अनुभव तो करते हैं किन्तु अधिक चिन्तन नहीं करते उनसे कहीं अच्छी स्थिति में हैं।

हमें बाध्य होकर कहना पड़ता है कि बुद्ध वस्तुओं के अन्धकारमय पक्ष के ऊपर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं। बौद्धधर्म के अनुसार जीवन में साहस एवं विश्वास का अभाव प्रतीत होता है। दुःख के ऊपर जो इस मत में इतना अधिक बल दिया गया है वह यदि मिथ्या नहीं तो सत्य भी नहीं है। सुख की अपेक्षा जीवन में दुःख अधिक है यह धारणा तो ठीक है। नीत्शे ने जब यह कहा था तब उसके मन में बुद्ध का ही जीवन सम्मुख था। "वे एक रोगी को देखते हैं अथवा एक जीर्ण वृद्ध पुरुष को देखते हैं अथवा एक मृतक के शव को देखते हैं और तुरन्त कह उठते हैं कि जीवन मिथ्या है।" यह न भूलना

चाहिए कि जीवन के महत्त्व का भाव भी क्षणभगुरता के ही कारण हमारे मन मे उठता है। यदि युवावस्था का सौन्दर्य, एव वृद्धावस्था की गरिमा क्षणभगुर है तो जन्म के समय प्रसव की पीडा और मृत्यु का परमदु ख भी तो क्षणभगुर है। बौद्धमत मे इस प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है कि जो अधियारा है उसे और काला कर दो और जो स्लेटी रग है उसे काला कर दो। बौद्धमतावलम्बियो की दृष्टि, सिद्धान्तरूप से, केवल जीवन के तीक्ष्ण, कटु एव दुःखमय अशो तक ही विशेपरूप से सीमित रहती है।

किन्तु इस आधार पर कि प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय जीवन के दुःख का अतिशयोक्ति के साथ वर्णन करता है, बौद्धधर्म बुद्ध के विचारक्रम को न्याय्य ठहरा सकता है, क्योकि धर्म का लक्ष्य पाप एव दु ख से छुटकारा दिलाना है। यदि ससार सुखमय हो जाए तो धर्म की कोई आवश्यकता ही न रह जाएगी। हम किस प्रकार इस ससार से बचकर निकल सकते हैं जिसमे मृत्यु अवश्यम्भावी है—यही प्रश्न है जो उपनिपदो ने किया था, और अब बुद्ध भी उसी प्रश्न को द्विगुणित बल के साथ पूछते है। कठ उपनिषद् मे (१ : १.२६) ब्राह्मण नचिकेता ने यम से प्रश्न किया : "तू अपने मकानो को अपने पास रख, और नाच और गाने को भी अपने लिए रख। जब हम तुझे सामने देखते है तो क्या हम इन पदार्थों को लेकर सुखी हो सकते हैं?" बौद्धधर्मावलम्बी प्रश्न करता है "चूकि ससार तो सदा ही जल रहा है इसलिए हसी-खुशी व सुख ससार मे कैसे रह सकते है? तू जो चारो ओर अन्धकार से घिरा हुआ है, क्यो नही प्रकाश की खोज करता? यह शरीर जो रोगो से भरा है एव नश्वर है, नष्ट हो जाता है, यह भ्रष्टाचार का पुज भी टुकडे-टुकडे होकर विनष्ट हो जाएगा। जीवन नि सन्देह अन्त मे मृत्यु को प्राप्त होता है।"[1]

निराशावाद का तात्पर्य यदि यह लिया जाए कि ससार मे ऐसा जीवन जीने के योग्य नही है जब तक कि वह पवित्र एव अनासक्त न हो, तब तो बौद्धधर्म अवश्य निराशावादी है। यदि निराशावाद से तात्पर्य यह हो कि इस सासारिक जीवन का नाश कर देना चाहिए क्योकि उसके परे आनन्द है तब भी बौद्धधर्म निराशावादी है। किन्तु यह यथार्थ मे वास्तविक निराशावाद नही है। उस पद्धति को हम निराशावाद कह सकते है यदि वह समस्त आशा को बुझाकर ठडा कर दे और फिर घोषणा करे कि यह सासारिक जीवन तो उकता देनेवाला है ही, इसके परे भी कोई आनन्द नही है। बौद्धधर्म के कुछ स्वरूप ऐसी घोषणा करते है और उन्हे निराशावादी कहना न्यायसगत होगा। किन्तु जहा तक बुद्ध की आरम्भिक शिक्षाओ का सम्बन्ध है, वे ऐसी नही हैं। यह सत्य है कि बौद्धधर्म जीवन को यन्त्रणाओ की अन्त न होनेवाली परम्परा के रूप मे जानता है किन्तु वह नैतिक अनुशासन की मोक्षदायिनी शक्ति मे भी विश्वास रखता है, और उसका विश्वास है कि मानवीय स्वरूप को पूर्णता तक भी पहुचाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि बुद्ध के मन को सृष्टि के अन्दर विद्यमान दु ख का बोझ असह्य है, फिर भी उसे यह निष्प्रयोजन नही प्रतीत होता। सब प्रकार की इच्छाओ का त्याग परम पुरुपार्थ के द्वारा करने की इच्छा भी साथ-साथ विद्यमान है। प्रत्येक मनुष्य को अपना बोझ अपने-आप सभालना

१. धम्मपद, ११ : १४६, १४८।

है और प्रत्येक द्रव्य अपनी कटुता को जानता है और तो भी इसके द्वारा समस्त अच्छाई बनती है और वहां प्रगति आगे चलकर पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। यह संसार सारे दुःख के रहते हुए भी सच्चरित्रता के विकास के अनुकूल प्रतीत होता है। बुद्ध जीवन की निरर्थकता का उपदेश नहीं देते और न ही उसके विनाश का उपदेश देते हैं केवल इस लिए कि मृत्यु अनिवार्य है। उनका सिद्धान्त निराशा का सिद्धान्त नहीं है। वे हमें बुराई के विरुद्ध विद्रोह करने का आदेश देते हैं और एक निर्मल जीवन प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं जो अमृत की अवस्था है।

८

दुःख के कारण

दुःख के कारण क्या हैं इस दूसरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए बौद्धमत को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं अध्यात्मविद्या विषयक कल्पनाओं का आश्रय लेना पड़ा। दुःख के आदि कारण के विषय में यह आर्यसत्य है यथार्थ में प्रबल तृष्णा ही है जिसके कारण बार बार जन्म होता है और उसीके साथ इन्द्रियसुख आते हैं जिनकी पूर्ति जहां तहां से की जाती है—अर्थात् इन्द्रियों की तृप्ति के लिए प्रबल लालसा अथवा सुखसमृद्धि की प्रबल लालसा ही दुःख का कारण है।[1]

उपनिषदों ने पहले ही दुःख के कारण की ओर निर्देश कर दिया है। उनके अनुसार जो स्थायी (नित्य) है वह आनन्दमय है और क्षणभंगुर (अनित्य एवं अस्थायी) दुःखदायी है यो वै भूमा तत्सुखम् अन्यदार्तम्। नित्य एवं अपरिवर्तनशील ही सत्य या यथार्थ स्वतन्त्र और सुखमय है किन्तु यह संसार जो जन्म जरा एवं मृत्यु से युक्त है दुःख के अधीन है। अनात्म में यथार्थ नहीं मिल सकता क्योंकि अनात्म उत्पत्ति और रोग के अधीन है। नित्य को उत्पत्ति एवं रोग नहीं व्याप सकते। चूंकि सब वस्तुएं अस्थायी हैं इसीलिए दुःख है। उत्पन्न होने के साथ ही सब वस्तुएं लुप्त हो जाती हैं। कारण कार्य भाव का नियम समस्त सत्ता का नियन्त्रित करता है जो निरन्तर प्रकट होने उत्पन्न होने और गुजर जाने की अवस्था में है। हे राजन! तीन वस्तुएं ऐसी हैं जो तुम्हें इस संसार में नहीं मिल सकतीं—अर्थात् वह वस्तु जो सचेतन अथवा अचेतन अवस्था में हो लेकिन जो क्षय एवं मृत्यु के अधीन न हो तुम्हें नहीं मिलेगी ऐसा गुण इन्द्रिय अथवा अतीन्द्रिय जो अस्थायी न हो तुम्हें नहीं मिलेगा और उच्चतम अर्थों में सत नाम की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे हम सत स्वरूप कह सकें।[2] और वह जो अस्थायी है हे भिक्षुओ वह दुःखदायी है अथवा सुखदायी? दुःखदायी है प्रभो।[3] दुःख ऐसी वस्तु है जो क्षण भंगुरता से युक्त है। इच्छाएं ही दुःख को जन्म देती हैं क्योंकि हम ऐसी वस्तु की इच्छा

१ 'फाउण्डेशन आफ द किंग्डम आफ राइटसनेस' पृष्ठ ६।

२ मिलिन्द ४ ७ १ और भी देखिए मिलिन्दपञ्हसुत्त धम्मपद ५ ४७-४८ और ओल्डनबर्ग 'बुद्ध' पृष्ठ २१८-२१९।

३ देखें मज्झिमनिकाय ३ १९ बुद्धघोष अत्थसालिनी, पृष्ठ ७४।

करते हैं जो अस्थायी है, परिवर्तनशील है एवं नाशवान है। इच्छित वस्तु की क्षणभंगुरता ही निराशा एव शोक-सन्ताप का कारण है। समस्त सुख भी क्षणभंगुर हैं। बौद्धमत की मूलभूत स्थापना अर्थात् जीवन दु.ख है, रूढ़ि-परम्परा के रूप मे उपनिषदो से ग्रहण की गई है।

बुद्ध की स्थापना है कि इस संसार मे कुछ भी नित्य या स्थायी नही है और यदि कोई वस्तु ऐसी है जिसे नित्य कहा जा सकता है तो वह आत्मा ही है, तब इस ससार में आत्मा की कोई सत्ता नहीं है। हरेक वस्तु अनात्म है। "सब कुछ अस्थायी है, शरीर, मनोवेग, प्रत्यक्ष ज्ञान, सस्कार एव चेतना, ये सभी दु.ख हैं। ये सब अनात्म हैं।" इनमे से एक भी सारमय नही है। ये सभी आभासमात्र हैं और सारतत्त्व अथवा यथार्थता से शून्य है। जिसे हम आत्मा समझे हुए है वह भी नि.सार आभासमात्र का एक अनुक्रम है और इतना तुच्छ है कि उसके लिए संघर्ष करना व्यर्थ है। यदि मनुष्य उनके लिए झगड़ते हैं तो यह अज्ञान के कारण है। "किसकी सत्ता के आधार पर जरा-जीर्णता एव मृत्यु आ उपस्थित होती है और किसके ऊपर ये निर्भर हैं? जन्म होने पर ही जरावस्था एव मृत्यु भी सम्भव हो सकती है और इसलिए जन्म के ऊपर ही ये निर्भर है।...अज्ञान के दूर हो जाने पर विचार भी शान्त हो जाते है और अज्ञान के विनाश हो जाने पर उनका भी विनाश हो जाता है, विचारो के नाश हो जाने पर बोध या ग्रहण का भी नाश हो जाता है।"[1] अज्ञान ही मुख्य कारण है जिससे मिथ्या इच्छा उत्पन्न होती है। ज्ञान की प्राप्ति पर दु ख का अन्त हो जाता है। अज्ञान एव मिथ्या इच्छा एक ही घटना के कल्पनात्मक एव क्रियात्मक दो पार्श्व है। मिथ्या इच्छा का सारहीन अमूर्तरूप ही अज्ञान है और अज्ञान को मूर्तरूप मे ग्रहण करने से ही मिथ्या इच्छा उत्पन्न होती है। वास्तविक जीवन मे दोनो एक ह। सामान्यत अन्य सब भारतीय विचारको के ही समान बौद्ध लोगो के मत मे भी ज्ञान और इच्छा परस्पर मे इस प्रकार निकटरूप से सम्बद्ध है कि दोनो मे कोई भेद नही किया जाता। एक ही शब्द 'चेतना' का उपयोग विचारने एव इच्छा करने के अर्थों मे किया जाता है। जैसाकि हम आगे चलकर देखेगे, विचार या तर्क के अभ्यास को हृदय एव इच्छा को पवित्र करने के प्राथमिक उपक्रम के रूप मे लिया जाता है। सत्य के प्रति अज्ञान समस्त जीवन की प्रारम्भूत अवस्था है। क्योकि एक स्पष्ट, तीक्ष्ण एव आलोचनात्मक दृष्टि हमे यह अनुभव कराने के लिए पर्याप्त है कि इस ससार मे पत्नी अथवा सन्तान, ख्याति अथवा प्रतिष्ठा, प्रेम अथवा लक्ष्मी कोई भी वस्तु ऐसी नही जो प्राप्त करने के योग्य हो। "क्योकि ये सब, यदि इनमे लिप्त हुआ जाए तो, उद्देश्य तक नही पहुचा सकते।"[2]

गतिवाद का प्रतिपादन करनेवाले एक अद्भुत दर्शन का आविर्भाव आज से २५०० वर्ष पहले बुद्ध के द्वारा हुआ। यह वह दर्शन है जिसकी हमारे सामने आधुनिक विज्ञान की खोजो एव आधुनिक साहसी विचारको के द्वारा फिर से पुनरावृत्ति हो रही है। प्रकृति के विषय मे विद्युच्चुम्बक-सम्बन्धी सिद्धान्त ने भौतिक सत्ता के स्वरूप-सम्बन्धी

१. ललितविस्तर।
२ मज्झिमनिकाय, ३२।

सामान्य भाव के अन्दर क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। प्रकृति अब स्थिर एवं गतिहीन पदार्थ न समझी जाकर एक ज्योतिर्मय शक्ति के रूप में स्वीकार की जाती है। इसीके सदृश मनोवैज्ञानिक जगत में भी परिवर्तन आ गया है और एम० बर्गसां द्वारा लिखित एक आधुनिक पुस्तक 'माइंड एनर्जी' (मनःशक्ति) का नाम मानसिक सत्ता के सिद्धान्त में परिवर्तन का निर्देश करता है। पदार्थों की क्षणिकता एवं निरन्तर विक्रिया और वस्तुओं में परिवर्तन से प्रभावित होकर बुद्ध ने परिवर्तन के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे पदार्थों को आत्माओं को स्वयंभू (मून) जीवों को तथा अन्यान्य सब पदार्थों को शक्तियों, गतियों, परिणामों एवं प्रक्रियाओं के रूप में परिणत करते हैं और इस प्रकार यथार्थसत्ता के गत्यात्मक विचार को स्वीकार करते हैं। जीवन परिणति की अभिव्यक्तियों एवं तिरोभावों की परम्परा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[1] यह परिणति का एक प्रकार का प्रवाह है।[2] इन्द्रियगम्य एवं विज्ञानगम्य जगत क्षण क्षण में बदल रहा है। यह एक प्रकार का जन्म व मृत्यु का एक निरन्तर चक्र है। सत की अवधि चाहे जो भी हो—अर्थात ऐसी क्षणिक जैसी कि बिजली की चमक होती है अथवा इतनी दीर्घ जितनी कि शताब्दियाँ होती हैं किन्तु है यह सब निर्माणक्रिया या परिणति ही। प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता है। बौद्धधर्म के सब सम्प्रदाय इस विषय में सहमत हैं कि क्या मानवीय और क्या दैवीय—ऐसी कोई वस्तु नहीं जो स्थायी हो। परिणति के निरन्तर प्रवाह को जिसे संसार कहते हैं दर्शाने के लिए बुद्ध हमारे सामने अग्नि[3] के सम्बन्ध में एक संवाद प्रस्तुत करते हैं।

> सत्य से संसार के बाद संसार तरंग के रूप में आगे बढ़ रहे हैं
> सृष्टि से लेकर प्रलयकाल तक
> जिस प्रकार एक नदी के ऊपर पानी के बुलबुले
> उठते, चमकते, फूटते और विलीन हो जाते हैं।[4]

यद्यपि अग्नि की ज्वाला प्रकट रूप में अपरिवर्तित अर्थात एक समान प्रतीत होती है लेकिन प्रत्येक क्षण में वह एक अन्य ज्वाला है, वही नहीं है। नदी की धारा अपने बहाव में एक समान प्रवाह को स्थिर रखती प्रतीत होती है यद्यपि प्रतिक्षण नया जल चला आ रहा होता है। जो कुछ दिखाई देता है वह निरन्तर परिणति अथवा निर्माण की क्रिया मात्र है—यही बौद्धधर्म का मुख्य तथ्य है। परमसत्ता इस जगत् में किसीकी भी सम्पत्ति नहीं है।[5] यह असम्भव है कि जो उत्पन्न हुआ है वह मृत्यु को प्राप्त न हो।[6] "जिसका

१ पतुमावो उप्पन्नो।

२ 'सब वस्तुएं एक प्रवाह की दशा में हैं।' "यथार्थसत्ता बेचैनी की एक अवस्था है।" हराक्लिटस—फ्रैगमेंट्स ४६ और ८४।

३ तुलना कीजिए हराक्लिटस: "यह संसार अनादिकाल से एक जीवित अग्नि रहा है और रहेगा।" बुद्ध एवं हराक्लिटस दोनों ही अपने निरन्तर परिणति के सिद्धान्त को दर्शाने के लिए अग्नि का उपयोग करते हैं जो तत्त्वों में सबसे अधिक परिणामशील एवं चंचलप्रकृति है।

४ महावग्ग १ : २२१। ५ ध्रुवं : देवत्वम्।

६ अभिधर्मकोशव्याख्या।

आरम्भ है उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है।"[1] जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु आवश्यक है और इसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता। इसमे भेद केवल अवधि की मात्रा में हो सकता है। कुछ ऐसे है जो बरसो तक चल सकते हैं और अन्य केवल थोड़े समय तक ही रह सकते है। परिवर्तन यथार्थसत्ता का मूल तत्त्व अथवा उपादान है। इस ससार मे न तो कुछ स्थायित्व ही है और न ही तादात्म्य है। यह केवल शक्ति का सक्रमणमात्र है। सम्भव है कि चेतना एव समस्त भौतिक पदार्थों की प्रतीयमान क्षणभगुरता पर चिन्तन करने से यह विचार उदय हुआ। अबाधित परिवर्तन हमारे चेतनामय जीवन का स्वरूप है। चेतन जगत् हमारे अपने मन का प्रतिबिम्बमात्र है। प्रत्येक एकाकी घटना शृखला मे एक कडी है और विकास का एक अस्थायी रूप है, और विविध शृखलाए मिलकर एक सम्पूर्ण का निर्माण करती है जिसे 'धर्मधातु' अथवा आत्मिक विश्व कहते है। बुद्ध यहा भी स्वर्णिम मध्यमार्ग का ही आश्रय लेते है। "हे कच्चान, यह ससार साधारणतया एक द्वैत या द्वय के ऊपर चलता है जिसका स्वरूप है 'यह है' एव 'यह नही है'। किन्तु हे कच्चान, जो कोई सत्य एव विवेक के द्वारा देखता है कि ससार मे पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न होते है उसकी दृष्टि मे 'यह नही' का भाव नही उपजता।...जो कोई, हे कच्चान, सत्य और विवेक के द्वारा देखता है कि इस ससार मे वस्तुए किस प्रकार से विलीन हो जाती है उसकी दृष्टि मे 'यह है' का भाव इस जगत् मे नही रहता।...'हर वस्तु विद्यमान है' यह एक सिरे की उक्ति है। हे कच्चान, और 'हरेक वस्तु नही है' यह उसके विपरीत दूसरे सिरे की उक्ति है। सत्य इन दोनो के मध्य का मार्ग है।"[2] यह एक निर्माण-क्रिया है जिसका न आदि है, न अन्त है। ऐसा कोई स्थायी क्षण नही है जबकि निर्माण-क्रिया सत् की अवस्था को प्राप्त करती है। जब हम इसका नाम और रूप के गुणो द्वारा ध्यान करेगे तब तक तो उतने समय मे यह बदलकर कुछ और हो जाती है।[3]

इस परमार्थ-प्रवाह के अन्दर हम वस्तुओ के विषय मे सिवा प्रक्रियाओ के किस प्रकार से विचारने का उपक्रम करते है? और कोई साधन नही है। और क्रमागत घटनाओ की ओर से हम आखे बन्द कर लेते है। यह एक अस्वाभाविक विचारपद्धति है जिससे कि परिवर्तन के प्रवाह मे विभाग बन जाते है और उन्हे ही हम वस्तु कहते है। पदार्थों का तादात्म्य (साम्य अथवा सामजस्य) का भाव असत् है। अवस्थाओ और सम्बन्धो द्वारा ही हम एक स्थिर प्रतीत होनेवाले विश्व का निर्माण करते है। ससार को समझने के लिए हमे नाना प्रकार के सम्बन्धो का प्रयोग करना पडता है, यथा, पदार्थ और उसका गुण, सम्पूर्ण एव उसका भाग, कारण और कार्य—यह सब परस्पर-सम्बद्ध है। सापेक्षता-सम्बन्धी आठ मुख्य विचार, जिन्हे हम अज्ञानवश निरपेक्ष अथवा विशुद्ध समझ लेते है, ये हैं—प्रारम्भ एव अन्त, स्थिति एव समाप्ति, एकत्व एव बाहुल्य, आना और जाना। यहा तक कि सत्ता एव अभाव भी परस्पर एक-दूसरे के आश्रित है क्योकि एक की सम्भावना दूसरे के बिना हो ही नही सकती। ये सब सम्बन्ध आनुषगिक या आकस्मिक है, किन्तु जरूरी

१. महावग्ग, १ : २३।
२. सयुत्तनिकाय। ओल्डनवर्ग : 'बुद्ध', पृष्ठ २४६।
३. देखिए, संयुत्तनिकाय, २२ · ६०, १६।

नहीं हैं। जैसाकि काट ने कहा वे अपने आपमें सत्य नहीं हैं।[1] वे केवल हमारे ही संसार में अपना कार्य करते हैं अर्थात इस संसार में जिसका अनुभव हम करते हैं। जब तक हम इन सीमित एवं सापेक्ष विचारों को निरपेक्षरूप से सत्य समझते रहेंगे हम अज्ञान के वश में रहेंगे और यह अज्ञान ही जीवन के दुःख का कारण है। वस्तुओं की यथार्थता का ज्ञान होने पर हमें यह प्रतीत होगा कि निरन्तर हो रहे परिवर्तनों से उत्पन्न पृथक्-पृथक् पदार्थों को नित्य एवं वास्तविक या यथार्थ मानना कितना असंगत एवं विवेकशून्य है। जीवन स्वयं कोई वस्तु नहीं और न ही किसी वस्तु की दशाविशेष का नाम है वरन एक निरन्तर गति अथवा परिवर्तन का नाम है। यही बीजरूप में फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसा का विचार है।

पदार्थों का सादृश्य केवल निर्माणकार्य के सातत्य का ही दूसरा नाम है। बच्चा, लड़का, युवक, अधेड़ एवं वृद्ध—सब एक ही हैं। बीज और वृक्ष भी एक हैं। हजार वर्ष पुराना वटवृक्ष अपने बीजसमेत वही एक पौधा है जिसका उसी बीज में से विकास हुआ है। यह निरन्तरता या क्रमिकता ही है जिसके कारण एक अबाधित सादृश्य प्रतीत होता है। यद्यपि हमारे शरीरों के तत्त्व एवं हमारी आत्माओं की रचनाओं में निरन्तर क्षण क्षण में परिवर्तन होता रहता है तो भी हम कहते हैं कि यह वही पुरानी वस्तु है या वही पहले वाला मनुष्य है। एक वस्तु केवल अवस्थाओं की एक शृंखला है जिसमें पहली कड़ी दूसरी का कारण होती है क्योंकि वे सब कड़ियां एक ही रूप की प्रतीत होती हैं। प्रतीत होनेवाली वस्तुओं का प्रत्येक क्षण का सादृश्य क्षणों का सातत्य ही है जिसे हम सदा परिवर्तित होते हुए सादृश्य की निरन्तरता के नाम से कह सकते हैं। यह संसार अनेक घटनाओं से मिलकर बना है जो सदा ही परिवर्तित होती रहती हैं। हरएक घटना श्वास के साथ नये सिरे से जन्मती है और दूसरे ही क्षण में विनष्ट होती है और तुरन्त ही दूसरा घटनासमूह उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। इस द्रुतगामी पूर्वानुपरक्रम के परिणामस्वरूप द्रष्टा धोखे में आकर विश्वास करने लगता है कि विश्व की सत्ता स्थिर है—जिस प्रकार एक उज्ज्वल छड़ी को चारों तरफ घुमाई जाती है तो एक पूरा चक्कर सा बना हुआ प्रतीत होता है। एक उपयोगी परम्परा के कारण हम व्यक्ति को नाम व रूप प्रदान करना होता है। नाम व रूप का सादृश्य इस बात का प्रमाण नहीं है कि उनकी आन्तरिक वास्तविकता में भी सादृश्य है। इसके अतिरिक्त हम स्वभावतः एक प्रकार के स्थिर दृष्टिकोण की कल्पना करने के लिए भी बाध्य होना पड़ता है किन्तु यह पृथक्करण केवल विचारगत ही है। हम कहते हैं यह वर्षा हो रही है जबकि यह नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। गति के अतिरिक्त और किसी पृथक् वस्तु की सत्ता नहीं है कोई कर्ता नहीं है केवल कर्म ही है—परिणति के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

किसी स्थिर आधार के बिना भी संसार की अविच्छिन्नता की व्याख्या के लिए बुद्ध कारणकार्यभाव के नियम की घोषणा करते हुए इसे ही उक्त अविच्छिन्नता का आधार बनाते हैं। कारणकार्यभाव का व्यापक नियम एवं इसका स्वाभाविक परिणाम

१ बुद्धघोष के अनुसार काल का अर्थ 'किसी न किसी घटना के द्वारा उत्पन्न हुआ है और प्रयोगात्मक रूप से माना है।'' अत्थसालिनी, अंग्रेज़ी अनुवाद, पृष्ठ ७८।

अर्थात् अनादिकाल से निर्माणकार्य की अविच्छिन्नता, भारतीय विचारधारा को बौद्धमत की मुख्य देन है। परिवर्तन ही अस्तित्व है। यह एक-दूसरे के पीछे क्रम से आनेवाली दशाओ की श्रृंखला है। उत्पाद (उत्पत्ति), स्थिति, जरा (विकास) एव निरोध (नाश) —सब परिवर्तनो की ओर ही सकेत करते है। "यह सत्य जानो कि जो कुछ विद्यमान है सब कारणो एव अवस्थाओ से ही प्रादुर्भूत हुआ है और हर हालत मे अस्थिर है।" जिस किसीका भी कारण वर्तमान है वह अवश्य नष्ट होगा। "चाहे कोई भी क्यो न हो, जो उत्पन्न हुआ है, इस सासारिक रूप मे आया है एव सगठित है, वह अपने अन्दर आवश्यक विलयन का भाव रखे हुए है।" "सब सयुक्त पदार्थों को अवश्य ही पुराना होना होगा।" हरेक पदार्थ अवयवी या अगयुक्त है और इसकी सत्ता मात्र परिवर्तनो की निरन्तरता है, जिनमे से प्रत्येक का निर्णय अपनी पूर्व से स्थित अवस्थाओ के कारण होता है। वस्तु केवल एक शक्ति, एक कारण एव एक अवस्था का ही नाम है। इसीको धर्म कहते है। "मै तुम्हे धर्म का उपदेश दूगा," बुद्ध कहते है, "वह यदि उपस्थित है तो इसका निर्माण होता है। उसीके उदय होने से इसका भी प्रादुर्भाव होता है। किन्तु यदि धर्म अनुपस्थित है तो इसका निर्माणकार्य भी न होगा, उसके अन्त हो जाने से इसका भी अन्त हो जाता है।"[1] बुद्ध की दृष्टि मे भी उपनिषदो के ही समान समस्त ससार कारणो द्वारा नियन्त्रित है। जैसे उपनिषदो का कहना है कि वस्तुओ की अपनी स्थिति, जिस रूप मे वे दिखाई देती है, कुछ नही है, वरन् वे कारणो की श्रृखला की उपज है जिनका न आदि है और न अन्त है, वैसे ही बुद्ध का कहना है कि वस्तुए अवस्थाओ की उपज है। उपनिषदो का भी प्राचीन बौद्धमत के समान इस विषय मे मत स्पष्ट है कि इस सदागति परिवर्तन एव अनादि निर्माणकार्य मे मनुष्य के लिए स्थिर विश्राम का कोई स्थान नही है।

वस्तुओ के भौतिक साम्राज्य मे जिसे सत् समझ सकते है वह केवल 'पटिच्च-समुप्पाद' (प्रतीत्यसमुत्पाद) है, जिसका अर्थ है कि एक वस्तु की उत्पत्ति दूसरी के ऊपर निर्भर करती है। कार्यकारण-सम्बन्ध सदा ही स्वत परिवर्तनशील अथवा परिणतिशील है। किसी वस्तु का तत्त्व अर्थात् धर्म उसके अन्तर्निहित सम्बन्ध का नियम है। सत् नामक ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो परिवर्तित होता हो। परिवर्तन ही स्वय मे एक व्यवस्था का नाम है। जैसे न्यायदर्शन मे कहा गया है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु का कारण होती है, हम ऐसा नही कह सकते। क्योकि एक वस्तु जैसी है वैसी है, और वह अन्य वस्तु नही हो सकती। जिस प्रकार ससार की प्रक्रिया चेतनारूप उत्पत्ति से सम्बद्ध है, इसी प्रकार कार्यकारण-सम्बन्ध की शक्ति का भी सम्बन्ध आन्तरिक प्रेरणा के साथ है। ऐन्द्रिय विकास सब प्रकार के निर्माणकार्य का नमूना है। भूतकाल गतिमान प्रवाह मे ही खिचकर आता है। बाह्य कारण मानने के मार्ग मे सबसे बडी कठिनाई इस कारण से आती है कि बाह्य जगत् मे हमारा ज्ञान घटनाओ के सम्बन्धो तक ही सीमित रहता है। किन्तु हम अपनी आन्तरिक चेतना मे जानते है कि हमारी इच्छा ही कर्मों की निर्णायक है। वही शक्ति

१. मज्झिमनिकाय, २ ३२।

बराबर कार्य करती है। जर्मन दार्शनिक शोपनहावर इसे इच्छा के नाम से पुकारता है एवं बुद्ध इसे ही कर्म कहता है। यही एक वास्तविक सत्ता है स्वयं में एक वस्तु है जिसका परिणाम समस्त जगत है। बाह्य संसार में कार्यकारण सम्बन्ध एक समान पूर्ववर्ती बताता है। यदि एक कारण विद्यमान है तो दूसरा उत्पन्न हो जाएगा। आधुनिक दर्शनशास्त्र के सब प्रयत्नों के रहते भी कार्यकारण के नियम की परिभाषा इससे अधिक उपयुक्त शब्दों में नहीं की जा सकी। भौतिकविज्ञान के काल पियर्सन जैसे विद्वान कहते हैं कि कार्य कारण-सम्बन्ध के स्थान में परस्पर सम्बन्ध के प्रत्यय को रखना ठीक होगा। कारण एवं कार्य निरन्तर हो रही प्रक्रिया की पूर्ववर्ती एवं पश्चाद्वर्ती स्थितियों का ही दर्शाते हैं। हम घटनाओं के क्रम की व्याख्या कारणकार्य-सम्बन्ध के नियम के द्वारा ही करते हैं किन्तु यह नहीं बतलाते कि वे घटनाएं होती क्या हैं। अन्तिम कारण भले ही अध्यात्म शास्त्र के क्षेत्र का विषय हो किन्तु गौण अथवा आनुषंगिक कारणों तक तो हमारे अपने सही निरीक्षण की सीमा है ही। बौद्धधर्म का उद्देश्य दार्शनिक व्याख्या न होकर वैज्ञानिक निरूपण है। इस प्रकार बुद्ध किसी भी पदार्थ की प्रस्तुत अवस्था को लेकर उसके कारण का उत्तर उसकी उत्पत्ति की अवस्थाओं का वर्णन करके आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी देता है।

कार्यकारण सम्बन्धी विकास को गतियों की यान्त्रिक परम्परा के रूप में ही न समझा जाना चाहिए क्योंकि उस अवस्था में संसार की प्रक्रिया विलोप एवं नवीन सर्जन की शृंखला बन जाएगी किन्तु यह एक अवस्था के द्वारा दूसरी अवस्था का निर्माण है अथवा यों कहें कि अविरत रूप से हो रहे स्पन्दन की सूचना है। यह भूतकाल से वर्तमान का निर्णय करना है। बौद्धधर्म अनित्य कारणकार्यभाव में विश्वास करता है जिसमें कि एक अवस्था अपनी कारणशक्ति को किसी नये क्षण से सङ्क्रान्त करती है। कारणकार्य-सम्बन्ध का उदाहरण है जैसे बीज बढ़कर वृक्ष बन जाता है जहां कि एक पदार्थ अर्थात बीज का होना दूसरे पदार्थ अर्थात वृक्ष के लिए आवश्यक है। समस्त जीवन शक्ति है। यद्यपि हम शक्ति की कार्यपद्धति को कभी नहीं देख सकते लेकिन यह विद्यमान है और अपनी चेतना में हम इसकी उपस्थिति का अनुभव करते हैं। संसार की प्रक्रिया का स्वरूप एक स्वयंभूत विकास का है। यह अनवरत रूप से एक दूसरे के पीछे आती हुई घटनाओं की माला सी प्रतीत होती है जबकि यह एक अविच्छिन्न विकास है जिसकी तुलना अविभाज्य मधुर संगीतलहरी से की जा सकती है। भूतकाल की वर्तमान के साथ संसक्त हो जाने की प्रवृत्ति रहती है जिसका विच्छेद पहले एवं पीछे के नैरन्तर्य में हमारे प्राकृतिक व्यवहार में होता है। तब जीवन केवल एक के बाद दूसरे के रूप में आ जाता है और जैसा नागसेन कहता है कारणकार्यभाव केवल तारतम्य का रूप ले लेता है।

अस्थिरता के सिद्धान्त को जिसे उपनिषदों एवं प्राचीन बौद्धमत दोनों ने समान रूप से स्वीकार किया था परवर्ती बौद्धमत ने विकसित करके क्षणिकवाद के रूप में ला दिया। किन्तु यह कहना कि वस्तुएं अनित्य अथवा अस्थिर हैं एवं बात है और उन्हें क्षणिक नाम देना दूसरी बात है। इन दोनों में भेद है। बुद्ध का मत है कि केवल चेतना क्षणिक है वस्तुएं क्षणिक नहीं हैं क्योंकि वे कहते हैं यह प्रत्यक्ष है कि शरीर एक वर्ष

तक अथवा सौ वर्षो तक एव उससे भी अधिक समय तक रहता है। किन्तु वह वस्तु जिसे मन, बुद्धि या प्रज्ञा एव चेतना कहा जाता है, दिन-रात एक प्रकार के चक्र के रूप में परिवर्तित होती रहती है।"[1] बुद्ध का आशय इससे यह दिखलाने का था कि शरीर, मन आदि यथार्थ आत्मा के रूप नही है। वे स्थायी भी नही हैं। वस्तुओ को साधारणतः जब अस्थायी कहा जाता है, तो उससे तात्पर्य क्षणिकता से नही होता। बुद्ध जब मन के विषय मे कहते है, केवल उसी समय वे एक ज्वाला के दृष्टान्त का प्रयोग करते हैं। जिस प्रकार एक दीपशिखा ज्वालाओ का ताता है जिसमे से प्रत्येक क्षणमात्र के लिए ही ठहरती है, चित्त की प्रक्रिया भी ठीक उसी प्रकार की है। वे मानसिक प्रक्रियाओ के क्षणिक स्वरूप मे एवं अमानसिक सत्ता के अस्थायी स्वरूप मे स्पष्ट भेद का वर्णन करते है। जब इस क्षणिक स्वरूप को अन्य समस्त अस्तित्वमात्र तक विस्तृत कर दिया जाता है तो यही क्षणिकवाद कहलाता है। अर्वाचीन बौद्धो के मत मे सभी कुछ क्षणिक है। उनका तर्क है कि स्थायी सत्ता स्वत. विरोधी है। अस्तित्व का अर्थ है कार्यक्षमता अथवा 'अर्थक्रिया-कारित्व'। अस्तित्व ससार के पदार्थो की व्यवस्था मे किसी प्रकार का परिवर्तन करने की क्षमता का नाम है। बीज मे अस्तित्व है, क्योकि इससे अकुर उत्पन्न होता है। लेकिन स्थायी पदार्थो मे परिवर्तन लाने की यह शक्ति नही हो सकती। यदि वस्तुओ मे भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल मे परिवर्तन न होता तो वे भिन्न-भिन्न समयो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य कैसे करती? यदि कहा जाए कि सभाव्य शक्ति तो स्थायी है और यह वास्तविक रूप मे आ जाती है जब अन्य कई शर्तें पूरी हो जाती है, तो उसका उत्तर यह है कि जिसके अन्दर किसी कार्य को करने की शक्ति होती है वह उसे कर देता है और यदि नही करता तो समझो कि उसमे शक्ति नही है। यदि अवस्थाओ के कारण परिवर्तन होता है तब उन अवस्थाओ का ही केवल अस्तित्व है और स्थायी वस्तुओ का अस्तित्व नही है। यदि अस्तित्व से तात्पर्य कार्यकारणभाव की कार्यक्षमता है तब जो सत् पदार्थ है वे क्षणिक हैं। "यथार्थ मे एक जीवित प्राणी के जीवन की अवधि बहुत ही सक्षिप्त है, अर्थात् जब तक विचार रहता है वह तभी तक रहती है। जैसेकि एक रथ का पहिया घूमने के समय हाल के एक बिन्दुविशेष पर ही घूमता है और ठहरने के समय भी एक ही विशेष बिन्दु पर ठहरता है, ठीक उसी प्रकार एक जीवित प्राणी का जीवन केवल विचार के रहने के समय तक ही रहता है। ज्योही वह विचार समाप्त हुआ, जीवित प्राणी भी समाप्त हुआ कहा जाता है।"[2] क्षणिकता के इस मत के अनुसार, जो बहुत प्रारम्भिक काल मे ही बौद्धधर्म मे समा गया, गति के स्वरूप को ग्रहण करना कठिन है। जब एक शरीर गति करता प्रतीत होता है तो होता यह है कि वह निरन्तर नये-नये रूप मे आता रहता है। प्रत्येक क्षण मे वह फिर से उत्पन्न होता है, जिस प्रकार कि अग्नि की ज्वाला जो सदा ही नई होती रहती है और कभी क्षणमात्र के लिए भी एकसमान नही रहती।

१. सयुत्त, २ : ९६। बुद्ध इतने निश्चितरूप में नहीं कहते जितना कि बर्गसा कहता है कि दोनों अर्थात् चेतना एव प्रकृति के मध्य भेद केवल उनकी प्रसरणशील या तनाव का शक्ति, प्रवाह और सुस्वरात्मक सामञ्जस्य और गति के प्रमाण का है।

प्रकृति एक अप्रतिहत स्पन्दन है एवं एक प्रकार का अनन्त विकास है जो केवल कार्यकारण के नियम की सुदृढ़ शृंखला में चारों ओर से जकड़ा हुआ है। यह निरन्तर एवं पूर्ण है एकाकी और अविभाज्य है। जो कोई घटना घटित होती है वह सत् मात्र के सम्पूर्ण चक्र में कम्पन पैदा कर देती है और इसीका नाम अविरल परिवर्तन है। आत्मा से शून्य इस विश्वरूपी यन्त्र में बौद्धधर्म एक अनादि विश्वव्यापी नियम अथवा सुव्यवस्थित पद्धति का अनुभव करता है। यह एक 'विभाग सर्वज्ञ का भी बनाया हुआ है किन्तु बिना योजना के नहीं है। 'विश्व-व्यवस्था का चक्र चलता रहता है बिना किसी कर्ता के और बिना एक प्रारम्भ के जिसका हम ज्ञान कर सकें और जो निरन्तर रूप में कारण एवं कार्य की शृंखला के स्वभाव के कारण विद्यमान रहता है।'[1]

पाली भाषा में विश्व की व्यवस्था को नियम का नाम दिया गया है अथवा इसे निरन्तर गति की पद्धति भी कह सकते हैं। बुद्धघोष के समय (पांचवीं शताब्दी ईसा के पश्चात) से बुद्ध पूर्व और पिटकों के संग्रह के पश्चात पांच प्रकार की विभिन्न व्यवस्थाएं बनाई गई जिनका नाम क्रमश इस प्रकार है—कम्मनियम अथवा कर्म एवं उसके परिणाम की व्यवस्था उतुनियम अर्थात् भौतिक एवं निर्जीव या जड की व्यवस्था बीज नियम अथवा वनस्पति की व्यवस्था ऐन्द्रिय व्यवस्था, चित्तनियम अथात चेतनामय जीवन की व्यवस्था धम्मनियम अथवा आदर्श की व्यवस्था अर्थात आदर्श नमूना उत्पन्न करने की व्यवस्था। यह कम्मनियम है जो यह घोषित करता है कि अच्छे एवं बुरे कर्मों का परिणाम क्रमश उचित एवं अनुचित होता है। यह इस सार्वभौम सत्य को प्रमाणित करता है कि विशेष विशेष कर्म चाहे शारीरिक हों चाहे मानसिक अन्त में करनेवाले एवं उसके साथियों को दुःख देते हैं जबकि अन्य प्रकार के कर्म दोनों को सुख पहुंचाते हैं। कम्मनियम कार्य के क्रम एवं परिणाम पर बल देता है।

जीवनमय एवं गतियुक्त यह महान विश्व जो सर्वदा क्रियमाण अवस्था में—परिवर्तनशील अवस्था में है बढ़ता है और प्रयत्नशील है फिर भी अपने केन्द्र में एक नियम को धारण करता है। प्राचीन बौद्धधर्म एवं बर्गसां के मत में यही मुख्य भेद है। बर्गसां के मत में जीवन का तात्पर्य है नियम का अभाव जबकि बुद्ध के मत में सम्पूर्ण जीवन सामान्य नियम का एक दृष्टान्त है। जीवन एवं नियम के सम्बन्ध में बौद्धधर्म का विचार भौतिक विज्ञान के आविष्कारों पर उज्ज्वल प्रकाश डालता है और मनुष्य को गम्भीरतम मनोभावनाओं का साधक बनाता है। एक व्यवस्था की निश्चितता उस भयावह दुःख के भार को जीवन में से उठा लेती है जो मानव आत्मा के ऊपर दुःख के कारण छाया हुआ है और भविष्य को इस प्रकार आशामय बनाती है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति यदि वह प्रयत्न करे तो संघर्ष एवं दुःख से जो जीवन के साथ-साथ हैं परे पहुंचने की सामर्थ्य रखता है।

बौद्धधर्म और उपनिषदों में जो मौलिक मतभेद प्रतीत होता है वह अध्यात्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित एक ऐसी निर्विकार और निर्विकल्प सत्ता के विषय में है जो मनुष्य की भी यथार्थ आत्मा है। यहां हम यह निर्णय करना है कि क्या इस विश्व की

१ पोप।
२ बुद्धघोष विसुद्धिमग्ग १७।

रचना शून्य या असत् से हुई है और यह कि क्या अन्त में यह शून्य में ही परिणत हो जाएगा। यह सत्य है कि बुद्ध को जीवन के प्रवाह में एवं इस संसार के चक्र में यथार्थसत्ता का कोई केन्द्र अथवा स्थायित्व का कोई सिद्धान्त दिखलाई नहीं दिया, किन्तु इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि संसार में शक्तियों की हलचल के अतिरिक्त और कुछ यथार्थ सत् है ही नहीं। महत्त्वपूर्ण प्रश्न उस एक आदिकारण के विषय में है जो प्रारम्भ में इस चक्र को गति में लाता है। किसने प्रेरणा दी ? यदि मन एक प्रवाह है और भौतिक संसार दूसरा प्रवाह है तो सम्पूर्णरूप कोई ऐसी सत्ता भी है या नहीं जिसमें ये दोनों ही समवेत हों ? यदि हमारा ध्यान इस अनुभवात्मक जगत् तक ही सीमित हो तो हम नहीं कह सकते कि संसार किसपर अवस्थित है—हाथी कछुए के ऊपर या कछुआ हाथी के ऊपर, एवं संसार का कारणकार्यसम्बन्ध ईश्वर की रचना है अथवा किसी सारतत्त्व का विकास, अथवा यह अपने ही अन्दर से प्राकृतिक रूप में हुई अभिव्यक्ति है ? बुद्ध केवल घटनाओं को ही स्वीकार करते हैं। वस्तुएं परिवर्तित होती हैं। संसार में सत् कुछ नहीं है किन्तु मात्र क्रियमाण ही है। इस स्थिति में सर्वोपरि यथार्थसत्ता परिवर्तन का नियम है, और वह कारणकार्य का नियम है। बुद्ध अन्तिम कारण एवं आकस्मिकता के विषय में मौन हैं। विश्व में आवश्यकता का शासन है। अव्यवस्था भी नहीं है एवं मनमौजीपन का हस्तक्षेप भी नहीं है। ओल्डनबर्ग ब्राह्मण एवं बौद्ध विचारों के परस्पर मतभेद की व्याख्या इन शब्दों में करता है : "ब्राह्मणों की कल्पना के अनुसार, समस्त निर्माणक्रिया में सत् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जबकि बौद्धों की कल्पना सब प्रतीयमान सत् में क्रियमाण का ही ज्ञान प्राप्त करती है। संक्षेप में जहां ब्राह्मणधर्म में कारणकार्य के नियम के बिना सत्त्व है वहां बौद्धधर्म में कारणकार्य-नियम है बिना सत्त्व के।"[1] यह व्याख्या उन दोनों ही पद्धतियों के प्रमुख स्वरूपों के विषय में अतिशयोक्तिपूर्ण है जो मौलिक सिद्धान्तों में परस्पर सहमत हैं, यद्यपि भेद भिन्न-भिन्न पार्श्वों पर बल देने के विषय में है। क्योंकि उपनिषदों में एवं बुद्ध के मत में भी, दोनों में एक समान, "यह विश्व एक जीवित इकाई (पूर्ण) है जो बल-प्रयोग एवं आंशिक मृत्यु को छोड़कर प्रकटस्वरूप पदार्थों एवं सुस्पष्ट भेदों के रूप में अपने को विभक्त होने देने से निषेध करता है।"[2] यह एक अविभक्त गति है। उपनिषदें केवल सत् को क्रियमाण के बिना यथार्थरूप में ग्रहण नहीं करतीं। उन्होंने क्रियमाण को भ्रान्तिरूप नहीं माना है। ओल्डनबर्ग भी स्वीकार करता है कि उपनिषदों के विचारकों ने सत् के एक पक्ष को समस्त क्रियमाण में देखा। क्रियमाण जगत् को वे अवस्थाओं की एक असम्बद्ध शृंखला नहीं मानते। हो सकता है, यह आभासमात्र हो परन्तु तो भी है यथार्थसत्ता का ही आभास। उपनिषदें हमारा ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट करती हुई कि प्रवाह के पीछे एक स्थिर तत्त्व है, एकमात्र परिवर्तन के, विचार को एक तरफ हटा देती हैं। परिवर्तन विशेष परिणामों में एक प्रकार का हेर-फेर व अदल-बदल है अथवा एक स्थिर तत्त्व के अन्दर आनुषंगिक घटना है। जबकि पूर्ण इकाई स्वयं अपरिवर्तनशील है, परिवर्तन उसी पूर्ण इकाई के विभिन्न पहलुओं के सापेक्ष परिणाम हैं। और ये

१. 'बुद्ध', पृष्ठ २५१।
२. ब्रैडले।

क्रमबद्ध विकास की अवस्थाए नियमो म आबद्ध हैं। बुद्ध यह नही कहते कि परिवर्तनमात्र मे एक कोई स्थिर सत्ता भी है जिसमे परिवतन होता है और न ही वे यह कहते हैं कि परिवर्तन ही नित्य स्थिर है जसेकि उनके कुछ अनुयायियो ने उनके कथन की व्याख्या की है। वस्तुओ के सत की ओर से वे उदासीन हैं और जो विकास मे हमारे क्रियात्मक प्रयोजनो स सम्बन्ध रखता है केवल उसीको यथार्थ मानते हैं। किन्तु यदि हम नागसेन के साथ सहमत होकर यह भी मान ल कि हमारे आगे तो केवल एक शृ खला व सिलसिला ही है तो हम बिना आगे यह प्रश्न किए नहीं रुक सकते कि यदि प्रत्येक वस्तु नियन्त्रित है तो क्या अनियन्त्रित भी कुछ है ? बिना इसके कारणकाय सम्बन्ध का नियम स्वय अपना विरोधी हो जाएगा। यदि प्रत्यक घटना दूसरी घटना के साथ उसके पर्याप्त कारण के रूप म सम्बद्ध है और वह फिर अन्य घटना के साथ सम्बद्ध है ता इस प्रकार से हमे किसीके लिए भी पर्याप्त स्वतन्त्र कारण न मिलेगा। हम किसी न किसी प्रकार कारण शृ खला से परे जाकर किसी एसे सत पदाथ का आश्रय ढूढना होगा जो अपना कारण आप हो अर्थात स्वयम्भू हो और सब प्रकार के परिवतनो के रहते हुए भी अपन म अपरिवर्तित रहे। जब हम ऐसा कथन करते हैं कि क्षणभगुर को हम क्षणभगुर के रूप मे जानते हैं तो हम इसे नित्य का विरोधी बतलाते हैं और इस प्रकार के उस नित्य अथात अस्थायी के विरोधी, की यथार्थसत्ता का प्रश्न स्वभावत उठता है। या तो हम उस निरपेक्ष सत्ता को बनने वाला तत्त्व करके स्वीकार करें अथवा हमे अवश्य स्वीकार करना होगा कि कोई एक नित्यतत्त्व है जो अपने को अभिव्यक्त करता है और समस्त परिवतन की प्रक्रिया के अन्दर अपने अस्तित्व एव व्यक्तित्व को भी स्थिर रखता है। हर हालत मे सत अथवा एकरूपता का सिद्धान्त मानना ही पडता है।

अरस्तू के मत मे समस्त परिवतन के लिए एकरूपता को स्वीकार करना आवश्यक है। समस्त परिवतन के अन्दर कुछ स्थायी अवश्य रहना चाहिए जिसके अन्दर परिवतन सम्भव हो सके। बिना स्थायी तत्त्व को स्वीकार किए परिवतन हो सके यह हम सम्भव प्रतीत नहा होता। यही सत्य सिद्धान्त हम काण्ट की सेकण्ड एनालाजी आफ एक्सपीरियेंस नामक पुस्तक म मिलता है। बिना स्थिर सत्ता के काल के सम्बन्ध सम्भव नहीं हैं। क' के पीछे ख के आने का तात्पय यह है कि इससे पूव कि ख प्रारम्भ हो क समाप्त हो चुका। उनके बीच का सम्बन्ध जिसे हम अनुक्रम के नाम से पुकारते हैं न तो क के लिए और न ख के लिए ही रह सकता है किन्तु किसी ऐसी वस्तु के लिए अवश्य रह सकता है जो दोनो के लिए एक समान उपस्थित हो। यदि एक दूसरे के पीछे आने वाली घटनाओ के अतिरिक्त इस ससार म और कुछ न हो— अर्थात् 'ख के प्रारम्भ होने स पूव क का विलोप हो जाना एव इससे पूव कि ग का प्रारम्भ हो ख का विलुप्त हो जाना आदि आदि—तो इस प्रकार कोई सिलसिला नही बन सकता। किसी भी सिलसिले का सम्भव होना उपलक्षित करता है कि एक सापेक्ष स्थिर तत्त्व अवश्य है। कोई न कोई तत्त्व ऐसा अवश्य होना चाहिए जो स्वय तो शृखला के अन्तगत न हो किन्तु हो स्थिर और जिसके अन्दर विलोप होने की शृखला की प्रत्यक घटना घट सके और जो उस कडी को दूसरी कडी के साथ जोड सके। यदि हम यह भी मान लें कि प्रत्येक परिवतन एव

सापेक्ष स्थायी तत्त्व की ओर सकेत करता है तो भी प्रत्येक वस्तु के सापेक्ष स्थायित्व की सम्भावना एक निरपेक्ष स्थायित्व को उपलक्षित करती है। हम सम्पूर्ण व्यवस्था को केवल सम्बन्धो के एक विस्तृत जाल के रूप मे परिणत नही कर सकते, जो केवल सम्बन्धो का ही एक पुजमात्र हो, और जिसके साथ सम्बन्ध है वह स्वय मे कुछ भी न हो। यह एक प्रकार से पक्षी के विना उडान है। परस्पर-सम्बन्धो के कारण सूक्ष्मता समाप्त नही हो जाती। बुद्ध केवल अनुभवात्मक ससार तक ही अपने ध्यान को रखने के कारण सत् को एक असत्-प्रक्रिया के रूप मे देखते हैं। इसी मत को आधुनिक दर्शनशास्त्र मे फ्रासीसी दार्शनिक बर्गसा ने प्रचलित किया, अर्थात् घटनाओ की यथार्थता सक्रमण अथवा क्रियमाण मे निहित है किन्तु दृष्ट पदार्थों के अन्दर नही। अविद्या के कारण ही भ्रान्ति से हमे वस्तुए स्थिर दिखाई देती हैं। ज्ञान हमे अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है जिसके द्वारा हमे वस्तुओ की अस्थिरता समझ मे आ सकती है किन्तु तो भी परिवर्तन अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है और कारणकार्य-सम्बन्धी अन्तर्निहित नियम के शासन मे अपना कार्य करते हैं।

यदि हम क्षणिकता के विचार को स्वीकार करे तो हमे कारणकार्य-सम्बन्ध एवं नैरन्तर्य और उसके साथ स्थायित्व एव एकरूपता को भी स्वीकार करना होगा, अन्यथा ससार उच्छृ खल शक्तियो का नग्ननृत्य मात्र रह जाएगा और फिर उसको समझने के सब प्रयत्न छोड देने पड़ेंगे। शकर ने ऐसे कारणकार्य-सम्बन्ध जिससे स्थायित्व का सकेत मिलता है, एव क्षणिकता के सिद्धान्त के बीच परस्पर असंगति को इस प्रकार दर्शाया है: "बौद्धो के मत मे प्रत्येक वस्तु की क्षणिक सत्ता है। इस प्रकार जब दूसरा क्षण प्रारम्भ होता है वह वस्तु जो पहले क्षण मे वर्तमान थी, विलोप हो जाती है और एक सर्वथा नवीन वस्तु उत्पन्न होती है। इस प्रकार से आप इस धारणा को कि पहली वस्तु दूसरी आगे आनेवाली वस्तु का कारण है अथवा यह कि दूसरी वस्तु का कार्य है, पुष्ट नही कर सकते। पहली वस्तु क्षणिकता की कल्पना के अनुसार समाप्त हो चुकती है जबकि पीछे आनेवाला क्षण प्रारम्भ होता है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि पहली वस्तु अपनी सत्ता को खो चुकी होती है जबकि आगामी क्षण की वस्तु उत्पन्न होती है और इसलिए पहली वस्तु ने दूसरी वस्तु को उत्पन्न किया ऐसा नही कहा जा सकता, क्योंकि अभाव (असत्) भाव (सत्) का कारण नही हो सकता।"[1] इस निर्दोष आपत्ति से बाद के काल के कितने ही बौद्ध भी[2] सहमत हैं और उनका कहना भी यही है कि समस्त परिवर्तनो की तह मे एक स्थायी तत्त्व है। श्री सोजन कहते हैं: "प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठान नित्य एव स्थायी है। जो कुछ क्षण-क्षण मे परिवर्तित होता है वह वस्तु की अवस्था या रूप है इसलिए यह कहना भूल है कि, बौद्धधर्म के अनुसार, पहले क्षण की वस्तु नष्ट हो चुकती है जबकि दूसरा क्षण प्रारम्भ होता है।"[3]

बुद्ध ने उपनिषदो के विचारकों के समान इस सापेक्ष क्रियमाण जगत् तक ही अपने ध्यान को सीमित रखने के कारण, एक ऐसे सार्वभौम और विश्वव्यापी सर्वात्मरूप

१. वेदान्तसूत्र, अध्याय २ : ११ और आगे। २. उदाहरण के रूप में, सर्वास्तिवादी।
३. 'सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थॉट', पृष्ठ १३८।

सत्ता की जो प्रत्येक मानव हृदय में धड़कन पैदा कर रही है और जो संसार का केन्द्र है स्थापना नहीं की। केवल इसीलिए कि वह ज्ञान की पहुंच के बाहर है हम निरपेक्ष परम-सत्ता का निषेध नहीं कर सकते। यदि यह सब जो कुछ है नियन्त्रित है तो अवस्थाओं के शेष हो जाने पर सब शून्य हो जाएगा। ओल्डनबर्ग कहता है "सोपाधिक पदार्थ का चिन्तन केवल अन्य सोपाधिक के द्वारा नियन्त्रित रूप में ही किया जा सकता है। यदि हम केवल तार्किक परिणाम का एकमात्र अनुसरण करें तो जीवन की हम कल्पना के आधार पर यह सोचना असम्भव होगा कि उपाधियों की शृंखला समाप्त हो जाने पर सिवाय शून्य आकाश के और भी कुछ रह सकेगा।"[1] उपनिषदों के साथ सहमत होकर बुद्ध मानते हैं कि संसार का स्वरूप जो हमारी बुद्धि में आता है अपनी सोपाधिक या सापेक्ष सत्ता ही रखता है। हमारी बुद्धि या प्रज्ञा हमें बाधित करती है कि हम एक निरुपाधिक सत् की स्थापना करें जिसके कारण समस्त अनुभव का अस्तित्व सम्भव होती है। और यह दृष्ट वस्तु सत् उन शृंखलाओं में से कोई कड़ी न होना चाहिए। आकस्मिकता एवं निर्भरता के नियम से सर्वथा मुक्त होने के लिए इसे आनुभविक उपाधि नहीं होना चाहिए। तो भी हम इसे आनुभविक शृंखला से सर्वथा पृथक् नहीं कर सकते क्योंकि उस अवस्था में उक्त सत् रूप उपाधि अयथार्थ सिद्ध होगा। प्रत्येक वस्तु है और नहीं भी है ऐसी हमें प्रतीति होती है यह एक ही समय में सत् एवं क्रियमाण दोनों है। प्रत्येक घटना हमें अपने से परे किसी पूर्ववर्ती विद्यमान आकृति में से गुजरने के लिए बाधित करती है जिसके अन्दर से वर्तमान इस घटना का प्रादुर्भाव हुआ है। यह कल्पना कि प्रत्येक विद्यमान वस्तु है और नहीं भी है यथार्थ है एवं अयथार्थ भी है क्रियमाण विषयक आदर्शवाद द्वारा प्रस्तुत है जिसके अनुसार क्रियमाण केवल सत् का विकास है। बुद्ध के उपदेशों की मुख्य प्रवृत्ति यही है। दो विरोधी गुणों की मध्यस्थता से ही सब पदार्थों की सत्ता है और जहां तक इस संसार का सम्बन्ध है हम इसमें से सत् एवं क्रियमाण को पृथक् पृथक् नहीं कर सकते। यदि हम दोनों में से किसी एक को भी पृथक् करने का प्रयत्न करें और उसके अन्दर पृथक्स्वरूप का निर्णय करें तो फिर समस्त कल्पना का भवन गिर पड़ेगा और अपने पीछे अभावात्मक शून्य को छोड़ जाएगा। आनुभविक सत् एक मध्यस्थ वस्तु है जो विकास है और असत् से सत् की ओर गति है जिसे क्रियमाण कहते हैं। बुद्ध ऐसे तर्क की निष्फलता को खूब समझते हैं जो इन्द्रियगम्य पदार्थों एवं विचार का इस रूप में प्रतिपादन करता है कि वे नियत एवं स्थायी वस्तुएं हैं जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं जबकि वस्तुतः एक नित्य यथार्थसत्ता की प्रक्रिया के अभिव्यक्ति की दिशा में विविध रूप हैं। निरपेक्ष परम सत्य के प्रति बुद्ध का मौन धारण यह संकेत करता है कि उनके मत में नियन्त्रण घटनाओं की व्याख्या के लिए उपलब्ध नहीं है। अनुभव ही सब कुछ है जिससे हमें ज्ञान होता है और निरपेक्ष उस अनुभव से परे का विषय है। ऐसे विषय को जो गम्य हो हम पकड़ में डाल के ग्रहण करने के लिए प्रयत्न करना निष्फल है और उसके लिए अपना समय नष्ट करना उचित नहीं। मानव मन की सापेक्षता की सही-सही व्याख्या हम यह स्वीकार करने को

१ ओल्डनबर्ग 'बुद्ध', पृष्ठ २७१।

बाध्य करती है कि किसी स्थायी तत्त्व की विद्यमानता को सिद्ध करना असम्भव है। यद्यपि बौद्धधर्म और उपनिषदें दोनो ही पदार्थ की निरपेक्ष सत्ता को निरन्तर परिवर्तित होनेवाली शृंखला के परिणाम के रूप मे देखने से निषेध करते है, फिर भी दोनो मे अधिक से अधिक भेद यह है कि जहा एक ओर उपनिषदे परिवर्तन अथवा क्रियमाण से परे एव उससे पृथक् एक यथार्थसत्ता की घोषणा करती है वहा बौद्धधर्म इस प्रश्न पर अपना निर्णय देना स्थगित रखता है। किन्तु किसी प्रकार भी इस अस्वीकृतिपरक स्थिति को परमसत्ता का निषेध न समझ लेना चाहिए। यह सोचना असम्भव है कि बुद्ध ससार की इस दौड़ मे किसी भी स्थायी सत्ता को स्वीकार न करते हो और न ऐसे ही किसी विश्रामस्थल को स्वीकार करते हो जहा पहुचकर इस विश्व की हलचल से उद्विग्न मनुष्य का हृदय शान्ति प्राप्त कर सके। बुद्ध ने भले ही निरपेक्ष परमसत्ता के प्रश्न पर कुछ उत्तर देने से निषेध किया हो जो आनुभविक जगत् के विभिन्न वर्गों से पृथक् एव परे है, ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे इस विषय मे सन्देह बिलकुल नही था। "हे भिक्षुओ, एक ऐसी सत्ता है जो अजन्मा, अनादि, स्वयभू, केवल एव विशुद्ध स्वरूप है क्योंकि ऐसी सत्ता न होती तो जन्म, निर्माण और सयोग-वियोग आदि के अधीन इस जगत् से छुटकारा कैसे सम्भव होता।"[1] बुद्ध एक ऐसी तात्त्विकी यथार्थसत्ता मे आस्था रखते थे जोकि दृश्यमान जगत् के चचल एव आभास-स्वरूप पदार्थों की पृष्ठभूमि मे सदा स्थिर रहती है।

९

परिवर्तनशील जगत्

क्या इस ससार का निर्माण यथार्थ एव पदार्थनिष्ठ है? बुद्ध की प्रधान प्रवृत्ति विश्व को एक निरन्तर प्रवाह के रूप मे प्रस्तुत करने की ओर है जो 'निस्सत्त' अर्थात् स्वय मे असत् है, एव 'निज्जीव' अर्थात् आत्मविहीन है। वह जो कुछ भी है 'धम्म' है अर्थात् अवस्थाओं का वर्गीकरण मात्र है। यह अयथार्थ तो है, किन्तु असत् नही है। तो भी प्राचीन बौद्धदर्शन मे ऐसे वाक्य पाए जाते है जो ससार की एक विशुद्ध विषयी-विज्ञानपरक व्याख्या का समर्थन करते है। पदार्थों से भरपूर ससार जीवात्मा रूपी विषयी द्वारा नियन्त्रित है। यह हम सबके अन्दर है। "मैं तुम्हे बताता हू कि यह शरीर ही, जोकि मर्त्य है, चार हाथ भर लम्बा है, किन्तु सचेत है एवं बुद्धिसम्पन्न है, और इस शरीर की वृद्धि व ह्रास एव वह प्रक्रिया ही जो शरीर को अवसान की ओर अग्रसर करती है, वस्तुत जगत् है।"[2] बुद्ध ऐसे एक भिक्षु को जो इस प्रश्न को लेकर बेचैन है, कि मोक्ष के पश्चात् क्या रहता है, बतलाते है "इस प्रश्न को इस प्रकार से रखना चाहिए—'कहा अब आगे को पृथ्वी नही है, न जल है न अग्नि है न वायु है, कहा पर जाकर लम्बा और छोटा, विशाल एव लघु, अच्छा एव बुरा सब एक मे विलीन हो जाते है? कहा जाकर प्रमाता एव प्रमेय पूर्णरूप से

१. उदान, ८ ३।

२. रीज डेविड्स 'डायलॉग्स आफ द बुद्ध', पृष्ठ २७९। यह भी सुझाया गया है कि जिन्हें ज्ञान का प्रकाश मिल गया है उनके लिए ससार का अस्तित्व नही है।

नि शेष होकर विलोप हो जाते हैं ? इसका उत्तर है— चेतना के कम विहीन हो जाने से एव नि शेष हो जाने से सब कुछ विलोप हो जाता है।[1] प्रमाता या विषयी के ऊपर ही ससार स्थित है उसके साथ ही वह प्रादुर्भूत होता है और उसीके साथ विलुप्त हो जाता है। इस प्रानुभविक ससार की सब सामग्री ऐसी है जैसी सामग्री से हमारे स्वप्न बनते हैं। ससार की सब सत्य घटनाए मनोभावों की शृखलामात्र हैं। हम नहीं जानते कि वे वस्तुए जिनका वर्णन हमारे विचारों द्वारा होता है हैं या नहीं। ससार का चक्र कर्म की शक्ति का परिणाम है और अज्ञान के कारण है। ऐसे भी वाक्य हैं जिनमें इस व्याख्या का समर्थन पाया जाता है कि ससार का विवरण एक ही यथार्थसत्ता के व्यक्तिगत रूप में हुआ परिवर्तन है जिस सत्ता में स्वय न कोई ब्यौरा है और न ही व्यक्तित्व है। ये वे आकृतियां हैं जिन्हें सत्ता धारण करती है जब ये ज्ञान का विषय बनती हैं। जबकि प्रथम मत ससार को एक स्वप्न के रूप में परिणत कर देता है एव प्रवाह के पीछे अभावात्मक शून्य की ही स्थापना करता है पिछला मत ज्ञानगम्य ससार को एक अनुभवातीत सत्ता के आभास मात्र के रूप में ला पटकता है।[2] पिछला मत अधिकतर काट के मत के अनुकूल है जबकि पहला अधिकतर बर्कले के मत के समान है। हम यह भी कह सकते हैं कि पिछली व्याख्या शोपनहावर की कल्पना से मिलती है जिसके अनुसार आध्यात्मिक सिद्धान्त है जीवित रहने की इच्छा और समस्त भौतिक पदार्थ एव मनुष्य उसी एक जीवित रहने की इच्छा के विषय हैं। कभी-कभी यह भी प्रतिपादन किया जाता है कि हमारी अपूर्णता जिसे अज्ञान कहा जाता है एक निरन्तर विश्व रचना-सम्बन्धी प्रक्रिया को विभक्त करके व्यक्तियों एव पृथक पृथक वस्तुओं में परिणत कर देती है। ऐसे कथनों की भी कमी नहीं है जिनके अनुसार सयुक्त पदार्थ ज्ञान के उदय होने पर तिरोहित हो जाते हैं और पीछे आदिम तत्त्वों का तथ्य ही रह जाता है। लीबनीज का मत है कि सरल पदार्थ स्थायी होते हैं और सयुक्त पदार्थों का विलीन हो जाना अवश्यम्भावी है। प्राचीन बौद्धमत की कल्पना में भी यही बात पाई जाती है। वह आत्मा को भी एक सयुक्त पदार्थ मानता है और इसी लिए आत्मा को भी विलय के अधीन मानता है। सरल एव अविनाशी तत्त्व मुख्यत ये हैं—पृथ्वी जल प्रकाश और वायु जिनमें वैभाषिक लोग एक और तत्त्व अर्थात आकाश, को भी जोड देते हैं। कई वाक्यों में निरपेक्ष आकाश को भी यथार्थसत्ता माना गया है जैसेकि भिन्न आनन्द की इस जिज्ञासा के उत्तर में कि भूचालों का कारण क्या है, बुद्ध का कहना था कि हे आनन्द यह महान पृथ्वी जल पर आश्रित है जल वायु के ऊपर आश्रित है और वायु आकाश में आश्रित है।[3] अद्वय नागसेन इस ससार में ऐसे प्राणी पाए जाते हैं जो कर्म के द्वारा इस जन्म में आए हैं और दूसरे ऐसे हैं जो किसी कारण के परिणामरूप हैं और ऐसे भी हैं जो अनुकूल अवसर पाकर उत्पन्न होते हैं। मुझे बताओ

१ दाहल्के बुद्धिस्ट एस्सेज पृष्ठ ३१०।

२ कथावत्थु में (श्रीमती एव मिसेज डेविड्स द्वारा 'प्वाइट्स आफ कण्ट्रोवर्सी' का इंग्लिश वेर्शन अनुवादन) निरपेक्ष यथार्थसत्ताओं में आकाश नित्य और चर असम्भवों का उल्लेख किया गया है।

३ दीघनिकाय २०७।

कि क्या कोई ऐसी भी वस्तु है जो इन तीनो मे से एक भी श्रेणी के अन्दर न आ सकती हो ?" "हा, ऐसी दो वस्तुए है—आकाश (देश) एवं निर्वाण।"[1] बुद्ध ने क्रियमाण जगत् की कोई स्पष्ट व्याख्या हमारे सामने नही रक्खी है। नि सन्देह नाना प्रकार के सुझाव जहा-तहा दिए गए है और परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायो ने उनकी एकपक्षीय व्याख्याए कर डाली है। नागसेन ने अधिकरणनिष्ठ (अन्त सृष्टिविषयक) विचारपद्धति को ही अपना आलम्ब बनाया है। उसके मत मे एक वस्तु अपने विशिष्ट गुणो के सम्मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ नही है। शरीर के अन्दर अस्थायी मनोभावो के अतिरिक्त और कुछ सार नहीं है। वस्तुए केवल सवेदनाओ के सम्मिश्रणो के मानसिक प्रतीकमात्र है। चारो सम्प्रदायो मे से एक का तो यहा तक कहना है कि प्रकृति और कुछ नही, केवल मन के प्रत्यक्ष ज्ञान-विषय का एक कल्पित खेल है। दूसरे का कहना है कि मन ही सब कुछ है। एक तीसरा सम्प्रदाय शून्यवाद का ही प्रतिपादन करता है और आग्रहपूर्वक कहता है कि ससार न यथार्थ है, न कल्पित है और न ही दोनो प्रकार का है एव ऐसा भी नही कि दोनो मे से एक भी न हो। बुद्ध ने अनुभव किया कि बाह्य सत्ता की समस्या का समाधान करना उनका काम नही है। उनके लिए इतना कह देना ही पर्याप्त था कि क्रियमाण के प्रवाह के मध्य मे मनुष्य अपने को नि.सहाय पाता है जिस प्रवाह को न तो वह रोक सकता है और न जिसका नियन्त्रण ही कर सकता है, और यह कि जब तक उसके अन्दर जीवन की तृष्णा बनी रहेगी, वह ससार की अगाध अन्धकारमय गहराइयो के अन्दर इधर से उधर भटके खाता रहेगा, और यह कि इस अशान्त ससार मे शान्ति प्राप्त करने की कोई सम्भावना नही। "उन व्यक्तियो के लिए जो जलती हुई आग के बीच फसे हो, आग के विषय को लेकर विवाद करने का अवसर नही होता अपितु उसमे से छुटकारा पाने का प्रश्न उनके सामने होता है।"[2]

१०

जीवात्मा

शरीर और मन का द्वैतभाव क्रियमाण का ही एक अग है, यह सम्पूर्ण इकाई के दो भेदक पक्ष हैं, क्योकि सब वस्तुए एक-दूसरे के साथ एक ही निरन्तर विकास के भिन्न-भिन्न पहलू होने के रूप मे सम्बद्ध है। जीवन नित्य अवश्य है किन्तु यह सदा ही चेतना के साथ जुडा हुआ नहीं हैं। इस विश्व मे किसी भी विवाद-विषय पर ऐसे ही सम्बन्ध की दृष्टि से विचार किया जा सकता है जो एक वस्तु का अन्य सब गतिमान वस्तुओ के साथ है, और जब इस प्रकार का सम्बन्ध विषय-चेतना से भी युक्त हो तो उसे ही हम जीवात्मा कहते हैं। सत्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए विषयीनिष्ठ केन्द्रो का होना आवश्यक है।

विषयी या प्रमाता मनुष्य का आनुभविक जीवन है जो बढता है और परिवर्तन के भी अधीन है। उपनिषदें बलपूर्वक घोषणा करती हैं कि मनुष्य की यथार्थ आत्मा

१. मिलिन्द, ४। २. मज्झिमनिकाय, खण्ड १, पृष्ठ २८।

मे हो।" इस तर्क की पुनरावृत्ति अन्य स्कन्धो के साथ भी की गई है। आत्मा अथवा पुद्गल, अथवा सत्त्व (जीवित प्राणी) अथवा जीव इनमे से एक भी स्थायी नही है। हमे मनुष्य के अन्दर ऐसी किसी अपरिवर्तनशील वस्तु एव नित्यतत्त्व का ज्ञान प्राप्त नही है।[1] केवल कारणो एव कार्यो की शृंखलाए ही हमारे सामने है। मनुष्य पाच स्कन्धो से मिलकर बना हुआ एक सयुक्त पदार्थ प्रतीत होता है। उपनिषदो मे वर्णित नामरूप के आधार पर ही स्कन्धो की कल्पना विकसित की गई है। यहा हमारा प्रतिपाद्य विषय यह है कि समुत्पादक तत्त्वो अर्थात् रूप (प्राकृतिक, भौतिक) और नाम (मानसिक) के अतिरिक्त हमारे पास और कुछ प्रतीत नही होता।

सुरगमसुत्त मे आनन्द का स्थान शरीर के अन्दर अथवा उसके बाहर एवं इन्द्रियों के पीछे आदि बताने के प्रयत्नो पर विवाद किया गया है।[2] हम स्थायी आत्मा की खोज व्यर्थ मे ही मस्तिष्क के अन्दर, इन्द्रियो के अवशेषो मे अथवा व्यक्तित्व को बनानेवाले अवयवों मे करने लगते हैं। आत्मा नाम की एक असम्बद्ध शक्ति की स्थापना, बौद्धो के मत मे, कर्म के नियम के विरुद्ध जाती प्रतीत होती है, क्योकि साधारण लोग आत्मा को डिब्बे के अन्दर बन्द एक जीवित जन्तु के समान मानते हैं, जो सब प्रकार की चेष्टाओ का मुख्य रूप मे कर्ता है। श्रीमती रीज़ डेविड्स के शब्दो मे: "बौद्धधर्म का 'अत्ता' के विपक्ष मे तर्क मुख्य रूप से और बराबर ही आत्मा के विचार के विरुद्ध प्रतिपादित किया गया है, जो न केवल निरन्तर अपरिवर्तनशील, आनन्दमय, पुनर्जन्म लेनेवाला आनुभविक जगत् से ऊपर एक सत् है किन्तु ऐसा सत् भी है कि जिसके अन्दर परम आत्मा अर्थात् विश्वात्मा भी निहित है, जिसके शारीरिक एव मानसिक अवयव भी है और जो आदेश देता है।"[3] किन्तु उपनिषदो मे प्रतिपादित आत्मा पुनर्जन्म प्राप्त करनेवाली आत्मा नही है। उपनिषदो का एक अन्य भ्रमात्मक विचार, जिसका बुद्ध ने खण्डन किया है, वह है जिसके अनुसार आत्मा को सब प्रकार के भेदो से रहित एक अमूर्त एकता के रूप मे माना गया है। यदि यह ऐसा है तो निश्चय ही यह अभावात्मक है, जैसाकि बहुत समय पूर्व इन्द्र ने कहा था।

एक और कारण जिसने बुद्ध को आत्मा के विषय मे मौन रहने की प्रेरणा दी, यह था कि उन्हे विश्वास था कि साधारण आत्मा को स्वीकार करने की जो मूल प्रवृत्ति है वही सब आत्मिक पाप की छिपी हुई जड है। जीवात्मा-सम्बन्धी अहकार का जो प्रचलित भ्रान्त विचार है वे उसका खण्डन करते हैं और आत्मा की यथार्थता को अस्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय मे जितने असत्य विचार है उन सबका वे प्रतिवाद करते हैं। वे पदार्थ जिनके साथ हम अपने को एकरूप बताते हैं, सत्य आत्मा नही हैं। "बधुओ, चूकि न तो आत्मा को और न ही आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाली किसी अन्य वस्तु को वस्तुत और यथार्थ मे स्वीकार किया जा सकता है, यह धर्मद्रोही स्थिति नही है, जिसके मत मे 'यह

१. देखिए सयुत्तनिकाय, ४ ५४।

२ पश्चिमी देशों के मनोविज्ञानशास्त्र के विद्वान इस प्रकार के प्रयत्नों में रत रहते है कि वे आत्मा का स्थान निर्देश शरीर के अन्दर, मेरुदण्ड के अन्दर, मस्तिष्क में, अथवा ऐसे ही किसी बिन्दु-विशेष में कर सकें।

३. 'बुद्धिस्ट साइकोलॉजी', पृष्ठ ३१।

कहता है : "यदि बुद्ध आत्मा का निषेध करने से बचते हैं तो इसलिए कि एक दुर्बलात्मा श्रोता के मन मे आघात न पहुचे। आत्मा के अस्तित्व एव निषेध सम्बन्धी प्रश्न ने वचनें के द्वारा यह उत्तर मिल गया कि आत्मा नही है क्योंकि बौद्ध उपदेशो मे पूर्वावयव (प्रतिज्ञा) की प्रवृत्ति साधारणत इधर की ओर ही है।"[1] हम इस विचार से सहमत नही है कि बुद्ध ने जानबूझकर सत्य को गुप्त रखा। यदि ओल्डनबर्ग का कहना सही माना जाए तो निर्वाण का अर्थ होगा शून्यता, जिसका खण्डन स्वयं बुद्ध ही करते है। निर्वाण ह्रास होकर शून्य हो जाना नही है, किन्तु यह प्रवाह का निषध है और आत्मा का अपने यथार्थ स्वरूप मे लौट आना है। इस सबका तर्कसगत परिणाम यह हुआ कि कुछ है अवश्य, भले ही यह अनुभवगम्य आत्मा न हो। यही स्थिति बुद्ध के इस कथन के भी अनकूल होगी कि आत्मा न तो वही है जो स्कन्ध है और न ही उनसे सर्वथा भिन्न है। यह केवल मन एव शरीर का सम्मिश्रण नही है और न ही यह नित्य पदार्थ है जोकि परिवर्तन के विप्लवो से निर्मुक्त हो।[2] भार एव भारवाही के विवाद से यह प्रतिपादित किया गया है कि स्कन्ध जो भारस्थानी है एव पुद्गल जो भारवाही है, दोनो भिन्न-भिन्न वस्तुए हैं। यदि वे एक ही होते तो उनके बीच मे भेद करने की आवश्यकता न होती। "हे भिक्षुओ, मै तुम्हे भार एव भारवाही का निर्देश करता हू पाचो अवस्थाए भार हैं और पुद्गल भारवाही है—ऐसा व्यक्ति जो यह समझता है कि आत्मा नही है, भूल मे है।"[3] जन्म ग्रहण करने का तात्पर्य ही भार ग्रहण करना है, एव जीवन के परित्याग का तात्पर्य है आनन्द अथवा निर्वाण प्राप्त करना।

बुद्ध इस तथ्य पर बल देते है कि जब हम घटनाओ की पृष्ठभूमि मे एक स्थायी आत्मा के विषय मे कथन करते हैं तो हम अपने अनुभव से ऊपर उठते है। उपनिषदो के साथ इस विषय मे सहमत होते हुए भी कि उत्पत्ति, रोग एव दु ख से पूर्ण ससार आत्मा का यथार्थ आश्रयस्थान नही है, बुद्ध उस आत्मा के विषय मे जिसका प्रतिपादन उपनिषदो मे किया गया है सर्वथा मौन है। वे इसकी सत्ता को न तो स्वीकार करते है और न ही इसका निषेध करते है। क्योकि जब तक हम शुष्क तर्क का आश्रय लिए रहेगे, हम जीवात्मा की यथार्थसत्ता को सिद्ध न कर सकेंगे। अज्ञेय आत्मा, जिसे हमारे अहं की पृष्ठभूमि मे विद्यमान बताया जाता है, एक अतर्क्य रहस्य है। कुछ कहते हैं यह है, और दूसरो के लिए भी छूट है कि वे इसका निषेध कर दें। बुद्ध का अनुरोध है कि हममे ऐसी सूक्ष्म दृष्टि होनी चाहिए कि हम दर्शनशास्त्र की मर्यादाओ का ठीक-ठीक विवेचन कर सकें। यथार्थ मनोविज्ञान तभी सम्भव हो सकता है जबकि हम पहले आत्मा के अस्तित्व के पक्ष एव अभाव

१ 'बुद्ध', पृष्ठ २७३।

२. पुग्गलपञ्ञत्ति में हमें आत्मा की स्वरूप-सम्बन्धी तीन मुख्य कल्पनाओं पर विवाद मिलता है : शाश्वतवाद, जिसके अनुसार आत्मा का अस्तित्व यथार्थ मे इस लोक और परलोक में भी है, उच्छेदवाद अर्थात् आत्मा यथार्थ में केवल इसी जीवन मे रहता है, और तीसरी कल्पना यह कि आत्मा न इस जीवन में और न अन्य जन्म में रहती है।

३. वारेन : 'बुद्धिज्म इन ट्रांसलेशन्स', पृष्ठ १६१, सर्वाभिसमयसूत्र, जिसका उद्धरण उद्द्योतकर के न्यायवार्तिक (३ १, १) में दिया गया है,।

के सम्बन्ध में विद्यमान आध्यात्मिक पक्षपातों को दूर कर दें। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के मनोविज्ञानिकों ने मनोवैज्ञानिक समस्याओं के सम्बन्ध में बुद्ध के दृष्टिकोण से विवाद उठाने का प्रयत्न किया ठीक उसी प्रकार से जैसे कि एक भौतिकविज्ञानवेत्ता एवं प्राणिविज्ञानशास्त्र का विद्वान बिना प्रकृति एवं जीवन की परिभाषा किए अपनी विषयवस्तु का प्रतिपादन करते हैं। बुद्ध अपना सन्तोष आत्मिक अनुभव के विवरण से ही कर लेते हैं और आत्मा के विषय में किसी प्रकार की कल्पना की स्थापना करने का साहस नहीं करते। विवेकशील मनोवैज्ञानिक आत्मा के स्वरूप एवं इसकी सान्तता अथवा अनन्तता आदि की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं।[1] बुद्ध को ऐसा प्रतीत हुआ कि एक आत्मा की स्थापना करना व्याख्यात्मक दृष्टिकोण से परे पग उठाना होगा। जिसे हम जानते हैं वह अनुभवात्मक आत्मा है। बुद्ध समझते हैं कि इसके अतिरिक्त भी कुछ है। वे यह स्वीकार करने के लिए कभी इच्छुक नहीं हैं कि आत्मा केवल तत्त्वों का सम्मिश्रणमात्र है किन्तु इसके अतिरिक्त वे आत्मा के अन्य किसी स्वरूप की कल्पना करने से भी निषेध करते हैं।

उपनिषदें आत्मा के एक आवरण के बाद दूसरे आवरण को दूर करती हुई मत

1. हमारे समय के एक महान मनोवैज्ञानिक प्राध्यापक स्टाउट ने इन दोनों प्रकार की स्थितियों के अन्तर का इस प्रकार प्रतिपादन किया है : "सब लोगों ने स्पष्ट या उपलक्षित रूप से इस तथ्य को माना है कि किसी व्यक्तिविशेष के मानस या जीवन इतिहास में प्रवेश करनेवाले बहुविध और सतत परिवर्तनशील अनुभव किसी न किसी अर्थ में उस आत्मा या अहं के अधिकार में होते हैं जो उनके पूरे विषयों के दौरान एक और सम रूप में स्थिर रहता है। परन्तु जब हम उस आत्मा की संगति और उसके स्वरूप की प्रकृति का, तथा उस निश्चित अर्थ का जिसमें उसके अनुभव उसके साथ सम्बद्ध होते हैं अन्वेषण आरम्भ करते हैं तो मतों के मूलभूत अन्तर से हमारा सामना होता है। एक तरफ तो यह प्रतिपादित किया जाता है कि जिस प्रकार एक त्रिकोण की, या किसी राग की अथवा किसी जीव की या घटना की संगति या उसका एकत्व उसके विभिन्न अंगों के परस्पर सबंध या समन्वय के विशेष ढंग में ही निहित होता है ताकि इस विशेष प्रकार के मिश्रित रूप का निर्माण हो सके, ठीक उसी प्रकार जिसे हम एक विशिष्ट मानस कहते हैं उसकी संगति भी केवल उस विशिष्ट ढंग में ही निहित होती है जिसमें उसके अनुभव एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। इस प्रकार जब हम यह कहते हैं कि कोई इच्छा या लालसा किसी विशिष्ट व्यक्ति की इच्छा या लालसा होती है तो हमारा तात्पर्य केवल यह होता है कि यह अनुभवों की एक क्रमबद्ध सम्पूर्णता में उसके अन्य घटकों में एक घटक के रूप में प्रविष्ट है, और इन अनुभवों में एक प्रकार की संगति और अविच्छिन्नता बनी रहती है जो केवल अनुभवों को ही उपलब्ध है, भौतिक वस्तुओं को नहीं। इस सिद्धान्त के विपरीत अन्य लोगों द्वारा ज़ोरदार ढंग से यह कहा जाता है कि मद्रूप विषय केवल अनुभव का एकीकृत मिश्रण मात्र नहीं है बल्कि एक स्पष्ट तत्त्व है जिससे उन्हें अपनी संगति प्राप्त होती है, एक ऐसी वस्तु प्राप्त होती है जो उनके बीच बराबर बनी रहती है और जो उन्हें परस्पर आबद्ध रखती है। इन लेखकों के अनुसार यह कहना सत्य का विपर्यास है कि बहुविध अनुभव अपने पारस्परिक एकीकरण के कारण एक अकेले आत्मा या अहं का निर्माण करते हैं। इसके विपरीत, एक अकेले आत्मा को एकमात्र बन्धन मानकर उसके साथ अपने सम्बन्ध के माध्यम से ही वे परस्पर एकताबद्ध रहते हैं। इन दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में से मैं पहले को ही स्वीकार करना आवश्यक समझता हूं और दूसरे को अस्वीकार करता हूं। मुझे आत्मा की संगति उसके अनुभवों के पूर्ण ढांचे की संगति से अभिन्न प्रतीत होती है।" (सम एफर्मेटिव व्याख्यम इन द थ्यूरी ऑफ नॉलेज, पृष्ठ ६)।

मे सब वस्तुओ की आधारभूमि तक पहुंचती है। इस प्रक्रिया के अन्त मे वे सार्वभौम व्यापक आत्मा की उपलब्धि करती है जोकि इन सब सान्त वस्तुओ मे से एक भी नही है, यद्यपि उन सबकी आधारभूमि है। बुद्ध का भी वस्तुत यही मत है, यद्यपि निश्चित रूप से वे इसको कहते नही है। वे उन अस्थायी तत्त्वो के अमरत्व का निषेध करते है जो सम्मिश्रित अनुभवगम्य आत्मा का निर्माण करते है। वे उपनिषदो मे वर्णित उस दर्शन-शास्त्र-असगत अथवा अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी मत का निषेध करते है जिसके अनुसार आत्मा को अगुष्ठमात्र, अर्थात् अगूठे के आकार का, बताया गया है और जिसके विषय मे कहा गया है कि मृत्यु के समय वह मनुष्य के कपाल की सन्धि के मध्य से एक सूक्ष्म छिद्र के मार्ग से शरीर के बाहर हो जाती है। वे यह स्वीकार करने की भी अनुमति दे देते है कि प्रमाता (विषयी) अनिरूपणीय है, अर्थात् जिसे सिद्ध नही किया जा सकता। हमारे अन्तर्निरीक्षण से उसका ग्रहण नही हो सकता तो भी हमे उसे स्वीकार करना आवश्यक है, क्योकि यह प्रमाता या विषयी ही है जो अन्य सबको देखता है। बिना उसके हम अनुभवगम्य आत्मा की भी व्याख्या नही कर सकते। विचारो की शृखला, समूह, पुज एव सग्रह ये सब आलकारिक भाषा के शब्द है और इनको एकत्र करनेवाला पृथक् एक कर्ता होना चाहिए। बिना इस अन्तर्निहित तत्त्व के मनुष्य का जीवन अव्याख्येय रह जाएगा। इसीलिए बुद्ध बराबर आत्मा की यथार्थता का निषेध करते है। प्राचीन बौद्ध विचारको ने आत्मा के प्रश्न पर बुद्ध की इस अनिश्चित भासित होनेवाली प्रवृत्ति को लक्ष्य किया और कई ने यह मत प्रकट किया कि उपयोगिता का विचार करके बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व एव अभाव दोनो का ही उपदेश दिया है।

नागार्जुन 'प्रज्ञापारमितासूत्र' पर की गई अपनी टीका मे कहता है . "तथागत कभी तो उपदेश देते थे कि आत्मा का अस्तित्व है और कभी ऐसा भी कहते थे कि नही है। जब उन्होने यह उपदेश दिया कि आत्मा का अस्तित्व है और उसे क्रमानुसार वर्तमान एव भविष्य जन्मो मे अपने कर्मो के अनुसार दु ख एव सुख का फलोपभोग करना है तो इसका उद्देश्य जनसाधारण को उच्छेदवाद की नास्तिकता के गढे मे गिरने से बचाना होता था। और जब वे यह उपदेश करते थे कि आत्मा नही है—इन अर्थो मे कि उसे स्रष्टा व द्रष्टा अथवा एक ऐसा नितान्त स्वतन्त्रकर्ता, पाचो स्कन्धो के पुजको जो परम्परागत नाम दिया गया है उसके अतिरिक्त, माना जाए—तो उस समय उनका उद्देश्य यह होता था कि जनसाधारण को उसकी प्रतिपक्षी 'शाश्वतवाद'-सम्बन्धी नास्तिकता के गढे मे गिरने से बचाया जा सके। तो फिर उक्त दोनो मतो मे से कौन-सा सत्य है? नि सन्देह आत्मा के निषेध का सिद्धान्त। यह सिद्धान्त जिसे समझना इतना कठिन है कि, बुद्ध के अनुसार, इसे ऐसे व्यक्तियो के श्रवणगोचर न होना चाहिए जिनकी बुद्धि मन्द है और जिनके अन्दर अभी पुण्य की जड उत्पन्न नही हुई है। और ऐसा क्यो? इसलिए कि ऐसे व्यक्ति अनात्म के सिद्धान्त को सुनकर निश्चितरूप से उच्छेदवाद की नास्तिकता मे फस जाते। बुद्ध ने दोनो भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो का उपदेश दो भिन्न-भिन्न उद्देश्यो को लक्ष्य करके दिया। उन्होने अपने श्रोताओ को आत्मा के अस्तित्व का उपदेश दिया जबकि वे उन्हे परम्परागत

सिद्धान्त का उपदेश देना चाहते थे, और अनात्म का उपदेश दिया जबकि वे अतीन्द्रिय सिद्धान्त उन्हें देना चाहते थे।[1]

११

नागसेन का आत्मविषयक सिद्धान्त

जब हम बुद्ध के अपने उपदेशों से हटकर उक्त उपदेशों की नागसेन एवं बुद्धघोष द्वारा की गई व्याख्याओं पर आते हैं तो हमें बुद्ध की प्राचीन शिक्षाओं की नास्तिकवादपरता एवं बुद्ध के मौन पर निषेधात्मक रंग का आभास मिलता है। बौद्ध विचारधारारूपी शाखा को मूल वृक्ष के तने से उखाड़कर विवेक की एक नितान्त विशुद्ध भूमि में बोया गया। क्रियमाण सम्बन्धी दर्शनपद्धति के तार्किक परिणाम बड़ी कठिनाई से निकाले गए हैं। प्रत्यक्षवाद सम्बन्धी सिद्धान्तों को, जो हमें ह्यूम का स्मरण कराते हैं, बड़े कौशल एवं प्रतिभा के साथ विकसित किया गया है। बुद्ध ने मनोविज्ञान को मौलिक अनुशासन का स्थान दिया जिसके द्वारा ही अध्यात्मशास्त्र सम्बन्धी समस्याओं तक पहुंचा जाना चाहिए। उसके अनुसार हमारा ध्यान अध्यात्मशास्त्र के कल्पनात्मक मत की ओर से हटकर मनोवैज्ञानिक निरीक्षण के मानवीय मत की ओर प्रेरित होना चाहिए। मनुष्य की चेतना प्रकटरूप में उदय होने एवं विलुप्त होते विचारों की क्रीडाभूमि है। अपनी दृष्टि को निरन्तर होते हुए परिवर्तनों एवं विचारों और चेतना की गति पर गडाए हुए किंवा मनोवैज्ञानिक निरीक्षण की यथार्थ पद्धति पर आग्रह करते हुए नागसेन नित्य आत्मा का तो इसे अवध अमूर्त रूप (अभावात्मक) बताकर निषेध कर देता है और मानवीय आत्मा को भी एक ऐसे संयुक्त पदार्थ के रूप में, जोकि केवल अविच्छिन्न ऐतिहासिक नैरन्तर्य को प्रदर्शित करता है, स्वीकार करता है। इसलिए नागसेन में आत्मा के अभाव की निषेधात्मक स्थिति स्पष्ट रूप में प्रतिपादित है। वह यहां तक भी कह जाता है कि उसका अपना नाम नागसेन भी यही बतलाता है कि संसार में स्थायी कुछ नहीं है।[2] वस्तुएं कुछ नहीं हैं केवल नाममात्र हैं और सम्भवत केवल भावमात्र ही हैं। रथ का नाम भी वैसा ही है जैसाकि नागसेन है। गुणों के अतिरिक्त उनकी पृष्ठभूमि में उनसे अधिक यथार्थ वस्तु और कुछ नहीं है। चेतना

१ इसी प्रकार धर्मपालाचार्य का 'विज्ञानमात्रशास्त्र' की टीका में कहना है 'आत्मा (अहं) एवं धर्मों (आनुभविक वस्तु) की सत्ता पवित्र शिक्षाओं में केवल थोड़े समय के लिए कल्पना की गई है किन्तु इस अर्थ में नहीं कि उनका स्थायी रूप सम्भव है।' नागार्जुन के प्रमुख शिष्यों में से अन्यतम आर्यदेव ने भी माध्यमिकशास्त्र की अपनी टीका में कहा है कि "बुद्धजन अपनी सर्वज्ञता में सब जीवित प्राणियों के स्वभाव का निरीक्षण करते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार से धार्मिक नियम विधान का प्रचार करते हैं— कभी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए और कभी निषेध भी करते हुए। बुद्धि की शक्तियां के परिपक्वरूप में विकसित हुए बिना कोई निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता और न ही यह जान सकता है कि पाप क्यों नहीं करना चाहिए। ऐसे ही व्यक्तियों के लिए, जो इस स्थिति तक नहीं पहुंचे हैं, बौद्ध आत्मा के अस्तित्व का उपदेश देते हैं।" (देखिए, यमकामी सोजेन : सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १६–२०।)

२ मिलिन्द २ : १ : १।

की तात्कालिक प्रत्यक्ष में आनेवाली सामग्री इस विषय की साक्षी नहीं दे सकती कि ऐसा भी कोई पदार्थ है जिसको हम आत्मा कह सकते हैं।

" और मिलिन्द ने प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया, 'हे भगवन्, हम आपको कैसे जान सकते हैं, और आपका क्या नाम है?'

" 'हे राजन्, मुझे लोग नागसेन नाम से जानते हैं और इसी नाम से मेरे सब धर्मभाई मुझे सम्बोधित करते हैं तो भी यह साधारणतया एक प्रचलित शब्द है, एक ऐसी संज्ञा है जो साधारण प्रयोग में आती है। क्योंकि ऐसी कोई स्थायी आत्मा नहीं है जिसका प्रकृति से कोई सम्बन्ध हो।'

" तब मिलिन्द योनक आदि अन्य बौद्ध बन्धुओं के पास साक्षी के लिए गया। 'यह नागसेन कहता है कि उसके नाम से किसी एक स्थायी आत्मा का संकेत नहीं होता। क्या इसकी यह बात स्वीकार करने योग्य हो सकती है?' और फिर नागसेन की ओर मुड़कर उसने कहा, 'यदि प्रकृति के अतिरिक्त कोई स्थायी जीवात्मा इस शरीर के अन्दर नहीं है तो कृपा कर बताइए, वह कौन है जो आप सब संघ के सदस्यों को यह पोशाक, भोजन, रहने का स्थान एवं रोगियों को आवश्यक सामग्री देता है? और इन वस्तुओं की प्राप्ति के पश्चात् उपभोग करनेवाला वह कौन है? धार्मिक जीवन बितानेवाला भी कौन है? और वह कौन है जो अपने को समाधि के लिए प्रेरित करता है? और वह कौन है जो परमश्रेष्ठ पद अर्हत्त्व के निर्वाण को प्राप्त करता है? और वह कौन है जो जीवित प्राणियों का संहार करता है? और वह कौन है जो उस वस्तु को लेता है जो उसकी नहीं है? और वह कौन है जो सांसारिक वासनाओं का पापमय जीवन व्यतीत करता है, जो असत्यभाषण करता है, जो मद्य का सेवन करता है? और वह कौन है जो उन पांच पापों में से जिनका फल इसी जीवन में मिलता है किसी एक पाप को करता है? यदि तुम्हारी बात मानी जाए तो पुण्य एवं पाप कुछ न रहेगा, न तो अच्छे व बुरे कर्मों का करनेवाला और न करानेवाला ही रहेगा, अच्छे और बुरे कर्मों का परिणाम एवं फल भी न रहेगा। हे पूज्यवर नागसेन, यदि हम यह सोचें कि तुम्हें कोई मनुष्य मारे तो कोई हत्या न होगी, तो परिणाम यह निकलता है कि तुम्हारी संघ-व्यवस्था में न तो कोई वास्तविक अध्यक्ष है और न ही उपदेशक है, और यह कि तुम्हारी दीक्षा एवं विधान सब शून्य, अप्रमाणित एवं अमान्य है। तुम कहते हो कि तुम्हारे संघ के भाई तुम्हें नागसेन करके सम्बोधित करने के आदी हैं, तो वह नागसेन क्या है? क्या तुम्हारा तात्पर्य यह है कि केश नागसेन है?'

" 'हे महाराज, मैं यह नहीं कहता।'

" 'या सम्भवत शरीर पर के बाल?'

" 'निश्चयपूर्वक नहीं।'

" 'अथवा क्या नाखून, दांत, त्वचा, मांस, स्नायुजाल, अथवा मस्तिष्क,

अथवा इनमें से कोई एक अथवा ये सब क्या ये नागसेन हैं ?

'और इनमें से प्रत्येक के लिए उसने कहा कि नहीं।

' तो क्या ये स्कन्ध परस्पर संयुक्त होकर नागसेन हैं ?'

नहीं राजन्।'

तो क्या पांच स्कन्धों के अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु है जो नागसेन है ?

' और तब भी उसने यही उत्तर दिया कि नहीं।

तब इस प्रकार से क्या मैं कह सकता हूं कि मुझे तो कोई नागसेन नहीं मिला। नागसेन केवल एक निरर्थक शब्द है। तब फिर यह नागसेन जिसे हम अपने सामने देखते हैं कौन है ?

और आदरणीय नागसेन ने राजा मिलिन्द से पूछा श्रीमन् यहां आप पैदल चलकर आए या रथ में सवार होकर ?

'मैं पैदल नहीं आया, मैं रथ में सवार होकर आया हूं।

तब जब आप रथ पर आए हैं तो मुझे बताइए कि यह रथ क्या वस्तु है। क्या इस दण्ड का नाम रथ है ?

मैंने यह नहीं कहा।

क्या यह धुरा रथ है ?

निश्चय ही नहीं।

क्या ये पहिये या यह ढांचा, अथवा रस्सियां, जुआ, या पहिये के आरे अथवा अंकुश क्या ये सब रथ हैं ?

और इन सबके लिए भी उसने कहा कि नहीं।

तो क्या रथ के ये सब हिस्से रथ हैं ?

' 'भगवन् नहीं।

तो क्या इन सबके अतिरिक्त और कोई वस्तु है जो रथ है ?

और तब भी उसने उत्तर दिया कि नहीं।

तब इस प्रकार क्या मैं कह सकता हूं कि मुझे तो कोई रथ दिखाई नहीं देता। रथ केवल एक निरर्थक शब्द है। तब फिर वह रथ कौन सा है जिसमें बैठकर आप यहां आए हैं ? और तब उसने यानकर्त्ता एवं संघ के अन्य सदस्यों को गवाही के लिए बुलाया और कहा राजा मिलिन्द जो यहां हैं कहते हैं कि वे रथ में सवार होकर यहां आए हैं। परन्तु जब इनसे कहा गया कि बताइए यह रथ क्या है तो जो कुछ इन्होंने दावे के साथ कहा ये उसकी ठीक ठीक स्थापना न कर सके। क्या निःसन्देह इनकी बात मानी जा सकती है ?

और मिलिन्द ने कहा हे भगवन मैंने कुछ भी असत्य नहीं कहा है। डंडा धुरा पहिये और समूचा ढांचा, रस्से और जुआ आरे एवं अंकुश—ये सब मिलकर साधारण बोलचाल की भाषा में रथ के नाम से पुकारे जाते हैं।

बहुत सुन्दर। आप श्रीमान ने अब ठीक तरह से रथ के अभिप्राय को ग्रहण किया। ठीक इसी प्रकार उन सब वस्तुओं के विषय में है जिनके लिए

आपने मुझसे अभी प्रश्न किया था, अर्थात् बत्तीस प्रकार की ऐन्द्रिय प्रवृत्ति जो मनुष्य-शरीर मे है और पाच अवयव सत् के—इनके कारण ही साधारण बोलचाल की भाषा मे मुझे 'नागसेन' कहते हैं। क्योंकि महाराज, हमारी बहिन वागीरा ने परम श्रेष्ठ बुद्ध की उपस्थिति मे कहा था कि जैसे अपने भिन्न-भिन्न भागो के एकसाथ स्थित होने की दशा मे रथ शब्द का प्रयोग होता है, इसी प्रकार जब स्कन्ध विद्यमान रहते है तब हम उसे सत् कहते है।' "[1]

आत्मा के प्रश्न पर बुद्ध के मौन साध जाने के कारण नागसेन ने निषेधात्मक अनुमान का परिणाम निकाला कि आत्मा नही है। 'आत्म' शब्द को तो एकदम ही छोड दिया गया है और केवल आत्माओ की अवस्थाओ के विषय मे ही कहा गया है। आत्मा विचारों की धारा का नाम है। आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे एक सामान्य रूप रहता है और हम इसी अमूर्त भाव को जो सब अवस्थाओ मे सामान्य व्यापक तत्त्व है, आत्मा कह देते हैं। यदि यह तर्क किया जाए कि आत्मा की चेतना नामक कोई एक पदार्थ है अथवा आत्मा का आन्तरिक प्रत्यक्ष होता है तो बौद्धो का उत्तर यह है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह असम्भव है। जैसेकि हम जब रथ आदि पदार्थो का प्रतिपादन करते है तब हम गुणों की पृष्ठभूमि मे निहित एक वस्तु की कल्पना कर लेते है। इसी प्रकार हम अनुचित रूप से मानसिक अवस्थाओ की पृष्ठभूमि मे निहित एक आत्मा की कल्पना कर लेते हैं। जब हम आत्मा के विचार का विश्लेषण करते हैं तो तत्त्व यह निकलता है कि कुछ गुण एकसाथ उपस्थित रहते हैं। चूकि शरीर गुणो के एक क्रम का नाम है इसी प्रकार आत्मा भी उन सब अवस्थाओ के एकत्र पुज का नाम है जिनके कारण हमारा मानसिक अस्तित्व है।[2] गुणो के बिना आत्मा की सत्ता नही, जैसे दोनो ओर के किनारो के बिना नदी का अस्तित्व नही है केवल पानी और रेत ही रहेगा, और पहियो, डण्डो, धुरे एव पूरे ढाचे के बिना रथ भी न रहेगा।[3]

विचारो एव पदार्थो के बीच के भेद को नागसेन स्वीकार करता है। वह स्वीकार करता है कि हरएक व्यक्ति मे नाम और रूप, मन और शरीर है। जैसे शरीर स्थायी पदार्थ नही है ऐसे ही मन भी स्थायी पदार्थ नही है। विचार एव अवस्थाए तथा परिवर्तन आते-जाते रहते हैं, हमे कुछ समय के लिए आकृष्ट करते हैं, हमारा ध्यान लगाए रहते हैं और उसके पश्चात् विलुप्त हो जाते हैं। हम अनुमान करते है कि कोई स्थायी आत्मा है जो हमारी सब अवस्थाओ को बाधकर रखती है और उन सबको सुरक्षित रखती

१. मिलिन्द, २. १, १।

२. बर्कले के अनुसार, "विचारों की विद्यमानता ही आत्मा को बनाती है", यद्यपि उसके परवर्ती मत का यह भाव नहीं था। ('बर्क्स', खण्ड ४, पृष्ठ ४३४।)

३. बोधिसत्त्व ने एक तीर्थयात्री से पूछा: "क्या तुम जगल की सुगन्ध से सुगधित गगाजल पीओगे?" तीर्थयात्री ने इन शब्दों में उत्तर दिया, "गङ्गा क्या है? क्या रेत का नाम गङ्गा है? क्या जल का नाम गङ्गा है? क्या नीचे के किनारे का नाम गङ्गा है? क्या अगले किनारे का नाम गङ्गा है?" बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया, "यदि तुम पानी, रेत, इधर के और उधर के दोनों किनारों को निकाल दो तो फिर तुम्हें गङ्गा कहा मिलेगी?" (जातक कथाए, संख्या २४४।)

है किन्तु यह धारणा वास्तविक अनुभव के आधार पर युक्तियुक्त नहीं जचती। ह्यूम की ही पद्धति से वह भी तर्क करता है कि हम अपने तर्क के अनुभव में कहीं भी आत्मा के विचार के अनुकूल कुछ नहीं पाते। हम किसी वस्तु को सरल संयोगरहित एवं निरन्तर नहीं पाते। कोई भी विचार जिसका तदनुरूप प्रभाव नहीं है, अवास्तविक है। वस्तुएं वही हैं जैसा कि उनका ज्ञान होता है। अपनी ओर से जब मैं अत्यन्त घनिष्ठ रूप में उसके अन्दर प्रवेश करता हूं जिसे मैं 'मैं' कहता हूं, मैं किसी न किसी बोध (अनुभव) पर—गर्मी अथवा शीत के, प्रकाश अथवा छाया के, प्रेम अथवा घृणा के, दुःख अथवा सुख के बोध पर जाकर अटक जाता हूं। मैं किसी समय भी अपने आपको बिना किसी बोध के नहीं पकड़ सकता। और न ही किसी वस्तु का बोध के अतिरिक्त निरीक्षण कर सकता हूं। जब मेरे बोध किसी समय मुझसे दूर कर दिए जाते हैं, जैसे कि प्रगाढ़ निद्रा में, तब तक मैं अपने विषय में अनभिज्ञ रहता हूं और वस्तुतः कहा जा सकता है कि मैं नहीं हूं। और यदि मेरे बोध मृत्यु द्वारा दूर कर दिया जाए और उस समय न मैं सोच सकूं, न अनुभव कर सकूं, न देख सकूं, न प्रेम कर सकूं, न किसीसे घृणा कर सकूं तो इस शरीर के विलयन होने के पश्चात मुझे पूर्णरूप से शून्य हो जाना चाहिए और न मैं उस समय इसी विषय का विचार कर सकता हूं कि मुझे पूर्ण अभाव के लिए और किसकी आवश्यकता हो सकती है। यदि कोई व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक और पक्षपातविहीन होकर यह समझता है कि उसकी अपने आपके विषय में बिलकुल भिन्न प्रकार की धारणा है तो मैं मानता हूं कि मैं ऐसे व्यक्ति के साथ अधिक तर्क नहीं कर सकता। अधिक से अधिक जो मैं उसे अनुज्ञा दे सकता हूं वह यह है कि वह भी मेरी ही भांति ठीक विचार रखता होगा और इस विशेष विषय में हमारा दोनों का परस्पर मतभेद है। सम्भव है वह किसी साधारण तत्त्व का अनुभव करता हो और उस ही उसने अपने आपको मान लिया हो, यद्यपि मुझे निश्चय है कि मेरे अन्दर ऐसा कोई तत्त्व नहीं है। किन्तु इस प्रकार के अध्यात्मशास्त्रियों को छोड़कर मैं अन्य सब मनुष्यों के विषय में तो साहसपूर्वक कह सकता हूं कि वे भिन्न भिन्न बोधों के समष्टीभूत पुंज के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं जो अचिन्त्य वेग के साथ एक दूसरे के पश्चात क्रमबद्ध रूप में आते रहते हैं और एक निरन्तर प्रवाह एवं गति में हैं। अपने अनुभवों में परिवर्तन किए बिना हमारे और उनके दृष्टिकोण में भेद अवश्य रहेगा। हमारा विचार हमारी दृष्टि की अपेक्षा और भी अधिक परिवर्तनशील है और हमारी अन्य सब इन्द्रियां एवं मानसिक शक्तियां जैसे संकल्प, इच्छा आदि इस परिवर्तन में भाग लेते हैं, और न ही आत्मा की कोई एक शक्ति ऐसी है जो सम्भवतः एक क्षण के लिए भी अपरिवर्तित रहती हो।"[1] और कुछ ही आगे चलकर ह्यूम लिखता है, "हम जिसे मन कहते हैं वह भिन्न भिन्न प्रत्यक्ष अनुभवों के समूह अथवा पुंज हैं जो कुछ सम्बन्धों के द्वारा परस्पर संयुक्त हैं और यद्यपि अयथार्थरूप में ही क्यों न हो, जिनके विषय में यह कल्पना की जाती है कि वे एक प्रकार की अकृत्रिमता एवं सारूप्य के गुणों से युक्त हैं।" ह्यूम के अनुसार नागसेन भी अपनी बुद्धि के अनुसार सब प्रकार की परिभाषाओं को अर्थहीन समझता है और इसीसे सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व से भी निषेध करने के लिए बाधित है, जिसकी

1. ह्यूम : वर्क्स, खण्ड १, पृष्ठ ३ और आगे।

सत्ता का आशय उसकी दृष्टि में असम्भव है। जिसका हमें अनुभव नहीं होता वह यथार्थ नहीं है। यह हम जानते हैं कि संसार में दुःख है किन्तु यह नहीं कि कोई विषयी भी है, जिसे दुःख होता है।[1] नागसेन ठीक कहता है कि यह आत्मा नामक पदार्थ को नहीं जानता, जिसके अन्तर्गत गुण रहते हैं। जैसाकि डेकार्ट मानता है, यह तर्क का अज्ञात समर्थन है। हमारे सामने इसका कोई विचार और नहीं है। हमें इसकी कोई व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है कि उन गुणों के साथ इसका क्या सम्बन्ध है जिन्हें धारण करते हुए इसकी कल्पना की जाती है। आधुनिक मनोविज्ञान ने मनोविज्ञान की परिभाषा की, जिसे पहले-पहल लांजे ने बिना आत्मा के प्रचलित भाषा के प्रयोग में आनेवाला बनाया। और उनका मत है कि संवेदनाओं, मानसिक आवेगों एवं भावनों के एकत्रीभूत पुंज को ही आत्मा का नाम दे दिया गया है। विलियम जेम्स के विचार में आत्मा शब्द केवल एक आलंकारिक भाषा है और इस प्रकार की यथार्थ वस्तु कोई नहीं है। "आत्मा शब्द किसीकी व्याख्या नहीं कर सकता और न कोई निश्चित भाव ही दे सकता है, उसके पीछे आनेवाले विचार ही केवल बोधगम्य पदार्थ हैं।" कुछ यथार्थवादी जोकि दार्शनिक समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक ढंग से करते हैं और प्राचीन बौद्धकाल के हैं, आत्मा की कल्पना को नहीं स्वीकार करते।[2] एक ऐसे आभ्यन्तर तत्त्व का विचार जो बाह्य प्रतिक्रियाओं से भिन्न है किन्तु उनके साथ रहस्यपूर्ण भाव से सम्बद्ध है, केवल मिथ्या विश्वासमात्र है। समस्त अनुभवातिरिक्त व्याख्यात्मक सारतत्त्वों को पृथक् कर दिया गया है। ऐसी अवस्था में आत्मा केवल एक जातिगत विचार है जिससे तात्पर्य मानसिक अवस्थाओं का संकलन है। यह चेतनामय विचारतत्त्वों का कुल जोड़ है।[3] नागसेन पूर्णरूप से तार्किक है। यदि प्लेटो के सदृश यह न मानें कि प्रत्येक व्यक्तिगत पदार्थ (जैसे रथ) के पीछे एक प्रकार का व्यापक भाव छिपा रहता है, हमें यह सोचने की आवश्यकता नहीं कि पदार्थों के मिश्रण से निर्मित मनुष्य की पृष्ठभूमि में भी कोई आत्मा है।

यदि हमारी अनुभूति को विश्व का मापक समझा जाए तो अनुभव प्रत्येक क्षण की संवेदना बन जाएगा। आत्मा भी क्षणिक प्रत्यक्ष अनुभव के अतिरिक्त और कुछ न

१. एम० टेन का कहना है कि "अहं के अन्दर अपनी घटनाओं की शृङ्खलाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" वाल्तेयर के अनुसार, "आत्मा हमारे ज्ञान एवं अनुभव में आनेवाले कार्यों के अज्ञात तत्त्व के लिए एक संदिग्ध एवं अनिश्चित परिभाषा है जिसे साधारणतः जीवन का आदिकारण अथवा स्वयंकारण ही मान लिया गया है।"

२. पेरी 'फिलासाफिकल टेण्डेंसीज', पृष्ठ २७१ और आगे।

३. विसुद्धिमग्ग में कहा गया है : "ठीक जिस प्रकार रथ शब्द केवल धुरा, पहिये एवं उसके अन्यान्य अवयवों के लिए व्यवहार में आता है और जिन्हें एक-दूसरे के साथ मिलाकर विशेष सम्बन्ध में रखा गया है, किन्तु जब हम उन अवयवों का एक-एक करके निरीक्षण करते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि यथार्थ अर्थों में कोई भी उनमें रथ नहीं है, जिस प्रकार मकान, मुट्ठी, बांसुरी, सेना, नगर, वृक्ष आदि विशेष-विशेष वस्तुओं के समूह को, जिन्हें विशेष ढंग से रखा गया है, सूचित करने के लिए कहने के ढंग हैं, ठीक उसी प्रकार जीवित प्राणी एवं 'अहं' केवल शारीरिक एवं अशरीरी अवयवों के सम्मिश्रण को सूचित करने के लिए प्रयुक्त होनेवाले शब्द हैं।"

रहेगी। आत्मा का जीवन या जिसे हम प्रचलित भाषा में मन कहते हैं केवल तभी तक रहता है जब तक कि अविभाज्य और क्षणिक चेतना रहती है। विलियम जेम्स के अनुसार वर्तमान क्षण की स्मृति ही यथार्थ विषयी या प्रमाता है। 'चेतना को एक नदी या धारा के समान समझ सकते हैं जिसमें वस्तुओं का एकमात्र ज्ञान होता है व उस धारा की पृथक् पृथक् लहरें स्वयं ही जानी जाती हैं।' यथार्थ विषयी स्थिर रहनेवाला सत्ता नहीं है प्रत्येक विषयी केवल क्षण भर रहता है। इसका स्थान तुरन्त दूसरा ले लेता है जो फिर उसका काम करता है अर्थात् जो एकत्व जोड़ रखने में माध्यम का काम करता है। विषयी कुछ समय के लिए अपने पूर्ववर्ती को जान लेता है और ग्रहण कर लेता है और इस क्रिया के द्वारा अपने पूर्ववर्ती के ग्रहण किए ज्ञान को अपना लेता है।[१] आत्मा तार्किक दृष्टि से चेतना की क्षणिक अवस्था का रूप धारण कर लेती है। प्रत्येक चेतनापूर्ण व्यापार जिसे मन करते हैं किसी नित्य मनरूपी उपादान या मूलतत्त्व का परिणमन (रूपान्तर) अथवा किसी आत्मा का आभास नहीं है किन्तु एक बहुत उच्चकोटि का सम्मिश्रण है जो सदा परिवर्तित होकर नये नये समुच्चयों को जन्म देता है। इस मत के आधार पर अनुभव में पाए जानेवाले स्थायित्व एवं एकत्व की व्याख्या नहीं कर सकते। बर्ट्रेण्ड रसेल का कहना है कि दो अनुभवों के मध्य में ऐसा एक अनुभवसिद्ध सम्बन्ध है जो उसी व्यक्ति के अनुभवों को बनाता है और इसलिए हम व्यक्ति को भी केवल उन अनुभवों की शृंखला ही समझ ले सकते हैं जिनके बीच में यह सम्बन्ध है और इस प्रकार उसके आध्यात्मिक अस्तित्व का सर्वथा निराकरण कर सकते हैं। निरन्तरता तो है किन्तु एकरूपता नहीं है। दो पूर्वापर क्षणों की चेतना कोई वास्तविक एकरूपता नहीं रखती। पूर्वक्षण में जो अनुभव हुआ वह तो एकदम समाप्त होकर बीत गया और हमारे विचार करते ही करते हमारे अनुभव खिसकते जाते हैं। प्रत्येक अवस्था अपने आपमें एक पृथक् व्यष्टि है जो क्षणमात्र के लिए प्रकट होती है और तुरन्त ही विलुप्त हो जाती है एवं अपना स्थान दूसरी अवस्था के लिए खाली कर देती है और दूसरी अवस्था की भी यही हालत होती है। प्रभावों के राशीभूत होने के कारण प्रभावों में निरन्तरता उत्पन्न होती है जैसे कि असंख्य छोटे छोटे बिन्दुओं के समूह से एक परिधि की निरन्तरता लक्षित होती है। रसेल का मत है कि हममें से प्रत्येक एक मनुष्य नहीं अपितु मनुष्यों की अनन्त शृंखला है जिनमें से प्रत्येक केवल क्षणमात्र के लिए रहता है। चेतना की क्रमिक अवस्थाओं में हम भिन्न भिन्न प्राणी हैं यहां तक कि उनके अन्दर की निरन्तरता को भी लक्ष्य करना कठिन है। एक अवस्था की उपस्थिति में दूसरी अटल रूप में नष्ट होकर बीत गई। यहां तक कि भूतकाल भी वर्तमानकाल को कैसे नियन्त्रित कर सकता है?[१] मानसिक अवस्थाओं की

१ 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकोलोजी'।

श्री औंग ने अनिरुद्ध के 'अभिधम्मत्थसंगह' नामक ग्रन्थ के अनुवाद के प्रारम्भ में भूमिका के रूप में जो लिखा है उसमें अनिरुद्ध के द्वारा की गई स्मृति के व्यापार की व्याख्या का सारांश इन शब्दों में दिया है : प्रत्येक मानसिक अवस्था सम्बन्ध (प्रत्यय) की कम से कम चार विभिन्न प्रणालियों में आगे आनेवाली अवस्था के साथ सम्बद्ध रहती है अर्थात्— अनन्तर (सन्निकटता) समनन्तर (सामीप्य) नास्ति (अभाव) और अविगत (असमञ्जस)। इन चार गुना सम्बन्ध का तात्पर्य यह

निरन्तरता के ऊपर बल देना और उसके साथ क्षणभंगुरता का भी प्रतिपादन करना—ये दोनों पक्ष परस्पर असंगत प्रतीत होते हैं। कर्मसिद्धान्त मे निहित भूतकाल की वर्तमान में स्थिति की भी व्याख्या नही की जा सकती।

रहस्यपूर्ण आत्मा समाप्त होने का नाम नही लेती। क्योंकि बिना इसे स्वीकार किए प्रत्यक्ष ज्ञान एव स्मरण दोनो ही असम्भव हो जाएगे। इसके अतिरिक्त हम प्रत्यक्ष अनुभव की भी सही-सही परिभाषा नही कर सकते और न यही जान सकते हैं कि चेतना मे निरन्तरता है। यदि मन केवल पूर्वापर अनुभवो का ही नाम है तो प्रत्यक्ष ज्ञान करनेवाला पृथक् कोई न रहेगा। एक अनुभव स्वय दूसरे अनुभव का ज्ञान नही कर सकता। आधुनिक विचारधारा को काण्ट की सबसे बडी देन यह सिद्धान्त है कि आनुभविक चेतना के भिन्न-भिन्न प्रकारो को एक केन्द्रीय आत्मचेतना से सम्बद्ध होना चाहिए। यही सिद्धान्त समस्त ज्ञान का आधार है चाहे वह हमारे अपने सम्बन्ध मे हो अथवा अन्य व्यष्टियो का अथवा एक नियम मे बद्ध ससारमात्र का ही ज्ञान क्यो न हो। ज्ञान स्वय उपलक्षित करता है कि निरन्तर भावनाओ का एक ऐसे विषयी के द्वारा निर्णय किया जाना आवश्यक है जो स्वय उस पूर्वानुपरक्रम का अग न हो। आत्मा के द्वारा यदि सश्लेषण-कार्य सम्पादित न हो तो अनुभव केवल एक असम्बद्ध काव्य ही रहेगा, वह कभी ज्ञान का रूप ग्रहण नही कर सकता। ऐसा अनुभव जिसके अन्दर एक के बाद दूसरी भावना आती रहे, पदार्थ का अनुभव कभी नही हो सकता। आदर्शवाद के इस केन्द्रीभूत तथ्य का प्रतिपादन असदिग्ध एव स्पष्ट शब्दो मे काण्ट से भी शताब्दियो पूर्व महान भारतीय दार्शनिक शकर ने किया था। शकर ने अपने वेदान्तसूत्रो के भाष्य (२ २, १८–३२) मे क्षणिकवाद के सिद्धान्त की समीक्षा की है। उसका तर्क है कि हमारी चेतना क्षणिक कभी नही हो सकती क्योकि इसका एक नित्यस्थायी व्यक्ति (ब्रह्म) के साथ सम्बन्ध है। यदि एक व्यक्ति विद्यमान नही रहता तो अभिज्ञा (पहचान) एव घटनाओ का स्मरण समझ मे नही आ सकता। यदि यह कहा जाए कि इन आनुभविक घटनाओ के लिए किसी स्थायी व्यक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता नही क्योकि जो कुछ एक क्षण मे होता है उसकी दूसरे क्षण मे याद हो सकती है जैसेकि हमने जो कुछ कल किया था आज भी उसका स्मरण होता है, इसपर शकर का कहना है कि उस अवस्था मे हमारे निर्णय हमेशा ही

समझा जाता है कि प्रत्येक अतीत अवस्था आगे आनेवाली अवस्था का उपकार (सेवा) करती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक अवस्था समाप्ति पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति (पच्चयसत्ति) को आगे आनेवाली अवस्था के लिए छोड जाती है। इस प्रकार हरएक पीछे आनेवाली अवस्था अपने से पूर्ववर्तिनी अवस्था की समस्त क्षमता को, अपितु उससे भी अधिक को, धारण किए हुए है। इस प्रकार की व्यवस्था में मनस्तत्त्व अथवा प्रत्यभिज्ञा (पहचान) एवं साक्षात्कार (सञ्ज्ञा) का तत्त्व प्रत्येक मानसिक अवस्था में स्मृति के व्यापार में भाग लेता है, जिसमें अतीत की सामग्री भी सम्मिलित रहती है। यही अनुकूल परिस्थिति के रहते हुए प्रत्यभिज्ञा कहलाती है और इसका स्वरूप मौलिक पदार्थ की प्रतिकृति अथवा मूलभूत विचार का पुन:-प्रवर्तन है और एक विशेष अन्तर्दृष्टि अथवा चिन्तन के द्वारा जाने गए विशेष लक्षण भी इनके साथ ही रहते हैं। और इस प्रकार विषयी (ज्ञाता जीवात्मा) उस प्रतिकृति को पूर्वाकृति के रूप में और उस विचार को मूल पदार्थ के प्रतिरूप के रूप में, जिसका ज्ञान अन्तर्दृष्टि अथवा चिन्तन के द्वारा हुआ है, मानने लगता है।" पृष्ठ १४।

रहेंगे।' मुझे स्मरण है कि किसीने कल कुछ किया था"—केवल ऐसा ही कथन किया जा सकता है किन्तु घटनाओं को विनिष्ट रूप नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार 'मैं स्मरण करता हूं कि मैंने एक विशेष कार्य कल किया था' यह कहा जा सकता है कि सादृश्य की चेतना भ्रान्तियुक्त है क्योंकि कल के एक क्षणिक अनुभव में और उसी प्रकार के आज के क्षणिक अनुभव में एक ऐसी समानता है जिसे हम भूल से आनुभविक चेतना के समान रूप समझ लेते हैं। किन्तु इस प्रकार का तर्क टिक नहीं सकता क्योंकि यदि दो वस्तुएं हमारे सामने न हों तो हम सादृश्य का निर्णय नहीं कर सकते। और यदि क्षणिकता का सिद्धान्त सत्य मान लिया जाए तो हम दो वस्तुओं की सत्ता नहीं मान सकते। इसलिए परिणाम यह निकला कि हम अनुभव करनेवाली चेतनशक्ति का स्थायित्व अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए क्योंकि अन्य कोई ऐसा मार्ग नहीं है जिसके द्वारा पूर्व की प्रतिज्ञा और वर्तमान का अनुभव दोनों एकसाथ रह सकें और दोनों की परस्पर तुलना की जा सके एवं सादृश्यविषयक निर्णय सम्भव हो सके। यदि वर्तमान में भूतकाल की प्रतिज्ञा करता है तो प्रतिज्ञा करनेवाले कर्ता का स्थायित्व भी आवश्यक है। यदि इस प्रकार की प्रतिज्ञा को भी सादृश्य के ऊपर आधारित कहा जाए तो भी सादृश्य की पहचान को स्वयं भी पूर्व के सादृश्य की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त हम यह भी नहीं मान सकते कि सादृश्य विषयक निर्णय ही अन्य सब विषय की व्याख्या कर देगा। जब मैं कहता हूं कि मैं जिस मनुष्य से कल मिला था उसे पहचानता हूं तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि मेरी पहचान कल की पहचान के सदृश है अपितु इसका अर्थ यह है कि दोनों पहचान के विषय या लक्षित पदार्थ एक सदृश हैं। केवल सादृश्य ही प्रतिज्ञा के अनुभव की व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त हम अपने ऊपर ही सन्देह करने की कोई सम्भावना नहीं। यदि मैं इस विषय में भी सन्देह प्रकट करूं कि क्या जो मैं आज देखता हूं यह वही है जिसे मैंने कल देखा था तो भी इस विषय में तो तब भी सन्देह नहीं प्रकट करता कि मैं जो आज किसी पदार्थ को देख रहा हूं वही हूं या नहीं जिसने कल उसे देखा था। इस प्रकार से शंकर क्षणिकता के मत के विरोध में तर्क करता है जिसे द्रष्टा विषयी के विषय में भी लागू किया गया है और इसका दृढ़ता से कहना है कि बिना किसी प्रमाता या विषयी के किसी प्रकार की भी घटनाओं का सारतत्त्व ज्ञान अथवा प्रतिज्ञा सम्भव नहीं हो सकती।[1]

नागसेन ने ज्ञाता का प्रश्न कभी नहीं उठाया और इसीलिए उक्त प्रश्नों को वह टाल सका। अन्यथा वह अवश्य इस विषय को अनुभव कर सकता था कि प्रमाता और प्रमेय अर्थात् ज्ञाता एवं ज्ञेय दोनों परिभाषाएं जिनके मध्य में ज्ञान का सम्बन्ध स्थित है उस एक ही वस्तु के लिए उपयोग में नहीं आ सकतीं।

१ वेदान्तसूत्रों पर भाष्य २।२।२५।

१२

मनोविज्ञान

आत्मा की अध्यात्मशास्त्र-सम्बन्धी यथार्थता के विषय मे कोई भी मत क्यो न हो, बौद्ध लोग सामूहिक रूप से मनुष्य के जीवन की व्याख्या, विना किसी एक स्थायी आत्मा को माने, करने का प्रयत्न करते है, क्योकि यदि इस व्याख्या का कोई (आध्यात्मिक) अर्थ हो भी, तथापि वह इतना गूढ अथवा रहस्यमय होगा कि वह हमारे लिए किसी प्रयोजन का नही है। अब हमे बौद्धो द्वारा किए गए आत्मा के विश्लेपण का निरीक्षण करना है। "जब कोई व्यक्ति 'मै' कहता है तो वह जो करता है वह यह है कि या तो वह सब स्कन्धो के विषय मे सामूहिक रूप से कहता है अथवा किसी एक स्कन्ध के विषय मे कहता है एव स्वय अपने को भ्रम मे डालता है या वहकाता है कि वह कहनेवाला मै ही हू।"[1] ऐसा सत् जो सत्ता के रूप मे आता है एक ऐसा सम्मिश्रण है जो स्कन्धो अथवा पुजो से मिलकर बना है और यह स्कन्ध मनुष्य-जाति के सम्बन्ध मे पाच है तथा दूसरो मे और भी कम है। मन के अन्दर एक विशेप पद्धति का एकात्म्य है।[2] यह मानसिक शक्तियो का सम्मिश्रण है।

व्यक्तित्व के अवयवो का भेद दो मुख्य विभागो अर्थात् नाम और रूप मे किया गया है। उपनिषदो मे भी आनुभविक आत्मा की रचना ऐसी ही प्रतिपादित की गई है। इन दो भेदो अर्थात् नाम व रूप के द्वारा ही ब्रह्मरूपी निर्विकल्प सत् पदार्थजगत् मे छाया हुआ है। नाम मानसिक एव रूप भौतिक घटको के अनुकूल होता है।[3] शरीर और मन को परस्पर एक-दूसरे के ऊपर निर्भर माना गया है। "जो कुछ ठोस है वह रूप की आकृति है; और जो सूक्ष्म है वह 'नाम' है। दोनो एक-दूसरे से सम्बद्ध है और इसीलिए वे दोनो मिलकर जगत् की सृष्टि करते हैं। जिस प्रकार मुर्गी के अण्डे मे मुर्गी का छिलका अण्डे के द्रव्य से पृथक् नही रहता और वे दोनो साथ ही रहते हे क्योकि दोनो एक-दूसरे के ऊपर निर्भर हैं, ठीक इसी प्रकार यदि नाम न होता तो रूप (आकृति) भी न होता। उस अभि-व्यक्ति मे जो कुछ नाम से तात्पर्य है उसके साथ जो रूप से तात्पर्य है घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध है। ये दोनो एकसाथ ही उत्पन्न होते है। और यह अनन्त समय से उनका स्वभाव है।"[4] अन्य भारतीय मनोवैज्ञानिको की भाति बौद्ध भी मन अथवा मानस को भौतिक अथवा ऐन्द्रिय ही मानते है।

१. सयुत्तनिकाय, ३ · १३० ।

२ डाक्टर मैक्डूगल ने लिखा है · "हम मन की परिभाषा बहुत कुछ इस प्रकार कर सकते है कि मन, मानसिक अथवा कार्यसाधक शक्तियों की एक सुव्यवस्थित सहति का नाम है।" (साइकोलॉजी)।

३ इसे रूप इसलिए कहा जाता है कि यह प्रकट करके दिखाता है— रूपयति (सयुत्तनिकाय, ३ . ८६)। जो अपने-आपको इन्द्रियों के लिए प्रकाशित कर देता है उसे रूप कहते है। इसका प्रयोग प्रकृति और प्राकृतिक गुणों, प्रत्यक्ष पदार्थों और जिन्हें श्रीमती रीज डेविड्स 'इन्द्रियगोचर प्रकृति के क्षेत्र' कहती है, उनके लिए भी होता है। देखिए उनके सम्पादकीय नोट को जो बुद्धघोष की अत्थसालिनी (अंग्रेजी अनुवाद) में है। और भी देखिए वारेन : 'बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन्स', पृष्ठ १८४ और आगे, जहां इसे चार तत्त्वों, शरीर, इन्द्रियों और मनोवेगों में भी सम्मिलित किया गया है।

४. मिलिन्द, २, ८।

बाह्य एव ग्राम्यन्तर के बीच ग्रथवा विषयी एव विषय के बीच भेद के सम्बन्ध म यह उद्धरण उपयुक्त होगा व कौन सी ग्रवस्थाए हैं जो ग्रज्भत्त (ग्रर्थात वयक्तिक विषयीनिष्ठ एव ग्राभ्यन्तर) हैं ?—जो इस ग्रथवा ग्रमुक प्राणी से ग्रात्मा से व्यक्ति ग्रथवा स्वय ग्रपने से सम्बद्ध हैं ग्रौर वयक्तिक कही जाती हैं ऐसी कौन सी वे ग्रवस्थाए हैं जो बहिद्ध (ग्रवयक्तिक विषयनिष्ठ ग्रौर बाह्य) हैं ?—व ग्रवस्थाए जो इस ग्रथवा ग्रमुक प्राणी एव व्यक्तियो के लिए जो ग्रात्मा व्यक्ति ग्रथवा स्वय ग्रपने स सम्बद्ध एव व्यक्ति विशेष क लिए कही जा सकती हैं। य सब धम हैं ग्रथवा मानसिक प्रत्यन हैं एव, लाक के ग्रनुसार वे विचार हैं—प्रत्यक्ष तात्कालिक ज्ञान का विषय चाहे जो कुछ भी हो विचार हो ग्रथवा बोध हो। मनुष्य का व्यक्तित्व जिसम रूप ग्रौर नाम, शरीर एव मन सम्मिलित हैं, कहा जाता है कि मानसिक ग्रवस्थाग्रो का समुच्चय है। धमसगणी क पहले खण्ड मे उन मानसिक ग्रवस्थाग्रो ग्रथवा धर्मों के विषय मे, जो मन के स्वरूप ग्रथवा नाम को ग्रभिव्यक्त करते हैं ग्रर्थात ग्रान्तरिक इन्द्रिय की ग्रवस्थाग्रो के विषय म विचार किया गया है। दूसर खण्ड मे रूप ग्रथवा बाह्यजगत की ग्रभिव्यक्ति करनेवाली ग्रवस्थाए जो बाह्य इन्द्रिय की उपज हैं दी गई हैं। धम एक व्यापक परिभाषा है जिसके द्वारा बाह्य एव ग्राभ्यन्तर इन्द्रियो के कुल पदार्थों का ग्रहण होता है। सासारिक घटनाग्रो का दो श्रणियो म विभाग किया गया है (१) रूपिणो—वे जिनका रूप है ग्रर्थात चार तत्त्व ग्रौर उनकी धातुए (२) ग्ररूपिणो—जिनकी कोइ ग्राकृति (रूप) प्रकार ग्रथवा चेतना क पहलू नहा है यथा मनोवगो के स्कन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान सश्लेषण एव बुद्धि। रूप से तात्पय है वह विस्तत विश्व जो दश्यमान है एव मानसिक जगत से सवथा भिन्न है वह बाह्यजगत जो ग्रदृश्य मन—ग्ररूपिणो स सवथा भिन्न है। शन शन इसस ग्रभिप्राय उन सब लोगो का लिया जाने लगा जिनके ग्रन्दर हमारा पुनजन्म होना सम्भव है क्योकि वे भी दष्टि का विषय बन सकते हैं। हमारे लिए यह लक्षित करना ही उचित होगा कि प्राचीन बौद्ध विचारको ने ग्रधिक गहराई म जाकर खोज करने की ग्रोर तनिक भी ध्यान नही दिया क्योकि उनकी प्रधान रुचि का विषय नीतिशास्त्र था। वे बाह्य जगत के स्वरूप की व्याख्या ग्रपने ही जीवन के भौतिक ग्राधार पर करते थे।

मानसिक नाम मे चित्त हृदय ग्रथवा भावावग विज्ञान ग्रथवा चेतना एव मानस ग्राते हैं। नामरूप ग्रर्थात पाच स्कन्धो क भी विभाग हैं (१) रूप प्राकृतिक गुण (२) वेदना (३) सज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञान (४) सस्कार ग्रथवा मानसिक वत्तिया एव इच्छा (५) विज्ञान ग्रथवा तक। इन परिभाषाग्रो का प्रयोग किसी विशेष निश्चित ग्रथबोधन के साथ नही किया गया है। इनके द्वारा ग्रात्मा के मिश्रित वर्गीकरण का निर्माण होता है। चेतना ग्रथवा इच्छा के ग्रनेक सम निमित्त कारण हैं। सस्कार के ग्रन्तगत विविध प्रकार की ग्रनेक प्रवत्तियां बौद्धिक प्रम सम्बन्धी एव एन्द्रिक ग्राती हैं ग्रौर उसका विशेष काय है सबका समन्वय या सश्लेषण करना। विज्ञान से तात्पय उस प्रज्ञा (ज्ञान एव बुद्धि) से है जो ग्रमूत भावात्मक मूल तत्त्वो को भी ग्रहण करती है।[1] यह इन्द्रिय सम्बन्ध के द्वारा

[1] इसके छह उपविभाग हैं और इसके ग्रन्तगत उस सबकी चेतना ग्राती है जिनका सम्बन्ध चक्षु कान, नासिका जिह्वा एव त्वचा इन्द्रियां द्वारा एव छठी इन्द्रिय मन क द्वारा होता है एव ग्रच्छे बुरे

नहीं है जबकि भावनाएं, प्रत्यक्षानुभव एवं चित्तवृत्तियां नियन्त्रित हैं।

उक्त योजना जो आन्तरिक विश्लेषण की शक्ति को एक पर्याप्त मात्रा में विकसित प्रदर्शित करती है, मौलिक तत्त्वों में आधुनिक काल के मनोविज्ञान के साथ समता रखती है। उक्त योजना स्थूल रूप से शरीर एवं मन के परस्परभेद को चित के भौतिक (शारीरिक) एवं आत्मिक पक्षों के भी भेद को पृथक्-पृथक् निर्देश है। मनोवैज्ञानिक और भौतिक की इस मनुष्यरूपी सम्मिलित रचना में वह भाग पेक्षाकृत स्थायी है, शरीर है, अथवा जिसे रूपकाय कहेंगे, और अस्थायी भाग मन है। क पक्ष में प्रत्यक्ष ज्ञान, कल्पनात्मक भाव, मनोभाव अथवा अनुराग एवं इच्छा है। प्रथम तीन को संज्ञा, वेदना एवं विज्ञान नाम से भी कहा जा सकता है। वेदना भावनामय प्रतिक्रिया है।[1] यह मानसिक अनुभव है, अभिज्ञता एवं सुख है और इसके गुण हैं अर्थात् सुखकारी, दुःखद और तटस्थ या उदासीन, जो इन्द्रियगम्य पदार्थों के संनिकर्ष में आने में उत्पन्न होते हैं और स्वयं तण्हा (तृष्णा) अर्थात् उत्कट अभि- को उत्पन्न करते हैं। सामान्य सम्बन्धों, और सब प्रकार के इन्द्रियोत्पन्न अथवा मिक प्रत्ययों का ज्ञान संज्ञा है।[2] यहां हमें स्पष्ट प्रतीति होती है। अनुभवों की शृंखला 'चित्तसन्तान' कहते हैं, बिना किसी व्यवधान के निरन्तर क्रमिक अस्तित्वों में चलती ी है। चेतना का विषय इन्द्रियगम्य पदार्थ अथवा विचार-सम्बन्धी कुछ भी हो सकता

बुद्धघोष के अनुसार, चेतना पहले अपने पदार्थ के सम्पर्क में आती है, और उसके ात् प्रत्यक्ष ज्ञान, भावना एवं इच्छा आदि उदय होते हैं। किन्तु एकात्मरूप चेतना- या को भावना एवं प्रत्यक्षानुभव आदि के अनुकूल नाना प्रकार की आनुक्रमिक श्रेणियों बांट देना सम्भव नहीं है। "एक सम्पूर्ण चेतना के अन्दर यह नहीं कहा जा सकता कि ुक पहले आता है एवं अमुक उसके पश्चात् आता है।"[3] यह जान लेना रुचिकर होगा बुद्धघोष के अनुसार, वेदना अथवा भावना अपने-आपमें अत्यन्त पूर्ण अभिज्ञा एवं ार्थ का उपभोग है।[4]

वा न बुरे न अच्छे के बीच में भेद किया जाता है। इस समष्टि के साथ अपने उपविभागों को मिला- जो संख्या में कुल १९३ होते हैं, व्यक्ति के सभी तत्त्व प्राकृतिक, बौद्धिक एवं नैतिक आ जाते हैं। श्री रीज डेविड्स कृत 'बुद्धिज्म', पृष्ठ ९०—९३, अनिरुद्ध, 'कम्पेण्डियम आफ फिलासफी', पाली ट सीरीज', पृष्ठ १६, ८८।

१ मिलिन्द, २ ३, १०। बुद्धघोष की अत्थसालिनी भी देखें, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ५४।

२ मिलिन्द, २ ३, ११।

३ अत्थसालिनी, पृष्ठ १४३—१४४।

४ वेदना में "(१) विशेष लक्षण के रूप में अनुभव करना, (२) कार्यरूप में सुखानुभव,) मानसिक गुणों की प्रवृत्ति अभिव्यक्तिरूप में और (४) निवृत्ति (शान्तता) तात्कालिक हेतु के रूप में ते हैं। (१) जीवन की चारों श्रेणियों में वेदना नाम की कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें अनुभव का शेष लक्षण न रहता हो। (२) यदि यह कहा जाए कि पदार्थविषय सुखानुभव का कार्य केवल सुख- दायक वेदना में ही होता है तो हम उस सम्मति का निषेध करके कहेंगे कि चाहे सुखकारक वेदना हो, अथवा दुःखदायी किंवा उदासीन हो, विषय के अनुभव का कार्य सबमें रहता है। पदार्थ के रस के अनुभव के विषय में शेष सम्बद्ध अवस्थाएं उसका अनुभव केवल आंशिक रूप में करता है, सम्पर्क का कार्य

अब हम यहां प्राचीन बौद्धों के इन्द्रिय प्रत्यक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। एक नील रंग की प्रतिमा का दृष्टिविषयक ज्ञान तब उत्पन्न होता है जबकि नीला रंग जो उसमें विद्यमान है एवं चक्षु इन्द्रिय परस्पर मिलते हैं। कभी कभी हेतु कारण एवं प्रत्यय अथवा उपाधि के अन्दर भेद किया जाता है जबकि दृष्टिगत ज्ञान जो ग्राह्य एवं पदार्थ के कारण है—नीला रंग—यह कहा जाता है कि पूर्वज्ञान के कारण होता है इन्द्रियों के विषय पांच प्रकार के हैं दृष्टि, शब्द, गन्ध, स्वाद एवं स्पर्श। बुद्धघोष ने इन्हें दो विभागों में विभक्त किया है अर्थात असम्पत्तरूप अथवा वे विषय जिनके ग्रहण में शरीरेन्द्रियां पदार्थों के विषयगत उद्भव के निकट सम्पर्क में नहीं आतीं, जैसे—देखना और सुनना तथा सम्पत्तरूप वे विषय जो केवल स्पर्श के ही परिवर्तित रूप हैं जैसे गन्ध एवं स्वाद आदि। डमोक्रिटस ने कुल इन्द्रियगम्य ज्ञान को स्पर्श अथवा स्पर्श का ही विकसित रूप माना है। पांच प्रकार के विषयों को पचक्कमण कहा गया है। जब इन्द्रिय एवं पदार्थ (विषय) परस्पर सम्पर्क में आते हैं तो संवेदना उत्पन्न होती है। वस्तुतः चेतना का प्रवाह केवल इन्द्रिय के पदार्थ के साथ हुए आकस्मिक सम्पर्क के कारण निष्पन्न मानसिक अवस्थाओं का परिणाम मात्र है। फस्सो अथवा सम्पर्क उसी प्रकार होता है जैसे कि दो मेढ़े परस्पर अपने सींगों को टकराते हैं। आंख एक ओर है और पदार्थ (विषय) दूसरी ओर है और सम्पर्क दोनों का मेल है।[1] धम्मसंगणी का मत है कि बाह्य घटनाएं आभ्यन्तर अथवा वैयक्तिक रूप के इन्द्रिय से टकराने अथवा परिवर्तन से उत्पन्न होती हैं। अन्य भी कई ऐसे मत हैं जिनके अनुसार आंख एवं पदार्थ एक दूसरे के लिए प्रतिबन्धस्वरूप हैं—अर्थात दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। आंख के अभाव में दृश्यमान जगत का भी अस्तित्व नहीं है और बिना जगत के देखनेवाली आंख का भी अस्तित्व नहीं है।

केवल स्पर्श का है प्रत्यक्ष का कार्य केवल ध्यान देने का इच्छाशक्ति का कार्य केवल समन्वय करने का तथा चेतना का कार्य केवल बोध करने का है। किन्तु वेदना ही अकेली अपने नियन्त्रण कौशल (दक्षता) तथा उत्कर्ष के कारण पदार्थ के रस का अनुभव करती है। इसीलिए यह कहा गया है कि अनुभव इसका कार्य है। (३) वेदना की केवल उपस्थिति का ही उल्लेख किया जाता है उसकी अभिव्यक्ति को चैतसिक गुण का रस ग्रहण करने की सत्ता द्वारा। (४) और चूंकि प्रशान्त अवस्था में रह कर ही शरीर आनन्द अथवा सुख का अनुभव करता है, वेदना का तात्कालिक हेतु निर्वृत्ति (शान्ति) है। (अत्थसालिनी पृष्ठ १४५–१४६।)

१ मिलिन्द २ ३ ६ देखिए मज्झिम भी १ ३।

२ श्रीमती रीज़ डेविड्स धम्मसंगणी में दिए गए इन्द्रिय प्रत्यक्ष का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से देती है

(अ) इन्द्रियां

प्रथमत —एक सामान्य कथन प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में क्रम से (क) प्रकृति (अर्थात चार तत्त्वों) के विषय में (ख) वैयक्तिक संघटन के विषय में और इसकी अदृश्यता एवं इसके संघर्ष की शक्ति के विषय में।

द्वितीयतः —प्रत्येक अवस्था में इन्द्रिय प्रक्रिया का विश्लेषण निम्न प्रकार से

(क) एक वैयक्तिक साधन अथवा ऐसा उपकरण जो ध्यान की प्रतिक्रिया के योग्य हो स्पष्ट नहीं।

(ख) एक टकरानेवाली आकृति अथवा ऐसी आकृति जो एक विशेष प्रकार के संघर्ष को उत्पन्न करनेवाली हो।

विचार-विषयक पदार्थ भी पाच श्रेणी के है : (१) 'चित्त' अथवा मन ; (२) 'चेतसिक' अथवा मानसिक गुण (धर्म), (३) 'पसादरूप', शरीर के सवेदनशील गुण और 'सुकुमरूप' शरीर के सूक्ष्म गुण, (४) 'पञ्ञत्ति', नाम, विचार, भाव एव प्रत्यय ; और (५) 'निर्वाण'। यह है धम्मारम्मण, जहा धम्म से तात्पर्य मानसिक साक्षात्कार से है। इन्द्रियानुभव किस प्रकार अर्थ एव विचार सम्बन्धी ज्ञान के रूप मे परिणत हो जाता है इसका कोई निश्चित क्रम नही बताया गया। यह कहा जाता है कि मन जिसे प्राकृतिक या भौतिक इन्द्रिय माना गया है, सवेदनाओ के अन्दर से बौद्धिक विचारो एव भावो का निर्माण करता है। यह कैसे होता है, सो हम नही जानते। चित्त, जो वस्तु एव विचार दोनो ही है, सवेदनाओ को लेकर चेतना के एक शक्तिशाली प्रवाह मे परिणत कर देता है। अभिधम्मपिटक के सातवे खड मे पत्थाना अथवा सम्बन्धो के विषय का प्रतिपादन है। बौद्ध विचारक जानता है कि किस प्रकार प्रत्येक चेतना विषयी एव विषय का सम्बन्ध-मात्र है। इन सब प्रक्रियाओ के अन्दर हम विज्ञान की क्रियाशीलता की कल्पना करते है जिसका विशिष्ट कार्य पहचान करना है' और यह नितान्त बौद्धिक प्रतिक्रिया है।

'प्रयास' (मानसिक प्रक्रिया) अथवा आधुनिक मनोविज्ञान की 'इच्छाशक्ति' का सहज मे बौद्धविश्लेषण के अन्दर पता मिलना कठिन है। यद्यपि यह प्रत्यभिज्ञा अथवा अनुराग के समान एक बिलकुल मूलभूत एव परम वस्तु है। बौद्ध सिद्धान्त मे इच्छा चेतना

(ग) 'क' और 'ख' में परस्पर सघात।

(घ) मानसिक अविच्छिन्नता के परिणामस्वरूप परिवर्तन, अर्थात् पहले सम्पर्क (एक विशेष प्रकार का); तब आनन्दात्मक परिणाम या बौद्धिक परिणाम अथवा सम्भवत दोनों ही। प्रत्येक अवस्था में परिवर्तन को दो बार कहा जाता है, एवं बल दिया जाता है परस्पर सघर्ष के ऊपर, पहले तो जिससे परिवर्तन होता है उसपर, फिर उसके बाद ध्यान की विषयवस्तु का निर्माण करनेवाले उस व्यक्ति की परिवर्तित चेतना पर, जिसपर प्रभाव पड़ा।

(आ) इन्द्रियो के विषय (पदार्थ)

प्रथमत, एक सामान्य कथन प्रकृति के स्थान पर प्रत्येक के इन्द्रियगम्य पदार्थ के सम्बन्ध में, कुछ विशेष प्रकारों का वर्णन करते हुए और इसकी अदृश्यता को स्वीकार करते हुए—दृश्य पदार्थों तथा संघर्ष उत्पन्न करनेवाली शक्ति को छोड़कर।

द्वितीयत', 'अ' के अन्तर्गत उल्लिखित प्रत्येक मामले में ऐंद्रिय प्रक्रिया का विश्लेषण, परन्तु जैसे इन्द्रियगम्य पदार्थ की दृष्टि से, इस भाति—

(क) किसी आकृति या इंद्रियगम्य पदार्थ का स्वरूप, जो वैयक्तिक सघटन के किसी विशेष उपकरण पर सघात पहुचाने में सक्षम हो।

(ख) उस उपकरण का संघात।

(ग) इंद्रियगम्य पदार्थ की प्रतिक्रिया या पूरक संघात।

(घ) मानसिक अविच्छिन्नता के परिणामस्वरूप परिवर्तन, अर्थात् पहले सम्पर्क (एक विशेष प्रकार का), तब आनन्ददायक परिणाम, या बौद्धिक परिणाम अथवा सम्भवत दोनों ही। प्रत्येक अवस्था में परिवर्तन को दो बार कहा गया है और परस्पर संघर्ष पर बल दिया गया है, पहले तो जिससे परिवर्तन होता है उसपर, फिर उसके बाद ध्यान की विषयवस्तु का नि[illegible]ण करनेवाली उस परिवर्तित चेतना पर जो इस प्रकार प्रभावित हुई है।

केवल विचारात्मक होता है और कभी क्रियात्मक या व्यावहारिक होता है। प्रोफेसर अलेक्जैण्डर के शब्दों मे, "मन की विचारात्मक क्रियाए होती है कि वे विना किसी परिवर्तन के मन के आगे पदार्थ के निरन्तर अस्तित्व को बनाए रखने मे सहायक साधनरूप सिद्ध होती हैं। व्यावहारिक क्रियाए वे है जो पदार्थों मे परिवर्तन उत्पन्न करती हैं।" "सज्ञान (वोध अथवा अनुभूति) एव मानसिक प्रक्रिया इन दोनो की प्रत्येक मनोविकृति (अथवा दु साध्य उन्माद) मे पृथक्-पृथक् पहचाने जा सकनेवाले अवयव नही है। किन्तु मानसिक प्रक्रिया की प्रत्येक किस्म दो विभिन्न आकृतिया धारण करती है, विचारात्मक अथवा क्रियात्मक, और यह मानसिक प्रक्रिया के भिन्न-भिन्न सम्बन्धो के अनुसार होती है।"[1] साधारणत कल्पनात्मक विचार क्रिया मे परिणत हो जाता है। सज्ञान अथवा अनुभव मुख्यरूप मे क्रियात्मक होते ह। बौद्ध मनोविज्ञान सही मार्ग पर है जबकि 'प्रतीत्य-समुत्पाद' के सिद्धान्त मे यह प्रतिपादन करता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव इच्छाओ को उत्तेजना देते हैं। ऐसा पदार्थ जिसके प्रति मानसिक क्रिया प्रेरित होती है या तो उनका भान होता है, या उसका दर्शन के द्वारा साक्षात् ज्ञान होता है, उसकी मूर्ति मन मे बन जाती है, उसकी स्मृति द्वारा अनुभव होगा अथवा वह विचार का विषय होगा। सज्ञान एव इच्छा मानसिक प्रक्रिया के कल्पनात्मक एव क्रियात्मक रूप बन जाते है। भौतिक मनोविज्ञान ज्ञानेन्द्रिय-सम्बन्धी चालक पेशी (चेष्टावह नाडी) के चक्र या परिभ्रमण को इकाई मानता है। इसमे से अन्तर्मुखी या भीतर ले जानेवाला भाग अनुभूति के अनुकूल है एव निर्गामी (अपवाही नाडी) मानसिक प्रक्रिया के अनुकूल है। समस्त प्रक्रिया है एक ही, और ये दोनो इसमे अवयवो या घटको के रूप मे भिन्न-भिन्न किए जा सकते हैं। जहा समस्त मानसिक जीवन मानसिक क्रिया या प्रयास से सम्बन्ध रखता है, इच्छा लक्ष्य की ओर क्रियात्मक पीछा करती हुई दिखाई देगी, और इसे आदर्श से यथार्थता मे परिवर्तित कर देगी। यहा पर भी क्रियात्मक पक्ष की प्रधानता है। विचारात्मक अनुभूति उदय होती है जबकि क्रियात्मक अभिव्यक्ति रुक जाती है अथवा उसके अन्तर्गत रहती है। केवल चिन्तन का सुखानुभव भी मानसिक प्रक्रिया का विकास है जिसमे क्रियात्मक प्रयोजन अपने-आपमे सुखानुभव है। इसके अतिरिक्त सवेदना मानसिक क्रिया से स्वतन्त्र भी तो नही है। यह सब क्रियाओ मे सहचारी भाव से विद्यमान रहती है। प्रोफेसर स्टाउट ने मानसिक अवस्थाओ के पुराने त्रिभागी वर्गीकरण को त्यागकर प्राचीन द्विभक्त मनोविश्लेपण को ही अगीकार किया है, और भावात्मक एव प्रयासात्मक अवयवो को एकत्र करके इसे अनुभूति के अवयवो का नाम न देकर अभिरुचि की सज्ञा दी है। यदि हम बोध (सज्ञान) के पृथक्त्व को दूर करके इसे मानसिक प्रक्रिया का एक पक्ष बना दे तब हमे विदित होगा कि बौद्धमत का मानसिक प्रतिक्रिया पर बल देना जो है वही मानसिक जीवन का प्रधान तथ्य है।

यद्यपि सर्वोपरि आत्मा के अस्तित्व को नही माना गया है तो भी उसका स्थान एम० पूसी[2] के अनुसार, विज्ञान ने ले लिया है। वह सत्ता जो एक जीवन के पश्चात् दूसरे

१. 'ब्रिटिश जर्नल आफ साइकोलॉजी', १९११, पृष्ठ २४४।
२. 'जर्नल एशियाटिक', १९०२, यह मत सम्भवत पिटकों की अपेक्षा अर्वाचीन है।

प्राणी जीवित रहा है किन्तु वह अब नही है और न ही यह रहेगा। भविष्य के क्षण का प्राणी जीवित रहेगा, किन्तु वह भूतकाल मे जीवित नही रहा, न वह वर्तमान मे जीवित है। विचार के वर्तमान क्षण का प्राणी जीवित है किन्तु यह भूतकाल मे नही था और न ही भविष्य मे रहेगा।"[1]

प्रत्येक चेतन अवस्था को सत् की धारा मे बाधक बतलाया गया है जो उपचेतन अथवा सुप्तचेतन जीवन का प्रवाह है। बौद्ध मनोविज्ञान ने सुप्तचेतन जीवन को स्वीकार किया है। इसे 'विथिमुत्त' अर्थात् प्रक्रिया मे मुक्त कहा गया है और यह 'विथिचित्त' अर्थात् जागरित चेतना से भिन्नरूप है। दोनो के बीच मे उन्हे विभक्त करनेवाली चेतना की ड्योढी है जिसे मनोद्वार अथवा मन का द्वार कहते हैं। यह उस स्थान पर अवस्थित है जहा कि सरल सत् की धारा अथवा भवाग कट जाती है अथवा रुक जाती है। भावाग[2] सुप्तचेतन (उपचेतन) सत्ता का नाम है अथवा यो कहना अधिक ठीक होगा कि वह सत्ता जो जागरित अवस्था की चेतना से स्वतन्त्र है।[3]

एक सुसगत प्रत्यक्ष ज्ञानवाद का सिद्धान्त इस विषय की व्याख्या नही कर सकता कि किस प्रकार समसदृश प्रभाव विस्तृत एव परिष्कृत होकर सामान्य सिद्धान्तों अथवा कल्पनाओ मे परिणत हो जाते हैं एव नानात्व मे एकत्व का परिज्ञान क्यो और कैसे सम्भव होता है। बौद्धधर्म का मनोविज्ञान हमारे सम्मुख मानसिक अवस्थाओ के विश्लेषण को प्रस्तुत करता है किन्तु ध्यान एव इच्छा आदि की प्रक्रिया मे किसी विषयी को मानने की आवश्यकता का प्रश्न नही उठाता। भावनाओ एव सम्बन्धो के विषय मे तो यह कहता है किन्तु यह नही पूछता कि सयुक्त करनेवाली एक चेतनाशक्ति से क्या वे पृथक् भी रह सकते है? बौद्धो के मत मे क्रियाशीलता का विषयी (प्रमाता) ऐन्द्रिय एवं मानसिक चित्तवृत्तियो एव कर्मो का कुल जोड ही है। "नाम एव रूप के द्वारा ही कार्य किए जाते हैं।" और यह निश्चित रूप मे एक सदा बदलनेवाला सयुक्त रूप है। हमे यहां तक कहा जाता है कि परस्पर सम्पर्क का अनुभव करनेवाला कौन है यह मत पूछो किन्तु केवल इसी विषय मे जिज्ञासा करो कि उनका सम्पर्क करने का कारण क्या है।[4] हमारा व्यक्तित्व का भाव एक भ्रान्ति है। तो भी हम कहते है मानो अह ही पुनर्जन्म ग्रहण करता है अथवा निर्वाण तक पहुचता है। बुद्धघोष ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है. "ठीक जैसे सत् के उन घटको (अवयवो) के विषय मे जिन्हे वृक्ष का नाम दिया जाता है, ज्योही

१. वारेन 'बुद्धिज्म इन ट्रासलेशन्स', पृष्ठ १५० ।

२. 'भव', सत्, 'अग', भाग । भवाग से तात्पर्य ऐन्द्रिय सत्ता एव सुप्तचेतन सत्ता दोनों से है। सब कुछ जीवित है यद्यपि कुछ अवस्थाओ में हमे चेतना होती है और अन्यों में नही होती ।

३. भवाङ्ग के उन्नीस प्रकार के भेद बताए गए हैं। उनमें से दस कामलोक मे सभव है, पाच रूपलोक में, और चार अरूपलोक मे। श्रीमती रीज डेविड्स के अनुसार, "चेतना केवल मानसिक स्पन्दनों की विच्छेदयुक्त शृखला है, जिसका सम्बन्ध एक जीवित सगठन के साथ है जो जीवन की एक अल्पकालिक अवधि के अन्दर ज्ञान प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न करती है।" ('बुद्धिस्ट साइकोलॉजी', पृष्ठ १६।) भवाग विषयी या प्रमाता के दृष्टिकोण से एक अवचेतन सत्ता है यद्यपि विषय या ज्ञेय पदार्थ के दृष्टिकोण से इसे कभी-कभी निर्वाण के अर्थों में लिया जाता है।

४. देखिए सयुत्तनिकाय, २ : १३ ।

जिसी समय फल निकलता है तब यह कहा जाता है कि 'वृक्ष में फल लगा है' अथवा यह कि वृक्ष फल गया है। इसी प्रकार उन वर्गों के विषय में भी है जिन्हें देवता या मनुष्य का नाम दिया जाता है। जब किसी समय आकर सुख अथवा दुःख का फलभोग होने लगता है तब यह कहा जाता है कि अमुक देवता या अमुक मनुष्य सुखी या दुःखी है।[1] यद्यपि वर्तमानकाल की आत्मा भूतकाल की आत्मा नहीं हो सकती, यह है भूतकाल का ही परिणाम अथवा यह उस शृंखला में से आई है।[2]

आत्मा-सम्बन्धी विचार अपने अन्दर पर्याप्त अर्थ संजोए हुए हैं जिससे कि पुनर्जन्म सार्थक होता है। कठिनाई यही है कि यदि स्थायी आत्मा नामक कोई वस्तु नहीं है तब दण्ड का कुछ अर्थ ही नहीं रहता। दण्ड के भोगने के समय व्यक्ति वही पूर्ववत् नहीं है जिसने कि पाप किया था। किन्तु पर्याप्त मात्रा में तादात्म्य अवश्य है जो दण्ड को न्याय्य ठहरा सके। आध्यात्मिक सत्ता दण्ड की न्याय्यता के लिए भले हो नहीं, तो भी व्यक्ति भी किन्हीं असम्बद्ध घटनाओं का अव्यवस्थित क्रम नहीं है अपितु एक जीवित मानसिक ग्रन्थि है जो भौतिक, आत्मिक एवं नैतिक कारणों एवं कार्यों का एक पुतला है। राजा ने नागसेन से पूछा, "वह जो जन्म लेता है क्या उसी रूप में विद्यमान रहता है अथवा अन्य बन जाता है?" "न तो वही रहता है और न अन्य ही हो जाता है।" "मुझे कोई दृष्टान्त देकर समझाओ।" "अच्छा, हे राजन्, तुम क्या सोचते हो। तुम एक समय एक शिशु के रूप में थे जो एक कोमल पदार्थ है और आकार में भी छोटा है, अपनी पीठ के बल लेटे हुए। क्या तुम अब जो बड़े होकर हो गए वही शिशु थे?" "नहीं, वह बच्चा और था, मैं अन्य हूं।" "यदि तुम वह शिशु नहीं हो तो इसका परिणाम यह निकला कि तुम्हारे माता, पिता व शिक्षक भी कोई नहीं रहे।"[3] फिर से जन्म ग्रहण करनेवाला मनुष्य वह मृत मनुष्य नहीं है और तो भी उससे भिन्न भी नहीं है। वह उत्पन्न होता उसीके अन्दर से है। प्रत्येक दिन हम नवीन हैं यद्यपि बिलकुल नवीन नहीं। अन्दर रहनेवाली एक निरन्तरता है एवं उसके साथ निरन्तर रहनेवाला परिवर्तन भी है। बुद्धघोष कहता है, "यदि निरन्तर रहनेवाली शृंखला को एक परम समानता मान लिया जाए, तब उदाहरण के लिए खट्टी मलाई दूध के अन्दर से कैसे उत्पन्न हो सकता है? और यदि दोनों में नितान्त भेद है तो दूध साधारण अवस्थाओं में खट्टी मलाई कैसे उत्पन्न कर सकता है? इसलिए न तो नितान्त तादात्म्य ही है और न ही नितान्त भेद है।" पूर्ण वस्तु एक प्रकार की शृंखला है। सब प्रकार के क्रियात्मक प्रयोजनों की दृष्टि से नई सृष्टि पुरानी के साथ इतनी तात्त्विक होती है कि इस इकाई को निरन्तरक्रम मान लिया जा सकता है। क्रम में निरन्तरता

१. वारन : 'बुद्धिज्म इन ट्रांसलेशन्स', पृष्ठ २४१।

२. "हे राजन्, जब कोई मनुष्य एक दीपक जलाता है तो क्या वह दीपक रात भर नहीं जलता?" "हां, वह निरन्तर रात भर जलेगा।" "तो हे महान् राजन्, रात्रि के पहले प्रहर में जलता है क्या दूसरे प्रहर में भी वही जलता रहता है?" "नहीं भगवन्।" "किन्तु प्रकाश रात भर उसी रोशनी से जुड़ा रहकर जलता है।" "हे महान् राजन्, इसी प्रकार से वस्तुओं के धर्मों की शृंखला भी जुड़ी हुई है। एक धर्म उत्पन्न होता है और दूसरा सर्वथा भिन्न होकर नष्ट हो जाता है। आदि एवं अन्त से रहित यह परिवर्तन चलता रहता है।" (मिलिन्द।)

३. मिलिन्द।

है। पुनर्जन्म एक नया जन्म है। यहां तक कि उपनिषदो मे भी एक अद्भुत, सदा वढने-वाली एव अस्थायी आत्मा ही वह है जो इस ससार मे इतस्तत भ्रमण करती है एव प्रतिकारात्मक न्याय का विषय है। पुनर्जन्म के लिए इस अटल अह की आवश्यकता है। अस्थायित्व के भाव एव कारणकार्य के नियम के अन्दर से ही एक क्रियाशील आत्मा का विचार उदित होता है। प्रत्येक अनुभव जैसे-जैसे उदित होता है और गुजरता है, हमे दूसरे अनुभव को प्राप्त कराता है, अथवा दूसरे अनुभव मे क्षण मे, अथवा जीवन के रूप मे परिणत हो जाता है और इसीमे समस्त भूतकाल का समन्वय हो जाता है। एम० वर्गसा के स्मृति-सम्बन्धी सिद्धान्त का सुझाव देनेवाले शब्दो मे बौद्ध लोग तर्क करते हैं कि स्मृति नामक कोई भिन्न पदार्थ नही है क्योकि सम्पूर्ण भूतकाल, एक उत्पादक प्रभाव अथवा शक्ति के रूप मे जो बराबर पीछा करता आता है, वर्तमानकाल के अन्तर्गत है एव उसमे समाविष्ट है। "जिस सबका हमने अनुभव किया है, जिसे प्राप्त किया है, एव बचपन से जिसकी इच्छा की है वह सब यहा उपस्थित है, वर्तमान क्षण को तदनुकूल बनाता हुआ जो इसमे विलीन होता जाता है एव चेतना के द्वार पर अन्दर स्थान पाना चाहता है किन्तु जो इसे बाहर ही छोड देता है।"[1] भूतकाल वर्तमानकाल मे दात गडाता है और इस-पर अपना चिह्न छोड देता है।

१३

प्रतीत्यसमुत्पाद, या आश्रित उत्पत्ति का सिद्धान्त

इस दुःखमय जीवन की उत्पत्ति एव इसके अन्त की व्याख्या प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त द्वारा की गई है। "उस समय रात्रि के प्रथम जागरण मे महाभाग ने अपने मन को कारण-कार्यभाव की शृखला की अनुलोम एव प्रतिलोम व्यवस्था के ऊपर स्थिर किया 'अविद्या से सस्कारो की उत्पत्ति होती है, सस्कारो से चेतना का जन्म होता है, चेतना से नाम एव रूप की सृष्टि होती है, नाम और रूप से छः इन्द्रियो अर्थात् आख, कान, नाक, जिह्वा, शरीर अथवा त्वचा और मन मे छ विषयो का जन्म होता है, छः विषयो से सम्पर्क उत्पन्न होता है, सम्पर्क से सवेदना, सवेदना से तृष्णा या उत्कट अभिलाषा, तृष्णा से आसक्ति, आसक्ति से होना या क्रियमाणता और होने से जन्म, जन्म से जरा एव मृत्यु, शोक, रोदन, दु ख, विषाद एव निराशा आदि उत्पन्न होते है। इस प्रकार इस समस्त दु ख-समुच्चय का निदान है। आगे चलकर अविद्या के विनाश से, जिससे तात्पर्य वासना का नितान्त अभाव है, सस्कारो का विनाश होता है, सस्कारो के नाश से चेतना का नाश होता है, चेतना के नाश से नाम और रूप नष्ट होते है, नाम और रूप के विनाश से छ विषयो का विनाश होता है, छ विषयो के विनाश से सम्पर्क भी नष्ट हो जाता है, सम्पर्क के विनाश से सवे-दना का नाश होता है, सवेदना के नाश से तृष्णा का नाश होता है, तृष्णा के विनाश से आसक्ति का नाश होता है, आसक्ति के नष्ट होने से होने या क्रियमाणता का नाश होता

१ 'क्रियेटिव इवोल्यूशन', पृष्ठ ५ ।

है होने के नाश से जन्म का नाश होता है एवं जन्म के नष्ट हो जाने पर जरा, मृत्यु शोक विलाप दुःख विषाद एवं निराशा सबका नाश हो जाता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण दुःख समुच्चय की निवृत्ति होती है।[1] वारेन का विचार है यह समस्त नियम अपनी वर्तमान आकृति में पृथक् पृथक् टुकड़ों को मिलाकर जो बुद्ध के समय में प्रचलित थे यहाँ रख दिया है। इसका आधार ये सत्य हैं कि मनुष्य जन्म के चक्र के साथ आबद्ध है और उसके लिए यह सम्भव है कि वह अपने को कार्यकारणभाव के संक्रमणशील रूप को रोककर इन बन्धनों से स्वतन्त्र कर सकता है। उक्त कारणकार्यभाव के चक्र सम्बन्धी सिद्धान्त के साथ ही मिलते जुलते एक मत की ओर उपनिषदों में भी संकेत किया गया है।[2] इस *कारणकार्यभाव रूपी चक्र में कभी कभी भूतकाल के जीवन वर्तमान एवं भविष्य के जीवन* के घटकों के कारण भेद किया जाता है क्योंकि तीनों कालों के कर्मों का प्रभाव एक दूसरे के ऊपर होता है।[3]

जीवित रहने की आकांक्षा ही हमारे जीवन की आधारभित्ति है। इसका निषेध ही हमारी मुक्ति है। जन्म लेना ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ा पाप है जैसा कि शोपनहावर को काल्डरन को उद्धृत करने का शौक है। यही एक सरल सत्य है कारणकार्यभाव की शृंखला में जिसका परिष्कार किया गया है। इसीसे इस दूसरे महान् सत्य का कि दुःख का कारण इच्छा है समावेश हो जाता है एवं यही जीवन की सब दशाओं का संग्रह भी वर्णन कर देता है। निदान बारह क्रमबद्ध कारण हैं जिनमें से प्रत्येक एक-दूसरे के लिए प्रतिबन्ध अथवा उपाधि बनता है। प्रथम निदान अविद्या को छोड़कर और अन्तिम

१ महावग्ग, १, १, १–२। सक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, १३ एवं मिलिन्द भी देखें, २, ३, १।

२ आठ बन्धन प्राणधारक वायु, वाणी, जिह्वा, आँख, कान, मन, हाथ और त्वचा, एवं उनके सहायक, जो उपनिषदों में वर्णन किए गए हैं (बृहदारण्यक, ३, २)—इस सिद्धान्त का आधार समझे जा सकते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्मचक्र का उल्लेख किया है (४, १)। प्राचीन बौद्धधर्म में इसके लिए भवचक्र शब्द का प्रयोग किया गया है—जिसका अर्थ है जीवन का चक्र।

३ निम्नलिखित इस भेद को दर्शाता है। देखें मज्झिमनिकाय, १४, महानिदानसुत्त, २।

(क) जो पूर्वजन्म के कारण हैं
- अविद्या अथवा अज्ञान।
- संस्कार अथवा पूर्वप्रवृत्तियाँ।

(ख) जो वर्तमान जीवन के कारण हैं
- विज्ञान अथवा अपने विषय की चेतना।
- नामरूप अथवा मन एवं शरीर।
- षडायतन अथवा इन्द्रियाँ।
- स्पर्श, अथवा सम्पर्क।
- वेदना।
- तृष्णा (लालसा) अथवा उत्कट लालसा।
- उपादान अथवा आसक्ति।

(ग) जो भविष्यजीवन के कारण हैं
- भव अथवा अस्तित्व।
- जाति अथवा पुनर्जन्म।
- जरामरण।

निदान जरा-मरण को भी छोडकर शेष सब निदान दसकर्म कहलाते हैं। प्राचीन वौद्धधर्म मे इनकी गणना पदार्थो या तत्त्वो मे न की जाकर, इन्हे सत् के रूप मे समझा गया है। निदानो की सख्या अथवा व्यवस्था के विषय मे कोई स्थिरता या निश्चित नियम नही है। प्रतीत्यसमुत्पाद एव निदानो के सिद्धान्तो मे हम देखते है कि ऐसी परिभाषाओ की शृखला वन गई है जो समस्त चेतनामय जगत् मे पारस्परिक सम्बन्ध एव पारस्परिक निर्भरता को व्यक्त करती है।

इस शृखला की पहली कडी अविद्या अर्थात् अज्ञान है। अह (मैं) का मिथ्याभाव व्यक्ति का मुख्य आधार है। यह कर्म का अनुचर या वाहक भी है एव उसका जनक भी है। व्यक्तित्व अविद्या और कर्म की उपज है, जैसेकि अग्निज्वाला आग की एक चिनगारी भी है और उसको बढानेवाला ईंधन भी। अविद्या के कारण जीवन का स्वरूप, जोकि दु खमय है, छिपा रहता है।[1] अविद्या अर्थात् अज्ञान पर जो वल दिया गया है यह केवल वौद्धधर्म मे ही पाया जाता है ऐसी वात नही है। विशप बटलर का कहना है: "पदार्थ जैसे है, है, और उनके परिणाम भी वही होगे जो होने है, तव क्यो हम अपने को धोखे मे रखें?" पर होता यह है कि हम प्रतिदिन अपने को धोखा देते है। बुद्ध हमे आदेश देते हैं कि हम सत्य घटनाओ को वैसे देखें जिस रूप मे वे है, और जो उनका आशय है उसे समझे। जो यथार्थ नही उसे यथार्थ समझना अज्ञान या अविद्या है और इसीसे जीवन के प्रति मोह उत्पन्न होता है। यह हमे जीवन धारण करने एव ससार का सुखोपभोग करने के लिए प्रेरित करता है। जीवन की लालसा को वुद्ध ने नीच, मूर्खतापूर्ण, नैतिक वन्धन एव मानसिक उन्मादो मे से अन्यतम माना है। यदि मनुष्य को ऐहलौकिक जीवन के दु ख से छुटकारा पाना है तो मिथ्या इच्छा को समूल नष्ट करना होगा एव जीवित रहने की उमग का दमन करना होगा। प्राचीन वौद्धधर्म के मत में अज्ञान ही अहकार अथवा अहभाव का कारण है। इसीके कारण एक व्यक्ति को यह अनुभव होने लगता है कि वह अन्य सब जगत् से पृथक् है जिसका ससार की व्यवस्था से कोई सम्वन्ध नही है। हम अपने छोटे से जीवन मे आसक्त रहते हैं इसे निरन्तर बनाए रखने के लिए प्राणपण से चेष्टा करते हैं और अनन्तकाल तक वरावर इसे घसीटे चलते है।[2] व्यक्ति का जीवन एक पाप है और इच्छा उसकी वाह्य अभिव्यक्ति है। मनुष्य दु खी इसीलिए है क्योंकि वह जीवन धारण किए हुए है। समस्त दु ख की उत्पत्ति जीवन धारण करना है। अज्ञान की शक्ति इतनी महान है कि अत्यन्त दु ख के रहते हुए भी लोग जीवन मे आसक्ति रखते हुए पाए जाते हैं।

शृखला की दूसरी कडी सस्कार है। सस्कार शब्द जिस धातु से वनता है उसका

१. "इस ससार में अर्थात् इस भूतल पर कभी किसीको दु ख तब तक नहीं हुआ जब तक कि वह अपने अज्ञान के बन्धन में नहीं फसा।" (कारलाइल : 'लैटर-डे पैम्फलेट्स'।)

२. "मनुष्य इस तथ्य को दृष्टि से ओझल कर देते है कि वे कोई पृथक् सत्ता नहीं रखते, जैसेकि समुद्र की लहर के झाग या बुलबुला लहर से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रखता, और जैसेकि जीवित प्राणी में एक परमाणु शारीरिक गठन से पृथक् नहीं है, जिसका वह एक अगमात्र है।" (रीज डेविड्स : 'द रिलिजस सिस्टेम्स आफ द वर्ल्ड', पृष्ठ १४४।)

अन्तर नहीं रहती है किन्तु यह एक प्रकार की निरन्तर प्रतीति है जो कारणकार्यसम्बन्ध से उत्पन्न होती है। यह उस प्रश्न का विस्तृत रूप है जोकि दूसरे व तीसरे सत्यों में अर्थात् दुःख के उद्गमस्थान एवं उसके विनाश में निहित है। इससे पूर्व कि इस जन्म की पीड़ा को दूर किया जा सके, इस सम्पूर्ण जीवन की निःसारता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। व्यक्तित्व जिसमें हम चिपटे हुए हैं केवल एक रूप या आकृति है एक सारहीन प्रतीतिमात्र है जो अज्ञान के कारण है और वही इसका स्रष्टा भी है एवं मूल कारण भी है। व्यक्तित्व के भाव की उपस्थिति ही इस बात का संकेत करती है कि अज्ञान भी उपस्थित है। व्यक्ति ही दुःख का निर्माण करता हो यह प्रश्न नहीं है क्योंकि वह स्वयं दुःख का एक रूप है। अहंभाव का विचार जो भ्रान्ति को जन्म देता है स्वयं एक भ्रान्ति है। व्यक्तित्व रोग का लक्षण और स्वयं रोग दोनों ही है। उपनिषदों के अनुसार व्यक्ति का जीवनवृत्त चलता रहता है तब तक कि बुद्धि में अज्ञान की मात्रा एवं आत्मा में तृष्णा है। मिथोलाजिया जर्मनिका में यह कहा गया है कि "नरक में आत्मेच्छा ही प्रबल रहती है" और यह आत्मेच्छा ही अविद्या है जो अपना वास्तविक रूप धारण किए रहती है। यह कारण भी है और उत्पन्न वस्तु भी है दूसरे को भ्रम में डालनेवाली और स्वयं भी भ्रान्त है। अज्ञान एवं व्यक्तित्व दोनों परस्पर एक-दूसरे के ऊपर निर्भर हैं। व्यक्तित्व का अर्थ है सीमित करना और सीमित करना ही अज्ञान है। अज्ञान का नाश केवल अज्ञान की सम्भावना के नाश से ही हो सकता है अर्थात् व्यक्तित्व के नाश से। समस्त संसार अज्ञान का शिकार है और इसलिए इसे दुःख होता है। राजा से लेकर भिखारी तक एवं भूमि पर रेंगनेवाले कीट से लेकर स्वर्ग के ज्योतिष्मान देव तक सबको दुःख है। पांच वस्तुएं हैं जिनको न कोई श्रमण और न ही कोई ब्राह्मण न देवता न मार और न ब्राह्मण ही और न विश्व का अन्य कोई प्राणी सम्भव कर सकता है अर्थात् जो रोगाधान है उसे रोग न व्यापे जो मृत्यु के अधीन है वह मृत्यु को प्राप्त न हो जो क्षीणता के अधीन है वह क्षीणता को प्राप्त न हो और वह जो विनाश के योग्य है वह विनष्ट न हो।[1] अविद्या से उत्पन्न व्यक्तित्व ही सम्पूर्ण जीवन की कठिन समस्या है एवं समस्त जीवन का मूलभूत पाप है।

इसी सारी योजना का आधार अविद्या है किन्तु हमें यह नहीं बताया गया कि यह अविद्या कैसे उत्पन्न होती है। इस चक्र का प्रारम्भ कहां से है यह प्रतीत नहीं होता। हमें इसके कारण का पता नहीं मिलता। इसका कहीं अन्त अवश्य है अथवा यह एक ऐसी सत्ता है जिसको समझ सकना कठिन है जिसे हमें बिना अधिक सोच समझे स्वीकार कर लेना पड़ेगा। बुद्ध की दृष्टि में प्रत्येक जीवित प्राणी जो यत्न करता है और अपना वैयक्तिक अस्तित्व प्रदर्शित करता है अविद्या की ही शक्ति से करता है। स्वयं जीवन इसकी गवाही देता है कि अविद्या उपस्थित है। जब हम घड़ी के लटकन को झूलते हुए देखते हैं तो हम अनुमान करते हैं कि अवश्य किसीने उसका सचालन किया है। हम अनुमान करते हैं कि अविद्या ही समस्त जीवन की पूर्ववर्ती आवश्यक अवस्था है। इसके पूर्व कुछ नहीं है।

१ अंगुत्तरनिकाय २ ओल्डनबर्ग 'बुद्ध' पृष्ठ २१७।

क्योंकि संसार की प्रक्रिया का कही आरम्भ नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध अज्ञान को नित्य समझते थे। कारणकार्यसम्बन्ध की शृंखला मे इसे सबसे पहला स्थान दिया जाता है, क्योकि इसके द्वारा ही इच्छा उत्पन्न होती है और उस इच्छा के द्वारा जीवन का अस्तित्व है। जब हम यह पूछते हैं कि वह क्या वस्तु है जिसके विषय मे हमे अज्ञान है तो आदिम बौद्धधर्म का उत्तर है कि हम अह के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ है एव चार आर्य-सत्यो से भी अनभिज्ञ है। वर्तमान जीवन का कारण इससे पूर्व का जन्म है जिसमे चार आर्यसत्यो का ज्ञान प्राप्त नही किया गया था। उपनिषदो मे भी सब दु खो का कारण अविद्या ही बताया गया है और इस अज्ञान का रूप, उनके अनुसार, जीवात्मा के विश्वात्मा के साथ मूलभूत तादात्म्य का अज्ञान है जिसके कारण अहकार उत्पन्न होता है। दोनो मे ही अर्थात् बौद्धधर्म एव उपनिषदो मे यह अहकार का भाव अविद्या का परिणाम है, दोनो के ही मत मे रक्षक ज्ञान का अभाव ही कारण है जो सत्य को हमसे छिपाए रखता है।

बुद्ध का मत है कि अज्ञान परमसत्ता के रूप मे कोई वस्तु नही है। वह अपने को नष्ट करने के ही लिए इस जीवन के नाटक मे उतरती है। अज्ञान की उदय-सम्बन्धी समस्या से जानबूझकर बचा गया है ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि हम इसका कारण नही बता सकते। हम इसे यथार्थ नही कह सकते, क्योकि इसका प्रत्याख्यान हो सकता है। और न ही यह अयथार्थ है, क्योकि उस अवस्था मे यह किसी वस्तु को उत्पन्न नही कर सकती। किन्तु बौद्धधर्म किसी प्रकार के सौजन्य अथवा नम्रता के कारण अविद्या को कारण नही मानता। उसकी दृष्टि मे यही वस्तुत. समस्त जीवन का कारण है। सम्भवत. उपनिषदो की कल्पना अधिक सत्य है। इस नानारूप जगत् मे यथार्थता को गुप्त रखने की शक्ति है, विशेषत जबकि वह यथार्थसत्ता इस जगत् के द्वारा अभिव्यक्त हो रही है। यह शक्ति ही केन्द्रीय बल है, जो असत् है, और यथार्थसत्ता को बाह्यरूप मे व्यक्त होने के लिए बाध्य करती है। यह व्याख्या तब तक सम्भव नही हो सकती जब तक कि हम एक केन्द्रीभूत यथार्थसत्ता की स्थापना न करे। जब तक इस प्रकार के एक प्रधान सत् को हम स्वीकार न कर लें, अविद्या का स्वरूप एव उसका आदि-उद्भव—दोनो का ही समाधान नही हो सकेगा। किन्तु बौद्धधर्म के अन्तर्गत प्रत्येक विषय उपनिषद् की कल्पना के अनुकूल है। अविद्या नितान्त अनुपयोगी नही है। यह अपने से छुटकारा पाने की सम्भावना के लिए गुजायश रखती है। यदि निर्माण तिरोधान से कुछ अधिक है, और सत्य भी चलती-फिरती छाया से अधिक है, तब व्यक्तित्व नितान्त असत् नही है किन्तु सत् एव असत् का एक सम्मिश्रण है, एव अविद्या भी मिथ्यात्व का नाम नही किन्तु ज्ञान का अभावमात्र है। जब यह दूर हो जाती है तो सत्य शेष रह जाता है। अर्वाचीन बौद्ध लेखको का अश्वघोष के समान कहना है कि 'तथता' से हठात् अविद्या उत्पन्न हो जाती है एव वैयक्तिक इच्छा का उदय भी सार्वभौमिक इच्छा से होता है। वसुबन्धु इस समस्या का समाधान यो करता है कि सब व्यक्ति एक ही सार्वभौम मन के अपूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। इस प्रकार अविद्या उस परमसत्ता की वह शक्ति है जो विश्व के भीतर से व्यक्तिगत जीवनो की शृंखला को उत्पन्न करती है। यह यथार्थसत्ता के ही अन्दर विद्यमान निषेधात्मक तत्त्व है। हमारी सीमित बुद्धि इसकी तह मे इससे अधिक और प्रवेश नही कर सकती। बौद्धधर्म का

आध्यात्मिक शास्त्र उसी अवस्था में सन्तोषप्रद एवं बुद्धिगम्य हो सकता है जबकि इसके अन्दर परम आदर्शवाद के द्वारा पूर्णता लाई जा सके।

१४

नीतिशास्त्र

प्रतीक्षा करनेवाले के लिए रात लम्बी होती है,
थके हुए पथिक के लिए मार्ग लम्बा होता है—
जो सत्य के प्रकाश को नहीं देखता उसके लिए बारम्बार
जन्म मरण की शृंखला की पीड़ा बहुत लम्बी होती है।

ऊपर बौद्धधर्म की एक लोकोक्ति दी गई है।[1] इस संसार में हमारा मनुष्य जीवन एक अनजाने देश की यात्रा है जिसकी अवधि को एक यथार्थ ज्ञानी पुरुष कभी भी अधिक लम्बा करना नहीं चाहेगा। बुद्ध हमें आन्तरिक द्वन्द्व में से जो मानव जीवन का एक विशिष्ट लक्षण है निकलने का मार्ग बताते हैं। बुद्ध के उपदेशों का लक्ष्य दुःख से छुटकारा पाना है। नैतिक जीवन का उद्देश्य इस विस्तृत भ्रमयुक्त जीवन से बच निकलना है। अपने आपको विशिष्ट करने में ही मोक्ष है। निर्वाण तो उच्चतम लक्ष्य है एवं आचरण की ऐसी सब विधियां जो हमें निश्चित रूप में निर्वाण की ओर ले जाती हैं अथवा पुनर्जन्म का नाश करती हैं शुभ (पुण्य) हैं और,उनके विपरीत सब कर्म अशुभ (पाप) हैं। साधारण लौकिक मूल्यांकन के मानदण्डों में परिवर्तन करना आवश्यक है।

बौद्धधर्म में मनोविज्ञान को नीतिशास्त्र का आधार माना गया है।[2] प्रत्येक दर्शन पद्धति एवं नीतिशास्त्र के निर्दोष होने के लिए आवश्यक है कि उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण निर्दोष हो। बौद्धधर्म के मनोविज्ञान का नीतिशास्त्र के हित के लिए ही पर्याप्त परिष्कार किया गया है। बौद्धधर्म द्वारा प्रतिपादित आत्मसंयम एवं इच्छाशक्ति के परिमार्जन आदि के लिए एक ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता है जिसमें बताया गया हो कि संवेदनाएं किस प्रकार उत्पन्न होती हैं एवं उनके प्रति ध्यान का विकास कैसे होता है। बौद्धधर्म मानव के नैतिक व्यक्तित्व का विश्लेषण करता है और उसमें से नैतिक कारणकार्यभाव के सिद्धान्त की खोज निकालता है जो उसकी वृद्धि के लिए अपना कार्य कर रहा है। आत्मवाद के विषय में भी उसका एक नैतिक उद्देश्य है। बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार इच्छान्वित मनुष्य के पास एक ऐसी विशिष्ट देन है जिसके कारण ही उसे हम नैतिक प्राणी कहते हैं। कर्मसिद्धान्त अथवा नैतिक कारणकार्यभाव दर्शाता है कि इच्छान्वित हो समस्त जीवन का कारण है। कांट के अनुसार बुद्ध भी कहते हैं कि एकमात्र वस्तु जो संसार में परम महत्त्व रखती है वह सदिच्छा है अर्थात् ऐसी इच्छा जिसका निर्णय स्वतन्त्रतापूर्वक नैतिक नियम के द्वारा हुआ हो। केवल मनुष्य ही सदाचरण के प्रति इच्छा को प्रेरित करने के योग्य

1. ओल्डनबर्ग : 'बुद्ध', पृष्ठ १८४।
2. मि० टब्रू का यह कहना गलत है कि "मनोवैज्ञानिक नीतिशास्त्र के नियम बौद्धधर्म का ही अपना एकमात्र विशेषता है।" (डाइम्स आफ एथिक्स ब्यौरा, खण्ड १२ ८

होता है। व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है जब इच्छा के शान्त हो जाने से कर्म भी समाप्त हो जाता है। कर्म समाप्त तब होता है जबकि पदार्थों के द्वारा सुखानुभव प्राप्त करना समाप्त हो जाता है। इस सुखानुभव का अन्त तब होता है जबकि मनुष्य जीवन की क्षणिकता को पहचान लेता है। हमे आत्मा के मिश्रण को भग करने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि नई आत्माओ का आगे निर्माण न हो सके। पुनर्जन्म की शृखला से त्राण पाना एव अनन्त आनन्दमय जीवन की प्राप्ति बौद्धधर्म का लक्ष्य है और यही लक्ष्य अनेको भारतीय एवं भारतीयेतर धर्मपद्धतियो का भी है। आर्रफियस का अनुयायी भ्रातृमण्डल बार-बार जन्म लेने के कष्टदायक चक्र से छुटकारा पाने के लिए लालायित रहता था, इसी प्रकार प्लेटो भी एक ऐसी आनन्दपूर्ण अवस्था मे विश्वास रखता था जिसमे हम सदा के लिए सत्य एव पुण्य तथा सौन्दर्य के मूलभूत आदर्श का चिन्तन कर सके।

कर्म दो प्रकार का है—बौद्धिक एव ऐच्छिक। इसके अन्दर दोनो गुण हे, क्योकि यह एक मानसिक प्रवृत्ति है जो कार्य को उत्पन्न करती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक कर्म के तीन पहलू है (१) ऐच्छिक तैयारी, (२) कर्म का अपना रूप, और (३) वह जिसे कर्म का पृष्ठभाग कहा जाता है, अर्थात् खेद अथवा सन्ताप की भावना जो कर्म के बाद आती है। पहले प्रवृत्ति अथवा सकल्प का स्थान है। यह अपने-आपमे कर्म तो नही है किन्तु अर्थहीन भी नही है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक चुनाव एव प्रत्येक कर्म का एक वास्तविक महत्त्व या मूल्य होता है जो काल की दृष्टि से तो अस्थायी अवश्य है किन्तु अपनी विशेषता के कारण स्थायी हे। कुछ कर्म ऐसे है जिनका फल तुरन्त मिलता है, दूसरे कुछ ऐसे है जिनका फल कालान्तर मे मिलना है, सम्भवत. अगले जन्म मे मिले। कर्मों के दो भेद है (१) ऐसे जो निर्दोप हे अर्थात् 'आस्रवो' से मुक्त हैं एव (२) वे जो दूषित है अर्थात् आस्रवो से युक्त है। निर्दोप कर्म वे हे जो वासना, इच्छा एव अज्ञान से मुक्त हैं और उनके फलभोग का कोई प्रश्न नही उठता, एव जो नये जन्म मे प्रवृत्त करने की अपेक्षा उसकी सम्भावना को भी नष्ट कर देते है। ऐसे कर्म निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग को तैयार करते है। चार आर्यसत्यो के ऊपर ध्यान करना, जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अर्हत्त्व के मार्ग मे प्रविष्ट होने का प्रयत्न करता है, एक निर्दोप कर्म है और यह पुण्य एवं पाप के परिणामो से ऊपर है। इस दृष्टिकोण से अन्य सब कर्म दोषपूर्ण है और इन दोषपूर्ण कर्मो मे अच्छे व बुरे का भेद किया जाता है, जिनका विशिष्ट लक्षण यह है कि उनके साथ एक न एक प्रकार का फलभोग, पुरस्कार अथवा दण्डभोग, इस जन्म मे अथवा जन्मान्तर मे लगा हुआ है। इस विपय मे भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण स्वीकार किए गए हैं। शुभ (पुण्य) कर्म वे हे जो वासनाओ, इच्छाओ एव अह की भ्रान्त भावनाओ के ऊपर हमे विजय प्राप्त करने का मार्गप्रदर्शन करते है। अशुभ (पाप) कर्म वे है जो हमे दु खदायी दण्डभोग की ओर ले जाते हे। इसके अतिरिक्त शुभ कर्म वे है जो भविष्य-जीवन या लोकोत्तर-जीवन मे सुखप्राप्ति के उद्देश्य को लेकर किए जाते हे, इसी प्रकार अशुभ कर्म वे ह जो इसी जन्म मे सुख की अभिलाषा को ध्यान मे रखकर किए जाते हैं। पूर्व प्रकार के कर्म इच्छा का नाश करके अन्य कर्मों के पुरस्कारो को भी समाप्त करते हैं। प्रतीत होता है कि उनका अन्तिम फल निर्वाण अथवा मोक्ष है। शुभ कर्म वे हें जिनका

सम्यक् सकल्पो अथवा महत्त्वाकाक्षाओ को अवश्य अपने कर्मो मे परिणत करना चाहिए। उनकी अभिव्यक्ति सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म एव सम्यक् जीवन मे होनी ही चाहिए। "सम्यक् वाक् का अर्थ है असत्य से दूर रहना, किसीकी चुगली करने से अपने को बचाना, कठोर भाषा के प्रयोग से बचना, एव निरर्थक वार्तालाप से दूर रहना।"

सम्यक् कर्म नि.स्वार्थ कर्म का नाम है। प्रथावाद अथवा रीतिबन्धन, प्रार्थना, उपासना, कर्मकाण्ड, वशीकरण एव जादू-टोना किंवा मनुष्य अथवा पशु की बलि दिए जानेवाले यज्ञ-याग आदि मे बुद्ध का कोई विश्वास नही था। "धर्म पर आरूढपुरुष के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करना सौ वर्ष तक अग्निपूजा करते रहने से कही श्रेष्ठ है।" एक बार जब एक ब्राह्मण ने बुद्ध से कहा कि बहुक नदी मे स्नान करनेवाले के पाप धुल जाते हैं तो बुद्ध ने उत्तर मे कहा कि "बहुक एव अधिक एक मूर्ख के पाप धोकर उसे पवित्र नही बना सकती, भले ही वह उसमे बार-बार और सदा के लिए स्नान करता रहे। कोई नदी पापी, मलिनहृदय एव बार-बार पापकर्म करनेवाले को पवित्रात्मा नही बना सकती। पवित्रात्मा व्यक्ति के लिए सदा ही फग्गू का पवित्र मास रहता है। पवित्रात्मा के लिए सदा ही उपवास है। शुभ कर्म करनेवाले मनुष्य के लिए सदा ही व्रत रहता है। इस धर्म मे स्नान करो, हे ब्राह्मण! प्राणिमात्र के प्रति दयालु बनो। यदि तुम कभी असत्यभाषण नही करते, यदि तुम किसी प्राणी का वध नही करते, यदि तुम्हे दान दिया जाए तो उसे स्वीकार नहीं करते एव अपरिग्रह मे ही अपने को सुरक्षित समझते हो तो गया जाकर तुम्हे क्या लाभ होगा? तुम्हारे लिए सभी जल गया के जल के समान पवित्र है।"[1] अशोक कहता है· "मिथ्या विश्वासो से पूर्ण कर्मकाण्ड नही, अपितु सेवको एव अनुजीवियो के प्रति करुणा का भाव रखना, सम्मान के योग्य व्यक्तियो के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना, आत्मसयम जिसके साथ प्राणिमात्र के प्रति व्यवहार मे दया का भाव रहे, और इसी प्रकार के अन्य धार्मिक कर्म वास्तव मे ऐसे है जिन्हे कर्मकाण्ड के स्थान पर सर्वत्र किया जाना चाहिए।" "पवित्र नियम तो अल्प महत्त्व के है किन्तु ध्यान या समाधि ही सर्वोत्तम है।"[2] बुद्ध ने उस समय के प्रचलित प्रथावाद के विरुद्ध प्रत्यक्षरूप मे तो सग्राम नही छेडा, किन्तु उसमे नैतिक भावो का प्रवेश कराके उन प्रथाओ का मूलोच्छेदन करने का प्रयत्न किया। "क्रोध, मद्यसेवन, छल, ईर्ष्या, ये सब अपवित्र कर्म है; मासभक्षण नही।"[3] इसके अलावा, "जो भ्रातियो से मुक्त नही हुआ उसे मद्यपान का त्याग करना, नग्न रहना, सिर मुडाना, मोटे कपडे पहनना, पुरोहितो को दान देना, देवताओ को बलि चढाना आदि-आदि कर्म कभी पवित्र नही कर सकते।" बुद्ध ऐसे कुत्सित एव बीभत्स व्यक्तियो की पूजा के विरुद्ध थे जो विकृत तपस्या एव साधना का रूप धारण किए रहते है। तपस्या की अस्वाभाविक विधियो को दूषित ठहराने मे उन्होने बहुत मधुर एव तर्कसगत उपायो का आश्रय लिया।

१. लक्ष्मीनरसु· 'एसेंस आफ बुद्धिज्म', पृष्ठ २३०।
२. अशोकस्तम्भ पर लिखा हुआ आदेश, संख्या ७।
३ तुलना कीजिए. "वह वस्तु जो मनुष्य के अन्दर प्रवेश करती है, उसे भ्रष्ट नहीं करती, किन्तु जो बाहर आती है वह भ्रष्ट करती है।"

बौद्धधर्म आचार की पवित्रता और जीवन में विनयशीलता पर विशेष बल देता है। उन पारमिताओं (सद्‌गुणों) में जो हमें निर्वाण प्राप्ति में सहायक हैं शील का स्थान महत्त्वपूर्ण है। शील अथवा सदाचार एवं दान अथवा चारित्र्य के मध्य जो भेद है वह निष्क्रिय (निवृत्ति) एवं सक्रिय (प्रवृत्ति) के मध्य के भेद के समान है। शील से तात्पर्य है अहिंसा जैसे नियमों का पालन करना। दान से उपलक्षित होता है स्वार्थत्याग एवं असहायों की सहायता करना। यह सब प्राणियों की भलाई एवं लाभ के लिए जीवन है। दान के विषय में एक आदर्श प्रवृत्ति का प्रतिपादन बुद्धघोष की कथा द्वारा इस प्रकार किया जाता है जिस समय समुद्री डाकुओं द्वारा पकड़े जाकर उसकी बलिदेवी दुर्गा को चढ़ाई जाने वाली थी तो उसने चाहा कि क्या न मैं जीवित रहकर इसी लोक में फिर से जन्म लूं और मैं इन लोगों को धर्म में दीक्षित करके शिक्षा दूं कि ये अपने दुष्कर्मों का त्याग करके दूसरों की भलाई करना चाहें और इस प्रकार मैं संसार के कोने कोने में धर्म का प्रचार करके समस्त जगत को विश्रान्ति प्रदान करूं।

सम्यक् कर्म से सम्यक् जीवन बनता है जिसमें झूठ ठगना धोखा देना एवं चालाकी (कानूनी चालाकी) का कोई स्थान नहीं। यहां तक आचरण पर बल दिया गया है किन्तु आन्तरिक शुद्धि पर भी ध्यान देना आवश्यक है। समस्त पुरुषार्थ का लक्ष्य दुःख के कारण का अन्त करना ही है। इसके लिए आत्मनिष्ठ पवित्रता की आवश्यकता है। अन्तिम तीन मार्ग अर्थात् सम्यक् व्यायाम (पुरुषार्थ) सम्यक् स्मृति (विचार) एवं सम्यक् समाधि (शान्तचित्तता) इसी के सम्बन्ध में प्रतिपादन करते हैं।

सम्यक् पुरुषार्थ वासनाओं को वश में करना है जिससे कि कुप्रवृत्तियों का उदय न हो। दुष्कर्म का अन्दर आने से रोकना एवं मानसिक संयम व एकाग्रता के द्वारा सुकर्म को सुदृढ़ करना ही इसका अभिप्राय है। यदि हम किसी ऐसे कुविचार को बाहर निकालना चाहते हैं जो बार बार मन में आता है तो उसके लिए ये पांच उपाय बताए हैं (१) किसी अच्छे विचार का ध्यान करो (२) बुरे विचार के क्रियात्मक रूप धारण करने के जो परिणाम हो सकते हैं उनके भय का दृढ़ता के साथ सामना करो (३) बुरे विचार से एकदम ध्यान हटा लो (४) उसके पूर्ववर्ती का विश्लेषण करो और उससे उत्पन्न जो प्रेरणा है उसका नाश कर दो तथा (५) शारीरिक तनाव के बलप्रयोग द्वारा मन को वश में करो और इस प्रकार कुविचार को मन में बार बार आने से रोको। अशुभ भावना के द्वारा अर्थात् बार बार अशुभ विषय का चिन्तन करने से हमारे अन्दर उस वस्तु के प्रति जो कल्पित या अभीष्ट है एक प्रकार की अरुचि उत्पन्न हो जाती है। हे भगवन् क्या आपने इधर से गुजरती हुई एक महिला को देखा है? और उस स्थविर ने उत्तर दिया जो व्यक्ति इधर से गुजरा है वह पुरुष है अथवा महिला मैं नहीं कह सकता। मैं केवल इतना जानता हूं कि एक हड्डियों का ढांचा इस मार्ग से चला जा रहा था।[1] सम्यक्

[1] ... बुद्ध ने यद्यपि आनन्दित ... भिन्न बातों ... इस प्रकार प्रतिपादन किया है ... अरोग्य ... को मानना है कि उक्त चार प्रकार ... हैं वह ... । ... को पहचानने लगा और ... अनुभव कर सकेगा कि सुख एवं जीवन अस्थायी एवं अन्त में दुःखदायी है। किन्तु ... सुख का प्रतिषेध किए जो ... आन्तरिक इच्छा ... ।

उल्लास की, प्रशान्त एव गम्भीर मानसिक शान्ति की है, और यह चेतनामय चिन्तन से रहित है। तीसरी सीढी वासनाओ एव पक्षपातो का अभाव है, जहा आत्ममोह सर्वथा शान्त हो जाता है। और चौथी सीढी आत्मसयम एव पूर्ण शान्तमुद्रा की है, जिसमे न कोई चिन्ता है और न आह्लाद, क्योकि जो आह्लाद एव चिन्ता को उत्पन्न करते है उन्हे एक ओर छोड दिया जाता है।[1] ध्यान एक प्रकार से मन को सब विद्यमान वस्तुओ के साथ समता मे लाने का सतत प्रयास है। यह अहकार के भाव को दूर करने के लिए एक दृढ निश्चयपूर्ण पुरुषार्थ है, जिससे सत्यमय जीवन मे मनुष्य अपनेको लीन कर सके। बौद्धसघ के सदस्यों के दैनिक जीवन का मुख्य भाग ध्यान का अभ्यास करना है। हृदय एव मन को प्रशिक्षित करने की विधिया उस समय के प्रचलित मतो से उधार के रूप मे ले ली गई है। हमे अपने अन्दर मैत्री, करुणा, मुदिता एव उपेक्षा की भावनाओ की साधना करने का आदेश दिया गया है। ये चार सर्वोत्तम मनोवृत्तिया अथवा 'ब्रह्मविहार' बतलाए गए है। प्रेम एवं सहानुभूति आदि भावनाओ को समस्त मनुष्य-जाति के प्रति ही नही अपितु चेतन प्राणिमात्र के प्रति विस्तृत करने के ये क्रमबद्ध प्रयास हे। ध्यान के चालीस विषयो एव परमानन्ददायक चार चित्तवृत्तियो को सिद्ध कर लेने से वासना क्षीण हो जा सकती है और हम इद्रियो के शासन से ऊपर उठ सकते है। उच्चतम सत्ता का ध्यान करने मे जीवन बिताने से हमे पुनः सत्य की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु इस प्रश्न को पूछने के लिए हम बाध्य हैं कि वह कौन-सा पदार्थ या विषय है जिसके ऊपर आध्यात्मिक चिन्तन अथवा ध्यान को केन्द्रित करना है।

बौद्धधर्म मे भगवत्कृपा अथवा छूट का कोई स्थान नही है। वहा केवल आत्म-विकास को ही स्थान है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ एव आत्मनियन्त्रण के द्वारा ही ऐसा बल अथवा सामर्थ्य एव गुण प्राप्त कर सकता है जिसके द्वारा वह सब वस्तुओ से स्वतन्त्र होकर आत्मनिर्भर रह सकता है। यदि मनुष्य अपने ऊपर विजय प्राप्त कर ले तो उसके विरुद्ध कोई भी प्रतिपक्षी प्रबल नही हो सकता। जिसने अपने ऊपर विजय प्राप्त कर ली उसकी इस विजय को कोई देवता भी पराजय मे परिणत नही कर सकता।[2] चूकि बुद्ध की मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम एव मानसिक नियन्त्रण की माग बिना किसी धार्मिक आदेश की भावना के है, ऐसे भी व्यक्ति है जिनका कहना है कि बुद्ध ओगस्त कोम्ते की ही भाति ऐहिकवाद के प्रवर्तक थे, हालाकि वे उससे २००० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे।

१. चाइल्डर्स इसी विचार को इस प्रकार प्रस्तुत करता है : "एक पुरोहित अपने मन को एक अकेले विचार पर केन्द्रित करता है। धीरे-धीरे उसकी आत्मा एक अलौकिक आह्लाद एव सौम्यता से परिपूर्ण हो जाती है, किन्तु उसका मन अब भी ध्यान के लिए चुने हुए विषय की जिज्ञासा प्रकट करता है, यह प्रथम ध्यान है। इसके पश्चात् उसी विषय पर विचार को टिकाए हुए वह अपने मन को तर्क एव जिज्ञासा से हटाता है, किन्तु आह्लाद एव सौम्यभाव अब भी रहता है और यह द्वितीय ध्यान है। इसके आगे अपने विचार को पूर्ववत् टिका रहने देकर वह अपने को आह्लाद से उन्मुक्त कर लेता है और तृतीय ध्यान को प्राप्त करता है और यह अवस्था शान्त सौम्यता की है। सबसे अन्त में वह चौथे ध्यान पर पहुचता है जिसमें कि मन उन्नत एव पवित्र होकर सुख और दु ख दोनों प्रकार की भावनाओं से उदासीन हो जाता है।"

—डिक्शनरी, पृष्ठ १६६।

२ धम्मपद, १०५।

बौद्धधर्म के ध्यान एवं योग सम्बन्धी दोनों ही सिद्धान्त इस बात पर बल देते हैं कि मानसिक प्रशिक्षण के लिए शारीरिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी अवस्थाओं का अनुकूल होना भी आवश्यक है। शरीर को वश में करना ज्ञान की प्राप्ति के लिए एक तैयारी है। तपस्या के स्थान पर मनोवैज्ञानिक साधनाएं निर्दिष्ट हैं जो धार्मिक अन्तर्दृष्टि की ओर हमें ले जाती हैं। धार्मिक अपकर्षण की ऐसी क्रियाएं जिनके द्वारा एक व्यक्ति अपनी शक्तियों को बाह्य जगत से हटा लेता है और तब अहंभाव की भावना के शान्त होने का अनुभव करता है सामान्यरूप से सब योग सम्बन्धी कल्पनाओं में पाई जाती हैं। ध्यान की चार अवस्थाओं में हम आनुभविक जगत के बन्धन के अन्दर से एक प्रगतिशील एवं विधिपूर्वक अपकर्षण प्राप्त होता है। ध्यान कोई निरुद्देश्य अलीक कल्पना नहीं है अपितु वह इन्द्रियों के मार्ग को रोककर एक प्रकार का निश्चित अभ्यास है जिससे मन की शक्ति उन्नतावस्था को पहुंचती है। एम० पूसां का कहना है "मन को जब एक बार मिट्टी के बरतन या ऐसे ही किसी अन्य पदार्थ पर केन्द्रित करके एकाग्र कर लिया जाता है तो उसके पश्चात क्रमशः उस पदार्थ के प्रत्यय एवं श्रेणी विभाग आदि का ह्रास किया जाता है। आह्लादप्राप्त व्यक्ति एक चिन्तन की अवस्था से प्रारम्भ करता है जिसके साथ तर्क एवं चिन्तन भी संलग्न रहते हैं, वह इच्छा पाप कर्तव्यविमूढ़ता चंचलता एवं प्रसन्नता तथा आनन्द विषयक भावना को त्याग देता है। वह प्रकृति विषयक भावना से परे परे विभिन्न आदि के भी परे जाता है और शून्य आकाश में ध्यान लगाकर एवं पदार्थविहीन ज्ञान के द्वारा तथा अभावात्मकता में ध्यान को केन्द्रित कर एक ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है जहां न चेतना है न चेतना का अभाव है और अन्त में आकर वह अनुभव एवं विचार के सर्वथा निराभाव से अभिन्न हो जाता है। मनोवैज्ञानिक जीवन में यह एक ऐसी शान्त अवस्था है जो पूर्ण सम्मोहनिद्रा अथवा योगनिद्रा के समान है।"[1] हम यह बात अधिक सही सही एवं निश्चिन्ततापूर्वक नहीं कह सकते कि इससे अधिक मानसिक स्वातन्त्र्य एवं कल्पना की विशालता इन्द्रियानुभवों को रोकने से अथवा बाह्य इन्द्रियों की शक्तियों को सम्मोहनशक्ति द्वारा क्षीण करके प्राप्त किए जा सकते हैं या नहीं। आधुनिक विज्ञान इस विषय में अब भी अपनी शैशवावस्था में ही है। बौद्धधर्म को शेष समस्त भारतीय विचारकों के समान इस विषय में ऐसा ही विश्वास था और अब तक भी ऐसा विश्वास स्थिर है। भारत में साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है कि मानसिक अवस्थाओं का नियन्त्रण होने पर जब इन्द्रियों के अनुभव विरत हो जाते हैं तो अनुभवात्मक आत्मा निम्न श्रेणी में पहुंच जाती है और दिव्यात्मा की आभा प्रकट होती है। यौगिक क्रियाओं के माध्यम भिन्न भिन्न आध्यात्मिक शास्त्रों में भिन्न भिन्न हैं। उपनिषदों में इसे ब्रह्म के साथ योग अथवा ब्रह्म के साक्षात्कार के रूप में प्रतिपादित किया गया है। पतञ्जलि के योगदर्शन में यह सत्य का अन्तर्दर्शन है। बौद्धधर्म में इसका नाम बोधिसत्त्व की प्राप्ति अथवा जगत की निःसारता का ज्ञान है।

बुद्ध इस समाधि अवस्था को आवश्यक रूप से प्रशस्त नहीं समझते थे। ...

1. दि वे टु निर्वाण, पृष्ठ ९६।

लक्ष्य सत्य होना चाहिए, अर्थात् इच्छाशक्ति का विनाश। बुद्ध ने इस बात का अनुभव किया कि कितने ही व्यक्ति ऐसे थे जो अलौकिक शक्तियो की प्राप्ति के लिए ही योग की क्रियाओ का अभ्यास करते थे। बुद्ध ने इस प्रकार के आचरण मे सशोधन किया और ऐसे व्यक्तियो से कहा कि ऐसी शक्तिया भी केवल धर्माचरण और विवेक या दूरदर्शिता द्वारा प्राप्त की जा सकती है।[1] बुद्ध ने अपने शिष्यो को चमत्कारप्रदर्शन से मना कर रखा था। अलौकिक शक्तियो की प्राप्ति से मनुष्य किसी धार्मिक लाभ की प्राप्ति का पात्र नही बन जाता। बौद्धधर्म के योगविद्या-सम्बन्धी सिद्धान्तो का स्पष्टरूप तिब्बत के लामा लोगो के धर्म मे देखा जा सकता है।

अष्टागिक मार्ग को भी चार पडावो मे विभक्त किया गया है, जिनमे से प्रत्येक उन दस बन्धनो को तोडने के लिए है जो मनुष्य को इस ससार के साथ जकडे हुए है। इनमे से सबसे पहला बन्धन एक शरीरी आत्मा की भ्राति (सत्कायदृष्टि) है, जो समस्त अहभाव की जड है। यह समझ लेना कि नित्य आत्मा कुछ नही है, और यह विचार कि यह जो दिखाई देता है केवल स्कन्धो का पुञ्जमात्र है, हमे प्रलोभन देकर आत्मनिरति या सुखासक्ति एव सशयवाद के मार्ग मे ढकेलता है। इससे हमे अपने को बचाना है। दूसरी बाधा है 'सशय' अथवा विचिकित्सा, यह निकम्मेपन अथवा बुराई को ढकनेवाला आवरण है। हमे पवित्रता के विचार से किए जानेवाले कर्मकाण्ड के क्रियाकलापो मे से भी अपना विश्वास उठा लेना चाहिए। अनुष्ठान-पद्धति एव कर्मकाण्ड-सम्पादन हमे कामवासना, ईर्ष्या-द्वेष एव अज्ञान से अपने को मुक्त करने मे सहायक नही होते। ऐसा व्यक्ति जो अहभाव की भ्राति से मुक्त हो गया है, और जो बुद्ध एव उसके सिद्धान्तो मे सशय रखने से और आनुष्ठानिक क्रिया-कलापो मे विश्वास रखने से भी मुक्त हो गया है, वह कल्याण-मार्ग के प्रथम पड़ाव मे प्रवेश कर गया, ऐसा कहा जाता है। उसे स्रोतापन्न सज्ञा दी जाती है, जिसका तात्पर्य है कि वह धारा मे प्रविष्ट हो गया। इस अवस्था के विषय मे धम्मपद मे कहा है : "पवित्र जीवन का यह प्रथम पगरूपी पुरस्कार भूमण्डल के सम्राटपद से भी उत्तम, स्वर्गप्राप्ति से भी श्रेष्ठ, एव सब लोको की प्रभुता से भी ऊपर है।"[2] अगली दो बाधाए जिनपर विजय पाना है, वे है—काम, एव प्रतिघ या द्रोहभाव। इनपर विजय प्राप्त करके वह कल्याणमार्ग के दूसरे पडाव पर पहुच जाता है। वह सकृदागामी हो जाता है, अर्थात् जो मानव-जगत् मे केवल एक बार ही जन्म लेगा। अपूर्णताए कुछ न्यून हो जाती है यद्यपि सर्वथा नष्ट नही होती। ऐसे व्यक्ति जो शारीरिक दोषो अर्थात् कामवासना, क्रोध एव ऊपरी तडक-भडक का ह्रास करने मे समर्थ हो सकें, एक ही बार अन्तिम मोक्ष से पूर्व इस ससार मे लौटकर आते है। जब इन दोनो बाधाओ का भी सर्वथा विनाश हो जाता है तब मनुष्य अनागामी हो जाता है। यद्यपि वह सब प्रकार की भ्राति से मुक्त नही हुआ है, तो भी पीछे लौटने का कोई अवसर अब उसके जीवन मे नही आएगा। ऐसी बाधाए, जिनपर अभी भी विजय प्राप्त करनी शेष है, वे है—इस लोक एव परलोक के भौतिक एव अभौतिक सुखो की प्राप्ति के प्रति राग या उत्कट इच्छा, मान (अभिमान) एव

1. देखिए आकखेय्यसुत्त, 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खड ११।
2. धम्मपद, १७८।

बोध य तथा वस्तुओं के यथार्थरूप का ज्ञान। जब ये बन्धन टूट जाते हैं तो वह अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है एवं अर्हत् (यथार्थ में योग्य) बन जाता है और निर्वाण के परमानन्द को प्राप्त कर लेता है। उसके दुःख के कारण समाप्त हो गए एवं अशुद्धताएं नष्ट हो गई। वह अब पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त है। अर्हत् की अवस्था आत्मपूर्ण पवित्रीकरण की अवस्था है। निर्वाण बौद्धधर्म का लक्ष्य है और अर्हत्अवस्था वहां जाकर समाप्त हो जाती है। उपाधिविशिष्ट निर्वाण महत्त्वफल अथवा पवित्रीकरण का फलोपभोग है। अर्हत् फिर भी मनुष्य ही है। केवल मृत्यु के साथ ही उसका जीवन नष्ट होता है। तब जीवन रूपी दीपक का तेल बिखर गया और जीवन का बीज भी मुरझा गया। वह इस सृष्टि से विलीन हो जाता है और परिनिर्वाण को प्राप्त करता है—ऐसे ही सत के अवयवों का विनाश कहा जाता है।[2]

बौद्धधर्म का नैतिक जीवन सामाजिक होने की अपेक्षा वैयक्तिक अधिक है। हमें अपने जीवन में बुद्ध के उदाहरण का अनुकरण करना है। परम्परा एवं प्रामाणिकता पर बल नहीं दिया गया है। जब आनन्द ने बुद्ध से प्रश्न किया कि संघरूपी संस्था के लिए आपके क्या आदेश हैं तो बुद्ध ने उत्तर दिया तुम अपने लिए अपने आप दीपक बनो। तुम स्वयं ही अपना शरणस्थान भी बनो किसी बाह्य शरण का आश्रय मत लो सत्य को ही दीपक के रूप में दृढ़ता के साथ पकड़े रहो सत्य का ही दृढ़ता के साथ शरणरूप में पकड़कर रखो अपने अतिरिक्त और किसीकी ओर शरण पाने के प्रयोजन से मत ताको।

आचरण के सम्बन्ध में स्थूलरूप से कल्याणकारी एवं कुत्सित या शुभ अथवा अशुभ इस प्रकार के दो भेद किए गए हैं। कल्याणकारी आचरण निःस्वार्थभाव के कारण होता है और वह प्रेम एवं करुणा के रूप में प्रकट होता है जबकि दूसरे की जड़ अहंकार है और इसके परिणामस्वरूप दुर्भावनापरक कर्म आदि होते हैं। दस प्रकार के पापों से बचे रहने से कर्म शुभ होते हैं *यथा —तीन शारीरिक पाप अर्थात् हत्या चोरी एवं व्यभिचार चार* वाणी सम्बन्धी पाप अर्थात् मिथ्याभाषण चुगली करना गाली बकना एवं निरर्थक वार्तालाप तथा तीन पाप जिनका मन से सम्बन्ध है अर्थात् लोलुपता घृणा एवं भ्रांतिपूर्ण विचार। पापमय आचरण का दूसरा भी वर्गीकरण है। विषयभोग पुनर्जन्म की अभिलाषा अज्ञान और आत्मविषय सम्बन्धी अटकलबाजी—पापमय आचरण के ये चार प्रकार हैं। कभी कभी सबको एक साथ नियम में सारूप में रख दिया जाता है जो प्रकटरूप में निषेधात्मक है परन्तु है विध्यात्मक जैसे किसी जीवधारी की हत्या मत करो चोरी मत करो व्यभिचार मत करो मिथ्या भाषण न करो मादक द्रव्यों का सेवन न करो। ये नियम पांच भिन्न दिशाओं में आत्मसंयम की आवश्यकता पर बल देते हैं। विध्यात्मक रूप में इनका आशय इस प्रकार है—क्रोध को वश में करो सांसारिक सम्पत्ति की इच्छा का दमन करो शारीरिक विषय भोग की कामना को वश में रखो कायरता एवं दुष्ट भावना का दमन करो (क्योंकि यही असत्य व्यवहार का मुख्य कारण है) और दूषित उत्तेजना की उत्कट अभिलाषा का

१ अर्हत् एक सामान्य शब्द है जिसका व्यवहार बुद्ध से पूर्व के काल में भी ऐसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए होता था जिसने अपने मन का आदर्श प्राप्त कर लिया हो।

२ देखिए द रिलिजस सिस्टेम्स आफ द वर्ल्ड पृष्ठ १४८–१४६।

दमन करो। इस आत्मसयम का परिणाम यह होगा कि अपने को और दूसरो को भी सुख मिलेगा एव विध्यात्मक सद्‌गुण का विकास होगा। क्रोध के सयम से सज्जनता की वृद्धि होती है, लोभ के सवरण से दाक्षिण्य का प्रसार होता है, विषयभोग की भावना का दमन कर लेने पर प्रेम मे पवित्रता का समावेश होता है। किसी-किसी स्थान पर आदर्श सद्‌गुण सख्या मे दस बताए गए है, यथा, दान या दाक्षिण्य, आचरण की पवित्रता, धैर्य एव सहिष्णुता, कर्मठता, ध्यान, बुद्धि, सत्साधनो का उपयोग, दृढसकल्प, शक्ति एव ज्ञान। किसी-किसी स्थान पर शिक्षा-सम्बन्धी नैतिक अनुशासन को तीन नियमो मे अर्थात् नैतिकता, सस्कृति एव अन्तर्दृष्टि आदि के रूप मे प्रतिपादित किया गया है। 'मिलिन्द' मे हम देखते है कि धार्मिक जीवन के ये अग बताए गए है—सदाचरण, निरन्तर उद्योग, ध्यान, जागरूकता एव विवेक या दूरदर्शिता।[1] उपनिषदो मे प्रतिपादित कर्तव्यकर्मो के विधान एव प्राचीन बौद्धधर्म के विधान मे मूलतत्त्व-सम्बन्धी कोई भेद नही है।[2]

अब हम नैतिक जीवन के प्रेरक भाव एव दैवीय प्रेरणा की ओर आते है। दु ख मे बचना एव सुख की खोज समस्त आचरण का स्रोत है। निर्माण उत्कृष्ट कोटि का सुख अथवा आनन्द है। आधुनिक आनन्दमार्गी कहते है कि जीवन के विस्तार मे ही सुख प्राप्त होता है। बौद्धो का दावा है कि स्वार्थपरता एव अज्ञान की दशाओ के विलयन के कारण ही बार-बार जन्म होता है। बुद्ध जो अवस्था मनुष्य के सम्मुख प्रस्तुत करते है वह एक अनन्त मोक्ष की अवस्था है, जिसकी प्राप्ति ज्ञान, सदाचरण एव कडी साधना के सकीर्ण मार्ग के अन्त मे पहुचने पर होती है। बुद्ध की दृष्टि मे धन-सम्पत्ति, विजय अथवा शक्ति बहुत तुच्छ उद्देश्य है। मन के विक्षोभ से ही मनुष्य की प्रवृत्ति तुच्छ हितो की ओर होती है। इस प्रकार का क्षोभ इस ससार मे एक साधारण बात है। "तीनो लोको मे मुझे एक भी ऐसा जीवित प्राणी नही मिला जो अपने व्यक्तित्व को अन्य सबके ऊपर न रखता हो।"[3] स्वार्थपरता अपूर्ण ज्ञान के कारण उत्पन्न होती है और इसीका परिणाम व्यक्तित्व के बन्धनो का विक्षोभ है। नि स्वार्थभाव सत्य के यथार्थज्ञान का परिणाम है। आत्मा की विषयीनिष्ठता के दमन से एव सार्वभौम चेतना के विकास से यथार्थ कल्याण की प्राप्ति हो सकती है। यह एक उच्चश्रेणी की स्वार्थपरता है जो हमे इस बात का निर्देश करती है कि हमे अपनी स्वार्थपरक उत्कट अभिलाषा का त्याग कर देना चाहिए। दूसरो के दु खो के प्रति करुणा का भाव परोपकारिता के भाव की प्रेरणा से ही उत्पन्न होता है। दु.ख मे हम सब एकसमान साथी है और सब एक ही सामान्य दण्डव्यवस्था के अधीन है। देवलोक एव मर्त्यलोक के समस्त प्राणी, यहा तक कि जो 'भव' की श्रेणी मे हमसे भी नीचे है वे भी, नैतिक पूर्णता के नियम के अधीन है। समस्त जीवन—दैवीय, मानवीय एव पशुओ का भी—अपने-अपने क्षेत्र मे नैतिक कारण-कार्य-भाव के नियम की शृखला से एकसाथ संबद्ध है। यही प्रकृति-सम्बन्धी लोकहितकारी सघटन है जो बौद्धधर्म की पृष्ठभूमि का

१ २ १, ७–१५।

२ आत्मघात अनुचित है, क्योंकि जीवन को नष्ट करने से आत्मा की अहकार विषयक भ्रान्ति का निराकरण नहीं हो सकता।

३ सुत्त, १।

इस विषय की ओर भी ध्यान देना चाहिए कि ज्ञान से बुद्ध का अभिप्राय केवल बौद्धिक एवं शास्त्रों के अध्ययन मात्र से नहीं था। उस ज्ञान से अभिप्राय परमार्थचिन्ता-सम्बन्धी रूढ़िगत सिद्धान्तों अथवा दीक्षाप्राप्त व्यक्तियों के लिए जो गुह्य विषय बताए जाते हैं उनसे परिचित हो जाने से भी नहीं था, बल्कि ऐसे ज्ञान से अभिप्राय है जिसके लिए नैतिकता एक आवश्यक प्रतिबन्ध या शर्त है। वह एक सत्य से पूर्ण जीवन है जिसे हम वासनाओं एवं मानसिक प्रेरणा के कलुषित प्रभाव से आत्मा को निर्मल करके ही प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसे हम अपने मस्तिष्क के किसी एक कोने में अलग से डालकर रख सकें, बल्कि यह वह पदार्थ है जोकि हमारे समस्त जीवन में प्रवेश होता है, हमारे मनोवेग इसके रंग में रंजित होते हैं, जो हमारी आत्मा को आश्रयस्थान बना लेता है एवं यह हमारे इतना सन्निकट है जैसेकि स्वयं जीवन हो। यह पूर्ण प्रभुत्व रखनेवाली एक ऐसी शक्ति है जो बुद्धि के द्वारा सारे व्यक्तित्व को एक विशेष ढांचे में ढालती है, मनोवेगों को नियमित करती है एवं इच्छा पर भी नियन्त्रण रखती है। तेविज्जसुत्त[1] में इस विषय का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है कि सिद्धान्त-सम्बन्धी विश्वास ही ज्ञान नहीं है। इस प्रश्न के उत्तर में कि 'मुझे दुःख से छुटकारा पाने के लिए क्या करना चाहिए?' बुद्ध भी उपनिषदों की ही शैली में कहते हैं कि स्वार्थपरता पर विजय पाने में ही मुक्ति है, क्योंकि कल्पना की दृष्टि से स्वार्थपरता अहंकार की भ्रान्ति है और क्रियात्मक रूप में यह आत्मा की उत्कट अभिलाषा है। बुद्ध बार-बार यही दोहराते हैं कि सत्य की प्राप्ति निम्नलिखित[2] आवश्यक शर्तों के ऊपर निर्भर करती है : (१) श्रद्धा, (२) दर्शन अथवा दृष्टि। केवल विश्वास अथवा श्रद्धा ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि अन्य व्यक्तियों के प्रामाणिक लेखों के आधार पर प्राप्त किए गए सत्य हमारे मन के लिए फिर भी बाह्य हैं और इसीलिए हमारे जीवन के वे अंग नहीं बन सकते। "देखो हे भिक्षुओ, क्या तुम कहना चाहते हो कि चूंकि हम अपने गुरु को आदर की दृष्टि से देखते हैं इसीलिए उस आदर के कारण ही हम उसके अमुक-अमुक वचन पर विश्वास करते हैं ? तुम्हें ऐसा न कहना चाहिए, क्योंकि क्या जिसे तुमने स्वयं अपनी आंखों से देखा अथवा अपनी बुद्धि से तोला वह सत्य न होगा ?"[3] (३) भावना अथवा अनुशीलन। यह ध्यान का अथवा बार-बार सत्य के विषय में विचार करने का नाम है जब तक कि हम उसके साथ तादात्म्य उत्पन्न करके उसे अपने जीवन में पूर्णतया घटा न लें। अनुशासनविहीन व्यक्ति उच्चतम जीवन में प्रवेश नहीं कर सकता, और फिर भी सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार ही मानव-जीवन का मुकुट है, जिसके धारण करते ही फिर कोई मिथ्या विश्वास नहीं टिक सकता। अरस्तू अपने नीतिशास्त्र के अन्त में ध्यान पर ही आकर रुकता है, जिसे वह परम सद्गुण कहता है, यद्यपि उसमें सम्बद्ध अन्य सद्गुणों का भी वह सर्वेक्षण करता है। बुद्ध 'प्रज्ञा' को उत्कृष्टतम निधि मानते हैं, किन्तु इस विषय की भी सावधानी रखते हैं कि बिना प्रेम एवं परोपकार भाव के प्रज्ञा सम्भव नहीं है, अथवा यदि सम्भव भी हो तो फलवती तो हो ही नहीं सकती। क्रियात्मक रूप में सदाचरण धारण किए बिना केवल समाधि में बैठकर ध्यान करने मात्र से ही पूर्णता प्राप्त

१. ३, १० ।

२. मज्झिम, १ ७१ ।

३. मज्झिम, १ ।

नहीं हो सकती।[1]

दूसरा आक्षेप जो बौद्धधर्म के नीतिशास्त्र पर किया जाता है वह यह है कि यह त्यागमय जीवन की शिक्षा देता है। यदि इच्छा के दमन का नाम ही त्यागी जीवन है तब तो बौद्धधर्म अवश्य त्यागमय है। इच्छा ही जीवनरूपी इस भवन का निर्माण करती है। बिना किसी उद्देश्य के एवं बिना विश्राम के चलते जाना इसका स्वभाव में है। यह कभी शान्त नहीं होती। निम्न श्रेणी के जीवधारी में यह केवल असंस्कृत प्रेरणा है, उत्कट अभिलाषा अथवा तृष्णा (तण्हा) है जबकि विवेकपूर्ण तृष्णा ही इच्छा है। तृष्णा का विलोप इच्छा के मूलोच्छेद हो जाने से ही सम्भव है। और इसे क्रियाशील इच्छाशक्ति अथवा द्वन्द्व के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। बुद्ध केवल निष्कर्मण्यता का समर्थन नहीं करते, क्योंकि उनके मन में अनुचित इच्छाओं का दमन निष्क्रियता अथवा मौन के द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता अपितु प्रबल इच्छा और प्रयोजन को लेकर ही हो सकता है।

बुद्ध का आग्रह इसपर नहीं है कि इच्छाशक्ति का सर्वथा नाश कर दिया जाए अथवा संसार से ही विमुख हो जाया जाए, किन्तु उनका आग्रह यह है कि इच्छाशक्ति के साथ घोर युद्ध करके पाप को क्रियात्मक द्वन्द्व में पछाड़ दिया जाए। यदि कोई समालोचक बौद्धनीतिशास्त्र में अधिकतर ऐहलौकिक प्रवृत्तियों को ढूंढना चाहे तो उसे एक बौद्धयति (साधु) की बाहर से दीखनेवाली प्रशान्त चाल ढाल के नीचे एवं साहित्य और कला के क्षेत्र में स्पष्ट लक्षित होगा कि वात्सल्य व अनुराग से युक्त मनोभाव एवं इच्छाशक्ति सर्वथा निष्क्रिय नहीं हो गए और न निकालकर दूर ही कर दिए गए हैं अपितु विस्तृतरूप में इनको प्रगाढ़ श्रद्धा एवं उन्नत आशा के अधीन कर लिया गया है। क्योंकि कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं है, यहां तक कि प्लेटो का दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है जो इसी वर्तमान जीवन में पूर्णता को प्राप्त करने की बहत्तर सम्भावनाओं को दबा सका हो। और न ही कोई ऐसी धार्मिक पद्धति है और ईसाईधर्म भी इसमें अपवाद स्वरूप नहीं है कि जिसमें मानव प्रेम के विकास में हो निम्नश्रेणी की भावनाओं से भी ऊपर उठने की सम्भावना को स्थान दिया गया हो।[2] बुद्ध का आदेश कभी भी भावना एवं इच्छा को सर्वथा दबा देने की ओर नहीं था अपितु उनका आदेश था कि हम समस्त सृष्टि के प्रति यथार्थ प्रेम को बढ़ाना चाहिए। इस उज्ज्वल भावना से समस्त सृष्टि को भर देना चाहिए जिसमें एक अपार सदिच्छा का प्रवाह जारी हो सके। हमारे मन में आत्मविश्वास डगमगाने न पाए, हम कोई व्यर्थ एवं निकृष्ट वाणी मुंह से न निकालें, हम बराबर नम्र एवं दयालु रहें, अपने हृदय में प्रेम को स्थान देकर विद्वेष की गुप्त भावना से भी दूर रहें, और हम सदा अपने निकट में रहनेवाले व्यक्ति के प्रति प्रेममय विचार की किरणें विस्तृत करते हुए और उसके द्वारा समस्त संसार में एक प्रेम की लहर को दौड़ाते हुए मनुष्यमात्र को महान और विद्वेषभाव एवं कटु व्यवहार से सर्वथा रहित कर दें।[3] जातकग्रन्थों में जो कथाएं आती हैं उनमें बुद्ध के पूर्वजन्मों में दिखाए गए प्रेम एवं

१ धम्मपद १८३।
२ आनन्दी रीज़ डेविड्स : जर्नल आफ रायल एशियाटिक सो०।
३ मज्झिमनिकाय २१।

करुणा के भावोके अनेक दृष्टात दिए गए है।[1] बुद्ध का सिद्धात विषयभोग एव त्याग-तपस्या के बीच के मध्यमार्ग का सिद्धात है, और इसीलिए उन्होने सब प्रकार की अति एव पराकाष्ठाओ को छोड देने का आदेश दिया। वे हमे इच्छा को एकदम दबा देने का नही, अपितु उसकी दिशा को मोड देने मात्र का आदेश देते है। यही परिणाम हम बौद्धधर्म के सवेदना-विषयक विश्लेषण के सम्बन्ध मे निकाल सकते है। चेतना की अवस्था अपने-आपमे कभी अच्छी नही होती किन्तु अपने अन्तिम परिणाम के द्वारा ही अच्छी या बुरी कही जाती है। यदि परिणाम कल्याणकारी है तो हमे सुख मिलता है, किन्तु यदि अनिष्टकारी है तो दु:ख मिलता है, और यदि दोनो मे से एक भी नही तो हमे समदृष्टिपरक अनुभव होता है। सब प्राणियो का लक्ष्य कल्याण की ओर होता है, यद्यपि वे अधिकतर सापेक्ष कल्याण से ही सन्तुष्ट रह जाते है। ऐसे व्यक्ति कुछ चुने हुए ही है जो परमकल्याण अथवा अनन्तसुख की प्राप्ति के लिए महत्त्वाकाक्षा रखते पाए जाते है। बुद्ध हमे निम्नस्तर पर जीवन-निर्वाह की इच्छा को दबाने का आदेश देते है एवं प्रेरणा करते है कि हम भली प्रकार जीते रहने की इच्छा को उन्नत करके परम शाति को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। यदि उन्होने शात रहने की प्रशसा की है तो भी इसलिए कि उससे मन को एकाग्र करने मे सहायता मिलती है। इच्छाशक्ति को दबाना नही अपितु वश मे रखना है। इच्छा को नियन्त्रण एव अनुशासन मे रखे बिना संसार मे कोई भी महान कार्य सम्पन्न नही हो सकता। जब एक युवक राजकुमार ने बुद्ध से पूछा कि आपके सिद्धात मे निष्णात होने के लिए कितने समय की आवश्यकता है तो बुद्ध ने निर्देश किया कि जितना कि घुडसवारी सीखने मे। यहां भी इस प्रश्न का उत्तर इसके ऊपर निर्भर करता है कि पाच प्रकार की अवस्थाए उपस्थित हो अर्थात् आत्मविश्वास, स्वास्थ्य, गुण, शक्ति एव बुद्धिमत्ता।[2]

हमे इच्छामात्र को नहीं अपितु केवल अनुचित इच्छाओ को ही सब प्रकार की कठिन साधना के द्वारा शान्त रखने का आदेश दिया गया है।[3] "मै त्याग, तपस्या के प्रचार के साथ-साथ हृदयगत अन्य सब पापो को भी भस्मसात् कर देने का प्रचार करता हू। केवल वही सच्चा तपस्वी है जो इस प्रकार का आचरण करता है।" इसके अतिरिक्त बुद्ध के त्यागमय अनुशासन मे मन के आन्तरिक क्षेत्र का भी ध्यान रखा गया है, केवल शरीर की बाह्य उपलब्धियो का ही नही। वस्तुत बुद्ध शरीर के प्रति पूरा ध्यान देने का आदेश देते है, केवल उसमे लिप्त हो जाने का ही निषेध करते है। "क्या कभी तुम्हारे ऊपर युद्ध-भूमि मे बाण का प्रहार हुआ है?" "हा भगवन्, मुझे बाण लगा है।" "और क्या उसके घाव पर मरहम लगाकर एक महीन कपडे की पट्टी से बाधा गया है?" "हा भगवन्, ऐसा

हो हुआ था। 'क्या तुमने उस जन्म से प्रेम किया था?' 'नहीं।' 'ठीक इसीप्रकार से तपस्वी लोग अपने शरीर में आसक्ति नहीं रखते और उसके अन्दर आसक्ति न रखते हुए भी शरीर को धारण करते हैं इसलिए कि धार्मिक जीवन में शरीररूपी साधन की सहायता से आगे बढ़ सकें।'[1]

बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए भी समुचित वस्त्र धारण करने, नियमित भोजन करने तथा आवास-स्थान एवं चिकित्सा की व्यवस्था की अनुमति प्रदान की है। वे जानते थे कि शारीरिक कष्ट मन की शांति के लिए हानिकारक है जिसकी आवश्यकता दार्शनिक सत्यों को समझने के लिए है। बुद्ध ने तपस्या की भावना में परिष्कार किया एवं संयम तथा प्रमत्त तपस्वी जीवन में भी भेद किया। उन्होंने कतिपय कुत्सित प्रकार की तपस्याओं की महत्ता को भी स्थापित न होने दिया। यदि चाकू को उसके फल की ओर से पकड़ा जाएगा तो वह हाथ को काट लेगा। इसी प्रकार से मिथ्या प्रकार की तपस्या मनुष्य को नीचे गिराती है। उसकी दृष्टि में तपस्या का तात्पर्य जीवन की वेदना को कम करना नहीं था किन्तु अहंकार या अहंभाव का मूलोच्छेदन था। तपस्वी वह नहीं है जो शरीर को दण्ड देता है किन्तु वह है जो अपनी आत्मा को शुद्ध करता है। ऐसे विषयों से जो हमारी इच्छाओं को पथभ्रष्ट करते हैं अर्थात् सांसारिक चिंताएं, धन-सम्पत्ति की छलना तथा बाह्य पदार्थों की उत्कट लालसा आदि से अपने को छुड़ा लेने का नाम ही तपस्या है। उपनिषदों में आता है कि नचिकेता ने उस ब्रह्म को जानने के लिए जो मृत्यु से परे है एवं जीवन में विद्यमान है, आग्रह रखते हुए संसार के क्षणिक सुखों को स्वीकार करने से निषेध कर दिया। प्रत्येक स्वस्थ जीवन के लिए त्याग पर बल देना आवश्यक है। जब गौतमी भिक्षुणी ने बुद्ध से कहा कि मुझे धर्म के सारतत्त्व का उपदेश कीजिए, तो उन्होंने कहा कि "ऐसी कोई भी शिक्षा जिसके विषय में तू निश्चयपूर्वक कह सकती है कि यह शान्ति के मार्ग पर न ले जाने की अपेक्षा वासना की ओर ले जाती है, नम्रता की ओर न ले जाकर अभिमान की ओर ले जाती है, न्यूनतम की अपेक्षा अधिकाधिक की चाह की ओर ले जाती है, एकान्त की अपेक्षा लोकसमाज में रमे रहने की ओर ले जाती है, निष्कपट पुरुषार्थ की अपेक्षा निष्कर्मण्यता की ओर ले जाती है, एक ऐसे मन की अपेक्षा जिसे सन्तुष्ट करना सरल हो एसे मन की ओर ले जाती है जिसे सन्तुष्ट करना कठिन हो—तो हे गौतमी ऐसी शिक्षा धर्मशिक्षा नहीं है।"[2] एकान्त में ध्यान करना ही आध्यात्मिक शान्ति एवं अनासक्ति प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।

बौद्धधर्म के लिए अपने देश के भूतकाल को सर्वथा भुला देना सम्भव न था। बल्कि पूर्व के वैदिक समय से लेकर भारतवर्ष में त्याग एवं तपस्या की भावना वाले व्यक्ति विद्यमान रहे हैं जिन्होंने सांसारिक जिम्मेदारियों से अपने को सर्वथा पृथक् करके स्वतन्त्र विचरण करने के मार्ग को अपनाया था। उपनिषदों में हमने देखा कि किस प्रकार परब्रह्म के धर्म में स्थित हो व्यक्तियों ने नानाविध वृत्ति की कामना का परित्याग, धन-सम्पत्ति के संचय के लिए चेष्टा करना छोड़कर सांसारिक सुखोपभोग की खोज को भी तिलांजलि

1. मिलिन्द, पृष्ठ ७३।
2. हाइलर : बुद्धिस्ट एसेज, पृष्ठ २१५।

दे दी, और परिव्राजक बनकर घर से निकल पड़े।" ब्राह्मण-धर्मशास्त्र के नियम-विधान के अनुसार, इन सन्यासाश्रम ग्रहण करनेवालो को अधिकार दिया गया था कि वे अपने को सासारिक कर्तव्यो से पृथक् एव धार्मिक अनुष्ठानो से मुक्त रख सकते है। भारत मे यह पुरुष आदर्श तपस्वी था जिसके आगे क्या राजा और क्या एक किसान सब समानरूप से मस्तक झुकाते थे; जो राजमार्ग पर, गलियो मे एक घर से दूसरे घर बिना कुछ कहे, चुपचाप मौनरूप मे, हाथ मे भिक्षा-पात्र लेकर चलता था। जैकोबी इन भिक्षुओ के विषय मे कहते हैं : "इसमे कोई सन्देह नही कि ऐसे भिक्षुओ के लिए जो नियम बनाए गए थे उन्हे देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि समाज मे ईसापूर्व लगभग आठवी शताब्दी मे इनके लिए एक विशिष्ट स्थान था।" बौद्धभिक्षु ऐसे ही परिव्राजक है जिन्होने दान मे मिले भिक्षान्न के ऊपर जीवन-निर्वाह करते हुए, एव निर्धनता का व्रत लेकर बुद्ध के पवित्र सन्देश को सर्वत्र फैलाने के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया। नि सन्देह बुद्ध यह कभी आशा नही करते थे कि सब मनुष्य तपस्वी बन जाए। बुद्ध ने मनुष्यो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया है एक वे जो अब भी ससार एव उसके जीवन मे आसक्त है, इनको उन्होने उपासक अथवा साधारण मनुष्य कहा है। और दूसरे वे जो आत्मनियन्त्रण द्वारा सासारिक जीवन से मुक्त हो चुके है, इन्हे श्रमण अथवा तपस्वी कहा गया है।[1] सासारिक सद्गुणो के लिए उनके मन मे महान आदर था तो भी उनका विश्वास था कि सासारिक कर्तव्यो का पालन प्रत्यक्षरूप मे मोक्ष के लिए सहायक नही है। "गृहस्थ-जीवन अनेक प्रकार की बाधाओ से परिपूर्ण है—एक ऐसा मार्ग जिसे वासनाओ ने दूषित कर दिया है। वायु की भाति स्वच्छन्द उसका जीवन है जिसने सब सासारिक वस्तुओ का त्याग कर दिया हो। ऐसे व्यक्ति के लिए जो घर पर रहता है, पूर्णरूप मे उच्चतर एव पवित्र और उज्ज्वल जीवन-निर्वाह करना कितना कठिन है! इसलिए क्यो न मैं अपने केश व दाढ़ी मुडाकर और भगवे वस्त्र धारण करके गृहस्थ-जीवन को छोड़कर गृहविहीन दशा मे हो जाऊ।"[2] किन्तु इस विषय मे सर्वत्र एक समान विचार नही पाया जाता क्योकि, मज्झिमनिकाय के अनुसार, मनुष्य बिना भिक्षु बने भी निर्वाण प्राप्त कर सकता है। यद्यपि बुद्ध ने कुछेक अस्वास्थ्यकर तपस्या की क्रियाओ को दूषित ठहराया है, यह आश्चर्य की बात है कि बौद्धसघ के अनुयायियो के लिए जो नियन्त्रण का विधान किया गया है वह ब्राह्मणो द्वारा रचित ग्रन्थो मे वर्णित तपस्या के विधान से भी कही अधिक कठोर है। यद्यपि वचन अथवा कल्पना के रूप मे तो बुद्ध अवश्य यह स्वीकार करते है कि बिना कठोर तपस्या के भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है तो भी क्रियात्मक दृष्टि से, उनके अनुसार, लगभग सबके लिए कठोर तपस्या आवश्यक है।

पूर्णता के जीवन को प्राप्त करने के लिए बुद्ध के शिष्य जिस सस्था मे सम्मिलित होते है ऐसे बौद्धो के भ्रातृमण्डल का नाम सघ है। यह एक धार्मिक सस्था है जिसमे कुछ विशेष व्रत लेने पर और बौद्धधर्म को स्वीकार करने पर ही सदस्यो को प्रविष्ट किया जाता है। बिना किसी अपवाद के यह सबके लिए खुला है। प्रारम्भ मे तो बुद्ध ने स्त्रियो

१. तुलना कीजिए सेंट फ्रासिस की भिन्न-भिन्न आश्रम-व्यवस्थाओं के साथ।
२. तेविज्जसुत्त, १ ४७।

के प्रति प्रतिकूल विचार प्रकट किए किन्तु जब आनन्द ने प्रश्न किया कि स्त्री की उपस्थिति में पुरुष को कैसा आचरण करना चाहिए तो बुद्ध ने उत्तर में कहा : 'उसकी ओर देखने से बचो। यदि देखना आवश्यक हो तो उसके साथ भाषण मत करो। और यदि बोलना भी आवश्यक जान पड़े तो बहुत चौकन्ने रहो।'[1] जब राजा शुद्धोधन की विधवा रानी ने वानप्रस्थाश्रम का जीवन बिताने का निश्चय किया और एवं अन्य पांच सौ राजाओं की पत्नियों समेत दीक्षा लेने बुद्ध के पास आई तो बुद्ध ने तीन बार मना किया क्योंकि उनकी सम्मति में उनको प्रविष्ट करने से संघ में सम्मिलित हुए अन्य जितने ही व्यक्तियों के मन डावांडोल हो सकते थे। फिर जब वे अपने घायल पैरों एवं धूलिधूसरित वस्त्रों के साथ आई तो आनन्द ने पूछा : "क्या बौद्धों का जन्म इस संसार में केवल पुरुषों के ही लाभ के लिए हुआ है? निश्चय ही स्त्रियों को भी लाभ पहुंचाने के लिए हुआ है।" इसके पश्चात् उन्हें संघ में प्रविष्ट कर लिया गया। चूंकि सांसारिक दुःख सबपर एक समान असर रखते हैं, इसलिए उनसे छुटकारा पाने का मार्ग भी उन सबके लिए खुला होना चाहिए जो उसे स्वीकार करना पसन्द करें। रोगियों, पक्के दुराचारियों एवं उन लोगों को जिनका प्रवेश उनके वर्तमान अधिकारों में बाधक सिद्ध होगा, यथा योद्धाओं, ऋणियों और दासों तथा जिनके माता-पिता आज्ञा न दें एवं बच्चों—केवल इन्हें ही प्रवेश से वंचित रखा गया था। संघ भिक्षुओं एवं परिव्राजकों का एक सुसंगठित भ्रातृमण्डल है। ब्राह्मण धर्मानुयायी तपस्वियों का इस प्रकार का कोई सुसंगठित मण्डल अथवा संघ नहीं था। दीक्षित करने के इस प्रकार के प्रयत्न के कारण, जो जानबूझकर बौद्धों ने अंगीकार किया था, इस प्रकार का सुव्यवस्थित कार्य संभव हो सका। बौद्धभिक्षु को बचाने या दण्ड देने का अधिकार नहीं दिया गया है। उसका काम चमत्कार प्रदर्शन करना नहीं है और न ही वह परमेश्वर एवं मनुष्य के बीच में एक माध्यम का काम करता है, बल्कि वह केवल मनुष्य समाज का नेता है। संघ के अन्दर साधारण गृहस्थ एवं साधु दोनों प्रकार के सदस्य सम्मिलित हैं। गृहस्थ सदस्यों को सिद्धांत को मानना होता है, जबकि भिक्षु का काम प्रचार करने का है। बौद्धसंघ के नियमों में ब्राह्मणधर्म के विधानों का ही अनुकरण किया गया था, यद्यपि प्रचार के प्रयोजन के लिए उन्हें अपने अनुकूल बना लिया गया था। बुद्ध का अपने शिष्य के साथ अथवा एक बौद्धभिक्षु का अपने अनुयायियों के साथ ऐसा ही सम्बन्ध था जैसाकि शिक्षक एवं विद्यार्थियों के मध्य होता है।

जन्मपरक जाति की मान्यता के विषय में बुद्ध का क्या रुख था, इस विषय में बहुत अधिक मिथ्या कल्पनाएं मिलती हैं। वे इस संस्था का विरोध तो नहीं करते किन्तु इस विषय में उपनिषदों के दृष्टिकोण को अपनाते हैं। एक ब्राह्मण अथवा मनुष्य-समाज का नेता जन्म के कारण ब्राह्मण इतने अधिक अंश में नहीं माना जा सकता जितना कि अपने आचरण के कारण। बुद्ध के समय में जाति-पांति की पद्धति बहुत अस्त-व्यस्त दशा में थी जिसमें जन्म के आधार पर भी भेद किया जाता था, गुणों के कारण नहीं। "वह ब्राह्मण जिसने सब पापकर्मों को त्याग दिया है, जो अभिमान से रहित है, अशौच से रहित है

1. महापरिनिब्बानसुत्त ५ : २३।

आत्मसयमी है, और ज्ञान का धनी है, जिसने पवित्र जीवन के कर्तव्यो को पूरा किया है, केवल ऐसा ही ब्राह्मण वस्तुत न्यायपूर्वक अपने को ब्राह्मण कहने का अधिकारी है। किन्तु जो क्रोध का शिकार हो जाता है एव घृणा का भाव रखता है, जो दुरात्मा और दम्भी है, और जो अशुद्ध विचार रखता है एव प्रवचक है—ऐसे व्यक्ति का बहिष्कार करना चाहिए, इसी प्रकार जिसके अन्दर जीवधारियो के प्रति करुणा का भाव नही वह भी बहिष्कृत होने के योग्य है।" 'न तो जन्म से कोई ब्राह्मण है और न जन्म से ही कोई शूद्र, अपने कर्मो से ही मनुष्य ब्राह्मण एव शूद्र होता है।"[1] पूर्णता प्राप्त करने की शक्ति सब मनुष्यो मे होती है। बुद्ध स्वय उस ज्ञान की पूर्णता का एक दृष्टात है जिस तक कोई भी पुरुष ध्यान एव आत्मनियन्त्रण के द्वारा पहुच सकता है। यह सोचना बेकार है कि कुछ मनुष्यो को भूमिदासवर्ग के रूप मे और कुत्सित ही बने रहने के लिए बनाया गया है एव अन्यो को धर्मात्मा और ज्ञानवान बने रहने का वरदान मिला हुआ है। इसलिए सघ-व्यवस्था मे सब जातियो के व्यक्तियो को लेने का विधान था। कोई भी व्यक्ति बौद्धधर्म ग्रहण कर सकता था और सघ का सदस्य होकर ऊचे से ऊचा पद प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार बुद्ध ने जन्मपरक जाति के भाव का मूलोच्छेदन किया, जिसके कारण आगे चलकर अनेक अमानुषिक घटनाए होने लगी थीं। किन्तु ब्राह्मणधर्म के लिए भी यह विचार कही बाहर से नही आया था, क्योकि वह भी सन्यासी के पद को जन्मपरक जाति से ऊपर मानता था। हम यह नही कह सकते कि बुद्ध ने जाति-भेद को एकदम उडा दिया, क्योकि बौद्धधर्म आभिजात्य ही है। यह ऐसी जटिलताओ से भरा है जिन्हे केवल विद्वान पुरुष ही समझ सकते हैं, और बुद्ध के मन मे बराबर श्रमण एव ब्राह्मण ही रहते थे। उनके प्रथम दीक्षित शिष्यो मे ब्राह्मण, पुरोहित एव वाराणसी के धनी घरानो के युवक थे। हम यह भी नही कह सकते कि बुद्ध ने कोई सामाजिक क्राति उत्पन्न की। क्योकि यहा तक कि ब्राह्मण-परिवार मे जन्म लेना भी, बुद्ध के मत मे, पुण्य के पुरस्कार का ही परिणाम है।[2] वे एक धार्मिक सुधारक अवश्य थे क्योकि उन्होने निर्धन एव निम्नश्रेणी के व्यक्तियो के लिए भी ईश्वर के राज्य मे स्थान प्राप्त करा दिया। "आज तक भी जो यह विचार प्रचलित पाया जाता है कि बौद्धमत एव जैनमत सुधारक आन्दोलन थे और विशेषकर उक्त दोनो मतो ने जन्मपरक जाति के अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह किया, बिलकुल भ्रममूलक है। इन मतो का विरोध केवल इस विषय मे था कि केवल ब्राह्मण ही एकमात्र तपस्वी हो सकता है, किन्तु जन्मपरक जाति अपने पूर्वरूप मे उनके क्षेत्रो से बाहर विद्यमान थी और उसे इन दोनो मतो ने भी मान्यता प्रदान की थी। और इन दोनो सम्प्रदायो के अपने अन्दर भी यद्यपि कहने के वास्ते तो वे सबके लिए खुले थे लेकिन प्रारम्भ मे प्रवेश क्रियात्मक रूप मे ऊचे वर्णो तक ही परिमित था। उक्त दोनो सम्प्रदायो का व्यवहार ब्राह्मणो की पुरोहित-सस्था के प्रति कैसा रहा इस विषय मे जानने के लिए यह बात भी विशेष ध्यान देने के योग्य है कि धार्मिक विषयो मे उनके गृहस्थ अनुयायी और विषयो मे भले ही उनसे आदेश ग्रहण करते हो, किन्तु जन्म, विवाह एव मृत्यु आदि के सस्कारो मे उन्हे पुराने ब्राह्मण पुरोहितो का ही

१. देखिए वसलसुत्त, वासेट्ठसुत्त, और धम्मपद, अध्याय २६।
२. देखिए [illegible] आफ बुद्धिज्म', पृष्ठ ४४६।

आश्रय लेना पड़ता था।[1] बुद्ध कोई सामाजिक सुधारक नहीं थे। उन्होंने प्रगाढ़रूप में अनुभव किया कि दुःख का स्वार्थपरता के साथ गठबन्धन है और इसलिए उन्होंने एक नैतिक एवं मानसिक अनुशासन का उपदेश दिया जिससे कि इस आत्मप्रवंचना का जड़मूल से उच्छेदन किया जा सके। बुद्ध का पूरा उत्साह दूसरे लोक के प्रति था। इस लोक के आधिपत्य के लिए कोई उद्दीप्त उत्साह उनके मन में नहीं था जिसकी आवश्यकता एक समाजसुधारक या राष्ट्र के नेता को हो सकती है। उस प्रकार के उत्साह को बुद्ध ने कभी जाना ही नहीं और बिना उस प्रकार के उत्साह के कोई भी अपने आपको दलितों का उद्धारकर्ता तथा अत्याचार करनेवालों के विरुद्ध एक वीर के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। राष्ट्र एवं समाज की इस प्रकार के क्षेत्र में कोई चिन्ता न थी। बुद्ध ने उधर ध्यान नहीं दिया। ऐसे धर्मात्मा पुरुष का जिसने भिक्षु का बाना धारण कर संसार को त्याग दिया है संसार की चिन्ताओं में अथवा उसके कार्यकलाप में कोई भाग नहीं है। जन्मपरक जाति का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि प्रत्येक सांसारिक विषय उसके लिए अब किसी प्रयोजन का नहीं रह गया। किन्तु उसके मन में यह कभी नहीं आता कि उस जगत के नाश के लिए अपने प्रभाव का प्रयोग करना चाहिए अथवा उन व्यक्तियों के लिए जो सांसारिक क्षेत्रों में पीछे रुक गए हैं सांसारिक नियमों में कुछ शिथिलता लाने का प्रयत्न करना चाहिए।[2] विचार के क्षेत्र में उपनिषदों एवं बौद्धधर्म दोनों ने ही जन्मपरक जाति की महत्ता के विरुद्ध विरोध प्रकट किया। दोनों ने ही गरीब एवं साधारण व्यक्ति के लिए भी ऊंचे से ऊंचा आध्यात्मिक पद प्राप्त करने का मार्ग खोल दिया किन्तु दोनों में से किसीने भी वैदिक संस्थाओं एवं क्रियाओं का उल्लंघन नहीं किया यद्यपि इस विषय में बौद्धधर्म ब्राह्मणधर्म की अपेक्षा अधिक सफल रहा। किन्तु समाज सुधार की प्रबल भावना उस समय के उत्तम से उत्तम विचारक के भी मन में कभी नहीं आई। लोकतन्त्र समाज सुधार की आधुनिक प्रेरणा है।

हम पहले कह चुके हैं कि बुद्ध ने घरेलू संस्कारों एवं रीति रिवाजों में कोई बाधा नहीं डाली जो बल्कि नियमों के अनुसार बस ही चलते रहे।[3] जहां तक सिद्धान्त के विषय में वेदों की प्रामाणिकता का सम्बन्ध है बुद्ध ने उसे सर्वथा अस्वीकार किया। एक ही श्वास में उन्होंने समस्त सामान्य अथवा गुह्य सिद्धान्तों को जो प्रचलित थे ठुकरा दिया। हे शिष्यो ऐसी तीन वस्तुएं हैं जिनका स्पष्टवादिता से नहीं गुप्तता से सम्बन्ध है—स्त्रियां पुरोहिताई एवं मिथ्या सिद्धान्त।[4] मैंने सत्य का प्रचार करने में कभी सामान्य एवं दीक्षित व्यक्तियों के लिए गुह्यागुह्य सिद्धान्तों में कोई भेद नहीं रखा है क्योंकि सत्य के विषय में हे आनन्द तथागत ने एक ऐसे शिक्षक के समान जो कुछ न कुछ छिपाकर रखता है कभी अपनी मुट्ठी बन्द नहीं रखी।[5] बुद्ध स्वयं भी वेदों के निन्दक थे। उन्होंने वेदों के उस भाग का स्पष्टरूप में विरोध किया जो यज्ञों में पशुहिंसा का विधान करता था।

१ हारनल : वैलफ्टा रिव्यू, १८९८, पृष्ठ ३ ।
ओल्डनबर्ग : बुद्ध, पृष्ठ १५३-१५४ ।
३ देखिए भण्डारकर—ए पीप इनटु द अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया ।
४ अंगुत्तरनिकाय । ५ महापरिनिब्बानसुत्त ।

कम से कम गीतगोविन्द के प्रणेता जयदेव, एव भक्तिशतक के—जिसे बुद्धशतक भी कहते है—रचयिता रामचन्द्र भारती का यही मत है।

१५

कर्म एवं पुनर्जन्म

कर्म का विधान कही बाहर से आरोपित नही किया गया है बल्कि यह हमारी अपनी ही प्रकृति मे कार्य करता है। मानसिक आदतो का निर्माण, बुराई की ओर बढती हुई प्रवृत्ति, आवृत्ति का दृढ होता जानेवाला प्रभाव—जो आत्मा की सशक्त स्वतन्त्रता की जड खोखली करता है, हम चाहे इसे जानें या न जाने—ये सब कर्मविधान के अन्तर्गत समझे जाते है। हम अपने कर्मो के फल भोगने से बच नही सकते। भूतकाल वास्तविक अर्थो मे वर्तमान एव भविष्यत् को जन्म देता है। यह कर्मविधान का ही सिद्धान्त है जो मानवीय सम्बन्धो मे न्याय करता है। "यह कर्मो मे भेद के कारण है कि जिससे सब मनुष्य एकसमान नही है। किन्तु कुछ मनुष्य दीर्घजीवी होते है तो कुछ अल्पजीवी, कुछ स्वस्थ होते हैं तो कुछ रोगी रहते हैं आदि-आदि।[1] इस व्याख्या के बिना मनुष्य अपने-आपको घोर अन्याय का शिकार होते हुए अनुभव करेंगे। दु ख भोगनेवाले की भी यह इस रूप मे सहायता करता है कि वह अनुभव करता है कि दु ख भोगने से वह एक पुराना ऋण उतार रहा हैं। और सुखी पुरुष को भी यह नम्र बनाता है क्योंकि वह फिर अच्छे कार्य करेगा, जिससे कि वह फिर सुखभोग के योग्य हो सके। जब एक पीडित शिष्य बुद्ध के पास अपने फटे हुए माथे को लेकर और जख्मो से खून बहाते हुए आया तो बुद्ध ने उससे कहा "इसे ऐसा ही रहने दो। हे अर्हत्...तुम अब अपने कर्मो के फल को भोग रहे हो, जिसके लिए अन्यथा तुम्हे पापमोचनस्थान मे शताब्दिया लग जाती।" कर्मविधान वैयक्तिक उत्तरदायित्व पर एव भविष्यजीवन की यथार्थता पर बल देता है। यह इस बात को मानता है कि पाप का फल पापी की सामाजिक स्थिति के ऊपर निर्भर करता है। यदि कोई दुर्बल मनवाला मनुष्य, जिसका नैतिक आचरण भी दुर्बल है, कोई बुरा काम करता है तो वह नरक मे जाता है। यदि कोई सज्जन पुरुष कोई बुरा काम करता है तो वह इसी जीवन मे थोडा-सा दु ख पाकर ही बच सकता है। "यह इस प्रकार है कि यदि कोई मनुष्य पानी के एक प्याले मे नमक का एक ढेला डाल दे तो पानी नमकीन हो जाएगा और पीने के योग्य न रहेगा। किन्तु यदि उसी नमक के ढेले को गगा नदी मे डाला जाए तो गंगा का पानी प्रत्यक्ष रूप मे ज़रा भी दूषित न होगा।[2]

कर्म का सिद्धान्त बौद्धधर्म से बहुत पुराना है, यद्यपि इसकी युक्तियुक्तता परिणति के दर्शन मे मिलती है। कारणो एव कार्यो की एक लम्बी शृङ्खला मे मनुष्य केवल अस्थायी कडियो के समान हैं जहा कोई भी कडी शेष कडियो से पृथक् नही है। किसी भी व्यक्ति का इतिहास उसके इस जन्म से ही प्रारम्भ नही होता बल्कि युगो से बन रहा

१. मिलिन्द। देखिए मज्झिम, ३ : २०३, और बुद्धघोष : अत्थसालिनी, पृष्ठ ८८।
२ अंगुत्तरनिकाय, १ : २४९।

होता है।

जब कर्म का ही सर्वोपरि सिद्धान्त—यहां तक कि देवताओं एवं मनुष्यों से भी ऊपर मान लिया जाता है तब मनुष्य की इच्छा एवं प्रेरणा का कहीं स्थान निर्दिष्ट करना कठिन हो जाता है। यदि उस सबका जो हो रहा है या होगा निर्णायक कर्म ही है तो यह समझना कठिन हो जाता है कि मनुष्य जो करता है उसपर विचार क्यों किया जाए। उस कर्मविधान के अनुकूल कार्य करना ही पड़ेगा इसके अतिरिक्त उनके पास और कोई चारा नहीं। भाग्य घटनाक्रम के लिए मौन स्वीकृति देने का ही दूसरा नाम है। विचारधारा के इतिहास में इस प्रकार का भाव बार बार उठता है। यूनानी विद्वानों की सम्मति में, नियति की अपरिवर्तनशीलता ऐसी है जो मनुष्य एवं देवताओं से भी ऊंची है और जिसमें पुण्यकार्य अथवा प्रार्थना द्वारा कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। वही भयावह भाग्य (दैव) कात्विन के धार्मिक विश्वास में भी प्रकट होता है एवं इस्लामधर्म में यही किस्मत कहलाता है। किसी व्यक्ति को भी इस विषय का पता नहीं हो सकता यहां तक कि बुद्ध से भी नहीं पता लग सकता कि उनके भाग्य में पहले से क्या है अथवा यह कि क्या उन्होंने पर्याप्त मात्रा में पुण्यकार्य किया है जिससे वे योग्य बन सकें। हम स्वीकार करते हैं कि बुद्ध ने कर्मस्वातन्त्र्य के विषय में कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया है वरन इसे कल्पना का विषय बनाकर यों ही छोड़ दिया है। फिर भी उनकी पद्धति में स्वतन्त्र कर्म की सम्भावना के लिए गुंजाइश है एवं समस्त कर्मविधान के ऊपर विजय प्राप्त करने की भी गुंजाइश है।[1] अन्यथा उन्होंने शक्ति भर प्रयत्न करने तथा घृणा और मिथ्याज्ञान के विरुद्ध संघर्ष करने पर जो बार बार बल दिया है उसकी संगति कर्मस्वातन्त्र्य के निषेध के साथ नहीं हो सकती। उनकी योजनाओं में पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त अर्थात् संवेग का स्थान है। निम्नलिखित सुझाव हमें इस योग्य बना सकते हैं कि हम कर्मस्वातन्त्र्य एवं कर्मविधान का परस्पर समन्वय कर सकें। निश्चित परिणाम के समर्थन में आधुनिक विचारधारा में भी मुख्य तर्क कारणकार्यभाव से ही आता है। बौद्धधर्म के अनुसार कर्म एक यान्त्रिक सिद्धान्त नहीं है वरन स्वरूप में एन्द्रिय है। आत्मा बढ़ती है और विस्तृत होती है। यहां आत्मा नहीं है अपितु एक विकसित होता हुआ चरित्र है जो अवस्थाओं की शृंखला में विस्तृत हो जा सकती है। यद्यपि वर्तमानकाल का निर्णय भूतकाल से होता है भविष्य फिर भी हमारे आगे चुनाव के क्षेत्र के रूप में खुला है जिसे हम स्वेच्छा की प्रेरणा के ऊपर निर्भर कर सकते हैं। और भूतकाल द्वारा वर्तमान का निर्णय भी केवल यान्त्रिक नहीं है। कर्मविधान हमें बतलाता है कि भूतकाल और वर्तमान के मध्य में तारतम्य है और यह कि वर्तमानकाल भूतकाल के साथ अनुकूलता रखता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वर्तमान काल भूतकाल का ही सम्भव उपज है। हे पुरोहितो! यदि कोई कहता है कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा तब ऐसी अवस्था में कोई धार्मिक जीवन नहीं रह सकता और न ही कोई अवसर दुःख के सर्वथा विनाश के लिए उपस्थित हो सकता है। किन्तु हे पुरोहितो! यदि कोई मनुष्य ऐसा कहता है कि मनुष्य को अपने

1. मिलिन्द प्रश्न ४, ८, ३६–४१।

कर्मों के अनुकूल ही पुरस्कार मिलता है तो उस अवस्था मे धार्मिक जीवन की सम्भावना है और दुःख के सर्वथा विनाश का भी अवसर प्राप्त हो सकता है।[1] कर्मविधान की यान्त्रिक मिथ्या व्याख्या का नीतिशास्त्र एव धर्म के साथ विरोध है, यथार्थ व्याख्या का नही।

इस समस्या मे सारी कठिनाई बुद्ध के दृष्टिकोण के मनोविज्ञानयुक्त और तर्कसम्मत होने के कारण है। आत्मा का विश्लेषण करके उसे गुणो, प्रवृत्तियो एव चित्तवृत्तियो का पुज बनाना मनोविज्ञान के लिए बिल्कुल युक्तियुक्त हो सकता है, जिसका उद्देश्य भी परिमित हो। मनोविज्ञान के आगे, जो मानसिक अनुभवो के उद्भव एव वृद्धि के कारण का पता लगाकर उनके मध्य कारणकार्यसम्बन्ध की स्थापना करता है, एक नियति का विचार टिक सकता है। किन्तु वही नियति-सम्बन्धी विचार आत्मा की सम्मिलन रूपी रचना की ठीक-ठीक व्याख्या कभी नही कर सकता। यदि हम विषयीनिष्ठ अवयव पर बल न दे जिस सिद्धान्त के कारण ही मानसिक तथ्य मन के तथ्य हो सकते है तो हमारी आत्मा के स्वरूप की व्याख्या मिथ्या होगी। जब हम आत्मा को उसके तत्त्वों से पृथक् कर देते है तो यह केवल तार्किक दृष्टि से एक अमूर्तभावात्मक पदार्थ रह जाता है जो हमारी क्रियाओं का निर्णायक नही हो सकता। हमारी सम्पूर्ण आत्मा किसी भी क्षण मे हमारी क्रिया की प्रमाता (विषयी) है और इसमे अपने भूतकाल को अतिक्रमण करने की योग्यता है। तत्त्वविहीन आत्मा एक निर्गुण एव ऊसर भूमि की भाति है, क्योकि ये तत्त्व ही तो है जो आत्मा के सहारे के बिना नियति को पूर्णता प्रदान करते है, चूकि संहत या राशीभूत आत्मस्वातन्त्र्य एक तथ्य है। यह कथन कि बिना कारण के कुछ नही होता, इस मत के साथ कि आत्मा की वर्तमान अवस्था कारण बन सकती है, असगत नही है। बौद्धधर्म का विरोध केवल अनियतिवाद के इस अवैज्ञानिक मत के साथ है जो यह कहता है कि मनुष्य के कार्य उसके उद्देश्यो से ही सचालित नही होते और जिसके अनुसार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति एक ऐसी अपरिमित शक्ति है जो किसी न किसी प्रकार से मन के सुव्यवस्थित कार्य-सम्पादन मे बाधा देती है। इस ससार मे यान्त्रिक विधान से भी ऊपर कुछ है, यद्यपि व्यक्तिगत विचारो एव इच्छाओ का एक सम्पूर्ण प्राकृतिक इतिहास भी है। इस प्राकृतिक प्रक्रिया की व्यवस्था एव आत्मिक वृद्धि को कर्म स्वीकार करता है। पुरुषार्थ के उत्तरदायित्व को दूर करने अथवा पुरुषार्थ को अयथार्थ ठहराने का अभिप्राय नही है, क्योकि बिना पुरुषार्थ के कोई बडा काम सम्पन्न नही हो सकता।

यह बताया गया है कि उच्चतम अवस्था प्राप्त कर लेने पर फिर कर्म का कोई असर नही रहता। भूतकाल के सब कर्म अपने फलो समेत सदा के लिए विलुप्त हो जाते है। मोक्ष की अवस्था भले एव बुरे दोनो से परे है। प्राय यह कहा जाता है कि नैतिकता या सदाचार का सर्वातिशायी महत्त्व कुछ नही रह जाता, क्योकि परम आनन्द की प्राप्ति मे नैतिक कर्म बाधक हो सकते है, कारण कि उनका पुरस्कार भी अनिवार्यरूप

१. अगुत्तरनिकाय, ३ ९९।

म मिलना निश्चित है और इस प्रकार उन्हीं के कारण जीवन का चक्र बराबर बना रहेगा। इसलिए इस जीवन मे छुटकारा पाने के लिए पुण्य एव पाप दोनो ही प्रकार के कर्मों से दूर रहना होगा। समस्त नैतिक आचरण अन्तिम लक्ष्य के लिए तैयारी है। जब आत्म प्राप्त हो गया तो सघर्ष भी समाप्त हो जाता है। फिर भविष्य-जीवन म किसी कार्य का फल मिलने को नहीं है। यह उपनिषदो का सिद्धान्त है कि मुक्तात्मा पुरुष जो भी कार्य करता है वह अनासक्ति के भाव से करता है। सब प्रकार के कर्म अपना फल नहीं देते वरन् ऐसे ही कर्मों का फल मिलता ह जो स्वार्थपरक इच्छा को लेकर किए जाते हैं। इसलिए मोक्ष की उच्चतम दशा नैतिक नियमो एव कर्मविधान के कार्यक्षेत्र से भी परे है। फिर भी नैतिकता या सदाचार का एक प्रकार का ऐन्द्रिय सम्बन्ध अन्तिम लक्ष्य के साथ ह।

घूर्णमान चक्र उन जीवनो की शृखला का प्रतीक है जिनका निर्णय कर्मों के सिद्धात के आधार पर होता है। पुराने जीवन का विलय ही नये जीवन का निर्माण है। मत्यु केवल व्याख्याओं म चल रहा जन्म का एक रूप है इसके अतिरिक्त और कुछ नही। जीवन भर परिवर्तन होते रहते हैं। जन्म एव मत्यु मौलिक परिवर्तन हैं जिन्हे हमने नाम दे दिया है। जब उन कार्यों का पुज जिनका फल इस जन्म मे मिलने को है समाप्त हो जाता है तो मत्यु आती है। जीवन का चक्र हमारे सम्मुख नये अवसर उपस्थित करता है जिनम यदि हम चाहें तो अपने भाग्य को उन्नत कर सकते हैं। इस जीवन के चक्र म केवल मनुष्य ही नही अपितु समस्त जीवित प्राणी सम्मिलित हैं जो निरन्तर ऊचे चढ़ते एव नीचे गिरते रहते हैं।

ब्राह्मण या पौराणिक धर्म की कल्पना का अनुसरण करते हुए बुद्ध दुरात्मा व्यक्तियो के लिए नरक एव अन्य अपूर्ण व्यक्तियो के लिए पुनर्जन्म की व्यवस्था करते हैं। स्वर्ग की कल्पना को उन्होंने स्वीकार किया है। मत्यु के पश्चात्, शरीर के विलय हो जाने पर सुकृत आचरण वाले व्यक्ति का जन्म स्वर्ग म किसी सुखी अवस्था म होता है।[1] किसी किसी स्थान पर ऐसा भी आता है कि पुनर्जन्म होने से पूर्व स्वर्ग एव नरक म कुछ कुछ अस्थायी रूप मे रहना होता है। आदिबौद्धधर्म ने जातकों के द्वारा पुनर्जन्म के भावो को प्रचारित किया जिनम वर्णन किया गया कि किस प्रकार पूर्वजन्मो म बुद्ध ने आत्म त्याग के अनेक कर्मों द्वारा अपने आपको पाप के साथ सघर्ष करते हुए बोधिवृक्ष के नीचे अन्तिम विजय के लिए सन्नद्ध किया था। यह कहा जाता है कि यदि हम अलौकिक शक्तियो का विकास कर सकें तो हम भी अपने प्रत्येक पूर्वजन्मो की अनन्त शृखला का साक्षात्कार कर सकते हैं।

बौद्धधर्म में आत्मा के देहान्तरगमन का कोई स्थान नही है और न ही एक जीवन से दूसरे जीवन मे जाने का कोई विधान है। जब मनुष्य मर जाता है तब उसका भौतिक शरीर जो उसके भौतिक जीवन का आधार है छिन्न भिन्न होकर विलय को प्राप्त हो जाता है एव उसका भौतिक जीवन समाप्त हो जाता है। पुनर्जन्म मे आनेवाला व्यक्ति

१ महापरिनिब्बान १ २४।

वह नही है जो मर गया था किन्तु दूसरा ही है, क्योकि आत्मा तो है नहीं जो दूसरे शरीर मे प्रवेश करे। यह केवल चरित्र ही है जो बराबर रहता है।[1] मृत्यु की घटना द्वारा जो दो जन्मो मे पृथक्ता आती है उनके मध्य मे कर्म की निरन्तरता किस विशेष विधि के द्वारा स्थिर रहती है, इस विषय का कोई भी समाधान बौद्धधर्म मे नही किया गया। बौद्धधर्म केवल इसे मान लेता है कि कर्म की निरन्तरता रहती है। हमे बताया जाता है कि पूर्वानुपर जीवन प्राकृतिक कारणकार्यभाव की शृखला से जुड़ा रहता है। शेष बचा हुआ कर्मस्वरूप एक नये व्यक्तित्व का निर्माण करता है जो अपने-आप ऐसे जीवन की अवस्था की ओर आकर्षित हो जाता है कि जिसके वह योग्य है। यह भी कहा जाता है कि कर्म के सामर्थ्य के कारण मरते हुए मनुष्य की चेतना एक ऐसी शृखला को उत्पन्न करती है अथवा प्रारभ करती है जिसके साथ एक सूक्ष्म शरीर भी सम्पृक्त रहता है, जिसका अन्तिम भाग किसी न किसी गर्भाशय मे जाकर अपना स्थान बना लेता है।[2] इस विषय का कि उसे किसके गर्भ मे जाना है, अवयव साधारणत वह अन्त समय का विचार रहता है जोकि मरते हुए व्यक्ति के नैतिक एव बौद्धिक जीवन का सारतत्त्व होता है। यह वह शक्ति है जो मरने के समय नया जन्म ग्रहण करने की इच्छा है। केवल यह कर्म अथवा कर्मो से उत्पन्न होनेवाली शक्ति ही आवश्यक नही अपितु उपादान का होना भी आवश्यक है, जिसका आशय जीवन मे लिप्त रहना है। चूकि जीवन एक प्रकार की सम्मिश्रित सत्ता है, इसलिए पृथक्-पृथक् अवयव यदि एकसाथ सम्मिश्रित न हो तो जीवन न बन सकेगा। एक कार्यकारी शक्ति का रहना भी आवश्यक है जो भिन्न-भिन्न अवयवों को फिर से एकसाथ एकत्र कर सके। इसी आकर्षण-शक्ति के दबाव से, जिसे उपादान कहा जाता है, एक नया सम्मिश्रण तैयार होता है। बिना इसके कर्म भी कुछ नही कर सकता। कर्म एक सूचना देनेवाला तत्त्व है, जो अपने लिए उचित सामग्री की प्रतीक्षा करता रहता है।

"क्योकि जब किसी जीवन मे कोई व्यक्ति मृत्यु के द्वार पर पहुचता है, चाहे प्राकृतिक घटनाक्रम से हो चाहे हिंसा द्वारा हो; और जब असह्य एव मरणान्तक पीडाओ के एकत्र समुदाय के कारण शरीर के सब बड़े व छोटे सदस्य शिथिल पड़कर एव जोड़ो एव स्नायुजाल मे मुडकर अलग होने लगते है, और यह शरीर धूप मे पडे ताडपत्र के समान शनैः-शनै सूखने लगता है, और आख आदि अन्य सब इन्द्रिया भी काम करना बन्द कर देती है, और सवेदनशक्ति किंवा सोचने की शक्ति और जैवशक्ति सब अपने अन्तिम आश्रय-स्थान हृदय के अन्दर आ जाती हैं—तब उस अन्तिम शरणाश्रय अर्थात् हृदय मे निवास करनेवाली चेतना, जिसे क्षमता भी कह सकते हैं, कर्म के बल से विद्यमान रहती है। यह कर्म उस वस्तु को जिसके ऊपर यह निर्भर करता है, अपने अन्दर समवेन एव स्थिर रखता है, और इसमे पूर्व के वे कर्म भी सम्मिलित रहते है जो अधिक महत्त्व के है, और बार-बार अभ्यास मे आए होगे तथा इस समय अधिक सन्निकट है, अथवा यही कर्म अपना अथवा नवीन जीवन की आकृति का पूर्वाभास देता होगा जिसमे अभी जाना है, और इसी विषय

१. देखिए अभिधर्मकोष, ३ : २४।
२. देखिए पूसी—'द वे टु निर्वाण', पृष्ठ ८३-८४।

को लक्ष्य में रखने के कारण चेतना अपना अस्तित्व स्थिर रखती है।

चूंकि चेतना अभी भी विद्यमान है यहां तक कि इच्छा एवं अज्ञान अभी भी दूर नहीं हुए और उद्देश्य का अशुभ भाग अभी भी अज्ञान के कारण छिपा हुआ है इच्छा के द्वारा चेतना का झुकाव जीवन रूपी लक्ष्य की ओर करा दिया जाता है और कर्म जो चेतना के साथ साथ ही आ गया इस उक्त उद्देश्य की ओर अग्रसर करता है। यह चेतना उस शृंखला के अन्दर रहते हुए जिसका झुकाव इच्छा के कारण उक्त उद्देश्य की ओर है और जिसे कर्म ने इसकी ओर अग्रसर किया है एक खाई के ऊंचे किनारे पर के वृक्ष से लटकता रस्सी के सहारे झूलनेवाले मनुष्य के समान अपने पहले विहित स्थान को छोड़ती है और दृश्यमान पदार्थों के ऊपर निर्भर करती हुई अपनी स्थिति को संभाले रहती है एवं कर्म द्वारा निर्मित अन्य किसी विहित स्थान पर प्रकाशित होती भी है और नहीं भी होती। यहां पर चूंकि पहली चेतना अब नहीं रही इसीलिए कहा जाता है कि अमुक मनुष्य अब इस संसार में नहीं रहा और परवर्ती चेतना चूंकि नये जीवन में फिर से उत्पन्न होती है इसलिए उसे हम पुनर्जन्म कहने लगते हैं। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि यह परवर्ती चेतना नये जीवन में पूर्वचेतना से नहीं आई और यह कि यह केवल पूर्वजन्म में वर्तमान कारण से ही अर्थात् कर्म अथवा क्षमता एवं झुकाव (नया जन्म लेने की प्रवृत्ति) से ही वर्तमान जीवन में प्रकट हुई है।[1]

जीवन की भिन्न भिन्न योनियों का वर्णन किया गया है अर्थात् एक ओर पशु प्रेतात्मा एवं मनुष्ययोनि और दूसरी ओर देवता तथा नरक के प्राणी अथवा दानव।[2] दूसरे विभाग की योनियां आभास या छाया मात्र हैं और उनकी जन्मविषयक चेतना ही असंगठित प्रकृति के अन्दर से अपने लिए शरीर का निर्माण कर सकती है। पशु प्रेतात्मा और मनुष्य की योनियों के लिए जीवनधारण सम्बन्धी चेतना के लिए विशेष भौतिक अवस्थाओं का विद्यमान रहना आवश्यक है और यदि मृत्यु के क्षण में वे अवस्थाएं उत्पन्न न हो सकीं तब मृत्युसमय की चेतना नये जन्म की चेतना के रूप में तुरन्त आगे नहीं चल सकती। इस व्यक्ति के लिए गन्धर्वयोनि में एक अल्पकालिक मध्यवर्ती जन्म होने का विधान बनाया गया है। यह गन्धर्व एक देहविहीन आत्मा के समान यथासम्भव शीघ्र ही गर्भाधान सम्बन्धी घटना की सहायता से उपयुक्त भ्रूण का निर्माण कर देता है।

निरन्तरता का कारण कार्य सम्बन्धी समाधान ही पुनर्जन्म का भी समाधान कर देता है। जिस व्यक्ति ने नया जन्म धारण किया है वह मृत मनुष्य के कर्म का उत्तराधिकारी है किन्तु तो भी है वह एक नया प्राणी। स्थायी साम्यता न रहने पर भी अभावात्मक विच्छेद भी तो नहीं है। नया प्राणी वह है जो उसे उसके कर्मों ने बनाया है। कर्म के अनुजीवन के इस सिद्धान्त की चर्चा उपनिषद् में भी—बृहदारण्यक उपनिषद् में

[1] बुद्धघोष का 'विसुद्धिमग्ग', अध्याय १७, देखिए वारेन, 'बुद्धिज़्म इन ट्रांसलेशन्स', पृष्ठ २३८–। मध्यकाल के बौद्धधर्म के मनोविज्ञान ने पुनर्जन्म अथवा गर्भधारण या प्रतिसन्धि की व्याख्या का जो प्रयास किया है उसके उदाहरण के लिए हम पाठकों से कहेंगे कि वे श्री आंग के अनुरुद्धकृत अभिधम्मत्थसंगह के अनुवाद और विशेषकर उसके प्रस्तावनारूप निबंध को देखें।

[2] देखिए आंग एवं राइज़ डेविड्स, 'कम्पेन्डियम आफ फिलासफी', पृष्ठ १३७–१३६।

आर्तभाग और याज्ञवल्क्य के मध्य हुए संवाद में—आती है।

बौद्धधर्म की मुख्य प्रवृत्ति तो कर्म को अनुजीवी घटक बताने की है किन्तु ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि विज्ञान का भी यही कार्य बताया गया है, अर्थात् विज्ञान के कारण पुनर्जन्म होता है। "हम आज जो कुछ भी हैं, अपने विचारों के परिणामस्वरूप हैं।" विज्ञान को वास्तविक अर्थों में "हमारी आत्मा का सारतत्त्व बताया गया है।" यह कथन केवल यह बताने के लिए है कि विज्ञान और कर्म में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसी प्रकार विचार और इच्छाशक्ति में भी। व्यक्तित्व के विनाश के साथ-साथ दुःख समाप्त हो जाता है। कर्म के ही कारण जीवन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इसलिए जब कर्म पूर्णतया अपने फल दे चुकता है तो जीवन का भी अन्त हो जाता है।

तात्पय होगा कि जीवित रहने की इच्छा बराबर बनी रहे। अनेक वाक्यो से यही ध्वनित होता है कि बुद्ध का आशय केवल मिथ्या इच्छा का विनाश करना था जीवनमात्र का विनाश करने से नही था। कामवासना घृणा एव अज्ञान के नाश का नाम ही निर्वाण है। निर्वाण के केवल इन्ही अर्थों मे हम पतीस वष की अवस्था मे बुद्ध की बोधि या सत्यज्ञान की प्राप्ति का आशय भली प्रकार समझ सकते हैं क्योकि उन्होने अपने जीवन के शेष पतालीस वष क्रियात्मक रूप से प्रचार करने एव प्राणिमात्र का उपकार करने म व्यतीत किए। कही-कही दो प्रकार के निर्वाणो मे भेद किया गया है (१) उपाधिशेष जिसम मनुष्य की केवल वासनाए ही लुप्त होती हैं और (२) अनुपाधिशेष जिसम पूरा अस्तित्व विलुप्त हो जाता है। चिल्डर्स के अनुसार पहले प्रकार का निर्वाण पूणता प्राप्त सत्पुरुष को उपलक्षित करता है जिसमे कि पाचो स्कन्ध अब भी उपस्थित हैं यद्यपि वह इच्छाशक्ति जो हमे जन्मधारण करने की ओर आकृष्ट करती है लुप्त हो जाती है। दूसरे प्रकार के निर्वाण मे सत्पुरुष की मत्यु के पश्चात एव मत्यु के परिणामस्वरूप समस्त अस्तित्व का ही लोप हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहा उन दो प्रकार के मुक्तात्मा पुरुषो के भेद को दर्शाया गया है जिनमे से एक जीवन्मुक्त हैं अर्थात मुक्त होते हुए भी जीवन धारण करते हैं एव दूसरे वे है जिनका सासारिक जीवन समाप्त हो गया है। जब कभी यह कहा जाता है कि मनुष्य को इसी जन्म मे निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है उससे तात्पय उपाधिशेष निर्वाण से ही होता है। अर्हत्व का नाम ही परिनिर्वाण है क्योकि अहत् इस क्षणभगुर ससार से तिरोधान हो जाता है। उपाधिशेष एव अनुपाधिशेष का भेद इस प्रकार निर्वाण एव परिनिर्वाण के बीच म जो भेद है उसके अनकूल है जिसका तात्पय नाश होना एव नितान्तरूप म नष्ट हो जाना है।[1] इस प्र न पर श द का कोई सुनिश्चित अथ व्यवहार के लिए नही दिया जा सकता।[2] यहा तक कि परिनिर्वाण श द का भी आशय नितान्त अभाव नही लिया जा सकता। इससे तात्पय केवल अस्तित्व की नितान्त पूणता से है। महात्मा बुद्ध ने अन्तिम मोक्ष का आशय यह बताया है कि यह चेतना की निर्दोष अवस्थाओ के प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नही है।[3] किसी भी प्रकार के दबाव एव सघष से मुक्त यह एक प्रकार का मानसिक विश्राम है। दुवासनापरक प्रव त्तियो के दमन के साथ साथ तुर त आध्यात्मिक उ नति भी होने लगती है। निर्वाण जो आध्यात्मिक सघष की समाप्ति एव सिद्धि है एक निश्चित परमानन्द की अवस्था है। यह पूणताप्राप्ति का लक्ष्य है एव शू यता का अगाध गत नहीं है। अपने अन्दर के समस्त व्यक्तित्वभाव को विनष्ट कर देने से ही हम सम्पूण विश्व के साथ सयुक्त हो सकते हैं एव उस महान प्रयोजन के एक आन्तरिक अग बन सकते है। उस अवस्था मे पूणता का अथ होता है उन समस्त पदार्थों के साथ एक होना जो हैं या कभी रह है या रहेंगे। सत पदार्थों के क्षितिज का विस्तार उस अवस्था मे यथाथ परमसत्ता तक हो जाता है। यह एक ऐसा जीवन है जो अहभाव से विहीन एव अनन्त जीवन है, जो विश्राम, शान्ति प्रशान्ति

१ मिलिन्द २ २४।
२ देखिए ओल्डनबग एस्सकेस ऑन निर्वाण, ३।
३ सवसिद्धान्तसारसग्रह ५ ४, २१।

परम आनन्द, सुख, मृदुता, पवित्रता एवं प्रत्यग्रता (ताज़ेपन) से परिपूर्ण है।"[1] मिलिन्द मे ऐसे स्थल आते है जिनमे इस विषय का सकेत किया गया है कि परिनिर्वाण के पश्चात् बुद्ध के जीवन का अन्त हो गया था। "महाभाग इस प्रकार के अत को प्राप्त हुए जिस प्रकार के अत मे अन्य व्यक्तित्व को प्राप्त करने का मूलमात्र शेष नही रहता। महाभाग का अन्त हो चुका है और इसलिए उनके विषय मे यह नही कहा जा सकता कि वे यहा है या वहा हैं। किन्तु सिद्धान्त रूपी शरीर के रूप मे उनका निर्देश अब भी अवश्य किया जा सकता है।"[2] हम बुद्ध की तो पूजा नही कर सकते क्योकि वे अब इस ससार मे नही हैं और इसीलिए हम उनके पवित्र अवशेषो और सिद्धान्तो की ही पूजा कर सकते हैं।[3] नागसेन ने निर्वाण के विचार को अभावात्मक अथवा सब प्रकार की चेष्टा से विरहित (चित्तवृत्तिनिरोध) एव सब प्रकार के भाव (भावनिरोध) के रूप मे ही वर्णन किया है। तो भी हमे ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय प्राचीन बौद्धों की दृष्टि मे निर्वाण का अर्थ है सत्य की पूर्णता, अनन्त परमसुख (कैवल्य) अर्थात् सासारिक सुखो व दु खो से बहुत ऊचे पद का परम आनन्द। "हे वच्छ, तथागत जब इस प्रकार से भौतिकता की कोटि से मुक्त हो जाता है तो बहुत गम्भीर, अपरिमेय, एव अगाध समुद्र के समान हो जाता है।" भिक्षुणी खेमा कोसल के पसेनदी को विश्वास दिलाती है कि मृत्यु ने तथागत को पाचो स्कन्धो के आनुभविक जीवन से मुक्त कर दिया। सारिपुत्त यमक को इस प्रकार का धर्मद्रोही विचार प्रकट करने के लिए बुरा-भला कहता है कि जिस भिक्षु के अन्दर से पाप निकल गया है वह मर भी सकता है। मैक्समूलर एव चिल्डर्स निर्वाण-विषयक जितने भी स्थल है उनका विधिपूर्वक अनुसधान करने के पश्चात् इस परिणाम पर पहुचते है कि "एक भी स्थल ऐसा नही पाया जाता जिसमे यह अर्थ निकाला जा सकता हो कि निर्वाण का अर्थ शून्यावस्था अथवा अभावात्मक अवस्था है।" इसलिए यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व का मिथ्या विचार नष्ट होता है एव यथार्थ सद् का भाव फिर भी रहता है। जैसे इन्द्रधनुष तथ्य या घटना एव कल्पना का सम्मिश्रण है, इसी प्रकार व्यक्तित्व भी सत् एवं असत् का मिश्रण है। गिरती हुई वर्षा की बूद 'रूप' है एव प्रकाश की पक्ति 'नाम' है, और उनके परस्पर एक-दूसरे को काटने से उत्पन्न पदार्थ का नाम 'भाव' या इन्द्रधनुष है जो भासमात्र व भ्राति है। किन्तु उसका आधार कुछ यथार्थसत्ता अवश्य है और वह नित्य है। "ससार मेरे ऊपर निर्भर करता है क्योकि मैं जाननेवाला हू और उसका ज्ञान प्राप्त करता हू, इस प्रकार वह मुझसे पृथक् है। केवल रूप या आकृति का ही ज्ञान हो सकता है, उसका नही जिसके ऊपर यह आधारित है। फिर किसके लिए ज्ञान के द्वारा ससार का त्याग किया जाए—अर्थात् केवल उसके रूप का ही। आकृति के रूप मे ही यह उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है, क्या यह सत् है, और सत् का अन्त होना आवश्यक है। वह जिसके ऊपर रूप का आधार है वही मूलभूत सत् है, तथा वह कभी भी और कही

१. मिलिन्द, २ · २, ६, ३ · ४, ८; २ · १, ६।

२. मिलिन्द, ३ ५, १०। इससे उस विचार का स्मरण होता है जो जार्ज इलियट के 'क्वायर इनविजिबल', अथवा मेटरलिंक के 'ब्लू बर्ड' में भावी सन्तति की स्मृति में आता है।

३ ४ : १; देखिए सयुत्त, १, भी।

भी असत में परिवर्तित नहीं हो सकता और जो नित्य है उसका कभी भी और कहीं भी अन्त नहीं हो सकता। 'निर्वाण आत्मा की नित्य अवस्था है क्योंकि यह संस्कार नहीं है और न ही ऐसी वस्तुओं के एकत्रीकरण से बना है जो अस्थायी है। यह निरन्तर रहता है केवल इसकी अभिव्यक्तियों में परिवर्तन होता है। यही वह है जो स्कन्धों की पृष्ठभूमि में विद्यमान है जबकि स्कन्ध जन्म एवं क्षीणता के अधीन हैं। परिणति की भाँति का आधार निर्वाण की यथार्थसत्ता है। बुद्ध इसकी परिभाषा करने की चेष्टा नहीं करते क्योंकि यह सबका मौलिक तत्त्व है और इसीलिए अवर्णनीय है। यह कहा जाता है कि निर्वाण की अवस्था में जिसकी तुलना प्रगाढ़ निद्रा के साथ की जाती है आत्मा अपने व्यक्तित्व को खो बैठती है एवं प्रमेयरूपी सम्पूर्ण विश्व में विलीन हो जाती है। बाद के महायानग्रंथों में जिस मत पर विशेष बल दिया गया है वह यह है कि जो कुछ है वह अचेतन है अर्थात् सत् रूप का प्रवाह है। अज्ञान की वायु इसके ऊपर से बहती है और इसके प्रवाह को चञ्चल बना देती है और इस प्रकार से इस जीवन रूपी समुद्र में कम्पन उत्पन्न करती है। प्रसुप्त आत्मा जागरित हो उठती है और इसका प्रशान्त अबाधितमार्ग रुक जाता है। यह प्रबुद्ध हो उठती है, विचार करती है, एक व्यक्तित्व का निर्माण करती है और अपने को सत् के प्रवाह से पृथक् कर लेती है। सुषुप्ति की अवस्था में ये अवरोध छिन्न भिन्न हो जाते हैं। निर्वाण फिर से सत् की धारा में आ जाने और अबाधित प्रवाह का रूप धारण कर लेने का नाम है। जिस प्रकार से सोते हुए मनुष्य का कोई भी विचार धारा क्षुब्ध नहीं कर सकती इसी प्रकार निर्वाण में हमें शान्तिमय विश्राम मिलता है। निर्वाण न तो शून्यरूप है और न ही जीवन है जिसका विचार मन में आ सके किन्तु यह अनन्त यथार्थसत्ता के साथ ऐक्य का भाव स्थापित कर लेने का नाम है जिसे बुद्ध प्रत्यक्षरूप में स्वीकार नहीं करते। चूंकि यह मानव के विचारक्षेत्र से परे का विषय है अतएव हम निषेधात्मक शब्दों द्वारा ही उसका वर्णन कर सकते हैं। यह एक ऐसी अवस्था है जो विषयी एवं विषय के परस्पर सम्बन्ध से अतीत है। इसमें आत्मचेतना की प्रतीति नहीं की जा सकती। यह क्रियाशीलता की एक ऐसी अवस्था है जो कारणकार्यभाव के अधीन नहीं है क्योंकि यह उपाधिविहीन स्वातन्त्र्य या मोक्ष है।[1] यह एक यथार्थ और दृढ़ अवस्था है यद्यपि देश और काल में जकड़े हुए संसार में विद्यमान नहीं है। भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के स्तोत्रग्रन्थ अगाध आह्लाद के कौशलपूर्ण वर्णनों से भरे पड़े हैं जिनमें निर्वाण का अमर आनन्द मिलता है और जो वाणी का विषय नहीं है। व्यक्तिगत चेतना एक ऐसी अवस्था में प्रवेश करती है जहाँ पर सब पाप व जीवन आकर विलीन हो जाते हैं। यह एक मौन अतीत है। एक अर्थ में यह आत्मविनाश है और दूसरे अर्थ में परम स्वातन्त्र्य है। जिस प्रकार सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश में तारा अस्त हो जाता है अथवा जल से विहीन बादल ग्रीष्म ऋतु में आकाश में छिन्न भिन्न हो जाता है इसी उपमा से इसे समझा जा सकता है। बुद्ध के अनुसार यह सोचना कि निर्वाण शून्यता का नाम है एक प्रकार का दूषित धर्मद्रोह है।[3]

१ दाह्ल्के : बुद्धिस्ट एस्सेज़, पृष्ठ २५८।
२ तुलना कीजिए : शून्यमनिमित्तमप्रणिहितम्।
३ अंगुत्तर, ३ : १०८।

यद्यपि निर्वाण की अवस्था को उच्चतम क्रियाशीलता का उपलक्षण बताया गया है, तो भी इसे मुख्यरूप से निषेधात्मक रूप मे निष्क्रिय ही समझा जाता है। आजकल के युग मे जबकि यह संसार कोलाहल, सघर्ष व उत्तेजनामय जीवन मे परिपूर्ण है, ऐसे व्यक्तियो को जो जीवन से ऊब गए है, पूर्णावस्था को स्वच्छन्दतावादी होने की अपेक्षा अधिक विश्राम-पूर्ण एवं ऐसी दशा मे प्रस्तुत करना वाछनीय है जो शान्ति एव सुख, निस्तब्धता एव नीरवता, तथा विश्रान्ति एव नवीन स्फूर्ति से पूर्ण है। जीवन-मरण का निरन्तर प्रवाह इतना प्रबल है कि निर्वाण का, अथवा ऐसी अवस्था का जिसमे कहा जाता है कि वह प्रवाह रुक जाता है, एक स्वर्गीय मुक्ति के रूप मे स्वागत किया जाता है।

उपनिषद् के विचारको के ही समान बुद्ध ने भी निर्वाणप्राप्त पुरुषो की दशा के विषय मे किसी प्रकार की धारणाविशेष को स्थान देने से निषेध किया है, क्योकि वह ज्ञान का विषय नही है। तो भी उपनिषदो के मार्ग का अवलम्बन करके वे इनका विध्यात्मक एव निषेधात्मक दोनो ही प्रकार का वर्णन करते है। 'तेविज्जसुत्त' मे वे इसे ब्रह्मा के साथ युक्त होने तक का नाम देते है। चूकि इस प्रकार का वर्णन उस मत के साथ संगति नही रख सकता जो बुद्ध को एक निषेधात्मक विचारक बतलाता है और जो इस ससार मे एव मनुष्य मे किसी स्थायी नियम से निषेध करता है, रीज डेविड्स कहते है: "ब्रह्मा के साथ विश्वप्रेम के अभ्यास द्वारा ससर्ग होने की आशा दिलाने मे सम्भवत अधिकतर भाव यह था कि बौद्धपरिभाषा मे 'ब्रह्मा के साथ ससर्ग' एक पृथक्रूप मे ब्रह्मा के साथ क्षणिक साहचर्य है, जो नवीन प्राणी है और जो चेतनारूप मे पूर्वप्राणी के समान नही है। यह बिलकुल सम्भव है कि मतानुज्ञा की व्याख्या सुत्त के इस भाग मे भी व्याप्त हो गई हो और यह कि ३ १ का आशय इस प्रकार का समझा जाए कि 'यह विश्वप्रेम ही एकमात्र उपाय है उस प्रकार के ससर्ग का, अपने निजी ब्रह्मा के साथ जिसकी तुम आकाक्षा रखते हो।' किन्तु बुद्ध का इस प्रकार की एक विधर्मी सम्मति के आगे झुकना विशेषकर सत्य की अपनी व्याख्या के अन्त मे सभव नही है।"[1] रीज डेविड्स भूल जाते है कि यह कथन बुद्ध के अनुसार विधर्मिता नही है। यदि हम निर्वाण का एक विध्यात्मक अवस्था मे निरूपण करे तो हमे अवश्य ही एक स्थायी सत्ता को स्वीकार करना पडेगा। तर्कशास्त्र बडी कडाई से काम लेता है। बुद्ध को एक स्थायी तत्त्व से बाधित होकर स्वीकार करना ही पडा—"हे शिष्यो, कोई सत्ता है जो अजन्मा है, उत्पन्न नही की जा सकती, बनाई नही गई, न मिश्रितरूप है। हे शिष्यो, यदि इस प्रकार की कोई अजन्मा सत्ता न होती तो जिसने जन्म लिया है उसके छुटकारे का मार्ग भी कोई नही हो सकता था।"[2] यह भी स्पष्ट है कि आत्मा को कुछेक स्कन्धो का बना हुआ बतलाने से भी वह परम एव निरपेक्ष या निर्विकल्प सत्ता नही हो सकती। यदि आत्मा को केवल देह एव मन, तथा गुणो एव क्रियाओ का ही सम्मिश्रण मान लिया जाए तो जब सब विनाश को प्राप्त हो जाते हैं तब ऐसी कोई सत्ता नही बचेगी जिसे कि मुक्त होना है। हम अपनी इच्छाओ को नष्ट कर देते हैं, अपने कर्मों को भस्मसात् कर देते हैं एवं इस प्रकार सदा के लिए खो जाते है। इस प्रकार मोक्ष

१. 'इण्ट्रोडक्शन टु तेविज्जसुत्त · सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खण्ड ११, पृष्ठ १६१।
२. उदान, ८ : ३, और इतिवृत्तक, ४३।

(स्वात न्य) शू यरूप रह जाएगा। किन्तु 'निर्वाण' का जीवन कालाबाधित जीवन है और इसीलिए बुद्ध को एक अकालपुरुष या आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना ही होगा। सम्पूर्ण जीवन की पृष्ठभूमि मे एक एसी सत्ता है जो उपाधिरहित है एव समस्त अनुभवा त्मक गुणा से ऊपर है जो किसी काय को जन्म नहीं देती और न स्वय किसी अन्य कारण का ही काय है। निर्वाण के विषय म हम यह नही कह सकते कि यह उत्पन्न हुआ है अथवा यह कि यह उत्पन्न नही हुआ अथवा यह कि यह उत्पन्न हो सकता है और यह कि यह भूत भविष्यत या वतमान है। [1] निर्वाण उस समकालिकता का नाम है जो हरेक तारतम्य का आधार है। मूतरूप काल अमूत नित्य म अपनी सत्ता को खो बठता है। यह ससार का परिवतनशील स्वरूप स्थिर रहनेवाली यथाथसत्ता को आवरण कर लेता है। बुद्ध प्रतिपादित निर्वाण के स्वरूप को पूणता प्रदान करने के लिए केवल इसी प्रकार के मत की आवश्यकता है। इसी प्रकार के गूढ विषयो की व्याख्या करने के लिए बुद्ध ने जान बूझकर प्रयास नहीं किया यद्यपि वे इन्ह यथाथरूप मे स्वीकार करते थे क्योंकि य सासारिक जीवन एव एहिलौकिक उन्नति मे विशेष सहायक सिद्ध नही होते। मालुक्यापुत्त के प्रश्नो के सम्बन्ध मे जो उपदेश बुद्ध ने दिए उनके अनुसार, कि व ऐसी ही सम स्याओ के सम्बन्ध म सवाद करगे जो शान्ति पवित्रता एव ज्ञान की उन्नति म सहायक हो अन्य के प्रति नही उन्होने अन्तिम लक्ष्य सम्बन्धी प्रश्नो की आज्ञा एकदम नही दी। किन्तु जान बूझकर निषेध करने अथवा एसी मौलिक समस्या के सम्बन्ध म टालमटोल करनेवाला उत्तर देने से इस प्रकार की समस्या को उठाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को सदा के लिए दबा तो नही दिया जा सकता। यह मनुष्य के मन की एक सहज अन्त प्रेरणा है जो इस समस्या को सम्मुख लाकर खडा कर देती है। और चूकि बुद्ध इस समस्या का कोई शास्त्रसम्मत समाधान प्रस्तुत करन म असफल रहे तब भिन्न भिन्न सम्प्रदायो न उनकी इस प्रवृत्ति के कारण भिन्न भिन्न प्रकार के निष्कष निकाल लिए। कतिपय विद्वानो ने निर्वाण का शून्यता के रूप मे वणन किया अर्थात एक प्रकार की रिक्तता एव अभाव। बिशप बिगाण्डेट कहते हैं कि बौद्धधम का यह विधान एक अग्राह्येय एव शोचनीय अयवस्थितचित्तता के साथ जनसाधारण को उनके नतिक पुरुषार्थों के लिए पुरस्कार स्वरूप एक अगाध शून्यता की खाई की ओर निर्देश करता है। श्रीमती रीज़ डविड्स के अनुसार बौद्धधम का निर्वाण केवलमात्र अभावात्मक विलोप है। ओल्डनबग का झुकाव एक निषधात्मक मत की ओर है।[2] दाहलके भी स्थान स्थान पर एसा ही लिखते हैं। एक स्थान पर वे लिखते है केवल बौद्धधम म ही दु ख से छुटकारा पाने का भाव एक विशुद्ध निषधात्मक रूप म पाया जाता है और यह स्वर्गीय आनन्द के रूप म विध्या त्मक नहीं है।[3] इन लखको के मत म निर्वाण एक प्रकार की अभावराशि है यह ऐसा अन्धकार है जहा सब प्रकार का प्रकाश अस्त हो जाता है। बुद्ध के सिद्धान्त का इस प्रकार का नितान्त एकपक्षीय अध्ययन नया नहीं है। इस प्रकार की घोषणा करने के पश्चात् कि मुक्तात्मा की दशा अविचारणीय है बुद्ध आगे कहते हैं इस प्रकार की शिक्षा देते समय

१ मिलिन्द।
२ देखिए बुद्ध, पृष्ठ २७३।
३ बुद्धिस्ट एसेज़, पृष्ठ ४८।

एव इस प्रकार की व्याख्या करते समय मुझपर कुछ व्यक्तियो ने भूल से विना किसी कारण के अनुचितरूप से एव असत्यरूप से दोषारोपण किया है।....'श्रमण गौतम एक नास्तिक है, वह उपदेश देता है कि यथार्थसत्ता का नाश हो जाता है, वह शून्यरूप मे परिणत होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाती है, आदि-आदि।' मुझपर ऐसे आरोप लगाए जाते है जो मैं नही हू, एव जो मेरा सिद्धान्त भी नही है।"[1] यह भी अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि दूसरी ओर ऐसे भी लोग हैं जो बौद्धधर्म मे प्रतिपादित निर्वाण के स्वरूप को प्रत्यक्ष मे आनन्ददायक समझते हुए बुद्ध के ऊपर नास्तिकता का दोषारोपण करते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि बहुत प्रारभिक अवस्था मे ही बुद्ध के भाषणो को लेकर दो विभिन्न पक्ष उत्पन्न हो गए थे। बुद्ध का अपना निजी मत सम्भवत यह रहा कि निर्वाण पूर्णता की एक ऐसी दशा है जिसे हम सोच नही सकते, और यदि इसका वर्णन करने को हमे बाध्य होना ही पड़े तो सबसे उत्तम यह होगा कि हम इसकी अनिर्वचनीयता का निषेधात्मक कथन के द्वारा एव इसके तत्त्व की समृद्धि-शालिता का विध्यात्मक गुणविधान के द्वारा वर्णन करने का प्रयत्न करे, किन्तु बराबर ही इस बात का ध्यान बना रहना चाहिए कि इस प्रकार के वर्णन केवल निकटतमता को ही दर्शाते है एव सम्पूर्ण नही हो सकते।

१७

ईश्वर के सम्बन्ध में बुद्ध के विचार

बुद्ध के आविर्भाव के समय मे जो धर्म उस समय प्रचलित था उसके अनुसार मनुष्यो एव देवताओ मे आदान-प्रदान की पद्धति सर्वोपरि थी। उपनिषद्-प्रतिपादित ब्रह्म तो उन्नत एव श्रेष्ठ था ही, किन्तु साथ साथ असख्य देवता, अन्तरिक्ष के ज्योतिष्क पिण्ड एव कितने ही भौतिक तत्त्व, पौधे, पशु, पर्वत तथा नदियो को भी मान्यता दी गई थी। उद्दाम कल्पना की छूट के बल पर ससार का सम्भवत कोई भी पदार्थ देवत्व की कल्पना से नही बचा, और यहा तक कि इसे भी अपर्याप्त समझकर उसी गिनती मे विकट रूप वाले दानव, छायारूप प्रेतात्मा एव कितने ही काल्पनिक प्रतीक भी उनके साथ जोड दिए गए। इसमे सन्देह नही कि जहा तक विचार के क्षेत्र का सम्बन्ध था, उपनिषदो ने इन सबको छिन्न-भिन्न कर दिया, किन्तु क्रिया-कलापो मे इनका आधिपत्य फिर भी बना रहा। इस प्रकार ऐसे व्यक्तियो की कमी नही थी जिन्होने देवताओ को ससार का स्रष्टा एव समस्त विश्व का शासक बना डाला और उन्हे यहा तक शक्ति दे दी कि वे मनुष्य की नियति को भी अच्छा या बुरा बना सकते थे। बुद्ध ने अनुभव किया कि देवताओ के इस प्रकार के भय को दूर करने, एव भविष्य की सम्भाव्य यन्त्रणाओ को, अथवा मनुष्य-स्वभाव के भ्रष्टाचार को, जिसका झुकाव चापलूसी एव स्तुति द्वारा देवताओ के प्रसाद को खरीद लेने की ओर था, हटा देने का एकमात्र उपाय यही हो सकता था कि सब देवताओ की कल्पना को ही सदा के लिए समाप्त कर दिया जाए। 'आदिकारण' का भाव हमे अपनी

[1] मज्झिम, २२।

नैतिक प्रगति में सहायक नहीं हो सकता। इससे निष्कर्मण्यता एवं अनुत्तरदायिता रूपी दुर्गुणों को प्रोत्साहन मिलता है। यदि ईश्वर की सत्ता है तो उसे जो कुछ भी संसार में होता है अच्छा अथवा बुरा उस सबका एकमात्र कारण मानना पड़ेगा और उस अवस्था में मनुष्य की अपनी स्वतन्त्रता कुछ भी न रही। यदि वह दुश्चरित्रता से घृणा करता है और पाप का स्रष्टा होना स्वीकार नहीं करता तब वह सार्वभौम कर्ता कैसे हुआ? हम आशा करते हैं कि ईश्वर हमें क्षमा कर देगा।[1] यदि ईश्वरकृपा सर्वशक्तिमान है यदि इसके द्वारा एक पापी भी क्षणमात्र में महात्मा बन जा सकता है तब स्वभावतः हमें धार्मिक जीवन एवं चरित्रनिर्माण के प्रति उदासीन रहने का प्रलोभन घेरता है। चरित्रनिर्माण भी उस अवस्था में सर्वथा निरर्थक सिद्ध होगा। पुण्य एवं पाप का फल स्वर्ग एवं नरक के रूप में मिलता है। यदि पापाचार का तात्पर्य केवल नरक में जाना ही है तो नरक तो अभी बहुत दूर है जब जाना पड़ेगा तब देखा जाएगा अभी तो प्रत्यक्ष में सुख ही मिलता है। बुद्ध ने उक्त प्रचलित मत का विरोध किया और यह घोषणा की कि पुण्य एवं सुख तथा पाप एवं दुःख स्वभावतः परस्पर सम्बद्ध हैं।[2] दार्शनिक कल्पना का अनिश्चित स्वरूप तो एक ओर है जिसके कारण अनेक प्रकार की कल्पनाएं करने का प्रलोभन मनुष्य के सामने रहता है किन्तु दूसरी ओर क्रियात्मक भरोसा जो जनसाधारण के मनों में घर किए हुए था और जिसके कारण वे अपने पुरुषार्थ के ऊपर निर्भर न करके सारी जिम्मेदारी देवताओं के ऊपर ही छोड़े हुए थे। ऐसी अवस्था में बुद्ध ने अधिक उचित यही समझा कि अपने उपदेश के लिए इसी संसार तक सीमित रहना अधिक उपयुक्त होगा। सही वैज्ञानिक रीति का आश्रय लेने पर न तो बिजली की घटना में किसी देवता का हाथ दिखाई देता है और न ही अंतरिक्ष में कहीं देवदूतों का पता मिलता है। इस प्रकार घटनाओं की प्राकृतिक व्याख्या से धार्मिक भ्रांतियां विलुप्त हो गई। एक शरीरधारी ईश्वर की कल्पना उक्त प्रकार की प्राकृतिक व्याख्या के अनुसार असंगत ही प्रतीत हुई। कर्म के विधान के अनुसार हमें रियायत अथवा छूट मन की मौज एवं निरंकुशता सम्बन्धी सब कल्पनाओं को तिलांजलि दे देना आवश्यक है। इस कर्मविधान के सम्मुख ईश्वर का वैभव एवं दैव का प्रभाव सब फीके पड़ जाते हैं। कर्म की प्रेरणा के बिना सिर का एक बाल भी टूटकर नहीं गिर सकता और न ही एक पत्थर ही भूमि पर गिर सकता है। इसलिए एक ऐसे ईश्वर का होना न होना समान है जो न तो अपने को कर्मविधान के अनुकूल बना सकता है और न ही उसे बदल सकता है न कर्म को उत्पन्न कर सकता है और न उसमें परिवर्तन कर सकता है। इसके अतिरिक्त एक प्रेमस्वरूप ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने से इस जीवन की अनेक हृदयविदारक घटनाओं की व्याख्या भी सरलतापूर्वक नहीं की जा सकती। संसार में जो दुःख है उसका कारण कर्म विधान को स्वीकार करने पर ही समझ में आ सकता है अन्यथा नहीं। कर्म का सिद्धान्त चेतन जगत नरक के निवासियों पशुओं भूत प्रेतों मनुष्यों एवं देवताओं आदि सबके विषय में पूर्ण व्याख्या कर सकता है। कर्म से ऊपर कुछ नहीं। यद्यपि बुद्ध

१ "गुरुमाया मुझे क्षमा कर देगा क्योंकि यह उसका काम है।"—हाइन।
२ देखें अंगुत्तरनिकाय ६ : १।

इन्द्र, वरुण इत्यादि देवताओ की सत्ता को भी स्वीकार करते है, तो भी ससार की व्याख्या मे उनका कोई स्थान नही है। जन्म-मरण के चक्र मे देवता आदि भी आते है किन्तु गम्भीर नैतिक कर्म-विधान के बीच मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही कर सकते।[1] हमारे जीवन की निर्माणकारी दैवीय सत्ता कोई नहीं है। मनुष्य अपने कर्मो से जन्म धारण करता है। कर्म के ही अनुसार उसे वैसे माता-पिता मिलते है। "मेरा कर्म ही मेरी निधि है। ..यही मेरा दायभाग है ..यही मुझे यथोचित मा की कोख मे धारण करता है . मेरी जाति का निर्धारण भी इसीसे होता है ..यही मेरा शरणस्थल है।" सनातन-धर्मियो के इस मत का कि जगत् का स्रष्टा एक सर्वोपरि देहधारी ईश्वर है एव भौतिक-वादियो के इस स्वभववादी मत का कि इस ससार का विकास वस्तुओ के स्वतन्त्र अन्तर्निहित स्वभाव के कारण होता है, बौद्धधर्मावलम्बी खण्डन करते है। ससार की नानाविधता कर्मो के ही कारण है।[2] कर्म ही फल के रूप मे प्राधान्य प्राप्त करते है। वे प्राकृतिक पदार्थो का निर्माण एव उनकी व्यवस्था करते है, जैसा-जैसा जिसका फल मिलने को होता है। यदि किसी मनुष्य की नियति मे सूर्यदेवता बनना है तो यही नही कि वह केवल जन्म धारण करेगा, उसे एक स्थान-विशेष भी मिलेगा एवं दिव्य राज-भवन, एक दोलायमान रथ आदि-आदि भी प्राप्त होगा, और यह प्राधान्य अथवा अधिपति का पद उसको कर्मफल के रूप मे मिला है।[3] विश्वरचना के आदिकाल मे भी समस्त प्राकृतिक विश्व का निर्माण कर्मो की अधिपतिरूप शक्ति के द्वारा ही हुआ, जिसका सुखोपभोग भविष्य के निवासियो को मिला। ससार का यह भाजन-भाण्ड या आश्रय, जिसे भाजन-लोक कहते है, सब जीवित प्राणियो के कर्मो के आधिपत्य का फल है और इसे सत्त्वलोक कहते हैं।

ईश्वर की सत्ता के समर्थन मे जो प्राचीनकाल से परम्परागत तर्क उपस्थित किए जाते थे, प्राचीन बौद्धधर्म के अनुयायियो ने उन सबका खण्डन किया। यह प्रमाण कि जैसे एक घडी अपने बनानेवाले घडीसाज का सकेत करती है इसी प्रकार यह ससार इसके बनानेवाले एक ईश्वर का सकेत करता है, उन्हे अप्रिय प्रतीत होता है। हमे किसी चेतन कारण को मानने की आवश्यकता नही। जैसेकि एक बीज विकसित होकर अकुर बन जाता है एव अकुर वृक्ष की शाखा के रूप मे परिणत हो जाता है, इसी प्रकार बिना किसी विचारशक्तिसम्पन्न कारण अथवा बिना किसी शासक दैव के उत्पत्ति सम्भव है। विचार एव पदार्थ भी सुखकर एव असुखकर सम्वेदनाओ के समान ही कर्मो के फल हैं। मिलिन्द कर्म द्वारा निर्धारित जीवनचक्र की तुलना एक ऐसे चक्र से करता है जो अपनी ही परिधि मे घूमता है, अथवा जिस प्रकार अण्डे से मुर्गी और मुर्गी से अण्डे का जन्म होता है, यह चक्र एक-दूसरे के ऊपर निर्भर करता है अर्थात् अन्योन्याश्रित है। आख, कान, शरीर और आत्मा बाह्य जगत् के सम्पर्क मे आते है जिनसे सवेदना, इच्छा, कर्म आदि उत्पन्न होते है, और क्रम से फिर इन्हीके फलस्वरूप आख, कान, शरीर और आत्मा उत्पन्न होते है जिनसे

१. देखिए 'डायलॉग्स आफ बुद्ध', १। पृष्ठ २८० और आगे, ३०२।

२. "कर्मज लोकवैचित्र्यम्", अभिधर्मकोष, ४ १।

३. अधिपतिफल।

नया प्राणी उत्पन्न होता है। यही न्यायनिष्ठा अथवा औचित्य का निरन्तरस्थायी विधान है। हम इसके प्रवाह को नहीं बदल सकते। बुद्ध तो मुक्तिदाता से अधिक एक शिक्षक के रूप में हमारे सम्मुख अपने को प्रकट करते हैं, इस सत्य का निरीक्षण करने में सहायता देते हैं। वे ऐसे किसी संसार के स्रष्टा की कल्पना नहीं करते जिसने युगों पूर्व इस संसार की शृंखला का प्रारम्भ किया हो। संसार के प्रवाह का कारण उनकी सम्मति में स्वयं संसार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बुद्ध की दृष्टि में सृष्टिविद्या सम्बन्धी तर्क में कोई बल नहीं है। यदि हम इतना जान सकें कि घटनाएं क्रम से होती हैं तो पर्याप्त है। हमें संसार की व्यवस्था की पृष्ठभूमि में जाने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि पूर्व में क्या अवस्थाएं थीं यह जानना भी परमसत्य नहीं है तो भी मनुष्य के आगे इससे अधिक और कुछ क्षेत्र भी तो खुला नहीं है। एक ऐसे आदिकारण को स्वीकार करना जिसका कारण अन्य कुछ न हो, एक स्वतः विरोधी कल्पना ही दीखती है। प्रत्येक कारण को किसी अन्य कारण का कार्य मानने की आवश्यकता और जिसका कारण फिर अपने में पहला कार्य है, कारण [illegible] कारण की कल्पना को नितान्त अचिन्तनीय बना देता है। इसी प्रकार संसार की अपूर्णता के कारण उद्देश्यवाद का तर्क भी स्थिर नहीं रह सकता। यह संसार एक प्रकार की सुविचारित कपट योजना है जो केवल दुःख देने के लिए की गई प्रतीत होती है। इस कष्टदायक योजना से बढ़कर और कोई योजना इतने परिष्कृत रूप में एवं सुलझे हुए ढंग की शायद नहीं हो सकती थी। एक ऐसा स्रष्टा जिसे प्रायः पूर्ण कहा जाता है ऐसे अपूर्ण संसार का रचयिता कैसे हो सकता है! इसलिए कोई परोपकारी अथवा मनमौजी ईश्वर नहीं है किन्तु एक ऐसा विधान—अर्थात कर्मों का विधान—जो निश्चायक तर्क पर आश्रित है वस्तुतः यह है। स्पिनोज़ा के समान बुद्ध का भी यही मत प्रतीत होता है कि संसार न अच्छा है न बुरा है, न तो हृदयविहीन है और न ही विवेकशून्य है, न पूर्ण है और न ही सुन्दर है। यह मनुष्य के अन्दर मानवीकरण के स्वभाव के कारण ही है जो वह विश्वरचना की प्रक्रिया को मनुष्य की सी रचना के रूप में देखता है। प्रकृति ऐसे किन्हीं नियमों का पालन स्वीकार नहीं करती जो बाहर से उसके ऊपर थोपे जाएं। हमें प्रकृति के अन्दर केवल आवश्यकताएं ही कार्य करती प्रतीत होती हैं।[1]

[1] अनाथपिण्डक [illegible] कहा जाता है कि बुद्ध ने उसी प्रश्न पर इस प्रकार तर्क किया [illegible] संसार को ईश्वर ने बनाया होता तो इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा उसका [illegible] न होता [illegible] और न दुःख एवं विपत्ति ही होती [illegible] उचित अनुचित का भेद भी कभी [illegible] —क्योंकि शुद्ध अथवा अशुद्ध जो कुछ भी है सब आते तो उसी ईश्वर से हैं। [illegible] शुभ अशुभ और पाप [illegible] आत्मा [illegible] ये भी ईश्वर के ही कार्य हैं [illegible] अपूर्ण [illegible] और उस अवस्था में फिर वह पूर्ण कैसे रह सकता है [illegible] यदि ईश्वर ही रचयिता है, और सब प्राणियों को मौनभाव से उस कर्ता की शक्ति के अधीन रहना है तो फिर धर्माचरण करने से क्या लाभ? तब तो उचित एवं अनुचित सब एक समान होते, क्योंकि [illegible] बनाए हुए हैं और [illegible] कर्ता [illegible] में भी एक समान ही होंगे [illegible] किन्तु [illegible] कहा जाए कि दुःख और शोक का कुछ अन्य कारण है तो ऐसी भी एक वस्तु हुई जिसका कारण ईश्वर नहीं है। तो क्यों न फिर सभी को बिना कारण के मान लिया जाए? इसके अतिरिक्त

१८

कर्म के संकेत

इस यन्त्रवत् संसार की क्लेशमय अनुभूति ही इससे छुटकारा पाने के लिए एक उत्कट अभिलाषा उत्पन्न करती है। यह निराशाजनक दृष्टिकोण तब तक अनिवार्यरूप से बना ही रहेगा, जब तक कि पूर्वकथित तथ्य वर्तमान रहेंगे। आध्यात्मिक नास्तिकता

यदि ईश्वर कर्ता है तो वह या तो निष्प्रयोजन कार्य करता है अथवा किसी प्रयोजन को लेकर कार्य करता है। यदि किसी प्रयोजन को लेकर कार्य करता है तो वह पूर्ण नहीं हुआ क्योंकि प्रयोजन अभाव का द्योतक है, और जहां अभाव है वहां पूर्णता नहीं हो सकती। यदि बिना किसी प्रयोजन के कार्य करता है तो ऐसा या तो कोई पागल ही कर सकता है या फिर मातृस्तन से दूध पीनेवाला बच्चा ही कर सकता है, ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर ही कर्ता है तो क्यों नहीं लोग श्रद्धा व आदर भाव से उसके आगे झुक जाएं? उन्हें आवश्यकता के दबाव में पड़कर उसके आगे भिक्षा-याचना करने की क्यों आवश्यकता होनी चाहिए और क्यों लोग एक से अधिक देवताओं की पूजा करें? इस प्रकार विवेकपूर्ण तर्क के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व का विचार मिथ्या सिद्ध होता है, और समस्त विरोधी कथनों की निस्सारता को जनसाधारण के आगे रख देना चाहिए" (अश्वघोष का बुद्धचरित्र)। "यदि, जैसाकि ईश्वरवादी कहते हैं, ईश्वर इतना महान है कि मनुष्यों के लिए उसका ज्ञान प्राप्त करना कठिन है तो उसके गुण भी हमारे विचार के क्षेत्र से बाहर के विषय हुए और इसलिए न तो हम उसे जान सकते हैं और न ही उसमें कर्तृत्वगुण का आधान कर सकते हैं" (बोधिचर्यावतार)। अनाथपिण्डक पूछता है कि यदि संसार को ईश्वर ने बनाया नहीं तो क्या यह भी नहीं माना जा सकता कि यह समस्त जीवित संसार उस निरपेक्ष, परमसत्ता की ही अभिव्यक्ति है जो अनुपाधिक है, अज्ञेय है किन्तु इस सतत भासमान संसार की पृष्ठभूमि में है? "महाभाग बुद्ध ने उत्तर दिया, 'यदि निरपेक्ष परमसत्ता से तुम्हारा आशय ऐसी सत्ता से है जो इन सब ज्ञात पदार्थों के सम्बन्ध से परे है तो उसकी सत्ता को किसी भी तर्क (हेतुविद्याशास्त्र) द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। हम कैसे जान सकते हैं कि ऐसा पदार्थ जिसका अन्य पदार्थों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, विद्यमान है? समस्त विश्व, जैसा हम इसे जानते हैं, सम्बन्धों के द्वारा निर्मित व्यवस्था है। असम्बद्ध कोई भी पदार्थ हमारे ज्ञान का विषय नहीं है। जो स्वयं किसीके ऊपर निर्भर नहीं करता और किसीसे सम्बद्ध नहीं है, कैसे उस विश्व को उत्पन्न कर सकता है जहां सब पदार्थ अपनी स्थिति के लिए एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं? फिर यह निरपेक्ष परम एक है या अनेक हैं? यदि एक है तो वह कैसे उन भिन्न-भिन्न पदार्थों का कारण हो सकता है जिन्हें हम जानते हैं कि भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं? यदि निरपेक्ष परम भी अनेक हैं और पदार्थों के ही समान अनेक हैं तो वह उन पदार्थों के कारण कैसे हो सकते हैं जो सब एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं? यदि निरपेक्ष परम सब पदार्थों में व्याप्त है और समस्त आकाश में भी व्याप्त है तो वह उनका निर्माता नहीं हो सकता क्योंकि फिर बनाई जाने के लिए कोई वस्तु ही पृथक्रूप में नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त यदि वह निरपेक्ष परम निर्गुण है तो उससे उत्पन्न होनेवाले समस्त पदार्थ भी गुणरहित होने चाहिए। किन्तु वस्तुतः वे हैं सब गुणसहित। इसलिए निरपेक्ष परम उनका कारण नहीं हो सकता। यदि उसे गुणों से भिन्न माना जाए तो वह निरन्तर उनका निर्माण करते हुए एवं अपने को उनके द्वारा व्यक्त करते हुए कैसे माना जा सकता है? फिर यदि निरपेक्ष परम अपरिवर्तनशील है तो समस्त पदार्थ भी अपरिवर्तनशील होने चाहिए, क्योंकि कार्य स्वरूप में कारण से भिन्न नहीं हो सकता। किन्तु संसार के सब पदार्थ परिवर्तित भी होते हैं एवं क्षीण भी होते हैं। तब फिर निरपेक्ष परम कैसे अपरिवर्तनशील हो सकता है? इसके अतिरिक्त यदि निरपेक्ष परम ही सर्वपदार्थों में व्याप्त है तो फिर हमें छुटकारा किससे पाना है जो हम मोक्ष के लिए चेष्टा करें? क्योंकि उस अवस्था में उक्त

जबकि जनसाधारण परमब्रह्म के आह्लादकर रूप को पहचानने के लिए जिस नैतिक-शक्ति की आवश्यकता है उसे खो रहे थे, इस प्रकार की चेतावनी की बहुत आवश्यकता थी। अधिक से अधिक यही हो सकता था कि चूकि ऐसी असीम शक्ति की यथार्थता को प्रमाणित करना दुष्कर कार्य था, हम इसे एक खुले प्रश्न के रूप मे ही छोड देते। बुद्ध का आदेश हमे यह है कि जहा ज्ञान असम्भव हो तो निर्णय को स्थगित रख देना चाहिए। यदि सापेक्षता विचार का एक आवश्यक अग है तो ईश्वर-सम्बन्धी विचार के लिए भी सापेक्षता क्यो न लागू हो ? इसलिए परमसत्ता के विवरण-सम्बन्धी प्रयास को छोडकर हमे प्रत्यक्, अर्थात् वास्तविक, के प्रति ध्यान देना चाहिए, एव पराक्, अर्थात् इन्द्रियातीत, के प्रति नही। अनुभवात्मक प्रवाह का हमे निश्चित ज्ञान प्राप्त है। घटनाओ के कारण-कार्यभाव सम्बन्ध पर जोर देने के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है कि वह ऐसे मत का समर्थक है जिसके अनुसार इस पुरातन तटविहीन एव रूपमय समुद्र के पीछे, जिसके रूप समझ मे न आ सकनेवाले तरीके से परिवर्तित होते रहते है, निरपेक्ष कोई परमात्मसत्ता नही है—एक ऐसा अज्ञात ईश्वर जो अपने प्रबल जादू अथवा माया से समस्त ब्रह्माण्ड को नानारूपो मे ढालता रहता है। तो भी उपनिषदो की स्पष्ट शिक्षा, जिसे स्वीकार करने से बुद्ध ने कही भी निषेध नही किया है, बुद्ध के सिद्धान्त मे पूर्णता लाने के लिए आवश्यक है।[1] उपनिषद् एव बौद्धधर्म दोनो के ही अनुसार, मनुष्य के भाग्य मे ही बेचैन रहना, सनकी स्वभाव होना एव दुखी रहना है। किन्तु यह दु ख ही सब कुछ नही है। उपनिषदो का तर्क है कि ससार का असत्याभास, अव्यवस्थितचित्तता, इसकी दु खान्तता ही आत्मा के अस्तित्व की साक्षी हे। यही सब तो मनुष्य की अन्तर्निहित आध्यात्मिक शक्ति को प्रोत्साहित करती है कि वह इन सबपर विजय प्राप्त करे। विरोध वस्तुओ के अन्तस्थल मे है, क्योकि ससार आध्यात्मिक है। बुद्ध स्वीकार करते है कि हमे पाप-वासनाओ पर विजय प्राप्त करनी चाहिए जिससे हमे आत्मा का सुख मिल सके। यह सोचना भ्रातिजनक है कि नीचे दर्जे की वासनाए एव अव्यवस्थितचित्तता ही विश्व के केन्द्र मे सब कुछ है, और इनके अतिरिक्त और कुछ नही। बुद्ध यह स्वीकार करने के लिए तैयार है कि धैर्य धार्मिकता, साहस एव सत्य की मौलिक शक्ति का सारतत्त्व है। यदि हम इस दैवीय प्रबन्ध के एक भी अनिवार्य घटक या तत्त्व के विषय मे अतिशयोक्ति करें, तब हमारा झुकाव ससार को ईश्वरविहीन मानने की ओर होगा। यदि सम्पूर्ण विश्व पर हम ध्यान दे तो हमे पता लग जाएगा कि हम विश्वात्मा की उस धडकन एव स्वरलहरी को ग्रहण करते है जो इस अव्यवस्थित कही जानेवाली प्रकृति के अन्दर भी जारी है। बिना इस प्रकार की एक धारणा के इस ससार में प्रयोजन या उद्देश्य की झलक नही मिल सकती। यह सिद्धान्त भी कि संसार उच्च श्रेणी की नैतिकता एव गहन ज्ञानप्राप्ति की ओर गति कर रहा है, अपना महत्त्व खो बैठेगा। निश्चय ही बुद्ध जगत् को उद्देश्यशून्य एव तर्करहित नही मानते। यह ऐसी

१. ऐसा एक भी स्थल नहीं है जहा पर बौद्धग्रन्थों ने उपनिषदों के ब्रह्म का उल्लेख किया हो, यहा तक कि विवाद के उद्देश्य से भी नहीं किया। "विश्वात्मा के रूप में बौद्धों ने कहीं भी ब्रह्म का निर्देश नहीं किया है, एव इसे न तो विश्वरूप सत्ता का न अपने निजी मन का अवयव माना है यद्यपि यहां-वहां और बार-बार ईश्वर ब्रह्मा की चर्चा अवश्य की है।" (ओल्डनबर्ग : 'बुद्ध')।

परिणति नहीं है जिसका कोई लक्ष्य या उद्देश्य न हो, एवं केवल दैव तथा ऋतु आदि का आकस्मिक प्रयोग हो, जिससे कुछ तात्पर्य नहीं निकलता। इस प्रकार का मत रखने से समस्त आध्यात्मिकता का अन्त हो ही जाएगा। बुद्ध ने खूब गहरी निगाह से इस विषय का निरीक्षण किया और अनुभव किया कि घटनाओं के क्रम में एक महान् विधान कार्य करता दिखाई देता है। इसलिए घटनाओं से पूर्ण यह संसार एक विशाल विचार की यथार्थता को प्रतिबिम्बित करता है जिसे चाहे धर्म कहें या औचित्य का विधान कहें। इस विधान का विरोधी अन्य कोई विधान नहीं है। इस आदर्श रूप की पृष्ठभूमि को माने बिना यह संसार का सारा तमाशा केवल मायाजाल या आकस्मिक ही रह जाएगा। धर्म का अनुशासन मनुष्य को पवित्र बनाने के लिए एवं सदाचार के रूप में है। इसको क्रियाशील यही नैतिक विधान को सच्चा बनाती है। अब यह मनुष्य का काम रह जाता है कि वह अपने जीवन की व्यवस्था इसी प्रकार करे कि वह उक्त मत के साथ साम्य स्थिर कर सके। संसार सदा से न्यायनिष्ठा या औचित्य के द्वारा शासित होता आया है, अब भी शासित हो रहा है एवं भविष्य में भी इसीसे शासित होता रहेगा। शरीरधारी स्रष्टा के विषय में तो बुद्ध का प्रतिवाद भले ही है किन्तु उक्त विचार के सम्बन्ध में उन्हें भी आपत्ति नहीं, क्योंकि यह एक नित्य सिद्धान्त है। बुद्ध यह कभी नहीं कहेंगे कि कर्म का सिद्धान्त एक ऐसी शक्ति है जिसमें मानसिक शक्ति का नितान्त अभाव है। ऐसा तत्त्व विवेकशक्ति से रहित नहीं हो सकता जो विद्युदणुओं (प्रोटोनों) की रचना करता हो एवं ऋणात्मक विद्युदणुओं (इलेक्ट्रानों) का निर्माण करता हो, जो परमाणुओं को एकत्र करके अणु एवं अणुओं से नाना लोकों की रचना करता है। ऐसा हमें कहीं कुछ नहीं मिलता कि बुद्ध ने एक नित्य स्वयं में स्थित आत्मा की यथार्थता का निषेध किया हो जो विश्व का क्रियाशील मस्तिष्क है। जबकि हम ईश्वर के सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ नहीं जान सकते कि वह एक परम (निर्विकल्प एवं निरपेक्ष) विधान है, हम इस सापेक्षतापूर्ण जगत में पर्याप्तरूप में प्रयत्न अनुभव कर सकते हैं और हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होते हैं कि एक अदृश्य आत्मा है। यह विधान एक दैवीय मस्तिष्क की अभिव्यक्ति मात्र है यदि हम ईश्वरज्ञानविषयक परिभाषा का प्रयोग करने का अधिकार रखते हों।

कर्म का विधान ईश्वर के अस्तित्व का विरोध केवल उसी हालत में कर सकता है जबकि ईश्वर की कल्पना से तात्पर्य स्वेच्छापूर्वक हस्तक्षेप एवं विधान व व्यवस्था के अतिक्रमण का आ जाता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि ईश्वर की इस प्रकार की चेष्टा अप्राकृतिक होगी। केवल बच्चे एवं असभ्य अशिक्षित लोग ही ऐसे ईश्वर में आस्था रख सकते हैं जो सृष्टिक्रम में अनावश्यक हस्तक्षेप करनेवाला हो। निरर्थक हस्तक्षेप को अस्वीकार करने से तात्पर्य एक सर्वोपरि आत्मा की यथार्थसत्ता से निषेध करना नहीं है। क्योंकि एक ऐसी व्यवस्था का भाव जो प्राकृतिक एवं नैतिक हो, आत्मा के परमकर्तृत्व का अतिक्रमण नहीं करता। केवल इसीलिए कि हम आत्मिक शक्ति के उद्भव एवं स्थिरता के केन्द्र का ज्ञान पूरा पूरा नहीं उपलब्ध कर सकते, हमें उसकी सत्ता से ही निषेध करने की आवश्यकता नहीं। नैतिक विधान की परमार्थता को भी, जिसे बुद्ध भी स्वीकार करते हैं, एक केन्द्रीभूत आत्मा की आवश्यकता है जिसके विषय में वे मौन हैं। हमारे इस विश्वास का आधार

कि घटनाएं एक पूर्वनिर्धारित तर्कसम्मत विधान के अनुसार सम्पन्न होती रहेंगी और भविष्य मे वस्तुओ के अन्दर ऐसी कोई अस्तव्यस्तता भी न आएगी जिसकी व्याख्या न की जा सके, विश्व मे व्यापक आध्यात्मिक विधान ही तो है। बुद्ध के प्रति नितान्त विपरीत धारणा रखने पर भी यह हमे अवश्य ही कहना पडेगा कि बुद्ध ने एक ऐसे प्रचलित किस्म के धर्म का उच्छेद किया जो अधिकतर कायर पुरुषो के भय एव शक्ति की पूजा ५८ आश्रित था, और ऐसे धर्म को सुदृढ किया जो न्यायनिष्ठा के ऊपर भरोसा रखता था। वे विश्व को धार्मिक मानते हैं, केवल यन्त्रवत् नही, जिसे वे धर्मकाय की सज्ञा देते हे और जिसमे जीवन की धडकन अनुभव की जा सकती है। इस सब जीवित एव जगम जगत् का ताना और वाना धर्म ही है। प्रत्येक प्राकृतिक कारण उसी आत्मा की अभिव्यक्ति हैं जो इस सबकी पृष्ठभूमि मे कार्य कर रही है। ससार के धार्मिक आधार के सम्बन्ध मे सशय करना अनासक्ति की भावना से जो आचरण किया जाता है उसके साथ मेल नही खा सकता। बुद्ध पर इस प्रकार की विरोधाभासपूर्ण स्थिति का आरोप लगाना ठीक नही है।

१९

क्रियात्मक धर्म

मनुष्य के अन्त करण मे जो धर्म-सम्बन्धी सहज आन्तरिक प्रेरणा है उसके लिए ईश्वर की आवश्यकता हैं और इसलिए बौद्धधर्म सरीखे क्रियात्मक धर्म मे बुद्ध के अत्यन्त तत्परता के साथ सावधानी बरतते रहने पर भी उन्हे एक देवता का रूप दे ही दिया गया। क्योकि जब सारिपुत्त ने उनसे कहा "मेरा ऐसा विश्वास है और मै ऐसा सोचता हू कि न तो कोई भिक्षु और न ब्रह्मा ही कभी आपसे अधिक महान एव अधिक बुद्धिमान हुआ है, न होगा," तब बुद्ध ने उत्तर दिया कि "तुम्हारे ये शब्द बहुत बडे एव साहसपूर्ण है। देखो, तुम परमाह्लाद के वशीभूत होकर यह गा गए है। अच्छा बताओ, क्या तुमने उन सब बुद्धो के विषय मे ज्ञान प्राप्त किया है जो अतीतकाल मे हो गए है?" "नही, प्रभो।" "क्या तुमने उन सब बुद्धो के विषय मे जानकारी प्राप्त कर ली है जो आगे होगे?" "नही, प्रभो।" "किन्तु कम से कम तुम मुझे जानते हो, मेरे चरित्र को जानते हो, मेरे मन को जानते हो और मेरी बुद्धि, मेरे जीवन एव मोक्ष को जानते हो?" "नही, प्रभो!" "तुम देखते हो कि तुम अतीतकाल के एव भविष्यत् के पूज्य बुद्धो के विषय मे कुछ नही जानते, तब फिर तुमने इतना साहसपूर्ण कथन कैसे किया?"[१] तो भी मनुष्य की प्रकृति ऐसी है कि उसे दबाकर नही रखा जा सकता। हमे उस बुद्ध का अनुकरण करना है जो ससार की आख (लोकचक्षु) है और हमारा आदर्श है, वह जो हमारे लिए पूर्णता के मार्ग का प्रकाश करता है, जो अपने को एक जिज्ञासु से अधिक और कुछ नही मानता एव जिसने सत्यमार्ग की खोज की है और अन्यो के लिए भी यह सम्भव बना दिया कि वे उसके पदचिह्नो पर चल सकें, वही

१. महापरिनिब्बानसुत्त।

परमात्र हमारा शरणस्थान है एव जनसाधारण व देवता व समान है।[1]

बुद्ध प्रभावित इन्द्रराणा म स्वरूप को स्वाकार कर सते हैं जोकि हम दूसरे नारा व निर्माण द्वारा सान्त्वना प्रदान करता है क्योकि उन्होंने ब्रह्मा प्राप्ति म व दव तामा व प्रतिरूप का स्वाकार कर लिया।[2] य केवल स्थना है कि बुद्ध व मान्य देवता सब मरणधर्मा हैं। बुद्ध नि र के आधिपत्य एव सत्य एव बम के ऊपर नियन्त्रण करनवाल ईश्वर का सता का निषध करत हैं किन्तु प्रचलित विश्वासों को मान लते हैं एव मनुष्यो और दवताओं के बीच पारस्परिक सम्बन्ध के विषय म भी कहत हैं। व ऐसी धार्मिक क्रियाओ को भी स्वाकार कर लेते हैं जो हम प्राकृतिक एव प्राकृतिहीन निम्न तर लोगों म जन्म ग्रहण करन म सहायता प्रदान करती हैं। बौद्धधम की प्रतिष्ठा को वणन व विचार स कभी कभी यह भी सुनाया गया है कि ब्रह्मा एव शक (इन्द्र) ने भी बौद्धधम म दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार उन्ह भी मनुष्यो क समान ही ज्ञानप्राप्ति की आवश्यकता रहती है। यह सब ब्राह्मण या पौराणिक धम की परम्परा क अनुसार है, जिसम यह कहा जाता है कि देवताओ को भी दवीय स्तर पर पहुचने के लिए पवित्र कम यज याग एव तपस्या की आवश्यकता होती है। दवीय आनन्द को भोग लन क बाद जब उनका सचित पुण्य क्षय को प्राप्त हो जाता है तब वे अन्य रूप धारण कर लत ह। ऐसी कथाए मिलती है जिनम देवताओ को जीवन एव शक्ति की प्राप्ति के लिए सघष करत हुए वणन किया गया है। व धरती प्रति ठा एव आधिपत्य क लिए भी सघष करते हैं। नव देवीय पद क नए उम्मीदवार अपनी तपस्याओ एव पुण्यो का पर्याप्त पुञ्ज सग्रह कर लत हैं जो उक्त देवत्व क योग्य बनात हैं तब पुराने देवता उनक माग म बाधाए उपस्थित करत ह।[3] बौद्धधम म पुरान देवताओ को नय सिद्धान्त क अनुकूल बनाकर स्वीकार कर लिया गया ह किन्तु उन्ह निर्वाणप्राप्ति का लक्ष्य रखनेवाल भि ु क अधीन माना गया है। ब्रह्मा को भी अविद्या ग्रस्त जानी है विष्णु को भी महान माया ने वशीभूत कर लिया जिसम अन्त करना कठिन है। शकर न अत्यन्त आसक्ति के कारण पार्वती को अपने शरीर म सयुक्तरूप म रखा किन्तु इस ससार म यह महामुनि बुद्ध भगवान अविद्या स रहित है जिस न माया व्यापती है और जिसम विषयासक्ति तो नाममात्र को नहीं है।

1 तुलना कीजिए सी प्रकार ह ब्राह्मण उन सब प्राणियों क विषय में भी है जो अज्ञान में रहत हैं और बद्ध हैं जैसकि एक नव अण्डे के अन्दर बन्द रहता है। मैंने सबस पहले अज्ञानरूपी अण्डे क ऊपर क छिलक को तोड दिया है और अकेले ही स समार में उन्नत सार्वभौमिक बुद्धत्व प्राप्त किया ह। इस प्रकार ह ब्राह्मण म सबस पुरातन एव प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ हू। (ओल्डनबर्ग 'बुद्ध' पृ० २५)। बुद्ध केवल एक मार्गदर्शक है।

2 देखिए महागोविन्दसुत्त एव तविज्जसुत्त।

3 मेनका एव विश्वामित्र की गाथा जैसी गाथाए इस तथ्य क दृष्टान्त हैं।

4 रामचन्द्र भक्तिशतक ३।

२०

ज्ञान-विषयक सिद्धान्त

बौद्धधर्म के ज्ञान-विषयक सिद्धात का प्रतिपादन करते समय हम देखते है कि भौतिक-वादी के विपरीत बौद्ध प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान-प्रमाण को भी स्वीकार करता है।[1] यद्यपि बौद्धदर्शन के अनुमान-प्रमाण एव न्यायदर्शन के अनुमान मे भेद है, बौद्ध मत मे केवल कारण एव कार्य के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है जबकि नैयायिक अन्य प्रकार के भी सतत साहचर्य के दृष्टान्तो को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार करता है। बौद्धदर्शन के अनुसार, हम कार्य से कारण का अनुमान कर सकते है, किन्तु न्याय-दर्शन के अनुसार कारण से कार्य का अनुमान करने के अतिरिक्त लक्षणो के द्वारा उप-लक्षित वस्तुओ की सत्ता का भी अनुमान कर सकते है। यह भेद परिणति के बौद्ध सिद्धात के कारण है। यद्यपि आगमनात्मक अनुमान द्वारा प्राप्त सामान्य व्यापक सिद्धात, जिनका आधार वस्तुओ के साहचर्य के ऊपर है, सर्वथा यथार्थ नही भी हो सकते, कारणकार्य-सिद्धात के आधार पर प्राप्त अनुमानज्ञान बराबर सही होता है। सीग रखनेवाले सब पशुओ के खुर फटे होते है, यह एक आनुभविक सामान्य अनुमान है जो अनुभव की सीमा के अन्दर सही निकलता देखा गया है, यद्यपि यह नितान्त रूप से सत्य नही भी हो सकता है। किन्तु धुए को देखकर अग्नि की उपस्थिति का अनुमान करना ऐसा है जिससे निषेध नही किया जा सकता, क्योकि यदि इस प्रकार के सत्य का निषेध करने लगे तो जीवन ही असम्भव हो जाएगा।

दो घटनाओ के बीच हम कारणकार्य-सम्बन्ध कैसे स्थापित कर सकते है? प्राचीन बौद्ध का कहना है कि यदि 'क' 'ख' से पूर्व उपस्थित रहता है और 'क' के लुप्त हो जाने पर 'ख' का भी लोप हो जाता है और शेष सब अवस्थाए वही रहे, तो मानना चाहिए कि 'क' 'ख' का कारण है। यह व्यतिरेक-प्रणाली ('मेथड आफ डिफरेस') कहलाती है। आधुनिक बौद्ध इसी सिद्धात को परिष्कृत करते हुए कारण के तात्कालिक पूर्ववर्ती अवयवो पर बल देते हैं। वे इसपर भी बल देते है कि हमे पूरी सावधानी बरतनी चाहिए कि अन्य परिस्थितियो मे भी कोई परिवर्तन होना चाहिए। इस प्रकार वे कारणकार्य-सम्बन्धी अनुमान के पूर्ण सिद्धात को पाच भागो मे विभक्त करते हैं और इसीसे इसे 'पञ्च-कारणी' की सज्ञा दी गई है : (१) प्रथम भाग मे हमे न तो कारण का और न ही कार्य का प्रत्यक्ष होता है, (२) दूसरे भाग मे कारण प्रकट होता है, (३) तीसरे भाग मे कार्य प्रकट होता है, (४) कारण विलुप्त हो जाता है; (५) और कार्य भी विलुप्त हो जाता है। नि सन्देह सह-अस्तित्व-विषयक सम्बन्धो की भी स्थापना की जा सकती है जैसेकि जातियो एव उपजातियो के मध्य सह-अस्तित्व का सम्बन्ध देखा जाता है यद्यपि इसका प्रकार

[1] देखिए सर्वसिद्धान्तसग्रह, ३ : ४, ४. १८–२२। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन बौद्धधर्म ने उपमान और आप्त प्रमाणो को भी स्वीकार किया था। मैत्रेय ने उपमान को और डिङ्नाग ने आप्त-प्रमाण को छोड दिया। देखिए, 'जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल', १९०५, पृष्ठ १७६।

दूसरा ही है। यदि साहचर्य के एक विशेष स्वरूप के अन्य कतिपय स्वरूपों के साथ कुछ दृष्टान्तों पर दृष्टिपात करें और यदि उनमें से एक को कभी बिना दूसरे के साथ के न देखा हो तो हम दोनों के बीच एक मौलिक तादात्म्य का सन्देह अवश्य होगा। और यदि सन्देहपुष्ट हो जाता है और तादात्म्य भी स्थापित हो जाता है तो सामान्य अनुमान परिणामत निकाला जा सकता है। यदि हम एक पदार्थ को जानते हैं कि वह शिंशपा है तो हम उसे आकृति का नाम अवश्य दे सकते हैं क्योंकि विशिष्ट में सामान्य रूप का उपस्थित रहना आवश्यक है जो क्योंकि यदि यह आकृति न होती तो शिंशपा भी न हो सकता। इसी प्रकार बौद्धों के अनुसार कारणकार्य सम्बन्धी पूर्वानुपरम्परा में और जाति उपजाति सम्बन्धी सह अस्तित्व अथवा सान्वय के दृष्टान्तों में सामान्य अनुमान का नियम पाया जाता है।

हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि सत्य सम्बन्धी उक्त नियम बुद्ध को अभिमत था या नहीं। जीवन के प्रति निराशापूर्ण दृष्टिकोण संसार स्वर्ग एवं नरक इत्यादि की समस्त कल्पनाएं ठीक उसी रूप में बुद्ध ने ले ली हैं जो उनके समय में प्रचलित थीं। इससे केवल यही स्पष्ट होता है कि यथार्थता की व्याख्या नितान्त मौलिक रूप में होने पर भी जनसाधारण के मन में प्रविष्ट भूतकाल के संस्कारों को एकदम नहीं उड़ा सकती। यदि हम बुद्ध के सिद्धान्त में के इस अंश को जिसे उन्होंने बिना तर्क द्वारा विश्लेषण किए अंगीकार कर लिया निकाल दें तो हम अनुभव करेंगे कि उनके दर्शन का शेष भाग न्यूनाधिक रूप में संगत ही है। उन्होंने जगत के आदिकारण एवं अन्तिम लक्ष्य पर विचार करने से निषेध किया। उनका वास्तविक जीवन से ही तात्पर्य है परम यथार्थसत्ता से नहीं। एक एसे ब्राह्मण को जो संसार की नित्यता अथवा अनित्यता से सम्बन्धित दार्शनिक तथ्यों के ऊहापोह में ही निमग्न है बुद्ध ने कहा कि मुझे कल्पनाओं से कुछ वास्ता नहीं। बुद्ध की पद्धति दर्शन पद्धति न होकर एक प्रकार का यान या सवारी है यह एक क्रियात्मक पद्धति है जो मोक्ष प्राप्त कराती है।[1] बुद्ध अनुभव का विश्लेषण करते हैं उसके यथार्थ स्वरूप में भेद करते हैं। चूंकि बौद्ध विचारक विश्लेषणात्मक पद्धति को लेकर चलते हैं इसलिए उन्हें कभी-कभी विभाज्यवादी के नाम से भी पुकारा जाता है। बुद्ध अपने ध्यान को इस संसार तक ही सीमित रखते हैं और देवताओं को एकदम नहीं छेड़ते इसी प्रकार देवताओं से भी वे यही आशा करते हैं कि वे भी उनके ध्यान में विघ्न नहीं डालेंगे। इन्द्रियातीत यथार्थसत्ताओं के प्रति वे हठपूर्वक नास्तिकवाद का ही रुख बनाए हुए हैं क्योंकि एकमात्र इसी प्रकार के मन की प्रानुभविक तथा तार्किक परिणामों एवं नैतिक नियमों के साथ संगति बैठ सकती है। किसी भी विषय का उन्होंने सर्वथा निराकरण नहीं किया अपितु पृष्ठभूमि को खाली छोड़ दिया है जिसपर कोई भी सिद्धान्त सम्बन्धी पुनररचना की जा सकती है। हम इस विषय को विशेष ध्यानपूर्वक लक्ष्य करना है कि इसका अर्थ यह लेना है कि बुद्ध संशयवादी थे जो निषेध में ही समस्या का हल पाते हैं। उनके कथन का एकमात्र तत्त्व यह है कि पूर्णता के लक्ष्य के सम्बन्ध में वाद-विवाद किए बिना पहले हम अपने को पूर्ण बना लें। अध्यात्मशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रति वे इतने

[1] मज्झिमनिकाय।

उदासीन न थे। उनके प्रारम्भिक अनुयायियो मे बहुत-मे ब्राह्मणमत या पौराणिक मत को माननेवाले भी पाए जाते हे। ब्रह्मजालसुत्त हमे ऐमे भी शिष्यो का परिचय देता है जो प्रकटरूप से बौद्धमत के विरुद्ध भाषण करते थे। बुद्ध के उपदेश अपने ब्राह्मण एव बौद्ध अनुयायियो के लिए एकसाथ ही होते थे। जब तक हम इस ससार मे है, हम सासारिक हे, और इसलिए बुद्ध का कहना है कि जो अव्याख्येय है उमकी व्याख्या करने के सब प्रकार के प्रयत्नो को छोड देना चाहिए और अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी समस्याओ के विवादो मे नही पडना चाहिए। इस प्रकार के विवादो को वे 'बुद्धि का प्रेमालाप' कहते थे। विधर्मियो को फुसलाने के लिए न तो उन्होने कभी विवश किया और न ऐसा कोई चमत्कार ही दिखाया। उनकी सम्मति मे आतरिक प्रेरणा ही हमे सत्य का मार्ग दिखलाती है, और इस प्रकार उन्होने अपने शिष्यो को प्रेम एव दान सम्बन्धी कर्मो मे ही निरत रहने का उपदेश दिया। दार्शनिक ज्ञान नही अपितु केवल शान्ति ही आत्मा को पवित्र करती है। नैतिक जीवन के द्वारा जब अगाध प्रकाश उत्पन्न होगा तभी हमे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, और इसीलिए अपनी दुर्बल बुद्धि के द्वारा उसकी पहले से ही धारणा क्यो बना ले?

इस तथ्य पर विशेषरूप से ध्यान आकृष्ट होता है कि बुद्ध मौन साधकर ऐसे सब प्रश्नो को जो अध्यात्मशास्त्र से सम्बन्ध रखते है, टाल देते है, इस आधार पर कि नैतिक दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नही। बुद्ध के मौन मे कौन-सा वास्तविक गम्भीर आशय छिपा है? क्या वे सत्य को जानते थे और तब भी जान-बूझकर उसे प्रकाशित करने से इनकार करते थे? क्या वे निषेधात्मक रूढिवादी थे, जिन्होने आत्मा एव ईश्वर के अस्तित्व का सर्वथा निषेध किया? अथवा क्या वे इस प्रकार के विवादो को निष्फल समझते थे? अथवा क्या उनका विचार यह था कि इस प्रकार की कल्पनात्मक प्रवृत्ति एक प्रकार की दुर्बलता है जिसे प्रोत्साहित करना उचित नही है? बौद्धधर्म का अध्ययन करने वाले अनेक विद्यार्थी सोचते है कि बुद्ध ने ईश्वर एव आत्मा के भाव को सर्वथा ही उड़ा दिया और यह कि जितना अभी तक हमे जताया गया है उनसे कही अधिक निश्चितरूप मे वे नास्तिक या अनीश्वरवादी थे। इस प्रकार की निषेधात्मक व्याख्या का समर्थन नागसेन, बुद्धघोष, एव उन हिन्दू विचारको ने भी किया है जिन्होने इस पद्धति की समीक्षा की है, यह भली भाति विदित है। और न हम इस विषय का ही निषेध कर सकते है कि बौद्धधर्म ने बहुत प्रारम्भिक अवस्था मे ही अपना तादात्म्य निषेधात्मक अध्यात्मशास्त्र के साथ स्थापित कर लिया। किन्तु हमारा कहना यह है कि स्वय बुद्ध ने इस प्रकार के निषेधात्मक मत का कही भी आश्रय नही लिया है, किन्तु उनके प्रारम्भिक अनुयायी जब इन समस्याओ पर विचार करते थे और बुद्ध उत्तर मे मौन साध लेते थे तो उनके इस प्रकार के मौन से ही ऐसी व्याख्याओ की सृष्टि हुई प्रतीत होती है। किन्तु बुद्ध का इस प्रकार का मौनधारण या तो परमसत्य के विषय मे अज्ञान का द्योतक हो सकता है, अथवा मोक्ष के मार्ग की ओर, जो सबके लिए खुला था, सकेत करना भी हो सकता है, क्योकि उनके मत मे आध्यात्मिक विषयो की ओर झुकाव न रहने पर भी मोक्षप्राप्ति सम्भव है। इसलिए बुद्ध के मौन के नाना प्रकार के अर्थ लगाए जा सकते है, यथा, (१)

यह नास्तिकता में ज्ञान को प्रकट करनेवाला था। (२) अथवा यह नैतिकता एवं मनुष्य जाति के प्रति प्रेम की ओर ही पूरा ध्यान देना चाहता था। बौद्धधर्म का प्रतिपादन करते हुए हमने प्रायः बलपूर्वक यही कहा है कि बुद्ध के द्वारा आत्मा के अस्तित्व के निषेध के विरुद्ध भी स्पष्ट धारणाएं एवं निर्वाण को शून्यता समझने के विरुद्ध धारणाएं और एक अनुभवाश्रित यथार्थसत्ता के सम्बन्ध में भी स्पष्ट धारणाएं जिनको प्राप्त करने के लिए सांसारिक व्यापार के छोड़ने की कल्पना की जा सके, एक निषेधात्मक दर्शन के साथ संगत नहीं हो सकतीं। यह तथ्य कि बुद्ध ने अनुभव किया कि उन्होंने सत्य को ढूंढ़ लिया है और वे अन्य मनुष्यों को सत्य के मार्ग का प्रदर्शन भी करा सकते हैं, नास्तिकवाद की द्वितीय कल्पना के विरुद्ध जाता है। यदि उन्होंने सत्य को न जाना होता तो वे अपने को बुद्ध अथवा ज्ञानी न कहते। (३) अब तीसरी कल्पना शेष रह जाती है कि बुद्ध परमार्थविषयक सब समस्याओं के विषय में पूर्ण ज्ञान रखते थे किन्तु वे जनसाधारण के अन्दर जो उनका उपदेश सुनने को एकत्र होते थे उन सत्यों की घोषणा इस डर से नहीं करना चाहते थे कि कहीं उनके मन विचलित न हो जाएं।¹ यह समाधान हमें सबसे अधिक संतोषजनक प्रतीत होता है। एक अवसर पर बुद्ध ने कुछ सूखे पत्ते उठाए और उन्हें अपनी हथेली पर रखकर आनन्द से पूछा कि मेरे हाथ में ये जितने सूखे पत्ते हैं क्या इनसे अधिक पत्ते भी हैं। आनन्द ने उत्तर दिया, "पतझड़ का मौसम है इसलिए पत्ते बराबर झड़कर सब दिशाओं में गिर रहे हैं। इसलिए जितने पत्तों को हम गिन सकते हैं उनसे कहीं अधिक संख्या में पत्ते विद्यमान हैं।" तब बुद्ध ने कहा कि "इसी प्रकार मैंने तुम्हारे आगे केवल मुट्ठीभर सत्यों की ही व्याख्या की है किन्तु इसके अतिरिक्त हजारों सत्य ऐसे हैं जिनकी संख्या गिनती में नहीं आ सकती।"² तात्पर्य यह निकला कि बुद्ध के अपने ही कथन के अनुसार आनुभविक जगत-सम्बन्धी सत्यों के अतिरिक्त जिनका प्रकाश उन्होंने किया, दूसरे भी सत्य हैं। जिस प्रकार का ज्ञान बुद्ध ने स्वयं प्राप्त किया उसके लिए नैतिक तैयारी की आवश्यकता है इसलिए अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए स्वयं बुद्ध ने ही इस विषय पर अन्यों के लिए भी आग्रह किया है। बुद्ध का इस प्रकार का भाव दार्शनिक दृष्टि से सर्वथा युक्तियुक्त है। वे मनुष्य के ज्ञान की सीमाओं से परिचित थे और इसलिए उन्होंने तर्क द्वारा जानने योग्य विषय एवं अज्ञेय विषय के मध्य परिधि की रेखा खींच दी। वे यह अनुभव करते थे कि हमारी इन्द्रियां परिणत पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं और परिणत वस्तुएं वास्तव में सत् नहीं हैं। इसपर भी उपनिषदों के साथ सहमत होते हुए वे अनन्त के रहस्य को मानते हैं। जब परिमित शक्ति वाली बुद्धि अपने जिम्मे नित्यता को काल की परिधि में बांधने का एवं विशालता को देश की अवधि में बन्द करने का काम ले लेगी जिसका कभी अन्त नहीं हो सकता तो विरोधाभासों के चक्कर में आकर यह अथाह हो जाएगी। जो कल्पनातीत है उसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। सत् के विषय में विचार करने का एवं यथार्थता को समझने का हरेक प्रयत्न उसे अनुभव का विषय बना देते हैं। मनुष्य के मन की पहुंच से यथार्थसत्ता हमेशा ही बाहर रहेगी क्योंकि

१ देखिए भगवद्गीता २ : २६।
२ आनन्दाचार्य के ब्रह्मदर्शनम्, पृष्ठ १० में उद्धृत।

मनुष्य स्वय अविद्या की उपज है। ऐसा ज्ञान जो 'मैं' और 'तू' मे भेद करता है, परम ज्ञान नही है। मनुष्य एव सत्य के बीच एक ऐसा आवरण है जिसके बीच मे प्रवेश करना कठिन है। तो भी यह सत्य अथवा ज्ञान जिसे हम प्रत्यक्ष नही कर सकते या नही जान सकते, अयथार्थ नही है। "हे नागसेन, ज्ञान का निवास कहा है?" "राजन्, कही नही।" "भगवन्, तव फिर ज्ञान कोई वस्तु नही है।" "राजन्, वायु का निवासस्थान कहा है?" "कही भी नही।" "राजन्, तव फिर वायु नाम का कोई पदार्थ नही?" बुद्ध का कहना है कि परम यथार्थता को तर्क के द्वारा प्रत्यक्ष नही दिखाया जा सकता, अथवा सिद्ध नही किया जा सकता, किन्तु तो भी वे यह कभी नही कहते कि इसीलिए उसकी सत्ता नही है। बुद्ध की एतद्विपयक सम्मति को कवि गेटे के 'फाउस्ट' की इन पक्तियो मे रखा जा सकता है "उसका नाम रखने का कौन साहस कर सकता है? इसी प्रकार उसके विपय मे इस प्रकार कथन करने का भी कौन साहस कर सकता है कि मैं उसमे विश्वास करता हू? ऐसा कौन है जो इतना साहसी हृदय रखता हो कि कह सके कि मैं उसके अस्तित्व को नही मानता?"

ब्रह्म की यथार्थता का आधार बुद्ध वेद के प्रमाण के अनुसार बनाने के विचार से सहमत नही है, क्योकि जहा एक वार हमने ईश्वरीय ज्ञान की गवाही को स्वीकार किया तो फिर उसका कही अन्त नही है। इस प्रकार तेविज्जसुत्त मे ऐसे व्यक्तियो की तुलना जो वेद के प्रमाण के आधार पर ब्रह्म मे विश्वास करते है एव उसके साथ मिलना चाहते है, उन लोगो से की गई है जो किसी ऐसे ऊचे भवन के ऊपर पहुचने के लिए चौरस्ते पर एक सीढी वनाते है जिसके विपय मे यह भी नही जानते कि वह भवन कहा है और कैसा है एव किस चीज से वना है और वह है भी या नही। और यह भी सत्य है कि बुद्ध ऐसे प्रयत्नो को प्रोत्साहित नही करते जो अज्ञात वस्तु की गहराई को नापने के लिए किए गए हो।[1] जिन वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी बुद्धिया अपर्याप्त है ऐसी वस्तुओ के सम्बन्ध मे विवाद करना अपने अमूल्य समय को नष्ट करना है। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी पुराने विवादो के इतिहास से यह भी परिणाम निकाला कि जब हम कल्पना के सूक्ष्म वायुमण्डल मे उडने का प्रयत्न करते है तो यह ठोस पृथ्वी एव नैतिक विधान हमारे पैरो के नीचे से हिलने लगते है। इसलिए वे हमे आदेश देते है कि हम मातृस्वरूप भूमि की ओर वापस लौट पडें एव वृथा पखो को फडफडाते हुए परमसत्तारूपी शून्य आकाश मे न खो जाए। अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी समस्याओ के प्रति प्रश्नकर्ताओ की गहरी रुचि को वे उनकी कल्पनात्मक प्रवृत्ति का प्रमाण मानते थे। इस प्रकार इस कल्पनात्मक प्रवृत्ति को भी बुद्ध ने पाच प्रकार के पाखण्डो मे सम्मिलित किया है।[2] नैतिक विपयो मे अत्यन्त ग्रस्त रहने के कारण ही बुद्ध अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी समस्याओ के विपय मे वरावर अनिश्चित रहे है। अपने समय की द्विविधा मे और कुछ जोडने के अनिच्छुक बुद्ध हमे आदेश देते है कि हमे समझ मे आने योग्य विपयो तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए।

१ फ्रासिस वेकन बुद्ध के ही भाव के अनुकूल कहता है कि अन्तिम लक्ष्य, देवता को समर्पित की गई कुमारी कन्याओं की भाति, वाझ है।

२. चुल्लवग्ग, ६ · १, ४।

अध्यात्मविद्या सम्बन्धी समस्याओं के विषय में कान्ट एवं बुद्ध में बहुत कुछ समानता पाई जाती है। दोनों ने ही एक ऐसे समय में जन्म लिया जबकि दर्शनशास्त्र का क्षेत्र परस्पर विरोधी पक्षों, प्रधान अध्यात्मविद्या सम्बन्धी रूढ़िगत परम्पराओं एवं संशयवाद में बंटा हुआ था। दोनों ही अनुभव करते थे कि परम्परागत तर्क की प्रक्रिया के आधार के अन्दर गहराई तक जाने का अभाव वर्तता है और दोनों ही नैतिक सिद्धान्तों की सत्ता की रक्षा के लिए आतुर थे। दोनों का आग्रह था कि हम अतीन्द्रिय विषयों की यथार्थता को तर्क के द्वारा जानने का प्रयत्न करना रोक देना चाहिए। उक्त दोनों ही महापुरुषों की दृष्टि में अध्यात्मविद्या ऐसी समस्याओं को हल करने में असमर्थ है जो तर्क के द्वारा वस्तुओं के गुप्त स्वभाव के विषय में उत्पन्न होती हैं। जैसे ही हम उन्हें बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा करेंगे, हम नाना प्रकार के असत्याभासों एवं विरोधों में खो जाएंगे। दोनों ही नैतिक विधान को जीवन का सर्वोपरि मार्गदर्शक समझते हैं। यह एक ऐसा विधान है जो देवताओं एवं मनुष्यों से ऊपर है, सदा से रहा है और सदा रहेगा। नैतिक विधान के विषय में संशय (विचिकित्सा) रखना एक बड़ा पाप है जो मोक्ष का घातक है।

परमार्थ सम्बन्धी समस्याओं को पीछे छोड़ देने की प्रवृत्ति के विषय में हमें यही कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि यह एक दुर्भाग्य का विषय है। मनुष्य परमार्थ विषयों के दार्शनिक ज्ञान की जिज्ञासा के बिना रह नहीं सकता। जब बुद्ध यह कहते हैं कि जो कुछ हमारे सम्मुख है वह सब संस्कृत है तो स्वभावतः प्रश्न उठता है—क्या असंस्कृत भी इस विश्व में कुछ है? और क्या वह असंस्कृत संस्कृत का मात्र संघात है अथवा एक अद्वय प्राप्ति है? इस प्रकार की समस्याएं—जैसे कि क्या इस संसार का कोई प्रारम्भ है, क्या आत्मा अमर है, क्या मनुष्य एक स्वतन्त्र कर्ता है, क्या इस संसार का कोई सर्वोपरि कारण है—मनुष्य जाति की महत्त्वाकांक्षाओं के साथ अपरिहार्य सम्बन्ध रखती हैं और इन्हें यों ही एक ओर हटाया नहीं जा सकता। हमारे लिए इन समस्याओं का सुलझाना भले ही सम्भव न हो किन्तु उठाने से अपने को रोक रखना भी सम्भव नहीं है। यदि मनुष्य पदार्थों के सत्य को न जान सके तो उससे प्रतिष्ठा में कोई हानि नहीं होती किन्तु उसी प्रतिष्ठा की यह भी मांग है कि मनुष्य को ऐसी समस्याओं के प्रति उदासीन भी न रहना चाहिए। बुद्ध हमें कहते हैं कि हम गहराइयों में दृष्टिपात करने के प्रलोभन से चौकन्ना रहना चाहिए क्योंकि अगाध गह्वर का माप सकना हमारे सामर्थ्य के बाहर की बात है। किन्तु अतीन्द्रिय विषयों की जिज्ञासा-सम्बन्धी उनका कट्टरतापूर्ण निषेध अन्त में जाकर सफल न हो सका।[1] बौद्धधर्म का इतिहास अध्यात्मविद्या की अनिवार्यता की ओर निर्देश करता

[1] यदि हम समझते हैं कि सुदूर स्थित आकाशी नक्षत्र तक हम अवश्य पहुंच सकते हैं तो एक भोले भाले किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति के लिए यह कह देना कि उसके बिना भी हमारा काम चल सकता है, उचित है। क्योंकि ज्ञान को आगे बढ़ाने का जो एक प्रकार का आग्रह है वह तुरन्त कर्तव्य का रूप ले लेता है और उस अवस्था में जान बूझकर तर्क के ऊपर प्रतिबन्ध लगाना ऐसा प्रतीत होता है कि यह ज्ञान का मार्ग नहीं है अपितु सुरक्षा है जो हमारे स्वरूप की उन्नति में बाधा उपस्थित करती है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव, मोक्ष, नियति और आत्मा जीवन इत्यादि प्रश्न तुरन्त बुद्धि की समस्त शक्तियों को नियन्त्रित कर देते हैं और अपने महत्त्व के कारण हठात् मनुष्य को कल्पना करने का एक

है। सत्य के विषय मे इससे बढकर और ज्वलन्त प्रमाण क्या हो सकता है कि हम अध्यात्म-विद्या का विरोध करते हैं, किन्तु अन्त मे चलकर हमे उसी अध्यात्मविद्या मे निमग्न होना पडता है।

अनिर्णय अथवा सदिग्धता मे सदा भलाई हो ऐसी बात नही है, क्योकि बुद्ध की अध्यात्मविद्या-विषयक अनिश्चितता ने उनके शिष्यो को इस योग्य बना दिया कि वे भिन्न-भिन्न पद्धतियो का सम्बन्ध बुद्ध के प्रवचनो के साथ जोड़ने लगे। उनकी साव-धानता-भरी प्रवृत्तियो ने निषेधात्मक दर्शन-पद्धतियो के विकास को जन्म दिया और उनकी अपनी शिक्षा उसी कट्टरता अथवा रूढि का शिकार बन गई जिससे बचने के लिए वे स्वय बराबर इतने आतुर रहे। जैसाकि हम देख चुके है, नागसेन मे सर्वोपरि यथार्थ-सत्ता एक निराधार धारणा बन गई। वह ज्ञेय एव अज्ञेय के बीच के भेद का खण्डन करता है। वस्तुओ का ज्ञान उसकी दृष्टि मे सापेक्ष नही रह जाता। यह यथार्थ एवं निरपेक्ष है। अनुभव से परे कुछ नही। यथार्थ एव अनुभवजन्य, उसके मत मे, एकसमान हैं। सापेक्ष ही परम तत्त्व है। सच्ची अध्यात्मविद्या का सिद्धान्त वही है जो अनुभव का सिद्धान्त हो, न कि जो पृष्ठभूमि मे अपने को पर्दे मे छिपाए हुए हो। हमे यह तथ्य स्वीकार करना ही होगा कि ससार की सीमाए न तो देश से बद्ध है, और न ही काल से उसके प्रारम्भ का विधान बताया जा सकता है। सृष्टि के अतिरिक्त अन्य किसी कारण-सम्बन्धी कल्पना का प्रयोग इसकी व्याख्या के लिए आवश्यक नही है। बुद्ध के अन्य अनुयायियो ने भी इस ससार के स्वरूप के सम्बन्ध मे दिए गए बुद्ध के निर्णयो को, अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी अपनी-अपनी योजनाओ के आधार पर, अपने अनुकूल बना लेने के प्रयत्न किए।

२१

बौद्धधर्म और उपनिषदें

जो जिज्ञासु अतीत की विचारधाराओ को फिर से सुसगठित करने की इच्छा रखता है उसके पास सिवाय अविरत प्रगति अथवा तार्किक विकास के और कोई निश्चित

ऐसा उत्साह चढा देते हैं कि जिसके आवेश से वह उक्त सूक्ष्म विषयों को भी ग्रहण करके निर्णय करने, उनके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कह सकने, एवं वाद-विवाद उपस्थित करने में अन्तर्दृष्टि एवं प्रत्येक नये रूप को साथ लेकर कार्य करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। किन्तु इस प्रकार की उड़ान कल्पनाओं के लिए सीमा नियत करना तभी सम्भव होता है जबकि इस प्रकार के विवाद एक दर्शनपद्धति का रूप धारण कर सकें, क्योंकि यह कार्य क्रमबद्ध दर्शनपद्धति का ही है कि वह अपनी प्रक्रिया को भी जाच ले एवं केवल पदार्थों की व्याख्या तक ही सीमित न रहकर, मानव-मस्तिष्क की शक्ति के साथ उनका क्या सम्बन्ध है इसका भी ज्ञान प्राप्त कर ले। साधारण ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति जिन विचारों को आसान एवं सरल समझता है उनके अन्दर छिपी रहनेवाली कठिनाइयों को केवल दर्शनपद्धति ही ढूंढकर निकाल सकती है। दर्शनशास्त्र का ज्ञान आगे बढकर हमारी उस ज्ञानविषयक भ्रान्ति को भी दूर कर सकता है जो अभी तक शेष है और हमें निर्देश कर सकता है कि ऐसे पदार्थ मनुष्य की बुद्धि के क्षेत्र से एकदम परे हैं।" (केयर्ड—'फिलासफी आफ कान्ट', खण्ड १, पृष्ठ १४०।)

सफलता प्राप्त करानेवाली कुंजी नहीं है। बुद्ध ने अन्धकार के प्रति हार्दिक घृणा एवं प्रकाश के प्रति प्रेम के कारण समस्त गूढ़ रहस्यों को एकदम छोड़ देना ही ठीक समझा। उनकी इस कार्यपद्धति से स्पष्ट एवं निश्चित विचारधारा को तो लाभ हुआ, किन्तु इसके अन्दर कुछ दोष भी थे। बुद्ध की शिक्षा में गहराई की कमी रही एवं एक व्यवस्थित या सगठित स्वरूप का अभाव रहा। उनके विचार असंस्कृत रूपरेखाओं के रूप में ही रह गए जो परस्पर एक दूसरे से अलग अलग थे। उनके विचारों के आन्तरिक सम्बन्ध स्पष्ट लक्षित नहीं हुए। इस प्रकार का एक वातावरण केवल जो भिन्न भिन्न अवयवों को मिला कर एक आध्यात्मिक पूर्णता को सम्पादित करने में सफल हो सकता है परोक्षरूप में विद्यमान था। मानव मस्तिष्क को जो स्वभाव से व्यवस्थापक है अपने विचारों एवं सिद्धान्तों को एक सुव्यवस्थित पद्धति के अवयवरूप में ही मानना चाहिए और इसी मन की सहज अन्तःप्रेरणा के कारण हमारे लिए इस विषय को खोजने की आवश्यकता अनुभव होती है कि किस प्रकार बुद्ध की शिक्षा की पृष्ठभूमि में एक सिद्धान्त की एकता काम कर रही थी। उपनिषदों की पृष्ठभूमि में जो अध्यात्मविद्या थी केवल वही इस प्रकार की अध्यात्मविद्या थी जो बुद्ध के नैतिक अनुशासन का उचित आधार बन सकती थी। बौद्धधर्म केवल उस विचारधारा के आन्दोलन का एक परवर्ती रूप था जिसका पूर्ववर्ती रूप उपनिषदें थीं। उपनिषदों के बहुत से सिद्धान्त निःसन्देह विशुद्ध बौद्धधर्म के ही सिद्धान्त हैं अथवा इस यों कहना अधिक संगत होगा कि अनेक विषयों में बौद्धधर्म ने ठीक ठीक रूप में उन्हीं सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप दिया जो उपनिषदों में प्रतिपादित किए गए थे। [1]बुद्ध स्वयं को किसी नवीन व्यवस्था का संस्थापक न समझकर केवल प्राचीन मार्ग का पुनरुद्धारक समझते थे और वह मार्ग उपनिषदों का मार्ग था। बौद्धधर्म एवं उपनिषदें दोनों ही वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन करते हैं जहां तक कि उनके दर्शन शास्त्र सम्बन्धी विषय का सम्बन्ध है। क्रियात्मक रूप में दोनों ने अपने से विपरीत विश्वासों के साथ एक प्रकार की सन्धि कर ली, इसके फलस्वरूप ऐसे अनेक व्यक्ति जिन्होंने सिद्धान्तरूप में उनकी शिक्षा को ग्रहण कर लिया था क्रियात्मक रूप में फिर भी दूसरे देवताओं की पूजा करते रहे। इस विषय में बौद्धधर्म उपनिषदों की अपेक्षा समझौते के लिए कम उद्यत हुआ। दोनों ने यन्त्रवत यज्ञयाग आदि अनुष्ठानों एवं अविचारपूर्ण कर्मकाण्ड के क्रियाकलापों के विरुद्ध आवाज उठाई। दोनों इस विषय का बलपूर्वक प्रतिपादन करते हैं कि न तो यज्ञ याग से और न ही तपश्चर्या से बार बार जन्म ग्रहण करने से छुटकारा मिल सकता है। केवल सत्य के साक्षात्कार द्वारा एवं यथार्थसत्ता के ज्ञान द्वारा जो समस्त जीवन का आधार है हमें मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। व्यक्ति की वास्तविकता से निषेध करने की प्रवृत्ति दोनों में समान है। इस प्रकार का भाव कि यह जीवन दु:खमय है और यह कि हम परलोक-जीवन के लिए तरसते हैं दोनों को एकसमान मान्य है। दोनों हमें जीवन के आवेगयुक्त ज्वर से मुक्त हो जाने के लिए प्रबल प्रेरणा करते हैं। उपनिषदों की महत्त्वपूर्ण शिक्षा एवं समस्त जीवन की एकता को बुद्ध ने

[1] १ र्ह्रस्मूसर : सैक्रेड बुक्स भाग द १८८ खंड १५ भूमिका पृष्ठ ३७।

स्वीकार किया। दोनो की दृष्टि मे जीवन एक प्रकार की महत्त्वपूर्ण पुण्य यात्रा है जिसमे हम नीचे भी गिर सकते है अथवा ऊपर भी चढ सकते है। बौद्ध नीतिशास्त्र की सार्वभौमिकता के प्रति प्रवृत्ति कोई नई वस्तु नही है। दोनो स्वीकार करते है कि निरपेक्ष परमसत्ता का बोध बुद्धि के द्वारा नही हो सकता। बुद्ध द्वारा दिया गया परमसत्ता का विवरण कि वह न तो शून्य है, न अशून्य है, न दोनो ही है एव दोनो मे से अन्यतम भी नही है, हमे उपनिषदो के इसी प्रकार के अनेक वाक्यो का स्मरण कराता है। यदि यथार्थ कुछ नही है, और यदि विधि का विधान ऐसा ही है कि हम सदा के लिए अज्ञान मे ही रहे तो हमारे अन्दर उक्त विषय-सम्बन्धी कभी शात न होनेवाली उत्सुकता, जो हमे खाए जाती है, उत्पन्न न होती। बौद्धधर्म मे आत्मा, ससार एव इसी प्रकार की अन्य समस्याओ की व्याख्या मे हमे उपनिषदो के पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग मिलता है, यथा नामरूप, कर्मविपाक, अविद्या, उपादान, अर्हत्, श्रमण, बुद्ध, निर्वाण, प्रकृति, आत्मा निवृत्ति इत्यादि। बौद्धधर्म ने उपनिषदो के दार्शनिक सिद्धान्तो को, जो उस समय तक कुछ थोडे-से चुने हुए लोगो तक ही सीमित थे, जनसाधारण के अन्दर प्रचारित करने मे सहायता दी। इस प्रक्रिया की यह माग थी कि ऐसे गहन दार्शनिक सत्यो को जिन्हे साधारण जनता को स्पष्टरूप मे नही समझाया जा सकता, व्यावहारिक उद्देश्य को आगे रखकर एकदम दृष्टि से ओझल कर दिया जाए। बुद्ध के धर्मप्रचार का उद्देश्य यह था कि उपनिषदो के आदर्शवाद को उसके उत्कृष्टरूप मे स्वीकार करके, उसे मनुष्य-जाति की दैनिक आवश्यकताओ के लिए उपयोगी बना दिया जाए।[1] ऐतिहासिक बौद्धधर्म से तात्पर्य है उपनिषदो का जनसाधारण मे प्रचार। इस प्रकार से बौद्धधर्म ने अपने पीछे एक ऐसी विरासत छोडी जो आज तक भी जीवित है। इस प्रकार के सार्वजनिक महान परिवर्तन हिन्दूजाति के इतिहास मे बराबर होते रहे है। उस समय मे जबकि महान ऋषि-मुनियो के निधिरूप ग्रथ कतिपय व्यक्तियो की ही निजी सम्पत्ति बन गए थे, तब महान वैष्णव रामानुजाचार्य ने उन रहस्यमय ग्रन्थो का प्रचार अस्पृश्य समझी जानेवाली जातियो मे भी किया। हम कहने को कह सकते है कि ब्राह्मणधर्म के अपने मौलिक सिद्धान्तो मे वापस लौट आने का नाम बौद्धधर्म है। बुद्ध कोई ऐसा क्रान्तिकारी नही था कि जिसने उपनिषद् के सिद्धान्तो की प्रतिक्रियारूपी लहर चलाकर ख्याति एव सफलता प्राप्त की, बल्कि उसका उद्देश्य एक सुधारक के रूप मे उपनिषदो के प्रचलित सिद्धान्तो के ढाचे मे परिवर्तन करके उसमे प्रतिपादित सत्यो को, जो भुला दिए गए थे, फिर से प्राधान्य मे लाना था। बुद्ध की शिक्षा मे जो प्रधान दोष है वह यह है कि उन्होने अपने नैतिक प्रचार के उत्साह मे केवल सत्य के आधे हिस्से को लेकर उसे महत्त्व दिया और इस रूप मे प्रतिपादन किया कि मानो वही सत्य का पूर्णरूप हो। अध्यात्मविद्या के प्रति उनकी अरुचि ने उन्हे यह अनुभव करने से वञ्चित रखा कि आशिक सत्य का एक अनिवार्य पूरक भी रहता है और उसका आधार ऐसे सिद्धात होते है जो उसे अपनी स्वनिर्मित सीमाओ से भी परे ले जाते है।

१. देखिए होम्स : 'द क्रीड आफ बुद्ध'।

२२

बौद्धधर्म और सांख्यदर्शन

कुछ ऐसे भी विचारक हैं जिनकी सम्मति में बौद्धधर्म एवं जैनधर्म दोनों का आधार सांख्य सिद्धान्त है। बर्नूफ के विचार में बौद्धधर्म ने केवल सांख्य के सिद्धान्तों को ही क्रियात्मक रूप दिया। वेबर के अनुसार यह असम्भव नहीं है कि सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिलमुनि और गौतम बुद्ध एक ही व्यक्ति रहे हों और अपनी इस कल्पना के समर्थन में वह हमारा ध्यान इस घटना की ओर आकृष्ट करता है कि बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु नामक नगर में हुआ। दोनों की दर्शनपद्धतियों की एक ही सामान्य धारणा है अर्थात् यह कि जीवन दुःखमय है। ये दोनों ब्राह्मणधर्म के निम्नस्तर के अल्पजीवी देवताओं को मानते हैं किन्तु सर्वोपरि नित्य देव की सत्ता के विषय में मौन हैं। विल्सन लिखता है कि प्रकृति के नित्यत्व से सम्बन्ध रखनेवाले कुछेक विषय, द्रव्यों के तत्त्व एवं अन्तिम अवसान आदि सांख्य एवं बौद्धधर्म में समान हैं। जकोबी और गार्बे के अनुसार सांख्य की द्रव्य एवं तत्त्वों की गणना सम्बन्धी स्थापनाएं बौद्धधर्म से प्राचीन हैं। यह सत्य है कि सृष्टि रचना सम्बन्धी सांख्य की कल्पना एवं बौद्धधर्म की कल्पना में कुछ समानताएं हैं।[1] बौद्धधर्म के चार आर्यसत्य सांख्यशास्त्र के चार सत्यों के अनुकूल हैं जैसा कि सांख्यप्रवचनभाष्य में प्रतिपादित किया गया है : (१) जिससे हम छुटकारा पाना है वह दुःख है; (२) दुःख के विनाश का नाम मोक्ष है; (३) प्रकृति एवं पुरुष के बीच भेद न करने से ही दुःख उत्पन्न होता है जिसके कारण प्रकृति व पुरुष का परस्पर सम्बन्ध बराबर बना रहता है; (४) मोक्ष का उपाय सत्सद्विवेक सम्बन्धी ज्ञान ही है। कपिलमुनि (सांख्यकार) ने भी बुद्ध के समान यज्ञयाग आदि प्रार्थनाओं एवं अनुष्ठानों को वर्जित बताया है।

बौद्ध लोग स्वीकार करते हैं कि कपिल मुनि ने, जिसे सांख्यदर्शन का रचयिता बतलाया जाता है, बुद्ध से अनेक पीढ़ी पहले जन्म लिया था और यह कि बुद्ध के समय में सांख्य के विचार प्रचलित थे। दीघनिकाय के पहले सुत्तन्त में, जहां जीवन की बासठ प्रकार की कल्पनाओं का वर्णन किया गया है, सांख्य के समान ही मत भी पाया जाता है। "किन युक्तियों के आधार पर और किस तर्क से मुनि एवं ब्राह्मण लोग, जो जीवन की नित्यता में विश्वास करते हैं, यह घोषणा करते हैं कि जीवात्मा एवं संसार दोनों नित्य हैं, एवं साथ ही यह भी कि जीवात्मा अनेक हैं?" बुद्ध सांख्यदर्शन को भले ही न जानते हों किन्तु सांख्य के आरम्भ का वृत्तान्त अवश्य जानते होंगे। यह संसार पापमय है और प्रकृति से विच्छेद हो जाना ही मोक्ष है, इसी सिद्धान्त से बुद्ध को भी सुझाव मिला होगा। आत्मिक प्रक्रिया के विषय में जो सांख्य का विचार है वही बुद्ध के स्कन्ध सम्बन्धी सिद्धान्त के मूल में रहा होगा। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि सांख्यदर्शन बहुत अर्वाचीन समय की कृति है जिसमें शताब्दियों का कार्य संगृहीत है। सांख्यसूत्र (१ : २७–४७)

[1] अविद्या का सादृश्य प्रधान से, संस्कार का बुद्धि से, विज्ञान का अहंकार से, नामरूप का तन्मात्राओं से, षडायतन का इन्द्रियों से है (देखिए कर्न : मैनुअल आफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ४७, पाद-टिप्पणी ६)। सांख्य के प्रत्ययसर्ग और बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद का एक-दूसरे से निकटतम सादृश्य है।

बाह्य पदार्थों की क्षणिकता वाले बौद्ध सिद्धान्त का खण्डन करते है जो एक निरन्तर प्रवाह मे एक-दूसरे के पीछे उत्पन्न हुए प्रतीत होते है, वे इस सिद्धान्त का भी खण्डन करते है कि वस्तुओ का अस्तित्व केवल प्रत्यक्षज्ञान के ही अन्दर है, और वे अपनी प्रमेय-विषयक कोई सत्ता नही रखती और यह कि शून्य के अतिरिक्त और कुछ नही है। साख्य-सूत्रो से यह भी पता लगता है कि सूत्रकार को बौद्धधर्म के नाना सम्प्रदायो का ज्ञान था और उनकी रचना उक्त सम्प्रदायो के पश्चात् हुई है।

२३

बौद्धधर्म की सफलता

एक ऐसे देश मे जहा हजार वर्ष से भी अधिक काल तक ब्राह्मण या पौराणिक धर्म एक प्रचलित धर्म के रूप मे रहा हो, बौद्धधर्म को उसकी जडे खोखली करने मे सफलता मिल गई और इतना ही नही अपितु लगभग दो सौ वर्षो की ही अवधि मे वह भारत का राजधर्म भी हो गया। इस्लाम एव ईसाई धर्म जैसे प्रचारक धर्मो को ससार के किसी भाग मे इस प्रकार की अद्भुत सफलता नही मिली। यह भी नही कहा जा सकता कि बुद्ध ने जनसाधारण के जोश और मानसिक पक्षपातो को भड़काने मे सहायता की। उन्होने आत्मा के पापमोचन के लिए कोई ऐसा सस्ता नुस्खा भी नही बतलाया और न ही मोक्ष को नीलाम की बोली पर चढाया। उनके धर्म मे मानवीय स्वार्थपरता को लेकर भी ऐसा कोई आकर्षण नही था, क्योकि बौद्धधर्म का आग्रह है कि ऐसे सब सुखो को कष्ट उठाकर भी छोड दिया जाए जिन्हे प्राय मनुष्य खोजते है। बौद्धदर्शन को धर्म के रूप मे सफलता मिलने के कारणरूप तीन रत्न (त्रिरत्न) है (१) बुद्ध, (२) धर्म और (३) सघ। मानवता के मित्र, उच्छिृत व्यक्तियो की उपेक्षा करनेवाले, दिव्य जितेन्द्रिय वीर बुद्ध का अपना अद्भुत व्यक्तित्व एव समस्त जीवन मनुष्यो के मन पर अद्भुत प्रभाव डालता था। धर्म के संस्थापक के व्यक्तित्व के विषय मे बार्थ लिखता है "हमे अपने आगे उस सराहनीय आकृति को विशदरूप मे रखना चाहिए 'जो प्रशान्त एव मधुर तेजस्विता का, जीवमात्र के प्रति अनन्य स्नेह का एव समस्त दु खी प्राणियो के प्रति करुणा का, पूर्ण नैतिक स्वातन्त्र्य का एव हर प्रकार के पक्षपात से विरहित स्वभाव का साक्षात् उदाहरण है।"[1] "उसने कभी भी कल्याणकारी वाणी एव विवेकपूर्ण भाषा के बिना बोलना नही जाना। वह ससार का ज्योतिस्तम्भ था।"[2] यदि ऐसे दिव्यपुरुष की हृदय की विशालता एव

१ 'द रिलिजन्स आफ इडिया', पृष्ठ ११८।

२ यहा तक कि मध्यकाल में भी मार्कोपोलो ने बुद्ध के विषय में सुना और उनके बारे में लिखा "उसका जीवन इतना पवित्र और शुद्ध था कि यदि वह ईसाई होता तो हमारे प्रभु जीसस क्राइस्ट का एक महान सन्त होता।" "दोनों धर्मों के सस्थापकों के स्वरूप और उनकी शिक्षाओं में निर्विवादरूप से बहुत कुछ समानता है। दोनों को अत्यधिक आलोचनात्मक प्रकृति वाले और अत्यधिक बुद्धिमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दोनों मानव जाति की मुक्ति को सर्वाधिक महत्त्व देते थे। दोनों प्रेम के सर्वोत्कृष्ट निःस्वार्थ अपने प्रति और अपने पड़ोसियों के प्रति प्रेम के सिद्धान्त के समर्थक थे, तथा दोनों

व्यक्ति उत्कृष्ट जनसाधारण की कल्पना को अपनी ओर आकृष्ट न करते तो अवश्य ही आश्चर्य का विषय होता। मनुष्यमात्र के भ्रातृभाव के विचार ने जात पात के अत्याचारों को भी शिथिल कर दिया। संघ रूपी संस्था एवं इसके अनुशासन-सम्बन्धी भाव ने बहुत संख्या में जनसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट किया। बौद्ध भिक्षुओं ने अपने संस्थापक के समान ही सत्य के प्रचार के लिए सब कुछ त्याग दिया। उच्चश्रेणी की इस नैतिकता में (जिसकी शिक्षा बुद्ध ने दी) निष्कलंक पवित्र हृदय ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है बौद्ध धर्म के विधान एवं उसके प्रचारक देवदूत के जीवन का सारतत्त्व आ जाता है। बुद्ध ने *इसे व्यक्तियों के लिए भी जो किसी शरीरधारी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते* सम्प्रदाय करने का न्यायोचित बताया। किसी भी अन्य स्वतन्त्र नीतिशास्त्र ने सार्वभौमिक उपकार के इससे अधिक पुलकित करनेवाले स्वरूप को हमारे सम्मुख आज तक प्रस्तुत नहीं किया है। एक ऐसे समय में जबकि रक्तरंजित यज्ञयागों का पूरा प्रचार था एवं उन्हें मान्य ठहराया गया था, सृष्टिमात्र के लिए दया के भाव की शिक्षा ने बहुत बड़ा प्रभाव उत्पन्न न किया। रौनिश धन के विरोध ने बुद्ध के सिद्धांत को जनता द्वारा अपनाए जाने में अधिक योग दिया। बुद्ध के उपदेशों की अलौकिक प्रतिष्ठा उनके इन वचनों से *जांची जा सकती है "इस संसार में घृणा घृणा से शान्त नहीं होती, घृणा प्रेम से शान्त* होती है। विजय से घृणा का जन्म होता है क्योंकि विजित पुरुष दुःखी रहता है। कोई व्यक्ति युद्ध में एक हजार मनुष्यों पर विजय प्राप्त कर सकता है किन्तु जो अपने ऊपर विजय प्राप्त करता है वह सच्चा विजयी है। 'मनुष्य को चाहिए कि वह दया के द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त करे एवं पुण्य के द्वारा पाप पर। जन्म के द्वारा नहीं अपितु केवल आचरण के द्वारा ही मनुष्य नीच या ब्राह्मण होता है। अपने शुभ कर्मों को गुप्त रखो एवं जो तुमने पाप किए हैं उन्हें संसार के आगे स्वीकार करो। ऐसा कौन व्यक्ति है जो पापी पुरुष के लिए उसके पाप स्वीकार करने पर कटु शब्दों का प्रयोग करेगा—घाव पर नमक छिड़कने का कार्य करेगा ? बुद्ध के समान किसी अन्य ने कभी भी हमारे कानों में इस प्रकार की गम्भीर वाणी द्वारा कल्याणकारी आचरण के गौरव को

हमारी दयालुता की धारा अन्य वस्तुओं में हमारे उन सम्बन्धी जीवों को भी सम्मिलित करती है जिन्हें हम असंस्कृत नगण्य ... कहते हैं। तुम किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुंचाओगे। दोनों ने अपने अनुयायियों से मांग की कि वे प्रत्येक वस्तु का त्याग करें और अपने गुरु का अनुगमन करें। दोनों ने संसार की निस्सारता को प्रकट किया, आत्मत्याग पर बल दिया और अपने व्यवहार में करुणा को जीवन का सर्वोच्च नियम सिद्ध किया। दोनों ने विचार और कर्म की अत्यधिक पवित्रता की शिक्षा दी। दोनों ने राग द्वेष प्रतिकार की और भलाई से बुराई को जीतने की शिक्षा दी। दोनों के मन में शिशुओं, निर्धनों, पीड़ितों और परित्यक्तों के प्रति अपार करुणा थी। दोनों के जीवन का जो ब्यौरा हमें प्राप्त होता है उसमें अत्यधिक समानता मिलती है तथा इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय बात यह है कि दोनों के व्यक्तित्व आज भी संसार की सबसे बड़ी धार्मिक शक्तियों के मूल स्रोत के रूप में हैं और एक आध्यात्मिक चुम्बक की तरह युगों से लोगों के हृदय को आकर्षित करते चले आ रहे हैं। (ज़्यू़ दस लिरा मनीमैसास पृ॰ ६।) 'मुझे अधिकाधिक ऐसा प्रतीत होता है कि सत्य के नैर इस्लाम प्रग्रदूतों में शाक्यमुनि अपने व्यक्तित्व और अपने प्रभाव में उसके सबसे अधिक समीप हैं जो आत्मिक है जो सत्य है और जो पवन है।' (मेगास्थनीज़ ... विशप मिलमैन पृष्ठ २ ३।)

नही गुजाया। यही धर्मभावना या न्यायनिष्ठता का प्रज्वलित आदर्श है जिसने बौद्ध-दर्शन को धर्म के रूप मे सफलता प्रदान करने मे सहायता प्रदान की। धर्मप्रचार की भावना ने उक्त धार्मिक सिद्धात के विस्तार मे पूरा-पूरा सहयोग प्रदान किया। बुद्ध ने अपने शिष्यो को आदेश दिया कि "सब देशो मे जाओ और इस धार्मिक सिद्धान्त का उपदेश करो। उन्हे बताओ कि निर्धन एव नीच जाति के व्यक्ति और धनी एवं उच्च घराने-वाले सब एक हैं, और यह कि इस धर्म मे सब जाति वाले मिलकर एक हो जाते हैं जैसे कि समुद्र मे पडकर सब नदिया एक हो जाती हैं।" बौद्धधर्म को इतनी अच्छी सफलता इसलिए मिली क्योकि यह प्रेम का धर्म था। इसने ऐसी सब मूक शक्तियो को भी वाणी प्रदान की जो रूढिगत व्यवस्था एव रीतिविधान से पूर्ण धर्म के विरुद्ध कार्य कर रही थी; इसने निर्धनो, निम्नस्तर के लोगो और ऐसे लोगो को भी जिन्हे उत्तराधिकार में कुछ नही मिला था, अपना सन्देश सुनाया।

उद्धृत ग्रन्थ

'बुद्धिस्ट सुत्ताज, सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खड ११।
'धम्मपद ऐंड सुत्तनिपात, सैक्रेट बुक्स आफ द ईस्ट', खड १०।
'क्वेश्चन्स आफ किंग मिलिंद, सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खड ३५ और ३६।
वारेन : 'बुद्धिज्म इन ट्रासलेशस'।
रीज डेविड्स 'बुद्धिज्म'।
रीज डेविड्स 'बुद्धिस्ट इडिया'।
रीज डेविड्स 'द डायलॉग्स आफ बुद्ध'।
श्रीमती रीज डेविड्स 'बुद्धिज्म'।
श्रीमती रीज डेविड्स - 'बुद्धिस्ट साइकोलॉजी'।
श्रीमती रीज डेविड्स ऐण्ड औंग 'अनुरुद्धाज कम्पेण्डियम आफ फिलासफी'।
श्रीमती रीज डेविड्स ऐण्ड मौंग तिन 'द एक्सपोजिटर'।
पूसां - 'द वे टु निर्वाण'।
कर्न - 'मैनुअल आफ इडियन बुद्धिज्म'।
हॉप्किंस 'द रिलिजन्स आफ इडिया', अध्याय १३।
होम्स 'द क्रीड आफ बुद्ध'।
कुमारस्वामी 'बुद्ध ऐंड द गॉस्पल आफ बुद्धिज्म'।

आठवां अध्याय

महाकाव्यों का दर्शन

ब्राह्मणधर्म का पुनर्गठन—महाभारत—महाभारत का रचनाकाल और उसके रचयिता—रामायण—तत्कालीन सामान्य विचार—दुर्गापूजा—पाशुपत पद्धति—वासुदेव कृष्ण—महाकाव्यों का समन्वितशासन—नीतिशास्त्र—श्वेताश्वतर उपनिषद्—मनुस्मृति।

१

ब्राह्मणधर्म का पुनर्गठन

जबकि एक ओर भारत देश के पूर्वीय भाग में विद्रोहात्मक पद्धतियां नया आन्दोलन छेड़ रही थीं उस समय देश के पश्चिम भाग में जोकि ब्राह्मणधर्म का गढ़ था जनजाति में स्वभावतः ही महान परिवर्तन हो रहे थे। जब नये नये समुदाय जिनके अद्भुत प्रकार के धार्मिक विश्वास थे नये सिरे से आर्यजाति के अन्दर प्रविष्ट किए जा रहे थे तब प्राचीन वैदिक संस्कृति को एक ऐसे परिवर्तन में आना पड़ा जो नये आगन्तुक गिरोहों को मान्य हुए जो वस्तुतः देश को आप्लावित किए जा रहे थे क्योंकि यदि ऐसा प्रयास न किया जाता तो देश में आर्यों का प्राधान्य नहीं हो सकता था। आर्यजाति को एक बात का चुनाव करना था कि या तो वह अपना विस्तार बढ़ाए एवं अपने धर्म को नये ढांचे में ढाले जिसके अन्दर नये विश्वास भी समा सकें नहीं तो उनके आगे पराजय स्वीकार कर सदा के लिए विलुप्त हो जाए। आर्यत्व का अभिमान उन्हें नवागन्तुकों को यज्ञों का अधिकार देने के लिए अनुमति नहीं देता था किन्तु नवागन्तुकों को एकदम उपेक्षित भी नहीं किया जा सकता था। चूंकि नये विश्वासों या मतों को अपने अन्दर पचा लेना ही एकमात्र ऐसी एक शर्त थी जिसको मान लेने से आर्यजाति का अस्तित्व अबाध गति से आगे बढ़ सकता था आर्यसंस्कृति ने नये मतों को अपने अन्दर समाविष्ट करने एवं नवागन्तुकों की नैतिक आवश्यकताओं के अनुकूल अपने को बना लेने का महान कार्य अपने जिम्मे लिया यद्यपि इस प्रयत्न में उसे अनेक आपदाओं एवं विरोधों का सामना करना पड़ा। आर्य बनाने की प्रक्रिया मौलिक रूप में एक धार्मिक प्रक्रिया थी। ब्राह्मणों ने मिथ्या विश्वासों एवं प्रतीकों और कहानियों एवं किंवदन्तियों को अलंकारों का रूप प्रदान किया क्योंकि नवागन्तुकों के गिरोह उनमें अधिक रुचि दिखाते थे। आर्यों ने उक्त गिरोहों के

देवी-देवताओं की पूजा को स्वीकार कर लिया और वैदिक संस्कृति के साथ उनका समन्वय करने की चेष्टा की। कतिपय अर्वाचीन उपनिषदों में इस प्रकार के अनार्य प्रतीक-वाद के आधार पर वैदिकधर्म के निर्माण-सम्बन्धी प्रयत्नों का वर्णन किया गया है। पाशुपत, भागवत एवं तान्त्रिक विकास सब उसी सामाजिक उथल-पुथल के काल के आंदोलन हैं, जिनके द्वारा बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व के भारत में विस्तृत समुदायों को आर्य-जाति के अन्दर समाविष्ट करने का कार्य चलता रहा। उन्हें इस प्रकार के साँचे में ढाला गया एवं उनका उत्कर्ष किया गया कि आज यह मत प्रकट करना भी कठिन प्रतीत होता है कि उनका उद्गम प्राचीन उपनिषदों अथवा वेदों में नहीं था। रामायण एवं महाभारत दोनों महाकाव्य हमारे आगे वैदिकधर्म के इसी विकास का वर्णन प्रस्तुत करते हैं जो भारत में आर्यजाति के विस्तारकाल में निष्पन्न हुआ।

२

महाभारत

महाभारत में उस महान युद्ध का वर्णन है जो प्राचीन समय में एक ही राजपरिवार की दो विभिन्न शाखाओं अर्थात् भरतवंशियों के मध्य हुआ। शतपथ ब्राह्मण[1] में कहा गया है कि भरतवंशियों की सी महत्ता को न तो उनसे पूर्व और न उनके पश्चात् ही मनुष्य-जाति का कोई भी सम्प्रदाय प्राप्त कर सका। उक्त महाकाव्य में उस महायुद्ध के वीरता-पूर्ण एवं पराक्रम के कार्यों का विशद वर्णन दिया गया है जो ईसा से पूर्व लगभग तेरहवीं अथवा बारहवीं शताब्दी में (आर० सी० दत्त एवं ग्रैंट जैसे विद्वानों की गणना के अनुसार)[2] लड़ा गया। कोलब्रुक उसका समय चौदहवीं शताब्दी ईसापूर्व मानते हैं। विल्सन, एलफिनस्टन एवं विलफोर्ड आदि विद्वानों का भी महाभारत के काल की गणना के सम्बन्ध में यही मत है। मैकडानल लिखता है "इसमें बहुत कम सन्देह है कि ऐति-हासिक पृष्ठभूमि के रूप में इस महाकाव्य का मूल आधार वह कलह है जो दो पड़ौसी जातियों अर्थात् कुरु एवं पांचालों के बीच चलता था, और जो अन्त में जाकर परस्पर मिलकर एक हो गईं। यजुर्वेद में उक्त दोनों जातियाँ परस्पर संयुक्त प्रतीत होती हैं एवं काठक में राजा धृतराष्ट्र विचित्रवीर्य का, जो महाभारत का एक प्रधान पात्र है, एक प्रसिद्ध व्यक्ति के रूप में वर्णन किया गया है। इसलिए उक्त महाकाव्य के ऐतिहासिक आधारतत्त्व को अत्यन्त प्राचीनकाल में ढूँढना चाहिए जोकि कम से कम ईसा से पूर्व दसवीं सदी से इधर का नहीं हो सकता।"[3] प्रारम्भिक घटना का स्वरूप अनार्य रहा प्रतीत होता है, क्योंकि भीम की रक्तपिपासा, द्रौपदी का बहुपतित्व, एवं इसी प्रकार की अन्यान्य घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है। किन्तु शीघ्र ही इसने आर्यजाति के इतिहास का रूप धारण कर लिया। यह एक राष्ट्रीय महाकाव्य बन गया—देश के विभिन्न भागों की कथाओं का भी समावेश होकर एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ का निर्माण हुआ। यह ग्रंथ भारत के प्रत्येक

१. १३ ५, ४।
२. दत्त 'ऐंशियंट हिन्दू सिविलिजेशन'।
३. 'संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ २८४–२८५।

भाग में—चाहे वह बंगाल हो या दक्षिणभारत, पंजाब हो या द्वारका सभी जगह—एक समान रुचिकर समझा जाता है। महाभारत का यह लक्ष्य था कि उसे जनसाधारण में प्रचलित किया जाए और यह तभी सम्भव हो सकता था जबकि उसमें प्रचलित कथाओं का भी समावेश हो। समस्त प्राचीन इतिहासों एवं धार्मिक प्रथाओं की परम्पराओं के एकत्रीकरण संग्रह को इसमें सुरक्षितरूप में रखा गया है। यह कथन इस अर्थ में इतना अधिक सार्थक है कि प्रचलित लोकोक्ति के अनुसार जो महाभारत में नहीं पाया जाता वह भारतवर्ष में अन्यत्र भी कहीं नहीं पाया जा सकता। एक ही स्थान पर विभिन्न जातियों के लोगों के सामाजिक एवं धार्मिक विचारों को जो इस भारत की भूमि पर व्यक्त हुए हैं एकत्र संग्रह करके इसने मनुष्यों के मनों में इस विश्वास को दृढ़ करने का प्रयत्न किया कि भारतवर्ष में मौलिक एकता विद्यमान है। भगिनी निवेदिता लिखती हैं "कोई विदेशी पाठक एक विद्वान के रूप में नहीं किन्तु सहानुभूति का भाव रखकर यदि अध्ययन करेगा तो उसे इसमें तुरन्त दो विशेषताएं दिखाई देंगी एक तो यह कि इसके अन्दर में विविध जातियों के मिश्रण के अन्दर भी एक प्रकार की ओतप्रोत रहनेवाली एकता विद्यमान है दूसरी यह कि इसकी यह निरन्तर चेष्टा रही है कि जहां तक सम्भव हो सके इस देश के विषय में मुसलमानों के ऊपर एक केन्द्रीभूत भारत के विचार की छाप पड़ सके जिसकी अपनी एक विशेष वीरतापूर्ण परम्परा है और वही रचनात्मक एवं एकत्व सम्पादन करनेवाली प्रेरणा है।

३

महाभारत का रचनाकाल और उसके रचयिता

यह अब सर्वसम्मत विचार है कि महाभारत का वर्तमान रूप जो हमें उपलब्ध है इससे पूर्वपरम्परा का जिसका नाम भारत था बृहत्तर संस्करण है। महाभारत के प्रारम्भिक अध्याय की उक्ति के अनुसार भारतसंहिता में (जिसे प्रारम्भ में व्यास ऋषि ने बनाया) केवल चौबीस हजार श्लोक थे यद्यपि व्यास ने उसे बढ़ाकर साठ लाख श्लोकों का किया जिनमें से अब केवल एक लाख ही बचे हैं। किन्तु इस भारतसंहिता का आधार भी लोकगाथाएं पद्यबद्ध वीरगाथाएं तथा महायुद्ध की घटना सम्बन्धी परम्पराओं का श्लोकबद्ध वर्णन रहा होगा। आख्यानों एवं गीतों की—जिनमें महान योद्धाओं के शौर्यपूर्ण कार्यों का वर्णन हो एवं महान योद्धाओं की स्तुति हो राजमहिषियों के सौन्दर्य का वर्णन हो राजदरबार की भव्यता की चर्चा हो—रचना अवश्य ऐसे ही काल में होनी चाहिए जिसमें जनसाधारण के कानों में युद्ध की प्रतिध्वनि गूंज रही हो। बहुत पुराने समय से भारत के पश्चिम में जो कुरु एवं पांचालों का देश है एवं पूर्वदिशा में जो कोसल लोगों का देश है स्थानीय भाट लोग अपनी अपनी जाति के शूरवीरों की शौर्यगाथाएं गीतों के द्वारा गाते फिरते थे। ये गीत चूंकि मौखिक रूप में एक से दूसरे तक आते थे इसलिए इनका कोई नियत रूप नहीं था और अवश्य ही प्रत्येक युग में उनमें अनेक परिवर्तन हुए होंगे। ब्राह्मण धर्म को इन सब परम्पराओं विचारों एवं महत्त्वाकांक्षाओं का भी विचार आगे रखना

पडा, यद्यपि ये उसके अपने नही थे। आर्यजाति की सस्कृति के और उन ऐतिहासिक तथ्यो, पौराणिक गाथाओ, इतिहास एव पुराणो के समूह के मध्य मे, जिनके साथ उक्त सस्कृति का सामना हुआ, समन्वय करने का सर्वप्रथम प्रयास महाभारत ग्रन्थ है। युद्धकाल के सबसे अधिक समीप के समय मे निर्मित होने के कारण यह पहले केवल वीरगाथापूर्ण सामान्य कविता के रूप मे ही रहा होगा, तथा हो सकता है इसका कोई शिक्षात्मक प्रयोजन अथवा दार्शनिक सश्लेषण का उद्देश्य भी न रहा हो। इसकी रचना का काल ११०० वर्ष ईसापूर्व[1] अथवा इसके लगभग रहा होगा। शीघ्र ही नई सामग्री एकत्र हो गई और उसे समाविष्ट करने का कार्य लगभग असम्भव-सा हो गया। तो भी उसके लिए प्रयास किया गया और उस प्रयास का परिणाम ही महाभारत है। साधारण रूप से देखने पर इसमे नये आगन्तुक समुदायो के लोकगीतो व मिथ्या विश्वासो का, और आर्यजाति की धार्मिक भावना का समन्वय है। व्यास ने[2], जहा तक उनसे बन पडा, विपरीत परिस्थिति मे भी अच्छे से अच्छा मार्ग ढूढ निकालने का प्रयत्न किया और इधर-उधर बिखरे हुए वीर-चरितवर्णनो के पुजो, वीरपूजा तथा स्वाभाविक कलहो और युद्ध के दृश्यो को एकत्र करके उनके द्वारा एक वृहत्काय महाकाव्य का निर्माण किया, जिसके अन्दर अनिश्चित-मूल और सन्दिग्धचरित्र नये-नये देवी-देवताओ को पुराने वैदिक देवताओ का छोड़ा हुआ जामा पहना दिया। यह स्पष्ट है कि पहले पद्यबद्ध वीरगाथाओ का रूप था और उसके बाद वह भारत के रूप मे आया। इसका निर्माण ऐसे समय मे हुआ भी माना जा सकता है जिस समय मे धर्म कर्मकाण्ड एव बहुदेवतावाद से पूर्ण था। महाभारत के वे भाग जो वैदिक देवताओ, अर्थात् इन्द्र और अग्नि, की पूजा के औचित्य का विधान करते है, उस स्थिति के स्मृतिचिह्न है। स्त्रियो को उस काल मे बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त थी, और जन्मपरक जाति का कोई कठोर बन्धन नही था। सम्प्रदायवाद का कही पता नही था, आत्मा-विषयक दर्शन अथवा अवतारो की कल्पना भी तब तक नही हुई थी। कृष्ण एक ऐतिहासिक पुरुष के रूप मे प्रकट होता है। भारतीय विचारधारा का अगला युग वह है जबकि यूनानी (यवन), पार्थियन (पह्लव) और सीथियन (शक) जातियो ने इस देश मे प्रवेश किया। उस समय हमारे सामने ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति का भाव आता है जो एक ही सर्वोपरि ब्रह्म के तीन प्रकार के भिन्न-भिन्न कार्यो, अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, को सम्पादन करनेवाले तीन भिन्न रूप हैं। शक्ति के जो कार्य प्रारभ मे इन्द्र के नाम से वर्णन किए जाते थे, वे अब विष्णु के और कही-कही शिव के हो गए। जो ग्रन्थ पहले एक वीरगाथा का काव्य था उसने अब ब्राह्मणधर्म के ग्रन्थ का रूप धारण कर लिया और एक आस्तिकवादी या ईश्वरवादी ग्रन्थ के रूप मे परिणत हो गया, जिसमे विष्णु अथवा शिव को बढाकर सर्वोपरि ब्रह्म की कोटि मे पहुचा दिया गया। भगवद्-गीता सम्भवत. इसी युग की पुस्तक है, यद्यपि साधारणत महाभारत के दार्शनिक भाग अतिम युग मे निर्मित हुए समझे जाने चाहिए। बारहवें और तेरहवे अध्याय मे हमे दर्शन, धर्म, राजनीति एव विधि के ऊपर सवाद मिलते है। ज[illegible] थोड़े-से चुने

१ श्री वैद्य महाभारत के प्रथम सस्करण का समय लगभग [illegible] ते हैं।

२ यह बहुत सन्दिग्ध है कि किसी एक ही व्यक्ति को इस ग्र[illegible] ।

हुए व्यक्तियों का भी धर्म नहीं रह गया क्योंकि उसमें अपने ही देश के अन्य अनेक विश्वास तथा अपने आसपास के नाना धार्मिक क्रियाकलाप आकर सम्मिलित हो गए तब प्राचीन ज्ञान को नवीन दार्शनिक रूप देना आवश्यक हो गया। कितने ही प्रयत्न उपनिषदों के परम शक्तिवाद या निरपेक्षवाद को जनसाधारण के ईश्वरवाद के साथ संयुक्त करके एक सरल धार्मिक सम्पूर्ण विचार का निर्माण करने के विषय में किए गए यद्यपि उनके अन्दर समन्वय करने का कोई सच्चा सिद्धांत नहीं था। भगवद्गीता के रचयिता ने सच्ची दार्शनिक अन्तर्दृष्टि एवं संश्लेषणात्मक शक्ति के साथ एक नवीन दार्शनिक तथा धार्मिक संगठन का सूत्रपात किया जिसने परवर्तीकाल के आस्तिक दर्शनों की पृष्ठभूमि का निर्माण किया। इस प्रकार अपने अन्दर भिन्न भिन्न कालों तथा भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों की रचनाओं का समावेश कर लेने के कारण महाभारत इतिहास पुराणविद्या राजनीति विधिविज्ञान ईश्वरविज्ञान और दर्शनशास्त्र आदि विविध विषयों का एक प्रकार का विश्वकोष बन गया।[1]

महाभारत को कभी-कभी पांचवें वेद की भी संज्ञा दी जाती है। इसे आचरण एवं समाजशास्त्र के विषय पर प्रामाणिक ग्रन्थ समझा जाता है।[2] दुर्बल अथवा अन्त्यज वर्ग के लोगों के लिए भी नैतिक आचरण के नियमों की शिक्षा देना उक्त ग्रन्थ को अभिमत है।[3]

१ हम ठीक ठीक नहीं जानते कि महाभारत कब बना। किन्तु इतना निश्चय तो अवश्य है कि बौद्धधर्म के उदय के समय महाभारत का अस्तित्व था। मैकडानल का मत है कि 'महाकाव्य का प्रारम्भिक संस्करण ईसा से पांचवीं शताब्दी पूर्व में हुआ।' गौतम बुद्ध का कोई उल्लेख इस महाकाव्य में न रहने से इस मत की पुष्टि होती है। महाभारत के पात्रों से पाणिनि परिचित था (गवियुधिभ्यां स्थिरः ८ ३ ९५ वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ४, ३, ९८)। आश्वलायन गृह्यसूत्रों में भारत के अतिरिक्त महाभारत ग्रन्थ का भी वर्णन आता है (गृह्यसूत्र, ३ ४, ४)। गुप्तराज्य राजाओं का एक शिलालेख मिलता है जिससे महाभारत का अस्तित्व उस काल में प्रकट है। भास कवि ने अपने नाटकों के लिए अनेक कथानक महाभारत से लिए हैं। अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित एवं सौन्दरनन्द में भारत का उल्लेख किया है। बौधायन ने अपने धर्मसूत्रों में एक ऐसा श्लोक उद्धृत किया है जो ययाति के उपाख्यान में पाया जाता है और दूसरा श्लोक भगवद्गीता में पाया गया है (२ २ २ २ २ ६) और कहा जाता है कि ययाति ४०० वर्ष ईसापूर्व में हुआ। इन सब साक्षी के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि बुद्ध के समय के लगभग महाभारत पूर्णरूपेण तैयार हो गया था। इसके भिन्न भिन्न भागों की रचना इतिहास के किस किस समय में हुई इसका ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है। पांचवीं शताब्दी ईसापूर्व के पश्चात् भी उन अर्वाचीन लेखकों द्वारा जो धर्म एवं नैतिकता के क्षेत्र में अपने विचारों का इस ग्रन्थ के द्वारा प्रचार करना चाहते थे इसमें अवश्य कुछ बढ़ाया या बदला नहीं गया ऐसा नहीं कह सकते। ऐसे भी विद्वान हैं जिनकी सम्मति में महाभारत के कुछ भाग इतने परवर्ती हैं जितने कि पुराण हैं और यह कि इसका आकार ऐसा ही पश्चात् छठी शताब्दी तक बना रहा। यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि उक्त काव्य को ईसा के पश्चात् २०० वर्ष में मान्यता प्राप्त थी और ५०० वर्ष ईसा के पश्चात् तक यह उसी आकार का था जैसाकि आज है (बुल्हर और किर्स्टे कंट्रिब्यूशन्स टु द हिस्टरी आफ द महाभारत)। इस सबके होते हुए भी यह कहना अनुचित न होगा कि ग्रन्थ का अधिकतर भाग ५०० वर्ष ईसापूर्व से लेकर आज तक एकसमान हो रहा है।

२ आश्वलायन गृह्यसूत्र ३ ४ ४।

३ मायणाचार्य कृष्णयजुर्वेद के ऊपर की गई अपनी टीका में कहते हैं कि महाभारत और पुराणों की रचना स्त्रियों एवं शूद्रों को कर्तव्यकर्म के विधान की शिक्षा देने के लिए हुई है क्योंकि इन दोनों के लिए वेदों का पढ़ना निषिद्ध था (विब्लियोथिका इण्डिका खण्ड १ पृष्ठ २)।

बौद्धधर्म के शास्त्र सबके अध्ययन के लिए खुले हुए थे, और ब्राह्मणो के धर्मग्रन्थ केवल तीन उच्च वर्णो, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, के लिए ही थे। इसलिए एक पाचवे वेद की आवश्यकता हुई जो सबके लिए उपलब्ध हो।

४

रामायण

वाल्मीकिकृत रामायण मुख्यरूप मे एक महाकाव्य है, और महाभारत की भाति इनका विविधरूप नही है। इस महाकाव्य के नायक राम को, जो धर्म का आदर्श और पूर्णता का उदाहरण है, विष्णु का अवतार बना दिया गया है, जिनने इस पृथ्वी पर अधर्म को दबाने तथा धर्म का प्रचार करने के लिए शरीर धारण किया। जो प्रारम्भ मे एक महाकाव्य के रूप मे था वह आगे चलकर एक वैष्णवग्रन्थ बन गया। इसका क्षेत्र महाभारत की भाति सार्वभौमिक नही है। इसकी सम्पूर्ण रचना और पद्धति से ऐसा कोई सकेत नही होता है जिससे यह प्रतीत हो सके कि यह ग्रन्थ अनेक रचयिताओ की मिश्रित रचना है। तो भी हम इसके दो भिन्न भिन्न विकास-बिन्दुओं को लक्ष्य कर सकते है, जिनमे से पहला महाकाव्य का स्वरूप है और दूसरा इसका धार्मिक रूप है। यदि हम दूसरे काण्ड से छठे काण्ड तक को ले और पहले तथा सातवे काण्ड को बिलकुल छोड दें—जो पीछे मे प्रक्षिप्त किए गए प्रकरण माने जाते हैं—तो हम देखेंगे कि उक्त काव्य का मुख्य सार धर्मनिरपेक्ष है। राम केवल एक सच्चरित्र तथा महान पुरुष है, जिसने दक्षिण मे सभ्यता का प्रचार करने के लिए वहा की आदिम जातियो का उपयोग किया, और उसे विष्णु का अवतार नही कहा गया। जिस धर्म का यह ग्रथ वर्णन करता है वह स्पष्टरूप मे बहुदेवतावादी एव बाह्य या सासारिक है। इसमे वैदिक देवताओ का वर्णन है जिनका मुखिया इन्द्र है। नये देवता, यथा काम, कुवेर, कार्तिकेय, गगा, लक्ष्मी और उमा (जो क्रमश विष्णु और शिव की पत्निया है), देवतारूप माने गए जीव, जैसे सर्प शेषनाग, वानर हनुमान, रीछ जाम्बवत, पक्षी गरुड, जटायु अर्थात् गृध्रपक्षी और नन्दी वृषभ—इन सबका मुख्यरूप से वर्णन है। यज्ञ ही पूजा की विधि था। यद्यपि प्रधानता विष्णु तथा शिव की ही पूजा को दी जाती थी, तो भी सापो, वृक्षो तथा नदियो की पूजा भी मिलती है। कर्म और पुनर्जन्म के विचार भी सुनने मे आते है, यद्यपि सम्प्रदायो का उसमे कही पता नही। दूसरे विकासबिन्दु पर यूनानियो, पार्थियनो और शको का उल्लेख भी मिलता है। राम को विष्णु का अवतार बनाने का प्रयत्न भी पाया जाता है।

दर्शन तथा धर्म की दृष्टि से रामायण इतने महत्त्व का ग्रन्थ नही है जितना कि महाभारत है, यद्यपि उस समय के प्रचलित रीति-रिवाजो और धार्मिक विश्वासो पर यह अधिक विशदरूप मे प्रकाश डालता है। कभी-कभी इसे बौद्धधर्म के वैराग्यवाद का विरोधी भी कहा जाता है, क्योकि यह गृहस्थधर्म को महत्त्व देता है और यह प्रतिपादन करता है कि मोक्षप्राप्ति के लिए गृहस्थ-जीवन के त्याग की आवश्यकता नही है।

चूंकि रामायण में बुद्ध को नास्तिक कहा गया है[1] इसी आधार पर इसका रचनाकाल महाभारत के रचनाकाल से पीछे का बताया जाता है यद्यपि इसकी कथा भले ही पूर्वकाल की हो।

भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए महाभारत में रुचिकर अंश हैं—सनत्सुजातीय, भगवद्गीता, मोक्षधर्म और अनुगीता। जब युद्ध के अन्त में अर्जुन ने कृष्ण से कहा कि युद्ध के आरम्भ में आपने जो कुछ मुझे उपदेश दिया था उसकी पुनरावृत्ति कीजिए तो कृष्ण ने कहा कि अब मैं योग की उस अवस्था में नहीं हूं जिसमें युद्ध के आरम्भ में था और इसलिए उक्त उपदेश के प्रतिनिधिरूप में जो कुछ कृष्ण ने कहा वह अनुगीता में रखा गया है। भिन्न भिन्न मतों में परस्पर समन्वय करने के भगवद्गीता के प्रयत्न के अतिरिक्त महाभारत में भिन्न भिन्न धार्मिक विश्वासों का संग्रहमात्र मिलता है—अर्थात् सहअस्तित्व है किन्तु कोई क्रमबद्ध पद्धति नहीं है। अनुगीता के पढ़ने से यह निर्देश मिलता है कि उस समय में बहुत बड़ी संख्या में भिन्न भिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय थे। हम देखते हैं कि पुण्य के विभिन्न रूप परस्पर विरोधी हैं। कई कहते हैं कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी पुण्य रहता है, कई कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। कई कहते हैं कि हरेक विषय सन्दिग्ध है और दूसरे कहते हैं कि सन्देह कोई है ही नहीं। कई कहते हैं कि नित्यतत्त्व अस्थायी है, दूसरे कहते हैं कि नहीं, इसकी सत्ता है। और ऐसे भी हैं जिनका कहना है कि यह है भी और नहीं भी है। कई कहते हैं कि यह एकाकी है, दूसरों का कहना है कि नहीं इसमें द्वैतभाव है और अन्य कहते हैं कि यह दोनों है। कुछ ऐसे ब्राह्मण जो ब्रह्मज्ञानी हैं और जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया है विश्वास रखते हैं कि यह एक है, दूसरे कहते हैं कि यह भिन्न है, और ऐसे भी हैं जिनके मत से यह नानारूप है। कुछेक कहते हैं कि देश और काल दोनों की सत्ता है, दूसरों का कहना है कि ऐसी बात नहीं है।[2] परस्पर विरोधी विचारों को एक पुञ्जरूप में एकत्र कर दिया गया है। हम उसमें वेदों का बहुदेवतावाद, उपनिषदों का एकेश्वरवाद, सांख्य का द्वैतवाद, योग का ईश्वरवाद, भागवतों, पाशुपतों तथा शाक्तों का एकेश्वरवाद सभी कुछ मिलता है। भिन्न भिन्न धार्मिक मतों की ओर की मीमांसा को अगले विभाग के लिए छोड़कर हम यहां केवल ऐसे ही दार्शनिक विचारों के पुञ्ज का उल्लेख करेंगे जो महाभारत के विचारकों की सम्मिलित निधि है।

५

तत्कालीन सामान्य विचार

चूंकि महाभारत में भिन्न भिन्न प्रकार की दार्शनिक प्रवृत्तियां पाई जाती हैं इसलिए हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि यह किस प्रकार की धार्मिक व्यवस्था को प्रामाणिकरूप मानता है। सामान्यरूप से धार्मिक शास्त्रों को प्रमाण माना गया है। प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान, अनुमान और आगम अर्थात् आप्तवचन एवं

[1] [illegible] १०६ ।

[2] [illegible] १४ ।

श्रुति की प्रामाणिकता को मान्यता दी गई है। कही-कही न्यायशास्त्र के चार सामान्य नियमो का वर्णन किया गया है।[1] यह निश्चयपूर्वक ऐसे व्यक्तियो का विरोध करता है जो वेदो के प्रामाण्य का निषेध करते है। पञ्चशिख नामक विद्वान ने, जो साख्यदर्शन का अनुयायी था, भिन्न मतावलम्बियो[2] के नास्तिक-सम्प्रदाय का खडन किया है।[3] लोकायतो का भी वर्णन किया गया है।[4] तर्कशास्त्री पडितगण (हेतुमन्त), जो आत्मा की यथार्थसत्ता को अस्वीकारकरते हैऔर दुराचार से घृणा करते है, "पृथ्वी पर सर्वत्र विचरण करते है।"[5] एक स्थान पर जैनियो का भी उल्लेख मिलता है जहा पर एक पुरोहित के विषय मे कहा गया है कि "उसने लोगो को आश्चर्यचकित करके और दिगम्बर रहकर पैदल यात्रा करते हुए काशी का चक्कर लगाया' 'मानो कोई पागल हो।"[6] बौद्धधर्म का विरोध भी पाया जाता है। एक महिला दूसरी महिला से प्रश्न करती है कि "तुम इतनी तेजस्वी किस प्रकार से दिखाई देती हो?" उसका उत्तर है "मैंने पीले वस्त्र नही पहने, न वल्कल वसन ही धारण किए, न सिर मुडाया, और न तपस्विनियो की भाति बालो का गुच्छा रखा।"[7] वेदो की निन्दा और खडन को समझा गया कि ये नरक मे अथवा नीच योनियो मे ले जाने वाले कर्म है। महाभारत[8] के एक पात्र का कहना है कि "मेरा जन्म शृगाल की योनि मे कैसे हुआ इसका कारण यह है कि मैं एक नकली पडित था, मै हेतुवादी अथवा युक्तिवादी, वेदो की आलोचना करनेवाला, एव तर्कशास्त्र मे तथा निरर्थक तर्कविज्ञान मे रमा हुआ था, मैं तार्किक युक्तियो की घोषणा करता था, सभाओ मे बहुत बोलता था, पुरोहितो की निन्दा करता था और ब्रह्म के विषय मे जो युक्तिया और प्रमाण वे उपस्थित करते थे उनका विरोध करता था, मैं नास्तिक था, और ऐसे सब व्यक्तियो को मै सन्देह की दृष्टि से देखता था जो मुझे पडित समझते थे।" पुराणो एव इतिहासो को भी मान्यता दी गई है।[9] जहा-तहा वेदो के प्रामाण्य के विषय मे सन्देह प्रकट किया गया है। "वेद कपट से पूर्ण है।"[10] सम्भवत. यहा पर उपनिषदो के इस मत का कि जिन्होने नित्यकर्मो का त्याग कर दिया है उनके लिए वेदो का कोई उपयोग नही है, प्रतिबिम्ब पडा प्रतीत होता है।

महाभारत को जो धर्म अभिमत है वह वैदिक है, यद्यपि यह अपने भूतकाल को लेकर भविष्यत्काल मे अधिक महान हो गया है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता को स्थिर रखते हुए इसने नये देवी-देवताओ के साथ भी उचित न्याय का व्यवहार किया है। इन्द्र बहुत महत्त्वहीन हो गया है। सौर जगत् के देवता विष्णु के गुण अग्नि और सूर्य को प्रदान कर दिए गए है। यम अपने महत्त्व को सभाले हुए है यद्यपि यहा वह न्यायाधीश बना दिया गया है, अर्थात् धर्मराज। "यम नाम मृत्यु का नही है, जैसाकि कुछेक लोगो का विचार है, वह एक ऐसा देवता है जो धर्मात्माओ को आनन्द और दुराचारियो को कष्ट देने की व्यवस्था करता है।"[11] वायु और वरुण का अस्तित्व है किन्तु वह गौरव नही रहा। प्रजा-

१. १२ : ५६, ४१। २. २ : ३१, ७०। ३. शान्तिपर्व, २१८।
४. २ : ७०, ४६। ५. १२ : १६, २३। ६. १४ : ६, १८।
७. १३ : १२३, ८. और भी देखिए १२ : १८, ३२।
८. १२ : १८०, ४७-४८। ९. १२ : ३४३, २०। १०. १२ : ३२६, ६।
११. ५ : ४२, ६।

पति जगा या तगा ही है यहा तक कि कुछ समय तक अर्थात शिव और विष्णु के उदय से पूर्व तक उसे सबसे श्रेष्ठ देवता समझा गया। बौद्धधर्म का प्रारम्भिक पाली-साहित्य इस स्थिति का प्रतिपादन करता है। दूसरी स्थिति की विशेषता त्रिमूर्ति के विचार में लक्षित होती है। ब्रह्मा विष्णु और शिव सर्वोपरि सत्ता के ही भिन्न भिन्न रूप मान गए यद्यपि पद में सब एकसमान हैं। भगवद्गीता इस विचार से अभिज्ञ था। विष्णु और शिव अब देवताओं से ऊपर मान गए यद्यपि इन्हें उस समय तक कोई महान विशेषता प्रदान नहीं की गई थी। वे बहुत परस्पर के साथ एक-दूसरे के अन्दर प्रविष्ट हो जाते थे।[1] एक श्लोक में शिव को विष्णु का रूप धारण किए हुए और इसी प्रकार विष्णु को शिव का रूप धारण किए रूप सम्बोधन किया गया है।[2] तीसरी स्थिति का उदय तब होता है जबकि कृष्ण को जो महाभारत के महाकाव्य का एक नायक है विष्णु का रूप दे दिया गया। कृष्ण का वर्णानमन अथवा सर्वाग विषयक मिथ्या विश्वासों और वैदिक कर्मकाण्ड दोनों से उत्कृष्ट समझा गया। कालिय सर्प के सिर पर चढ़कर कृष्ण के नाचने की घटना को नाग अथवा सर्पों की पूजा को कृष्ण की पूजा द्वारा दबा दिए जाने का प्रतीक माना गया। कृष्ण द्वारा इन्द्र की पराजय वैदिक क्रियाकाण्ड के वर्णवमन द्वारा दबा दिए जाने का प्रतीक है।

सर्वेश्वरवाद की प्रवृत्ति अभी भी प्रचलित थी। मैं नारायण हूं मैं विश्व का स्रष्टा हूं और मैं ही संहारकर्ता हूं मैं विष्णु हूं मैं ब्रह्मा हूं मैं इन्द्र हूं मैं राजा कुबेर हूं यम शिव सोम काश्यप और प्रजापति भी मैं ही हूं।[3] उपनिषदों में प्रतिपादित एकेश्वरवाद ने अपना अधिकार जमाकर भिन्न भिन्न देवताओं को एक ही सर्वोपरि ब्रह्म की भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियों में परिणत हुआ बताया। दैवीय अन्तर्यामिता का खुले रूप में प्रचार किया गया। उपनिषदों के ब्रह्म को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया गया और उसे ईश्वर कहा गया जो विविध नामों से प्रकट होता है यथा शिव विष्णु कृष्ण। भक्ति अथवा ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम जो किसी इच्छा विशेष की प्रेरणा से नहीं उत्पन्न होता महाभारतधर्म का महत्त्वपूर्ण रूप है। अशरीरी ब्रह्म पूजा का विषय नहीं बन सकता इसलिए महाभारत के आस्तिक धर्म ने ब्रह्म को ईश्वर का रूप दे दिया। निःसन्देह इसे इस विषय का भली प्रकार से ज्ञान है कि अशरीरी परम या निरपेक्ष ब्रह्म दोनों से अधिक यथार्थ है। यह अभिव्यक्त वासुदेव से श्रेष्ठ है। यथार्थसत्ता वह है जो अविनाशी है नित्य है तथा अपरिवर्तनीय है।[5] शरीरी वासुदेव पर बल दिया गया है और धार्मिक दृष्टि से उपनिषदों में इसका समर्थन पाया जाता है।[7]

महाभारत उस समय के विविध प्रचलित धार्मिक विश्वासों को स्वीकार कर सका

१ ३ १८६ ५।
२ ३ ३ ७२।
३ ३ १८६ ५।
४ महर्षि पतञ्जलि ने शिव भागवतों का उल्लेख किया है। देखिए महाभाष्य २ ७६।
५ शान्तिपर्व ३३६ २१ ८।
६ वही १६२ १।
७ देखिए, कठोपनिषद्, १ २ २ श्वेताश्वतर उपनिषद् ३ । ६ १ मुण्डक ३ ३।

क्योकि यह एक सन्दिग्ध विश्वास फैला हुआ था कि ये सब एक सत्य की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।"ज्ञान की पाचो पद्धतियो मे भिन्न-भिन्न प्रकारो एव भिन्न-भिन्न विचारों के अनुसार उसी एक नारायण का प्रचार किया गया है और पूजा का विधान बताया गया है, अज्ञानी पुरुष उसे इस प्रकार से नही पहचान सकते।" रामायण व महाभारत दोनो महाकाव्यो मे पुराने वैदिकधर्म का नवीन हिन्दूधर्म मे क्रमश परिवर्तन देखा जाता है। शाक्त, पाशुपत अथवा शैव और पाञ्चरात्र पद्धतिया, जो आगम की श्रेणी मे आती है और इसीलिए अवैदिक है, हिन्दूधर्म मे प्रविष्ट की गई। मदिरो मे मूर्तिपूजा और तीर्थ-स्थानो की यात्रा भी धीरे-धीरे प्रचलित हो गई। चूकि उन भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायो का ज्ञान जो हमे महाभारत मे मिलते है, उन प्रयासो को समझने के लिए आवश्यक है जो शास्त्रीय काल मे ब्रह्मसूत्रो की व्याख्या के लिए किए गए, इसलिए अब हम सक्षेप मे उनका प्रतिपादन करते हैं।

६

दुर्गापूजा

महाभारत के भीष्मपर्व के प्रारम्भ मे दुर्गा की पूजा का उल्लेख है। कृष्ण अर्जुन को युद्ध आरम्भ करने से पूर्व सफलता-प्राप्ति के लिए दुर्गा को अभिवादन करने का परामर्श देते है।[1] प्रथम अवस्था मे दुर्गा केवल एक कुमारी देवी के रूप मे थी जिसकी पूजा विन्ध्य पर्वत की जगली जातिया करती थी। शीघ्र ही वह शिव की अर्धाङ्गिनी बन गई और उमा नाम से पुकारी जाने लगी। मार्कण्डेयपुराण मे और हरिवश[2] के दो श्लोको मे उसके नाम पर एक वृहत् सम्प्रदाय बन गया। सातवी शताब्दी के प्रारम्भ मे बाण ने चण्डीशतक लिखा।

इसमे सन्देह नही कि प्रारम्भ मे शक्ति की पूजा अनार्यजाति मे प्रचलित थी और धीरे-धीरे आर्यजाति ने उसे अपना लिया। चूकि वह एक भयानक देवी थी, जो ससार की सहारकारक शक्तियो का आधिपत्य करती थी, इसीलिए उसे रुद्र की पत्नी बना दिया गया। उसे ऋग्वेद की देवियो, रुद्राणी, भवानी आदि, के साथ सम्बन्धित करने के लिए प्रयत्न किए गए। देवीसूक्त,[3] जिसे जीवन की आद्या शक्ति की स्तुति मे लिखा हुआ बताया जाता है, शाक्तधर्म का आधार बनाया गया है। उसका छठा श्लोक इस प्रकार है. "मै

१ अध्याय २३। उसे कई नाम दिए गए हैं, यथा कुमारी, काली (कृष्णवर्ण अथवा काल, जो संहार करती ह), कपाली (नरमुण्ड धारण करनेवाली), महाकाली (महान सहारक), चण्डी (भयानक) कान्तारवासिनी (जगल में रहनेवाली)। विराटपर्व में एक श्लोक है (अध्याय ६) जो युधिष्ठिर ने दुर्गा की स्तुति में पढा है। महिषासुर को मारनेवाली के रूप में उसका उल्लेख किया गया है, एक ऐसी देवी जो विन्ध्याचल के पहाडों में रहती है, मद्य पीती है, मास खाती है और यज्ञों मे पशुओं की बलि लेती है। उसे कृष्ण की बहिन भी बताया गया है जो कृष्ण के ही समान रग में घनश्याम है।

२. अध्याय ५९ और १६६, और भी देखिए एवलॉन 'हिम्स टु द गॉडेस'।

३. ऋग्वेद १० . १२५।

रुद्र के धनुष को झुकाती हूं पापकर्म एवं ब्रह्म के विद्रोही का उच्छेद करने के लिए। मैं मनुष्य की ओर से युद्ध करती हूं। मैं आकाश एवं पृथ्वी पर व्याप्त हूं। वह परमात्मा से निकली हुई आकाश से नीचे की ओर आता हुई, समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है। मैं वायु के समान सब पदार्थों का स्पर्श करती हुई विचरता हूं।'[1] केन उपनिषद् में हम एक देवी का वर्णन मिलता है जो उन देवों के होश ठिकाने लगा देती है जिन्हें असुरों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने के कारण बहुत गर्व हो गया था और अन्त में वह इन्द्र के आगे एक हैमवती उमा नाम की एक सुन्दर स्त्री के रूप में उस सर्वश्रेष्ठ ज्ञान देने के लिए प्रकट होती है। वही आगे चलकर ब्रह्म की मायाशक्ति बनती है। इसका दार्शनिक समाधान यह दिया जाता है कि परमब्रह्म सृष्टि उसकी स्थिति और संहार के तीनों कार्य बिना अपनी शक्ति की सहायता के नहीं कर सकता। जब ईश्वर सृजन करता है वह वाणीरूप शक्ति से संस्पष्ट होता है जब संसार की रक्षा (स्थिति) के कार्य में संलग्न होता है तो श्री अथवा लक्ष्मीशक्ति प्रबल होती है और जब संहार करता है तो दुर्गाशक्ति प्रबल होती है। शक्ति ही ईश्वरी है जो समस्त सत्ता एवं जीवन का उद्गम आधार एवं अन्त है। शक्ति-सम्प्रदाय को अपने अन्दर सम्मिलित करने के लिए किए गए आर्यीकरण के प्रयत्नों के बावजूद इसके प्रारम्भ की जो सीमाएं थीं वे आज भी शाक्तों की कार्यप्रणाली में देखने में आती हैं।

७

पाशुपत पद्धति

महाभारत में हम एक ईश्वरवाद मिलता है जिसका नाम पाशुपत है और जो शिव से सम्बद्ध है।[2] ऋग्वेद का रुद्र (१ ११४ ८) जो प्रकृति की संहारक शक्तियों का मूर्तरूप है शतरुद्रीय में पशुओं का स्वामी—पशूनां पति बन जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में रुद्र के लिए विशिष्ट परिभाषा के रूप में शिव शब्द का प्रयोग आता है। पाशुपत पद्धति रुद्र शिव की परम्परा को जारी रखती है।

पाशुपत दर्शन का वृत्तान्त हमें सर्वदर्शनसंग्रह[3] और अद्वैतानन्द के ब्रह्मविद्याभरण में मिलता है। शंकर ने अपने वेदान्तसूत्रों के भाष्य में इस ईश्वरवाद की समीक्षा की है।[4] पांच मुख्य विभाग इस प्रकार से हैं (१) कारण कारण प्रभु है पति (स्वामी) है नित्यशासक है जो समस्त जगत् की रचना करता है उसे स्थिर रखता है और संहार करता है। (२) कार्य यह कारण के ऊपर निर्भर है। इसके अन्दर आते हैं—ज्ञान अथवा

१ १ १३, ८।

२ नारायणीय विभाग (शान्तिपर्व ३४९ ५ ६४) में इसे धार्मिक सिद्धांतों के पांच सम्प्रदायों में से एक सम्प्रदाय बताया गया है। वनपर्व में अर्जुन पशुपति (पशुओं का स्वामी)—जो अपनी स्त्री उमा पार्वती अथवा दुर्गा के संग हिमालय पर्वत पर रहता है और जिसके असंख्य गण हैं—से गाण्डीव धनुष प्राप्त करता है। सबका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से रुद्र से है जिसके गण मरुत थे और उनके नेता के रूप में उसे गणपति कहा जाता है।

३ अध्याय ६।

४ शांकरभाष्य २ २ ३७-३९।

विद्या, इन्द्रियां अथवा कलाए, और जीवात्मा अथवा पशु। समस्त ज्ञान एवं जीवन, पांच तत्त्व, और पांच गुण, पांच इन्द्रिया और पांच कर्मेन्द्रिया और तीन आभ्यन्तर इन्द्रिया—बुद्धि, अहंभाव और मन—ये सब उसी प्रभु के अधीन है। (३) योग अथवा साधना या अनुशासन, यह मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा जीवात्मा ईश्वर को प्राप्त करती है। (४) विधि अथवा नियम, यह उन क्रियाओ से सम्बन्ध रखता है जो मनुष्य को धार्मिक बनाती है। (५) दुःखान्त, अथवा दुःखो का अन्त, यह अन्तिम मोक्ष है अथवा दुःखो का नाश है और आत्मा को उन्नत पद की प्राप्ति ज्ञान और क्रिया की पूर्णशक्ति द्वारा, प्राप्त कराता है। जीवात्मा अपनी परमार्थ अवस्था मे भी अपना व्यक्तित्व स्थिर रखती है, और विविध रूप धारण कर सकती है तथा किसी भी काम को तुरन्त कर सकती है। वैशेपिकसूत्रो के सर्वप्रथम टीकाकार प्रशस्तपाद और न्यायभाष्य पर की गई व्याख्या के रचयिता उद्द्योतकर इस मत के अनुयायी थे।

८

वासुदेव कृष्ण

अब हम महाभारत के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धात, वासुदेवकृष्ण-सम्प्रदाय की ओर आते हैं जो भगवद्गीता और आधुनिक वैष्णव-सम्प्रदाय का आधार है। भागवतधर्म के विकास की चार भिन्न-भिन्न स्थितियो का वर्णन गार्वे ने किया है। पहली स्थिति मे यह ब्राह्मणधर्म से सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता रखता था। इस स्थिति की मुख्य-मुख्य विशेषताए, जो गार्वे की सम्मति मे ३०० वर्ष ईसापूर्व तक बनी रही, ये है—कृष्ण वासुदेव द्वारा एक प्रचलित एकेश्वरवाद की स्थापना, साख्ययोग के साथ इसका सम्मिलन, उक्त धर्म के सस्थापक को देवता का रूप दे देना, और भक्ति के आधार पर एक अगाध धार्मिक भावना उत्पन्न कर देना। इस धर्म का जो वैदिक-विरोधी स्वरूप है और जिसकी समीक्षा वेदान्तसूत्रो के भाष्यकारो ने की है वह इसी स्थिति से सम्बन्ध रखता है। इस धर्म को ब्राह्मणधर्म का रूप देना, कृष्ण को विष्णु के समान मान लेना, और विष्णु को प्रधानता देना, अर्थात् उसे न केवल एक बडा देवता किन्तु उन सबसे बडा मानना—ये द्वितीय स्थिति (काल) मे सम्बन्ध रखते हैं जो लगभग ३०० वर्ष ईसापूर्व का है। विष्णु के उपासको के सम्प्रदाय के लिए 'वैष्णव' नाम महाभारत मे आता है।[1] विष्णु की वैदिक पूजा मे ईशानुकम्पा का कोई उल्लेख नही है। तीसरी स्थिति वह है जबकि भागवतधर्म वैष्णवमत के अन्दर परिवर्तित हुआ और उसमे वेदान्त, साख्य और योग के दार्शनिक तत्त्वो का समावेश हुआ। गार्वे के मत से यह प्रक्रिया क्रिश्चियन सन् के प्रारम्भ से लेकर १२०० वर्ष ईसा के पश्चात् तक चली। इसके पश्चात् अन्तिम व चौथी स्थिति तब आई जबकि महान अध्यात्मवादी रामानुज ने इसको दार्शनिक पद्धति का रूप दिया। हमे यहा पहली दो स्थितियो से ही मतलब है।

भागवतधर्म—जिसमें वासुदेव का व्यक्तित्व प्रमुख एवं केन्द्रीभूत है और जिसकी शिक्षा भगवान कृष्ण ने श्वेतद्वीप में नारद को दी—कहा जाता है कि वही है जो हरिगीता[1] एवं भगवद्गीता[2] का सिद्धान्त है।

महाभारत के नारायणीय विभाग में नारद की बदरिकाश्रम यात्रा की कथा पाई जाती है जहां वे नर और नारायण को देखने गए थे। वहां पर नारायण को कुछ धार्मिक कृत्य करते हुए देखकर नारद ने उत्सुक मन से पूछा कि क्या और भी कोई ऐसी सत्ता है कि जिसकी पूजा सर्वोपरि भगवान को भी करनी होती है। नारायण ने उत्तर दिया कि उन्होंने उस सनातन नित्य आत्मा की पूजा की है जो आद्यतत्त्व है। उसे देखने की उत्कण्ठा से नारद श्वेतद्वीप में गए जहां महान सत्त्व ने उनसे कहा कि वह ऐसे व्यक्ति को दिखाई नहीं दे सकता जो पहले से उसमें भक्ति न रखता हो। वासुदेव के धर्म की व्याख्या नारद के लिए कर दी गई। वासुदेव सर्वोपरि आत्मा है जो सब संसार का अन्तर्व्यापी रूप में शासक है। जीवित प्राणियों का प्रतिनिधित्व संकर्षण द्वारा हुआ है जो वासुदेव की ही एक आकृति है। संकर्षण से प्रद्युम्न अथवा मन निकलता है और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अथवा आत्मचेतना उत्पन्न होती है। ये चार सर्वोपरि ब्रह्म के रूप हैं। महाभारत यह भी सुझाव देता है कि इन व्यूहों अथवा रूपों की संख्या और स्वरूप के विषय में भिन्न भिन्न मत स्वीकार किए गए हैं।[1] भगवद्गीता उनका उल्लेख नहीं करती और वह न तो इस कल्पना की समालोचना ही करते हैं क्योंकि सृष्टिरचना के विषय में जो सर्वमान्य मत है उसके साथ इसकी संगति नहीं बैठती। अवतारों का भी उल्लेख है यथा वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम और वह जो मथुरा में कंस के वध के निमित्त जन्म लेगा। बुद्ध का नाम अवतारों में नहीं है। भीष्म ने युधिष्ठिर को जो

1 शान्तिपर्व ३४८।

३४८ ३ यह एक एकेश्वरवादी अथवा एकान्तिक धर्म है। नारायणीय, सात्वत, एकान्तिक, भागवत और पाञ्चरात्र ये शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयोग में आते हैं। इस सम्प्रदाय के मुख्य उद्भव स्थान महाभारत के नारायणीय विभाग, शाण्डिल्यसूत्र, भागवतपुराण, पाञ्चरात्र आगम तथा आलवार एवं रामानुज के ग्रन्थ हैं। नारदपाञ्चरात्र में उल्लेख आता है कि उक्त विषय पर मुख्य ग्रन्थ हैं ब्रह्मवैवर्तपुराण, भागवत, विष्णुपुराण, भगवद्गीता और महाभारत (२ ७ २८—३२ ३ १४ ७३ ४ ३ १५४)। रामानुज के ग्रन्थ हमारे वर्तमान प्रयोजन में उपयोगी न होंगे क्योंकि वे इसके पश्चात् काल के रहे जाते हैं और उनमें जान बूझकर उपनिषदों के एकेश्वरवाद का भागवतधर्म के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। भागवतपुराण भी कुछ अधिक महत्त्व का नहीं है क्योंकि परम्परा के अनुसार इसके रचयिता ने इसका निर्माण उस समय किया जब उसने यह अनुभव किया कि उसने महाभारत में भक्तिप्रधान अंश के साथ पूरा न्याय नहीं किया है (१ ४ और ५)। यह नारद की प्रेरणा से सम्भव हो सका कि उसने भागवतपुराण में भक्ति को मुख्य स्थान दिया। नारदसूत्र और शाण्डिल्यसूत्र महाभारत तथा भागवत से अर्वाचीन हैं क्योंकि प्रथम में शुक और व्यास का उल्लेख मिलता है (व्यायपत्र) और दूसरे में भगवद्गीता के अनेक उद्धरण हैं (९ १५)। इस प्रकार हमारे मुख्य आधार महाभारत का नारायणीय विभाग है।

2 शान्तिपर्व ३४८ ५७।

उपरिचरवसु की कथा सुनाई उसमे व्यूहो अथवा आकृतियो का कही पता नही।[1] इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती है। प्रथम यह कि भागवतधर्म एकेश्वरवादी है और वह भक्ति को ही मोक्ष का मार्ग बतलाता है। पशुहिंसा वर्जित है। बुद्ध ने भी पशुहिंसा के प्रति ऐसा ही विरोध प्रदर्शित किया, यही कारण है कि उसे विष्णु का अवतार मान लिया गया। धर्म बार-बार भक्ति और कर्म के सयुक्त रूप मे पालन के ऊपर बल देता है।[2] यह तपस्या व त्याग की माग नही करता।[3]

'भगवत्' का पहला और मुख्य नाम वासुदेव है।[4] "नित्य ईश्वर को, जो रहस्यमय, सबका उपकार करनेवाला एव प्रेममय है, वासुदेव जानना चाहिए।"[5] यह नाम भागवत-मन्त्र मे आता है।[6] कभी-कभी यह कहा जाता है कि भगवत् नाम सकेत करता है कि यह धर्म पुराने वैदिक-सम्प्रदाय का विकसित रूप है। हमे वेदो मे भग नामक एक देवता का वर्णन मिलता है जिसे वरदान देनेवाला कहा गया है। धीरे-धीरे 'भग' का अर्थ सौजन्य अथवा उदारता हो गया, और सस्कृत व्याकरण के नियमो के अनुसार ऐसा देवता जिसमे उदारता के गुण उपस्थित हो, भगवत् नाम से जाना जाने लगा। और ऐसे देवता की उपासना ही भागवतधर्म हुआ। विष्णुपुराण मे कहा है कि ऐश्वर्य, धर्म, यश, सपत्ति ज्ञान और वैराग्य भग कहाते है, और वह जिसके अन्दर ये गुण उपस्थित है वह भगवन है।[7] आगे चलकर वासुदेव को नारायण और विष्णु का रूप दे दिया गया।

१ उपरिचरवसु ने पाञ्चरात्र-पद्धति के धर्म को अङ्गीकार किया जिसका प्रचार पहले-पहल चित्रशिखण्डियो ने किया। इस पद्धति की व्याख्या ऋषियो ने भगवान की उपस्थिति मे की थी जिसने कहा कि "तुमने एक लाख श्लोकों का निर्माण किया है, जिनमें मनुष्यों के कार्यों के सम्बन्ध मे सब नियमो का विधान है और जो वेद के भी अनुकूल है और जिनमें क्रियात्मक धर्म के सम्बन्ध मे सब प्रकार के उपदेश विद्यमान हैं और चिन्तन या ध्यान सम्बन्धी उपदेश भी है। यह शास्त्र मनुष्यो को एक से दूसरे को पहुचता रहेगा और अन्त में बृहस्पति तक पहुचेगा। उससे राजा वसु इसे प्राप्त करेगा और मेरा भक्त बन जाएगा।" राजा वसु ने एक अश्वमेध यज्ञ किया, जिसमे बृहस्पति पुरोहित बना और एकत, द्वित, तथा त्रित दर्शक अथवा सदस्य बने। उस अवसर पर कोई पशु नहीं मारा गया। ईश्वर केवल राजा के सामने प्रकट हुआ और उसमे प्रसाद ग्रहण किया। बृहस्पति क्रोधित हुआ। दर्शकों (सदस्यो) ने उससे कहा कि प्रभु तो केवल उन्हींके सामने प्रकट होता है जो उसकी अनुकम्पा के पात्र होते हैं। वे श्वेतद्वीप की कथा कहते है, जहा पर "ऐसे मनुष्य हैं जो चन्द्रमा के समान कान्ति वाले और देवता मे भक्ति रखनेवाले हैं, जिनके इन्द्रिया नही हैं, जो कुछ नही खाते, जो केवल परमेश्वर मे ही रत रहते हैं जो सूर्य के समान उज्ज्वल है। वहीं पर हमने उस महान उपदेश को सुना कि ऐसे व्यक्ति को जो उसमे भक्ति नही रखता, सर्वोपरि ईश्वर दिखाई नहीं देता।" देखिए भण्डारकर : 'वैष्णविज्म'।

२. शान्तिपर्व, ३३४-३५१।

३ तुलना कीजिए "प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः", शान्तिपर्व, ३४७, ८०-८१।

४ देखिए, भगवद्गीता, ७ १६।

५ भीष्मपर्व, अध्याय ६६।

६. "ओं नमो भगवते वासुदेवाय।"

७. ६ . ५, ७४। भागवतधर्म को सात्वतधर्म के नाम से भी पुकारा जाता है, क्योंकि वासुदेव को यह नाम दिया गया है (आदिपर्व, २१८, १२)। भागवत मे सात्वतो को भगवत् के उपासक बतलाया गया है (१ ६, ४९)। ये अन्धक और वृष्णियों के समान यादवों की उपजातियां थीं। (भागवत, १, १४, २५, ३, १, २९)। मेगस्थनीज ने भी उनका सकेत किया है। अर्थीकरण के फलस्वरूप वासुदेव का नारायण के साथ और उसके पश्चात् विष्णु के साथ साम्य हो गया। हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते

वशज कहा गया है।[1] छान्दोग्य उपनिषद् मे देवकी के पुत्र कृष्ण को हम घोर नामक ऋषि का, जो एक आङ्गिरस है, शिष्य पाते है।[2] यह स्पष्ट है कि वैदिकसूक्तो के समय से लेकर उपनिषद्-काल तक वैदिक विचारक के रूप मे कृष्ण की एक परम्परा थी। किन्तु ऋग्वेद के एक अन्य वाक्य मे कृष्ण का एक अनार्य सेनापति के रूप मे वर्णन किया गया है, जिसे अशुमती के किनारे पर दस हजार सेना के साथ इन्द्र से युद्ध के लिए प्रतीक्षा मे दिखाया गया है।[3] सर आर० जी० भण्डारकर का विश्वास है कि घुमक्कड चरवाहो की एक उपजाति, जिसे आभीर या भील कहते थे, एक बालदेवता की पूजा करती थी।[4] यह एक आर्येतर जाति का गिरोह था, जिसके आचार-विचार असस्कृत थे। कृष्ण के जीवन के सम्बन्ध मे जो लम्पटता या विषयासक्ति की कथाए कही जाती है वे इन्ही घुमक्कड जातियो से निकली होगी।[5] श्री वैद्य के अनुसार, कृष्ण क्षत्रियो की यादव-जाति का था, जो आर्यो के द्वितीय आक्रमण के समय इस देश मे आई—यह एक ऐसा समुदाय है जो अपनी प्रकृति मे अभी तक पशुपालक है, एव पशुओ को चराने का काम करता है और इसने अपना स्थान जमुना के किनारो पर बनाया।[6] वेबर और दत्त इत्यादि दूसरे भारतीयविद्याविशारदो का कहना है कि पाण्डव आर्येतर जाति के थे, जिनके अन्दर एक विचित्र रिवाज था कि सब भाइयो की एक समानरूप से विवाहित स्त्री होती थी। उनके अन्दर कृष्ण-सम्प्रदाय का प्रचार हुआ, और महाभारत का रचयिता यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि कृष्ण मे भक्ति रखने के कारण उनकी विजय हुई। पाण्डवो की, जो ब्राह्मण-समुदाय के बाहर के लोग थे, लडाइयो तथा अन्य घटनाओ को महाकाव्य मे एक धार्मिक प्रेरणा के कारण स्थान मिला और उन्हे भी भरतवशियो के नाम से आर्यजाति के अदर प्रविष्ट कर लिया गया। गार्वे का विश्वास है कि कृष्ण बुद्ध से लगभग २०० वर्ष पूर्व हुआ और वह वसुदेव का पुत्र था। उसने एक एकेश्वरवादी तथा नैतिक धर्म की स्थापना की, और अन्त मे जाकर उसीको देवता बना दिया गया, और भगवान वासुदेव के साथ उसे तद्रूप कर दिया गया, जिसकी पूजा की नीव भी स्वय उसीने रखी थी। महाभारत मे कृष्ण के विषय मे समस्त परम्पराओ का हम सम्मिलन पाते है जोकि उस समय

१. देखिए कौषीतकि ब्राह्मण, ३० ' ९, पाणिनि, ४ १, ९६।

२. ३ १७।

३. ८ ९६, १३–१५। पीछे की किम्वदतिया—जिनमे कहा गया है कि कृष्ण ने गोपों का इन्द्र की पूजा से निवारण किया और उसके कारण इन्द्र ने क्रोध किया, जिसके परिणामस्वरूप निरन्तर वर्षा हुई और कृष्ण ने गोपों को वर्षा से बचाने के लिए गोवर्धन पर्वत को उनके सिरों से ऊपर उठा लेने का कौशलपूर्ण काम कर दिखाया—ऋग्वेद मे वर्णित इस घटना के आधार पर निर्भर हो सकती है। अथर्वसहिता मे कहा गया है कि कृष्ण ने राक्षस केशी का वध किया। बौद्धग्रन्थों में भी उसके नाम का वर्णन है (देखिए ललितविस्तर)। हमारे पास यह विश्वास करने को पर्याप्त साक्षी है कि जिस समय जैनधर्म का प्रादुर्भाव हुआ, कृष्ण की पूजा प्रचलित थी, क्योंकि हम देखते है कि कृष्ण की पूरी कथा साधारण परिवर्तनों के साथ बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के जीवन में दुहराई गई है। और वह एक प्रसिद्ध यादव था।—देखिए 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खण्ड २२, पृष्ठ २७६–२७९।

४. मौसलपर्व, अध्याय ७।

५ 'वैष्णविज्म', पृष्ठ ३६–३८।

६ 'एपिक इण्डिया', अध्याय १८।

तक बच रही थी—कृष्ण आर्येतर जाति का नायक था, एक धार्मिक शिक्षक था किंवा एक उपजाति का देवता था।

महाभारत में हम यह प्रक्रिया देखते हैं जिसके द्वारा कृष्ण को एक सर्वश्रेष्ठ देवता बना दिया गया। किसी किसी स्थान पर उस महात्मा की पूजा करते हुए दिखाया गया है।[1] ऐसे भी प्रकरण हैं जहां उसके देवत्व को अमान्य ठहराया गया है।[1] सभापर्व में शिशुपाल कृष्ण को देवता का पद देने का विरोध करता है। भीष्म कृष्ण का पक्ष लेता हुआ कहता है जो कोई कहता है कि कृष्ण एक साधारण मनुष्यमात्र है वह मन्दबुद्धि है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कृष्ण को देवता का रूप देने में प्रबल विरोध था। उसे कभी कभी द्वारका का शूरवीर योद्धा एवं अधिपति कहा गया है। समय-समय पर वह एकेश्वरवाद का धार्मिक प्रचारक बन जाता है जिसका पूजनीय देवता भगवत था। कभी-कभी उसे ही स्वयं भगवत कहा गया है। महाभारत में विचार के अनेक स्तर हैं जोकि युग युग में एक दूसरे के ऊपर उगते गए और जो कृष्ण की सब श्रेणियां में प्रदर्शित करते हैं अर्थात् एक ऐतिहासिक पुरुष के रूप से लेकर विष्णु के अवतार तक।

यह स्पष्ट है कि महाभारत के सम्पादकों ने यह अनुभव किया था कि एक सर्वमान्य एवं प्रचलित नायक को विधर्मियों के शक्तिशाली प्रभाव की प्रतिद्वन्द्विता में मध्य केन्द्र बनाना चाहिए। कृष्ण का व्यक्तित्व सहजप्राप्त था। निःसन्देह कृष्ण के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले कुछेक कर्म ऐसे हैं जो एक दैवीय सत्ता के योग्य नहीं जंचते जैसेकि रासलीला अथवा गोपियों के साथ नृत्य तथा जलक्रीडा और वस्त्रापहरण अर्थात् स्नान करती हुई गोपियों के कपड़े उठा लेना आदि। इन सबके समाधान की आवश्यकता है। राजा परीक्षित ने शुक से कहा कि मेरा संशय निवारण कीजिए विश्व के स्वामी ने अवतार धारण किया धर्म की स्थापना तथा अधर्म के विनाश के लिए। क्या उसने, जो धार्मिक नियमों का प्रकाशक अधिपति और रक्षक है व्यभिचार रूपी अपवित्र कार्य करके उन नियमों को भंग नहीं किया? उत्तर था कि देवताओं द्वारा धार्मिक नियमों का व्याघात और इसी प्रकार यशस्वी पुरुषों के साहसिक कार्य कलंक का कारण नहीं बनते हैं जैसे अपवित्र पदार्थ को आग में डालने से आग में कलंक नहीं आता है। किन्तु जो देवताओं की कोटि में नहीं हैं उन्हें ऐसे कर्मों को करने का विचार तक नहीं करना चाहिए। यदि शिव का अनुकरण करके कोई मूर्ख व्यक्ति विषपान करे तो वह अवश्य ही मरेगा। देवताओं की वाणी तो सदा सत्य होती है किन्तु उनके कार्य कभी सत्य होते हैं और कभी नहीं भी होते।[3] किन्तु ब्राह्मण की मेधाविता इसे यहां नहीं छोड़ती। वह कृष्ण के सारे जीवन को रूपकालंकार में बांधकर उसे पवित्र सिद्ध कर देगा और सारे वायुमण्डल को रहस्यमय बना देगा। गोपियां उन व्यक्तियों के उपलक्षण हैं जिन्होंने बिना अध्ययन के केवल भक्ति के द्वारा ही परमात्मा को पा लिया। गोपियों द्वारा अपने गृह तथा पतियों का त्याग इस बात का उपलक्षण है कि जीवात्मा दिव्य पति के आगे आत्मसमर्पण कर देती

१ देखिए द्रोणपर्व।
२ म्योर : 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स', ४, पृष्ठ २०५ और आगे।
३ भागवत, स्कन्ध १०, ३३, २६-३६।

विष्णु के उपासको मे वर्णभेद नही है। जाबाल ब्राह्मण कहता है : 'किरात और हूण जाति के लोग भी "केवल उन व्यक्तियो के ससर्ग मे आने मात्र से जिनका हृदय विष्णु मे लिप्त है, अपने पापो से मुक्त होकर पवित्र हो जाते हैं।" इस मत के अनुयायी वर्णाश्रमधर्म की इतनी परवाह नहीं करते जितनी कि स्मार्त एव वे व्यक्ति करते है जो वैदिकशास्त्रो को मानते है।

यह एक विवादग्रस्त विषय है कि पाञ्चरात्र, भागवत अथवा सात्वत धर्म अपने विकासरूप मे आर्यजाति का था अथवा आर्येतर था। कुछेक का कहना है कि यह आर्येतर था क्योकि इसकी पूजा का विधान अवैदिक था। इसने वेदिक क्रिया-कलाप अथवा सस्कारो को नहीं अपनाया, और जीवो एव मन की उत्पत्ति सकर्षण से हुई है, इसका यह सिद्धान्त वैदिक कल्पनाओ के विपरीत था। यामुनाचार्य अपने 'आगम-प्रामाण्य' नामक ग्रन्थ मे आगमो की प्रामाणिकता के विरुद्ध अनेक आपत्तिया उठाता है और उन सबका खण्डन करता है। विरोध मे जो तर्क उपस्थित किए गए है वे इस आधार पर है कि उनके प्रतिपाद्य विषय वेदो की भावना के विपरीत है, और यह कि वे अग्निहोत्र अथवा ज्योतिष्टोम आदि क्रिया-कलापो एव यज्ञानुष्ठानो का विधान नही करते, यहा तक कि वे वेदो के लिए अपशब्दो तक का प्रयोग करते है, और यह कि द्विजो ने उन्हे स्वीकार नही किया है। दूसरी ओर सात्वत, जो प्रत्यक्षरूप मे एक आर्येतर जाति के है, उसपर आचरण करते हैं।[1] उनके अन्दर जादू-टोना एव मिथ्या विश्वास भी बहुत है।[2] परपरागत सिद्धातो की सूची मे इस पद्धति की गणना नही है। यदि हम शकर के मत को स्वीकार करें, तो यहा तक कि बादरायण भी इसका समर्थन नही करता। इसकी अपनी ही एक विचित्र सस्कारो की पद्धति है यथा तिलक-छाप आदि। इन आपत्तियो के उत्तर मे यामुनाचार्य का कहना है कि इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध वेद के साथ है। महाभारत एव भागवत मे बादरायण ने, और भृगु तथा भारद्वाज आदि प्रसिद्ध व्यक्तियो ने भी, इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया है, और यह कि भागवत सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण है, और यह कि सात्वत नाम किसी वर्ण-विशेष को नही बतलाता अपितु उन व्यक्तियो के लिए प्रयोग किया जाता है जिनके अन्दर सत्त्वगुण बहुत अधिक मात्रा मे विद्यमान हो। रामानुज भी यामुनाचार्य के मत का समर्थन करता है। इसके समर्थन की आवश्यकता ही यह प्रकट करती है कि उक्त सम्प्रदाय को वैदिकरूप मे स्वीकृति प्राप्त करने मे कुछ समय लगा। आधुनिक वैष्णवधर्म के कुछेक अनिवार्य तत्त्व—जैसे मूर्तिपूजा, शरीर को दागना, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाना—पाञ्चरात्रधर्म के कारण इसमे आए है।

वार शब्द का अर्थ है—वह जो परमात्मा के प्रेम में निमग्न हो। बारह आलवार सब वर्णों में से दीक्षित किए गए हैं और उनके लिखित ग्रन्थ जो तमिल भाषा में हैं, प्रबन्ध कहलाते हैं जो किसी न किसी रूप में विष्णु की स्तुति करनेवाले गीत हैं और जो पवित्रता एवं भक्ति से ओतप्रोत हैं। यही वैष्णवों का वेद है। वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार रामानुज परवर्ती काल के हैं और धर्मगुरुओं की परम्परा में नाथमुनि से छठे हैं जिन्हें नम्मालवार ने उक्त धर्म में दीक्षित किया था। भागवत लोग ही भारत में वैष्णव धर्म के सर्वप्रथम प्रवर्तक हुए। पाञ्चरात्र के अनुयायी को प्रकटरूप में पूजा की वैदिक विधियों का ग्रहण करने की आज्ञा नहीं थी। वे स्वयं भी अपने विचारों के लिए पाञ्चरात्र आगमों[1] को आधार के रूप में मानते थे।

साधारणतः आगम विवाद विषयों को चार शीर्षकों के अन्दर विभक्त करते हैं (१) ज्ञान (२) योग अथवा ध्यान (३) मूर्तियों का निर्माण एवं स्थापना (क्रिया) और (४) नित्य कर्म (चर्या अथवा संस्कार)। मुख्य देवता वासुदेव-कृष्ण है जिसके साथ चार व्यूह हैं। कृष्ण की अन्तर्यामिता के ऊपर बल दिया गया है। ब्रह्म से लेकर एक साधारण स्तम्ब (तृण) तक सब कुछ कृष्ण ही है।[2] विष्णु अपनी शक्ति के कारण सर्वोपरि है। इस शक्ति के दो पक्ष हैं क्रिया और भूति जैसे शक्ति और प्रकृति का रूप है। वही सृष्टि की रचना करता है। विष्णु और उसकी शक्ति का सम्बन्ध अविच्छेद्य है एवं एक-दूसरे के अन्दर निहित है जैसे कि पदार्थ का सम्बन्ध उसके गुणों के साथ है। रामानुज पाञ्चरात्र के सिद्धान्त के आधार पर ब्रह्म, जीवात्मा और संसार की पृथक्-पृथक् सत्ता को स्वीकार करते हैं।[3] यज्ञ के स्थान पर मन्दिरों में मूर्तियों की पूजा को मान्यता देते हैं। यों धर्म अधिकतर भावना प्रधान हो गया। भक्ति पर बल दिया गया। आधुनिक वैष्णवधर्म की एक मुख्य विशेषता जो इस पद्धति की देन है प्रपत्ति—अर्थात् सर्वथा आत्मसमर्पण—का सिद्धान्त है। ईश्वर उनका सहायक है जो अन्य सब प्रकार की आशा छोड़कर उसके चरणों में गिर जाते हैं। प्रश्न उठता है कि न्यायकारी ईश्वर कैसे पापात्माओं को क्षमा दे सकता है। यह पद्धति ईश्वर की पत्नी लक्ष्मी को मध्यस्थ के ऊँचे स्थान पर बैठा देती है। ईश्वर का कठोर न्याय लक्ष्मी की दयाशीलता के कारण नरम पड़ जाता है जो दण्ड देना जानती ही नहीं।[4] इस मध्यस्थ का स्वभाव ईश्वर के ही समान है और यह भक्त की पुकार पर वैसे ही कार्य करता है। ईश्वर की रियायत चाहनेवाले को पहले लक्ष्मी की रियायत प्राप्त करना आवश्यक है। पिछले जन्म के कर्म भी क्षमा किए जा सकते हैं। प्रपत्ति ऐसा मार्ग प्रतीत होता है जिसके द्वारा जीवात्मा सर्वोपरि सत्ता को प्राप्त हो जाता है और यह उतना ही शक्तिसम्पन्न है जितना कि सांख्य अथवा योग या दूसरा कोई उपाय है।

१ [illegible] पाञ्चरात्ररक्षा में है। यह [illegible] में [illegible] (२. २. ४१–४) [illegible] है। [illegible]

२ [illegible] कृष्णचरणम्' ([illegible])।

३ [illegible]।

४ [illegible], १४[illegible]।

विष्णु के उपासको मे वर्णभेद नही है। जावाल ब्राह्मण कहता है . ' किरात और हूण जाति के लोग भी'''केवल उन व्यक्तियो के ससर्ग मे आने मात्र से जिनका हृदय विष्णु मे लिप्त है, अपने पापो से मुक्त होकर पवित्र हो जाते हैं।" इस मत के अनुयायी वर्णाश्रमधर्म की इतनी परवाह नहीं करते जितनी कि स्मार्त एव वे व्यक्ति करते है जो वैदिकशास्त्रों को मानते है।

यह एक विवादग्रस्त विषय है कि पाञ्चरात्र, भागवत अथवा सात्वत धर्म अपने विकासरूप मे आर्यजाति का था अथवा आर्येतर था। कुछेक का कहना है कि यह आर्येतर था क्योकि इसकी पूजा का विधान अवैदिक था। इसने वैदिक क्रिया-कलाप अथवा सस्कारो को नही अपनाया, और जीवो एव मन की उत्पत्ति सकर्पण से हुई है, इसका यह सिद्धान्त वैदिक कल्पनाओ के विपरीत था। यामुनाचार्य अपने 'आगम-प्रामाण्य' नामक ग्रन्थ मे आगमो की प्रामाणिकता के विरुद्ध अनेक आपत्तिया उठाता है और उन सबका खण्डन करता है। विरोध मे जो तर्क उपस्थित किए गए है वे इस आधार पर हैं कि उनके प्रतिपाद्य विषय वेदो की भावना के विपरीत हे, और यह कि वे अग्निहोत्र अथवा ज्योतिष्टोम आदि क्रिया-कलापो एव यज्ञानुष्ठानो का विधान नही करते, यहां तक कि वे वेदो के लिए अपशब्दो तक का प्रयोग करते है, और यह कि द्विजो ने उन्हे स्वीकार नही किया है। दूसरी ओर सात्वत, जो प्रत्यक्षरूप मे एक आर्येतर जाति के है, उसपर आचरण करते हैं।[1] उनके अन्दर जादू-टोना एव मिथ्या विश्वास भी वहुत है।[2] परपरागत सिद्धातो की सूची मे इस पद्धति की गणना नही है। यदि हम शकर के मत को स्वीकार करे, तो यहा तक कि वादरायण भी इसका समर्थन नही करता। इसकी अपनी ही एक विचित्र सस्कारो की पद्धति है यथा तिलक-छाप आदि। इन आपत्तियो के उत्तर मे यामुनाचार्य का कहना है कि इस सम्प्रदाय का सम्वन्ध वेद के साथ है। महाभारत एव भागवत मे वादरायण ने, और भृगु तथा भारद्वाज आदि प्रसिद्ध व्यक्तियो ने भी, इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया है, और यह कि भागवत सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण हे, और यह कि सात्वत नाम किसी वर्ण-विशेष को नही बतलाता अपितु उन व्यक्तियो के लिए प्रयोग किया जाता है जिनके अन्दर सत्त्वगुण वहुत अधिक मात्रा मे विद्यमान हो। रामानुज भी यामुनाचार्य के मत का समर्थन करता है। इसके समर्थन की आवश्यकता ही यह प्रकट करती है कि उक्त सम्प्रदाय को वैदिकरूप मे स्वीकृति प्राप्त करने मे कुछ समय लगा। आधुनिक वैष्णवधर्म के कुछेक अनिवार्य तत्त्व—जैसे मूर्तिपूजा, शरीर को दागना, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाना—पाञ्चरात्रधर्म के कारण इसमे आए हैं।

इसे चाहे किसी नाम से भी क्यो न पुकारा जाए, इसमे सन्देह नही कि यह धर्म बहुत प्राचीन है, सम्भवत कम से कम बौद्धधर्म के समान प्राचीन है यदि उससे अधिक प्राचीन न भी माना जाए, किन्तु चूकि नारायणीय विभाग मे—जहा पर इस धर्म का वर्णन है—नारद की श्वेतद्वीप की यात्रा का वर्णन हे जहा के निवासी एकान्ती अथवा एकेश्वरवादी थे, कभी-कभी यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि इसमे जो एकेश्वरवाद है वह

१. मनु, १० : २३, ५।

२. "क्षुद्रविद्याप्रचुरता।"

वार शब्द का अर्थ है—वह जो परमात्मा के प्रेम में निमग्न हो। बारह आलवार सब वर्णों से दसम दीक्षित किए गए हैं और इनके लिखित ग्रन्थ, जो तमिल भाषा में हैं, प्रबन्ध कहलाते हैं जो किसी न किसी रूप में विष्णु की स्तुति करनेवाले गीत हैं और जो पवित्रता एवं भक्ति से ओतप्रोत हैं। यही वैष्णवों का वेद है। वेदान्तसूत्रों के भाष्यकार रामानुज परवर्ती काल के हैं और धर्मगुरुओं की परम्परा में नाथमुनि से छठे हैं जिन्हें नम्मालवार ने उक्त धर्म में दीक्षित किया था। भागवत लोग ही भारत में वैष्णव धर्म के सर्वप्रथम प्रवर्तक हुए। पाञ्चरात्र के अनुयायी को प्रकटरूप में पूजा की वैदिक विधियों का ग्रहण करने की आज्ञा नहीं थी। वे स्वयं भी अपने विचारों के लिए पाञ्चरात्र आगमों[1] को आधार के रूप में मानते थे।

साधारणतः आगम विशाल विषयों को चार शीर्षकों के अन्दर विभक्त करते हैं (१) ज्ञान (२) योग अथवा ध्यान (३) मूर्तियों का निर्माण एवं स्थापना (क्रिया) और (४) क्रिया-कलाप (चर्या अथवा संस्कार)। मुख्य देवता वासुदेव-कृष्ण हैं जिनके साथ चार व्यूह हैं। कृष्ण की अन्तर्यामिता के ऊपर बल दिया गया है। ब्रह्म से लेकर एक साधारण स्तम्ब (तृण) तक सब कुछ कृष्ण ही है।[2] विष्णु अपनी शक्ति के कारण सर्वोपरि है। इस शक्ति के दो पहलू हैं क्रिया और भूति जो शक्ति और प्रकृति का रूप हैं। वही सृष्टि की रचना करता है। विष्णु और उसकी शक्ति का सम्बन्ध अविच्छेद्य है एवं एक दूसरे के अन्दर निहित है, जबकि पदार्थ का सम्बन्ध उसके गुणों के साथ है। रामानुज पाञ्चरात्र के सिद्धान्त के आधार पर ब्रह्म, जीवात्मा और संसार की पृथक् पृथक् सत्ता को स्वीकार करते हैं। यज्ञ के स्थान पर मन्दिरों में मूर्तियों की पूजा को मान्यता देते हैं। यह धर्म अधिकतर भावना-प्रधान हो गया। भक्ति पर बल दिया गया। आधुनिक वैष्णवधर्म की एक मुख्य विशेषता, जो इस पद्धति की देन है, प्रपत्ति—अर्थात् सर्वथा आत्मसमर्पण—का सिद्धान्त है। ईश्वर उनका सहायक है जो अन्य सब प्रकार की आशा छोड़कर उसके चरणों में गिर जाते हैं। प्रश्न उठता है कि न्यायकारी ईश्वर कैसे पापात्माओं को क्षमा दे सकता है। यह पद्धति ईश्वर की पत्नी लक्ष्मी को मध्यस्थ के ऊंचे स्थान पर बैठा देती है। ईश्वर का कठोर न्याय लक्ष्मी की दयाशीलता के कारण नरम पड़ जाता है, जो दण्ड देना जानती ही नहीं।[3] इस मध्यस्थ का स्वभाव ईश्वर के ही समान है और यह भक्त की पुकार पर वैसे ही कार्य करती है। ईश्वर की रियायत चाहनेवाले को पहले लक्ष्मी की रियायत प्राप्त करना आवश्यक है। पिछले जन्म के कर्म भी क्षमा किए जा सकते हैं। प्रपत्ति ऐसा मार्ग प्रतीत होता है जिसके द्वारा जीवात्मा सर्वोपरि सत्ता को प्राप्त हो जाता है और यह उतना ही शक्तिसम्पन्न है जितना कि सांख्य अथवा योग का दूसरा कोई उपाय है।

[1] उनमें से बहुतों का उल्लेख वेदान्तदेशिक की पाञ्चरात्ररक्षा में है। यह एक तेरहवीं शताब्दी में हुए यामुनाचार्य का आगमप्रामाण्य एवं वेदान्तसूत्रों (२ : २ : ४२-४५) का पाञ्चरात्र विभाग इस पद्धति के लिए हमारे पास उपलब्ध सामग्री है। वैष्णवमतानुयायियों ने आगमों का स्वयं नारायण द्वारा प्रकाशित मानता है, उनके लिए किसी काल के गणना की आवश्यकता नहीं समझता।

[2] 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वं कृष्णश्चराचरम्' (नारदपाञ्चरात्र)।

[3] नियमकाननिग्रहा।

[4] शान्तिपर्व ३४८, ७४।

विष्णु के उपासको मे वर्णभेद नही है। जाबाल ब्राह्मण कहता है 'किरात और हूण जाति के लोग भी ' केवल उन व्यक्तियो के ससर्ग मे आने मात्र से जिनका हृदय विष्णु मे लिप्त है, अपने पापो से मुक्त होकर पवित्र हो जाते है।" इस मत के अनुयायी वर्णाश्रमधर्म को इतनी परवाह नही करते जितनी कि स्मार्त एव वे व्यक्ति करते हैं जो वैदिकशास्त्रों को मानते है।

यह एक विवादग्रस्त विषय है कि पाञ्चरात्र, भागवत अथवा सात्वत धर्म अपने विकासरूप मे आर्यजाति का था अथवा आर्येतर था। कुछेक का कहना है कि यह आर्येतर था क्योकि इसकी पूजा का विधान अवैदिक था। इसने वैदिक क्रिया-कलाप अथवा सस्कारो को नही अपनाया, और जीवो एव मन की उत्पत्ति सकर्पण से हुई है, इसका यह सिद्धान्त वैदिक कल्पनाओ के विपरीत था। यामुनाचार्य अपने 'आगम-प्रामाण्य' नामक ग्रन्थ मे आगमो की प्रामाणिकता के विरुद्ध अनेक आपत्तिया उठाता है और उन सबका खण्डन करता है। विरोध मे जो तर्क उपस्थित किए गए है वे इस आधार पर हैं कि उनके प्रतिपाद्य विषय वेदो की भावना के विपरीत है, और यह कि वे अग्निहोत्र अथवा ज्योतिष्टोम आदि क्रिया-कलापो एव यज्ञानुष्ठानो का विधान नही करते, यहां तक कि वे वेदो के लिए अपशब्दो तक का प्रयोग करते है, और यह कि द्विजो ने उन्हे स्वीकार नही किया है। दूसरी ओर सात्वत, जो प्रत्यक्षरूप मे एक आर्येतर जाति के है, उसपर आचरण करते है।[1] उनके अन्दर जादू-टोना एव मिथ्या विश्वास भी बहुत है।[2] परपरागत सिद्धातो की सूची मे इस पद्धति की गणना नही है। यदि हम शकर के मत को स्वीकार करें, तो यहा तक कि बादरायण भी इसका समर्थन नही करता। इसकी अपनी ही एक विचित्र सस्कारो की पद्धति है यथा तिलक-छाप आदि। इन आपत्तियो के उत्तर मे यामुनाचार्य का कहना है कि इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध वेद के साथ है। महाभारत एव भागवत मे बादरायण ने, और भृगु तथा भारद्वाज आदि प्रसिद्ध व्यक्तियो ने भी, इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया है, और यह कि भागवत सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण है, और यह कि सात्वत नाम किसी वर्ण-विशेष को नही बतलाता अपितु उन व्यक्तियो के लिए प्रयोग किया जाता है जिनके अन्दर सत्त्वगुण बहुत अधिक मात्रा मे विद्यमान हो। रामानुज भी यामुनाचार्य के मत का समर्थन करता है। इसके समर्थन की आवश्यकता ही यह प्रकट करती है कि उक्त सम्प्रदाय को वैदिकरूप मे स्वीकृति प्राप्त करने मे कुछ समय लगा। आधुनिक वैष्णवधर्म के कुछेक अनिवार्य तत्त्व—जैसे मूर्तिपूजा, शरीर को दागना, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाना—पाञ्चरात्रधर्म के कारण इसमे आए है।

इसे चाहे किसी नाम से भी क्यो न पुकारा जाए, इसमे सन्देह नही कि यह धर्म बहुत प्राचीन है, सम्भवत कम से कम बौद्धधर्म के समान प्राचीन है यदि उससे अधिक प्राचीन न भी माना जाए, किन्तु चूकि नारायणीय विभाग मे—जहा पर इस धर्म का वर्णन है—नारद की श्वेतद्वीप की यात्रा का वर्णन है जहा के निवासी एकान्ती अथवा एकेश्वरवादी थे, कभी-कभी यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि इसमे जो एकेश्वरवाद है वह

१. मनु, १० : २३, ५।

२. "क्षुद्रविद्याप्रचुरता।"

पाणिनि के व्याकरण मे आता है।[1] सर आर० जी० भण्डारकर के अनुसार, यदि इससे पूर्व न माने तथापि पाणिनि ईसापूर्व सातवी शताब्दी मे तो हुए ही।[2] बौद्ध और जैन धर्म के ग्रन्थो मे भी भक्ति-सम्प्रदाय का उल्लेख है।[3] एम० सेनार्ट लिखता है कि 'भक्तिमान्' शब्द, जो थेरगाथा मे आया है, बौद्धधर्म ने एक प्राचीनतर भारतीय धर्म से उधार लिया है। "यदि पहले से एक ऐसा धर्म प्रचलित न रहता जिसमे योग के सिद्धांत, वैष्णवधर्म-सम्बन्धी उपाख्यान, और विष्णु-कृष्ण के प्रति भक्ति—जिसकी भगवान के नाम से पूजा की जाती थी—यह सब कुछ समवेत था तो बौद्धधर्म कभी उत्पन्न ही न होता।"[4] बार्थ कहता है[5] "भागवत, सात्वत अथवा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय जो नारायण एव अपने शिक्षक देवकीपुत्र कृष्ण की पूजा मे लगा हुआ था, जैनधर्म के प्रादुर्भाव के बहुत पूर्व से अर्थात् आठवी शताब्दी ईसापूर्व से भी पहले से विद्यमान था।" पतञ्जलि पाणिनि के विषय मे अपनी टिप्पणी लिखते हुए कहता है कि वासुदेव नाम है उपास्य अथवा पूजार्ह का, जोकि ईश्वर है।[6] यह सिद्ध करने के लिए कि भागवतधर्म ईसाईधर्म के उद्भव से पूर्व विद्यमान था, हमारे पास पुरातत्त्व-सम्बन्धी साक्षी भी है। दूसरी शताब्दी ईसापूर्व के पाए गए बेसनगर के शिलालेख[7] मे भागवतधर्म के अनुयायी हेलियोडोरा द्वारा वासुदेव के सम्मान मे एक ऐसे ध्वजदण्ड की स्थापना का वर्णन है जिसमे गरुड की मूर्ति थी। इसी प्रकार घोसुण्डी के शिलालेख मे भी भागवत-सकर्षण और वासुदेव की पूजा का वर्णन है। एक तीसरे शिलालेख मे भी, जो पहली शताब्दी ईसापूर्व का है और नानाघाट मे मिला है, सकर्षण और वासुदेव की पूजा मिलती है। इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत का एकेश्वरप्रधान धर्म सब प्रकार के विदेशी प्रभावो से सर्वथा स्वतन्त्र है, और यह कि उस समय के जीवन और विचारधारा की स्वाभाविक उपज है।

९

महाकाव्यो का संसृतिशास्त्र

प्रकृति-विज्ञान के विषय मे महाभारत सांख्य के सिद्धान्त को अंगीकार करता है, यद्यपि [illegible] नहीं। यह पुरुष और प्रकृति दोनो को एक ही ब्रह्म के अंश मानता है। संसार ब्रह्म से विकसित हुआ, ऐसा विचार महाभारत मे प्रकट किया गया है। कहा गया है कि वही विश्वात्मा अपने अन्दर से उन गुणो को जो प्रकृति के तत्त्व है, बाहर फैलाता है जैसे-कि मकड़ी अपने ही अन्दर से जाला बुनती है।[8] ब्रह्म की उत्पादक क्रियाशीलता का वही विचार दूसरे रूपो मे भी पाया जाता है। यह विचार भी हमे मिलता है कि ब्रह्म से ही

१. ४.३, ९८ [illegible]
२. [illegible]
३. 'बाम्बे गजेटियर', जिल्द १, भाग २, पृष्ठ १४१।
४. 'इंडियन एंटिक्वेरी', १९१०, पृष्ठ १७७-१७८।
५. 'रिलीजन्स ऑफ इंडिया', १८८४, पृष्ठ २४८।
६. 'जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी', १९१०, पृष्ठ १६८।
७. 'एपिग्राफिया इंडिका', खण्ड १०।
८. १२ : २८५, ४०।

ईश्वर ब्रह्मा की रचना हुई जो एक स्वर्णमय अण्ड में से निकला और जो सब प्राणियों के शरीर को बनाता है। विश्वरूपी अण्ड या ब्रह्माण्ड का भाव बराबर ही रहा है। कभी कभी साम्य प्रतिपादित द्वैत और अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति पुरुष से भिन्न है यद्यपि पुरुष को सार्वभौम व रूप में माना गया है। पुरुष और प्रकृति दोनों का उद्भव एक ही सामान्य तत्त्व से है। प्रकृति सृजन करती है पुरुष के वश में रहकर।[1] अथवा यों कहना चाहिए कि पुरुष सृजनात्मक अवयवों को प्रेरणा करता है।[2] अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि समस्त क्रिया प्रकृति में ही होती है और पुरुष कार्य नहीं करता केवल साक्षीरूप रहता है और यदि यह अपने को कर्ता समझता है तो भ्रम में है।[3] ऐसा विचार भी पाया जाता है कि यद्यपि सृजन और विनाश प्रकृति के काम हैं तो भी प्रकृति केवल पुरुष के अन्दर से ही बाहर आई है और समय समय पर उसीमें समा जाती है। हमारे विचार से—सर्वतरूप में भले ही माना जाए—माया की कल्पना महाकाव्यों में नहीं है। साङ्ख्यदर्शन विहित संसार के विकास का वर्णन महाभारत में स्थान-स्थान पर पाया जाता है।[4]

इसमें सन्देह नहीं कि साङ्ख्य के विचार धीरे धीरे इस काल में पक रहे थे यद्यपि *एक दर्शन पद्धति के रूप में उनकी रचना अभी तक नहीं हुई थी।* साङ्ख्यदर्शन की मुख्य विशेषताएं जो महाभारत में पाई जाती हैं ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि पश्चाद्वर्ती बहुत सी विचारधाराओं ने साङ्ख्य के मनोविज्ञान एवं सत्तशास्त्र या सृष्टिविद्या को स्वीकार किया यद्यपि उसके अध्यात्मशास्त्र एवं धर्म को स्वीकार नहीं किया। साङ्ख्य में दी गई द्रव्यगणना को महाभारत ने स्वीकार किया है।[5] अनुगीता में[6] हम इस शास्त्रीय कल्पना के और अधिक निकट पहुंचते हैं जहां पर विकास की व्यवस्था दी गई है। अव्यक्त से महत् महत् से अहंकार अहंकार से पांच तत्त्वों की उत्पत्ति होती है और उन पांच तत्त्वों से एक ओर शब्द गन्ध आदि गुण और दूसरी ओर पांच मुख्य वायुओं की उत्पत्ति होती है जबकि अहंकार से ही ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं जिनमें पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां हैं एवं ग्यारहवां मन है। साङ्ख्यदर्शन अभी दूर था क्योंकि पुरुष को कुछ स्थलों पर सत्रहवां गिना गया है जो सत्रह गुणों से घिरा है वह पचीसवां नहीं है।[7] अनेक स्थानों पर पचीस तत्त्वों का वर्णन करते हुए महाभारत उसमें ईश्वर नामक छब्बीसवें को साथ में जोड़ता है।[8] इन सबसे यह प्रदर्शित होता है कि यह वह काल था जबकि लोग साङ्ख्य-सम्बन्धी विषयों पर निरन्तर विचार में मग्न थे।

महाभारत में गुणों का सिद्धान्त माना गया है। प्रकृति का जिनसे निर्माण हुआ

१ १२ ३१४ १२। २ १२ ३१५, ८।
३ १२ २२२ १५-१६ और भी देखें भगवद्गीता, ६ ३७।
४ १२ ३०३, ३१ और आगे।
५ देखिए अश्वमेधपर्व ३५ २०-२३ और ४७ १२-१५।
६ देखिए शान्तिपर्व ३०८-३ ८ अनुगीता ११ ४०, ८ १२ ३०६ ३६-४०।
७ १४ ४-४२।
८ शान्तिपर्व ३ ८ और भी देखिए ३ ६ २६ ३१०, १।

वे तीन गुण है—सत्त्व, रजस् और तमस्। प्रत्येक वस्तु मे ये तीनो गुण बराबर रहते है यद्यपि भिन्न-भिन्न मात्रा मे। प्राणियो की भिन्न-भिन्न श्रेणिया की गई है, यथा देवता, मनुष्य और पशु, और ये श्रेणिया उक्त गुणो की मात्रा के अनुसार है, कही एक, कही दूसरा गुण मात्रा मे न्यूनाधिक रहता है।[1] ये ही तीन गुण आत्मा के बन्धन है। "ये प्राय परस्पर-मिश्रित अवस्था मे देखे जाते है। ये एक-दूसरे से जडे हुए है और उसी प्रकार एक-दूसरे के पश्चात् भी आते है। "इस विषय मे कुछ भी सन्देह नही है कि जब तक सत्त्वगुण है तब तक तमोगुण भी विद्यमान है। और जब तक सत्त्वगुण एव तमोगुण है तब तक रजोगुण भी रहेगा, ऐसा कहा गया है। ये तीनो गुण एकसाथ मिलकर यात्रा करते है और सयुक्तरूप मे ही इतस्तत गति करते है।"[2] इसके ऊपर टिप्पणी करते हुए नीलकण्ठ कहते है "सत्त्वगुण चाहे जितना ही क्यो न बढ जाए तो भी तमोगुण उसके ऊपर नियत्रण रखता है, और इस प्रकार से इन तीनो गुणो मे निरन्तर एक ऐसा सम्बन्ध रहता है कि प्रत्येक एक-दूसरे का नियन्त्रण भी करता है और एक-दूसरे के द्वारा नियन्त्रित भी होता है। ये एकसाथ विद्यमान रहते है, यद्यपि मात्रा एव शक्ति मे इनमे परस्पर भेद रहता है।" तमस् चेष्टाविहीनता का गुण है, अथवा मनुष्य के अन्दर इसे ही जडता का भाव या व्यामोह की अवस्था कहा जाता है। इन्द्रियो की तृप्ति इसका लक्ष्य है। इन्द्रियसुख इसका परिणाम है। इसका स्वरूप अज्ञान है। यदि इसको वश मे किया जा सके तो मनुष्य सयमी या मिताचारी कहलाता है। रजोगुण भावुकतापूर्ण शक्ति है जो इच्छाओ को उत्तेजना प्रदान करती है। यह मनुष्य को बेचैन बना देती है, और वह सफलता और शक्ति के लिए प्रबल इच्छा करने लगता है, किन्तु यदि इसका दमन किया जाए तो इसका नम्र पक्ष है अनुराग, करुणा एव प्रेम। यह तमोगुण एव सत्त्वगुण के बीच की अवस्था है। तमोगुण हमे अज्ञान और मिथ्यात्व की ओर ले जाता है और सत्त्वगुण से अन्तर्दृष्टि का विकास होकर यथार्थता की प्राप्ति होती है। सत्त्वगुण मनुष्य का बौद्धिक पक्ष है। यह चरित्र की स्थिरता को बढाता है और सौजन्य की जड जमाता है। यह अकेला ही मनुष्यो को श्रेष्ठ मार्ग का प्रदर्शन करने मे सक्षम है। इसका धर्म है क्रियात्मक ज्ञान, और इसका लक्ष्य है कर्तव्यपालन। कोई भी मनुष्य इन गुणो से विहीन नही है। तीनो गुण सापेक्षरूप मे मन, जीवन और शरीर मे अपना दृढ स्थान रखते है। तमोगुण अथवा जडता का तत्त्व हमारी भौतिक प्रकृति मे सबसे अधिक प्रबल है, रजोगुण हमारी शक्तिमान प्रकृति में प्रबल है, जो भौतिक प्रकृति के विरोध मे कार्य करता है; और सत्त्वगुण हमारी मानसिक प्रकृति मे प्रबल है। वास्तविक अर्थो मे ये मिश्रित रूप मे हमारे भौतिक शरीर की रचना के प्रत्येक रेशे मे विद्यमान है। चेतनामय जीवन के ऐच्छिक पक्ष को लेने पर तमोगुण का अश निरन्तर रहनेवाले अभावो और तृप्तियो के साथ जुडी हुई हमारी निम्न श्रेणी की बुभुक्षाओ मे प्रधान रहता है। रजोगुण का अश शक्ति एव लाभ, सफलता और बडे बडे उद्योगो को लेकर प्रवृत्त हुई हमारी इच्छाओ मे प्रबल रहता है। सत्त्व के अश का लक्ष्य

१ अनुगीता, १४, ३६–३८।

है आत्मा का अपनी परिस्थितियों के साथ सुखकर समन्वय तथा आन्तरिक समभाव।[1] ये तीनों गुण अपनी परस्पर प्रतिक्रिया द्वारा मनुष्य के चरित्र का एव उसके स्वभाव का निर्णय करते है। इसलिए मनुष्य के तीन विभाग किए जा सकते हैं—जड़ आतुर और सौम्य स्वभाव। द्विज म वैश्य अथवा व्यापारी वग सबसे नीचे की श्रेणी म आते हैं क्षत्रिय लोग अपने साधन के प्रतिस्पर्धात्मक ढंग एव एक दूसरे के ऊपर आधिपत्य के प्रयत्नों के कारण मध्यम श्रेणी म आते हैं और ब्राह्मण सबसे ऊची श्रेणी म आते है। ईश्वर के सम्बन्ध म इन तीन गुणों का उल्लेख होने पर तो विष्णु ब्रह्मा और शिव का भाव उत्पन्न होता है। ये तीनों गुण ही दैवीय शक्ति के अनिवार्य बल है जो न केवल उसम समानरूप से अवस्थित है अपितु इन्हींके कारण दैवीय कर्म भी सम्पन्न होते हैं। ईश्वर के अन्दर तमोगुण एक शक्ति है जो सब कर्मों का दमन करने का द्योतक है रजोगुण उसकी इच्छा का द्योतक है जो शक्तिशाली तथा प्राणदरूप कर्म कराता है और सत्त्वगुण दैवीय सत्ता का स्वयं सत्प्रकाश है। ये तीनों गुण जो सर्वत्र भिन्न भिन्न अवस्था म पाए जाते हैं प्रकृति के समस्त कार्यों म मूलभूत कारण हैं। ससार इन्हीं के नानारूपों का एक खेल है। विविध प्रकार की घटनाओं की उत्पत्ति इन तीनों गुणों की साम्यावस्था गति एव जड़ता की परस्पर प्रतिक्रिया के कारण है। गुणों की उत्पत्ति गुणों के अन्दर से होती है और उन्हीं गुणों के अन्दर वे विलीन हो जाते हैं।[2]

सांख्यदर्शन के शिक्षक कपिल आसुरि और पञ्चशिख[3] कहे जाते हैं यद्यपि सांख्यदर्शन और पञ्चशिख म परस्पर मतभेद है।[4]

हम ड्यूसन के इस मत से सहमत नहीं हैं कि महाकाव्य के दर्शन का समय वेदान्त के आदर्शवाद तथा सांख्य के यथार्थवाद के मध्य सक्रमण का काल है। इसके अन्दर दोनों ही प्रकार की धारणाए पाई जाती हैं। यद्यपि महाकाव्यकाल मे सांख्य के कई विशिष्ट स्वरूप विकसित नहीं हुए थे तो भी सब आवश्यक रूप उपस्थित थे ही। योग दर्शन को भी मान्यता दी गई है यद्यपि पतञ्जलि के दर्शन के पारिभाषिक शब्द अभी अनुपस्थित थे।[5]

मनोविज्ञान के क्षेत्र म महाभारत ने पांचों इन्द्रियों अर्थात् सुनने स्पर्श करने देखने रस लेने एव गन्ध लेनेवाली इन्द्रियों का स्वीकार किया है। और तदनुकूल पांच भौतिक तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश को भी माना है। इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होना ही प्रत्यक्षज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं है। संवेदना का मन के द्वारा बुद्धि तक और वहां स आत्मा तक पहुचना आवश्यक है। देखने की क्रिया केवल आंख के द्वारा निष्पन्न नहीं हो सकती जब तक मन की सहायता प्राप्त न हो।[6] ज्ञान म बुद्धि

१ तुलना कीजिए प्लेटो के तीन तत्त्वों—अभिलाषा भाव तर्क से और उनसे मनुष्यसमाज के भिन्न विभागों से।

२ शान्तिपर्व ३ ५ २३।

३ अनुगीता १२ ३१६ ५१। १२ २१८ १४।

४ देखिए, कीथ सांख्य सिस्टम, पृष्ठ ३६–४।

५ देखिए १२ २३७ ६–७।

६ शान्तिपर्व, ३११ १७।

को निर्धारित करता है, क्योंकि मन तो केवल आगे पहुंचाने का साधनमात्र है।"[1] आत्मा के स्वरूप के विषय में कुछ लोगों का विश्वास है, जैसेकि सांख्य का विचार है, कि वह गुण-विहीन और निष्क्रिय है तथा प्रकृति का साक्षी मात्र है। प्रकृति ही कर्म का कारण है एवं परिवर्तन, संवेदना और विचार की उत्पादक है। आत्मा के आस्तिक स्वरूप का भी वर्णन है, जिसे स्वीकार किया गया है। जीवात्माओं के अतिरिक्त यह एक सर्वोपरि आत्मा में भी विश्वास रखता है, जिसे पुरुषोत्तम कहा गया है। उपनिषदों का सिद्धान्त भी उपस्थित है। आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहा गया है जब वह शरीर के अन्दर बद्ध रहती है, और वही शरीर से एवं गुणों से उन्मुक्त होकर परमात्मा है।[2] लिंग शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर का सामान्य विचार भी देखा जा सकता है।[3]

१०

नीतिशास्त्र

महाभारत में नीतिशास्त्र को सुख की प्राप्ति का साधन मानकर बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। "सब प्राणी सुख की अभिलाषा करते हैं और दुःख से परे रहना चाहते हैं।"[4] "हम जिस वस्तु की इच्छा करते हैं वह सुख है और जिससे हम घृणा करते हैं वह दुःख है।"[5] इस संसार में दोनों मिश्रित पाए जाते हैं।[6] किन्तु सुख और दुःख दोनों ही अनित्य अथवा क्षणिक हैं। मनुष्य के पुरुषार्थ का लक्ष्य एक ऐसी अवस्था प्राप्त करना है जिसमें पहुंचकर हम सुख एवं दुःख दोनों को समानरूप से शान्तभाव से बिना विचलित हुए ग्रहण कर सकें।[7] धर्म एक स्थिरता की अवस्था है, जिससे मनुष्य को पूर्ण सन्तोष मिलता है। यह उसे मोक्षप्राप्ति में सहायक होता है एवं इस संसार में भी शान्ति तथा सुख प्राप्त कराता है।

धर्म मोक्ष की ओर ले जाता है। दोनों में भेद किया जाता है—एक साधन है तो दूसरा अन्तिम लक्ष्य है। मनुष्य के चार उद्देश्यों या पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में भी दोनों को पृथक् रखा गया है। मोक्षप्राप्ति के लिए जिन नियमों का विधान किया गया है उन्हें मोक्षधर्म कहते हैं। संकुचित अर्थों में, धर्म से तात्पर्य नीतिशास्त्र-संबंधी विधान है जोकि धार्मिक विधि-विधान से भिन्न है, यद्यपि उसका उद्देश्य भी आत्मा को दुःखों से मुक्त कराना ही है।

कुछ सामान्य सिद्धांतों के अतिरिक्त, जैसे सच बोलना, अहिंसा आदि, धर्म सापेक्ष है और समाज की दशा के ऊपर निर्भर करता है। इसलिए यह सदा ही समाज से सम्बन्ध रखता है। यह ऐसा बन्धन है जो समाज को संगठित रखता है।[8] यदि हम धर्म का पालन

१. शान्तिपर्व, २५१, ११।
२. देखिए शान्तिपर्व, १८७, २४।
३. देखिए वनपर्व, २६६, १६।
४. शान्तिपर्व, १३९, ६१।
५. वही, १९५, २७।
६. वही, १९०, १४, २५, २३, वनपर्व, २६०, ४६।
७. शान्तिपर्व, २५, १६।
८. "धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा।" कर्णपर्व, ६९, ५९।

नहीं करेंगे तो समाज में अराजकता फैलेगी और न तो धन-सम्पत्ति और न ही शिल्प कला का विकास हो सकेगा। धर्म से ही समाज में एकत्वभाव का विकास सम्भव होता है।[1] इसका लक्ष्य समस्त विश्व का कल्याण है।[2] उन कार्यों से जिनमें समाज का कल्याण न होता हो और जिन कार्यों के करने में तुम्हें लज्जा का अनुभव हो उन्हें कभी मत करो।[3] महाभारत के अनुसार समस्त कर्तव्यों का सार इस कथन में रखा गया है : ऐसा व्यवहार दूसरों के साथ कभी न करो जो तुम दूसरों के द्वारा अपने साथ किया जाना नहीं चाहते।[4] भिन्न भिन्न वर्णों के कर्तव्यों का भी विधान किया गया है क्योंकि साधन के रूप में उनका महत्त्व है। शक्ति के द्वारा राज्य को सहारा देना और सिर के बाल न बनवाना क्षत्रिय का कर्तव्य है।[5] निःसन्देह जो यथार्थ में शील एवं आचार सम्बन्धी कर्तव्यधर्म हैं वे वर्ण धर्मों से ऊपर एवं उत्कृष्ट हैं। सत्य, आत्मसंयम, त्याग, उदारता, अहिंसा, धार्मिक कार्यों में निरन्तर तत्पर रहना—ये सफलता के साधन हैं, न कि वर्ण या परिवार।[6] विरख्याति एवं सांसारिक जीवन की अपेक्षा धार्मिक जीवन का महत्त्व कहीं अधिक है। राज्य, पुत्र, यश, धन-सम्पत्ति ये सत्य के सोलहवें भाग के समान भी महत्त्व नहीं रखते।[7] यद्यपि स्त्रियों को वैदिक यज्ञ करने का अधिकार नहीं था तो भी उन्हें तीर्थयात्रा करने, महाभारत, रामायण आदि महाकाव्यों के अध्ययन और विचारपूर्वक ईश्वर की उपासना का अधिकार प्राप्त था।[8]

धर्म का विचार किसी सुखवादी भावना में नहीं था। यह इच्छाओं की तृप्तिमात्र ही नहीं है। सुखों का संग्रह हमें यथार्थ आनन्द नहीं प्राप्त करा सकता। सुख की अभिलाषा सुखों के उपभोग से शान्त नहीं हो सकती।[9] हम जो कुछ प्राप्त होता है हम उससे भी आगे और अधिक प्राप्ति की कामना करते हैं। रेशम का कीड़ा अपने द्वारा निर्मित सम्पत्ति में ही मृत्यु को प्राप्त होता है।[10] अनन्त को प्राप्त करने की जो उत्कट अभिलाषा है उसकी पूर्ति सीमित पदार्थों द्वारा नहीं हो सकती। धर्म के लिए कष्ट सहन करना भी हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। सच्चे सुख में दुःख मिला रहता है।[11] असन्तोष से उन्नति के लिए प्रेरणा मिलती है।[12] हम अपने मनों को वश में रखना चाहिए और अपनी वासनाओं को नियन्त्रित करना चाहिए। जब हम हृदय में पवित्र हो जाएंगे और सत्य का धारण कर लेंगे तब हम दूसरे मनुष्यों को कहीं बुरा न लगे इस विचार से और दुःख से बचने के लिए भी कभी कुमार्ग पर नहीं जा सकते। इस प्रकार की प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए मन और इच्छाशक्ति के अनुशासन की आवश्यकता है। किसी

१ लोकसंग्रह अथवा सनातनारण्य। २ सर्वभूतहितम्।
३ शान्तिपर्व १२४ ६६ ७६, ९ १ ६ १०। ४ पञ्चि १ ७१ पृष्ठ ३८।
५ दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षात्रधर्मो न मुण्डनम्।' शान्तिपर्व, २३ ४६।
६ १८१ ८। ७ ३ २४ २२।
८ ३७ और भी देखें ३ ८८ ८३।
९ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। शान्तिपर्व ७५ ४९। और भी देखिए मनु २ ९४।
१० ३ ६। ११ वनपर्व २ ६।
१२ सभापर्व ५५ ११। 'असन्तोषः श्रियो मूलम्।'

किसी स्थान पर अत्यन्त वैराग्य का भी समर्थन किया गया है। क्योकि सुख और दु ख एक-दूसरे के ऊपर निर्भर है इसलिए उनसे मुक्त होने का एकमात्र उपाय तृष्णा का नाश है।[१] प्रशिक्षण द्वारा हम ऐसी अवस्था प्राप्त कर सकते है जो इच्छापूर्ति की तुलना मे उससे कही अधिक महत्त्वपूर्ण है और इन्द्र का स्वर्गस्थित आसन भी उसकी तुलना मे कुछ नही।[२] महाभारत मे योग और तपस्या के प्रति कोई एक निश्चित एव सगत प्रवृत्ति नही पाई जाती। हमे ऐसे ऋषि मिलते हैं जो एक टांग पर खडे होकर तपस्या करते थे। और ऐसे भी मिलते है जिन्हे दुष्ट कीडो ने खा डाला था। दूसरी ओर दुर्वासा जैसे भी ऋषि मिलते है जो साधारण-सी बात पर क्रुद्ध हो जाते थे। तप का विचार प्रमुख अवश्य था किन्तु कभी-कभी हमे इसका विरोध भी मिलता है। "काषाय रग की पोशाक, मौनव्रत, त्रिदण्डधारण, जल का कमण्डल—ये सब मनुष्य को केवल पथभ्रष्ट करते है। इनसे मोक्षप्राप्ति नही होती।"[३] जब तक कोई व्यक्ति अन्य आश्रमो के कर्तव्य पूरे नही कर लेता तब तक सन्यासाश्रम मे प्रवेश करने की आज्ञा नही है। महाभारत मे एक कथा आती है जिसमे यह बताया गया है कि ससार को छोडने से पूर्व गृहस्थधर्म मे रहना कितना अधिक आवश्यक है। एक सन्यासी, जिसने बिना विवाह किए ही ससार का त्याग कर दिया था, अपनी परिव्राजक-अवस्था मे चलते-चलते एक ऐसे भयानक स्थान पर पहुचता है जो नरक का गढा था। वहा उस गढे के खुले मुह के अन्दर उसने अपने पिता, बाबा एव अन्य पूर्वजो को एक-दूसरे के आश्रित ऊपर और नीचे लटका हुआ पाया और जिस रस्सी के सहारे वे लटके हुए थे और जो उन्हे उस गढे मे गिरने से रोक रही थी उसे भी एक चूहा काट रहा था जोकि काल (समय) का प्रतीक था। उसके कान मे ऐसे अनेक शब्द पडे जो उसके तब के पूर्वपरिचित थे जब वह केवल एक बच्चा था—"हमे बचाओ! हमे बचाओ!" इस प्रकार समस्त पूर्वजो की लम्बी पक्ति के लिए एकमात्र आशा थी सन्तान-उत्पत्ति। उस वैरागी को शिक्षा मिल गई, वह घर वापस हो गया और उसने विवाह कर लिया।

तब यदि हमे समाज के सदस्य के रूप मे अपने कर्तव्यो का पालन करना है, तो हम कैसे जान सकते है कि हमारे क्या कर्तव्य है? नियम और कानून अपने-आपमे पवित्र और पूर्ण है। अपूर्ण व्यक्तियो के लिए अन्य व्यक्तियो द्वारा निर्मित नियमो को स्वीकार करना आवश्यक है, ऐसे नियम जिसे समाज स्वीकार करता है। मुख्य नियम आचार अथवा रीति-रिवाज है।[४] ये नियम ही आदेशो का रूप धारण कर लेते है और बन्धन-स्वरूप अनुभव होने लगते है, क्योकि ये हमारे स्वभाव की कृत्रिम प्रवृत्तियो पर अकुश का काम करते है।[५] यदि कर्तव्य-कर्मो मे कही विरोध उत्पन्न हो तो हमे महान पुरुषो के आचरण का अनुसरण करना चाहिए। एक ऐसे आकर्षक व्यक्तित्व की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है जो अपने प्रभाव से हमे प्रेरणा दे सके। "तर्क का कही अन्त नही है,

१. शान्तिपर्व, २५, २२, १७४, १६।
२. वही, १७४, ४८, १७७, ४६।
३. १२ : ३२१, ४७।
४. अनुशासनपर्व, १०४, १५६, मनु, १. १०८।
५. देखिए मीमासासूत्र, १. १, २, महाभारत, शान्तिपर्व, २६, ४, २६।

श्रुतियों एवं स्मृतियों में भी परस्पर मतभेद मिलता है, किसी एक विशेष ऋषि की सम्मति प्रामाणिक नहीं है। सत्य और धर्म का तत्त्व बहुत गुप्त कन्दरा गुहा में छिपा है, इसलिए महापुरुष जिस मार्ग पर चलते हों उसी मार्ग पर चलना श्रेयस्कर है।[1] मामूली मनुष्य भी जो आध्यात्मिक ज्ञान रखते हैं यथार्थ में महान हैं।

कुछ सामान्य नियमों का विधान किया गया है, जैसे अति का हर कहीं छोड़ दें।[2] यहां तक कि अत्यधिक सहनशीलता या सहिष्णुता भी वर्जित ठहराई गई है।[3] यद्यपि सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों को अनिवार्य माना गया है तो भी महाभारत ने इनके अपवाद को भी स्थान दिया है। सत्यभाषण का अपना कोई आन्तरिक महत्त्व नहीं है क्योंकि सचाई, जिसका आशय मनुष्यजाति मात्र से प्रेम है, वही बिना किसी शर्त का एकमात्र अन्तिम लक्ष्य है।[4] तो भी नियमों में अपवाद करने में कहां भय उत्पन्न हो सकता है, यह जानते हुए महाभारत ने ऐसे व्यक्तियों के लिए जो सत्यभाषण का उल्लंघन करें प्रायश्चित्त पर बल दिया है।[5]

पाप का अस्तित्व है इसको स्वीकार करके पश्चात्ताप की महत्ता को भी उचित स्थान दिया गया है। सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करनेवाले को कहना चाहिए कि "मैं फिर ऐसा कभी न करूंगा।"[6] भक्ति अथवा ईश्वर के प्रति श्रद्धायुक्त अनुराग को नैतिक पवित्रता को प्राप्त करने का साधन माना गया है। किसी-किसी स्थल पर ऐसा कहा गया है कि हम परब्रह्म को ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं, कर्म के द्वारा नहीं।[7] भले ही कर्म कितने ही अच्छे और कितने ही योग्य क्यों न हों, जब तक मन की एकाग्रता द्वारा अन्तिम मोक्ष की प्राप्ति के लिए पवित्रता नहीं प्राप्त की जाती तब तक हम जन्म-मरण के चक्र में बंधे रहेंगे।[8]

महाभारत कर्म की शक्ति में विश्वास करता है जिसका अर्थ है कि कर्म ही भाग्य का निर्माणकर्ता है। यह उपनिषदों के इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है कि सब प्राणी जन्म से बंधे रहते हैं और ज्ञान के द्वारा ही उन्हें मुक्ति मिल सकती है। कभी-कभी पूर्वजों के कर्मों का भी उनके वंशजों को फल मिलता है।[9] कर्मसिद्धान्त का कर्म करने में मनुष्य की स्वतन्त्रता के साथ समन्वय करने के लिए प्रयत्न किए गए हैं। कर्मसिद्धान्त की सामान्य प्रवृत्ति यह है कि उसके अवश्यम्भावी परिणाम के सम्बन्ध में मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं है, फिर भी उससे त्राण पाने के उपाय हैं। मनुष्य का पुरुषार्थ कर्मफल में परिवर्तन ला सकता है। कर्म की तुलना अग्नि के साथ की गई है जिसे अपने पुरुषार्थ से हम पंखा करके प्रज्वलित करके आग की लपटों में भी परिवर्तित कर सकते हैं अथवा बिलकुल बुझा भी सकते हैं। कर्म के नाना प्रकार बताए गए हैं

1. वनपर्व ३१२, ११५।
2. वनपर्व ... ८, ६ और ८। "अति सर्वत्र वर्जयेत्।"
3. ... ४. शान्तिपर्व १, ६, १५-१६।
5. यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम। शान्तिपर्व ३२६, १३; २८७, १६।
6. ... ८, १४-१६।
7. अनुगीता ३, २३।
8. 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।' शान्तिपर्व २४०, ७।
9. वनपर्व १, ६। मनु भी देखिए ४, १७ और आदिपर्व ८०, ३।

यथा, प्रारब्ध, संचित और आगामी। ऐसे कर्मों के संस्कार जिन्होंने पूर्वजन्म के संचित कर्मों मे से इस जन्म मे इस शरीर के द्वारा अपना फल देना प्रारम्भ कर दिया है, वे प्रारब्धकर्म कहलाते है। पिछले जन्म के शेष बचे हुए कर्मों को संचित कहते है, अर्थात् जो संस्कार अभी बीजरूप मे है। वही संस्कार इस जन्म मे जब कर्मों के द्वारा नये सिरे से प्राप्त होते है तो उन्हे आगामी कर्म कहते है। पिछली दोनो श्रेणियों के कर्म यथार्थ ज्ञान के द्वारा तथा प्रायश्चित्तस्वरूप धार्मिक विधान के द्वारा उलटे जा सकते है, किन्तु प्रारब्ध-कर्मों पर हमारा कोई वश नही है। ईश्वर की कृपा से, संचित और आगामी कर्मों के बल को क्षीण किया जा सकता है। यह भी माना गया है कि किसी भी उद्योग मे सफलता पाना केवल कर्म या प्रारब्ध पर ही निर्भर नही है, बल्कि मनुष्य के अपने पुरुषार्थ पर भी निर्भर है। कर्मसिद्धात की कार्यवाही से ईश्वर की शक्ति में कोई कमी नही आती, क्योंकि कर्मसिद्धात स्वय ईश्वर के स्वभाव को व्यक्त करता है। विष्णु को कर्मसिद्धान्त का साक्षात् मूर्तरूप, उसका आधार एव शक्ति कहा गया है।[1]

परलोक के प्रश्न पर महाभारत मे कोई स्पष्ट विचार नही मिलते। देवो के मार्ग (यान) से पितरो के मार्ग (यान) का भेद बताया गया है। और एक तीसरा स्थान नरक का भी माना गया है। अमरत्व 'एक राजा के जीवन के समान गौरवशाली एव वैभव-सम्पन्न जीवन' नही है।[2] यह एक स्वर्ग के नित्य आनन्द का जीवन है, जिसमे भूख, प्यास, मृत्यु अथवा वृद्धावस्था सम्बन्धी किसी प्रकार का दुःख नही है। यह परम आनन्द की अन्तिम अवस्था है जो एक योगी प्राप्त करता है। एक योद्धा के लिए 'इन्द्र के स्वर्ग मे आनन्द'-प्राप्ति का वायदा किया गया है। नक्षत्रो को मृत ऋषियो का आत्मास्थानीय समझा जाता था। अर्जुन की दृष्टि मे वे युद्ध मे मारे गए वीरपुरुष थे। निःसन्देह उच्च-तम लक्ष्य ईश्वर के साथ मिलना ही था। सांख्य के इस सिद्धान्त का भी उल्लेख किया गया है कि आत्मा इस आनुभविक जगत् से उस समय मुक्त हो जाती है जब यह भौतिक प्रकृति से पृथक्त्व का अनुभव कर लेती है। "जब एक शरीरधारी आत्मा अपने स्वरूप को ठीक-ठीक पहचान लेती है, तब उसके ऊपर कोई शासक नही रहता, क्योंकि वही तीनो लोको की स्वामी है। वह अपनी इच्छा के अनुसार नाना प्रकार के शरीर धारण कर सकती है" वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाती है।"[3]

११

श्वेताश्वतर उपनिषद्

कुछ परवर्ती उपनिषदें इसी काल की है और उनका आशय प्राचीन उपनिषदो की शिक्षाओ का नये सिरे से प्रचार करना था। इन परवर्ती उपनिषदो को देखने से यह लक्षित होता है कि इस मध्यवर्ती काल मे विचार के क्षेत्र मे कहा तक प्रगति हुई और देश के मस्तिष्क का कहा तक विकास हुआ। किसी न किसी धर्म विशेष अथवा दार्शनिक सम्प्रदाय के प्रति उनका झुकाव और उनसे सम्बन्ध देखा जाता है। ऐसी उपनिषदें है जो

१ महाभारत, १२ १४६। २ ७.७१, १७। ३. अनुगीता, ४।

विशेषरूप से यौगिक क्रियाओं की शिक्षा देती हैं अथवा सांख्य के सिद्धांतों अथवा वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन करती हैं। जाबाल तपस्या की पराकाष्ठा का समर्थन करते हुए हम सब प्रकार की इच्छाओं को उखाड़ फेंकने की प्रेरणा देता है। मैत्रेयी उपनिषद् का झुकाव भी निराशावाद की ओर है।[1] यह सांख्य और योग दोनों के विचारों का संश्लेषण करता है। इसके अन्दर सांख्यदर्शन के चौबीस तत्त्वों को सर्वोपरि परब्रह्म से उद्भूत हुआ बताने का प्रयत्न किया गया है। मैत्रेयी ध्यानबिन्दु और योगतत्त्व उपनिषदें योग की विधि की अत्यधिक प्रशंसा करती हैं। अमृतबिन्दु उपनिषद् शिक्षा देती है कि जीव ब्रह्म के ही अंग हैं। इस अर्थ में कि जैसे सीमाबद्ध देश एक ही सार्वभौम देश के भाग हैं। यह एक प्रकार से अद्वैतपरक व्याख्या करती है। यही यथार्थ में अखण्ड ब्रह्म है जो समस्त विचार से परे है और निष्कलंक है। यह जान लेनेवाला व्यक्ति कि वही ब्रह्म मैं हूं, निर्विकार हो जाता है। वह एक ही विभिन्न उपाधियों अथवा मर्यादाओं के कारण नानारूप प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जल के अन्दर नानारूप प्रतीत होता है इसी प्रकार यह एक होते हुए भी नानारूप प्रतीत होता है।[2] कैवल्य उपनिषद् संन्यास अथवा संसार के त्याग को एकमात्र मोक्ष का मार्ग बताती है।[3] यह ज्ञान पर बल देती है और तर्क के आधार पर प्रतिपादन करती है कि आत्मा पदार्थों के ऊपर निर्भर नहीं है।[4] जागरित स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जो कुछ सुख का साधन है वह तथा सुखानुभव करनेवाला और सुख का अनुभव स्वयं भी इन सबसे भिन्न मैं हूं जो साक्षी विशुद्धबुद्धिस्वरूप तथा नित्य उत्तम या कल्याणकारी है।[5] कुछ अन्य उपनिषदें चिन्तन के ऊपर एवं एक शरीरधारी ईश्वर की पूजा तथा प्रतीक में ध्यान लगाने पर भी बल देती हैं। ऐसी भी उपनिषदें हैं जो प्रतिपादन करती हैं कि विष्णु अथवा शिव सब विश्व का सर्वोपरि प्रभु व स्वामी है। वे भक्तिमार्ग पर बल देती हैं। महानारायण रामतापनीय श्वेताश्वतर कैवल्य तथा अथर्वशिरस उपनिषदें उक्त मत के दृष्टांत हैं। इनमें से अधिकतर मुख्यतः सांख्ययोग एवं वेदान्तदर्शनों के विरोधी आदेशों का परस्पर समन्वय करने में ही व्यस्त हैं और निश्चय ही उक्त दर्शनग्रन्थों के निर्माणकाल के परवर्ती काल में बनी हैं। यहां पर श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्तर्गत विषयों का वर्णन करना उपयोगी सिद्ध होगा क्योंकि इसमें हम भगवद्गीता के ही समान रचना पाते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इस उपनिषद् में शिव को सर्वोपरि प्रभु कहा है।

यह उपनिषद् बौद्धकाल के पीछे की है क्योंकि इसमें सांख्य और योग दोनों दर्शनों के पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं। इसमें कपिल के नाम का उल्लेख है यद्यपि शंकर का विचार है कि उक्त नाम से हिरण्यगर्भ का आशय है जो कपिल वर्ण अथवा सान के रंग का है। तीन रंग वाली[6] अजा या बकरी को कहीं-कहीं सांख्यदर्शन के तीन गुणों का प्रतीक माना गया है। किन्तु शंकर की व्याख्या के अनुसार यह उपनिषदों के तीन प्रारम्भिक तत्त्वों अग्नि जल एवं पृथ्वी का उल्लेख है। उपनिषद् का दूसरा अध्याय योगदर्शन के

१ १ २-४।   २ ८ और १२।   ३ १ १।
४ ६ और १।   ५ १८।   ६ ४ ५।

बार-बार के उल्लेखो से भरपूर है। 'लिङ्ग' शब्द का प्रयोग सम्भवत. न्यायशास्त्र के अर्थों मे किया गया है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् के रचयिता को बौद्धधर्म की काल, स्वभाव अथवा कर्मशृंखला, सयोग अथवा तत्त्वो किंवा पुरुष आदि की कल्पनाओ का भी ज्ञान था। उच्चतम यथार्थसत्ता के विषय मे प्रतिपादन करते समय इस उपनिषद् मे ऐसे-ऐसे नामो का उपयोग किया गया है जैसे हर, रुद्र, शिव आदि।[2] ब्राह्मणधर्म के सर्वमान्य देवता को ब्रह्म के गुणो से सुभूषित किया गया है।

ड्यूसन श्वेताश्वतर उपनिषद् को 'ईश्वरवाद, (अस्तित्ववाद) का कीर्तिस्तम्भ' कहता है, क्योकि यह एक ऐसे शरीरधारी ईश्वर के विषय मे उपदेश देती है जो सृष्टि का स्रष्टा है, न्यायाधीश है और विश्व का रक्षक है। हर, जो स्वामी या प्रभु है, जीवात्माओं एव भौतिक प्रकृति पर शासन करता है। यह उपनिषद् प्रकृतिवाद की कल्पना का खडन करती है जो 'स्वभाव' को ही विश्व का कारण मानती है।[3] स्वभाववाद की कल्पना का विश्वास है कि विश्व की उत्पत्ति एव स्थिति पदार्थोंकी स्वाभाविक और आवश्यक क्रियाओ द्वारा होती है, और यह उनके अपने गुणो के कारण है। इस प्रकार के मत मे सर्वोपरि सत्ता को मानने की कोई आवश्यकता नही रहती।

ईश्वर की यथार्थता तर्क से सिद्ध नही की जा सकती। इसे केवल श्रद्धा तथा समाधि के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है।[4] "जब अपनी एकाग्रता मे मग्न होकर एक योगी अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप के द्वारा, जो प्रकाश की भाति ब्रह्म के—जोकि अजन्मा, नित्य एवं भौतिक प्रकृति के समस्त प्रभावो से मुक्त है—यथार्थ स्वरूप को देखता है तो वह सब बन्धनो से छूट जाता है।"[5] "उसका ऐसा रूप नही है जो आखो से देखा जा सके। ऐसे व्यक्ति जो उसका ज्ञान हृदय एव बुद्धि के द्वारा प्राप्त करते है क्योकि वह हृदय मे स्थित है, वे अमर हो जाते है।"[6] वह भौतिक प्रकृति एव आत्मा का स्वामी है, बन्धन एव मोक्ष का कारण है, सब पदार्थो मे नित्य है, स्वयम्भू है।[7] दैवीय अन्तर्यामिता को भी स्वीकार किया गया है। उसका निवास मनुष्य के हृदय मे है और वह सब प्राणियो मे अन्तर्निहित है। "तुम ही स्त्री हो, तुम ही पुमान हो, तुम ही युवा एव युवती भी हो, तुम ही अपनी लाठी के ऊपर कापते हुए वृद्धपुरुष हो, यह विश्व तुम्हारा रूप है।"[8]

इस उपनिषद् को अशरीरी ब्रह्म की यथार्थता का भी ज्ञान है, जिसके तीन रूप हैं ईश्वर, ससार व जीवात्मा। "जहा अन्धकार नही है, जहा न तो दिन है और न रात, न सत्ता है और न असत्ता, वहा भी वह सर्वमान्य एकाकी है।"[9] उसे 'निर्गुण' कहा जाता है,

१. ६ . ६ ।　　२. १ १०, ३ . ४ और ७, ४ . १० और १२ ।
३ ६ १ ।　　४. ६ ८३ ।
५. २ १५ ।　　६. ४ २० ।
७ ६ . १६, ६ . ७, ६ . १३ ।
८. ३ : ११, १४, १६, ४ . ३, देखिए महानारायण भी, २ ७, कैवल्य, ६ और १० ।
९. ४ : १८ ।

यद्यपि ईश्वरवादी शाम्याचार्य का कहना है कि इस शब्द से तात्पर्य यह है कि सर्वोपरि परब्रह्म त्रिगुणों से रहित है।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् परिवर्तनशील संसार के ऊपर एक सर्वोपरि ब्रह्म के यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार करता है[2] जो देश से सीमित नहीं है[3] अविचल है परिणमन के परिवर्तन तथा कारण कार्य भाव के बन्धन से भी स्वतन्त्र है।[4] यह विशुद्ध मौलिक चेतना है जिसके प्रकाश से समस्त विश्व प्रकाशित है।[5] इसका इस प्रकार वर्णन किया गया है कि यह अखण्ड है क्रियारहित है दोषरहित है अज्ञान अथवा दुःख से भी रहित है।[6] इस सर्वोपरि सत्ता से तीन जन्मरहित तत्त्व निकले हैं सर्वज्ञ ईश्वर अल्पशक्ति जीवात्मा और प्राकृत जगत् जो अपने अन्दर सुख और दुःख की सामग्री को धारण करता है।[7] ये तीनों परमार्थरूप में भिन्न नहीं हैं। ये एक ही ब्रह्म के तीन रूप हैं। उपनिषदों का निरपेक्ष परब्रह्म सबसे ऊंचा तत्त्व बन जाता है और व्यक्तियों के अन्दर वह अपना एक व्यक्तित्व रखता है। शरीरधारी प्रभु सीमित ब्रह्म है जो जीव और प्रकृति का सनातन आधार है।[8] सब प्रकार के ईश्वरवाद में इस प्रकार की सन्दिग्धार्थता है। मानवीय चेतना की धार्मिक आवश्यकताओं की माँग है कि परमतत्त्व ही श्रेयस्कर है[9] सबका मित्र[10] एवं आश्रयस्थान है इच्छित पदार्थों का दाता है।[11] चूंकि एक अशरीरधारी ब्रह्म का चिन्तन करना कठिन है इसलिए एक शरीरधारी प्रभु की कल्पना की गई।[12] ब्रह्म चेतनामय बुद्धि है जो अखण्ड है एवं अशरीरी है। साधक को अपनी साधना में सहयोग देने के लिए उसके विषय में भिन्न भिन्न प्रकार के प्रतीकों एवं आकृतियों की कल्पना कर ली गई है।[13] श्वेताश्वतर शरीरी एवं अशरीरी दोनों का एकात्म्य करता है यद्यपि यह शरीरी को अशरीरी ब्रह्म की रचना मानता है यदि ऐसे क्रम के लिए रचना शब्द का प्रयोग उचित समझा जा सके। संसार के किवा उसके मनुष्यों के सम्बन्ध में परब्रह्म शरीर धारण कर लेता है। जब तक एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में लिप्त रहता है परब्रह्म एक अतिरिक्त एवं शरीरी ईश्वर है। किन्तु जब वही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का आत्मसमर्पण कर देता है तब दोनों एक हो जाते हैं।

हमें माया के सिद्धान्त से भी वास्ता पड़ता है और ईश्वर को माया का नियन्त्रणकर्ता बताया जाता है। साख्य की व्याख्या को कुछ परिवर्तनों के साथ स्वीकार किया गया है। प्रकृति एक स्वतन्त्र शक्ति नहीं रह जाती किन्तु स्वयं ईश्वर का ही स्वभाव बन जाती है।[14] संसार की रचना ईश्वर की अपनी शक्ति (देवात्मशक्ति) के द्वारा हुई।[15] जैसे एक मकड़ी अपना जाला अपने ही शरीर से तागे निकालकर बुनती है इसी प्रकार एकाकी ईश्वर ने संसार रूपी तत्त्व को अपने ही अन्दर से उत्पन्न किया और उसमें रम

१ ६ ११। २ २ १४। ३ ३ २०।
४ ५ १ ६ ८। ५ ६ १४। ६ ६ १६।
७ १ ८। ८ १ १२ निविर भ्रममेन्द्र। और भी देखें १ ७।
९ मधुकत्तमाव्द्। १० ३ ५। ११ ३ १७।
१२ ४ ११। १ कैवल्य २४।
१४ स्कन्दायनाय १ ७। देखिए कैवल्य १८।
१५ ४ ९–१०। १६ १ ३।

गया।''[1] ईश्वर एक से अनेक हो जाता है।[2] ऐसा तो कोई सुझाव इस उपनिषद् में नहीं पाया जाता जहां संसार को भ्रान्तिरूप प्रतीति कहा गया हो। यह स्वीकार किया गया है कि यह संसार सर्वोपरि यथार्थसत्ता को हमारी दृष्टि से ओझल रखता है।[3] संसार माया है, क्योंकि हम नही जानते कि अशरीरी ब्रह्म किस प्रकार ईश्वर, संसार एवं आत्माओं के रूप मे परिणत हो जाता है। माया को दैवीय शक्ति के अर्थों मे भी स्वीकार किया गया है, प्रकृति को माया कहा गया है क्योंकि स्वत चेतन ईश्वर समस्त संसार को अपनी की शक्ति द्वारा विकसित करता है। माया को अविद्या के अर्थों मे अंगीकार किया गया है, क्योंकि यह संसार रूपी नाटक या प्रदर्शन अपने अन्दर विद्यमान आत्मा को छिपाए हुए है। ये भिन्न-भिन्न भावार्थ ऐसे नही हैं जिनका समन्वय न किया जा सके, यद्यपि सावधानी से भेद न करने से अव्यवस्था अवश्य आएगी।

अनेक कल्पों की कल्पना को, उपनिषदों मे दिए गए सृष्टि के विवरणों और ससार की अनादि-अनन्तता के मध्य समझौते के विचार से, स्थान दिया गया। संसार की अनादि-अनन्तता के सिद्धांत के अनुसार, प्रत्येक जन्म के कर्म अगले जन्म का कारण बनते हैं, इस प्रकार प्रत्येक जीवन अपने मे पूर्वजीवन की कल्पना करता है, और इस प्रकार से कोई भी जीवन पहला नही हो सकता और इसीलिए किसी विशेष समय पर आकर सृष्टि का निर्माण हुआ हो, यह नही बनता। फिर भी हम सुनते है कि सृष्टि की रचना एक ऐसी घटना है जो अनन्त काल से समय-समय पर होती चली आई है। एक बार का निर्माण किया हुआ विश्व एक पूरे कल्प तक रहता है जिसे संसार का काल कहते हैं और उसके बाद संसार वापस ब्रह्म मे विलीन हो जाता है। और फिर उसीके अन्दर से प्रादुर्भूत होता है, आदि-आदि। दुबारा सृष्टि के होने का कारण यह है कि जीवात्मा के कार्य फिर भी शेष बचे रहते हैं और उनकी माग नई सृष्टि के लिए होती है अथवा यों कहा जाए कि उन कर्मों की समाप्ति के लिए नये जीवन की आवश्यकता होती है। समय-समय पर सृष्टि के प्रलय और पुनर्रचना का विचार भगवद्गीता, श्वेताश्वतर उपनिषद् एवं महाकाव्यों की विचारधारा मे एक समान पाया जाता है।[4] ''वह सब प्राणियों मे निवास करता है और प्रलयकाल मे रुद्ररूप धारण करके वही प्रभु सब रचित पदार्थों को छिन्न-भिन्न करके टुकडे-टुकडे कर देता है।''[5] ''वह ईश्वर है जो कितने ही कालों मे एक के पीछे दूसरा जाल आकाश मे फैलाता है और फिर उसको समेट लेता है।''[6] परवर्ती उपनिषदों ने इस विचार को बहुत महत्त्व दिया है। ''यही वह है जोकि जब संसार का प्रलय होता है तब उस सबके निरीक्षण के लिए एकमात्र शेष रह जाता है और यह भी वही है जो फिर से आकाश के गह्वर मे पवित्र आत्माओं को जीवित करता है।''[7] उपनिषदों के अनुसार, केवल एक सृष्टि के निर्माण के ही लिए बार-बार दोहराई जानेवाली प्रक्रिया मिलती है, अर्थात् प्रत्येक प्रलय के पश्चात् पुन सृष्टिरचना होती है जिसका निर्धारण जीवात्माओं के कर्मों के

१. ६ १० ।
२. ६ १२ । ''एक रूप बहुधा य करोति ।''
३ ५ १ ।
४ भगवद्गीता, ९ ७, और भी देखिए, ८ १७–१९ ।
५ ३ २, श्वेताश्वतर उप० ।
६ ५ ३, और भी देखिए, ६ ३–४ ।
७ मैत्रेयी उपनिषद्, ६ . १७ ।

कारण होता है।

श्वेताश्वतर प्रतिपादित धर्म ईश्वरवादी होने के कारण उपासक एवं उपास्य में अर्थात् जीवात्मा एवं ईश्वर में भेद करता है।[१] यद्यपि यह भेद केवल उपाधि के कारण है। ईश्वर में ध्यान लगाने से और अपने को उसके सुपुर्द कर देने से मनुष्य का अज्ञान दूर हो जाता है।[२] भक्ति के ऊपर बार बार बल दिया गया है और कहा गया है कि ईश्वर की अनुकम्पा ही मनुष्य के मोक्ष का कारण हो सकती है।[३] किन्तु ईश्वर ऐसा मनमौजी नहीं है और इसलिए अपनी अनुकम्पा प्रदान करने में विशेष सिद्धान्तों का अनुसरण करता है। इसके लिए प्रपत्ति अथवा आत्मसमर्पण का भाव होना चाहिए। ध्यान और पूजा में परस्पर विरोध प्रतीत होता है। इस परब्रह्म को नित्य समझना चाहिए और यह सदा ही मनुष्य की अपनी आत्मा में विद्यमान है क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य किसीका ज्ञान प्राप्त करने का नहीं है। सुखोपभोग करनेवाला व्यक्तिगत जीवात्मा सुखदायक पदार्थ और सुख का भोग करानेवाला—ये तीनों ही ब्रह्म हैं इस प्रकार से जो जान लेता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है।[४]

मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा को तीन में से किसी एक मार्ग का आश्रय लेना होता है अर्थात् देवताओं का मार्ग (यान) जो ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है पितरों का मार्ग (यान) जो अच्छे कर्मों से प्राप्त होता है और नीचे का मार्ग जो दुष्टचरित्र व्यक्तियों के लिए है।[५] सृष्टि के रचयिता का ज्ञान प्राप्त करने पर हम सब बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। उस समय तक हम अपनी इच्छाओं के स्वरूप के अनुरूप नाना प्रकार की शरीराकृतियां धारण करते होते हैं। 'तब तक इस ब्रह्मचक्र में—जो सब प्राणियों का आधार और अन्तिम लक्ष्य भी है जो अनन्त है—तीर्थयात्री के रूप में जीवात्मा इतस्ततः भ्रमण करती है जब तक वह अपने तथा सर्वोपरि शासक में भेद करती है किन्तु जब ब्रह्म इसको स्वीकार करता है तब यह अमरत्व को प्राप्त करती है।'[६]

१२

मनुस्मृति

भगवद्गीता के विषय का वर्णन से पूर्व हम संक्षेप से मनुस्मृति के विषय का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं क्योंकि स्मृतियों के अन्दर मनुस्मृति को ही सबसे ऊंचा स्थान दिया गया है। इस विधि-ग्रन्थ के रचयिता का वेदों में जिस मनु[१] का उल्लेख आया है उसके साथ सम्बद्ध करने के अनेक प्रयास किए गए हैं। ऋग्वेद में इसे प्राय पिता मनु के नाम से पुकारा गया है।[२] वह सामाजिक एवं नैतिक व्यवस्था का संस्थापक था जिसने

१ ४ ६-७, ५ ८। २ १ १० ४ ४-६।
३ ३ २ और भी देखिए १ १६, २ २ ३, १२ ६ ६ और २१।
४ ६ १८। ५ १ १२। ६ ५ ७।
७ ५ ११। ८ १ ६। ६ ऋग्वेद ८ २७।
१ ऋग्वेद १ ८ १६ १ १२४ २, २ ३३, १३।

धर्म को स्थिररूप दिया। वही मनुष्यजाति का पूर्वपुरुष या कुलपुरुष हुआ। यद्यपि वह व्यक्तिगत रूप मे कानून का विधान बनानेवाला न भी रहा हो, उसके नाम से जो धर्मशास्त्र प्रचलित है उसे बहुत प्रतिष्ठा के साथ देखा जाता है। "मनु की स्मृति के साथ जिस स्मृति का विरोध होगा उसे स्वीकार नही किया जा सकता।"[1]

सर विलियम जोन्स ने मनुस्मृति का समय बहुत प्राचीन अर्थात् १२५० वर्ष ईसा-पूर्व का निर्धारित किया है। श्लेगल का मत है कि इसका काल १००० वर्ष ईसापूर्व से पीछे का नही हो सकता। मोनियर विलियम्स इसे ५०० वर्ष ईसापूर्व मे रखता है।[2] वेबर का विचार है कि मनुस्मृति महाभारत के कुछ भागो के भी पीछे बनी। इसका रचयिता वैदिक साहित्य मे अभिज्ञ है और वह पहले के विधिनिर्माताओ एव परम्पराओ का उल्लेख करता है। वेबर, मैक्समूलर और बर्नल आदि विद्वानो का ऐसा विचार है कि मानव-धर्मशास्त्र का वर्तमान पद्यबद्ध सस्करण पहले के गद्यबद्ध ग्रन्थ का श्लोको मे रूपान्तर है। कहा जाता है कि "यह मानवजाति की कृति है, जो कृष्ण यजुर्वेद के मैत्रायणीय सम्प्रदाय के छ उपविभागो मे से एक है और जिनके कुछ अनुयायी आज भी बम्बई प्रदेश मे विद्य-मान हैं।" बर्नल इस मत के समर्थन मे व्हिटनी का उद्धरण देता है।[3] मनुस्मृति की शैली एव भाषा की दृष्टि से उसका काल महाकाव्यकाल बताया जाता है। महाभारत और पुराणो के ही समान यह पुस्तक भी एक सर्वमान्य प्रकृति की है, जिसका निर्माण ऐसे व्यक्तियो के लिए किया गया है जोकि आदिस्रोत (वेद) तक नही पहुच सकते। यह कानून एव धर्म के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध को दर्शाती है। इसका मुख्य आशय दार्शनिक नही है। मेधातिथि की सम्मति मे, दार्शनिक अश न्यूनाधिक रूप मे भूमिका-मात्र है। पहले और दूसरे अध्याय मे जो दार्शनिक विचार पाए जाते है वे वही है जो पुराणो के हैं।

जैसाकि कोलब्रुक अपने प्रबन्धो मे कहता है, मनु मे हमे वेदान्तदर्शन के साथ मिश्रित, पौराणिक साख्य मिलता है।[4] मनु के सृष्टिरचना के वर्णन मे कोई अपनी विशेषता नही है।[5] यह ऋग्वेद की सृष्टिरचना सम्बन्धी ऋचा मे दिए गए वर्णन पर ही आश्रित है। परम यथार्थता ब्रह्म है जो शीघ्र स्वयम्भू हिरण्यगर्भ एव अन्धकार के अन्दर एक द्वैत को अभिव्यक्त करता है। "उसने नाना प्रकार के प्राणियो को अपने निजी शरीर मे उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए सबसे पूर्व जलो को बनाया और अपने बीज का उनके अन्दर आधान किया। वह बीज एक सुवर्ण के अण्ड मे परिणत हो गया जो सूर्य के समान उज्ज्वल था। उसी ब्रह्माण्ड मे वह स्वयं भी ब्रह्मा के रूप मे प्रादुर्भूत हुआ जो समस्त ससार का पूर्वपुरुष है। उस एकमात्र दैवीय शक्ति ने जो उस ब्रह्माण्ड के अन्दर विद्यमान थी, उसे दो भागो मे विभक्त किया जिससे उसने द्युलोक एव मर्त्यलोक का निर्माण किया, और उनके मध्य मे, अर्थात् मध्यस्थ वायुमण्डल मे, क्षितिज के आठ लक्ष्यबिन्दुओ एव जलो के

१ देखिए तैत्तिरीयसहिता, २ . २, १०, २, ३ १, ६, ४।
२. 'इण्डियन विज़डम', पृष्ठ २१५।
३. बर्नल : 'द आर्डिनेंस आफ मनु', इण्ट्रोडक्शन, पृष्ठ १८।
४ 'मिस्लेनियस एसेज़', खण्ड १, पृष्ठ २४६।
५ १ : ५, और आगे।

नियस्थान का बनाया उन्हींसे उसने मन की सष्टि की, आत्मभाव की सष्टि की और तब उसने महान तत्त्व आत्मा और अन्य सब पदार्थों को जो त्रिगुणयुक्त हैं और पाचो इन्द्रियों को बनाया जो सवेदनाओं के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करती हैं। इस ग्रन्थ की अतिम अध्यात्मशास्त्र-सम्बन्धी स्थिति के सम्बन्ध में अनेक विवाद हैं पहले यह सब अदृष्ट अधकारमय था जिसमे भिन्न भिन्न वस्तुओं का पार्थक्य नहीं लक्षित होता था, तर्क जिसका विचार नहीं कर सकता था जो अविनेय था जिसका सर्वांग प्रगाढ निद्रा में सोए हुए के समान था।[1] अधकार (तमस) को साधारणत मूल प्रकृति कहा गया है जो साख्यदर्शन की मूल वस्तु रही है। तमोभूतम् का अर्थ है इस प्रकृति में निमग्न। राधवानन्द जो एक वेदान्ती भाष्यकार है तम का अर्थ अविद्या करते हैं। कहा गया है कि ससार का विकास हिरण्यगर्भ की कारणकार्यक्षमता के द्वारा हुआ उस व्यवस्था में जो साख्यदर्शन का अभिमत है। ससार को हिरण्यगर्भ का शरीर भी कहा जाता है और आत्माओं को उसकी सष्टि बताया गया है।[2] सृष्टिरचना के वर्णन की व्याख्या स्वय समालोचकों के ही मत से विविध प्रकार की है। गुणो के सिद्धान्त[3] त्रिमूर्ति के विचार[4] और सूक्ष्म शरीर के विचार पर भी ध्यान देना चाहिए।

मनुस्मृति मूलरूप मे एक धर्मशास्त्र है नैतिक नियमों का एक विधान है। इसने रिवाजों एव परम्पराओं को ऐसे समय मे जबकि उनका मूलोच्छेदन हो रहा था गौरव प्रदान किया। परम्परागत सिद्धान्त को शिथिल कर देने से रूढ़ि और प्रामाण्य का बल भी हल्का पड गया। स्वच्छन्द भावात्मकता का जवाब साधारण बुद्धि के द्वारा यही दिया जाता है कि उसे प्रतिष्ठित समझा गया है। मनु के आदेशों का आधार हैं व प्राचीन प्रथाए एव आचार जो गगा के किनारों पर बस गए हिन्दू लोगों मे प्रचलित थे। वह वैदिक यज्ञों को मान्यता देता है और वर्ण (जन्मपरक जाति) को ईश्वर का आदेश मानता है।[5] वह तपश्चर्या के पक्ष मे है किन्तु साथ मे यह भी कहता है कि हम ऐसी इच्छाओं को जो धर्म के विरुद्ध हैं त्याग कर देना चाहिए। उसके अन्दर बहुत-सी दोषपूर्ण बातों के साथ कहीं-कहीं प्रतिभा एव अन्तर्दष्टि का आभास भी मिलता है। माता बनने के लिए स्त्रियों की सष्टि की गई और पिता बनने के लिए पुरुषों की।[6] केवल उसी मनुष्य को हम पूर्ण कहते हैं जिसकी स्त्री व स्वय और उसकी सन्तान वर्तमान है। स्त्री के ही लिए पति होता है।[7] सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह अथवा पालन सन्यास ग्रहण और प्रायश्चित्त देकर होना चाहिए। द्विजाति का ऐसा पुरुष जो परममोक्ष प्राप्त करना चाहता है किन्तु जिसने वेदों का अध्ययन नहीं किया तथा सन्तानोत्पत्ति नहीं की और यज्ञ भी नहीं किए वह नीचे की ओर गिरकर पतित हो जाता है।[8] एकाग्रमन होकर अध्ययन करना ही ब्राह्मण का तप है क्षत्रिय के लिए तप है निर्बलों की रक्षा करना व्यापार वाणिज्य तथा

१ आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वत ॥ (१ ५)

२ १२ २४ । ३ १ १० । ४ १२ १६-१७ ।
५ ३ ७६ । ६ १ ३१ । ७ ४ १७२ ।
८ ६ ६६ । ९ ९ ४५ । १० ६ ३७ ।

कृषि वैश्य के लिए तप है और शूद्र के लिए अन्यों की सेवा करना ही तप है।"[1]

नैतिक आचरण वह है जिसमें सत्त्वगुण की प्रधानता हो और जो आगामी जीवन का मार्ग न बनाए।[2] आदर्श वीर वही है जिसने सबके ऊपर विजय पा ली हो। दूसरे मनुष्यों की अधीनता का नाम दुःख है, और सुख अपनी निजी अधीनता है।[3] "ऐसा व्यक्ति जो केवल अपनी आत्मा के लिए यज्ञ करता है, किन्तु सब उत्पादक प्राणियों में भी आत्मा को समानरूप से जानता है, और सब उत्पादक प्राणियों को अपनी आत्मा में जानता है, वह आत्मशासक एवं स्वतःप्रकाश बन जाता है।"[4] हमारे कर्मों का आगामी जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा, नैतिकता इसकी अपेक्षा करती है। ऐसा आचरण जिसकी प्रवृत्ति उत्तम जन्म दिलाने की ओर है, सदाचार का कर्म है, इसी प्रकार जिस आचरण से निकृष्ट जीवन मिलेगा वह दुराचार का कर्म है। किन्तु ये दोनों ही सर्वोत्कृष्ट कर्म से हीन हैं जो हमें पूर्णता तक पहुंचने अथवा पुनर्जन्म से छुटकारा दिलाने में सहायक होता है।

हम यह नहीं कह सकते कि मनु ही एकमात्र उस सुदृढ़ व्यवस्था का पक्षपोषक है जिसकी स्मृति में उन्नति के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। उसके अनुसार, उचित एवं अनुचित के निर्णय के चार साधन हैं : वेद, स्मृति, आचार और अपनी अन्तरात्मा। पहले तीन साधन सामाजिक व्यवस्था को बनाते हैं किन्तु सामाजिक उन्नति अन्तिम साधन के द्वारा ही निश्चित है। हम ऐसा काम कर सकते हैं जो हमारे अपने अन्तःकरण को प्रिय प्रतीत हो (आत्मनः प्रियम्)।[5] हमें ऐसा कर्म करने की आज्ञा है जिसका तर्क द्वारा निश्चय हो सके।[6] मनु अन्तस्तल की साक्षी को, अर्थात् हमारे अन्दर अवस्थित ईश्वर की वाणी को, जिसे अन्तरात्मा कहा जाता है, स्वीकार करता है।[7]

उद्धृत ग्रन्थ

तेलंग : 'भगवद्गीता, अनुगीता आदि : सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खण्ड ८।
हॉपकिन्स : 'द ग्रेट एपिक आफ इण्डिया', अध्याय ३।
सी० वी० वैद्य : 'एपिक इण्डिया', अध्याय १७।
आर० जी० भण्डारकर : 'वैष्णविज्म, शैविज्म' आदि।
हेमचन्द्र राय चौधरी : 'अर्ली हिस्टरी आफ द वैष्णव सैक्ट'।
बुहलर : 'द लॉज ऑफ मनु : सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खण्ड २५।

१. देखिए भगवानदास—'हिन्दू सोशल आर्गेनिजेशन' और 'इण्टरनेशनल जर्नल आफ एथिक्स', अक्तूबर, १९२२, 'हिन्दूधर्म' शीर्षक लेख।
२. १२ : ८९।
३. ४ : १, १६०। "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।"
४. १२ : ९१, और भी देखें ११८।
५. २ : १२।
६. मनःपूतं समाचरेत्, ६ : ४६।
७. ४ : १६१।

नवां अध्याय

भगवद्गीता का आस्तिकवाद

भगवद्गीता—गीता का काल—अन्य पद्धतियों के साथ सम्बन्ध—गीता का उपदेश—परम यथार्थता—परिवर्तनमय जगत्—जीवात्मा—नीतिशास्त्र—ज्ञानमार्ग—भक्तिमार्ग—कर्ममार्ग—मोक्ष।

१

भगवद्गीता

भगवद्गीता, जो महाभारत के भीष्मपर्व का एक भाग है, संस्कृत-साहित्य का एक अत्यन्त लोकप्रिय धार्मिक काव्य है। यह "सबसे अधिक सुन्दर और यथार्थ अर्थों में सम्भवतः एकमात्र दार्शनिक गीत है जो किसी ज्ञात भाषा में लिखा गया है।"[1] यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र का समन्वय हुआ है। इसे श्रुति तो नहीं समझा जाता और न ईश्वरीय प्रेरणास्वरूप धर्मशास्त्र ही माना जाता है, किन्तु स्मृतियों में इसकी गणना होती है और इसे परम्परा भी कह सकते हैं। यदि किसी ग्रन्थ का मनुष्य के मन पर जितना अधिकार है, इसे उस ग्रन्थ के महत्त्व की कसौटी समझा जाए तो कहना होगा कि गीता भारतीय विचारधारा में सबसे अधिक प्रभावशाली ग्रन्थ है। मोक्ष के विषय में इसका सन्देश सरल है। जहां एक ओर केवल धनवान व्यक्ति ही अपने यज्ञों के द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट कर सकते थे और केवल सभ्य पुरुष ही ज्ञान के मार्ग का अनुसरण कर सकते थे, गीता एक ऐसी विधि बतलाती है जो सबकी पहुंच के अन्दर है, और वह है भक्ति अर्थात् ईश्वर में श्रद्धा का भाव। इसका रचयिता कवि गुरु को ही साक्षात् ईश्वर का रूप देता है जो मनुष्यजाति के अन्दर उतर आया है। वह मनुष्यों के प्रतिनिधिरूप अर्जुन को उसके जीवन के एक बड़े संकट के समय में उपदेश देता है। अर्जुन युद्धक्षेत्र में आता है जिसे अपने कार्य की उचितता में पूरा विश्वास है और जो शत्रु से युद्ध करने को उद्यत है। एक मनोवैज्ञानिक क्षण में वह अपने कर्तव्यपालन में झिझक का अनुभव करता है। उसका अन्तःकरण उद्विग्न हो गया, उसका हृदय दारुण दुःख के मारे फटने लगा और उसकी मानसिक अवस्था ऐसी हो गई जैसे किसी छोटे-से राज्य में विप्लव हो गया हो। यदि हिमा

1. विल्हेल्म वॉन हम्बोल्ट।

करना पाप है तो ऐसे व्यक्तियो की हिंसा तो घोरतम पाप है जिनके प्रति हमारा प्रेम और पूज्यभाव है। अर्जुन एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण है जो सघर्ष करता हुआ इस जगत् के बोझ और रहस्य को अनुभव करता है। वह अभी तक अपने अन्दर इतना आत्मबल सग्रह नहीं कर सका जिसके आधार पर वह न केवल अपनी इच्छाओ एव वासनाओ को ही निस्सारता को अनुभव कर सके अपितु अपने प्रतिपक्षी जगत् की असली मर्यादा को भी समझ सके। अर्जुन की निराशा एक साधारण निराश व्यक्ति की क्षणिक मनोवृत्ति नही है बल्कि एक प्रकार की शून्यता की सवेदना, एक प्रकार की निश्चेष्टता है जो हृदय के अन्दर अनुभव होने लगती है और जिसके कारण वस्तुओ की नि सारता प्रतीत होने लगती है। अर्जुन आवश्यकता हो तो अपना जीवन भी त्याग देने के लिए उद्यत है। वह यह नही निश्चय कर पा रहा कि उसके लिए क्या करना उचित है। उसे इस समय एक भयानक प्रलोभन का सामना करना पड रहा है और वह एक गहरे मानसिक दु ख के अन्दर से गुजर रहा है। उसका क्रन्दन सरल किन्तु बहुत प्रबल है, जो मनुष्य के ऐसे दु खान्त जीवन के समान है जो वर्तमान के वास्तविक अभिनय के परे देखा जा सकता है। गीता के पहले अध्याय मे वर्णित निराशा, जिसमे अर्जुन डूबा हुआ है, ऐसी है जिसे योगी लोग आत्मा की अन्धकारपूर्ण रात्रि कहते है और जो उच्च जीवन के मार्ग मे एक अनिवार्य पडाव है। प्रकाश और ज्ञानग्रहण की आगे की मजिले सवाद मे पाई जाती है। दूसरे अध्याय से लेकर आगे तक हमे दार्शनिक विश्लेषण मिलता है। मनुष्य के अन्दर जो तात्त्विक अश है वह शरीर अथवा इन्द्रिया नही अपितु अपरिवर्तनशील आत्मा है। अर्जुन के मन को अब एक नये मार्ग पर चला दिया गया। कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि मनुष्य की आत्मा का उपलक्षण है और कौरव ऐसे शत्रुओ के उपलक्षण है जो आत्मा की उन्नति मे बाधक सिद्ध होते है। अर्जुन प्रलोभनो का सामना करते हुए तथा वासनाओ को वश मे रखते हुए मनुष्य के राज्य को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उन्नति का मार्ग दु खो तथा आत्मोत्सर्ग या सर्वत्याग से होकर गुजरता है। अर्जुन इस कठोर परीक्षा से सूक्ष्म युक्तियो तथा बनावटी बहानो के द्वारा बच निकलने का प्रयत्न करता है। कृष्ण ईश्वर की वाणी का उपलक्षण है जो अपना सन्देश पुलकित कर देनेवाले शब्दो मे दे रही है और अर्जुन को सावधान कर रही है कि वह अपने मन मे निराशा को स्थान न दे। प्रारम्भिक अध्याय मे कृष्ण के मानवीय हृदय के अन्तर्निरीक्षण की महत्ता का पता चलता है जिसमे उन्होने बताया है कि किस प्रकार हृदय के अन्दर प्रेरक भावो का अन्तर्द्वन्द्व चलता है, कहा तक स्वार्थता प्रबल रहती है और पाप की भावना किस प्रकार मनुष्य को पथभ्रष्ट करने की प्रेरणा देती है। ज्यो-ज्यो सवाद आगे बढता है, नाटकीय रूप विलुप्त होता जाता है। युद्धक्षेत्र की प्रतिध्वनि समाप्त होती है और ईश्वर तथा मनुष्य के मध्य वार्तालाप मात्र रह जाता है। युद्ध का रथ जैसे ध्यान के लिए एकान्त कोष्ठ बन जाता है और युद्धक्षेत्र का एक कोना, जहा कि ससार की ध्वनिया बन्द हो चुकी होती है, सर्वोपरि सत्ता के विषय मे विचार करने के लिए एक उपयुक्त स्थान बन जाता है।

शिक्षक भारत का एक सर्वप्रिय देवता है, जो एकसाथ ही मनुष्य भी है और दैवीय शक्ति भी है। वह सौन्दर्य तथा प्रेम का देवता है जिसको उसके भक्त पक्षियो के

पक्षा पर आरूढ करते हैं, पूजा की पंखुडियों में उसे देखते हैं और अपने सब प्रिय पदार्थों में और प्राणिमात्र के अन्दर उसे ढूंढते हैं। कवि विशदरूप में कल्पना करता है कि किस प्रकार एक अवतार के रूप में ईश्वर अपने विषय में कह सकेगा। कवि की योजना को समर्थन प्राप्त है जिसके अनुसार वह कृष्ण के मुख से यह कहलाता है कि वह ब्रह्म है। वेदान्तसूत्रों में[1] उस वैदिक वाक्य की व्याख्या की गई है जिसमें इन्द्र अपने को ब्रह्म के नाम से घोषित करता है, इस कल्पना के आधार पर कि इन्द्र केवल इस दार्शनिक सत्य का ही उक्त वाक्य में उल्लेख करता है कि मनुष्य के अन्दर जो जीवात्मा है वह और सर्वोपरि ब्रह्म एक ही है। जब इन्द्र कहता है कि मेरी पूजा करो, तो उसका तात्पर्य यह होता है कि उस ईश्वर की पूजा करो जिसकी मैं करता हूं। इसीके समान सिद्धान्त के आधार पर वामदेव की उस घोषणा की कि वह मनु और सूर्य है, व्याख्या की जाती है। इसके अतिरिक्त गीता का यह भी उपदेश है कि जो मनुष्य वासनाओं तथा भय से मुक्त हो गया है, किंवा ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा पवित्र हो गया है, वह ईश्वर की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। गीता का कृष्ण समाम के अन्दर व्यापक असीम या अनन्त का उपलक्षण है, वह ईश्वर है जो मनुष्य में शरीर और इन्द्रियों की शक्तियों के अन्दर छिपा हुआ है।

गीता के सन्देश का क्षेत्र सार्वभौम है। यह प्रचलित हिन्दूधर्म का दार्शनिक आधार है। इसका रचयिता गहरी संस्कृति वाला है, समालोचक न होकर सर्वग्राही है। वह किसी धार्मिक आन्दोलन का नेता नहीं है, उसका उपदेश किसी सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं है, उसने अपना कोई सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया किन्तु मनुष्य-मात्र के लिए उसका निर्दिष्ट मार्ग खुला है। सब प्रकार की उपासना पद्धतियों के साथ उसकी सहानुभूति है और इसलिए हिन्दूधर्म की भावना की व्याख्या के कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि हिन्दूधर्म अपनी संस्कृति को भिन्न भिन्न विभागों में विभक्त करने की इच्छा नहीं रखता और न तो अन्य विचारों की विधियों के प्रति खण्डनात्मक भाव रखना चाहता है।[2] गीता केवल अपने विचार की प्रबलता तथा दूरदर्शिता की भव्यता के ही कारण नहीं, अपितु भक्ति के प्रति उत्साह तथा धार्मिक भावना की मधुरता के कारण भी हमारे ऊपर अपना असर रखता है। यद्यपि गीता ने धार्मिक पूजा को विकसित करने और अधमानुचित प्रक्रियाओं का मूलोच्छेदन करने के लिए बहुत कुछ किया तो भी अपनी खण्डन विरोधी प्रवृत्ति के कारण इसने पूजा की मिथ्याविधियों को सर्वथा नष्ट नहीं किया।

गीता का उपदेश गम्भीर कट्टरता को लिए हुए है और इसके रचयिता को लेशमात्र भी इस विषय में सन्देह नहीं है कि उससे भूल भी हो सकती है। वह अपने अनुभव के बिल्कुल अनुरूप सत्य का प्रकाश करता है और वह उस सत्य का ज्ञान सत्य के पूर्णरूप में और अनवासरूप में करता हुआ प्रतीत होता है और सत्य की रक्षणशक्ति में भी वह विश्वास करता है। गीता का सन्त (कृष्ण) अपने ज्ञान तथा मनोभावों को पूर्णता तथा उत्साह के साथ कथन करता है—एक ऐसे दार्शनिक के रूप में नहीं जो किसी सम्प्रदाय विशेष में पक्ष होने के कारण अपनी सामग्री को पूर्वस्थापित विधि की अनुकूलता प्राप्त करने के

१ १ ? १०।

२ भन्दर्शन, २ २६।

लिए तदनुसार विभक्त करता है और अपने सिद्धात के अन्तिम निष्कर्ष पर एक क्रमबद्ध विचारो की कसौटी के द्वारा पहुचता है।"[1] गीता की स्थिति एक दार्शनिक पद्धति और काव्यमय उच्च प्रेरणा के मध्य मे है। हमे इसमे उपनिषदो की सी मर्यादारहित सुझाव की शक्ति नही मिलती क्योकि यह जीवन की समस्या का यत्नपूर्वक किया गया एक बौद्धिक समाधान है। इसकी योजना अन्त.करण के क्लेशो और मानसिक अव्यवस्था से उत्पन्न हुई जटिल परिस्थिति का सामना करने के विचार से की गई है।

गीता तथा उपनिषद् का भाव प्राय. समान है; अन्तर केवल यह है कि गीता मे धार्मिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। उपनिषदो के सूक्ष्म अमूर्तभाव मनुष्य की आत्मा की जो नानाविध आवश्यकताए है उनकी पूर्ति नही कर सकते थे। जीवन के रहस्यो का समाधान करने के लिए किए गए अन्य प्रयत्न अपनी रचना मे अधिकतर ईश्वर-ज्ञानपरक थे। गीता के रचयिता ने यह अनुभव किया कि जनसाधारण मे तर्क के प्रति प्रेम उत्पन्न नही किया जा सकता। इसलिए उसने अपना आधार उपनिषदो को बनाया और उनके धार्मिक सकेतो को लेकर तथा उनमे प्रचलित पौराणिक गाथाओ किंवा राष्ट्रीय कल्पनाशक्ति का समावेश करके एक इस प्रकार का मिश्रण तैयार किया कि एक चेतना-पूर्ण पद्धति बनकर तैयार हो गई। यही गीता का स्वरुप है।

२

गीता का काल

भगवद्गीता की रचना के समय का निर्णय सरलतापूर्वक नही हो सकता। चूकि यह महा-भारत का एक भाग है, इसलिए कभी-कभी यह सन्देह किया जाता है कि पीछे चलकर इसे महाभारत मे मिला दिया गया है। टालब्वाएज व्हीलर के अनुसार–कृष्ण और अर्जुन युद्ध के पहले ही दिन के प्रात काल, जबकि दोनो पक्षो की सेनाए युद्ध के लिए मैदान मे उतर आई हो और लडाई छिडने को ही हो ऐसी परिस्थिति मे, एक ऐमे लम्बे और दार्शनिक सवाद मे लग जाए जिसमे आत्मा की मुक्ति के निमित्त विधान की गई भक्ति की नाना विधियो का निर्णय किया जाए, अस्वाभाविक प्रतीत होता है। तेलग भी विशेष-कर इसी निर्णय के साथ सहमत होते हुए तर्क करते है कि भगवद्गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जिसे महाभारत के ग्रन्थकार ने अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए महाभारत मे प्रविष्ट कर लिया है।[2] यद्यपि दार्शनिक वाद-विवाद युद्ध के आरम्भ मे 'असम्बद्ध और असगत' प्रतीत होता है, तो भी इस विषय मे भी कोई सन्देह नही है कि केवल अत्यन्त भीषण सकटकाल ही, जैसेकि युद्धक्षेत्र, विवेकशील व्यक्तियो के मन मे आधारभूत मूल्यो पर ध्यान देने के लिए उत्तेजना पैदा कर सकता है। केवल ऐसे ही समय मे धार्मिक वृत्ति वाले मनो के अन्दर इस प्रकार का खिचाव उत्पन्न होता है जो इन्द्रियो की मर्यादाओ को तोडकर आतरिक यथार्थसत्ता का स्पर्श करा सके। यह सम्भव है कि अर्जुन को युद्ध

१ 'इडियन ऐण्टिकरी', १९१८, पृष्ठ ३; गार्ब्स इट्रोडक्शन टु द भगवद्गीता।
२ 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खण्ड ८, इण्ट्रोडक्शन, पृष्ठ ५–६।

के क्षेत्र में अपने मित्र कृष्ण से विशेष उपदेश या निर्देश ही मिला हो और महाभारत के कवि ने उसे सात सौ श्लोकों का जामा पहना दिया हो। महाभारत का रचयिता धर्म के सिद्धान्तों को परिष्कृत करने के लिए आतुर था—जब कभी भी उसे इसके लिए उचित अवसर मिल जाए, और गीता में उसे ऐसा ही अवसर मिल गया।

महाभारत में स्थान-स्थान पर भगवद्गीता का उल्लेख है जिससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि महाभारत के निर्माणकाल से ही गीता को उसका एक वास्तविक भाग माना जाता रहा है।[1] गीता और महाभारत में शैली की जो समानताएं हैं वे भी यही निर्देश करती हैं कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही सम्पूर्ण इकाई हैं।[2] अध्यात्म दर्शनपद्धतियों एवं धर्मों के विषय में भी दोनों की सहमति है। दोनों ही कर्म को अकर्म से उत्कृष्ट मानते हैं।[3] वैदिक यज्ञों के प्रति विचार[4] सृष्टि की व्यवस्था-सम्बन्धी स्थापनाएं[5] गुण-सम्बन्धी सांख्य की कल्पना[6] तथा पतञ्जलि के योग के सम्बन्ध में[7] तथा विश्वरूप[8] के वर्णन में भी उक्त दोनों न्यूनाधिक रूप में लगभग समान ही हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि समन्वयपरक सिद्धान्त गीता की ही अपनी विशेषता है।

भगवद्गीता को महाभारत का वास्तविक भाग मान लेने पर भी हम भगवद्गीता के काल का ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकते क्योंकि इसमें भिन्न-भिन्न कालों की कृतियों का भी समावेश हो गया है। तेलंग भगवद्गीता की अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना में इसके सामान्य रूप, इसकी पुरानी शैली और इसकी छन्दोबद्धता के विषय में प्रतिपादन करते हैं और इसके अन्तर्गत उद्धरणों पर भी प्रकाश डालते हुए अपना विचार प्रकट करते हैं कि उक्त ग्रन्थ अवश्य ही ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से अधिक प्राचीन होना चाहिए। सर आर० जी० भण्डारकर का विचार है कि गीता कम से कम चौथी शताब्दी ईसापूर्व की तो है ही। गार्बे प्रारम्भिक गीता को दो सौ वर्ष ईसापूर्व और इसके वर्तमान आकार को दो सौ वर्ष ईसा के पश्चात का बतलाता है। शंकर ने (नवीं शताब्दी ईसा के पश्चात्) इसके ऊपर टीका की है और कालिदास को भी इसका ज्ञान था। उसके 'रघुवंश' में[9] गीता के श्लोक के समान एक श्लोक मिलता है। बाणभट्ट ने भी गीता का उल्लेख किया है और दोनों कवि क्रमशः पांचवीं और सातवीं शताब्दी ईसा के पश्चात हुए। पुराणों में (जिनका समय दूसरी शताब्दी ईसा के पश्चात् है) भगवद्गीता की ही शैली पर निर्मित कई गीताएं पाई जाती हैं। भास कवि के 'कर्णभार' में एक वाक्य आता है जो गीता के

१ आदिपर्व, २, ६९; १, १७९। २, २४७।
२ तिलक : 'गीतारहस्य', परिशिष्ट; 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खण्ड ८ भूमिका।
३ भगवद्गीता अध्याय ३; वनपर्व अध्याय ३२।
४ शान्तिपर्व २६७; देखिए मनु भी अध्याय ३।
५ भगवद्गीता अध्याय ७ और ८; शान्तिपर्व, २३१।
६ भगवद्गीता १४ और १५; अश्वमेधपर्व ३६-३९; शान्तिपर्व २८५ और ३०० - ११।
७ भगवद्गीता अध्याय ६; शान्तिपर्व ३० और ३ ।
८ उद्योगपर्व १३१; अश्वमेधपर्व ५५; शान्तिपर्व ३३९ और वनपर्व ९९।
९ १०, ३१; तुलना कीजिए भगवद्गीता ३ ।

एक श्लोक की एकदम प्रतिध्वनि है।[1] भास कवि को कही दूसरी अथवा चौथी शताब्दी ईसा के पश्चात् का और कही दूसरी शताब्दी ईसा से पूर्व का बताया गया है। पहले मत को स्वीकार करने पर भी गीता को उनसे प्राचीन होना चाहिए। बोधायन के गृह्यसूत्रो मे वासुदेव की पूजा का परिचय मिलता है। इसमे एक वाक्य आता है जो भगवान का कहा गया बताया जाता है और जो भगवद्गीता का ही उद्धरण प्रतीत होता है।[2] यही बात उसके पितृमेधसूत्रो के विषय मे भी सत्य है। यदि आपस्तम्ब गृहसूत्र को तीसरी शताब्दी ईसापूर्व[3] का माना जाए, तब बोधायन एक या दो शताब्दी पूर्व होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि यदि हम गीता को पाचवी शताब्दी ईसा से पूर्व[4] का मान ले तो हमारा मत कुछ अधिक अनुचित न होगा।

३

अन्य पद्धतियो के साथ सम्बन्ध

उस युग मे जितने भी मत प्रचलित थे, लगभग सभी ने गीता के रचयिता के मन पर प्रभाव डाला था, क्योकि उसने इस विषय मे समस्त ससार मे जितना भी धार्मिक प्रकाश विना किसी निश्चित योजना के डाला गया था उसे एकत्र और केन्द्रीभूत कर दिया। हमारे लिए यह आवश्यक है कि वेदो, उपनिषदो, बौद्धधर्म, भागवतधर्म और साख्य तथा योग-दर्शन इन सबका गीता के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध कैसे है, इसपर लक्ष्य करे।

गीता वेदो की प्रामाणिकता को सर्वथा त्याज्य नही बताती। इसकी दृष्टि मे वैदिक आदेश एक विशेष सास्कृतिक मर्यादा के मनुष्यो के लिए सर्वथा उपयुक्त है। गीता के अनुसार, वेदो के आदेशो का पालन किए विना मनुष्य पूर्णता प्राप्त नही कर सकता। यज्ञात्मक कर्म विना किसी पुरस्कार की आकाक्षा के किए जाने चाहिए।[5] एक विशेष अवस्था के बाद वैदिक क्रिया-कलापो का करना पूर्णता-प्राप्ति के मार्ग मे बाधा भी उपस्थित कर सकता है। वैदिक देवताओ के उच्च स्वरूप को मान्यता नही दी गई। यद्यपि वैदिक कर्मकाड हमे शक्ति तथा धन-सम्पत्ति प्राप्त करा सकते है, लेकिन हमे सीधा मोक्ष नही प्राप्त करा सकते। आत्मज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। जब मोक्ष का रहस्य हमारे अपने अन्दर विद्यमान है, तब वैदिक कर्मकाड का प्रतिपालन करने की आवश्यकता नही है।[6]

गीता की दार्शनिक पृष्ठभूमि उपनिषदो से ली गई है। कितने ही श्लोक गीता

१. "हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः।" तुलना कीजिए भगवद्गीता, २ : ३७।

२. २, २२, ९, तुलना कीजिए भगवद्गीता, ९ : २६।

३. 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', खण्ड २, भूमिका, पृष्ठ ४३, तुलना कीजिए, खण्ड १४, पृष्ठ ४३।

४. यदि धर्मसूत्रों के अन्तर्गत उद्धरणों को प्रक्षिप्त मान लें तो गीता को तीसरी अथवा दूसरी शताब्दी ईसापूर्व का माना जा सकता है।

५. १७ : ११।

६. २ : ४२–४५; ९ : २०–२१।

और उपनिषदों में समानरूप से पाए जाते हैं।[1] क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, क्षर और अक्षर विषयक विवेचन उपनिषदों के आधार पर है। सर्वोपरि यथार्थसत्ता की व्याख्या भी इसी उत्स से ली गई है। भक्ति का सिद्धांत उपनिषदों की उपासना का ही सीधा विकास है। सर्वोपरिसत्ता के प्रति प्रेम करने का तात्पर्य है अन्य सब प्रकार के प्रेमों से हाथ खींच लेना। "जब हम इस संसार में रहकर इस सत्स्वरूप का साक्षात्कार हो गया तो हमें सन्तान का क्या करना है?"[2] सर्वोपरिसत्ता के प्रति भक्ति, आत्मा की विजय तथा शान्ति और अनर्द्वग की अवस्था की प्राप्ति उस काल के वातावरण में व्याप्त थे। उपनिषदों में भी निष्काम कर्म का समर्थन किया गया है।[3] उपनिषदों में भी यही प्रतिपादन किया गया है कि मन की उच्च अवस्था से ही अनासक्ति का भाव उत्पन्न होता है।[4] उपनिषदों की शिक्षाओं की क्रियात्मक तथा धार्मिक प्रवृत्तियां इतनी अधिक विकसित और परिष्कृत हैं तो भी प्राचीन विचारकों की शिक्षाओं से आगे नहीं बढ़ सकीं। संसार की भावनाएं एवं निर्दोष पूर्णता निःसन्देह एक बढ़िया व्याख्या थी किन्तु यह जीवन को बदल देनेवाली शक्ति के अनुकूल न थी। भागवतधर्म के प्रचार ने गीता के रचयिता का झुकाव उपनिषत्प्रतिपादित परब्रह्म को एवं विशेष प्रकार की दीप्ति तथा अन्तःप्रवेश करनेवाली शक्ति के साथ संयुक्त करने की ओर किया। गीता के रचयिता ने उसे शरीरधारी ईश्वर का रूप दिया जिसे भिन्न-भिन्न नाम (यथा शिव, विष्णु आदि) दिए गए थे। किन्तु साथ-साथ वह यह भी जानता था कि वह एक मृतप्राय भूतकाल में फिर से जीवन डाल रहा है, किसी नई कल्पना को जन्म नहीं दे रहा है। "इस अव्यय योग को मैंने विवस्वत् को शिक्षा दी और उसने इसे मनु को सिखाया, मनु ने इक्ष्वाकु को सिखाया। और इस रहस्य का प्रकाश अब कृष्ण ने अर्जुन के सामने किया।" यह वाक्य संकेत करता है कि गीता का सन्देश एक प्राचीन दान था जिसकी शिक्षा गायत्री के ऋषि विश्वामित्र ने दी और जनक के, नाम-रूप मण्डल के ऋषि ने एवं राम, कृष्ण, गौतमबुद्ध तथा सूर्यवंश के अन्यान्य शिक्षकों ने भी दी। गीता का पूरा नाम, जैसाकि प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका से प्रकट है, भगवद्गीता नामक उपनिषद् है। गीता और उपनिषद् के पारस्परिक सम्बन्ध का परम्परागत विवरण उस वाक्य में है जो प्रायः सर्वत्र प्रचलित है कि "सब उपनिषद् गौएं हैं, कृष्ण दूध दुहनेवाला है, अर्जुन बछड़े की जगह है और गीता अमृत के समान दूध है।"

भगवद्गीता के संकलन में भागवतधर्म से तत्काल प्रेरणा मिली। वस्तुतः यही कहा जाता है कि गीता का उपदेश भागवतों के सिद्धान्त के साथ बिलकुल समानता रखता है। इसे कभी-कभी हरिगीता भी कहा जाता है।[6]

बौद्धधर्म का नाम नहीं लिया जाता यद्यपि गीता के कितने ही विचार बौद्ध

1 भगवद्गीता और कठ उप०, १ ७ भगवद्गीता २ २० ८ ११ और कठ उप०, २ १९ २ १५ भगवद्गीता ३ ४२ और कठ उप० ३ १०; भगवद्गीता ६ ११ और श्वेताश्वतर उप० १ भगवद्गीता ६ ११ और श्वेताश्वतर उप०, २ ८।

2 बृहदारण्यक उप० ४ ४ २२।

3 ईश उपनिषद्।

4 छान्दोग्य उप० ४ १४ ३; बृहदा० ४ ४ २३।

5 ४ १-३।

6 शान्तिपर्व ३४६ १।

धर्म के मत के सदृश है। दोनो ही वेदो के स्वत प्रमाण होने का विरोध करते है और वर्ण के कठोर बन्धनो को न्यूनतम स्थायी आधार पर रखकर शिथिल करने का प्रयत्न करते है। दोनो ही उसी एक धार्मिक उथल-पुथल को अभिव्यक्त करते है जिसने कर्मकाण्डप्रधान धर्म को हिलाकर रख दिया, यद्यपि गीता अधिक कट्टर थी और इसीलिए उसका विरोध भी उतना सर्वांगरूप मे नही था। बुद्ध ने स्वर्णिम मध्यमार्ग की घोषणा की यद्यपि उनका अपना उपदेश उनके सर्वथा अनुकूल नही था। विवाहित जीवन की अपेक्षा ब्रह्मचर्य को पसन्द करना, दावतो की अपेक्षा उपवास को अधिक मान्यता देना, स्वर्णिम मध्यमार्ग का क्रियात्मक रूप नही है। गीता वनवासी तपस्वियो के धार्मिक उन्माद का प्रतिवाद करती है और ऐसे सन्तो की धार्मिक आत्महत्या का भी प्रतिवाद करती है जो दिन के प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार को तथा सुख की अपेक्षा कष्ट को उत्तम समझते है। मोक्ष की प्राप्ति दैन्य एव मृत्यु का प्रचार करनेवाले धार्मिक सम्प्रदाय का अनुसरण किए विना सम्भव है। 'निर्वाण' शब्द गीता मे[1] आता है, किन्तु यह बौद्धधर्म से नकल किया गया हो ऐसा नही दिखाई देता है, क्योकि यह गीता के लिए कोई विशेषता नही रखता। आदर्श व्यक्ति के लक्षण प्रकट करने मे गीता और बौद्धधर्म एकमत है।[2] दर्शन तथा धर्म दोनो दृष्टियो से गीता बौद्धधर्म की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण है, क्योकि बौद्धधर्म निषेधात्मक पक्ष पर आवश्यकता से कही अधिक बल देता है। गीता जहा एक ओर बौद्धधर्म के नैतिक सिद्धांतो को स्वीकार करती है वहा दूसरी ओर बौद्धधर्म के निषेधात्मक अध्यात्मशास्त्र को सकेतो द्वारा दूषित भी ठहराती है, क्योकि गीता की सम्मति मे यही सब प्रकार की नास्तिकता एव भ्रांति की जड है। गीता का सम्बन्ध प्राचीन परम्परा के अधिक अनुकूल है और इसीलिए भारत मे गीताधर्म बौद्धधर्म की अपेक्षा अधिक सफल व भाग्यशाली रहा।

गार्ब के अनुसार, "साख्य-योगदर्शन की शिक्षाए ही लगभग पूर्णरूप मे भगवद्गीता के दार्शनिक विचारो का आधार है। उनकी तुलना मे वेदान्त का स्थान दूसरा आता है। साख्य और योग के नाम का उल्लेख तो प्राय ही पाया जाता है किन्तु वेदान्त का नाम केवल एक ही स्थान पर आया है (वेदान्तकृत्, १५ १५), और वह भी उपनिषद् अथवा ग्रन्थ के अर्थो मे। इस प्रकार जब हम केवल इस विषय पर विचार करते है कि दर्शनशास्त्रो का भाग उस गीता मे किस अश तक है जो आज हमे उपलब्ध है, और जब हम ऐसे मतभेदो पर ध्यान देते हे जो साख्य-योग तथा वेदान्तशास्त्र के अन्दर है और जिनका परस्पर समन्वय हो सकना कठिन है और जो मतभेद सम्भवत दूर तभी हो सकते हैं जबकि हम सावधानी के साथ प्राचीन तथा अर्वाचीन मे भेद कर सकें, तो हम इसी परिणाम पर पहुचेगे कि भगवद्गीता के वेदान्त-सम्बन्धी अश उक्त ग्रन्थ के आदिम सस्करण के नही सिद्ध होते। जब भी हम भगवद्गीता का अनुसधान धार्मिक अथवा दार्शनिक किसी भी पक्ष को लेकर करेगे, हम पहुचेगे इसी परिणाम पर।" गीता मे सांख्य-योग शब्द जहा भी आते हैं वहा साख्य और योग के शास्त्रीय सम्प्रदायो से अभिप्राय न होकर केवल

1 ६ : १५।

2 २ : ५५–७२, ४ : १६–२३; ५ : १८–२८ १२ : १३–१६। तुलना कीजिए धम्मपद, ३६०–४२३ : सुत्तनिपात, मुनिसुत्त, १ : ७ और १४।

मोक्षसाधन की चिंतन तथा ध्यान सम्बन्धी उनकी पद्धतियों से अभिप्राय है।[1] इसके अतिरिक्त गीता के समय में एक ओर सांख्य योग और दूसरी ओर वेदान्त इनमें कोई ऐसा स्पष्ट पारस्परिक भेद नहीं था। इसी विचार को लेकर गार्बे की व्याख्या युक्तियुक्त ठहर सकती है। फिट्ज़ एडवर्ड हॉल का कथन इस विषय में अधिक यथार्थ जचता है। वह कहता है "उपनिषदों, भगवद्गीता तथा अन्य प्राचीन हिन्दूशास्त्रों में हम ऐसे अनेक सिद्धांत मिश्रितरूप में मिलते हैं जो नाना परिवर्तनों में से गुज़रकर—जिन परिवर्तनों के कारण वे पृथक् पृथक् अपने आपमें ऐसे पूर्णरूप में आ गए कि उनका फिर परस्पर समन्वय न हो सका—आगे चलकर किसी अनिश्चित काल में परस्पर अलग अलग सांख्य और वेदान्त के भिन्न भिन्न नामों से पहचान में आने लगे।"[2] सांख्य का मनोविज्ञान तथा सृष्टिक्रम गीता ने स्वीकार किया है यद्यपि उसके अध्यात्मशास्त्र सम्बन्धी संकेतों को अमान्य ठहराया है।[3] कपिल के नाम का तो उल्लेख है यद्यपि पतञ्जलि के नाम का नहीं है। हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि यह कपिल सांख्यदर्शन का कर्ता कपिल ही है। यदि वही कपिल हो तो भी इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि सांख्यशास्त्र अपनी सर्वांग सम्पूर्ण अवस्था में उस समय तक पहुंच चुका था। बुद्धि, अहंकार एवं मन आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है। यद्यपि सब स्थानों पर उन अर्थों में नहीं जिनमें सांख्य में ये पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृति के विषय में भी यही बात सत्य है। जहां सांख्य एक ओर ईश्वर की सत्ता के प्रश्न को छूता तक नहीं वहां गीता उसकी स्थापना के लिए अत्यन्त आतुर प्रतीत होती है।

यद्यपि पुरुष और प्रकृति के बीच का भेद उसे मान्य है तो भी द्वैत को अमान्य ठहराया गया है। पुरुष एक स्वतन्त्र तत्त्व नहीं अपितु प्रकृति अथवा ईश्वर का ही एक रूप है। आत्मिक प्रज्ञा ज्ञानरूप है। जब हम सांख्यदर्शन के विषय को लेंगे तब देखेंगे कि वह किस प्रकार से प्रकृति की सब अवस्थाओं को एक प्रतीति के रूप में मानता है जो एक नित्यस्थायी विषयी की ओर संकेत करती है अथवा उसके उपलक्षण मात्र हैं जिसे कि यह प्रतीति होती है और जिसके प्रयोजन के लिए ही इनका अस्तित्व है। यद्यपि प्रकृति चेतनारहित है किन्तु इसके कार्य निष्प्रयोजन नहीं हैं और जीवात्मा का मोक्ष प्राप्त कराना ही इन कार्यों का प्रयोजन है। इसका हेतुवादपरक स्वभाव इसकी तथाकथित जड़ता के साथ अनुकूलता नहीं रख सकता। गीता में इस कठिनाई का समाधान निकाला गया है। इस प्रकृतिरूप नाटक की पृष्ठभूमि में एक धार्मिक परब्रह्म सम्बन्धी तथ्य विद्यमान है। पुरुष अथवा आत्मा एक स्वतन्त्र यथार्थसत्ता नहीं है जैसा कि सांख्यदर्शन में है। इसका स्वरूप केवल ज्ञानस्वरूप ही नहीं किन्तु आनन्दस्वरूप भी है। जीवात्माओं का परमरूप

1. भावव्याख्या : २९ : ३ ; ३ : ५ ; ४ : ३ ; १३ : ४। अठारहवें अध्याय में सांख्यदर्शन का उल्लेख है। भाष्याचार्य ने व्यासस्मृति से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सांख्य का अर्थ आत्मा का ज्ञान, अथवा, ध्यान, वशिष्ठ, यत, ... है। देखिए, आनन्दगिरि, पर, ... टीका, २ : ४० ।

2. 'प्रिफेस टु सांख्यसार' पृष्ठ ७ ।

3. २ : ११–१६ ; १८–३० ; २ : २७–२९ ; ५ : १४ ; ७ : ४ ; १३ : ५ ।

4. ३ : ३३ ; ४ : ६, ७ ; ४ : ६ ; ८ : ११ ; ५ : १३ ; २० : १८ ; ५९ ।

मे पृथक्त्व गीता को अभिमत नही है।[1] यह एक उत्तमपुरुष या पुरुषोत्तम अथवा सर्वोपरि आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करती है। तो भी जीवात्मा का स्वरूप और उसका प्रकृति के साथ सम्बन्ध, जैसाकि भगवद्गीता मे दिया गया है, साख्यदर्शन के प्रभाव को दर्शाता है।[2] पुरुष केवल दर्शक या साक्षी है किन्तु कर्ता नही है। प्रकृति ही सब कुछ करती है। जो यह सोचता है कि 'मैं करता हू' वह भ्रम मे है। पुरुष और प्रकृति अथवा आत्मा तथा प्रकृति के परस्पर-पार्थक्य को अनुभव कर लेना मनुष्य-जन्म का लक्ष्य है। गुणो का सिद्धात स्वीकार किया गया है। "देवताओ के अन्दर भी इस पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग मे ऐसा कोई नही है जो प्रकृति के तीन गुणो, अर्थात् सत् रजस् और तमस्, से स्वतन्त्र हो।"[3] ये गुण एक त्रिगुणात्मक बन्धन हैं। और जब तक हम इनके अधीन रहेगे, हमे जन्म-जन्मान्तर के चक्र मे निरन्तर भ्रमण करते रहना पडेगा। मोक्ष तीनो गुणो से छुटकारा पाने का नाम है। आभ्यन्तर अगो एव इन्द्रियो की भौतिक रचना का वर्णन इसमे साख्य के समान ही पाया जाता है।[4]

गीता यौगिक प्रक्रियाओ का भी उल्लेख करती है। जब अर्जुन कृष्ण से पूछता है कि किस प्रकार से उस मन को जो निश्चय ही ऊधमी और चचल है, वश मे किया जा सकता है, तो कृष्ण उत्तर मे कहते है कि अभ्यास और वैराग्य, अर्थात् सासारिक पदार्थो के प्रति उपेक्षाभाव, का आश्रय लेना चाहिए।[5]

४

गीता का उपदेश

गीता के रचनाकाल मे परमसत्ता की यथार्थता तथा मनुष्य की नियति के विषय मे नाना प्रकार के मत फैले हुए थे। एक ओर उपनिषदो की परम्परा थी जिसका आधार आत्मा की अन्तर्दृष्टि था, दूसरी ओर साख्य का सिद्धात था जिसके अनुसार प्रकृति के साथ सम्बन्ध-विच्छेद करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता था, कर्ममीमासा का मत था कि हम अपने कर्तव्यो का पालन करके पूर्णता को प्राप्त कर सकते है, भक्तिवाद भी था जिसके अनुसार हृदय की उन्नति के द्वारा ही मोक्ष का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है, और दूसरी ओर, योगदर्शन के अनुसार, मनुष्य को उसी समय मोक्ष प्राप्त होता है जबकि जीवात्मा का शान्त जीवन ससार के नानाविध प्रकाश का स्थान ले लेता है। सर्वोपरि आत्मा को या तो अशरीरी परमसत्ता और या शरीरधारी भगवान समझा गया है। गीता का प्रयास यह है कि परस्पर-विरोधी एव विषमाङ्ग तत्त्वो का सश्लेषणात्मक

१. ७ : ४; १३ : २०-२२, और भी देखिए वेदान्तसूत्र, २, १, १, और उनपर शाङ्कर भाष्य।

२. साख्यकारिका, ६२, भगवद्गीता, १३ : ३४।

३. १८ : ४०, १४ : ५।

४. ३ : ४०-४२; १३ : ५।

५. देखिए भगवद्गीता, ६ : ३३-३४। शकर को न्यायदर्शन के विषय का मौलिक उल्लेख अध्याय

समन्वय करके उनका एक पूर्णरूप में एकत्रीकरण किया जाए। यही कारण है कि हम इसके अन्दर प्रकटरूप में मोक्ष के उद्देश्य तथा उसकी साधना के उपायों के विषय पर परस्पर विरोधी मत मिलते हैं। यह देखकर कि गीता सिद्धांतों का संगतिपूर्ण ग्रन्थ नहीं है विभिन्न लेखकों ने विभिन्न प्रकार से इस असंगति की व्याख्या की है। गार्बे तथा होपकिंस की धारणा है कि भिन्न भिन्न काल में अनेक लेखकों ने इसपर कार्य किया है। गार्बे के मतानुसार आदिम गीता ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में एक आस्तिकवादपरक लघु पुस्तिका के रूप में लिखी गई और उसका आधार सांख्ययोग था भले ही ईसा के पश्चात् दूसरी शताब्दी में उपनिषदों के एकेश्वरवादी समर्थकों ने इसमें रूपान्तर किया। ये दो सिद्धान्त अर्थात् आस्तिकवाद या ईश्वरज्ञानवाद तथा सर्वेश्वरवाद एक दूसरे के साथ मिले हुए हैं। ये कभी सर्वथा असम्बद्ध रूप में और कभी शिथिल सम्बन्ध में मिलते हैं। और यह भी बात नहीं है कि इनमें से एक को तो निम्न श्रेणी का सामान्य बोधगम्य अथवा सर्वसाधारण व्यक्तियों के लिए समझा जाए तथा दूसरे को उच्च श्रेणी का केवल दीक्षित व्यक्तियों के लिए माना जाए। ऐसी शिक्षा कहीं नहीं पाई जाती कि ईश्वरज्ञानवाद यथार्थसत्ता की ज्ञानप्राप्ति में एक प्रकार का प्रारम्भिक पग मात्र है अथवा केवल उक्त सत्ता का प्रतीकस्वरूप है और वेदान्त का सर्वेश्वरवाद स्वयं परम यथार्थता है। इस प्रकार दोनों ही सिद्धान्तों का इस तरह से बराबर निरूपण किया गया है मानो उनमें मौलिक अथवा वास्तविक किसी प्रकार का भी परस्पर भेद नहीं है।[1] होपकिंस गीता को कृष्णवादात्मक या कृष्णपरक विवरण बताता है जोकि स्वयं एक अर्वाचीन उपनिषद् है। कीथ का विश्वास है कि यह श्वेताश्वतर की भांति प्रारम्भ में एक उपनिषद् ही थी किन्तु आगे चलकर कृष्ण के नाम के धार्मिक सम्प्रदाय का मान्य ग्रन्थ बन गई। होल्टजमान की दृष्टि में यह एक सर्वेश्वरवादपरक काव्य का वैष्णवधर्म में परिवर्तित रूप है। बार्नेट का विचार है कि गीता के रचयिता के मन में भिन्न भिन्न परम्पराओं की धाराएं एक ही स्थान पर आकर अव्यवस्थित रूप में समा गई थीं। ड्यूसन के मत में यह उपनिषदों के एकेश्वरवादी विचार की अवनतरूप उपज थी जिसका निर्माण उस समय में हुआ जबकि आस्तिकवाद से यथार्थ अनीश्वरवाद की ओर संक्रमण हो रहा था।

उक्त सब कल्पनाओं में से किसी एक को हम स्वीकार कर ही लें यह आवश्यक नहीं है। उपनिषदों के आदर्श का उन नई परिस्थितियों में जो महाभारत के समय में उत्पन्न हो गई थीं उपयोग ही गीता का यथार्थरूप है। उपनिषदों के आदर्शवाद को आस्तिकता की ओर प्रवृत्ति रखनेवाले जनसाधारण के लिए अनुकूल बनाने में यह उपनिषदों के दार्शनिक ज्ञान से एक धर्म का विधान बनाने का प्रयत्न करती है। यह प्रदर्शित करती है कि उपनिषदों के चिन्तनशील धार्मिक आदर्शवाद के अन्दर शरीरधारी ईश्वर के प्रति उत्साहपूर्ण भक्तिपरक एवं जीवित धर्म के लिए स्थान था। उपनिषदों के परब्रह्म को मनुष्य स्वभाव की चिन्तनात्मक तथा भावना प्रधान मांगों को पूर्ण करनेवाला बनाया गया है। इस प्रकार का परिवर्तन कल्पनात्मक से क्रियात्मक और दार्शनिक से धार्मिक की

1. इण्डियन एण्टिक्वेरी, सितम्बर १९१८।

दिशा मे अर्वाचीन उपनिषदो मे भी पाया जाता है जहा हमे भक्तो की पुकार पर भगवान प्रकट होते हुए दिखाई देते है। गीता का प्रयत्न एक ऐसे धार्मिक संश्लेषण की ओर है जो मनुष्यो के जीवन और आचार को, उपनिषदो द्वारा प्रतिपादित तथ्य के आधार पर, सहारा दे सके, और जिसे इसने भारतीय जनता के नैत्यिक जीवन मे प्रविष्ट कर दिया।

गीता की विचारधारा की विभिन्न प्रवृत्तियो को एकत्र करके एक यथार्थ एव पूर्ण इकाई बनाने मे सफलता प्राप्त हुई या नही इसका उत्तर आगे चलकर हमारे विवेचन मे मिल सकेगा। भारतीय परम्परा ने तो सदा ही ऐसा अनुभव किया है कि विरोधी तत्त्व भी इसके अन्दर आकर एकरूप हुए है, किन्तु पश्चिमी विद्वानो का आग्रहपूर्वक कहना है कि उज्ज्वल अशो ने गीता के ग्रन्थकार के जैसे कुशल हाथो मे पडकर भी उनके अन्दर एकीभूत हो जाने से इनकार कर दिया। विवेचन के साध्यपक्ष मे ही रूढियुक्त आस्था व्यक्त करने से कोई लाभ नही है।[1]

१. गीता के ऊपर भारतीय लेखको की अनेक टीकाए मिलती है, जिनमें से मुख्य वे है जो वृत्तिकार, शकर, रामानुज, माध्व, वल्लभ, निम्बार्क और ज्ञानेश्वर ने लिखी है। आनन्दगिरि कहते है कि वृत्तिकार बोधायन ने, जिसने वेदान्तसूत्रो पर बृहदाकार टीका लिखी, गीता पर भी वृत्ति (टीका) लिखी है (देखिए भगवद्गीताके शाकर भाष्य पर आनन्दगिरि, २ १०)। उनके अनुसार, गीता ज्ञान और कर्म के सयुक्त मार्ग के अनुसरण का उपदेश करती है। उक्त दोनो में से कोई भी अकेला मोक्ष की ओर नही ले जा सकता। शकर का विश्वास है कि ज्ञान ही पूर्णता की प्राप्ति का उच्चतम साधन है। साथ ही उनका कहना है कि जीवात्मा का सर्वोपरि के साथ एकत्व अन्तर्दृष्टि के ज्ञान द्वारा ही जाना जा सकता है। ससार मे अनेकता मनुष्य की अपूर्णता के कारण है। समस्त कर्म बन्धन का कारण है क्योकि यह द्वैत के मिथ्याभाव के ऊपर निर्भर करता है। जब सत्य ज्ञान हमारे द्वैतपरक विचारो को दूर कर देता है तो जीवात्मा को त्राण मिल जाता है और उसके अनन्तर कर्म की कोई आवश्यकता नही रहती। अन्य सब मार्ग अर्थात् कर्म, भक्ति तथा योग (आत्मनियन्त्रण) केवल ज्ञान की ओर ही ले जाते है। (देखिए, भगवद्गीता पर शाकर भाष्य, ३ · १।) रामानुज जीव अर्थात् चित्, ससार अर्थात् अचित् (जड) और ईश्वर इन तीन भिन्न-भिन्न सत्ताओ को मानते है और पहले दोनो को ईश्वर के शरीर के निर्माणकर्ता मानते है। अध्यात्मशास्त्र में वे इस प्रकार से परिवर्तित रूप में एकेश्वरवाद और क्रियात्मक रूप में भक्ति-मार्ग पर आग्रह करते है। सकेत द्वारा वे यह सुझाव देते है कि वर्णधर्मो का हमेशा पालन करना आवश्यक है। शकर और रामानुज दोनो ही कर्म को कम महत्त्व देते है यद्यपि उनके प्रेरणाहेतु भिन्न-भिन्न है। मध्वाचार्य माया की कल्पना का खण्डन करते है और परब्रह्म तथा जीवात्माओ के अन्दर परस्पर पारमार्थिक भेद को स्वीकार करते है। उनके मत में भी ईश्वर की भक्ति ही आनन्द-प्राप्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। यद्यपि वल्लभाचार्य घोषणा करते है कि ब्रह्म और पवित्र आत्मा एक है तो भी उनके मत मे जीव ब्रह्म का अश मात्र है। मायारूपी जगत् मिथ्या नही है क्योकि माया ईश्वर की ही शक्ति है जो उसकी इच्छा से उससे पृथक् होती है। ईश्वर की अनुकम्पा ही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा जीवात्मा मोक्षलाभ कर सकती है। निम्बार्क के अनुसार, जगत् और आत्मा ईश्वर के ऊपर निर्भर है जिसके अन्दर वे अवस्थित है, यद्यपि सूक्ष्म अवस्था में। उनकी कल्पना को द्वैताद्वैतपरक अद्वैत नाम दिया गया है। ज्ञानेश्वर के मत में, पतञ्जलि का योग ही गीता के उपदेश का लक्ष्य है। जहा योग्य मस्तिष्कों के द्वारा गीता के विषय में इतने सारे मत प्रकट किए गए हो तो पाठक का कार्य सरल नही रह जाता। इनके साहसिक तथा पाण्डित्यपूर्ण विश्लेषण और समन्वय हमें सर्वदा इस विषय का ठीक-ठीक ज्ञान नही देते कि किस प्रकार से परस्पर-विरोधी विचारो को तार्किक दृष्टि से सयुक्त किया जा सकता है। इसमे कोई इनकार नही कर सकता कि गीता आत्मिक जीवन का पोषण करती है। जब तक हमारे

वह प्रसंग जिसमें पहुँचकर कहा जाता है कि गीता का उपदेश दिया गया, यह निर्देश करता है कि इसका मुख्य प्रयोजन जीवन की समस्या का हल करना और न्यायोचित आचरण की प्रेरणा देना था। प्रत्यक्षरूप में यह एक नैतिक ग्रन्थ है, एक योगशास्त्र है। गीता का निर्माण एक नैतिक धर्म के युग में हुआ था और इसीलिए उस युग की भावना में इसने भी भाग लिया। भले ही गीता में योग शब्द का व्यवहार किसी भी प्रकरणानुकूल अर्थ में क्यों न हुआ हो, यह समस्त ग्रन्थ में आदि से अन्त तक अपने कर्मपरक निर्देश को स्थिर रखता है।[1] योग ईश्वर के सान्निध्य में पहुँचने, एक ऐसी शक्ति के साथ जो विश्व का शासन करती है सम्बन्ध जोड़ने और परमसत्ता को स्पर्श करने का नाम है। यह न केवल आत्मा की किसी विशेष शक्ति को अपितु हृदय, मन एवं इच्छा की समस्त शक्तियों को ईश्वर के अधीन कर देता है। यह मनुष्य का अपने को गम्भीरतम तत्त्व के साथ संयुक्त कर देने का प्रयत्न है। हम आत्मा के सम्पूर्ण सन्तुलन को परिवर्तित करके एक निरपेक्ष तथा तटस्थ भाव में लाने एवं शक्ति और सुख के प्रतिरोध की शक्ति को विकसित करने की आवश्यकता है। इस प्रकार योग से तात्पर्य उस अनुशासन (अथवा आत्मनियन्त्रण) से है जिसके द्वारा हम संसार के आघातों को सहन करने के लिए अपने को अभ्यस्त बना सकें और हमारी आत्मा के मुख्य अस्तित्व पर भी कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ सके। योग एक ऐसा साधन अथवा उपाय है जिसके द्वारा लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। पतञ्जलि का योग आत्मिक नियन्त्रण की एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा हम बुद्धि को निर्मल बना सकते हैं, मन को उसकी भ्रान्तियों से मुक्त कर सकते हैं और यथार्थसत्ता का साक्षात्कार कर सकते हैं। हम अपनी भावनाओं को नियन्त्रित कर सकते हैं और ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण करके सर्वोपरिसत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। हम अपनी इच्छा को इस प्रकार साध सकते हैं कि हम अपने समस्त जीवन को निरन्तर दैवीय सेवा के योग्य बना सकें। हम अपनी आत्मा के स्वरूप के अन्दर दैवीय शक्ति को भी प्रत्यक्ष कर सकते हैं तथा उत्साहपूर्ण प्रेम और महत्त्वाकांक्षा के साथ इसपर तब तक बराबर दृष्टि रख सकते हैं जब तक कि यह दैवीय स्फुलिंग बढ़ते बढ़ते एक अनन्त प्रकाश में परिणत नहीं हो जाता। ये सब भिन्न भिन्न प्रकार के योग अथवा उपाय हैं जो हमें एक सर्वोच्च योग अर्थात् ईश्वर के साथ संयोग की ओर ले जाते हैं। किन्तु कोई भी नैतिक सन्देश स्थिर नहीं रह सकता यदि उसे आध्यात्मिक वचन का समर्थन प्राप्त न हो। इस प्रकार गीता

अन्दर धार्मिक भावना रहती है और हम रूढ़िपरक विचारधारा पर निर्भर रहते हैं तब तक भावुकता
... है और हमारी प्रकृति
... है

[1] योग क्रियात्मक अभ्यास है और सांख्य अथवा ज्ञान से भिन्न है। देखिए, श्वेताश्वतर उपनिषद्, सांख्ययोगाधिगम्यम्, ज्ञान तथा अभ्यास के द्वारा जानने योग्य। योग का अर्थ कर्म भी है। देखिए गीता ३, ७; ५, १; २, ६; २०; १३, २४। भगवान के योग को उसकी अद्भुत शक्ति कहा गया है। देखिए ६, ५; १०, ७; ११, ८। जो पदार्थ हमारे पास नहीं हैं उनके प्राप्त करने के अर्थ में भी योग शब्द का प्रयोग होता है। देखिए ९, २२।

के योगशास्त्र का मूल ब्रह्मविद्या अर्थात् आत्मसम्बन्धी ज्ञान है। गीता एक कल्पनापद्धति भी है और जीवन का विधान भी है, बुद्धि के द्वारा सत्य का अनुसन्धान भी है और सत्य को मनुष्य की आत्मा के अन्दर क्रियात्मक शक्ति देने का प्रयत्न भी है। प्रत्येक अध्याय के उपसहारपरक वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है जो हमे एक अनिश्चित काल से प्राप्त होता आ रहा है, वह यह कि यह एक योगशास्त्र है अथवा ब्रह्म-सम्बन्धी दर्शनशास्त्र का धार्मिक अनुशासन है, "ब्रह्मविद्याना योगशास्त्रे।"

५

परम यथार्थता

गीता मे उपनिषदो के ही समान परमतत्त्व की मीमासा दो विधियो से की गई है—एक तो विषयगत विश्लेषण से, और दूसरे विषयीगत विश्लेषण से। गीता के रचयिता के आध्यात्मिक झुकाव पर दूसरे अध्याय मे स्पष्टरूप से प्रकाश डाला गया है। जहा उसने यह सिद्धात प्रस्तुत किया है जिसपर उसकी योजना का आधार है "असत् से सत् उत्पन्न नही हो सकता और सत् का अभाव कभी नही होता।"[1] विषयगत विश्लेषण सार-तत्त्व एव आभास के मध्य, अमर और नश्वर के मध्य, तथा अक्षर और क्षर के मध्य भेद को आधार बनाकर आगे बढता है। "ससार के अन्दर ये दो सत्त्व है, क्षर और अक्षर। अपरिवर्तनशील अक्षर है।"[2] हम यह नही कह सकते कि वह 'अपरिवर्तनशील', जिसका यहा निदश किया गया है, सर्वोपरि यथार्थसत्ता है क्योकि अगले ही श्लोक मे गीता घोषणा करती हे कि "सर्वोपरि सत्ता दूसरी ही है जिसे सर्वोच्च आत्मा अर्थात् परमात्मा कहते है, जो अक्षय भगवान, तीनो लोको मे व्याप्त है और उन्हे धारण किए हुए है।"[3] गीता का रचयिता पहले ससार की स्थायी पृष्ठभूमि को उसके क्षणिक व्यक्तरूपो से भिन्न करके बतलाता है अर्थात् वह प्रकृति है जो परिवर्तनो से पृथक् है। इस आनुभविक लोक मे हमे नश्वर एव स्थायी दोनो ही पक्ष मिलते हैं। यद्यपि ससार के परिवर्तनो की तुलना में प्रकृति नित्य है तो भी यह निरपेक्षरूप से यथार्थ नही हे, क्योकि इसका आधार भी सर्वोपरि जगत् का स्वामी है।[4] यह सर्वोपरि आत्मा ही यथार्थ मे अमर है जो नित्य का आश्रय-स्थान है।[5] रामानुज अपने विशेष सिद्धात की अनुकूलता को ध्यान मे रखकर 'क्षर' का अर्थ प्रकृतितत्त्व और 'अक्षर' का अर्थ जीवात्मा करते है, फिर भी पुरुषोत्तम अथवा सर्वोपरि आत्मा को इन दोनो से उत्कृष्ट एव ऊपर बताते हैं। हमारे लिए यह सम्भव है कि पुरुषोत्तम के भाव की व्याख्या करने मे हम उसका एक ठोस मूर्तरूप व्यक्तित्व स्वीकार कर लें जोकि सीमित तथा असीम के मिथ्या अमूर्त भावो से उत्कृष्ट है। कठिनाई केवल

१. २ : १६। २. १५ : १६। ३. १५ : १७।

४. यह कहा जाता है कि "एक और सत्ता है जो अव्यक्त और नित्य है और इस अव्यक्त तत्त्व से भिन्न है जिसका अन्य सब वस्तुओं का नाश होने पर नाश नही होता।" (८ . २०)।

५. ८ : २१।

यही है कि ब्रह्म को जिसे सीमित जगत् का भी आधार बताया गया है केवल अमन रूप म नही समझा जा सकता है। गीता सीमित अथवा अस्थायी एव असीम अथवा स्थायी सत्ता म भेद करती है। जो कुछ सीमा वाला और क्षणिक प्रकृति वाला है वह यथार्थ नहीं है। समग्र परिणमन एक अभाव प्रतिषेध है। जो परिणत होता है वह सत नहीं है। यदि यह सत् होता तो इसका परिणमन न होता। चूकि ससार की सब वस्तुए कुछ अन्य रूप म आने के लिए सघर्ष कर रही है इसीलिए व यथार्थ या वास्तविक नही है। इस पृथ्वी पर की सब वस्तुओ मे क्षणिकता लक्षित होती है। हमारी चेतना की पृष्ठभूमि म इस प्रकार का एक विश्वास अवश्य है कि एसी कोई वस्तु अवश्य है जो नष्ट नहा होती। क्योकि अभाव से किसी वस्तु की उत्पत्ति नही हो सकती। वह यथार्थसत्ता रूपी परम सत सदा बदलती रहनेवाली प्रकृति नही हो सकती। यह सर्वोपरि परब्रह्म ही है। यह अनादि अनन्त और कूटस्थ या चट्टान की तरह दृढ है जबकि जगत् केवल समयरहित और अन्तरहित सत्ता अनादिप्रवाहसत्ता है। 'यथार्थ म द्रष्टा वही है जाकि सर्वोपरि प्रभु को सब वस्तुओ म एक समान विद्यमान रहनेवाला करके देखता है जो वस्तुओ के नष्ट होने पर भी नष्ट नही होता।'[1] इस अनादि अनन्त आत्मा का सब प्राणियो के अन्दर निवास है और इसलिए गुणो की दृष्टि से सीमित पदार्थो से भिन्न नही गिनना है। गीता एक एसी असीम सत्ता म विश्वास करती है जो सब सीमित वस्तुओ की आधारभूत है और उनमे जीवन का सचार करती है।

जीवात्मा सदा ही अपने आपसे असन्तुष्ट रहती है और बराबर कुछ अन्य बनने के लिए सघर्ष करती रहती है। अपनी सीमितता के ज्ञान म भी अनन्त का भाव विद्यमान है। सीमित जीवात्मा जिसकी शक्तिया परिमित हैं और जो सदा ही अपनी दु खमय अवस्था से ऊपर उठने का प्रयत्न करती है परमार्थरूप से यथार्थ नही है। यथार्थ आत्मा का स्वरूप अविनश्वरता का स्वरूप है। गीता आत्मा के अन्दर स्थायित्व के अंश को खोजने का प्रयत्न करती है वह जोकि सदा ही ज्ञाता या प्रमाता अथवा विषयी है ज्ञेय या प्रमेय अथवा विषय नही है। क्षेत्र स्थान अथवा पदार्थ है और क्षेत्रज्ञ पदार्थ का ज्ञाता अथवा विषयी है।[2] जो कुछ जाना जाता है वह ज्ञाता की सम्पत्ति नही है। मनुष्य की आत्मा के अन्दर ज्ञाता का अश है जो समस्त परिवर्तनो के अन्दर भी अविचल और बराबर एकरस रहता है। यह अनादि अनन्त है अखण्ड है कालाबाधित और स्वयम्भू है। मनुष्य के व्यक्तित्व को उसके बनानेवाले शरीर मन एव जीवात्मा के अवयवो म से अलग करके गीता इनम से उस तत्त्व की खोज निकालने का प्रयत्न करती है जो सदा रहता है। शरीर स्थायी नही है क्योकि इसका अन्त है। यह एक क्षणिक छाया है।[3] इन्द्रिया या जीवन भी अल्पकालिक चचल तथा विकारयुक्त है। मन भी सदा परिवर्तनशील है। यह सब एक ज्ञाता (विषयी) के लिए ज्ञेय पदार्थ है य वे साधन हैं जिनके द्वारा आत्मा कार्य करती है। इनकी स्वतन्त्र सत्ता का कोई अर्थ नहा है। आभ्यन्तर तत्त्व जो समस्त ज्ञान का आदिस्रोत है गीता के शब्दो म इन्द्रियो से मन म और बुद्धि से भी महत्तर

१ १३ ७ और आ देखिए २० । २ १३ १ और ५–६ ।
३ २ १८, १९ १८ । ४ २ १४ ।

है।"[1] यह वह तत्त्व है जो सबको एकत्र रखता है और बराबर यहां तक कि सुषुप्ति या प्रगाढ निद्रा मे भी उपस्थित रहता है। परस्पर सबको जोडे रखने का यह कार्य इंद्रियों का नही हो सकता, न बुद्धि का ही हो सकता है, और अपने-आप ही यह सम्भव हो सकता है।[2] ज्ञाता या विषयी रूपी तत्त्व एक अनिवार्य तथा आवश्यक आधार है जिसके ऊपर ज्ञेय या प्रमेय जगत्, जिसमे आनुभविक आत्मा भी सम्मिलित है, स्थिर है। यदि हम ज्ञाता को छोड दें तो ज्ञेय का भी लोप हो जाता है। किन्तु स्वय ज्ञाता का लोप नही होता, भले ही ज्ञेय का लोप हो जाए। इस अमर रहनेवाले तत्त्व का विवरण बहुत परिष्कृत रूप मे गीता मे दिया गया है। यह शरीर का स्वामी है। "वह कभी नही जन्मा और न वह मृत्यु को प्राप्त होता है और चूकि उसका आदि नही है इसीलिए अन्त भी नही है। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुराणरूप आत्मा शरीर के मारे जाने पर भी नही मरता है।"[3] "शस्त्र इसको काट नही सकते, अग्नि इसे जला नही सकती, न पानी ही इसे गीला कर सकता है। वायु इसे सुखा नही सकती। इसके अन्दर कोई छेद नहीं कर सकता। इसे आग नही लग सकती। यह नित्यस्थायी, सर्वव्यापक, स्थिर रहनेवाला, अचल और सनातन है।"[4]

गीता का सर्वोपरि आत्मा का वर्णन कुछ भ्रांतिजनक अवश्य है। "यह अक्षय सर्वोपरि आत्मा, अनादि होने के कारण और निर्गुण होने के कारण, कार्य नही करता, न इसमे कोई दोष लगता है, यद्यपि यह शरीर मे अवस्थित है।"[5] यह केवल द्रष्टा या साक्षी मात्र है। आत्मा अकर्तृ या अकर्ता है। विकास का समस्त नाटक पदार्थ-जगत् से ही सम्बन्ध रखता है। बुद्धि, मन और इन्द्रिया जड प्रकृति के ही विकार हैं किन्तु यह सब विकृति भी आत्मा की उपस्थिति से ही सम्भव होती है। प्रमाता या ज्ञाता आत्मा, जो हमारे अन्दर है, शान्त, एक समान, बाह्य जगत् मे अनासक्त है, यद्यपि यह उसका आधार है और अन्तर्व्यापक साक्षी है।

सासारिक व्यक्तियो मे हमे विषयी और विषय का परस्पर सयोग मिलता है।[6] अनुभव करनेवाले व्यक्ति विषयी के केन्द्रीय तत्त्व हैं जो ज्ञेय पदार्थों से मर्यादित है। इस ससार के अन्दर विषयी और विषय सदा साथ-साथ मिलते हैं।[7] केवल विषय या पदार्थ का ही परम इन्द्रियातीत अस्तित्व नही है। विषयी जो विषय से उत्कृष्ट है, विषय का आधार है। "जब मनुष्य को इस बात का अनुभव हो जाता है कि नानाविध सत्ताओं का एक ही मूल है और सब उसीसे निकली है तब वह सर्वोपरि सत्ता के साथ ऐक्यभाव का अनुभव करता है।"[8] जब पदार्थ (विषयवस्तु) के साथ मिश्रण-सम्बन्धी भ्रांति का अन्त हो जाता है तो विषयी सबमे एकसमान दिखाई देने लगता है। कृष्ण ने जो अर्जुन को बलपूर्वक यह कहा कि मरे हुओ के लिए शोक मत करो तो उसका आशय यह था कि मृत्यु एकदम विलोप का नाम नही है। व्यक्तिगत रूप बदल सकता है, किन्तु सारभूत तत्त्व का नाश नही होता। जब तक पूर्णता प्राप्त नही हो जाती, व्यक्तित्व का भाव विद्य-

१ ३:४२। २. १३:६। ३ २:२०।
४ २:२३-२५। ५ १३:३१। ६ १३:२७।

मान रहता है। यह मरणधर्मा शरीर का ढांचा भले ही बार बार नष्ट हो जाए आभ्यन्तर व्यक्तित्व अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखता है और एक नया रूप धारण कर लेता है। इस विश्वास से जीवन की प्रेरणा प्राप्त करके मनुष्य को आत्मज्ञान के लिए कार्य करना चाहिए। हमारी अविनश्वरता निश्चित है—या तो अनन्तता द्वारा अथवा पूर्णता की प्राप्ति द्वारा। हमारी उपलक्षित असीमता का यह केवल प्रकटरूप में आ जाना ही है। आत्मा के अस्तित्व के इस प्रतिपादन के आधार पर और उपनिषदों की अन्तर्दृष्टि के इस समर्थन के द्वारा कि आत्मा अथवा निर्मल ज्ञाता हमारे शरीर के मिट्टी में मिल जाने पर भी अछूता अथवा अप्रभावित बचा रहता है इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मन की बेचैनी को दूर किया था

> 'आत्मा का जन्म कभी नहीं हुआ न यह आत्मा कभी नष्ट होगी
> ऐसा कोई समय नहीं था जबकि यह न रही हो, अन्त और आदि
> केवल स्वप्नरूप हैं
> उत्पत्तिरहित और मृत्युरहित यह आत्मा परिवर्तनरहित सदा एक
> समान रहती है
> मृत्यु इसका बाल भी बांका नहीं कर सकती यद्यपि इसका आवास
> स्थान मृत दिखाई देता है।'[1]

उपनिषदों की ही भावना के अनुकूल गीता भी आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करती है। क्षणिक सत्ता वाली इन्द्रियां और शरीर के पीछे आत्मा है। संसार के क्षणिक पदार्थों की पृष्ठभूमि में ब्रह्म है। दोनों एक ही हैं क्योंकि दोनों का स्वभाव एक-समान है। इसकी यथार्थता प्रत्येक मनुष्य के अपने अपने अनुभव का विषय है और उसे वह स्वयं ही अनुभव कर सकता है। अपरिवर्तनशील की व्याख्या परिवर्तनशील की परिभाषा के द्वारा करने के सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध होंगे। यह ठीक है कि गीता में अन्तर्दृष्टि से जानी गई परमार्थसत्ता संसार की तर्कसंगत आधारभूमि है ऐसा सिद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया किन्तु इसका संकेत अवश्य है। यदि यह संसार अनुभव का विषय है और एक अव्यवस्थित भ्रांति नहीं है तो हमें एक निरुपाधिक परमरूप यथार्थता की भी आवश्यकता है। किन्तु हमें इस विषय में बहुत सावधान रहना चाहिए कि हम अनन्त और सान्त दोनों के क्षेत्रों की पारस्परिक विभिन्नता का विरोध न करें। इससे हमें सान्त के विषय में भ्रमपूर्ण विचार मिलेगा। जो बात सबसे प्रथम हमारे लक्ष्य में आती है वह यह है कि क्षणिकस्वभाव सान्त और यथार्थस्वरूप अनन्त में भेद है। किन्तु यदि यही सब कुछ होता तो अनन्त असीम भी सीमित हो जाएगा तथा ऐसे रूप में परिणत हो जाएगा जो सान्त है क्योंकि विरुद्धगुण और बहिष्कृत सीमाबद्ध सत्ता ही असीम अथवा अनन्त की सीमा बन जाएगी। यह समझना अनुचित होगा कि अनन्त कोई ऐसी वस्तु है जो सान्त अथवा सीमित के अन्दर से हठात् बाहर आ गई हो। यह स्वयं ही सच्चे अर्थों में सान्त है। सीमित ही अनन्त का रूप है और वह अनन्त ही सान्त के अन्दर यथार्थसत्ता है और

1. गीता के कुछ श्लोकों का सर एडविन आर्नल्ड द्वारा अनुवाद।

ऐसी कोई वस्तु नही है जो उसके साथ-साथ या बराबर मे हो। सान्त पदार्थसमूह मे जो अनन्त का अश है यदि हम उसे दृष्टि से ओझल कर दें तो हमे एक अन्तविहीन उन्नति का सामना करना होगा जो सान्त जगत् की विशेषता है। यह अन्तविहीनता ही सान्त के क्षेत्र के अन्दर अनन्त की विद्यमानता का लक्षण है। सान्त अपने को इससे अधिक रूप मे व्यक्त भी नही कर सकता जैसेकि अनन्त को ही सान्त बना दिया गया हो। अनन्त और सान्त के बीच भेद करना केवल शिथिल विचार का लक्षण है। यथार्थ मे अनन्त ही सत्य है और सान्त केवल अनन्त का सीमित रूप है। इससे परिणाम यह निकला कि इन्द्रियातीतता और अन्तर्यामिता आदि परिभाषाए अनुपयुक्त हैं, क्योकि परमतत्त्व से भिन्न भी कुछ है इसकी वे कल्पना कर लेती हैं। परमसत्ता की व्याख्या के लिए जिस किसी भी उपाधि या लक्षण का प्रयोग किया जाए, सब अपर्याप्त है। इसका वर्णन करते हुए कहा जाता है कि यह न तो सत्स्वरूप है, न असत् ही है, न आकृतिमान है और न आकृतिविहीन ही है।[1] गीता उपनिषद् के ही सिद्धात को दोहराती है कि यथार्थसत्ता निर्विकार है, स्वतन्त्र सत्ता वाली है, और देश, काल एव कारण-कार्य के नियम से जकडे हुए समस्त ब्रह्माड की पृष्ठभूमि मे है।

गीता दर्शन के क्षेत्र मे अद्वैत अर्थात् जीव और ब्रह्म की एकता के सिद्धात को सत्य बताती है। सर्वोपरि ब्रह्म एक निर्विकार स्वतन्त्र सत्ता है, "जिसके विषय मे वेदान्ती वर्णन करते है जिसे तपस्वी लोग प्राप्त करते है।" यह सबसे ऊचा स्तर है और आत्मा के कालक्रम से गति करने का सर्वोपरि लक्ष्य है, यद्यपि अपने-आपमे यह गति नही है, अपितु एक स्तर है जो मौलिक है, सनातन है और सर्वोपरि है। ब्रह्म की अपरिवर्तनीय नित्यता ही सब चराचर एव विकसित जगत् का आधार है। ब्रह्म के ही कारण उनका अस्तित्व है। बिना इसके उनकी कोई सत्ता नही, यद्यपि यह किसीको बनाता नही, करता कुछ नही और किसीका निर्णय नही करता। दोनो अर्थात् ब्रह्म और जगत् स्वरूप मे परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं। यदि हम ससार की यथार्थता का खण्डन भी करें और इसे केवल एक आभासमात्र मानें तो भी कुछ तो तत्त्व मानना पडेगा जिसका कि यह आभास है। निरन्तर अपने से ऊपर उठने के लिए सघर्ष करते रहने के कारण ससार अपनी अयथार्थता को स्वय दर्शाता है किन्तु परब्रह्म अपने-आपमे स्वय लक्ष्य है और वह अपने से परे अन्य किसी लक्ष्य या उद्देश्य का ध्यान नही करता। चूकि संसार परब्रह्म के ऊपर आश्रित है इसीलिए परब्रह्म को कभी-कभी परिवर्तनरहित तथा परिवर्तनशील दोनो ही कहा जाता है। ससार के अन्तरहित विवरणो और विरोधो का अस्तित्व केवल इसीलिए है कि यह मनुष्य के मन को ऐसी दिशा मे मोड दे जहा सब विरोधो पर विजय प्राप्त की जाती है और एक तारतम्य-विहीन चेतना मे तारतम्यों से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। जहां एक ओर समस्त सम्भव सम्बद्ध तथा विरोधी इसीके ऊपर आश्रित हैं, यह उनका विरोधी नही है क्योकि उनका एकमात्र अधिष्ठान जो यही है। यह तो हम ठीक-ठीक नही जानते कि यह ससार ठीक किस प्रकार से परब्रह्म का

1. १३ १२।

आश्रित है किन्तु इतना हम निश्चय है कि परब्रह्म के बिना संसार भी नहीं हो सकता था। एक ओर समुद्र चुपचाप सोनेवाला है तो दूसरी ओर अत्यन्त क्षुब्ध भी है। हम नहीं जानते कि दोनों ठीक-ठीक किस प्रकार से परस्पर सम्बद्ध हैं। हम अपने इस अज्ञान को माया कहकर छिपा लेते हैं। दोनों एक ही हैं तो भी वे भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं और यह प्रतीति माया के कारण है। इन्द्रियातीत यथार्थता यद्यपि परिवर्तन से परे है तो भी परिवर्तनों का निर्धारण करती है। दार्शनिक दृष्टि से हम यहीं ठहर जाने को बाध्य होना पड़ता है। 'किसने प्रत्यक्ष रूप से देखा और कौन निश्चयपूर्वक घोषणा कर सकता है कि यह चित्र विचित्र सृष्टि किससे उत्पन्न हुई और क्यों उत्पन्न हुई?'[1]

जीवात्मा के सम्बन्ध में वही समस्या है क्योंकि यहां एक स्वतन्त्र विषयी और विषय के बीच में परस्पर के सम्बन्ध का प्रश्न है। हम नहीं जानते कि एक अमर साक्षीरूप जीवात्मा और चेतना के प्रवाहरूप निरन्तर होते हुए परिवर्तनों के मध्य में परस्पर का बन्धन कैसा है। इस कठिनाई को हल करने के लिए शंकर ने अध्यास की कल्पना की। विषयी और विषय दोनों का परस्पर संयोग नहीं हो सकता क्योंकि विषयी (प्रमाता जीवात्मा) के हिस्से जो नहीं हैं। इनका परस्पर-सम्बन्ध समवायसम्बन्ध अर्थात् अङ्गाङ्गीभाव-सम्बन्ध भी नहीं हो सकता जिसमें एक दूसरे से पृथक् न हो सकें, क्योंकि ये कारणकार्यभाव से तो परस्परसम्बद्ध नहीं हैं। इसलिए शंकर इस परिणाम पर पहुंचे कि इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध अध्यास के रूप का है अर्थात् एक दूसरे की ओर उन दोनों के गुणों को भ्रम के कारण जो वह नहीं है वैसा मान लेना—और यह विषयी तथा विषय के स्वरूप में भेद न करने के कारण होता है जैसे सीप को भ्रम से चांदी समझ लेना, रस्सी को भ्रम से सांप समझ लेना। दोनों का परस्पर सम्पर्क प्रतीतिमात्र अथवा मिथ्या ज्ञान है और सत्यज्ञान प्राप्त कर लेने पर यह अध्यास विलुप्त हो जाता है। 'यह कल्पना गीता में नहीं पाई जाती, इसका संकेत भले ही समझ लिया जाए।

उपनिषदों का आध्यात्मिक आदर्शवाद गीता में ईश्वरवादी धर्म के रूप में परिणत हो गया है जिसमें प्रेम, प्रार्थना और भक्ति सबका समावेश है। जब तक हम परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता और हम आनुभविक जगत् के पक्ष से ही कार्य कर रहे हैं हम उक्त विषय की व्याख्या सर्वोपरि ईश्वर की, जिसे गीता में पुरुषोत्तम कहा गया है, कल्पना के आधार पर कर सकते हैं। परमार्थसत्ता का शरीरधारी होना ही मनुष्य की दृष्टि में उसका पूर्ण महत्त्व नहीं रखता। गीता उपनिषदों के आनन्दवाद को मनुष्य जाति के दैनिक जीवन के अनुकूल बनाने के लिए उत्सुक है और इसके लिए वह उक्त यथार्थ परमसत्ता की दैवीय क्रिया तथा प्रकृति के कार्यों में भाग लेने के विचार का समर्थन करती है। यह हमारे सामने एक ऐसे ईश्वर की कल्पना प्रस्तुत करती है जो मनुष्य के कुल जीवन के लिए सन्तोषप्रद है। गीता का ईश्वर ऐसी यथार्थसत्ता है जो केवल अनन्त और अवर्णनीय दोनों से ऊपर है। परमात्मा संसार का जनक (उत्पादक) तथा कारण है जो अभिभाज्य शक्ति के रूप में समस्त प्राणीमात्र में व्याप्त है। नैतिक गुण आध्यात्मिक गुणों के

1. दर्विदाध मण्डल २, ८–।
2. भगवद्गीता पर शांकरभाष्य २, ४१ ८

साथ जुडे हुए है।[1] गीता लक्षणभेद को पृथक्त्व-कारण मानने के हेत्वाभास को स्वीकार करने के लिए तैयार नही है। यह सब प्रकार के अमूर्तभावात्मक विरोधों का परस्पर समन्वय करती है। पहले 'परस्पर-भेद करके तब उनमे परस्पर-समन्वय स्थापित किए' विना विवेक अपना कार्य नही कर सकता। ज्योही हम परमतत्त्व का चिन्तन करने लगेगे, हमे अन्तर्दृष्टि के पात्र तथ्य को विचार की परिभाषा मे परिणत करना होगा। विशुद्ध सत् शून्यरूप मे परिणत हो गया, और अब हमारे सम्मुख सत् तथा शून्य का सयुक्त रूप है। यह सयुक्त रूप ऐसा ही यथार्थ है जैसाकि विचार। यह ठीक है कि गीता हमे उस प्रक्रिया के विषय मे कुछ नही वतलाती कि जिससे निरपेक्ष परमतत्त्व, जो अशरीरी है और निष्क्रिय आत्मा है, क्रियाशील और शरीरधारी भगवान प्रभु बन जाता है जो विश्व की रचना व उसका धारण करता है। बुद्धि के द्वारा तो यह समस्या हल नही हो सकती। इस रहस्य का उद्घाटन तभी होता है जवकि हम अन्तर्दृष्टि के स्तर तक उठते है। निरपेक्ष परमतत्त्व (ब्रह्म) का ईश्वर के रूप मे परिणत होना माया, अथवा रहस्य, है। यह इन अर्थों मे माया भी है कि परिणत ससार इतना यथार्थ नही है जितना कि परब्रह्म स्वय है।

यदि तर्क के द्वारा हम परब्रह्म के ससार के प्रति सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न करे तो हम इसे शक्ति का नाम देंगे। निष्क्रिय और निर्गुण परब्रह्म, जो किसी भी पदार्थ से असम्बद्ध है, तर्क के द्वारा सक्रिय एव शरीरधारी ईश्वर के रूप मे परिणत हो गया—जिसके अन्दर वह शक्ति है जिसका सम्बन्ध प्रकृति से है। हमे गीता मे नारायण का ज्ञान मिलता है 'जो जल मे आसीन विचारमग्न है।' वह नित्यरूप 'अहकार' 'अनात्म' के सम्पर्क मे आता है। इसी 'अनात्म' को प्रकृति भी कहा गया है, क्योकि यह ससार का जनक है। यह भ्राति का आदिस्रोत है, क्योकि यही यथार्थसत्ता के सत्यस्वरूप को मरणधर्मा मनुष्यो की दृष्टि से छिपाकर रखता है। ससार अङ्गाङ्गीभाव से पुरुषोत्तम के साथ जुडा हुआ है। ऊपर पुरुषोत्तम से लेकर नीचे तक सब वस्तुओ मे सत् और असत् का अश विद्यमान है। निषेध के भाव का परमार्थतत्त्व के सम्बन्ध मे प्रवेश किया गया है, और परिणमन की प्रक्रिया मे एकत्व को हठात् अपने आतरिक रूप को प्रकट करना पड़ता है। 'कर्म के प्रति स्वाभाविक आदिम प्रेरणा', जो अन्दर से उठती है, पुरुषोत्तम के हृदय मे अपना स्थान रखती है। मौलिक एकत्व के गर्भ मे विश्व की समस्त प्रगति अवस्थित है, जिसके अन्दर भूत, वर्तमान, और भविष्यत् अब सर्वोपरि सत्ता मे है। कृष्ण अर्जुन को सम्पूर्ण विश्वरूप का एक विस्तृत आकार मे दर्शन कराते है।[2] नित्यता के प्रकाश मे अर्जुन नामरहित वस्तुओ का दर्शन करता है, कृष्ण की विराट आकृति को इस जीवन की सीमाओ का उल्लघन करते हुए देखता है, जिसने सम्पूर्ण अन्तरिक्ष और विश्व को व्याप्त कर लिया। उसने विभिन्न लोको को उस विराट रूप के अन्दर से वडे-वडे जलप्रपातो की भाति अपना-अपना मार्ग वनाकर निकलते देखा। प्रत्याख्यान अथवा अन्तर्विरोध उन्नति का मुख्य स्रोत है। यहा तक कि ईश्वर के साथ

१. भगवद्गीता, ८ : ९ और १३।
२. भगवद्गीता, अध्याय ११; ६ : २९, ७ : ८–९, ८ : २२, १०।

के स्वरूप का निर्माण करते हैं। यही दोनो ससार का निर्माण करनेवाली सामग्री है।[1] यही कारण है कि प्रभु को संसार का आधार कहा जाता है और चेतना को पूर्ण प्रकाशित करनेवाला प्रकाश कहा जाता है। गीता का रचयिता इसके प्रकार का वर्णन नही करता कि जिसके अनुसार ईश्वर का एक स्वरूप एक अवस्था मे तो अपने को चेतनाविहीन या जड प्रकृति के रूप मे अभिव्यक्त करता है, और दूसरी अवस्था मे चेतन बुद्धि के रूप मे, और साथ ही किस प्रकार ये एक ही आदिम स्रोत की उपज होते हुए ससार की प्रगति मे एक-दूसरे के विपरीत रहकर कार्य करते है।[2]

मनुष्य एव प्रकृति मे निवास करते हुए भी सर्वोपरि ब्रह्म दोनो से महान है। अनन्त विश्व अनन्त देश और काल से बद्ध उसी ब्रह्म मे अवस्थित है न कि वह ब्रह्म इसमे। ईश्वर की अभिव्यक्ति मे परिवर्तन हो सकता है, किन्तु उसके अन्दर एक अंश है जो आत्मस्वरूप है, और प्रतीतिरूप परिवर्तनो की स्थिर पृष्ठभूमि है। नानाविध जीवन उसके स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही ला सकते।[3] "जिस प्रकार शक्तिशाली वायु सब जगह गति करती हुई आकाश मे स्थिर है, इसी प्रकार सब वस्तुए मेरे अन्दर स्थिर हैं।"[4] तो भी बिना वायु के गति करने पर भी आकाश आकाश ही है। रचना के गुणो के कारण उस प्रभु मे कोई उपाधि नही आती। यह ससार उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति होते हुए भी ईश्वर की आत्मपूर्णता मे किसी प्रकार की न्यूनता नही लाता। तो भी हम संसार की रचना से भिन्न ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान नही कर सकते। यदि, सज्ज्ञात्मक तत्त्व को समस्त सारवस्तु से रिक्त कर लिया जाए और उस सबसे भी रिक्त कर लिया जाए जिससे ज्ञान तथा जीवन का निर्माण होता है, तो ईश्वर अपने-आपमे अज्ञेय बन सकता है। यह भी सत्य है कि हम यदि इस ससार मे ही भटकते रहेगे तो यथार्थता के दर्शन हमे कभी नही हो सकते। यह जानना हमारे लिए आवश्यक है कि पदार्थों के साथ सम्बन्ध से स्वतन्त्र-रूप मे ईश्वर क्या है, और उन सब परिवर्तनो मे भी जिन्हे वही इस संसार मे लाता है, अपने को उनसे पृथक् किस प्रकार बनाए रखता है। चूंकि वह पदार्थों के साथ के सम्बन्ध को पृथक् नही कर सकता, केवल इसीलिए हमे यह नही सोच लेना चाहिए कि विषयी आत्मा अपने अन्दर आत्माभिज्ञा नही रखता। यदि अभिव्यक्ति को आत्मा के साथ मिश्रित कर दिया जाए तो गीता का सिद्धांत भी एक प्रकार का सर्वेश्वरवाद बन जाएगा। किन्तु

१ रामानुज कहते हैं : "बुद्धिरहित प्रकृति और उसके अन्दर बुद्धिसम्पन्न निक्षिप्त किए गए गर्भ से (१४, ३) प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं, जो देवताओं से लेकर और स्थिर पदार्थों तक एक चेतनाविहीन वस्तु के साथ परस्पर-मिश्रित हैं।" (गीता का रामानुजभाष्य १३, २।) साथ ही रामानुज यह भी मानते हैं कि ये सब प्राणी अपनी परमसत्ता भी रखते हैं जो ईश्वर की सत्ता से भिन्न है, यद्यपि गीता का विचार इस विषय में निश्चित है। अविभाज्य ब्रह्म यथार्थ में विभक्त नहीं होता किन्तु केवल ऐसा प्रतीत होता है। ("विभक्तमिव", १३, १६)।

२ इसलिए हम इस स्थिति में नहीं हैं कि गीता के पुरुषोत्तम अथवा सम्पूर्ण सम्बन्धी विचार तथा बर्गसा की नित्य (Duree) सम्बन्धी कल्पना में, अथवा गीता के पुरुष और प्रकृति सम्बन्धी सिद्धांत तथा बर्गसा के जीवन और भौतिक प्रकृति के मध्य कोई तुलना कर सकें।

३ महाभारत, शान्तिपर्व, ३३६-३४४। ४. ६ : ६, ६ : १०।

दूसरी श्रेणी है जो मौन और निर्विकार है, जिससे ऊचा और कुछ नही है। दोनों पक्ष एकसाथ मिलकर पुरुषोत्तम कहलाते है। यदि हम यह सिद्ध करने का प्रयत्न करें कि शरीरधारी प्रभु ही उच्चतम आध्यात्मिक सत्ता है तो हम विषम परिस्थिति मे पड जाएगे। "मैं इस ज्ञान के प्रयोजन मे घोषणा करूगा—इस ज्ञान के कि कौन उस अमरत्व को प्राप्त करता है जो सबसे ऊचा ब्रह्म है जिसका आदि व अन्त नही है, और जिसे न सत् और न असत् ही कहा जा सकता है।"[१] गीता का रचयिता हमे बार-बार स्मरण कराता है कि व्यक्तरूप उसकी अपनी ही रहस्यमयी शक्ति के कारण है, जिसे योगमाया भी कहते हैं।[२] "अज्ञानी लोग मेरे इन्द्रियातीत और अक्षय सारतत्त्व को न जानने के कारण, जिससे ऊचा और कुछ नही है, मुझे यह समझने लगते है कि मैं अदृश्य से अब दर्शन का विषय बन गया हूं।"[३] अंतिम विश्लेषण मे परब्रह्म का पुरुषोत्तमरूप धारण करना यथार्थ से न्यून हो जाता है। इसलिए इस प्रकार का तर्क करना अनुचित है कि गीता के अनुसार अशरीरी आत्मा यथार्थता मे शरीरधारी ईश्वर की अपेक्षा निम्न श्रेणी की है, यद्यपि यह सत्य है कि गीता एक शरीरधारी ईश्वर की कल्पना को धार्मिक कार्यों के लिए अधिक उपयोगी समझती है।

इससे पूर्व कि हम गीता मे प्रतिपादित विश्वशास्त्र के विषय को हाथ मे लें, हमे पुरुषोत्तम और कृष्ण की धारणाओ के पारस्परिक सम्बन्ध पर ध्यान देना है क्योकि यही आकर अवतारो का प्रश्न हमारे सामने आता है।

कृष्ण और पुरुषोत्तम क्या एक ही हैं अथवा कृष्ण उसकी केवल आंशिक अभिव्यक्ति है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके विषय मे बहुत मतभेद है। गीता मे अवतारो की कल्पना का वर्णन है। "यद्यपि मैं अजन्मा हू और अपने साररूप मे अक्षय हू तो भी सब प्राणियो का प्रभु हू और अपनी प्रकृति पर पूरा अधिकार रखते हुए मैं अपनी माया से जन्म लेता हू।"[४] साधारणतया सब अवतार परब्रह्म के अंश या कलारूप मे ही व्यक्तरूप है किन्तु भागवत कृष्ण को अपवादरूप बताते हुए उसे पूर्णव्यक्त या षोडशकलापूर्ण अवतार कहती है, "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।" कृष्ण का जो रूप वर्णन किया जाता है वह उसकी पूर्णता का उपलक्षण या संकेत करनेवाला है। उसके सिर पर जो मोरपख का मुकुट है वह चित्र-विचित्र रंगो के होने से मनुष्य की दृष्टि को आप्लावित कर देता है। उसका वर्ण आकाश की भांति श्याम है, वन्य फूलो से गुथी हुई माला सौर-जगत् तथा नक्षत्रमण्डल के वैभव की प्रतीक है। बांसुरी जो वह बजाता है वह है जिसके द्वारा वह अपना सन्देश देता है। पीतवस्त्र जो उसके शरीर का परिधान है उस प्रकाश के प्रभामण्डल का प्रतीक है जो सारे अन्तरिक्ष मे व्याप्त है। उसके वक्ष स्थल पर जो चिह्न है वह भक्त की भक्ति का प्रतीक है, जिसे वह मनुष्यजाति के प्रति प्रेम के कारण बड़े गौरव के साथ धारण किए हुए है। वह भक्तो के हृदय मे निवास करता है और मनुष्य-जाति के प्रति उसका आकर्षण इतना अधिक है कि उसके दोनो पैर जो इस आकर्षण के प्रतीक है, एक-दूसरे के ऊपर रखे हुए हैं जिससे कि उसे पूरी दृढता प्राप्त हो सके। शकर

१. भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, १३ : १२।
२. ७ : २५।
३. ७ : २४।
४. ४ : ६।

और आनन्दगिरि कृष्ण को सर्वोपरि ईश्वर का केवल आंशिक अभिव्यक्ति के रूप में ही मानते हैं।[1] गीता के रचयिता की सम्मति में कृष्ण पुरुषोत्तम हैं। 'मेरे सर्वोपरि रूप से अनभिज्ञ होकर, सब प्राणियों के महान अधिपति मुझको, मनुष्य शरीर धारण किए हुए देखकर मूढ़ लोग गलत समझने लगते हैं।'[2]

अवतारों की कल्पना मनुष्य जाति के लिए एक नया आध्यात्मिक सन्देश प्रस्तुत करती है। अवतार सत्पुरुष होता है जो पाप, मृत्यु और विनाश के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। 'जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है मैं अपने को प्रकट करता हूँ। मैं युग-युग में सज्जनों की रक्षा के लिए और दुर्जनों के नाश के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए जन्म धारण करता हूँ।'[3] यह आध्यात्मिक जगत की व्यवस्था को अभिव्यक्त करनेवाली दार्शनिकता की नली है। यदि ईश्वर हमारी दृष्टि में मनुष्य का रक्षक है तो जब कभी आसुरी शक्तियाँ मनुष्य जीवन के मूल्य को नष्ट करने में प्रवृत्त हों उन्हें ईश्वर का अवश्य प्रकट होना चाहिए। हिन्दूधर्म के पुराणशास्त्रों के अनुसार जब कभी रावण या कंस-जैसे पाशविक लोग प्रभुता प्राप्त कर लेते हैं तब इन्द्र, ब्रह्मा आदि नैतिक व्यवस्था के प्रतिनिधि भूमि के प्रतिनिधि समेत (क्योंकि पृथ्वी को ही सबसे अधिक हानि होती है) वैकुण्ठ-दरबार में जाकर क्रन्दन करते हैं और संसार के किसी मुक्तिदाता की माँग उपस्थित करते हैं। यों तो त्राण का कार्य निरन्तर ही होता रहता है किन्तु विशेष अवसरों पर इस कार्य के ऊपर अधिक बल देना होता है। ईश्वर की साधारणरूप आत्माभिव्यक्ति अधिक बलशाली हो जाती है जबकि संसार की अवस्था अधिक पापिष्ठ हो जाती है। अवतार से तात्पर्य ईश्वर का मनुष्य-शरीर धारण करने से है, मनुष्य का ईश्वररूप हो जाना नहीं है। यद्यपि प्रत्येक चेतन प्राणी में ईश्वर उतर आता है किन्तु यह अभिव्यक्ति अप्रकट रहती है। दर्शनीयशक्तिसम्पन्न आत्मचेतन प्राणी और अज्ञानावृत प्राणी में भेद है। मनुष्य भी अवतार के ही समान है यदि वह संसार की माया का उल्लंघन करके अपनी अपूर्णता से ऊपर उठ सके। संसार का कर्ता पुरुषोत्तम अपने प्राणियों से भिन्न नहीं है। दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं है। वह अपने को सम्पूर्ण में बराबर प्रविष्ट रखता है। मनुष्य अपने पौरुष को यथार्थरूप देकर पूर्णचेतना को प्राप्त कर सकता है। ऐसी अवस्था में यह एक ही बात है चाहे तो हम यों कहें कि ईश्वर मनुष्य के रूप में अपने को सीमित कर लेता है अथवा यह कि मनुष्य ऊपर उठकर अपनी प्रकृति के द्वारा कर्म करता हुआ ईश्वर तक पहुँच जाता है। तो भी अवतार का अर्थ साधारणतया यह समझा जाता है कि ईश्वर एक विशेष प्रयोजन को लेकर इस पृथ्वी पर अपने को सीमा के अन्दर बाँधकर अवतरित होता है और उस सीमित रूप में भी ज्ञान की पूर्णता रखता है।

दार्शनिक बुद्धि अवतारों अथवा पूर्णता के आदर्शों को जाता संसार की महान

१ 'अंशेन सम्बभूव', अर्थात् अंश से उत्पन्न। शंकर। इसपर टीका करते हुए आनन्दगिरि कहते हैं कि यह एक भ्रान्तिमय रूप है जो उसने अपनी इच्छा से निर्मित किया है— स्वेच्छानिर्मितेन मायामयेन स्वरूपेण।

२ ९ : ११।

३ चौथा अध्याय। [illegible] भी देखिए, महानिर्वाणतन्त्र ४।

उन्नति के साथ जोडती है। उच्चश्रेणी की आत्माए, जिन्होंने प्रतिनिधिरूप युगो का अपने अन्दर केन्द्रीकरण किया, एक विशेष अर्थ मे ईश्वर के मूर्तरूप या अवतार बन गई। इन अवतारी व्यक्तियो के उदाहरण–जिन्होंने अपनी प्रकृति से ऊपर उठकर श्रेष्ठता प्राप्त की और अपने बाह्य तत्त्व से अन्तर्यामी ईश्वर की अभिव्यक्ति जनसाधारण के लिए की–मोक्षप्राप्ति के लिए सघर्ष करते हुए मनुष्यो के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए। इनसे मनुष्य उत्साह प्राप्त कर सकता है और उनके स्तर तक बढने का प्रयत्न कर सकता है। ये एक प्रकार के आदर्श ढाचे हैं जिनके अन्दर एक जिज्ञासु आत्मा अपने को ढालने का प्रयत्न करती है, जिससे कि वह ईश्वर की ओर बढ सके। जो कुछ एक विशेष व्यक्ति ने, यथा ईसा अथवा बुद्ध ने, सिद्धि प्राप्त की उसकी पुनरावृत्ति अन्य मनुष्यो के जीवन मे भी हो सकती है। इस भूलोक को पवित्र करने अथवा ईश्वर के आदर्श को प्रकाश मे लाने की चेष्टा को, इस भौतिक जगत् के विकास की प्रक्रिया मे, कई श्रेणियो के अन्दर मे गुजरना पडा है। विष्णु के दस अवतार मुख्य-मुख्य मार्गो का निर्देश करते हैं। मनुष्ययोनि से नीचे अर्थात् जन्तुयोनि के स्तर पर मत्स्य, कच्छप और वराह के अवतार पर जोर दिया गया है। इससे ऊपर उठकर हमे जन्तुजगत् एव मनुष्यजगत् मे सक्रमण मिलता है, अर्थात् नृसिहावतार, जो मनुष्य और सिंह का सयुक्तरूप है। यह विकास अभी पूर्णता को नही पहुचता जबकि हम वामनावतार की ओर आते है। मनुष्यो मे अवतार की पहली श्रेणी अत्यन्त उग्र, असस्कृत और हिंसक प्रवृत्ति वाले परशुराम की है जिसने मनुष्य-जाति का सहार किया। इसके आगे चलकर हमे मिलते है दैवीय तथा अध्यात्मवृत्ति वाले मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का अवतार, जो गृहस्थ-जीवन की पवित्रता का तथा प्रेममय जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है, और कृष्णवतार, जो हमे ससार के युद्धक्षेत्र मे साहस के साथ प्रवेश करने का उपदेश देता है, उसके बाद बुद्ध का अवतार हमे मिलता है, जो जीवमात्र के लिए करुणा के भाव से ओतप्रोत होकर मनुष्य-जाति के मोक्ष के लिए कर्म करता है। इसके बाद भी एक अवतार, जो अन्तिम अवतार होगा, अभी आनेवाला है। यह रणवीर ईश्वर का रूप कल्कि होगा, जो हाथ मे शस्त्र लेकर पाप और अन्याय के विरुद्ध युद्ध करेगा। मनुष्य-जाति के महान सकटकालो मे ये अवतार हुए हैं।

६

परिवर्तनमय जगत्

गीता मे माया की कल्पना का उचित स्थान क्या है यह जानने के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि किन-किन भिन्न अर्थो मे माया शब्द का प्रयोग वहा किया गया है, और उन सबके विषय मे गीता का अपना ठीक अभिप्राय क्या है। (१) यदि सर्वोपरि यथार्थ-सत्ता के ऊपर ससार की घटनाओ का कोई प्रभाव नही पडता, तब उक्त घटनाओ के कारण की व्याख्या एक रहस्यमय समस्या बन जाती है। गीता का रचयिता इस अर्थ मे माया शब्द का प्रयोग नही करता, भले ही उसके विचारो द्वारा यह उपलक्षित क्यो न होता हो। एक अनादिकाल से चली आई किन्तु अयथार्थ अविद्या ससार की भ्राति का

प्राप्त रहते हुए भी उक्त ग्रन्थकार के मन में प्रवेश नहीं पा सकी। (२) कहा गया है कि शरीरधारी ईश्वर सत् और असत् को, ब्रह्म की निर्विकारिता या एवं परिणमन के विकार विक्रिया या परिवर्तन को भी अपने अन्दर धारण करता है।[1] माया एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह विकारवान प्रकृति को उत्पन्न करता है। यह शक्ति है अथवा ईश्वर की क्रियाशीलता है अथवा आत्मविभूति है जो आत्मपरिणमन की शक्ति है। इन अर्थों में ईश्वर और माया परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर हैं और दोनों ही अनादि हैं।[2] गीता में सर्वोपरि ब्रह्म की इस शक्ति को माया कहा गया है।[3] (३) चूंकि ईश्वर विश्व की उत्पत्ति में अपने दो तत्त्वों प्रकृति और पुरुष (प्रकृति और चेतना) के द्वारा समर्थ होता है इसलिए उन्हें ईश्वर की माया (निम्न तथा उच्च श्रेणी की) कहा गया है।[4] (४) धीरे-धीरे आगे चलकर माया का अर्थ निम्न श्रेणी की प्रकृति हो गया क्योंकि पुरुष को ऐसा बीज बतलाया गया है जिसे प्रभु परमेश्वर प्रकृति के गर्भ में प्रवेश कराता है और जिससे विश्व की उत्पत्ति होती है। (५) चूंकि यह अभिव्यक्तिरूप जगत् मरणधर्मा मनुष्यों की दृष्टि से यथार्थ को छिपाता है इसलिए इसे भ्रान्तिरूप कहा गया है।[5] यह जगत अपने आपमें भ्रान्तिरूप नहीं है यद्यपि इसे केवल प्रकृति का यान्त्रिक परिणाम स्वरूप समझकर जो ईश्वर के साथ असम्बद्ध है हम इसके दैवीय तत्त्व का साक्षात् करने में असफल रहते हैं। यही भ्रांति का मूल बन जाता है। दैवीय माया अविद्यामाया बन जाती है। यह केवल हम मरणधर्मा मनुष्यों के लिए ही ऐसी है क्योंकि हम सत्य से दूर हैं। ईश्वर के लिए जो इसका पूर्ण ज्ञान रखता है और इसपर नियन्त्रण रखता है यह विद्यामाया है। मनुष्य के लिए माया विपत्ति और दुःख का कारण है क्योंकि यह एक भ्रान्त आंशिक चेतना का पोषण करती है और उस अवस्था में पूर्ण यथार्थता पर से चेतना का ग्रहण करने की शक्ति का प्रभाव शिथिल हो जाता है। ईश्वर माया के गहन आवरण में ढका हुआ प्रतीत होता है।[6] (६) चूंकि यह जगत ईश्वर का केवल कार्यरूप ही है और इसका कारण है ईश्वर और चूंकि हर जगह कारण कार्य की अपेक्षा अधिक यथार्थ होता है इसलिए इस जगत को भी ईश्वररूपी कारण से न्यूनतर यथार्थ कहा गया है। जगत की उक्त सापेक्ष अयथार्थता की परिणमन की प्रक्रिया के आत्मविरोधी स्वरूप से भी पुष्टि होती है। इस आनुभविक जगत् में विरोधी शक्तियों का एक संघर्ष है और यथार्थसत्ता सब विरोधी शक्तियों से ऊपर है।

इस जगत के परिवर्तन केवल कल्पनारूप हैं—इस विषय का कोई संकेत गीता में

१ ६ १६। २ देखिए शाण्डिल्यसूत्र २ १३ और १५।

३ १८ ६१। ४ ६। ४ ४ १६।

५ ७ १४। ७ २५।

६ वह माया जो अविद्या को उत्पन्न नहीं करती सात्त्विकी माया कहलाती है। जब इसमें मल आ जाता है तब यह अशुद्ध अथवा अविद्या को जन्म देता है। प्रथम प्रकार की माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर है और दूसरे प्रकार की माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव अथवा जीवात्मा है। यह अर्वाचीन वेदान्त है। देखिए पंचदशी १ १५–१७। गीता इस मत से अनभिज्ञ है।

७ २ ४५। ७ २८।

नही पाया जाता ।[1] यहा तक कि शकर का अद्वैतवाद भी जगत् के यथार्थ परिवर्तनो को स्वीकार करता है, केवल प्रारम्भिक परिवर्तन को, अर्थात् ब्रह्म मे जगत् के रूप मे परिवर्तन को, वह केवल प्रतीतिमात्र अथवा विवर्त समझता है। इस जगत् का सर्वोपरि पुरुषोत्तम से उद्भव अथवा नि.सरण यथार्थ है; केवल अन्तिम परमरूप के दृष्टिकोण से यह जगत् यथार्थ नही है, क्योकि यह सदा ही परस्पर द्वन्द्वग्रस्त रहता है। गीता इस मत का खण्डन करती है कि "यह जगत् मिथ्या है, इसका कोई निश्चित आधार नही है, इसका कोई शासक नही है, केवल इच्छा के कारण तत्त्वो के परस्पर मिलने से यह बन गया है और कुछ नही इत्यादि ।"[2] इसका तात्पर्य यह हुआ कि, गीता के अनुसार, इस जगत् मे जो विकास हमे दृष्टिगोचर होता है वह यथार्थ है और ईश्वर उसका अधिष्ठाता है। यह कहना अनुचित होगा कि गीता इस जगत् को उसी समय तक यथार्थ मानती है जब तक कि हम इसमे रहते है। ऐसा कोई सकेत नही है कि यह जगत् अनन्त व असीम के हृदय का एक कष्टमय स्वप्नमात्र है। गीता के अनुसार, इस परिणमनरूप जगत् मे रहते हुए कालातीत आत्मसत्ता रूपी अमरत्व को प्राप्त किया जा सकता है। हमारे सामने सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम का दृष्टात है जो इस जगत् का उपयोग बिना जगत् के द्वारा भ्रान्त हुए करता है। जब हम माया से ऊपर उठते है तो काल, देश व कारण हमसे दूर नही हो जाते । जगत् सर्वथा विलुप्त नही हो जाता किन्तु मात्र अपने आशय मे परिवर्तन कर लेता है।

पुरुषोत्तम कोई दूरस्थ चमत्कार का विषय नही है जो एक सर्वोपरि अवस्था मे हम सबसे दूर हो, बल्कि वह प्रत्येक मनुष्य और पदार्थ के शरीर और हृदय मे अवस्थित है। वह परस्पर-सम्बद्ध सब जीवनो का नियन्ता है। आत्मा और भूतद्रव्य का यह जगत् उसके सत्त्व का परिणाम है। ईश्वर शून्य से जगत् का निर्माण नही करता, वरन् अपने सत्स्वरूप से करता है। प्रलयकाल मे समस्त जगत्, जिसमे जीव भी सम्मिलित है, एक सूक्ष्म अवस्था मे उसी दैवीय सत्ता के अन्दर विद्यमान रहते है। अभिव्यक्त अवस्था मे वे एक-दूसरे से पृथक् रहते है तथा अपने आदिस्रोत को भूले रहते है। यह सब उसका परम योग है। इस जगत् की तुलना एक ऐसे वृक्ष से की गई है जिसकी 'जडे ऊपर की ओर और शाखाए नीचे की ओर' है।[3] प्रकृति जगत् के सामान्य रूप का नाम है। बराबर रहनेवाली प्रतिद्वन्द्विताए, नाना प्रकार के जीवो का एक-दूसरे को खा जाना, विकसित होना, परस्पर भेदभाव करना, सगठन करना और भौतिक पदार्थो मे जान डालना—ये सब कार्य प्रकृति के है। "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहकार—ये आठ विभाग मेरी प्रकृति के है।" यह ईश्वर का निम्न श्रेणी का रूप है। और जो रूप इन सबको शक्ति देता है और जगत् को धारण करता है, वह उसका उच्चतर रूप है।[4] रामानुज लिखते है "प्रकृति, अथवा विश्व का भौतिक स्वरूप, सुखप्राप्ति का विषय है, और वह जो इससे भिन्न है,—जोकि जड और सुखप्राप्ति का विषय है—जीवन का तत्त्व जीव है, और यह एक अन्य व्यवस्था का है। यह निम्न श्रेणी का सुख भोगने[illegible]

सम्पन्न आत्माओं के रूप में है। गीता रामानुज के यथार्थता विषयक मत का समर्थन करती है—यदि हम इसकी परमतत्त्व की पृष्ठभूमि को दृष्टि से ओझल कर दें और पुरुषोत्तम के विचार पर बल दें, जिसका स्वरूप द्वैतपरक है अर्थात् चेतना और प्रकृति। माला के मनके और रस्सी की उपमा रामानुज के अनुसार, दर्शाती है कि किस प्रकार "बुद्धि सम्पन्न एवं जड़ पदार्थों का समूह दोनों ही अपनी कारण और कार्य अवस्था में जो मेरे शरीर के रूप हैं एक प्रकार की मणियां हैं, जो एक रस्सी में पिरोई हुई हैं और जो मेरे आश्रय से लटक रही हैं तथा जिन्हें मेरा ही सत्स्वरूप आत्मा प्राप्त है।"[1]

जीवात्मा को प्रभु का एक अंश कहा गया है अर्थात् भगवान्।[2] शंकर अपनी इस प्रकार की व्याख्या में कि अंश अथवा भाग, केवल काल्पनिक अथवा आभासमान अंश का ही संकेत करता है भगवद्गीता के रचयिता के वास्तविक अभिप्राय के साथ न्याय नहीं करते क्योंकि यह (जीवात्मा) पुरुषोत्तम का यथार्थरूप है। शंकर की स्थिति उसी अवस्था में ठीक मानी जा सकती है जबकि उल्लेख अखण्ड ब्रह्म का हो जो अंश रहित है। परन्तु उस अवस्था में पुरुषोत्तम भी काल्पनिक है क्योंकि उसमें भी अनात्म का एक अंश विद्यमान है। वास्तविक जीवात्मा एक कर्ता है, इस प्रकार वह विशुद्ध अमर आत्मा नहीं है अपितु शरीरधारी आत्मा है जो ईश्वर की सीमित अभिव्यक्ति है। उस स्वरूप के कारण जो यह अपने आप स्वीकार करती है अर्थात् इन्द्रियों और मन के कारण इसको पृथक् रखा गया है। जिस प्रकार प्रकृति का एक निश्चित परिमाण अवधि एवं स्फुरण है इसी प्रकार पुरुष भी एक निश्चित सीमा और चेतना को प्राप्त करता है। सर्वव्यापी आत्मा एक मानसिक प्राणतत्त्व भौतिक आवरण में सीमाबद्ध प्रसंग में अन्तर्निविष्ट हो जाता है। पुरुष प्रकृति के साथ संयुक्त होकर प्रकृति के गुणों का सुखोपभोग करता है, और इसके जन्म एवं पाप या पुण्य का कारण है उन्हीं गुणों के साथ इसका सम्बन्ध।[3]

७

जीवात्मा

मनुष्य माया के अधीन हैं और बाह्य प्रतीतियों में खोए रहते हैं।[4] इस जगत् में मनुष्य अपनी अपूर्णता के कारण जन्म लेता है। जब तक हम सत्य का साक्षात् नहीं करेंगे जीवन मरण के चक्र में घूमते रहना अनिवार्य है। जब हम माया से ऊपर उठेंगे और अपने यथार्थ पद को पहचानेंगे तभी हम अपने इस पार्थक्य से छुटकारा पा सकेंगे। जीवात्मा कोई भी आकृति क्यों न धारण करे उसे उससे ऊपर उठना ही होगा। जीवात्मा सदा ही रूप बदलता है। किसी भी सान्त या सीमित रूप में उसके अनन्त स्वरूप की पूर्णतया अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यह बराबर अपने सान्त रूप से ऊपर ही ऊपर उठता है जब तक कि उसका यह परिणमन अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच जाता अर्थात् सत् रूप में नहीं आ जाता और सान्त अनन्त में जाकर विलीन नहीं हो जाता। सान्त संसार की प्रगति

१ भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य ७ : ७। २ १५ : ७।

३ १३ : २१। ४ [illegible]

का अन्त नही है। यह प्रगति अनन्त की पूर्णता का साक्षात्कार है जो सदा बढते हुए इच्छित विषय के क्रमश समीप और समीपतर पहुचता है। परिणाम यह निकला कि परिणमन तथा प्रकृति के सम्बन्धो के ऊपर आश्रित भेद केवल क्षणिक और अस्थायी है। जब तक गीता का विचार पुरुषोत्तम के स्तर पर रहता है वह पुरुषो की नित्यता एव अनेकता को स्वीकार करती है। ऐसी अवस्था मे सभी जीव शरीरधारी पुरुषोत्तम के केवल अशमात्र है। परम-सत्य की दृष्टि से उनका व्यक्तित्व विषय या प्रमेय रूपी तत्त्व के ऊपर निर्भर करता है। इस भौतिक जगत् मे भी ऐसे कर्म जो पृथक् व्यक्तित्व का सकेत करते हैं, अमर एव निष्क्रिय आत्मा के कारण नही है, किन्तु प्रकृति की शक्तियो से ही उनकी उत्पत्ति होती है। "प्रकृति के गुण प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ कर्म करने के लिए बाधित करते हैं।"[1] यदि पुरुष सनातन, शाश्वत या नित्य है तो यह सोचना कोई भ्राति न होगी कि वे कर्ता भी है और एक-दूसरे से भिन्न है। गीता मे कहा है "कर्म सब प्रकृति के गुणो के कारण निष्पन्न होते है। (किन्तु) मनुष्य की आत्मा अहंकार से विमूढ होकर (मोह अथवा भ्राति को प्राप्त होकर) यह समझने लगती है कि करनेवाला मैं हू।" "गुण तो गुणो के अन्दर वर्तमान है।"[2] व्यक्तित्व की मिथ्याभावना पदार्थरूपी ज्ञेय वस्तु की परिभ्राति के कारण ही उत्पन्न होती है। तब यह स्पष्ट है कि भेद का आधार अनात्म अर्थात् जड प्रकृति है जबकि आत्मा सबमे, अर्थात् 'कुत्ते मे और कुत्ते को खा जानेवाले चाण्डाल दोनो मे' एकसमान है।[3] इन सब वाक्यो को बलपूर्वक अपने अद्वैत को सिद्ध करने के लिए प्रयोग मे लाना शकर के लिए बहुत आसान हो जाता है। वे कहते है "और आत्मा के अन्दर ऐसे कोई भेद नही है जिन्हे अन्त्य-विशेष या परमरूप मे तात्त्विक भेद कहा जा सके, क्योकि शरीरो के नानात्व के रहने पर भी आत्माओ के अन्दर इस प्रकार के भेदो को सिद्ध करनेवाली कोई साक्षी उपलब्ध नही होती। इसीलिए ब्रह्म समाग अथवा सरूप, एव एकमात्र है।"[4] व्यक्तिभेद के प्रकट लक्षणो के कारण हमे यह धारणा न बना लेनी चाहिए कि इस जगत् मे पृथक्त्व अथवा भिन्नता है, क्योकि मनुष्यो मे भिन्नता केवल भिन्न भिन्न भौतिक शरीरो के कारण ही है। इसी प्रकार का कथन महाभारत मे भी आता है, "गुणो से बद्ध मनुष्य जीवात्मा है, और जब उन गुणो से वह स्वतन्त्र हो जाता है तो वही परमात्मा अथवा सर्वोपरि आत्मा है।"[5] ऐसे वाक्यो की व्याख्या जो आत्मा एव सर्वोपरि आत्मा के तादात्म्य की घोषणा करते है, रामानुज ने एक अन्य प्रकार से की है। उदाहरण के लिए "ब्रह्म के सर्वत्र हाथ और पैर है और उसीने सबको अपने अन्दर लपेट रखा है।" उसका आशय रामानुज के मत मे यह है कि "आत्मा का जो विशुद्ध स्वरूप है वह शरीर और ऐसे ही अन्यान्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध-विरहित होने पर सब वस्तुओ मे व्याप्त रहता है।"[6] किन्तु आगे चलकर जहा गीता मे आता है कि "प्रत्येक के अन्दर जो पुरुष है वह साक्षी, आदेश देनेवाला, धारण करनेवाला एव सुख का उपभोक्ता है, वह महान प्रभु और सर्वोपरि आत्मा है," तब रामानुज असमंजस मे पड जाते है।

१. ३ : ५ । २. ३ : २७-२८ । ३. ५ : १८, १३ : २, २७ ।
४. भगवद्गीता पर शाकरभाष्य, ४ : १६ । ५. शान्तिपर्व, १८७, २४ ।
६. भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य, १३ : १३ ।

'इस प्रकार का पुरुष उन गुणों के कारण जो प्रकृति की उपज हैं अपने शरीर के सम्बन्ध में ही नामक बनता है और उच्चतम आत्मा भी इसी शरीर के कारण बनता है।'

किसी एक प्रासंगिक एकवचन अथवा बहुवचन के प्रयोगमात्र से हम आत्मा के परम स्वरूप के विषय में कोई अनुमान नहीं कर सकते। जब उसके सापेक्षिक या आनुभविक पक्ष पर बल होता है तो बहुवचन का प्रयोग मिलता है। 'ऐसा कोई काल नहीं था जबकि मैं नहीं था अथवा तुम नहीं थे अथवा प्रजाओं के ये नायक नहीं थे अथवा हम सबमें से कोई भी इसके पश्चात न रहेगा सो भी नहीं है।' उक्त वचन के आधार पर आत्माओं का सनातन नानात्व के परिणाम पर पहुंचना बहुत सरल है। रामानुज कहते हैं कि 'भगवान स्वयं प्रकट करता है कि आत्मा का भगवान से भेद एवं अन्य आत्माओं से भी भेद उच्चतम यथार्थता है।' दूसरी ओर शंकर बलपूर्वक कहते हैं कि आत्मा के ही रूप में हम त्रिकाल अर्थात भूत वर्तमान और भविष्यत में सनातन या शाश्वत हैं। उनका मत है कि बहुवचन का प्रयोग शरीरों के ही सम्बन्ध में किया गया है जो भिन्न भिन्न हैं जैसा कि अगले श्लोक में स्पष्ट है जो पुनर्जन्म के विषय में है। आत्मा के सम्बन्ध में यह बहुवचन का प्रयोग नहीं किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा केवल एक ही है।'

परम पद की प्राप्ति से पूर्व पुनर्जन्म होता रहता है यह गीता का मत है। अपूर्णता के कारण उत्पन्न जन्म का मृत्यु में और मृत्यु का जन्म में परिणत होना आवश्यक है। जन्म और मृत्यु का चक्र वैसा ही है जैसाकि शैशवकाल युवावस्था और उसके पश्चात वृद्धावस्था मनुष्य के शरीर में आते हैं।

'जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को बदलकर नये कपड़े धारण करता है
वैसे ही जीर्ण शरीरों को छोड़कर वह नये शरीरों को धारण कर लेता है।'

मृत्यु तो केवल एक घटना है जो घटनास्थिति को बदल देने मात्र का कार्य करती है, अन्य कुछ नहीं। यह वाद्ययन्त्र जिसके द्वारा गायक अपनी संगीतकला को अभिव्यक्त कर सकता है ठीक रहना ही चाहिए। वृद्धावस्था में शक्तियों के क्रमिक ह्रास या रोगजनित सामयिक अशक्तता की प्रतिक्रिया से मन के अन्तस्तल में शारीरिक रूप में प्रतिक्रिया होती है। जब यह शरीर मर जाता है तो आत्मा को उसके स्थान पर एक नया साधन दिया जाता है। हमारा जीवन हमारे साथ मृत्यु को नहीं प्राप्त होता जब यह शरीर जीर्ण शीर्ण हो जाता है तब वह दूसरा शरीर धारण कर लेती है। जन्म किस प्रकार का हो यह इसके ऊपर निर्भर करता है कि हमने किस प्रकार का चरित्र निर्माण किया है। हम ज्योतिर्मय लोकों में जन्म लेते हैं अथवा मनुष्य की योनि में इस मर्त्यलोक में जन्म लेते हैं अथवा पशु योनि में जन्म लेते हैं अपने चरित्र के आधार पर हमने उसे जैसा भी ढाला होगा अर्थात हममें सत्त्व रजस एवं तमस आदि जिस गुण की प्रधानता होगी उसीके अनुसार हम जन्म

१ भगवद्गीता पर रामानुजभाष्य १३ ३ और भी देखिए १३ ३१।
भगवद्गीता पर रामानुज का भाष्य और भगवद्गीता पर शांकर भाष्य १२।
३ ८ ४ १३ ३१।
४ २ सर एडविन आर्नल्ड का अनुवाद। और भी देखिए

ग्रहण करेंगे। प्रत्येक पग जो हम बढाते है उसका प्रभाव स्थिर एव हमारे लिए सुरक्षित रूप मे रहता है। जब अर्जुन कृष्ण से ऐसे व्यक्तियो के भाग्य के विषय मे प्रश्न करता है जो इस जन्म मे पूर्णता पाने मे असमर्थ रहते हैं कि क्या उनका सर्वथा नाश हो जाता है, तब कृष्ण उत्तर देते है कि कोई भी मनुष्य जो जनता का कल्याण करता है, कभी विनाश को प्राप्त नही होता, बल्कि वह दूसरा जन्म ग्रहण करता है "और उसमे वह अपने पूर्वजन्म की मानसिक विशेषताओ को पुन. प्राप्त कर लेता है और उन विशेषताओं को लेकर वह पूर्णता की प्राप्ति के लिए फिर से प्रयत्न करता है।"[१] प्रत्येक महत्त्वपूर्ण काम सुरक्षित रहता है। यदि मनुष्य सर्वोपरि ब्रह्म को अपने हृदय मे ध्यान करता रहे तो पथभ्रष्ट नही हो सकता। एक जन्म के बाद दूसरा और फिर तीसरा इस प्रकार यह क्रम बना रहता है जब तक कि लक्ष्य की प्राप्ति नही हो जाती।[२] सूक्ष्म शरीर, जिसमे इन्द्रियो की शक्तिया और मन रहते हैं, मृत्यु के पश्चात् भी बचा रहता है, और उसीमे मनुष्य के चरित्र-सम्बन्धी सस्कार सुरक्षित रहते हैं।[३] पुनर्जन्म एक प्रकार का साधना-स्थल है जिसके द्वारा हम अपने को पूर्ण बना सकते है। गीता मे देवताओ के मार्ग का भी उल्लेख है, जिसमे होकर ससारी पुरुष गुजरते है।[४] तीसरा मार्ग पापियो का है, उसका भी वर्णन है।[५]

८

नीतिशास्त्र

मनुष्यो की परस्पर-विभिन्नता, उनकी सान्तता और उनका व्यक्तित्व, यह सब केवल आनुषगिक है और यह वस्तुरूप मे सत्य नही है। कोई भी मनुष्य शान्ति के रहस्य को, जो एकमात्र स्थायी और निरापद है, प्राप्त नही कर सकता जब तक कि वह भासमान आत्मनिर्भरता अथवा पृथक्त्व के बन्धन को नही तोड देता। यथार्थ मोक्ष से तात्पर्य है आत्मा का ऊपर उठना अथवा उच्च श्रेणी की सत्ता के साथ सयुक्त होना, चाहे वह तर्क द्वारा या कि प्रेम अथवा जीवन द्वारा सिद्ध हो। जिस लक्ष्य पर पहुचने के लिए हम पुरुषार्थ करते है वह ब्रह्मत्व की प्राप्ति है अथवा ब्रह्म के साथ सम्पर्क है, "ब्रह्मसस्पर्शम्।" यही एकमात्र परम उत्कर्ष है।[६]

यह सब मनुष्यो के सामर्थ्य मे है कि वे पाप का नाश कर सकें, शारीरिक भ्रष्टाचार को दूर कर सकें, निम्न श्रेणी की प्रकृति का त्याग कर सकें तथा वासना की दासता से इन्द्रियो की रक्षा कर सकें। सघर्ष मे प्रवृत्त प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से सत्य का साक्षात्कार करने, अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से सत्य का निर्णय करने और अपने सच्चे हृदय से सत्य को प्रेम करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहे।

१. ६ : ४४–४५।
२. ७ : १९।
३ १५ : ८।
४. ८ : २३, २६।
५. ९ : १२, १६ : १९–२१।
६. ६ : १०, २३, २७ और २८।

स्वयप्राप्त सत्य का अर्थांश भी ग्रन्थो के द्वारा प्राप्त पूर्ण सत्य से कहीं अधिक मूल्यवान होता है।

मनुष्य बुद्धि इच्छा और भावना इन सबका सम्मिश्रण है और इस प्रकार अपनी आत्मा के सत्य प्रकाश का साक्षात्कार इन्ही सबके द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह सर्वोपरि यथार्थसत्ता के ज्ञान द्वारा, अथवा किसी पहुचे हुए महात्मा पुरुष के प्रति प्रेम व भक्ति के द्वारा अथवा अपनी इच्छा को किसी दैवीय प्रयोजन के अधीन करके लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। उसके अपने अन्दर एक प्रकार की प्रेरणा है जो उसे बाध्य करती है कि वह उक्त भिन्न भिन्न दिशाओ म इस अल्पज्ञ आत्मा से ऊपर उठ सके। हम चाहे जिस दृष्टिकोण को भी अगीकार करें लक्ष्य सबका एक ही है। यह हमारे नाना प्रकार की एकसमान क्षमता ही है जिससे सत्य की प्राप्ति होती है सौन्दय का निर्माण होता है और हमारा आचरण निर्दोष होता है। गीता इस विषय पर विशेष बल देती है कि चेतनामय जीवन के किसी भी पक्ष को हम भुला नही सकते अर्थात सर्वतोमुखी उन्नति की आवश्यकता है। नाना प्रकार के दृष्टिकोण या पथ एक अविकल एव अखण्ड दैवीय जीवन मे जाकर पूर्णता को प्राप्त होते है। ईश्वर स्वय सत चित और आनन्द है, यथार्थ सत्य एव आनन्द स्वरूप है। वह परब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने वालो के लिए अपनी अभिव्यक्ति एक शाश्वत प्रकाश के रूप म करता है जो निर्मल स्वच्छ है और मध्याह्न के सूर्य की भाति पूर्ण ज्योतिमय है जिसम अन्धकार का लेशमात्र नही है उन व्यक्तियो के लिए जो पुण्य अर्जन करने के लिए पुरुषार्थ कर रहे है वह शाश्वत न्यायपरायण दृढ एव निष्पक्ष रूप म प्रकट होता है और इसी प्रकार ऐसे व्यक्तियों के लिए जो भावनाप्रधान है वह शाश्वत प्रेम और पवित्रता के सौन्दर्य म प्रकट होता है। ठीक जिस प्रकार ईश्वर अपने अन्दर ज्ञान साधुता और पवित्रता सबको समाविष्ट रखता है उसी प्रकार मनुष्यो का उद्देश्य भी आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने का होना चाहिए। जब हम अपने गन्तव्य लक्ष्य तक पहुच जाते है तो माग की रुकावटें फिर अपना काय करना छोड देती हैं। यह सत्य है कि मनुष्य के इस सान्त जीवन म चिन्तन और कम मे एक प्रकार का विरोध प्रतीत होता है किन्तु यह केवल हमारी अपूर्णता का लक्षण है। जब कृष्ण से पूछा गया कि हम कौन से विशेष माग का अवलम्बन करें तो वे स्पष्टरूप मे कहते है कि इसके लिए हमे परेशान होने की जरूरत नहीं क्योंकि भिन्न भिन्न माग अन्त मे जाकर भिन्न नही रहते अपितु एक ही सामान्य लक्ष्य की ओर हमें ले जाते हैं और अन्त म एक ही प्रतीत होते है भले ही वे बीच म एक दूसरे को काटते हुए प्रतीत होते हो। मनुष्य खण्डरूप म काय नही करता। उन्नति परस्पर सम्बद्ध और असम्बद्ध विकास की अवस्था है। ज्ञान मनोभाव और इच्छा आत्मा की एकमात्र और समान गति के भिन्न भिन्न रूप है।

गीता ने अपने समय के प्रचलित विभिन्न आदर्शों मे सामजस्य स्थापित करके उनके अन्दर जहा कही सीमा का उल्लघन हुआ उसे सुधारने का प्रयत्न किया। बौद्धिक जिज्ञासा श्रमसाध्य आत्मत्याग उत्कट भावनामयी भक्ति यमकाण्ड का अनुष्ठान तथा यौगिक प्रक्रियाओ के बारे म यह समझा जाता था कि [illegible]

है।[1] गीता इन सबका समन्वय करती है और इनमे से प्रत्येक का कौन-सा उचित [illegible] तथा क्या महत्त्व है इसे दर्शाती है। इसके मत मे सयुक्त मोर्चे का प्रभाव [illegible] है, ऐसे समन्वयकारक आदर्श से, जो उक्त सब विधानो का लक्ष्य है, [illegible] की घनिष्ठता बढती जाती है, जिसका अधिष्ठाता पुरुषोत्तम है।

मधुसूदन सरस्वती के विचार मे गीता उपनिषदो मे वर्णित तीनो विभागो, [illegible] कर्म, उपासना और ज्ञान, को स्वीकार करती है, और क्रमशः प्रत्येक के ऊपर [illegible] मे प्रतिपादन किया गया है। इसमे सत्य का अश भले ही जो कुछ हो, किन्तु यह [illegible] जीवन के तीन बड़े विभागो पर बल देती है। गीता इस विचार को प्रश्रय देती है [illegible] भिन्न-भिन्न श्रेणी के मनुष्यो के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त [illegible] लिए विहित हो सकते हैं, जैसे, कुछेक नैतिक जीवन की उलझनो के मार्ग मे, दूसरे बुद्धि मे उत्पन्न सशयो के द्वारा, और तीसरे पूर्णता की प्राप्ति के लिए जो भावनामयी [illegible] मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होती है उसके कारण, आध्यात्मिक ज्ञान की ओर प्रवृत्त [illegible] हैं।

९

ज्ञानमार्ग

एक तार्किक मस्तिष्क आशिक से सन्तुष्ट न रहकर वस्तुओ की सम्पूर्णता को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है और जब तक वह सत्य को नही प्राप्त कर लेता तब तक चुप नहीं बैठता। इसको उस अमिट श्रद्धा से प्रोत्साहन मिलता है जिसका अतिम लक्ष्य परमसत्य को प्राप्त करना है।[2] गीता दो प्रकार के ज्ञान का प्रतिपादन करती है—एक वह जो बुद्धि के द्वारा बाह्य जगत् के अस्तित्व को समझने का प्रयत्न करता है, और दूसरा वह जो अन्त-र्दृष्टि के बल से इन भासमान घटनाओ की शृ खला की पृष्ठभूमि मे जो परमतत्त्व है उसे ग्रहण करता है। मनुष्य की आत्मा जब तार्किक बुद्धि के अधीन रहती है तो अपने को प्रकृति के अन्दर खो बैठने के प्रति प्रवृत्त होती है और उसीकी गतिविधि के साथ अपना तादात्म्य समझने लगती है। इस जीवन के तथ्य को अर्थात् इसके उद्भव एव यथार्थता के ज्ञान को ग्रहण करने के लिए इसे मिथ्या ज्ञान के पाश से अपने को मुक्त करना आवश्यक

१. तुलना कीजिए प्लाटिनस : "इस गन्तव्य उद्देश्य (आध्यात्मिक ज्ञान) तक पहुचने के भिन्न भिन्न मार्ग है : सौन्दर्य का प्रेम जो कवि को प्रेरणा देता है, वह एकमात्र सत्ता के प्रति भक्ति और वह विज्ञान की ऊचाई जिससे दार्शनिक के अन्दर महत्त्वाकाक्षा उत्पन्न होती है, वह प्रेम और वे प्रार्थनाए जिनके द्वारा एक भक्त और व्याकुल आत्मा, अपनी नैतिक पवित्रता के कारण पूर्णता को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है। ये सब महान प्रमुख मार्ग है जो वैयक्तिक जीवन से ऊपर उस ऊंचाई तक ले जाने वाले है जहा पहुचकर हम उस अनन्त के एकदम निकट में स्थित हो जाते है, जो मानो आत्मा की गहराई के अन्दर मे भासमान हो रहा है।" (फ्लाकस को लिखा गया पत्र।)

२. "ईश्वर के प्रति जिसे प्रेम है वह सौभाग्यशाली है, और यह [illegible] ज्ञान से प्राप्त होता है।" (स्पिनोज़ा।) "कुछेक [illegible] का [illegible] में विश्व को समझने के लिए बौद्धिक प्रयत्न [illegible] को अनुभव करने का मुख्य मार्ग है।" (ब्रैडले)।

है। जीवन के विवरणो को बुद्धि के द्वारा जानने का नाम विज्ञान है और यह साधारण ज्ञान से भिन्न है अथवा समस्त जीवन के सामान्य आधार का सम्पूर्ण ज्ञान है। ये दोनो एक ही पुरुषार्थ के दो भिन्न पक्ष हैं। समस्त ज्ञान ईश्वर का ज्ञान है। विज्ञान और दर्शन दोनो ही अनादि अनन्त आत्मा के अन्दर वस्तुओ के एकत्व रूपी सत्य को पहचानने का प्रयत्न करते हैं। कहा जाता है कि विज्ञान विषयक ज्ञान रजोगुणप्रधान है एवं आध्यात्मिक ज्ञान सत्त्वगुणप्रधान है। यदि हम भौतिक विज्ञान के आशिक तथ्यो को भूल से आत्म सम्बन्धी पूर्ण तथ्य समझ लें तो हम निम्न श्रेणी का ज्ञान प्राप्त होता है जिसमे निम्नतम श्रेणी के तमोगुण का प्राधान्य रहता है।' जब तक हम भौतिक ज्ञान के स्तर पर रहते हैं आत्मविषयक तथ्य केवल कल्पनामात्र रहता है। अन्तरहित परिणमन सत्स्वरूप को आवृत कर लेता है। विज्ञान उस अन्धकार को दूर कर देता है जो मन के ऊपर एक प्रकार का बोझ है और अपने भौतिक जगत की अपूर्णता का प्रदर्शन करता है और अपने से सुदूर जो सत्ता है उस प्राप्ति करने के लिए तैयार करता है। यह हमारे अन्दर नम्रता को भी अनुप्राणित करता है क्योकि इसके द्वारा हम सब कुछ नहीं जान सकते। हम अतीत की विस्मृति और भविष्य की अनिश्चितता के मध्य फसे हुए हैं। विज्ञान इस बात को स्वीकार करता है कि पदार्थो के आविष्कारो से परिचित होने की *कल्पनिक इच्छा करना* और मनुष्यजाति का अन्त क्या है इस विषय पर कल्पना करना एक निरर्थक प्रयास है। यदि हम परम सत्य तक पहुचना है तो (भौतिक) विज्ञान के स्थान मे दूसरी ही साधना का आश्रय लेना होगा। गीता की सम्मति मे परिप्रश्न अथवा अनुसन्धान के साथ साथ सेवा का भी मेल होना आवश्यक है।' अन्तर्दृष्टि की शक्ति के विकास के लिए हम मन को दूसरी दिशा मे घुमाने की आवश्यकता है अर्थात आत्मा के दृष्टिकोण मे परिवर्तन होना आवश्यक है। अर्जुन ने अपने को साधारण दृष्टि के द्वारा सत्य के दर्शन मे असमर्थ पाया और इसलिए कृष्ण से आध्यात्मिक ज्ञान के लिए दिव्य दृष्टि की याचना की।' विश्वरूप अन्तर्दृष्टि-सम्बन्धी अनुभव का कवि द्वारा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है जिसमे कि ईश्वर के अन्दर रमण करनेवाला व्यक्ति सब पदार्थो को उसके अन्दर दर्शन करता है। गीता का मत है कि इस प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने मे अन्तर्निहित होने का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अपने मन का उच्चतम यथार्थसत्ता के अन्दर स्थिर करना चाहिए। केवल बुद्धि के दोष से ही नहीं किन्तु स्वार्थ की लालसा से भी सत्य हमारी दृष्टि से ओझल रहता है। अज्ञान बौद्धिक भ्रम नहीं है अपितु आध्यात्मिक आवरण है। इसे दूर करने के लिए हम शरीर एवं इन्द्रियो के मल को हटाकर आत्मा को निर्मल करना चाहिए एवं आध्यात्मिक दृष्टि को प्रज्वलित करना चाहिए जो समस्त पदार्थों को एक नये दृष्टिकोण से देखती है। वासना की अग्नि और इच्छा की

१ १८ २ -२२। २ ४ ३४।

३ ११। तुलना कीजिए पैगम्बर के शब्दो मे हे भगवन ! उसकी आखें खोलो जिससे कि वह देखने में समर्थ हो।' और भी निग इवाकिन का स्वप्न और एवलोहम बाइबिल ३३ १८ इनहाम अध्याय ४ और मद्धनपुण्डरीक अध्याय १।

अशान्ति का दमन करना आवश्यक है।[1] चचल और अस्थायी मन को एक प्रशान्त जलाशय की भाति स्थिर रखना आवश्यक है जिससे कि उसके अन्दर ज्ञान ऊपर से ठीक-ठीक प्रतिविम्बित हो सके। बुद्धि अथवा सत् और असत् मे विवेक करनेवाली शक्ति को प्रशिक्षित करना आवश्यक है।[2] यह शक्ति किस दिशा मे कार्य करती है यह हमारे पूर्व के सस्कारो के ऊपर निर्भर करता है। हमे इसे इस प्रकार से प्रशिक्षित करना है कि इसकी विश्व के धार्मिक दृष्टिकोण के साथ सहमति हो जाए।

गीता ने जो योग-प्रणाली को अंगीकार किया है वह मानसिक प्रशिक्षण के साधन रूप मे ही स्वीकार किया है। योग-साधना हमे ऐसे निर्देश देती है जिनके द्वारा हम अपने को अपने परिवर्तनशील व्यक्तित्व से ऊपर उठाकर असाधारण प्रवृत्ति मे ला सकते हैं जहा हमारे पास ऐसी कुजी रहती है जो सम्बन्धो रूपी समस्त नाटक का सूत्र है। योग-साधना के अनिवार्य उपाय ये है : (१) मन, शरीर एव इन्द्रियो को पवित्र करना जिससे कि दैवीय शक्ति का उनके अन्दर सचार हो सके, (२) एकाग्रता, अर्थात् इन्द्रियो की ओर दौडनेवाले विशृखल विचारो की चेतना से मन को हटाकर उसे सर्वोपरि ब्रह्म में स्थिर करना, (३) और यथार्थसत्ता तक पहुंचने के पश्चात् उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना। गीता इतनी अधिक क्रमबद्ध नही है जैसे कि पतंजलि के योगसूत्र है, यद्यपि भिन्न-भिन्न साधनाओ का उसमे उल्लेख अवश्य है।[3]

[1] गीता हमारे सामने कुछ ऐसे सामान्य सिद्धात प्रस्तुत करती है जिन्हे सब श्रेणी के विचारक स्वीकार कर सकते हैं। हमे श्रद्धा रखने एव विद्रोहात्मक मनोवृत्तियो का दमन करने का आदेश दिया गया है और ईश्वर के विचार को दृढता के साथ धारण करने का भी आदेश है। आध्यात्मिक दर्शन के लिए मौन एव शान्ति का वातावरण आवश्यक है। मौन अवस्था मे, जो मन को वश मे करने से ही सम्भव है, हम आत्मा के शब्द को सुन सकते है। यथार्थ योग है जो हमे आध्यात्मिक निष्पक्षता अर्थात् समत्व प्राप्त करा सके।[4] "योग ऐसी दु:ख से मुक्त अवस्था का नाम है जिसमे एक ऊपर से छाए हुए स्थान मे रखे दीपक की भाति मन प्रकम्पित नही होता, जिस अवस्था मे आत्मा के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष कर लेने पर मनुष्य अपने अन्दर सन्तोष अनुभव करता है, जहा मनुष्य को ऐसे परम आनन्द का अनुभव होता है जो केवल बुद्धि द्वारा ग्रहण करने ही का विषय है किन्तु इन्द्रियो की पहुंच के सदा बाहर है और जहा पर आसीन होकर मनुष्य फिर सत्यमार्ग से भ्रष्ट नही होता; जहा अन्य किसी प्रकार का लाभ उससे अधिक महत्त्व का नही है और जिस अवस्था मे अवस्थित हो जाने पर मनुष्य वडे से वडे कष्ट से भी विचलित नही होता।"[5] आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के लिए सबको योग के अभ्यास की आवश्यकता नही है। मधुसूदन सरस्वती ने एक श्लोक वसिष्ठ से उद्धृत किया है "मन के अहकार आदि का दमन करने के लिए योग और ज्ञान दो ही साधन हैं। योग चित्त की वृत्तियो के निरोध का और ज्ञान सम्यक् अवेक्षण का नाम है। कुछ श्रेणी के व्यक्तियो के लिए योग-साधन सम्भव नही है और इसी प्रकार कुछ श्रेणी के व्यक्तियो के लिए ज्ञान सम्भव

नहीं है। 'आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि में कर्म और उपासना भी सहायक हो सकते हैं।'

कुछ अवस्थाओं में धार्मिक प्रशिक्षण के लिए योग की उपयोगिता का स्वीकार करते समय गीता इसके भयावह परिणामों से भी अनभिज्ञ नहीं है।' उपवास और इसी प्रकार के अन्य उपायों से हम केवल अपनी इन्द्रियों की शक्ति को ही क्षीण करते हैं जबकि इन्द्रियों की विषयोपभोग की लालसा वैसी ही बनी रहती है। इसलिए जिसकी आवश्यकता है वह है इन्द्रियों को वश में रखना और भौतिक पदार्थों के आकर्षण के प्रति उपेक्षा का भाव रखना। और यह केवल ज्ञान के उदय से ही सम्भव है।

आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि जो स्वरूप में साक्षात्कार कराने में अधिक समर्थ है' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान नहीं देती जिसकी समालोचना न हो सके। इसे बौद्धिक निर्णय का समर्थन प्राप्त है। यह ज्ञान का कठोर तपस्या और रजोवृत्ति के साथ संयोग है और यह एक ऐसा पूर्ण अनुभव है जो हमें प्राप्त होना सम्भव हो सका है जिसमें मन को किसी प्रकार की दुविधा न रहकर आत्मा को सच्ची शान्ति तथा विश्रान्ति का सुखोपभोग प्राप्त हो सकता है।'

जहां एक बार ज्ञान सम्बन्धी अनुभव प्राप्त हो गया तो चेतना के इतर पक्ष भी यथा भावना और इच्छा अपने आपको प्रकट करने लगते हैं। ईश्वर का दर्शन आध्यात्मिक प्रकाश में तथा सुख के वातावरण में प्राप्त होता है। सम्पूर्ण जीवन की महत्त्वाकांक्षा एक प्रकार से अनन्त की निरन्तर आराधना बन जाती है। ज्ञाता भी एक भक्त है और उन सबमें सर्वश्रेष्ठ है।' जो मुझे जानता है मेरी पूजा करता है। सत्य का ज्ञान अपने हृदय को सर्वोपरि ब्रह्म के प्रति ऊंचा उठाना उसे स्पर्श करना और उसकी अर्चना करना है। एक क्रियात्मक प्रभाव भी है। जितने ही अधिक प्रगाढरूप में हम अपने स्वरूप का ज्ञान होगा उतनी ही अधिक गहराई के साथ हम औरों की यथार्थ आवश्यकताओं को जान सकेंगे। कल्याणकारी कर्म केवल ज्ञान का मूल सिद्धान्त ही नहीं अपितु नेटलशिप की प्रसिद्ध परिभाषा में चरित्र का ध्रुव नक्षत्र बन जाता है। हमारे सामने बुद्ध का उदाहरण है जो सबमें बड़ा ज्ञानी व धर्मात्मा था। मनुष्यमात्र के प्रति उसके प्रेम ने उसे निरन्तर चालीस वर्षों तक मनुष्यमात्र का शासक बनाकर रखा।

कभी कभी ऐसा तर्क उपस्थित किया जाता है कि ज्ञान अथवा बुद्धि का नैतिकता के प्रति उपेक्षा का भाव रहता है। यह कहा जाता है कि बुद्धि चरित्र का अनिवार्य अंश नहीं है। बुद्धि के द्वारा हम केवल निर्णय सम्बन्धी भूलें ही करते हैं जो नैतिक दृष्टि से अनुचित कहलाएगा। बुद्धि स्वयं में न अच्छी है न बुरी है क्योंकि इसका प्रयोग सदाचारमय जीवन की उन्नति तथा विनाश दोनों ही कार्यों में किया जा सकता है। हमारे विश्लेषणात्मक ज्ञान की प्राप्ति के सम्बन्ध में यह सब सही हो सकता है। ज्ञान अर्थात गीता का ज्ञान हमें एकपक्षीय मतों एवं संकुचित दृष्टिकोणों से हटाकर सर्वग्राही सत्य की ओर ले जाता है जहां हमें यह अनुभव होता है कि मनुष्यों के अन्दर परस्पर के मतभेद परम रूप में कोई अस्तित्व नहीं रखते और ऐसा कोई भी आचरण जिसका आधार मिथ्या भेदों के

१ गीता पर टीका ६ २६। २ ४ ४२। ३ २ ५६–६१। ४ ६ २ प्रत्यक्षावगमम्। ५ ४ ३५ ५ १८–२१। ६ ७ १७। ७ १५ १६। ८ १ ८–६।

ऊपर है, धार्मिक कहा जा सकता है। हम देखते है कि मनुष्यो के जीवन का मूल एक ही है और एक स्वयसिद्ध अनादि अनन्त आत्मा सब मनुष्यो के जीवन मे जीवितरूप मे समान शक्ति के साथ कार्य कर रही है। इस सत्य का साक्षात्कार हो जाने पर इन्द्रियां एव जीवात्मा दोनो ही अपनी शक्ति से वचित हो जाते हैं।[1]

१०

भक्तिमार्ग

भक्ति का मार्ग मनुष्य की उचित क्रियाशीलता के भावनाप्रधान पक्ष के विधान की ओर सकेत करता है। भक्ति ज्ञान एव कर्म दोनो से भिन्न भावनामयी आसक्ति का नाम है।[2] इसके द्वारा हम अपनी भावनात्मक सम्भावनाओ को दैवीय सम्भावना को अर्पित करते हैं। भावना मनुष्यो के अन्दर एक जीते-जागते सम्बन्ध को व्यक्त करती है। और यही धार्मिक भाव की शक्ति से क्षमता प्राप्त करके सहज प्रवृत्ति के रूप मे प्रकट होती है जो मनुष्य को ईश्वर के साथ एक बन्धन से जोडती है। यदि हम प्रेम न करें, न पूजा ही करे, तब हम एक प्रकार से अपने ही अहकार रूपी कारागार मे अपने को बन्द कर लेते हैं। यही मार्ग सम्यक् रूप मे नियमित हो जाने पर हमे सर्वोपरि ब्रह्म के दर्शन की ओर ले जाता है। भक्ति का मार्ग सब किसीके लिए—अर्थात् दुर्बलात्मा तथा निम्न जाति के व्यक्तियो के लिए, अशिक्षितो और अज्ञानियो[3] के लिए भी—एक समान खुला है और सबसे अधिक सुगम है। प्रेम का त्याग इतना कठिन नही हैं जैसा कि इच्छाशक्ति को दैवीय प्रयोजन के लिए साधने का कार्य है अथवा तपस्या की साधना तथा कष्टसाध्य चिन्तन का प्रयत्न है। यह बिलकुल उतना ही फलदायक है जितना कि अन्य कोई भी दूसरा उपाय हो सकता है। अपितु कभी-कभी कहा जाता है कि अन्य सब उपायो से यह अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि यह अपना फल स्वय देता है जबकि अन्य उपाय किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए केवल साधनमात्र है।

भक्तिमार्ग की उत्पत्ति का पता अत्यन्त प्राचीनकाल से इतिहास के गर्भ मे छिपा है। उपनिषदो की उपासना-विधि और भागवतो के भक्तिपरक मार्ग ने गीता के रचयिता को भी प्रभावित किया। उसे उपनिषदो के धार्मिक स्तर से सम्बद्ध विचारो की व्यवस्था को विकसित करने के लिए पर्याप्त परिश्रम करना पडा, क्योकि उपनिषदे उक्त विचारो को पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ और असन्दिग्ध भाषा मे व्यक्त करने मे असमर्थ रही। गीता मे परमतत्त्व 'उन व्यक्तियो के लिए जो सूक्ष्म दृष्टि रखते है, ज्ञानस्वरूप है और गौरवशालियो का गौरव है।'[4] देवताओ एव मनुष्यो मे सर्वप्रथम, ऋषियो मे प्रधान, तथा उस मृत्यु से भी महान है जो सबका सहार करती है।[5] यह स्वीकार करते हुए कि अव्यक्त परम तत्त्व का ध्यान हमे लक्ष्य की प्राप्ति की ओर ले जाता है, कृष्ण कहते है कि यह एक

१. २ : ५९।
२. शाण्डिल्यसूत्र, १ . ४–५ और ७।
३. ९ : ३२, और भी देखिए, ११ . ५३–५४।
४. ७ . १०।
५. १० : २०–२५. ३. ४।

कठोर प्रक्रिया है।[1] परिमित शक्ति वाले मनुष्य को यह कोई ऐसा आधार नहीं देता जहां से कि उस तक पहुंचा जा सके। उस प्रेम में जो हम किसी पदार्थ के प्रति अनुभव करते हैं एक पृथक्त्व का भाव रहता है। प्रेम चाहे कितना ही निकटतम संयुक्त करे प्रेम करने वाला और जिसके प्रति प्रेम किया जाय वह एक दूसरे से भिन्न रहते ही है। चाहे विचार में ही हो हम द्वैत के भाव में ही सन्तोष करना होता है किन्तु एकेश्वरवाद को जो द्वैतवाद से ऊपर है निम्न स्तर पर उतरा हुआ बताना उचित न होगा। सर्वोपरि ब्रह्म के प्रति भक्ति एक शरीरधारी ईश्वर को मानने से ही सम्भव है जो एक मूर्तिमान व्यक्ति है और आनन्द एवं सौन्दर्य से पूर्ण है। हम अपने मनों की छाया या आभास से प्रेम नहीं कर सकते। मूलरूप ही सहचारिभाव अथवा मैत्री या परस्पर के भाव को उपलक्षित करता है। व्यक्तिगत सहायक ही व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो सकता है। इस प्रकार ऐसा ईश्वर जिसके अन्दर प्रेमपूर्ण हृदय का प्रवेश हुआ है वह ईश्वर नहीं है जो रवर की होली में आनन्द लेता हो और न ऐसा ही ईश्वर है जो अमूर्तरूप से गम्भीर निद्रा में सोता रहता हो जबकि दुःख के भार से आक्रान्त हृदय सहायता के लिए पुकार करते होते हैं। वह प्रेमस्वरूप है।[2] ऐसे व्यक्ति के लिए जो अपना सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर देता है और उसके चरणों में अपने को झुका देता है प्रभु का द्वार खुला हुआ मिलता है। ईश्वर की वाणी घोषित करती है कि "यह मेरा प्रतिज्ञात वचन है कि वह जो मुझमें प्रेम करता है नष्ट नहीं होगा।"[3]

प्रत्युपकार का जो कठोर विधान है केवल उसीके अनुसार ईश्वर का इस जगत् के साथ सम्बन्ध हो ऐसा नहीं है। ईश्वरभक्ति के द्वारा कर्मों के फल का निवारण भी किया जा सकता है। यह कर्मविधान का अतिक्रमण नहीं है क्योंकि उक्त विधान के ही अनुसार भक्तिरूप कर्म का भी पुरस्कार मिलना चाहिए। कृष्ण कहते हैं "यदि पापी मनुष्य भी अनन्य भाव और पूर्ण प्रेम के साथ मेरी भक्ति करता है तो वह भी धर्मात्मा ही है क्योंकि वह एक निष्ठावान इच्छा को लेकर ईश्वर की शरण में आया है और इसी लिए वह एक धार्मिक आत्मासम्पन्न व्यक्ति है। भगवान स्वयं किसीके पुण्य या पाप को नहीं ग्रहण करता। तो भी उसने इस जगत् की ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि कोई भी कर्म बिना फल दिये नहीं रहता। एक अर्थ में यह सत्य है कि भगवान् सब यज्ञों एवं तपस्याओं से प्रसन्न होता है। इसी प्रकार प्रकटरूप में परस्पर विरोधी मतों का जो निम्नलिखित वाक्यों में व्यक्त किए गए हैं हम समन्वय कर सकेंगे "मुझे न कोई अप्रिय है और न प्रिय है और मेरे भक्त मुझे प्रिय हैं।"[4] ईश्वर निरन्तर मनुष्य का ध्यान रखता है अर्थात् एक क्षण को भी उसे भुलाता नहीं।

ईश्वर के प्रति प्रेम अथवा भक्ति के स्वरूप का भाषा के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता जैसे कि गूंगा अपने स्वाद को भाषा द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता।[5] इस भावनापूर्ण आसक्ति की अनिवार्य विशिष्टताओं का अवश्य बखान किया जा सकता है।

1 १२ ८। 2 शरणागतवत्सल। 3 ६ ३१।
4 ६ ३४ १४। 5 ५ २ २६। १२ १४–२०। और भी गीता १६ १६।
5 नारदसूत्र ५१–५२।

उपासना या पूजा ऐसे ही तत्त्व की हो सकती है जिसे परमरूप मे पूर्ण समझा जा सके। चूकि अपना प्रयोजन भी पूर्णता प्राप्त करना है इसलिए ऐसी ही एक उच्चतम सत्ता का विचार करना होगा, उससे न्यून को स्वीकार करने से प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता। नारद अपने सूत्रो मे मानवीय प्रेम की उपमा देता है,[1] जिसमे परिमित शक्ति वाला जीवात्मा भी अपने को ऊचा उठाता है और एक आदर्श तक पहुच जाता है। प्राय यह आदर्श ही स्वय अपने वास्तविक स्वरूप को व्यक्त करता है। भक्ति का विषय सर्वोच्च सत्ता है जिसे पुरुषोत्तम कहते है। वह आत्माओ को प्रकाशित करता है एव जगत् को जीवनदान देता है। उन भिन्न तत्त्वो को जो निम्न स्तर पर परमसत्ता के रूप मे प्रतीत होते है, ईश्वर नही समझ लेना चाहिए, और न ही वह यज्ञो का अधिष्ठाता है जैसी कि मीमासकों की कल्पना है। और न ही भ्रमवश ऐसी प्राकृतिक शक्तियों को जिन्हे मनुष्य अपने मन मे परमात्मा के प्रति मूर्तिमान प्रतिनिधि मान बैठा है, ईश्वर मानना चाहिए। वह साख्य का पुरुष भी नही है। गीता का ईश्वर यह सब है किन्तु इससे भी अधिक है।[2] किस प्रकार से ईश्वर हरेक मनुष्य के अन्दर निवास करता है, गीता का रचयिता इसपर बल देता है। यदि सर्वोपरि सत्ता मानवीय चेतना के लिए नितान्त विदेशीय होती तो वह पूजा का विषय न हो सकती। और यदि वह मनुष्य के साथ नितान्त तादात्म्य रखती है तो भी पूजा सम्भव नही है। वह मनुष्य के साथ अशत. समान है और अशत भिन्न भी है। वह दिव्य शक्तिवाला भगवान है जिसका प्रकृति अथवा लक्ष्मी के साथ साहचर्य है, जिसके हाथो मे वांछनीय वस्तुओ का कोष है। उसके साथ सयोग हो जाने की प्रत्याशा एक प्रसन्नता की झलक है। "तू अपने मन को मेरे अन्दर लगा, मेरे ही अन्दर तेरी बुद्धि को भी लगना चाहिए, इसके उपरान्त तू निश्चय ही अकेला मेरे साथ निवास करेगा।"[3] और जितना भी प्रेम है, इसी सर्वश्रेष्ठ प्रेम की एक अपूर्ण अभिव्यक्ति-मात्र है। हम जो दूसरे पदार्थों से प्रेम करते है वह उनके अन्दर जो सनातन का अश है उसके कारण ही करते है। एक भक्त के अन्दर नितान्त नम्रता की भावना होनी चाहिए। आदर्श के आगे वह यह अनुभव करता है कि वह कुछ भी नही है, और इस प्रकार के अपनी आत्मा के नितान्त पराभव को अनुभव कर लेना ही यथार्थ धार्मिक भक्ति के पूर्व की अनिवार्य आवश्यकता है। ईश्वर विनम्र अथवा दीन मनुष्य से प्रेम करता है।[4] जीवात्मा अपने को ईश्वर से भिन्न होकर सर्वथा अनुपयुक्त अनुभव करता है। उसकी भक्ति यह दर्शाती है कि या तो ईश्वर के प्रति प्रेम है, अथवा ईश्वर के विरह के कारण दुख है। अपने उपास्यदेव के महत्त्व का सही सही ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य के अन्दर ऐसी भावना के अतिरिक्त और कोई भावना उत्पन्न हो ही नही सकती कि वह स्वय कुछ नही है, केवल निष्प्रयोजन कूडा-कर्कट मात्र है। भक्त अपने को सर्वथा ईश्वर की दया के ऊपर छोड देता है। नितान्त निर्भरता ही एकमात्र मार्ग है। "अपने मन को मेरे अन्दर लीन कर दो, मेरे भक्त बनो, मेरे आगे झुक जाओ, हर हालत मे तुम्हें मेरे पास आना ही है। तुम मेरे प्रिय सखा हो इसलिए मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हू। सब धर्मों को छोड़कर केवल मेरा ही

१. नारदसूत्र, ७३। २. ८:४। ३. १२.८।
४. नारदसूत्र, ७७, "दैन्यप्रियत्वम्।"

आश्रय ग्रहण करो, सोच मत करो मैं तुम्हें सब पापों से छुड़ा दूंगा।[1] ईश्वर का आग्रह है कि भक्ति अनन्यमनस्क होकर की जानी चाहिए और वह हमें निश्चय दिलाता है कि वह हमारे ज्ञान की भूलों के कारण उसमें जितनी भी त्रुटियां होंगी उन्हें दृष्टि से ओझल करके अपने अनन्त प्रकाश एवं विश्वकल्याण की पवित्रता के रूप में परिवर्तित कर देगा। आगे चलकर आदर्श की भक्ति करने के लिए निरन्तर इच्छा प्रकट की गई है। भक्त को केवल अपने उपास्यदेव के ऊपर ही दृष्टि रखनी चाहिए केवल उसीके सम्बन्ध में भाषण करे और उसीका चिन्तन करे।[2] वह जो कुछ भी कर्म करता है ईश्वर के गौरव के लिए ही करता है। उसका कर्म सर्वथा निःस्वार्थ होता है क्योंकि उसमें फल-प्राप्ति की आकांक्षा नहीं होती। यह सर्वालीन परब्रह्म के प्रति नितान्त आत्मसमर्पण है।[3] जब भक्त आदर्श के हाथों में अपने को पूर्णरूप से सौंप देता है तो उस समय मनोवेग की निरपेक्ष्य घनता नष्ट हो जाती है। यह एक प्रकार से बाह फैलाकर ऐसा आत्मसमर्पण है जिसमें भावना का स्थान जीवन ले लेता है। उस अवस्था में मन में ईश्वर ही प्रधान लालसा के रूप में रह जाता है। भक्त अपने लक्ष्य तक पहुंच जाता है अमरत्व और आत्मसन्तोष को प्राप्त कर लेता है। वह फिर न किसी वस्तु के लिए इच्छा रखता है न दुःख करता है वह सुख और शान्ति से आपूर्ण हो जाता है एवं आत्मा में ही तल्लीन होता है। सच्ची भक्ति गीता के अनुसार, ईश्वर में विश्वास उससे प्रेम उसके प्रति श्रद्धा एवं उसीके अन्दर प्रवेश का नाम है। यह स्वयं ही अपना पुरस्कार है।[4]

सच्ची भक्ति के लिए हम सबसे पहले श्रद्धा एवं विश्वास की आवश्यकता है। उच्चतम सत्ता के प्रति पहले तो धारणा ही बनानी पड़ती है क्योंकि जब तक आगे चल कर स्वयं वह परब्रह्म भक्त के हृदय में अपनी अभिव्यक्ति न करे तब तक यह धारणा ही भक्ति का आधार है।[5] चूंकि श्रद्धा अथवा विश्वास एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है इसलिए देवताओं के लिए भी गीता में स्थान प्राप्त है क्योंकि मनुष्य उनके अन्दर विश्वास रखते हैं। इस विचार का ध्यान में रखते हुए कि मनुष्यों के स्वभाव एवं मानसिक विचारों में नाना प्रकार के भेद पाए जाते हैं विचारों तथा पूजा की विधि में मनुष्य को स्वतन्त्रता दी गई है। एकदम न होने से कुछ भी प्रेम होना अच्छा है क्योंकि यदि हमारे अन्दर प्रेम न हो तो हम अपने ही अन्दर सीमित रहते हैं। वह अनन्त ब्रह्म विविध रूपों में अपने को मनुष्य के सामने प्रस्तुत करता है। निम्नश्रेणी के देवता उसी एकमात्र सर्वश्रेष्ठ यथार्थसत्ता के रूप या पक्ष हैं। गीता दिव्य शक्ति के अवतारों को पुरुषोत्तम की अपेक्षा निम्न श्रेणी का बतलाती है ब्रह्मा विष्णु और शिव यदि इन्हें सर्वोपरि सत्ता के नाम स्रष्टा धारणकर्ता तथा विनाशकर्ता के रूप में न समझा जाए तो ये देवता भी पुरुषोत्तम से नीचे हैं।[6] वैदिक देवताओं की पूजा गीता को अभिमत है। गीता ऐसे व्यक्तियों को जो क्षुद्र देवताओं की पूजा करते हैं उनके ऊपर तरस खाकर उक्त प्रकार की पूजा के लिए भी छूट देती है। यदि पूजा भक्ति के साथ की जाए तो वह हृदय को पवित्र करती है तथा मन को उच्चतम

१ भगवद्गीता १८ : ६४–६६। २ नारदसूत्र ५१। ३ भगवद्गीता ६ : २८।
४ नारदसूत्र ४–७ मत्त स्तब्ध आत्माराम। ५ ४ : ४।
६ ११ : ३७। ७ ६ : २३।

चेतना के लिए तैयार करती है।[1]

इस सहिष्णुता की प्रवृत्ति का औचित्य दार्शनिक दृष्टिकोण से इस प्रकार दर्शाया गया है, यद्यपि पूर्णतया उसका प्रतिपादन नही किया गया। मनुष्य के जैसे विचार रहते हैं वैसा ही वह हो जाता है। जिस किसी पदार्थ मे उसकी श्रद्धा या भक्ति होगी, वही उसे प्राप्त हो जाएगा। इस जगत् के अन्दर एक प्रकार की उद्देश्यपूर्ण नैतिक व्यवस्था पाई जाती है, जहा पर मनुष्य जिस पदार्थ की इच्छा करता है वह उसे प्राप्त हो जाता है। जो देवताओ के पास पहुचने का व्रत लेते है उन्हे देवता मिल जाते है, और जो पितरो के पास पहुचने का व्रत लेते है, पितरो को प्राप्त कर लेते है।[2] "पूजा करनेवाला जिस किसी स्वरूप की पूजा श्रद्धाभक्ति के साथ करता है, मैं उसी स्वरूप के प्रति उसकी भक्ति को स्थिर कर देता हू। उसी श्रद्धा को धारण करके वह उक्त देवता की पूजा करने का प्रयत्न करता है और उसीसे उसे उन सब उपयोगी वस्तुओ की प्राप्ति होती है जो वस्तुत मेरे ही द्वारा दी गई है।"[3] जैसा कि रामानुज ने कहा है कि "ब्रह्म से लेकर एक क्षुद्र पौधे तक जितना भी जीवित जगत् है, जन्म एव मृत्यु के अधीन है और उसका कारण कर्म है। इसलिए वह ध्यान मे सहायक नही हो सकता।" केवल सत्यस्वरूप भगवान ही, जिसे पुरुषोत्तम कहते है, भक्ति का विषय बन सकता है। निम्न श्रेणी के पूजा के साधन उस तक पहुचने के लिए केवल मार्ग बना सकते है। दसवें अध्याय मे हमे आदेश दिया गया है कि हमे अपना ध्यान विशेष-विशेष पदार्थों तथा ऐसे पुरुषो मे स्थिर करना चाहिए जिनके अन्दर असाधारण शक्ति और विभूति दिखाई देती हो। इसे प्रतीक-उपासना कहते है। ग्यारहवे अध्याय मे समस्त विश्व को ही ईश्वर का स्वरूप बताया गया है। बारहवे अध्याय मे अधिष्ठाता के रूप मे ईश्वर का वर्णन है। केवल सर्वोच्च सत्ता ही हमे मोक्ष दिला सकती है। दूसरे भक्त सान्त लक्ष्य तक पहुचते है। केवल सर्वोपरि ब्रह्म के भक्त ही अनन्त आनन्द को प्राप्त कर सकते है।[4]

भक्ति के विविध प्रकार है ईश्वर की शक्ति, ज्ञान तथा साधुता का चिन्तन, भक्तिपूर्ण हृदय से निरन्तर उसका स्मरण, अन्यान्य व्यक्तियो के साथ उसके गुणो के विषय मे सम्भाषण, अपने साथियो के साथ उसके स्तुतिपरक गीतों का गायन और समस्त कर्मों को ईश्वर की सेवा के भाव से करना।[5] इसके लिए कोई निश्चित नियमो का विधान नही बनाया जा सकता। इन विविध प्रकार की गतियो के द्वारा मानवीय आत्मा दैवीय शक्ति के समीप पहुचती है। अनेक प्रकार के प्रतीको और साधनाओ का आविष्कार किया गया है जिनसे कि मन प्रशिक्षित होकर ईश्वर की ओर मुड़ सके। ईश्वर के प्रति परम भक्ति तब तक सम्भव नही है जब तक कि हम इन्द्रियो के विषयो की लालसा को नही त्याग देते। इस प्रकार कभी-कभी योग को अपनाना होता है।[6] प्रेरणा पूजा के किसी भी प्रकार को अगीकार कर सकती है, अर्थात् बाह्य पूजा से लेकर समय-समय पर हमे जीवन के अन्य धन्धो से अपने-आपको मुक्त करने के लिए स्मरण कराना। गीता का आदेश है

१ ७ : २१-२२ ।   २ ९ : २५, और भी देखिए ७ : ३ ।   ३ ७ : २०-२१ ।
४. "अन्तो [illegible]" गीता पर माधवाचार्य की टीका, ७ : २३ ।
५ नारदसूत्र, १६-१८ ।   ६. वही, ४७-४९ ।

कि कभी कभी और सब विषयों का छोड़कर केवल ईश्वर ही के विषय में विचार करना चाहिए। यह एक निषेधात्मक प्रकार है।[1] इसका यह भी मन्तव्य है कि हम समस्त विश्व को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्तिरूप मानें।[2] प्रकृति तथा आत्मा दोनों में समान रूप से ईश्वर की व्यापकता का अनुभव करते हुए हम अपने आचरण को इस प्रकार ढालना चाहिए कि जिससे यह प्रतीत हो सके कि मनुष्य के अन्दर दैवीय शक्ति का निवास है।[3] सर्वश्रेष्ठ भक्ति और पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण अथवा भक्ति और प्रपत्ति एक ही तथ्य के भिन्न भिन्न पक्ष हैं। गीता को यह अभिमत है कि एक ही अनन्त ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है तथा उसकी पूजा की जा सकती है उसके किसी भी एक स्वरूप से। इसी सहिष्णुता के भाव ने हिन्दूधर्म को भिन्न भिन्न प्रकार की पूजा तथा अनुभव का सम्मेलन बना दिया है और एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया है कि जो अनेक पन्थों तथा सम्प्रदायों में एकता स्थापित किए हुए है। यह विचार की एक ऐसी पद्धति है अथवा एक ऐसी धार्मिक संस्कृति है जिसका आधार है यह सिद्धान्त कि एक ही सत्य के अनेक पक्ष हैं।

भक्ति की उच्चतम पूर्णता में हमें पदार्थ के विषय में निश्चितता मिल जाती है। यह अनुभव स्वरूप से स्वतः प्रमाण है। इसका प्रमाण यह स्वयं ही है— स्वयं प्रमाणम्। तार्किक विवाद अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होते। सच्चे भक्त ईश्वर के सम्बन्ध में निरर्थक वाद विवाद की परवाह नहीं करते।[4] यह उच्चतम प्रकार की भक्ति है जिसमें और किसी विषय की ओर संक्रमण नहीं होता। भक्ति ही है जो निरन्तर है और निर्हेतुक है। ऐसे व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे जो ईश्वर की सेवा बिना किसी प्रयोजन के करने की इच्छा रखते हैं। गीता के अन्दर उन भावनाप्रधान धर्मों की निर्बलता नहीं पाई जाती जो प्रेम की वेदी पर ज्ञान और इच्छा का भी बलिदान कर देते हैं। यों तो भगवान को सभी भक्त प्रिय हैं लेकिन ज्ञानी सबसे अधिक प्रिय है।[5] अन्य तीन श्रेणियों के भक्त अर्थात् आतुर जिज्ञासु और स्वार्थवश भक्ति करनेवालों के उद्देश्य तुच्छ होते हैं और जब उनकी इच्छा की पूर्ति हो जाती है तो वे ईश्वर के प्रति प्रेम रखना छोड़ देते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष उसकी उपासना सदा ही आत्मा के पवित्र भाव से करते हैं।[6] उस अवस्था में भक्ति अथवा ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एक प्रकार की ऐसी ज्वाला बन जाती है जो अपनी उष्णता से वैयक्तिकता की समस्त मर्यादाओं को भस्मसात् कर देती है और फिर सत्य के प्रकाश का दर्शन होता है। इस आध्यात्मिक सत्य के संयम के अभाव में गीताधर्म भी केवल भावनामय ही रह जाता और भक्ति भी स्वयं केवल एक भावना का प्रमादोत्सव रह जाती।

जो एक मौन प्रार्थना से प्रारम्भ होती है और अपने प्रिय के साक्षात् दर्शन करने की उत्कट अभिलाषा है वह अन्त में जाकर प्रेममय हर्षोन्माद तथा असीम सुख के रूप में परिणत हो जाती है। उपासक ईश्वर के साथ तन्मय हो जाता है। वह ईश्वर की एकता रूपी सत्य की शक्ति को इस विश्व के अन्दर व्याप्त जान लेता है। वासुदेवः सर्वमिति। वह जीवन के एकाकीपन और इस जगत की असारता से बचकर जहां कि वह केवल

१ भगवद्गीता १८ : ७३। २ अध्याय ६ और ११। ३ नारदसूत्र ५८ और ७८।
४ भगवद्गीता ७ : १७–१८; ८ : १४–२२; भागवत ३ : २९–१२।
५ ७ : १७। ६ १८ : ५४।

एक व्यक्ति था, ऐसे स्थान पर पहुचता है जहा वह प्रधान आत्मा का साधन बन जाता है।[1] महान से महान व्यक्ति भी उसकी केवल आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। प्रत्येक व्यक्ति का यथार्थ स्वरूप देश-काल से नियन्त्रित शाश्वत आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। ज्ञान और भक्ति परस्पर एक-दूसरे के ऊपर निर्भर हो जाते हैं।[2] सच्ची भक्ति निःस्वार्थ आचरण के द्वारा प्रकट होती है। भक्त का अपना व्यक्तित्व उस प्रेम के अन्दर छिप जाता है जो सर्वग्राही तथा सबका कल्याणकारी है और जो अपनी अतिशयता के लिए बदले मे कुछ नही चाहता। यह उस दैवीय प्रेम के समान है जिसने इस जगत् को वर्तमान रूप मे रचा, इसको धारण करता है और इसे ऊचा उठाता है। भक्त स्वय कुछ नहीं करता, किन्तु दैवीय भावना, जो उसके अन्दर है, वह दैवीय स्वतन्त्रता के साथ कर्म कराती है। सच्चे भक्त के आचरण मे नितान्त आत्मसमर्पण तथा सब कर्मो को ब्रह्मार्पण करके करना यह विशेष लक्षण पाया जाता है। इस प्रकार से भक्त के अन्दर उच्चतम दार्शनिक तत्त्व तथा पूर्ण मनुष्य की शक्ति का समावेश पाया जाता है। यद्यपि जहा-तहा हमे ऐसे भाव-प्रवण व्यक्ति भी मिलते है जिन्हे जगत् के व्यापार से कोई मतलब नही तो भी गीता का आदर्श भक्त वह है जिसके अन्दर प्रेम के साथ-साथ ज्ञान का भी प्रकाश है और जो मनुष्य-जाति के लिए कष्ट उठाने को लालायित रहता है। तिलक ने विष्णुपुराण से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमे कहा गया है कि "ऐसे व्यक्ति जो अपने कर्तव्य कर्मो का त्याग करके केवल कृष्ण-कृष्ण नाम का जप करते बैठे रहते है वे वास्तव मे ईश्वर के शत्रु तथा पापी है, क्योकि यहा तक कि स्वय भगवान ने भी इस जगत् मे धर्म की स्थापना के लिए जन्म लिया था।"[3]

यह स्पष्ट है कि जो भक्ति को धार्मिक जीवन का अतिम रूप समझते है उनकी दृष्टि मे भी अनन्त के अमूर्त रूप मे लीन हो जाना लक्ष्य नही है, अपितु लक्ष्य है पुरुषोत्तम के साथ सयोग। वस्तुत गीता निर्गुण भक्ति को मानती है अर्थात् परमेश्वर को सब गुणो से रहित एवं अन्य सबसे श्रेष्ठ और ऊपर समझकर उसकी भक्ति करना। ऐसी अवस्था मे परमतत्त्व स्वय ही एक निरपेक्ष उपाधि बन जाता है।[4] जब भक्ति पूर्णता की अवस्था को पहुच जाती है तब भक्त आत्मा तथा उसका ईश्वर एक-दूसरे के अन्दर घुल-मिलकर परमानन्द के रूप मे आ जाते है और एक ही जीवन के पक्ष बनकर अपनी अभिव्यक्ति करते है। इसलिए नितान्त एकेश्वरवाद द्वैत की पूर्णावस्था है, जिसको लेकर भक्ति-परक चेतना आगे बढती है।

१. भगवद्गीता, १८ ४६, ७ . १९, ८ : ७।
२ नारदसूत्र, २८–२९।
३. देखिए भगवद्गीता, ९ : ३०, तुलना कीजिए, १, जॉन, २ . ९–११, ४ : १८–२०।
४ देखिए भागवत, ३ २९, ७ . १४।

११

कर्ममार्ग

दवीय सवा अर्थात कम के द्वारा ही हम सर्वोच्च सत्ता तक पहुच सकते ह। जिससे भूत भी मूतरूप धारण करता है वह भी कम ही है।[1] कम को अनादि कहा गया है और जगत का काय ठीक किस प्रकार से होता है समझना कठिन होता है।[2] सष्टि के अन्त म समस्त जगत एक सूक्ष्म कमरूपी बीज की अवस्था म विद्यमान रहता है और अगली सष्टि म अकुर के रूप म प्रस्फुटित होने के लिए उद्यत रहता है।[3] चूकि ससार की प्रक्रिया भगवान के ऊपर निभर है हम उस कम का अधिपति भी कह सकते हैं। हम कोई न कोई कम करना ही है। किन्तु हम यह देख लेना आवश्यक है कि हमारा आचरण धम का हित-सपादन करनेवाला हो जिसका परिणाम आध्यात्मिक शान्ति और सन्तोष की प्राप्ति है। कम माग आचरण का वह माग है जिसके द्वारा सेवा के लिए उत्सुक व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुच सकता है।

गीता के समय म सदाचार के सम्बन्ध म अनेक प्रकार के मत प्रचलित थ, यथा कमकाण्ड तथा क्रियाकलाप सम्बन्धी अनुष्ठान स सम्बन्ध रखनेवाली वदिक कल्पना सत्य के अन्वेषण का उपनिषदो का सिद्धान्त बौद्धधम का विचार अर्थात समस्त कर्मों का त्याग और ईश्वरपूजा का आस्तिक विचार। गीता ने इन सबको एकत्र करके एक सगतिपूण पद्धति म आबद्ध करने का प्रयत्न किया।

गीता का कहना है कि कम ही के द्वारा हमारा समस्त ससार के साथ सम्बन्ध स्थिर होता है। नतिकता की समस्या केवल मानवीय जगत से ही सम्बन्ध रखता है। जगत के समस्त पदार्थों म केवल मनुष्य की ही आत्मा ऐसी है जो अपनी जिम्मेदारी का विचार रखती है। मनुष्य की महत्त्वाकाक्षा आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए होता है। किन्तु वह जगत के भौतिक तत्त्वो से उसे प्राप्त नही कर सकता। जिन सुखो की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करता है वे विभिन्न प्रकार के हैं। भ्रान्त मन एव मिथ्या प्रकार की इच्छाओ स जिस सुख की प्राप्ति होती है उसम तो अधिकतर तमाशा ही रहता है, और इन्द्रियो स जो सुख प्राप्त होता ह उसम रजोगुण अधिक रहता है और आत्मज्ञान का जो सुख है उसम सत्त्वगुण का भाव अधिकाश म रहता है।[4] सबसे उन्नत कोटि का सन्तोष तभी हो सकता है कि जब मनुष्य अपने को एक स्वतन्त्र कर्ता समझना छोड़कर यह अनुभव करने लगता है कि ईश्वर अपनी अनन्त कृपा से जगत का मागप्रदशन करता है। मनुष्य की अन्तरात्मा को यह देखकर परम सन्तोष होता है कि इस जगत म भी आत्मा का निवास है।[5] सत्कम वह है जो मनुष्य को मोक्ष प्राप्त कराने और आत्मा को पूणता प्राप्त कराने म सहायक होता है।

१ ७ २४–२५। २ ४ १७। ३ ८ १८–१९।
४ ७ २।
५ २ ७१ ६ २२ १५ २८ १ १२ १७ ६२ १८ ३६–३८।
६ प्लेटो — रिपब्लिक ९।

जिससे हमारा ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति के साथ यथार्थ ऐक्य अभिव्यक्त हो सके वही शुद्ध आचरण है, और अशुद्ध आचरण वह है जो यथार्थता के इस अनिवार्य सगठन के सम्पादन मे असमर्थ हो। विश्व का एकत्व आधारभूत सिद्धात है। जिससे पूर्णता की ओर प्रगति हो सके वही पुण्य है और जिसकी सगति इसके साथ न बैठे वह पाप है। बौद्धधर्म और गीता के अन्दर यही तात्त्विक भेद है। नि सन्देह बौद्धधर्म ने नैतिकता को साधु-जीवन के लिए प्रधानता दी, किन्तु उसने नैतिक जीवन और आध्यात्मिक पूर्णता अथवा विश्व के प्रयोजन का जो परस्पर सम्बन्ध है उसके विषय में पर्याप्त बल नही दिया। गीता मे हमे निश्चय दिलाया गया है कि यद्यपि हम अपने प्रयत्न मे असफल रह जाए, परन्तु प्रधान दैवीय प्रयोजन का कभी नाश नही होता। इससे यह लक्षित होता है कि प्रकटरूप मे भले ही विरुद्धभाव प्रतीत होता हो, जगत् की आत्मा न्यायकारी है। मनुष्य अपनी नियति को पूर्णता तक पहुचा देता है जब वह ईश्वर के बढते हुए प्रयोजन का साधन बन जाता है।

सीमाबद्ध भिन्न-भिन्न केन्द्रो को समझना चाहिए कि वे एक सघटन के अंग है, और उन्हे पूर्ण के हित मे कार्य करना चाहिए। निरपेक्ष परमतत्त्व होने का भ्रान्त दावा और यह अनुचित विचार कि उसकी स्वतन्त्रता मे अन्य सब बाधक है, छोड़ देना चाहिए। यथार्थ आदर्श है—लोकसग्रह अथवा जगत् की एकता रूपी सघटन। पूर्णपुरुष की आत्मा जगत् मे कार्य कर रही है। पुण्यात्मा व्यक्ति को इसके साथ सहयोग करना चाहिए और ससारमात्र के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।[1] गीता वैयक्तिक दावो का खडन करती है। समाज मे जो सर्वश्रेष्ठ मनुष्य है उनके ऊपर सबसे अधिक कर्तव्य का भार है। सान्त जीवो के उद्योग यह उपलक्षित करते है कि पाप पर विजय पाना है। पाप और अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने से हम नही बच सकते। दुविधा मे पडे अर्जुन को कृष्ण ने युद्ध करने की प्रेरणा दी—न तो यशप्राप्ति की आकाक्षा से और न राज्य की लालसा से, बल्कि धर्म के विधान को स्थिर करने के लिए। किन्तु जब हम अन्याय के प्रति युद्ध करते है तो हमे न तो वासनावश और न अज्ञानवश ऐसा करना चाहिए जिससे शोक एव अशाति उत्पन्न होती है, अपितु ज्ञानपूर्वक और सबके प्रति प्रेम रखते हुए अन्याय के साथ युद्ध करना चाहिए।[2]

इन्द्रियनिग्रह धर्मात्मा पुरुष का विशेष लक्षण बन जाता है। वासना हमारे धार्मिक स्वरूप की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेती है। इसके कारण विवेकशक्ति चेतनाशून्य हो जाती है और तर्कशक्ति पर भी प्रतिबन्ध लग जाता है। मन की अनियन्त्रित प्रेरणाओ को उद्दाम रूप मे खुला छोड देने से शरीर के अन्दर निवास करनेवाली आत्मा दास बन जाती है।[3] गीता हमे अनासक्ति के भाव को विकसित करने तथा कर्मफल के प्रति उपेक्षा का भाव रखने एव योग की भावना अथवा निष्पक्षता को भी विकसित करने का आदेश करती है।[4] सच्चा त्याग इसीमे है। अज्ञान के कारण जो कर्म को छोडना है वह तमोगुण युक्त त्याग है। परिणामो के भय से, जैसे शारीरिक कष्ट के भय से, कर्मों को छोडना भी

१. ५. २५; १०. ४। २. ११. ५५। ३. ६. ४६; ८ ५।

त्याग है किन्तु यह त्याग रजोगुणयुक्त त्याग है किन्तु आसक्ति की भावना से और परिणामों के भय से सर्वथा रहित सबसे उत्तम रूप कर्म का है क्योंकि इसमें सात्त्विक गुण का प्राचुर्य है।[१]

कर्म के विषय में गीता का क्या विचार है उसको ठीक ठीक समझ लेना आवश्यक है। यह तपस्यापरक नीतिशास्त्र की समर्थक नहीं है। बौद्धधर्म के त्याग के सिद्धान्त की व्याख्या इसमें अधिकतर विध्यात्मक रूप में की गई है। बिना किसी पुरस्कार की आशा से जो कर्म किया जाता है वही सच्चा त्याग है। कर्म के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए गीता इसको दो विभागों में विभक्त करती है—एक तो मानसिक पूर्ववृत्त अर्थात् पूर्व के कर्मों के संस्कार जो मन में पहले से रहते हैं और दूसरा बाह्य कर्म। इसलिए गीता का आदेश है कि मानसिक पूर्ववृत्त को हम वश में करें जो स्वार्थपरता के भाव के दमन से ही सम्भव है।[२] नैष्कर्म्य अथवा कर्म का त्याग सदाचार का यथार्थ विधान नहीं अपितु निष्कामता अर्थात् उदासीनता कर्मफल की ओर से उदासीनता है।[३] काम, क्रोध और लोभ इन तीनों पर, जो नरक के मार्ग हैं, विजय पानी चाहिए। सभी प्रकार की कामनाएं बुरी नहीं हैं। धार्मिकता की कामना दैवीय है।[४] गीता यह नहीं कहती कि वासनाओं का मूलोच्छेदन कर दो किन्तु उन्हें पवित्र करने का आदेश देती है। भौतिक प्राणधारक प्रकृति को स्वच्छ रखने की आवश्यकता है। और इसी प्रकार से मानसिक बौद्धिक प्रकृति को भी पवित्र करना आवश्यक है और इसके अनन्तर ही धार्मिक प्रकृति का सन्तोष प्राप्त हो सकता है। गीता को निश्चय है कि निष्क्रिय रहना स्वतन्त्रता नहीं है अर्थात् निष्क्रिय रहकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।[५] और न ही शरीरधारी जीव नितान्त रूप से कभी कर्म का त्याग कर सकते हैं।[६]

आंख अपने कार्य अर्थात् देखने के बिना नहीं रह सकती
न कान को ही हम यह आदेश दे सकते हैं कि अपना काम बन्द करो
हमारे शरीर जहां कहीं भी वे रहेंगे
हमारी इच्छा के विरुद्ध या इच्छा के अनुसार अनुभव करना नहीं छोड़ सकते।

इस मर्त्यलोक में विश्राम नहीं है यहां तो जीवन भर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म ही संसार-चक्र की गति को जारी रखता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से पूरा प्रयत्न इसकी गति को जारी रखने में करना चाहिए।[७] गीता की समस्त योजना यही सङ्केत करती है कि यह कर्म करने का ही उपदेश है। जब तक हमें मोक्ष प्राप्त न हो कर्म करते रहना अनिवार्य है। पहले तो हमें मोक्षप्राप्ति के लिए कर्म करना है और मोक्ष प्राप्त कर लेने पर दैवीय शक्ति के साधन के रूप में हमें कर्म करना है। अवश्य ही उस समय मन को तैयार करने अथवा हृदय को पवित्र करने का कार्य शेष नहीं रह जाता। मुक्तात्माओं के लिए किन्हीं विशेष नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं है। वे यथेष्ट

१ १७ : ७-६ १२-१२। २ १८ : १८। ३ ५ : ११ ; १८ : ४६।
४ ७ : ६२-६३ ; १६ : २१। ५ ७ : ११। ६ १८ : ११।
७ कर्मचर्य। ८ ३

कार्य करते हैं किन्तु यह आवश्यक है कि वे कुछ न कुछ कर्म करते अवश्य रहे ।[1]

गीता हमें आदेश करती है कि हम इस प्रकार कर्म करें कि कर्म हमें वन्धन में न जकड सके । स्वयं प्रभु भी मनुष्य-जाति के लिए कर्म करते है । यद्यपि परमार्थ के दृष्टि-कोण से वे स्वात्मनिर्भर तथा इच्छारहित है तो भी उन्हे ससार मे कुछ न कुछ कार्य सम्पन्न करना ही होता है । इसीलिए अर्जुन को आदेश दिया गया कि युद्ध करो और अपने कर्तव्य का पालन करो । मुक्तात्माओ का भी यह कर्तव्य है कि वे दूसरो को अपने अन्त स्थित दैवीय शक्ति की खोज करने मे सहायता करे । मनुष्य-जाति की सेवा ही ईश्वर की उपासना है ।[2] निष्कामभाव से तथा विदेहवृत्ति से ससार एव ईश्वर के निमित्त किया गया कर्म वन्धन का कारण नही होता । "और इस प्रकार के कर्म मुझे वन्धन मे नही जकड सकते क्योकि मैं उक्त कर्मो के प्रति सर्वथा उदासीन भाव से ऊचे स्थान पर अवस्थित हू ।"[3] गीता संन्यास और त्याग मे भेद करती है . सब प्रकार के ऐसे कर्मो का त्याग जो फल की आकाक्षा को लेकर किए जाते हैं, सन्यास है तथा त्याग कर्मो के फल को छोड देने का नाम है ।[4] इनमे से त्याग अधिक व्यापक है । गीता का आदेश है कि हमे साधारण जीवन के व्यवहार से घृणा नही करनी चाहिए, किन्तु सब स्वार्थमय इच्छाओ का दमन करना आवश्यक है । गीता का आदेश प्रवृत्ति अर्थात् कर्म करना और निवृत्ति अर्थात् उससे उपरामता दोनो का एकत्रीकरण है । कर्मों से केवल निवृत्त रहना सच्चा त्याग नही है । हाथ निश्चल रह सकते है किन्तु इच्छाए अपने कार्य मे व्यस्त रहती है । यह कर्म नही है जो हमे वन्धन मे डालता है किन्तु भाव ही है जिसको लेकर हम कर्म करते हैं जो वन्धन का कारण है । "अज्ञानियो द्वारा किया गया कर्मो का त्याग वस्तुत एक विध्यात्मक कर्म है, ज्ञानियो का कर्म वस्तुत अकर्म है ।"[5] आत्मा का आतरिक जीवन सासारिक क्रियाशील जीवन के अनुरूप होता है । गीता दोनो का समन्वय उपनिषदो के भाव के अनुकूल करती है । जिस कर्म का सकेत गीता मे किया गया है वह कौशलपूर्ण कर्म है । "योग कर्मसु कौशलम्," अर्थात् कर्मो मे कुशलता का नाम ही योग है ।[6]

हम जो कुछ भी कर्म करें उसे किसी वाह्य विधान की अधीनता के अन्दर रहकर करना उचित नही, अपितु आत्मा के मोक्ष के लिए कृत आतरिक सकल्प के आदेश के अनुसार करना चाहिए । यही उच्चश्रेणी का कर्म है । अरस्तू कहता है, "जो अपने निश्चित सिद्धातों के आधार पर काम करता है वह सबसे उत्तम है एव उससे उतरकर वह है जो अन्यो के परामर्श के आधार पर कार्य करता है ।"[7] असस्कृत व्यक्तियो के लिए शास्त्र ही प्रमाण हैं । वेदो के आदेश केवल वाह्य हैं और जब हम उच्चतम श्रेणी मे पहुच जाते हैं उस समय वह हमारे ऊपर लागू नही रहते । क्योकि उस अवस्था मे स्वभावत हमे आत्मा के शब्द के अनुकूल ही कर्म करना होता है ।

प्रत्येक कर्म पवित्र प्रेरणा के वश होकर ही करना चाहिए ।'हमे अपने मन मे से

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ६ : ४, २७, वेदान्तसूत्रों पर शाकरभाष्य, ३ : ३२ ।
२. १८ : ४६ ।   ३. ६ : ६, ४ : १३-१४ ।   ४. १८ : २ ।
५. अष्टावक्रगीता, १८ : ६१ ।   ६. २ ५०, ४८, ३ : ३, ४ : ४२; ६ : ३२, ४६ ।
७. 'एथिक्स', १ : ४, ७ ।

स्वार्थपरता की सूक्ष्म छाया को भी निकाल देना चाहिए, कर्म के विशेष प्रकार की प्राथमिकता देने के भाव को एवं सहानुभूति अथवा प्रशंसा की आकांक्षा का त्याग देना चाहिए। यदि मन को पवित्र करके ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना है तो सब कर्म इसी भाव से करना चाहिए। स्वार्थी अहंकार की भावना लेकर जो अपने को इस लोक में देवता समझता है और इन्द्रियों के विषयभोग का ही शिकार रहता है देवता नहीं दस्यु है जो अध्यात्मविद्या में भौतिकवाद का और नैतिकता में विषयभोग को स्थान देता है।[1]

गीता के नीतिशास्त्र में गुणों के सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।[2] गुणों का बंधन ही परिमित शक्तिमत्ता का भाव उत्पन्न करता है। जिन बन्धनों का सम्बन्ध मन से है उनका सम्बन्ध भूल से आत्मा के साथ जोड़ा जाता है। यद्यपि सत्त्वगुण से आपूर्ण कर्म को सबसे उत्तम प्रकार का कर्म कहा गया है[3] यह कहा जाता है कि सत्त्वगुण भी बन्धन का कारण होता है क्योंकि एक श्रेष्ठ अथवा उदार इच्छा भी शुद्धतर अहंकार के भाव को उपजाती है। पूर्ण मोक्ष के लिए अहंकार का सारा अस्तित्व मिट जाना उचित है। अहंकार कितना ही पवित्र क्यों न हो एक बाधा उत्पन्न करनेवाला आवरण है और उसका बन्धन ज्ञान और आनन्द के साथ है। सब गुणों से ऊपर उठकर एक अमूर्त तथा विश्वव्यापी दृष्टिकोण को स्वीकार करना—यही आदर्श अवस्था है।

गीता यज्ञों के सम्बन्ध में जो वैदिक कल्पना थी उसे परिवर्तित करके आध्यात्मिक ज्ञान के साथ उसका समन्वय प्रस्तुत करती है।[4] बाह्य उपहार आंतरिक भाव का प्रतीक मात्र है। यज्ञ आत्मनियन्त्रण और आत्मसमर्पण को विकसित करने के उद्देश्य से किए गए प्रयत्न हैं। सच्चा यज्ञ इन्द्रियों के सुख का होम कर देने में ही है। यह आहुति जिस देवता को समर्पित की जाती है वह सर्वोपरि ब्रह्मतत्त्व है अथवा वही यज्ञपुरुष या यज्ञों का अधिष्ठाता है।[5] हम यह अनुभव करने की आवश्यकता है कि सब पदार्थ दैवीय शक्ति के द्वारा नियुक्त उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए साधनरूप हैं और इसी दृष्टिकोण से सब कर्मों को ब्रह्मार्पण करके हम कर्म करने में प्रवृत्त रहना चाहिए। हमारा खान पान एवं अन्य सभी कर्म जो हम करें ईश्वर के गौरव के लिए ही करें। एक योगी सदा ईश्वरार्पण करके कर्म करता है और इसलिए उसका आचरण ऐसा नमूना है जिसका अनुसरण अन्यों को भी करना चाहिए।

मानवीय आचरण को नियमित करने के लिए गीता ने अनेक सामान्य नियमों का विधान किया है। कुछ वाक्यों में मध्यम मार्ग का उपदेश दिया गया है।[6] गीता मनुष्य समाज के वर्णपरक विभागों तथा जीवन की विभिन्न स्थितियों अर्थात् आश्रमों की व्यवस्था को स्वीकार करती है। मनोभाव एवं विचार की दृष्टि से निम्न वर्णों के स्तर पर अवस्थित मनुष्य एकदम से ऊंची अवस्था में नहीं पहुंच सकते। उन्हें यथार्थ मनुष्यता तक पहुंचाने की प्रक्रिया के लिए निश्चय ही एक दीर्घकाल और यहां तक कि कई पीढ़ियों से भी गुजरने की आवश्यकता है। उन्नत दिशा में उठने के लिए जो चार अवस्थाएं अर्थात् चार

१ १६ ८ ६२। २ १४ ५। ३ १८ २३।
४ १४ १६। ५ ४ २४-२०। ६ ४ ३१।
७ ३ २१। ८ ६ १९-२०।

आश्रमो का विधान किया गया है, और जो मौलिक रूप से चार प्रकार के व्यक्तियो के अनुकूल हैं, उसे गीता अगीकार करती है। वर्ण का आधार गुणो[1] को वताते हुए गीता प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के कर्तव्यपालन का आदेश करती है।[2] स्वधर्म वह कर्म है जो अपनी आत्मा के विधान के अनुकूल हो। यदि हम धर्मशास्त्र-विहित कर्तव्यों का पालन करते रहे तो वही सच्ची ईश्वरपूजा है।[3] ईश्वर के अभिप्राय के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति का मनुष्य-समाज के प्रति कुछ कर्तव्य-कर्म हे। सामाजिक व्यवस्था का सगठन दैवीय है ऐसा कहा जाता है। प्लेटो भी इसीके अनुरूप एक सिद्धान्त का समर्थन करता है। "विश्व के नियन्ता व शासक ईश्वर ने सब पदार्थों की व्यवस्था उत्कर्प का विचार आगे रखते हुए की है और उनका आशय सम्पूर्ण की रक्षा करना है, और प्रत्येक भाग जहा तक सम्भव है, अपने अनुकूल कार्य तथा मनोवेग रखता है—क्योकि प्रत्येक चिकित्सक और प्रत्येक कुशल कलाकार सब कुछ पूर्ण के प्रति ही करता है, अपने इस प्रयत्न को सर्वसामान्य के कल्याण के लिए उसी दिशा मे मोडते हुए एक भाग को सम्पूर्ण सत्ता के लिए न कि पूर्ण को उसके भाग के लिए।"[4] यद्यपि प्रारम्भ मे तो वर्ण या जाति का विधान गुणो के ही आधार पर रखा गया था किन्तु वहुत शीघ्र ही वह जन्म का विपय वन गया, क्योकि यह जानना कठिन है कि कौन क्या गुण रखता है। इसलिए एकमात्र उपलब्ध कसौटी जन्म ही रह जाता है। जन्म और गुणो की गड़वड़ी के कारण ही वर्ण का जो धार्मिक आधार था उसका मूलोच्छेद हो गया। यह आवश्यक नही है कि एक जाति-विशेप मे जन्म लेने-वाले सव व्यक्तियो का आचरण वही हो जिसकी उनसे आशा की जाती है। चूकि जीवन के तथ्य तार्किक आदर्श के सदा अनुकूल ही नही होते, इसलिए सपूर्ण वर्णव्यवस्था की सस्था भग होती जा रही है। यद्यपि आधुनिक वर्तमान समय के ज्ञान के आधार पर इस व्यवस्था को दूपित ठहराना आसान है, फिर भी हमे न्याय की दृष्टि से यह मानना पडेगा कि इसने मनुष्य-समाज का निर्माण परस्पर सद्भावना तथा सहयोग के आधार पर करने का प्रयत्न किया और परस्पर प्रतिस्पर्धा के जो दुष्परिणाम हो सकते हैं उन्हे दूर करने का प्रयत्न किया। इसने यह माना कि श्रेष्ठता धन-सम्पत्ति की नही है अपितु ज्ञान की है, और महत्त्व-विपयक जो इसका निर्णय है वह सही है।

जीवन की चारो अवस्थाओ या आश्रमो मे अन्तिम सन्यास की अवस्था है। इसमे आकर मनुष्य को आदेश दिया गया है कि वह अपने को ससार के व्यवहार से पृथक् कर ले।[5] कभी कभी यह कहा गया है कि इस आश्रम मे तव प्रवेश करना चाहिए जवकि शरीर क्षीण होने लगे और मनुष्य अपने को कार्य करने के अयोग्य अनुभव करने लगे।[6] किन्तु चूकि स्वार्थमयी कामनाओ का त्याग ही सच्चा सन्यास है इसलिए यह गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी सम्भव है।[7] यह कहना उचित न होगा कि गीता के मत मे हम तव तक मोक्ष को प्राप्त नही कर सकते जव तक कि अन्तिम आश्रम सन्यास को ग्रहण न कर लें।

१. ४ : १३। २. २ : ३१। ३ १८ : ४६–४७।
४. 'लाज' (जावेट संस्करण), १० : ९०३ वी।
५ मनु० ६ : ३३–३७, महाभारत, शान्तिपर्व, २४१, १५, २४८, ३।
६ मनु० ६ : २, महाभारत, उद्योगपर्व, ३६ ३९। ७. भगवद्गीता, ५ . ३।

गीता में प्रतिपादित भाव से जो कर्म किया जाता है उसकी पूर्ति ज्ञान में होती है।[1] अहंकार के भाव को दूर करके दैवीय भाव को जगाना चाहिए। यदि हम ऐसा कर सकें तो हम सिद्धान्त का अभिप्राय समझ में आ जाएगा। और उस अवस्था में हृदयानुभूत भक्ति भी दैवीय शक्ति के प्रति उत्पन्न हो जाएगी। इस प्रकार कर्ममार्ग हमें एक ऐसी दशा को प्राप्त कराता है जहां भावना, ज्ञान और इच्छा सब विद्यमान रहते हैं।

ऊपर दिए गए वृत्तान्त से यह स्पष्ट है कि सेवा का मार्ग ही मोक्षप्राप्ति का भी मार्ग है। भेद केवल इतना ही है कि पूर्वमीमांसा की परिभाषा के अनुसार यह कर्म नहीं है। बल्कि कर्म हमें मोक्ष की ओर नहीं ले जाते। उनका उपयोग केवल साधन के रूप में ही होता है। वे उच्च श्रेणी के ज्ञान की प्राप्ति के लिए भी मन को तैयार करते हैं। किन्तु ईश्वरार्पण के रूप में किया गया कर्म भी जो अनासक्ति और वैयक्तिक स्वार्थ से रहित भाव से किया गया है उतना ही प्रभावकारी है जितना कि अन्य कोई उपाय हो सकता है और उस ज्ञानरूपी उपाय की अपेक्षा निम्न स्तर का नहीं समझना चाहिए जैसा कि शंकराचार्य समझते हैं और न भक्ति से नीचा समझना चाहिए जैसा कि रामानुज का विश्वास है। अपने मतों की उत्कृष्टता बताने के लिए ही उक्त दोनों विद्वान ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि कृष्ण ने कर्म के मार्ग को सर्वश्रेष्ठ केवल इसलिए कहा क्योंकि उन्हें अर्जुन को फुसलाकर किसी न किसी विधि से कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करना था।[2] हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि कृष्ण ने अपनी आत्मा में एक असत्यभाषण को स्थान देकर अर्जुन को कर्म करने की प्रेरणा की और न ही वे ऐसे अज्ञानी थे जिसे अपने मन एवं हृदय की पवित्रता के लिए काम करना था। हमारे लिए यह भी सम्भव नहीं है कि हम जनक, कृष्ण एवं इसी कोटि के अन्यान्य महापुरुषों के विषय में ऐसा विचार रखें कि वे कर्म करने में इसलिए तत्पर थे कि उनका ज्ञान अपूर्ण था। न हम ऐसा ही सोचने की आवश्यकता है कि ज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर कर्म करने की कोई सम्भावना नहीं रहती। जनक का कहना है कि सच्चा उपदेश उसे जो मिला सो कर्म करने का उपदेश था और यह ज्ञान के द्वारा स्वार्थमयी कामनाओं का नाश करके ही हो सकता है। शंकर ने भी इस विषय की छूट दी है कि ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर शरीर को धारण करने के लिए कुछ कर्म आवश्यक है।[1] यदि कुछ कर्मों की छूट दी गई है तब प्रश्न केवल मात्रा का रह जाता है कि मुक्तात्मा कितना कर्म करता है। यदि कोई व्यक्ति फिर से कर्म के अधीन होने से भय खाता है तो इसका अर्थ यह है कि उसका अपनी इन्द्रियों के ऊपर पूर्ण रूप से शासन नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्म संसार से भिन्न है यदि इसी प्रकार आत्मा को भी शरीर से पृथक माना जाए तो भी शरीर का कर्म करने से रोकने वाला कोई नहीं।[2] यह बात अवश्य है कि गीता के मत में मनुष्य भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति वाले हैं जिनमें से कुछ का झुकाव संसार के त्याग के प्रति होता है और अन्यों का सेवाभाव के प्रति होता

१. अध्याय ४।

२. भगवद्गीता पर शांकर भाष्य ४ : २; ६ : १-२; १८ : ११। रामानुज का भाष्य गीता पर ५ : १; ३ : १।
३. ३ : ८। ४ : १८; ७३ : ६। ५ : ४; २१ : ५; १२।

है और उन सबको अपनी आत्मा के विचार के अनुसार कर्म करना होता है।[1]

इससे पूर्व कि हम इस विषय से आगे बढ़ें, हमें मनुष्य के मोक्ष के विषय में गीता के विचार पर ध्यान देना आवश्यक है। मनुष्य की इच्छा का निर्णय पूर्वस्वभाव, पैत्रिक संस्कारों, प्रशिक्षण तथा परिस्थिति इन सबके आधार पर होता है। समस्त संसार व्यक्ति के स्वरूप में केन्द्रित होता प्रतीत होता है। सिवा अप्रत्यक्ष रूप के, स्वभाव के अनुरूप किया गया निर्णय ईश्वर का निर्देश नहीं कहा जा सकता। "सभी प्राणी अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं, और उसमें निग्रह क्या कर सकेगा?"[2] मनुष्य का अपना प्रयत्न व्यर्थ प्रतीत होता है, क्योंकि समस्त जगत् का केन्द्र ईश्वर सब प्राणियों को, जो मानो यन्त्र पर आरूढ़ हों, अपनी मायारूपी शक्ति से चक्कर दे रहा है।[3] यदि प्रकृति द्वारा नियन्त्रित इच्छा ही सब कुछ हो तब फिर मनुष्य को कर्म करने में स्वातन्त्र्य कहाँ रहा? बौद्ध लोग घोषणा करते हैं कि आत्मा कुछ नहीं है, कर्म ही कार्य करता है। गीता का मत है कि यान्त्रिक विधि से निर्णीत इच्छा से ऊपर और श्रेष्ठ एक आत्मा है। जीवात्मा की परम अवस्था के विषय में सत्य चाहे कुछ भी क्यों न हो, भौतिक प्रकृति के बन्धन से मुक्त होने पर सदाचार के स्तर पर इसकी एक स्वतन्त्र पृथक् सत्ता अवश्य है। मनुष्य के मोक्ष के विषय में गीता की निश्चय ही जीवन के सम्पूर्ण दार्शनिक ज्ञान की व्याख्या करने के अनन्तर कृष्ण अन्त में अर्जुन से यही कहते हैं कि "जैसा तुम चाहो वैसा कर्म करो।"[4] मनुष्य की आत्मा के ऊपर कोई भी सर्वशक्तिसम्पन्न प्रकृति नहीं है। हम प्रकृति के आदेशों का अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं हैं। वस्तुतः हमें अपनी रुचि तथा अरुचि के प्रति सावधान रहने को कहा गया है, क्योंकि 'यही जीवात्मा के मार्ग में बाधक बनती है।" प्रकृति की रचना में जो कुछ अनिवार्य है और जिसका हम दमन नहीं कर सकते एवं मन की उन भ्रांतियों तथा दुविधाओं में जिनसे हम अपने को मुक्त कर सकते हैं, भेद किया गया है। वे प्राणी जिनकी आत्मा संघर्ष करने के पश्चात् उन्नत अवस्था को प्राप्त नहीं हुई है, भौतिक प्रकृति के प्रवाह में बह जाते हैं। मनुष्य, जिसमें बुद्धि का प्राधान्य है, प्रकृति की गति का सामना कर सकता है। उसके सब कर्म बुद्धिसम्पन्न इच्छा के अनुसार होते हैं। मनुष्य जब तक वासना के वश न हो तब तक साधारण स्थिति में वह पशुओं का सा विवेकशून्य जीवन नहीं बिताता। "वह कौन-सी शक्ति है जो मनुष्य को बलात् पाप की ओर ले जाती है, और प्रायः प्रकटरूप से उसकी इच्छा के भी विरुद्ध मानो किसी गुप्त शक्ति के द्वारा बाधित हो?" उत्तर में कहा गया है कि "यह काम-वासना है जो उसे उकसाती है—यही इस लोक में मनुष्य की शत्रु है।"[5] यह मनुष्य के सामर्थ्य की बात है कि वह अपनी वासना को वश में करके अपने आचरण को बुद्धि के द्वारा नियमबद्ध कर सके। शंकर लिखते हैं "सभी इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्ध में, यथा शब्द आदि के विषय में, प्रत्येक इन्द्रिय में एक अनुकूल विषय के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और प्रतिकूल विषय के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है। अब मैं बताऊँगा कि वैयक्तिक पुरुषार्थ के तथा शास्त्रों के उपदेश के लिए क्षेत्र कहाँ बचता है। जो शास्त्रों

१. महाभारत, शान्तिपर्व, ३३९–३४०।
२. १८ ५९–६०. और भी देखिए, ३ . ३३, ३६।
३. १८ . ६१।
४. १८ . ६३।
५. ३ . ३७, ६ . ५–६।

के उपदेशों के अनुकूल आचरण करेगा, प्रारम्भ में ही प्रेम और विरक्ति के शासनक्षेत्र से ऊपर उठ जाएगा।[1] कर्म केवल एक अवस्था मात्र है नियति नहीं। गीता का कर्म के सम्बन्ध में जो विश्लेषण है उससे भी यही परिणाम निकलता है जिसमें भाग्य को पांच अवयवों में से एक अवयव बताया गया है। कर्म की सिद्धि के लिए पांच अवयवों का होना आवश्यक है। वे हैं अधिष्ठान अथवा आधार या कोई ऐसा केन्द्र जहां से कर्म किया जा सके, कर्ता अर्थात् कर्म का करनेवाला, करण अर्थात् प्रकृति का साधन, चेष्टा अथवा प्रयत्न या पुरुषार्थ और दैव अथवा भाग्य। यह अन्तिम घटक मनुष्य की शक्ति से अतिरिक्त एक शक्ति या शक्तियां है। यह एक सार्वभौम तत्त्व है जो कर्म के परिवर्तन की पृष्ठभूमि में सदा विद्यमान रहता है और इसी के कारण कर्मफल का निर्णय दंड के रूप में अथवा पुरस्कार के रूप में होता है।

१२

मोक्ष

हम ज्ञान, प्रेम अथवा सेवा का चाहे जिस पद्धति का अनुसरण करें, गन्तव्य लक्ष्य एक ही है और वह है सर्वोपरि ब्रह्म के साथ जीवात्मा का संयोग। जब मन पवित्र हो जाता है और अहंकार शान्त हो जाता है तो मनुष्य का सर्वोपरि ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त हो जाता है। यदि हम मनुष्य की सेवा से प्रारम्भ करें तब भी हम सर्वोपरि ब्रह्म के साथ ऐक्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं न केवल कार्य तथा चेतना के विषय में अपितु जीवन और मन के रूप में भी। प्रेम भक्ति के परमानन्द में परिणत हो जाता है जहां पहुंचकर आत्मा और ईश्वर एक हो जाते हैं। चाहे हम किसी भी मार्ग का अवलम्बन करें पहुंचें अन्त में हम मिलते हैं उसको ज्ञान तथा दैवी जीवन का अनुभव और उसी के अन्दर निवास। यह धर्म का उच्चतम रूप है अथवा आत्मा का जीवन है जिसे विरले व्यक्ति ही प्राप्त कर पाते हैं।

आध्यात्मिक यथार्थता की प्राप्ति का उपायस्वरूप ज्ञान आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि रूपी उस ज्ञान से भिन्न है जो आनन्द है। शंकर ठीक कहते हैं कि मोक्ष अथवा ईश्वर का साक्षात्कार सेवा अथवा भक्ति का कर्म नहीं है और इसीलिए बोध भी नहीं है यद्यपि ये मोक्षप्राप्ति के साधन अवश्य हो सकते हैं। मोक्ष एक अनुभव अथवा सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन है। भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्बन ईश्वरप्राप्ति के लिए ही किया जाता है। यथार्थता की प्राप्ति के लिए अवलम्बन किए गए भिन्न-भिन्न मार्गों के मूल्यांकन के विषय में गीता पूर्णरूप से अपने कथन में सहमत नहीं है। "मुझमें अपने मन को प्रतिष्ठित करो। यदि तुम मेरा चिन्तन नहीं कर सकते तो योगाभ्यास करो। यदि यह तुम्हें अनुकूल नहीं पड़ता तो अपने सब कर्म को मुझे अर्पित करके मेरी सेवा करने का प्रयत्न करो। यदि यह भी शक्ति प्रदान न हो तो अपने बल से ही कर्म का परित्याग करो किन्तु परिणाम की ओर से उदासीन रहो और ठंडे मन की आशा न करो।[2] आगे चलकर निरन्तर निरपेक्ष कर्म करने को अपेक्षा ज्ञान

[1] भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, २ : ४८।
[2] १२ : ८-११।

उत्तम है, ध्यान ज्ञान से उत्तम है, कर्मफल का त्याग ध्यान से भी उत्तम है, कर्मफल के त्याग से शान्ति प्राप्त होती है।"[1] प्रत्येक उपाय को कभी न कभी प्रधानता दी गई है।[2] ग्रन्थकर्ता के मत मे कोई भी उपाय ठीक है, और यह उपाय कौन-सा हो यह व्यक्ति के अपने चुनाव के ऊपर है। "कई ध्यान के द्वारा, अन्य कई चिन्तन के द्वारा, और कई कर्म के द्वारा तथा अन्य कई पूजा-उपासना के द्वारा अमरत्व को प्राप्त करते है।"[3]

सर्वोत्तम अनुभूत तथ्य मोक्ष है, और ज्ञान शब्द का प्रयोग दोनो, अर्थात् स्वय इस साहसिक कार्य और इस तक पहुचानेवाले मार्ग, के लिए हुआ है। इस द्विविधा ही के कारण कुछ विद्वानो का यह विचार हो गया कि ज्ञान एक मार्ग के रूप मे मोक्षप्राप्ति के अन्यान्य मार्गो की अपेक्षा उत्तम हे और यह कि एकमात्र बोध ही निरन्तर रहता है जबकि अन्य घटक अर्थात् मनोभाव और इच्छा मोक्ष की सर्वोच्च अवस्था मे रह जाते है। इस प्रकार के मत की स्थापना के लिए कोई युक्तियुक्त प्रमाण प्रतीत नही होता।

मुक्ति अथवा मोक्ष सर्वोपरि आत्मा के साथ सयुक्त हो जाने का नाम है। इसके अन्य भी कई नाम है मुक्ति, ब्राह्मी स्थिति (ब्रह्म मे स्थित हो जाना), नैष्कर्म्य या कर्म का त्याग, निस्त्रैगुण्य, अर्थात् तीनो गुणो सत्त्व, रजस् और तमस् का जिसमे अभाव हो, कैवल्य अर्थात् एकान्तरूप मोक्ष, ब्रह्मभाव, अर्थात् ब्रह्म हो जाना। निरपेक्ष अनुभूति मे समस्त विश्व की एकता का अनुभव होता है। "आत्मा ही सब प्राणियो मे हे और समस्त प्राणी आत्मा के अन्दर निहित हे।"[4] पूर्णता की अवस्था धार्मिकता के उन फलो से कही अधिक है जो वैदिक विधि-विधानो के अनुष्ठान, यज्ञो के अनुष्ठान और अन्य सब उपायो के परिणाम हो सकते है।[5]

हम पहले कह चुके है कि परम अवस्था मे कर्म का क्या स्थान है। इस विषय मे विविध प्रकार के निर्वचन प्रस्तुत किए जाते है। इस विषय मे कि परम अवस्था मे व्यक्तित्व का कोई आधार रहता हे या नही, गीता का मत एकदम स्पष्ट नही है। अन्तिम या चरम अवस्था को सिद्धि अथवा पूर्णता, परासिद्धि, सर्वोत्तम पूर्णता, 'परागतिम्', अर्थात् सर्वोच्च आदर्श, 'पदम् अनामयम्', अर्थात् आनन्दमय स्थिति, शाति, 'शाश्वत पदम् अव्ययम्' अर्थात् नित्य एव अविनश्वरस्थान भी कहा गया है।[6] उक्त सब परिभाषाए इस विश्व मे उदासीन अथवा वैशिष्ट्यहीन ह और यह हमे कुछ नही बताती कि मोक्ष की अवस्था मे व्यक्तित्व बना रहता है या नही। ऐसे वाक्य अवश्य पाए जाते है जो विशेषरूप से कहते है कि मुक्तात्माओ को ससार के व्यापारो से कोई मतलब नही रहता। उनका व्यक्तित्व नही रहता और इसी लिए कर्म का आधार भी नही रहता। द्वैतभाव का विलोप हो जाने से कर्म भी असम्भव हो जाता है। मुक्तात्मा निर्गुण होती है। वह नित्य आत्मा के साथ मिलकर एकत्व प्राप्त करती है।[7] यदि कर्म का आधार प्रकृति है और यदि नित्य प्रकृति

१. १२ १२। २. ६ : ४६, ७ १६, १२ १०।
३ १३ . २४–२५, १८ ५४–५६। ४ ६ : २९। ५. ८ २८।
६. १२ . १०, १६ . २३, १४ १, ६ ४५, ८ : १३, ९ . ३२, १६ २२–२३, २ . ५१, ३९, ५ : १०, १८ . ६२, १८ : ५६।
७ "आत्मैव।" ७ १८। वह मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है—"मद्भाव याति," ८ . ५, भी देखिए, ८ : ७।

की क्रियाविधियां में सर्वथा स्वतन्त्र हैं, तब मोक्ष की अवस्था में न अन्धकार का स्थान है और न इच्छा व कामना का ही स्थान है। यह एक ऐसी अवस्था है जो सब प्रकार की क्रियाओं और गुणों से रहित भावहीन, स्वतन्त्र तथा शान्तिमय है। यह केवलमात्र मृत्यु के पश्चात् विद्यमानता की ही दशा नहीं अपितु सर्वोच्च सत्ता की अवस्था को प्राप्त हो जाना है जहां कि आत्मा अपने को जन्म और मृत्यु से ऊपर अनन्त नित्य तथा अभिव्यक्तियों व उपाधियों से परे अनुभव करती है। शंकर इन्हीं वाक्यों का आश्रय लेकर ज्ञानी के मोक्ष की व्याख्या साम्प्रदायिकों के वक्तव्य के रूप में करते हैं। यदि शरीर हमारे साथ लगा रहेगा तो प्रकृति भी अपना कार्य करती चलेगी जब तक कि शरीर को छोड़े हुए वस्त्र की भांति सर्वथा त्याग नहीं कर दिया जाता। अमूर्त आत्मा शरीर की क्रिया के प्रति उदासीन रहती है। यहां तक कि शंकर भी इस मत को स्वीकार करते हैं कि जब तक शरीर रहता तब तक जीवन भी रहेगा और कर्म भी रहेगा। हम प्रकृति की आवश्यकता से बच नहीं सकते। जीवन्मुक्त पुरुष जो शरीर धारण किए हुए है बाह्य जगत की घटनाओं से प्रतिक्रियारूप में सम्बद्ध है यद्यपि वह उनमें आसक्त नहीं होता। ऐसा कोई सुझाव नहीं मिलता कि सम्पूर्ण प्रकृति अमरत्व के धर्म में परिणत हो जाती हो जो दैवी अंश की अनन्त शक्ति है। आत्मा और शरीर का द्वैतभाव प्रकट है और उनमें परस्पर-समन्वय नहीं हो सकता अतएव जीवात्मा अपनी पूर्णता को तभी प्राप्त कर सकती है जबकि शरीर की यथार्थता के भाव को सर्वथा दूर कर दिया जाए। इस विचार के आधार पर हम सर्वोच्च ब्रह्म के कर्म के विषय में सोच भी नहीं सकते क्योंकि समस्त क्रिया का आधार अर्थात् अस्थायी निर्माणकार्य एवं अस्थायी प्रतीति अनन्त के विस्तार में विलीन हो जाते हैं। हमारे दृष्टिकोण का पूर्णरूपेण त्याग सब प्रकार की प्रगति का अन्त प्रतीत होता है। शंकर कहते हैं कि अनन्त के विषय में हमारा मत इसका यथार्थ माप नहीं है। हम अपने मानवीय दृष्टिकोण से उस अनन्त के जीवन की पूर्णता का ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकते। इस मत को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि गीता के वे श्लोक जिनसे आत्माओं की अनन्तता ध्वनित होती है परम अवस्था से सम्बन्ध नहीं रखते, अपितु वे केवल सापेक्ष अवस्थाओं के ही सम्बन्ध में हैं।

हम और भी ऐसे श्लोक मिलते हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि मुक्त आत्माओं के लिए भी कर्म सम्भव हो सकता है। अन्तर्दृष्टि तथा ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति सर्वोपरि ब्रह्म का अनुकरण करते हैं और इस संसार में कार्य करते हैं।[1] सर्वोच्च अवस्था सर्वोपरि ब्रह्म में लय अथवा निरोभाव हो जाना नहीं है अपितु अपना पृथक् व्यक्तित्व है। मुक्त पुरुष की आत्मा यद्यपि विदेहभाव में केन्द्रित है लेकिन अपना निजी व्यक्तित्व भी रखता है और दिव्य आत्मा का अंश है। ठीक जिस प्रकार पुरुषोत्तम जो समस्त विश्व में व्याप्त है कर्म करता है मुक्तात्मा को भी उसी प्रकार कर्म करना चाहिए। सर्वोच्च अवस्था पुरुषोत्तम में निवास करने की अवस्था है।[2] जो इस अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और ईश्वर के पद को प्राप्त करते हैं।[3] मात्र सत्ता के लिए व्यक्तित्व का विनाश हो

१ ४ ४-१५। २ मय्येव निवसिष्यसि।

३ १८ १४ १ मद्भावमागता।

जाना नही है अपितु जीवात्मा की एक आनन्दरूप मुक्ति एव ईश्वर की उपस्थिति मे एक पृथक् तथा लक्षित हो सकनेवाला अस्तित्व है। "मेरे भक्त मेरे पास आ जाते है।"[1] गीता का रचयिता मोक्षावस्था मे भी एक चेतनासम्पन्न व्यक्तित्व के तारतम्य को मानता है, ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुत कुछएक स्थलो से यह सुझाव मिलता है कि मुक्तात्माए ईश्वर तो नही बन जाती किन्तु तत्त्वरूप मे ईश्वर के समान हो जाती हैं।[2] मोक्ष विशुद्ध तादात्म्य नही है बल्कि केवल गुणात्मक समानता है, यह जीवात्मा का ऊचे उठकर ईश्वर के सदृश अस्तित्व प्राप्त कर लेना है, जहा तुच्छ इच्छाओ के प्रवृत्त होने की कोई शक्ति नही है। अमर होने से आशय नित्यस्वरूप प्रकाश मे निवास है। हमारी आत्मता नही नष्ट होती बल्कि अधिक गहरी हो जाती है, पाप के सब धब्बे मिट जाते है, सशय की गाठ कट जाती है, हम अपने ऊपर प्रभुत्व पा जाते है और हम सदा के लिए प्राणिमात्र का कल्याण करने मे अपने को लगा देते है। हम अपने को सभी गुणो से मुक्त नही कर लेते किन्तु सत्त्वगुण धारण करते है और रजोगुण का दमन करते है।[3] रामानुज भी इसी मत पर बल देते है और प्रतिपादन करते है कि मुक्त आत्मा ईश्वर के साथ सदा सयुक्त रहती है और उसका समस्त जीवन इसको अभिव्यक्त करता है। उस प्रकाश से जिसमे वह निवास करता है, ज्ञान की धारा प्रवाहित होती है, और वह अपने ईश्वर के प्रति प्रेम मे एक प्रकार से खो जाता है। इस अवस्था मे हम एक सर्वोत्तम जीवन को प्राप्त करते प्रतीत होते है, सम्पूर्णरूप मे प्रकृति का बहिष्कार करके नही अपितु उच्चकोटि की आध्यात्मिक पूर्णता के द्वारा। इसी दृष्टिकोण से हम कर्म करते तथा ईश्वर मे निवास करते है केवलमात्र क्रियाशीलता का केन्द्रबिन्दु जीवात्मा से हटकर दिव्यरूप मे परिवर्तित हो जाता है। दैवी शक्ति की धडकन समस्त विश्व मे अनुभव की जा सकती है जो विभिन्न वस्तुओ मे भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है। प्रत्येक जीवात्मा अपना केन्द्र तथा परिधि ईश्वर के अन्दर रखती है। रामानुज के मत मे आध्यात्मिक शरीर उच्चतम अनुभूति मे भी एक महत्त्वपूर्ण घटक है।

इस प्रकार गीता मे परम अवस्था के विषय मे दो प्रकार के परस्पर-विरोधी मत है। एक तो वह है जिसके अनुसार मुक्त आत्मा अपने को ब्रह्म के अमूर्तरूप मे खो देता है और ससार के द्वन्द्व से दूर रहकर शान्ति प्राप्त करता है। दूसरे मत के अनुसार, हम ईश्वर को धारण करते है और उसमे हर्ष का अनुभव करते है तथा समस्त दु ख-क्लेश एव क्षुद्र इच्छाओ की उत्सुकता से ऊपर उठ जाते है, क्योकि ये ही दासत्व के चिह्न है। गीता धार्मिक पुस्तक होने के कारण एक शरीरधारी ईश्वर की परमार्थता के ऊपर बल देती है और साथ मे यह भी प्रतिपादन करती है कि मनुष्य के अन्दर जो दैवी शक्ति है उसे अपनी पूर्ण शक्ति के साथ ज्ञान, शक्ति, प्रेम एव सार्वभौमता के रूप मे पूर्णतया विकसित होना चाहिए। इससे हम निश्चय ही यह परिणाम नही निकाल सकते कि गीता का मत उपनिषदो के मत के विपरीत है। यह मतभेद इस सामान्य समस्या का एक विशिष्ट उपयोग है कि परब्रह्म अथवा शरीरधारी पुरुषोत्तम इन दोनो मे किसकी यथार्थता उच्चश्रेणी की है। गीता के

१. ७ २३, और भी देखिए, ९ २५, ४ . ९।
२. १४ २, "मम साधर्म्यमागता।"
३ "शान्तरजसम्," ६ २७।

अध्यात्मशास्त्र का विवेचन करते समय हमने कहा है कि नाना ब्रह्म की परम यथार्थता का खण्डन नहीं करती किन्तु केवल यही सुझाव देता है कि हमारे दृष्टिकोण से उक्त परम तत्त्व अपने को शरीरधारी भगवान के रूप में अभिव्यक्त करता है। विचार के लिए चूंकि यह मानवीय है और कोई मार्ग उच्चतम यथार्थसत्ता के विषय में चिन्तन करने का नहीं है उसी दृष्टिकोण को अपनाते हुए हम कह सकते हैं कि मोक्ष की परम अवस्था के विषय में नाना मत आत्मिक दृष्टि से तथा बौद्धिक दृष्टि से सम्बन्ध रखनेवाले हैं यद्यपि भिन्न भिन्न दृष्टि से दोनों एक ही अवस्था को प्रदर्शित करते हैं। हमारे मानवीय दृष्टिकोण से परमतत्त्व एक निष्क्रिय सम्बन्धविहीन व्यक्तित्व और सब प्रकार के कर्म करने में अयोग्य प्रतीत होता है जबकि वस्तुतः वह ऐसा नहीं है। यदि हम इसका विध्यात्मक वर्णन करना चाहें तो हमें केवल रामानुज का वर्णन ही इस प्रकार का मिलता है। यह प्रतिपादन करने के लिए कि दोनों अर्थात् परमतत्त्व और शरीरधारी ईश्वर एक ही हैं गीता का कहना है कि अमूर्तता तथा मूर्तिमत्ता परस्पर में इस प्रकार से संयुक्त हैं कि उच्चतम यथार्थसत्ता हमारी समझ से बाहर है। इसी प्रकार मुक्तात्माएं अपना व्यक्तित्व भले ही न रखती हों तो भी आत्मसंयम के कारण व्यक्तित्व रख सकती हैं। यह इसी प्रकार से सम्भव है कि गीता ने प्रवृत्ति के अनासक्तिप्रधान के साथ कालातीत आत्मा के नित्य अचल निवृत्तिमार्ग की संगति बैठाने का प्रयत्न किया है।

मृत्यु के उपरान्त मुक्तात्मा की अवस्था के विषय में चाहे जो कुछ भी तथ्य हो जब तक वह संसार में जीवनधारण किए रहती है उसे कुछ न कुछ कर्म करना ही है। शङ्कर के अनुसार मुक्तात्मा को यह क्रियाशीलता प्रकृति के कार्य का प्रकार है और रामानुज के मत में सर्वोपरि सत्ता के ये कर्म हैं। ये दोनों कर्म के धर्मस्वरूप को व्यक्त करने के दो भिन्न मार्ग हैं। मुक्त आत्मा का कर्म आत्मा के स्वातन्त्र्य से होता है और इसमें आनन्द शक्ति तथा शान्ति का समावेश रहता है जो न तो अपने उद्भव के लिए और न ही निरन्तरता के लिए बाह्य वस्तुओं के ऊपर निर्भर करता। मुक्त व्यक्ति सत्यवादी की उन्नता को उत्तार फेंकते हैं। समस्त अन्धकार (अज्ञान) उनके चेहरे से दूर भाग जाता है। उनकी सजीव दृष्टि और दृढ़तापूर्ण वाणी से यह विदित होता है कि उनके अन्दर आध्यात्मिक प्रेरणा का वास है जिसके ऊपर वे अविश्वास नहीं कर सकते वे भौतिक शरीर के अधीन नहीं हैं न इच्छा ही उन्हें आकृष्ट कर सकती है। विपत्ति में वे निराश नहीं होते और न सम्पत्ति में प्रमत्त ही होते हैं। चिन्ता भय और क्रोध आदि उन्हें नहीं व्यापते। उनका मन सरल एवं बालक के समान दृष्टिकोण सर्वथा अज्ञान और पवित्र होता है।[1]

मुक्त व्यक्ति समस्त पुण्य-पाप से परे है। पुण्य भी पूर्णता के रूप में परिणत हो जाता है। मुक्त पुरुष जीवन के केवल नैतिक नियम से ऊपर उठकर प्रकाश सत्ता और आध्यात्मिक जीवन की शक्ति को पहुंचता है। यदि उसने ऐसे कोई बुरे कर्म भी किए हों जो कि साधारण परिस्थिति में इस पृथ्वी पर दूसरे जन्म की आवश्यकता का कारण बन सकें तो भी इसकी आवश्यकता नहीं रहती। सामान्य नियमों तथा विधि विधानों से वे

[1] तुलना कीजिए ... बालभावमथाभावं निश्चिन्त्य याति ... । —ज्ञानसंकलन तन्त्र ।

मुक्त है। जहा तक लक्ष्य का सम्बन्ध है, गीता के मत मे परमव्यक्तिवाद की महत्ता है। यदि यह मुक्तपुरुष नीत्शे के अतिमानव का अनुकरण करें तो यह एक भयावह सिद्धान्त होगा जिसका दुर्बल तथा अयोग्य और अपाग एव अपराधी व्यक्तियो से कोई नाता नही। यद्यपि सामाजिक कर्तव्यो से वे मुक्त हैं तो भी गीता के मुक्तात्मा समाज के ऐसे व्यक्तियो को भी कभी नही भूलते। मुक्त व्यक्ति अपने-आपमे कभी उद्विग्नता का भाव नही आने देते और न दूसरो को कभी उद्विग्न करते है।[1] जगत् के कल्याण के लिए कार्य करना उनका स्वभाव बन जाता है। ये श्रेष्ठ व्यक्ति एक समान मन से इस लोक के सब पदार्थो के साथ व्यवहार करते है। वे गतिशील और रचनात्मक धार्मिक जीवन के प्रतीक है और इस बात का खयाल रखते है कि सामाजिक नियम मनुष्य के जीवन के धार्मिक पक्ष को पुष्ट करने मे पूर्णतया सहायक सिद्ध हो। वे अपने नियत कर्म को करते है जिसका आदेश उनके अन्दर अवस्थित दैवी शक्ति करती है।

जहा एक ओर गीता सामाजिक कर्तव्यो पर बल देती है, यह सामाजिक स्थिति से ऊपर भी एक अवस्था मानती है। मनुष्य-समाज से पृथक् भी मनुष्य की एक अनन्त नियति है। सन्यासी सब नियमो, वर्णो और समाज से भी ऊपर है। यह मनुष्य के अनन्त गौरवपूर्ण पद का प्रतीक है, जो अपने को समस्त बाह्य पदार्थो से पृथक् कर सकता है, यहा तक कि स्त्री तथा बच्चो से पृथक् और आत्मनिर्भर होकर यह स्थल के एकान्त मे जाकर बैठ सकता है, यदि उसका ईश्वर उसके साथ है। सन्यासी जिस आदर्श को अगीकार करता है वह त्याग व तपस्या का नही है। वह समाज से एकदम पृथक् रहकर भी मनुष्य-मात्र के प्रति करुणा का भाव रखता है। महादेव ने हिमालय के बर्फीले शिखरो पर बैठकर मनुष्य-जाति की रक्षा के लिए विषपान किया था।

उद्धृत ग्रथ

तेलग : 'भगवद्गीता। सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट', खण्ड ७।
तिलक : 'गीतारहस्य'।
अरविन्द घोष : 'एसेज ऑन द गीता'।

१ १२ : १५।

दसवां अध्याय

बौद्धमत धर्म के रूप में

बौद्धमत के सम्प्रदाय—हीनयान—महायान—महायान की तर्कशास्त्र—महायान धर्म—नास्तिशास्त्र—भारत में बौद्धधर्म का ह्रास—भारतीय विचारधारा पर बौद्धधर्म का प्रभाव।

१

बौद्धधर्म के सम्प्रदाय

बुद्ध के जीवनकाल में भी उसके अनुयायियों में[1] मतभेद की प्रवृत्तियां आने लगी थीं यद्यपि संस्थापक के आकर्षक व्यक्तित्व के कारण बढ़ने न पाई थीं। बुद्ध के देहान्त के पश्चात् वे बल पकड़ गई। हीनयान-सम्प्रदाय वालों का विश्वास है कि थेरवाद और तीन पिटक एक ही हैं जैसे कि वे इस समय लंका में पाए जाते हैं और जिनका संग्रह राजगृह में आयोजित पहली परिषद् में किया गया था। पहली परिषद् में अत्यन्त विरोध रहने पर भी तपस्वी जीवन की कठोरताओं को शिथिल करने का प्रयत्न किया गया और नियमों को नरम बनानेवाले कुछ उचित परिवर्तन किए गए। पहली परिषद के लगभग १०० वर्ष पश्चात् एक दूसरी परिषद् वैशाली में हुई। इस परिषद ने विनयपिटक के आगम भाग एवं प्रक्रिया भाग पर विचार किया जिसमें संघ के नियमों पर एवं इस विषय पर भी विवाद हुआ कि कुछ छूट दी जानी चाहिए या नहीं। अत्यधिक संघर्ष के पश्चात् संघ के स्थविरगण[2] छूट देने के विषय को दूषित ठहराने में सफल हो सके। प्रगतिशील दल में अथवा महासंघिकों में जिनकी हार हुई ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक थी जिन्होंने उनका समर्थन किया। उन्होंने एक सभा की जिसे उन्होंने महासंगीति अर्थात् महती सभा नाम दिया। हमें दीपवंश—५ में कट्टरपन्थी दृष्टिकोण से लिखा गया इस बड़ी सभा का वृत्तान्त मिलता है। कहा गया है कि उक्त सभा ने धर्म को उलट दिया और पुराने धर्मशास्त्रों को भंग कर दिया निकायों में वर्णित वाक्यों एवं सिद्धान्तों को तोड़ मरोड़ दिया और बुद्ध के उपदेशों के आशय को नष्ट कर दिया। सनातनी एवं सुधारक विभागों में परस्पर मतभेद का मुख्य विषय बुद्धत्व की प्राप्ति के प्रश्न पर था। स्थविरों का मत था कि यह एक ऐसा गुण है जो विनयपिटक में उल्लिखित नियमों का अक्षरशः पालन

१ देवदत्त के प्रयत्नों पर ध्यान दीजिए।

२ पाली थेर।

करने से प्राप्त किया जाता है। सुधारवादी कहते थे कि बुद्धत्व एक ऐसा गुण है जो प्रत्येक मनुष्य के अन्दर सहजरूप मे विद्यमान है और पर्याप्त मात्रा मे उसका विकास होने मे यह ऐसे व्यक्ति को तथागत की कोटि तक पहुचा देता है। स्थविरवाद अथवा सनातन मत लका के बौद्धमत की वश-परम्परा का पूर्वज था, ऐसा कहा जाता है। यहा तक कि बौद्धमत अपने जीवन की दूसरी शताब्दी मे ही अठारह विभिन्न सम्प्रदायो मे बट गया था और उनमे से प्रत्येक अपने को आदिबौद्धमत कहने का दावा करता था। इसके पश्चात् अशोक के समय तक हमे बौद्धमत की गति का और अधिक ब्यौरा प्राप्त नही है।[1] बुद्ध के देहान्त की ढाई शताब्दी पश्चात् जब मौर्यसम्राट अशोक ने बौद्धमत स्वीकार किया तब बौद्धमत का अत्यन्त प्रबल रूप मे विस्तार हुआ। जो बौद्धमत बुद्ध की मृत्यु के पीछे लगभग तीन शताब्दियो तक हिन्दूधर्म की केवल एक शाखा मात्र था, वह अब अशोक के प्रयत्नो द्वारा एक विश्वधर्म के रूप मे परिणत हो गया।[2] अपने विस्तृत साम्राज्य मे, जो एक ओर काबुल की घाटी से लेकर गगा के मुहाने तक और दूसरी ओर उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण दिशा मे विन्ध्यपर्वतमाला तक फैला हुआ था, उसने आदेश जारी किए कि उसकी राजघोषणाओ को पत्थर के खम्भो पर खोद दिया जाए जिसमे कि वे सदा के लिए बनी रहे। उसने भारत के प्रत्येक भाग मे धर्मप्रचारक भेजे, काश्मीर से लेकर लका तक, यहा तक कि उन देशो मे भी जहा उसका शासन नही था। तेरहवी घोषणा मे कहा गया है कि उसने सीरिया के एण्टियोकस द्वितीय के पास, मिस्र देश के टालिमी द्वितीय के पास, मैसिडोनिया के एण्टिगोनस गोनाटोस के पास, साइरीन के मागस के पास, एपिरस के अलैक्जैडर द्वितीय के पास भी प्रचारक भेजे। ईसा के पश्चात् तीसरी शताब्दी मे बौद्धमत ने काश्मीर एव लका मे प्रवेश किया और वह शनै - शनै नेपाल, तिब्बत, चीन, जापान और मगोलिया मे भी फैल गया। यह कहा जाता है कि अशोक के पुत्र महेन्द्र को लका मे बौद्धधर्म का प्रधान बनाया गया। बौद्धधर्म मे नई-नई क्रियाओ के प्रविष्ट होने की प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे अशोक ने बौद्धधर्म के नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया।[3] बौद्ध सघ की बढी हुई प्रतिष्ठा के कारण सन्दिग्ध विचार वाले अनेक व्यक्तियो ने भी इधर आकृष्ट होकर इसमे प्रवेश किया, और जैसाकि महावग्ग मे कहा है, "विधर्मियो ने भी सघ के लाभ मे हिस्सा बटाने के लिए, पीले वस्त्र धारण कर लिए, एव अपने-अपने मतो को वे बौद्ध सिद्धान्त बताकर प्रचार करने लगे। वे अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करते थे और जैसा होना चाहिए था वैसा आचरण नही करते थे।"[4] तीसरी परिषद्

१ "बुद्ध के देहान्त के पश्चात् डेढ शताब्दी तक क्या हुआ, इसके वृत्तान्त के विषय मे हम भारतीय अथवा विदेशी लेखकों के द्वारा बहुत ही थोड़ा जान सके है।" रीज डेविड्स—'बुद्धिस्ट इण्डिया', पृष्ठ २५६।

२. देखिए, विसेंट स्मिथ कृत 'अशोक', पृष्ठ २२।

३ अशोक अपने शिलालेखों में से एक में उल्लेख करता है कि उसने कनकमुनि का एक स्तूप दोबारा स्थापित कराया। यह स्पष्ट है कि जनसाधारण पहले से ही स्तूपों का निर्माण करने लगे थे, एव तीर्थयात्रा भी करने लग गए थे। यह घटना कि कनकमुनि को प्राचीन बुद्ध के रूप में माना जाता था, यह दर्शाती है कि उस समय भी बुद्धों की परम्परा में विश्वास किया जाता था।

४. ३८-३९।

का ही शासन था, कनिष्क की परिषद् को मान्यता प्राप्त नही हुई। हीनयान-सम्प्रदाय को दाक्षिणात्य बौद्धधर्म भी कहा जाता है क्योकि इसका प्रचार अधिकतर लका आदि दक्षिणी देशो मे हुआ, एव महायान को उत्तरदेशीय कहा जाता है क्योकि इसने उत्तरी देशो तिब्बत, मगोलिया, चीन, कोरिया और जापान आदि मे उत्कर्ष प्राप्त किया। किन्तु यह विभाजन कृत्रिम प्रतीत होता है। रीज डेविड्स लिखता है "तथाकथित उत्तरदेशीय एव दक्षिणदेशीय बौद्धधर्म मे न तो मत-विषयक, और न भाषा-विषयक ही और न तो वर्तमान मे और न पहले भी कभी कोई एकता रही।"[1] यदि हम इस विषय को भली भाति समझ ले कि बौद्धधर्म के लगभग समस्त प्रामाणिक साहित्य का चाहे जहा भी इसका विस्तार हुआ हो, प्रादुर्भाव भारत के उत्तर मे ही हुआ, और यह भी समझ ले कि ये दोनो परस्पर-भिन्न विभाग नही है बल्कि इनमे पारस्परिक प्रभाव के चिह्न पाए जाते है, तो हम देखेगे कि एक को उत्तरदेशीय और दूसरे को दक्षिणदेशीय कहना आवश्यक नही है। इसके अतिरिक्त यह स्पष्ट है कि हीनयान एव महायान का भेद ईसा के पश्चात् चौथी शताब्दी से पूर्व भी प्रचलित था। फाह्यान एव ह्वेनचाग (युआन च्वाग) दोनो चीनी यात्रियो ने हीनयान का उल्लेख किया है और 'ललितविस्तर' मे भी इसका वर्णन मिलता है।

हीनयान-सम्प्रदाय अपना आधार पाली भाषा मे लिखे गए नियमो को बनाता है जबकि बौद्धधर्म के अनेक सस्कृतग्रन्थ महायान-सम्प्रदाय के है। महायान बौद्धधर्म की कोई विशिष्ट धार्मिक व्यवस्था नही है क्योकि यह किसी एक समजातीय सम्प्रदाय की स्थापना नही करता।[2]

१ 'बुद्धिस्ट इण्डिया', पृष्ठ १७३।

२. इस सम्प्रदाय के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रथ ९ है जो निम्नलिखित है : (१) अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, (२) गण्डव्यूह, (३) दशभूमीश्वर, (४) समाधिराज, (५) लकावतार, (६) सद्धर्मपुण्डरीक, (७) तथागतगुह्यक, (८) ललितविस्तर, (९) सुवर्णप्रभास। प्रज्ञापारमिता (२०० वर्ष ईसा के पश्चात्) में बोधिसत्त्व के छः पूर्णरूपों का वर्णन है, विशेषकर उच्चतम प्रज्ञा अर्थात् शून्य सिद्धान्त के ज्ञान से युक्त रूप है। उसका एक सक्षिप्त सस्करण, जो नागार्जुन का बनाया हुआ बताया जाता है, 'महायानसूत्र' है जिसमें से ही नागार्जुन ने अपने माध्यमिक सूत्रो का निर्माण किया है। गण्डव्यूह बोधिसत्त्व मञ्जुश्री का कीर्तिगान करता है, एव शून्यता, धर्मकाय तथा बोधिसत्त्व द्वारा ससार के मोक्ष का उपदेश देता है। दशभूमीश्वर (४०० वर्ष ईसा के पश्चात्) उन दस भूमियों या स्तरों का विवरण देता है जिनमे से गुजरकर बुद्धत्व प्राप्त होता है। समाधिराज एक सम्वाद है जिसमें चिन्तन की नानाविध भूमियों का वर्णन है जिनके द्वारा कोई बोधिसत्त्व उच्चतम ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त कर सकता है। लकावतार सूत्र ४०० वर्ष ईसा के पश्चात् में योगाचार के विचारों का वर्णन है। सद्धर्मपुण्डरीक या नैतिक नियमो का कमल (२५० वर्ष ईसा के पश्चात्) बुद्ध को देवताओ से श्रेष्ठदेव बतलाता है—एक ऐसा अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुष जो असख्य युगों में विद्यमान रहा है और सदा रहेगा। इसके अनुसार ऐसा प्रत्येक मनुष्य बुद्ध हो सकता है जिसने बुद्ध का उपदेश सुना हो एव पुण्यकार्य किए हों। और वे भी जो स्मारकों की पूजा करते है और स्तूप खड़ा कराते हैं, उच्चतम ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करते हैं। ललितविस्तर, जैसाकि इसके नाम से ही ध्वनित होता है, बुद्ध की लीला का ब्यौरेवार वर्णन करता है। यह बुद्ध के सारे जीवनचरित्र को एक प्रकार से सर्वोपरि सत्ता का विलासमात्र बनाता है। एडविन आरनल्ड की 'लाइट ऑफ एशिया' पुस्तक इसीपर आधारित है। सुवर्णप्रभास के विषय कुछ अशों में दार्शनिक एवं कुछ अशों में किंवदन्ती के रूप में हैं। इसमें तान्त्रिक क्रिया-कलापों का भी वर्णन है। सुखावतीव्यूह एव

२

हीनयान

हीनयान बौद्धमत प्रामाणिक ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का तर्कसम्मत विकास है। उनमें क्रमविहीन पद्धति में व्यक्त किए गए विचारों का ... जो मिलिन्द में भी स्पष्ट देखे जा सकते हैं, बाद में विकास होने पर एक पद्धति के रूप में समावेश हुआ है और वैभाषिकों (सर्वास्तिवादियों) के अभिधम्मों में उन्हें प्रविष्ट कर लिया गया है तथा बुद्धघोष के ग्रन्थों एवं अभिधम्मसंग्रह में भी ये पाये जाते हैं। हीनयान बौद्धमत के अनुसार सब पदार्थ क्षणिक हैं।[1] स्थायी रही जानेवाली वास्तविक वस्तुओं यथा देश और निर्वाण का अस्तित्व नहीं है। ये केवल निषेधात्मक सत्ताएं हैं। समस्त रचना क्षणिक वस्तु है जिन्हें धर्म कहा जाता है। सोचनेवाला कोई पृथक् नहीं है, केवल विचार ही है; अनुभव करनेवाला कोई नहीं है, केवल संवेदनाएं ही हैं। यह विशुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञानवाद ही है जिसके कारण पदार्थों अथवा व्यक्तियों का अनस्तित्व सिद्ध हुआ है।[2] यह धर्मों की निरपेक्ष सत्ता में विश्वास रखता है जो छोटी एवं संक्षिप्त यथार्थताएं हैं और जो कारण-कार्य के रूप में वर्गीकृत होकर मिथ्या व्यक्तियों की सृष्टि करती हैं।

इस जीवन का लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना अथवा चेतना का विराम है। समस्त चेतना किसी वस्तु की संवेदना है और इसीलिए बंधन का कारण है।[3] हीनयान में निर्वाण के पश्चात् क्या शेष रहता है, इस विषय की किसी कल्पना का स्थान नहीं है।

अमितायुर्ध्यानसूत्र तथा वज्रच्छेदिका (अर्थात् हीरे को काटनेवाला) जापान में प्रचलित हैं। सुखावतीव्यूह (? ... वर्ष ईसा के पश्चात्) में परम आनन्द के स्थान का ब्योरेवार वर्णन किया गया है और अमिताभ की प्रशंसा की गई है। कारण्डव्यूह, जो परवर्ती हिन्दू पुराणों के सदृश है, अवलोकितेश्वर की प्रशंसा में भरा हुआ है। यह ऐसा प्रभु है जो प्राणिमात्र पर दयादृष्टि रखता है। यह आदर्श बोधिसत्त्व है जो अनन्त करुणा के कारण तब तक बुद्धत्व की प्राप्ति से भी इनकार करता है जब तक कि प्राणिमात्र दुःख से छुटकारा न पा जाए। सार्वभौम मोक्ष के प्रति उसके अभिलाष को सब बलपूर्वक दर्शाया गया है। महावस्तु अर्थात् बड़ी बड़ी घटनाओं की पुस्तक को हीनयान की पुस्तक बताया गया है और यह लोकोत्तरवादियों के ... द्वारा सम्प्रदाय की पुस्तक है जो बुद्ध को अलौकिक पुरुष मानते हैं। इसमें अनेक महायानी सिद्धान्त भी आए हैं जैसे बोधिसत्त्व की दस अवस्थाओं की गणना, बुद्ध के स्तुतिपरक श्लोक एवं बुद्ध की पूजा के ऊपर बल देकर निर्मित मोक्ष का मार्ग दर्शाया गया है। अश्वघोष का बुद्धचरित (ईसा के पश्चात् की पहली शताब्दी) महायान बौद्धधर्म के मुख्य श्रेष्ठ एवं प्रधान साहित्य में से एक है। इसी प्रकार के ग्रन्थों में सौन्दरनन्द काव्य भी सम्मिलित है जिसमें बुद्ध के सौतेले भाई नन्द का बौद्धधर्म में दीक्षा का वर्णन है। वज्रसूची नामक ग्रन्थ भी इन्हीं का बताया जाता है। आर्यशूर अश्वघोष के सम्प्रदाय का एक कवि है (ईसा के पश्चात् चौथी शताब्दी)। उसने एक प्रसिद्ध जातकमाला लिखी है। शान्तिदेव का शिक्षासमुच्चय (सातवीं शताब्दी) महायान के उपदेशों का एक गुटका है। बोधिचर्यावतार एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धार्मिक काव्य है। इन महायान ग्रन्थों के ब्योरेवार वृत्तान्त के लिए देखिए, नरीमैन—लिटरेरी हिस्टरी आफ संस्कृत बुद्धिज़्म और राजेन्द्रलाल मित्र—नेपालीज़ बुद्धिस्ट लिटरेचर। यहां जो तारीखें दी गई हैं वे केवल आनुमानिक हैं।

१ सर्वं सत् तत् क्षणिकम्। २ पुद्गलनैरात्म्य।

३ वारेन : बुद्धिज़्म इन ट्रांसलेशन्स, पृष्ठ १६२।

हीनयान का विशिष्ट चिह्न अर्हत् आदर्श है, जो अपनी ही शक्तियो के द्वारा मोक्ष की सम्भावना का विधान करता है। उसकी विधि है चार सत्यो का चिन्तन एव ध्यान करना।[1] जो अर्हत् अवस्था को पहुच जाते है उनकी बुद्धत्वप्राप्ति के विषय मे हीनयान बौद्धधर्म का मत अनिश्चित है और न ही वह यह कहता है कि हरएक प्राणी बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। हमे यह समझ मे नही आ सकता कि अर्हत् का आदर्श, जो पूर्ण अह-वादी है और जो दूसरो के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त है, बुद्ध के वास्तविक व्यक्तित्व के लिए असत्य हो, जो करुण एव दयामय था—यद्यपि महायान मत की भी रक्षक बुद्ध पर निर्भरता बुद्ध के मौलिक उपदेशो के प्रति असत्य है, चाहे वह कितनी ही उपयोगी क्यो न हो। हीनयान के आदर्श को, इब्सन के शब्दो मे, इस प्रकार से सक्षेप मे वर्णन किया जा सकता है "वस्तुत ऐसे क्षण आए है जबकि मुझे ससार का सारा इतिहास एक जहाज-दुर्घटना-सा प्रतीत हुआ है और जो एकमात्र सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु मुझे प्रतीत हुई वह यह थी कि मै अपने को कैसे बचाऊ।"

अर्हत् की अवस्था उच्चतम अवस्था है, यह सन्तभाव है जबकि वासना की ज्वाला बुझ जाती है और जिस अवस्था मे पहुच जाने पर आगे कोई कर्म हमे पुनर्जन्म के बन्धन मे डालने को शेष नही रह जाते। कहा जाता है कि बुद्ध इस अवस्था को अपने पौरोहित्य के प्रारम्भ मे ही पहुच गए थे। इस ससार मे आत्मनिग्रह द्वारा निर्वाण प्राप्त करने के लिए किसी अलौकिक शक्ति की आवश्यकता नही है। सब प्राणियो मे महानतम स्वय बुद्ध की भी प्रतिष्ठा उनके उपदेशो व निजी आचरण के कारण की जाती है जिनका आदर्श उन्होने हमारे सामने रखा, न कि और अन्य कारण से। हीनयानवादी अपने एकान्त कमरो मे बैठ-कर लक्ष्य की प्राप्ति करने का प्रयत्न करते है और इसके लिए वे दैनिक जीवन मे अपने को औरो से पृथक् रखते हैं। खग्गविषाणसुत्त मे गृहस्थ-जीवन एव सामाजिक सम्बन्धो से भी पृथक् रहने का कडा आदेश है। "उस व्यक्ति के अन्दर जो सामाजिक जीवन व्यतीत करता है, प्रेम-सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते है एव दु ख उत्पन्न होता है जो प्रेम-सम्बन्धो के पीछे ही आता है।"[2] हीनयान के अनुयायियो को आदेश दिया गया है कि वे जब राजमार्ग से गुजरे तो अपनी आखे बन्द कर ले ताकि कही उनकी दृष्टि किसी बाह्य सौन्दर्य पर न पड जाए। एक बुद्धिमान व्यक्ति को 'विवाहित जीवन से बचना चाहिए मानो यह जलते हुए अगारो का गढा हो।'

> "ससार के साथ मित्रता का सम्बन्ध जोडने से उत्कण्ठा का उदय होता है, गृहस्थ-जीवन मे ध्यानाकर्षण रूपी धूल उठती है। गृहस्थी एव मित्रता के बन्धनो से मुक्त अवस्था ही एकमात्र ऐसी अवस्था है जो विरागी का लक्ष्य है।"[3]

उस व्यक्ति को जो निर्वाण प्राप्त करना चाहता है, विशुद्धिमग्ग के अनुसार श्मशान-भूमि मे जाना चाहिए जो अनेक विशिष्ट गुणो के लिए एक प्रकार का शिक्षणालय है, जो हमे यह पाठ सिखाता है कि ससार और आत्मा दोनो ही अयथार्थ है। प्रेममय एव

१ दर्शन एव भावना।

२ दूसरा अध्याय।

३ सुत्तनिपात का मुनिसुत्त, १.१२, जिसे मिलिन्द मे उद्धृत किया गया है, ४:५, १।

उनके आगे बुद्धत्व के मार्ग पर चलनेवाले मुनियो को, उनके आगे हिन्दू देवी-देवताओ को स्वीकार करके हीनयान-सम्प्रदाय क्रियात्मक रूप मे बहुदेवतावादी बन गया। दार्शनिक प्रत्यक्ष ज्ञानवाद एव धार्मिक बहुदेवतावाद तथा एकाधिकारी शासक-सम्बन्धी प्रवृत्तिया सभी हमे इसमे मिलती है। हीनयान एक वर्णविहीन धर्म है जो सिद्धान्त के रूप मे तो ईश्वर का निराकरण करता है किन्तु क्रियात्मक रूप मे बुद्ध की पूजा की अनुज्ञा दे देता है। ऐसी कोई भक्ति नही है जो एक जीवित ईश्वर की ओर सकेत करती हो।

हीनयान बौद्धमत केवल निर्वाण का ही साधन नही है अपितु यह हमे पवित्रात्माओ की कृपा एव सहायता के द्वारा ब्रह्मा के लोक मे पुनर्जन्म लेने का मार्ग भी बताता है। यह स्वर्ग एव नरक की कल्पना को भी स्वीकार करता है। यह मत क्रियमाण के साथ निरन्तर होनेवाले सघर्ष के प्रति क्लान्ति एव विरक्ति की एव प्रयत्न छोड देने मात्र से ही निर्वृति मिलने की भावाभिव्यक्ति मात्र है। यह सिद्धान्त किसीको स्वस्थचित्त नही बना सकता। एक प्रकार से ससार के प्रति घृणा की भावना अनुप्राणित करना ही इसका प्रयोजन है। यह निषेधात्मक है एव दार्शनिक दृष्टि से सही-सही उतरनेवाली परिभाषाओ की ओर ही निर्देश करता है जबकि दूसरी ओर महायान-सम्प्रदाय का लक्ष्य एक सुनिश्चित धार्मिक भावाभिव्यक्ति है। हीनयान, बुद्ध की ऐतिहासिक परम्पराओ को अधिक श्रद्धालुता के साथ प्रस्तुत करता है जबकि महायान की महत्त्वाकाक्षा जनसाधारण की रुचि का विचार करके ऐसी व्यवस्था बतलाना है जिसमे उनकी हार्दिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके। अपनी अमूर्त एव शुष्क भावात्मक तथा निषेधपरक प्रवृत्तियो के कारण हीनयान-सम्प्रदाय निर्जीव विचारो एव आत्मा के कारागार का ही स्वरूप रह गया। इसके द्वारा हमे ऐसे लक्ष्य के प्रति जिसके लिए जीवन-यापन वाछनीय समझा जाए, किसी प्रकार की उत्साहपूर्ण श्रद्धा का भाव नही प्राप्त होता और न किसी ऐसे आदर्श की ही प्राप्ति होती है जिसके लिए कर्म करने की प्रेरणा मिल सके।

३

महायान

यदि बौद्धमत के उदय एव अशोक के समय के मध्यवर्ती काल मे प्रचारित सिद्धान्तो के विषय मे यह समझ लिया जाए कि वे प्राचीन बौद्धमत के ही सिद्धान्त रहे होगे तो निश्चित ही वे हीनयान बौद्धमत के ही सिद्धान्त थे। अशोक के समय से लेकर कनिष्क के समय तक की अवधि मे जिन प्रवृत्तियो ने विकास पाया और जो उसके पश्चात् प्रकटरूप मे आ गई उनके द्वारा ही महायान बौद्धधर्म का निर्माण हुआ। एक अरुचिकर एव अनुरागहीन तत्त्व-विज्ञान, जो धार्मिक शिक्षाओ से सर्वथा रहित हो, अधिक समय तक जनता को उत्साह एव प्रसन्नता की प्रेरणा नही दे सकता। हीनयान बौद्धमत ने मनुष्य की आत्मा की किसी उच्चतर सत्ता की खोज मे रहनेवाली प्रवृत्ति की ओर से एकदम मुह मोडकर मनुष्य के धार्मिक पक्ष के प्रति अन्याय किया। हीनयान के अन्तर्गत दार्शनिक अनीश्वरवाद पेटी के अन्दर बन्द अस्थि-पजर एव सुन्दर पुष्प के अन्दर निहित एक रुग्ण कृमि के समान है। मनुष्य-प्रकृति के दलित

पहलुओं ने फिर से सिर उठाया और उस अरुचिकर कल्पनाशक्ति के विरुद्ध निरंकुश तीव्रता के साथ विद्रोह किया। यह भी उतना ही अत्याचारपूर्ण एवं बहिष्कार-वृत्ति वाला सिद्ध हुआ जैसी कि पूर्व योजना था। क्षुधित आत्मा एवं तपित कल्पना ने प्रचलित धर्म के अन्दर जो एक सुझाव देनेवाला प्रतीकवाद था उससे पौष्टिक आहार प्राप्त करने की चेष्टा की। बुद्ध का जीवन जनता में अनुराग उत्पन्न कर सकता था इसीलिए स्वभावतः बुद्ध को देवता का रूप दे दिया गया। वह नैतिक विचार का संग्रह एवं मूर्तिमान विधान शास्त्र था। परमार्थज्ञान के प्रति जिन हीनयानियों की प्रवृत्ति थी एवं जो बुद्ध के उपदेशों में आस्था रखते थे उन्होंने दुविधा में न पड़कर निराशा के हलके से परदे को उतारकर फेंका और वे अब भी बुद्ध को केवल मनुष्य के ही रूप में मानते रहे। किन्तु ऐसे मत के लिए जो जनता के अन्दर श्रद्धा एवं भक्ति की ज्वाला को प्रज्वलित करने में असमर्थ हो दो ही मार्ग रह जाते हैं या तो वह समय के अनुसार अपने अन्दर उचित परिवर्तनों को आ जाने दे या फिर नष्ट हो जाए।

नैतिक जीवन में संसार से एकदम निःसंग होकर विहारों में जा बैठने की प्रवृत्ति एवं जीवन के समस्त व्यवहारों और सुखों का विकृत दमन किंवा प्राकृतिक जीवन का सर्वथा विनाश मनुष्य प्रकृति के लिए असंतोषजनक सिद्ध हुआ। मनुष्य जिस संसार से भाग निकलने का प्रयत्न करता है उसके साथ जकड़ा हुआ है। यदि अनात्म की दासता से मुक्त होने का आशय आत्मा का सर्वथा विलोप होना है तो मृत्यु ही हमारा लक्ष्य है। बुद्ध का तात्पर्य मुक्ति से अनात्म पर विजय प्राप्त करना था न कि उसका विनाश करना। महायान के अनुयायियों का कहना है कि बुद्ध ने कभी तप करने का प्रचार नहीं किया। निर्वाण प्राप्त करने पर भी वह संसार की ओर से अपनी आंख बन्द नहीं कर लेता अपितु उसे ऐसा प्रकाश प्रदान करता है जिसमें वह अपने लक्ष्य तक पहुंच सके। "जिनकी रक्षा का कोई साधन नहीं है मैं उनका रक्षक बनूंगा, पथिकों का मार्गदर्शक बनूंगा, एक जहाज का काम दूंगा। मैं सेतु स्थान हूं एवं दूसरे किनारे पर पहुंचने के अभिलाषियों के लिए सेतु के समान हूं। जिन्हें दीपक की आवश्यकता है उनके लिए मैं दीपक बनूंगा; थकान्त व्यक्तियों के लिए जिन्हें विश्राम करने के लिए शय्या की आवश्यकता है मैं उनके लिए शय्या का काम दूंगा, एवं उन व्यक्तियों के लिए जिन्हें सेवा की आवश्यकता है मैं यथार्थ में दास हूं।"[1] हीनयान में निर्वाण की निषेधात्मक व्याख्या करके उसका अर्थ सब प्रकार की सत्ता का विनाश स्वीकार किया गया। साधारण व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह शून्य को अपना सके।

हीनयान का निषेधात्मक दर्शनशास्त्र एवं प्रचलित सर्वमान्य धर्म नहीं बन सकता था। जब बौद्धधर्म ने सार्वभौम रूप धारण कर लिया और अपार जनसमूह ने उसे अपना लिया तो हीनयान से काम नहीं चल सकता था। एक ऐसे धर्म की मांग हुई जो हीनयान से अधिक उदार हो, कम कठोर हो, एवं न्यूनतम त्याग का आदेश जनता के सामने प्रस्तुत कर सके। जब बौद्धधर्म का प्रसार भारत से बाहर भी और उसमें भी अधिक हो गया तब यह पता लगा

१ शान्तिदेव।

यह उस समय के प्रचलित धर्मो का सीधा विरोध नही कर सकता था, इसीलिए इसने अपना स्थान अन्यान्य रूपो मे बना लिया। महायान बौद्धधर्म के निर्माणकाल मे देश मे बाहर से निरन्तर कुछ खानाबदोश जातियो का आगमन होता रहा। अर्धसभ्य जातियो के गिरोहो ने पजाब एव काश्मीर[1] के हिस्सो मे दखल जमा लिया। बहुत-से विदेशियो ने पराजित बौद्ध जनता के धर्म, भाषा, सस्कृति एव सभ्यता को अपना लिया। राजाओ मे सबसे अधिक शक्तिशाली कनिष्क ने स्वय बौद्धमत को अगीकार किया। शक्ति का केन्द्र पूर्वदिशा से उठकर पश्चिम दिशा मे चला आया। पाली का स्थान सस्कृत ने ले लिया। उन असभ्य जाति के लोगो ने जो मिथ्या विश्वासो मे डूबे हुए थे, बिना उसमे परिवर्तन किए बौद्धधर्म को नही अपनाया। उन्होने उच्चश्रेणी के धर्म को अपनी समझ के स्तर पर नीचे उतार लिया। यद्यपि महायान बौद्धधर्म एव ब्राह्मणमत मे सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेक प्रकार के मतभेद थे तो भी अपने अनुयायियो के लिए इसने जो रूप धारण किया वह नया एव उस काल के लिए अश्रुतपूर्व नही था। महायान ने अनुभव किया कि यह जनसाधारण के मन पर केवल ऐसी अवस्था मे ही अधिकार जमा सकेगा जबकि यह प्राचीन बौद्धमत के कुछ नितान्त भावनाशून्य विधानो का त्याग करके एक ऐसे धर्म का निर्माण करे जो लोगो के हृदय को प्रभावित कर सके। इसने हिन्दूधर्म के उन सफल परीक्षणो का अनुकरण किया जोकि योग एव अर्वाचीन उपनिषदो तथा भगवद्गीता के आस्तिक्यवाद मे निहित थे।

महायान बौद्धधर्म हमारे सम्मुख ईश्वर, जीवात्मा एव मानव-जीवन के लक्ष्य के विषय मे निश्चयात्मक विचार प्रस्तुत करता है। "महायान अर्थात् बडी नौका (या ससार-सागर को पार करने का साधन) यह नाम इसके अनुयायियो ने हीनयान (छोटी नौका) की, जो प्राचीन बौद्धमत है, प्रतिद्वन्द्विता मे दिया है। महायानमत प्राणिमात्र के लिए और सब लोको मे श्रद्धा, प्रेम एव ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की योजना प्रस्तुत करता है, जबकि हीनयान केवल कुछ ऐसे थोडे-से सशक्त व्यक्तियो के लिए ही है जिन्हे किसी बाह्य धार्मिक सहायता अथवा पूजा की तृप्ति की आवश्यकता नही है; वह क्षुब्ध जीवनरूपी समुद्र को पार करके दूसरे किनारे पर निर्वाण तक पहुचाने के लिए एक नौका प्रस्तुत करता है। हीनयान उन निर्गुण ब्रह्म के उपासको के अनजाने मार्ग की भाति अत्यन्त कठोर है, जबकि महायान का भार हलका है और मनुष्य के लिए इस विषय का विधान नही करता कि वह तुरन्त ससार और उसके साथ ही मनुष्यमात्र के साथ सब प्रकार के सम्बन्धो का त्याग कर दे। महायान का कहना है कि धर्मशास्त्र के विधान मे बुद्ध की सभी सन्तानो की नानाविध आवश्यकताओ की अनुकूलता की गुजायश है, जबकि हीनयान केवल उन्हीके मतलब का है जो अपने धार्मिक शैशव को बहुत दूर तक अपने पीछे छोड चुके है। हीनयान ज्ञान के सचय पर बल देता है और व्यक्तिगत मोक्ष को लक्ष्य रखता है एव निब्बान के रहस्य को निश्चयात्मक भाव मे विकसित करने का निषेध करता है, महायान उतना ही प्रत्युत उमसे कही अधिक बल प्रेम के ऊपर देता है, एव प्रत्येक सज्ञासम्पन्न प्राणी के लिए मोक्ष के उद्देश्य का

१. इस प्रश्न का अभी तक भी हल नही निकल सका है कि बौद्धधर्म ने चीन देश में अपने प्राचीन हीनयान के स्वरूप मे प्रवेश किया अथवा आधुनिक महायान के रूप में, किन्तु भले ही जो यथार्थ हो, महायान ने शीघ्र ही प्राधान्य प्राप्त कर लिया और आज तक उस देश में इसीकी प्रधानता है।

विधान करता है तथा निर्वाण के अन्दर एकमात्र ऐसी यथार्थसत्ता की स्थापना है जो शून्य है इन अर्थों में यह हमारे आनुभविक ज्ञान की सब प्रकार की मर्यादाओं से उन्मुक्त है।[1] हीनयान का इससे विरोध में कहना है कि महायान केवल मानवीय प्रकृति की आवश्यकताओं की ही शिक्षा देता है। चाहे जो भी हो जहां यह संसार के आगे ज्ञान के द्वारा उच्चतम शक्ति की प्राप्ति का उदाहरण उपस्थित करता है वहां महायान हमें संसार में भाग लेने की प्रेरणा प्रदान करता है एवं सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में नवीन आदर्शों का प्रतिपादन भी करता है। अलौकिक शक्ति के अभाव और उसीके परिणामस्वरूप कल्पना के लिए भी स्थान के अभाव के कारण और जीवन की समस्याओं का हल करने के विकृत मार्ग के कारण निर्वाण को शून्यता में परिणत कर देने एवं नैतिक जीवन को मठों में रखकर त्याग मय बनाकर हीनयान केवल चिन्तनशील एवं जितेन्द्रिय व्यक्तियों का ही धर्म रह गया जबकि भावुक एवं आराधना की प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों के लिए एक नवीन प्रकार के अधिक विकसित रूप का उदय होना ही था।

४

महायान की तत्त्वमीमांसा

यहां पर हम पहले महायान के सामान्य दार्शनिक सिद्धान्तों का निरीक्षण करेंगे एवं इसके दो महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों के अर्थात् शून्यवाद जिसके अनुसार सब कुछ अभावात्मक है और विज्ञानवाद जिसकी धारणा है कि चेतना के बाह्य किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है विस्तृत विवाद के विषय को अगले अधिकरण के लिए छोड़ देंगे। जहां एक ओर हीनयान आत्मा को क्षणिक तत्त्वों का सम्मिश्रण समझता है वहां महायान का मत है कि यह तत्त्व भी यथार्थ नहीं है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कुछ भी यथार्थ नहीं है। एक आध्यात्मिक अधिष्ठान को स्वीकार कर लिया गया है। इस यथार्थता को सत्ताशास्त्र की दृष्टि से भूत *तथता या सत्ता के सारतत्त्व की संज्ञा दी गई है। धार्मिक दृष्टि से इसे धर्मकाय कहेंगे।* यह सबसे उन्नत तत्त्व है जो सब विरोधों में समन्वय उपस्थित करता है। इसीको निर्वाण भी कहते हैं। क्योंकि यह छिन्न भिन्न हृदय को परम शान्ति प्रदान करता है। यह बोधि अथवा प्रज्ञा है। यह संसार की गतिविधि का संचालन करता है और सब बुद्धों का रूप प्रदान करता है। महायान की अध्यात्मविद्या स्वरूप में अद्वैतवादी है। संसार के सब पदार्थ एक ही यथार्थसत्ता के रूप हैं। इस यथार्थसत्ता के स्वरूप का न भाषा वर्णन कर सकती है और न इसकी व्याख्या की जा सकती है। वस्तुओं को अपने मौलिक रूप में न तो कुछ *सत्ता ही दी जा सकती है और न ही उनकी व्याख्या की जा सकती है।* किसी भी प्रकार की भाषा में उन्हें ठीक ठीक व्यक्त नहीं किया जा सकता। वे प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र से परे हैं और उनके कोई विशिष्ट रूप भी नहीं हैं। उनमें तात्त्विक समानता है एवं न तो उनका रूप परिवर्तन ही होता है और न ही विनाश होता है। वे एक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ

१ कुमारस्वामी—'बुद्ध ऐण्ड द गॉस्पेल आफ बुद्धिज़्म', पृष्ठ २२६-२२७।

नही है, जिसे तथता की सज्ञा दी गई है।"[1] "तब वहा वह भी नही है जो बोलनेवाला है, न वही है जिसके विषय मे कुछ कहा जाए। जब तुम तथता के साथ अनुकूलता प्राप्त कर लेते हो और जब तुम्हारी व्यक्तिवादिता पूर्णरूप से विलुप्त हो जाती है, ऐसी अवस्था मे कहा जा सकेगा कि तुम्हे आन्तरिक दृष्टि प्राप्त हुई।" परमसत्ता सापेक्षता से उन्मुक्त है, व्यक्तित्व एवं उपाधिरहित है, यद्यपि यह अपने-आपमे सत् है और सबका आदिस्रोत है। यह "महान प्रज्ञा का ज्योतिपुज है, धर्मधातु (विश्व) की सार्वभौम ज्योति है, यथार्थ एव सत्यज्ञान है, अपने स्वरूप मे विशुद्ध एव निर्मल मन है, नित्य, सौभाग्यशाली, आत्म-नियामक एव पवित्र है, निर्विकार एव मुक्त है।"[2]

दृश्यमान जगत् आभासमान है, वास्तविक नही है। इसकी तुलना एक स्वप्न के साथ की गई है, यद्यपि यह बिना प्रयोजन के नही है। महायान बौद्ध विश्व की उपमा माया से देते है जो मृगतृष्णिका है, बिजली की चमक के सदृश है, अथवा फेन के समान नि सार वस्तु है।[4] ससार की सब वस्तुओ के तीन पक्ष है (१) सारभाग, (२) लक्षण अथवा विशेषता और (३) क्रियाशीलता। उदाहरण के लिए यदि हम एक घडे को ले, तो मिट्टी इसका सारभाग है, घडे की आकृति इसका लक्षण है और क्रियाशीलता यह है कि इसमे पानी रहता है। लक्षण एव क्रियाशीलता उपजते एव नष्ट भी हो सकते है, किन्तु सारभाग अविनश्वर है, जैसे समुद्र मे लहरो मे चाहे ज्वार हो या भाटा हो तो भी जल स्वय मात्रा मे न बढता है, न घटता है। समस्त विश्व के दो पक्ष है, एक अपरिवर्तनशील एव दूसरा परिवर्तनशील। भूततथता प्रथम श्रेणी की है, यह परम निरपेक्ष सत्ता है जोकि समस्त देश और काल मे सबका आधार है। यह सार्वभौम एव नित्यस्थायी अधिष्ठान या आश्रय उपनिषदो के ब्रह्म के अनुकूल है।[5] परमार्थ तथ्य के अधिकृत क्षेत्र मे इसके अतिरिक्त और कुछ सत्य नही है। किन्तु सापेक्ष सत्य के, अर्थात् 'सवृति' के, क्षेत्र मे हमे नाम और रूप के द्वारा एक ही अनेक रूप मे दिखाई देता है। परमार्थ सत् की दो अवस्थाए है, सस्कृत एव असस्कृत, अर्थात् एक तो स्वय सत् का अपना क्षेत्र और दूसरा जन्म एव मृत्यु का। ससार के स्वरूप के विषय मे महायान की मध्यम वृत्ति है। यह न तो यथार्थ है और न ही अयथार्थ है। महायान कहता है कि यह सत्‌रूप तो है किन्तु वह इसकी परम यथार्थसत्ता का निषेध करता है। लहरे है किन्तु परमार्थरूप मे नही है। ससार एक आभास-मात्र एव अस्थायी है, किन्तु प्रवाह एव परिवर्तन के अधीन है। चूकि यथार्थता सबमे व्याप्त है, हरएक वस्तु व्यक्तिरूप से कार्यक्षमता की दृष्टि से पूर्ण है, अथवा धार्मिक भाषा का प्रयोग करे तो कह सकते है कि प्रत्येक व्यक्ति एक कार्यक्षम बुद्ध है। अवतसकसूत्र मे कहा है "कोई भी जीवित प्राणी ऐसा नही जिसमे तथागत की बुद्धि न हो। किन्तु केवल अहकारी विचारो

१ सुजूकी का पाठ—'द अवेकनिग आफ फेथ' मे, पृष्ठ ५६।

२ वही, पृष्ठ ५८। ३. वही, पृष्ठ ६६। ४ ललितविस्तर।

५. ऐसा प्रतीत होता है कि महायान के अनुयायी अपनी स्थिति की उपनिषदों के मत के साथ समता से अभिज्ञ थे। लकावतारसूत्र कहता है कि 'तथागत गर्भ' की व्याख्या को परम सत्य अथवा यथार्थता इसलिए कहा गया जिससे कि वे लोग भी जो आत्मा की कल्पना में मिथ्या विश्वास रखते है, हमारी ओर आकृष्ट हो सकें।

एवं उपाधियों के कारण ही सब प्राणियों को इस विषय का ज्ञान नहीं होता। व्यक्तिगत जीवात्माएं परम निरपेक्ष सत्ता के ही रूप हैं। जिस प्रकार जल लहरों का सारतत्त्व है इसी प्रकार तथता व्यक्तियों की यथार्थता है। जो एक जन्म से दूसरे जन्म में जाती है वह अहंरूप आत्मा है एवं अविनश्वर आत्मा नहीं है। गुज़रनेवाला अहंरूप आत्मा नित्य यथार्थसत्ता का ही प्रतिरूप या अभिव्यक्ति है और इस पृथ्वी पर प्रत्येक वस्तु स्वयम्भू एवं नियमसत्ता का सारभाग है। एक ही आत्मा में हम दो स्वरूपों में भेद कर सकते हैं एक निर्विकल्प सत् आत्मा और दूसरी आत्मा जो संसारी है दोनों परस्पर इतने घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं कि एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकता।[1]

जैसाकि अन्य मतों में है संसार की उत्पत्ति की व्याख्या आदर्शवादि भाषा में विहित अध्यात्मशास्त्र के द्वारा की गई है। अज्ञान अथवा अविद्या को संसार का कारण बताया गया है। सब वस्तुएं हमारी अव्यवस्थित आत्मपरकता के कारण व्यक्तिगत रूप में परिवर्तन की भिन्न भिन्न प्रक्रियाओं में प्रतीत होती हैं। यदि हम इस आत्मपरकता से ऊपर उठ सकें तो व्यक्तिगत रूप में परिवर्तन के लक्षण विलुप्त हो जाएंगे और इस पदार्थमय संसार का कहीं भी पता नहीं चलेगा।[2] जब सब प्राणियों का मन जो अपने स्वरूप में विशुद्ध और निर्मल है अविद्या के भाव से उत्तेजित हो जाता है तो प्रवृत्ति की लहरें प्रकट होती हैं। मन अज्ञान एवं प्रवृत्ति इन तीनों की परमसत्ता नहीं है।[3] न तो आत्मपरकता और न तो बाह्य जगत् जिसे निषेध किया गया है यथार्थ है। ज्योंही आत्मपरकता निस्सार एवं अयथार्थ करदी गई हमें निर्विकार आत्मा का दर्शन होता है जो स्वयं नित्य स्थायी निर्विकार और पूर्णरूप में उन सब पदार्थों का रूप है जो निर्मल हैं। जगत् की व्याख्या यह है कि वस्तुतः जगत् एकरूप कुछ नहीं है—अविद्या या अज्ञान ही इस जन्म देता है। यह अविद्यारूपी निषेधात्मक तत्त्व कहां से आया? इसका कोई उत्तर नहीं दिया गया। किन्तु यह है और यह परमसत्ता के मौन को भंग करता है एवं संसारचक्र को गति देता है एक को अनेक में परिणत करता है। हम कल्पनात्मक रूप में भ्रान्ति के कारण और प्रकटरूप में अविद्या के अंश को निर्विकार सत्स्वरूप में प्रविष्ट कर देते हैं। आनुभविक जगत् निर्विकार सत् की अभिव्यक्ति है जिसका कारण अविद्यारूप उपाधि है। परमार्थरूप में भले ही कितनी भी भ्रान्तिरूप क्यों न हो अविद्या तथता के सत् में अवश्य रहती है। अश्वघोष का सुझाव है कि अविद्या एक ऐसा स्फुलिंग है जो निर्विकल्प सत्स्वरूप के अगाध अन्तस्तल से उत्पन्न होता है। यह उसे चेतना के समान बतलाता है। चेतना की यह जागृति तथता अथवा

1. सुजूकी—'द अवेकनिंग आफ फेथ', पृष्ठ ५५।
2. वही पृष्ठ ३६।
3. धर्मास्तिक यसमयसार पृष्ठ ६८।
4. ज्ञान की अवस्था में हम जानते हैं कि सब वस्तुएं वस्तुतः एक ही परमार्थसत्ता के रूप हैं। अश्वघोष लिखता है समस्त भ्रान्तिमय कल्पनाएं जिनको लोग अनुभव घटनाएं आरम्भ से वैसी ही हैं जैसी कि हैं और उनका सार एक आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यद्यपि अज्ञानी पुरुष जो भ्रान्तिरूप पदार्थों से चिपटे रहते हैं नहीं समझ सकते कि सब वस्तुएं अपने स्वरूप से परमार्थ हैं समस्त तथागत बुद्ध निर्दोष ज्ञान के कारण वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जान सकते हैं। इस लिए मन जो आत्मपरकता से भरपूर है, शून्य हो जाता है सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है और सर्वज्ञता की प्राप्ति हो जाती है। (सुजूकी—द अवेकनिंग आफ फेथ पृष्ठ १२६। देखिए पृष्ठ ६ भी)।

निर्विकल्प सत् की आत्मनिर्भरता से ससार के उदय होने मे प्रारम्भिक पग है। उसके पश्चात् विपयी एव विपय के भेद उत्पन्न होते है। आदिम सत् परम यथार्थ था, जहा विपयी एव विपय एक मे ही समाविष्ट और तादात्म्यात्मक थे। यद्यपि यह नितान्त शून्यता से भिन्न है, फिर भी हम इसकी तार्किक व्याख्या नही कर सकते। जिस क्षण मे हम उस अवस्था से जिसका ग्रहण हम वोधि-अवस्था अर्थात् पूर्ण ज्ञान की अवस्था मे करते है, पीछे पग उठाते हे तो हमारे सम्मुख विरोधो एव सम्बन्धो से भरपूर ससार प्रकट होता है। अविद्या से सृष्टि की प्रकृति प्रारम्भ होती है। बुद्धि का प्रयोग करके हम केवल यही कह सकते है कि यह निपेधात्मकता का अश परमसत्ता के ही अपने अन्दर है। क्यो ? क्योकि यह वहा हे। मणि कमल के अन्दर निहित है।[1] अपने-आप सृजन करने की शक्ति परमसत्ता के ही अन्दर है। यथार्थसत्ता एव भासमान जगत् निरपेक्ष रूप मे परस्पर-भिन्न नही है। यह उसी एक वस्तु के दो क्षण है, एक यथार्थसत्ता के दो पहलू है। यदि इस विश्व को यथार्थसत्ता की किमी न किसी रूप मे अभिव्यक्ति न समझा जाए तो इस विश्व का कोई प्रयोजन ही न रहेगा और यह नितान्त अवास्तविक हो जाएगा। जन्म एव मरण का समस्त प्रदेश अविनाशी की ही अभिव्यक्ति मात्र है। यह परमसत्ता का देश और काल से सम्बद्ध क्रियात्मक रूप है। परमार्थसत्ता सर्वसत्त्व है, जो सब वस्तुओ की आत्मा है, यथार्थ और कल्पनागम्य है। "यह निर्विकल्प सत्स्वरूप ही जन्म एव मृत्यु (अर्थात् ससार) का रूप धारण करता है, जिसके अन्दर प्रकाश मे आते है—महायान के द्वारा प्रतिपादित सारभाग, लक्षण, और क्रियाशीलता, अथवा जो महान यथार्थसत्ता है। (१) पहली सारभाग की महानता है। महायान का सारभाग सत् के रूप मे सब वस्तुओ मे विद्यमान है, शुद्ध एव मलिन सब वस्तुओ मे अपरिवर्तित रूप मे रहता है, सर्वदा एक समान रहता है, न बढता है न घटता है, और सब प्रकार के भेद से रहित है। (२) दूसरी लक्षणो की महानता है। यहा हमे तथागत का गर्भ मिलता है जिसके अन्दर अपरिमेय एव असख्य पुण्य इसके विशेप गुणो के रूप मे वर्तमान है। (३) तीसरी है, क्रियाशीलता की महानता। क्योकि इसीके द्वारा ससार के सब अच्छे लौकिक एव अलौकिक कार्य सम्पन्न होते है।"[2]

५

महायान धर्म

अपनी प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य का विद्रोह अधिक समय तक स्थिर नही रह सकता। मानवहृदय की आवश्यकताए आलोचक आत्मा की अबाध गति मे बाधा देती है। प्रामाणिक लेखो मे कुछेक स्थल मानवहृदय को पर्याप्त सन्तोप देनेवाले अवश्य थे, यथा—मज्झिमनिकाय (२२) मे यह कहा गया है कि "ऐसे व्यक्तियो को भी जो धर्म मे दीक्षित नही हुए, स्वर्ग निश्चयपूर्वक मिल सकता है यदि उनमे मेरे प्रति प्रेम व श्रद्धा है।" यह गीता के भक्तिपरक सिद्धान्त की प्रतिध्वनि है। महायान इन उद्धृत अशो का उपयोग करते हुए

१. तुलना कीजिए, "ओम् मणिपद्मे हुम्।"
२ सुज़ूकी—'द अवेकनिंग आफ फेथ', पृष्ठ ५३–५४।

पर स्वयं ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है। महायानधर्म में एकता नहीं है। इसने कभी-कभी ग मिथ्या विश्वासों को अपने अन्दर प्रविष्ट होने दिया। भारत, चीन, कोरिया, स्याम, बर्मा एवं जापान आदि जिन जिन देशों में भी इसका प्रचार हुआ प्राचीन धर्मों के प्रति इसने सहिष्णुता प्रदर्शित की किन्तु उसके साथ-साथ इसने उन्हें जीवन के प्रति एक नये प्रकार की निष्ठा रखने की भी शिक्षा दी एवं सब जीव जन्तुओं के प्रति दयालुता और त्याग के भाव को भी उत्पन्न किया। जिस समय तक जनसाधारण नैतिक नियमों के अनुकूल आचरण करते रहे और बौद्ध भिक्षुओं की संस्था के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते रहे बौद्ध प्रचारकों ने भी मिथ्या विश्वासों के प्रयोग को दूषित ठहराने की आवश्यकता अनुभव नहीं की। यदि तुम्हारा आचरण पवित्र है तो इस बात की कोई परवाह नहीं कि तुम किस देवता की पूजा करते हो। इसी प्रवृत्ति के कारण महायान बौद्धमत का अनिश्चित परिवर्तनशील स्वरूप है। प्रत्येक देश में जहां इसे अपनाया गया इसका एक अपना पृथक् ही इतिहास है एवं सिद्धान्त विषयक विकास भी भिन्न है।

भारत की सीमाओं के बाहर जो बौद्धमत को बाद के समय में सम्मान प्राप्त हुआ यहां हमारा काम उसके इतिहास का वर्णन करना नहीं है। यदि बौद्धधर्म का प्रारम्भ एक कठोर तपस्या जीवन एवं आत्मनिग्रह-सम्बन्धी सदाचार के नियमों से होकर उसका अन्त उसके सम्प्रदायों के खण्ड-खण्ड एवं क्षीण होकर भूमिसात् हो जाने में हुआ तो उसका मुख्य कारण उदारता एवं सहिष्णुता की प्रवृत्ति था। असंस्कृत एवं बर्बर जातियों के लिए बौद्धधर्म में बिना अपने विचारों को साथ लिए दीक्षित होना असम्भव था। धार्मिक विषयों में मतभेद की छूट का भाग जन्य महायान के परमार्थविद्या-सम्बन्धी विचारों में पाया जाता है। सब धर्म समान रूप से उसी धर्मकाय की दैवी प्रेरणा हैं और सत्य के किसी न किसी पहलू का प्रतिपादन करते हैं। धर्म एक सर्वव्यापक आत्मिक शक्ति है जो जीवन का परम एवं सर्वोपरि सिद्धान्त है। धर्म को शरीरधारी रूप में प्रकट करने का सबसे प्रथम प्रयास आदिबुद्ध के विचार में पाया जाता है जो स्रष्टा नित्य ईश्वर सब प्राणियों में उत्कृष्ट सर्वोपरि सब बुद्धों में सर्वप्रथम है और जिसके समान दूसरा कोई नहीं है।[1] यह आदिबुद्ध भी एक आध्यात्मिक विचार है जीवन एवं सांसारिक अनुभव से परे एवं उस जगत् के साथ जिसे उत्पन्न किया क्रियात्मक सम्बन्ध रखनेवाली कोई सक्रिय शक्ति नहीं है। संसार को रक्षा का कार्य बुद्धों के द्वारा होता है जो उच्चतम श्रेणी की प्रज्ञा एवं प्रेम से युक्त हैं। प्राचीनकाल में इन बुद्धों की अनियमित संख्या थी और भविष्य में भी असंख्य बुद्ध होंगे। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य बुद्ध बनना है इसलिए बुद्ध अनेक हैं। मोक्षप्राप्ति में इनका स्थान भविष्य सुरक्षित रखने पर भी ये उसे स्वीकार करने में विलम्ब करते हैं जिससे कि दूसरों का भला कर सकें। वे सब उस एकाकी अनन्त सत्स्वरूप के अस्थायी आविर्भाव स्वरूप हैं। ऐतिहासिक पुरुष बुद्ध (गौतम) इसी प्रकार के एक नैतिक आदर्श के मूर्तरूप में आविर्भूत हुए थे। वह एकमात्र यथार्थसत्ता नहीं किन्तु अन्य बहुतों में से एक ईश्वर है।

1. ज्यानकैर ने आदिबुद्ध के सिद्धान्त के अवलोकन में इस बात पर बल दिया है कि बिना पुरुष और स्त्री के रूप में संयुक्त हुए ग्रन्थ (समर) ... भी बुद्ध नहीं बन सकता। किन्तु इसकी प्रतिद्वन्द्विता ... एक अनिवार्य भूतकाल की आवश्यकता है

अमिताभ उनके एक पार्श्व में है एवं अवलोकितेश्वर, जो अपनी महिमा में श्रद्धालु भक्तों की रक्षा करता है, दूसरे पार्श्व में है।[1] सर्वोपरि सत्ता का भिन्न-भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न मनुष्यों की आवश्यकताओं के अनुकूल वर्णन किया गया है। "मैं धर्म का इसके विविध रूपों में प्रकाश करता हूं। क्योंकि प्राणियों की प्रवृत्तियां एवं स्वभाव भिन्न हैं। मैं प्रत्येक व्यक्ति को जागरित करने के लिए उनके अपने स्वभाव के अनुकूल भिन्न साधनों का प्रयोग करता हूं।"[2] बहुत से वैदिक देवता एक ही सर्वोपरि सत्ता के रूप हैं। नागार्जुन ने अपने उपदेश एवं आचरण से भी यह शिक्षा दी कि हिन्दू देवता—ब्रह्मा, विष्णु, महेश और महाकाली ब्राह्मणधर्म के शास्त्रों में विभिन्न गुणों के कारण दिए गए नामवाची हैं और उन्हें प्रसन्न रखना चाहिए। हिन्दुओं के परम्परागत देवताओं को एक नई पद्धति के अन्दर ठीक स्थान पर बैठा दिया गया जहां उन्हें विभिन्न स्थान एवं कार्य भी सौंप दिए गए।[3] इसका नाम महायान मत इसलिए भी पड़ा कि इसमें अत्यधिक संख्या में बोधिसत्त्व सनिविष्ट थे, प्रमुख देवदूत एवं सन्त लोग थे जो केवल वैदिक आर्यों के ही प्राचीन देवता थे एवं नाम मात्र को जिन्हें बौद्ध प्रतीकवाद ने भिन्न स्वरूप में रख दिया था। इसमें सन्देह नहीं कि भक्ति को एक बड़ा स्थान देने के कारण महायान की मोक्षप्राप्ति की योजना ने तान्त्रिकों एवं अन्यान्य रहस्यवादी मतों को इसके अन्दर प्रवेश के लिए मार्ग खोल दिए।[4]

महायान के द्वैतपरक अध्यात्मशास्त्र ने प्रकटरूप में एक बहुदेवतावादी धर्म को जन्म दिया, किन्तु हमें इस बात को लक्ष्य करना चाहिए कि नाना देवता एक ही मुख्य देव के अधीन हैं। महायान धर्म की इस एकता का प्रतिपादन तीन 'कायों' के साथ इसका सम्बन्ध करके किया जाता है, जो एक रूपकालंकार के रूप में अच्छी प्रकार से समझ में आ सकेगा। धर्मकाय कालविहीन धर्म की असंस्कृत धार्मिक सत्ता है। यह एक शरीरधारी सत्ता नहीं है जिसने अपने को एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में प्रकट किया हो किन्तु सर्वव्यापक आधार है जो बिना किसी परिवर्तन के नाना प्रकार के रूप धारण कर लेता है। धर्मकाय अशरीरी परमार्थसत्ता है एवं उपनिषदों में वर्णित 'ब्रह्म' के अनुकूल है। यह धर्म की काया (शरीर) इतना नहीं है जितना कि एक अगाध गम्भीर सत्ता है, जो समस्त सत्ता का एक आदर्श नमूना है।[5] जब परमार्थतत्त्व नाम और रूप को ग्रहण करता है तो धर्म-

१. अश्वघोष : 'द अवेकनिंग आफ फेथ,' सुजूकी कृत अनुवाद, पृष्ठ ६८।

२. तुलना कीजिए, भगवद्गीता, ६ : ४८, एवं सद्धर्मपुण्डरीक, २।

३. इन्द्र ही शतमन्यु एवं वज्रपाणि बन जाता है और उसका अपना स्वर्ग का राज्य है जिसका नाम 'त्रयस्त्रिंशलोक' है। ब्रह्मा और उसके मुख्य गुण मंजुश्री (अर्थात् बुद्धि का प्रकाश) में समाविष्ट कर दिए गए हैं। सरस्वती शारदा उसकी एक पत्नी है, दूसरी का नाम लक्ष्मी है। अवलोकितेश्वर अथवा पद्मपाणि के वही गुण हैं जो विष्णु अथवा पद्मनाभ के हैं। विरूपाक्ष शिव के अनेक नामों में से एक है, यद्यपि बौद्ध किंवदन्तियों में वह चार राजाओं में से एक है। गणेश को दोनों रूपों में ले लिया गया है, अर्थात् विनायक एवं दैत्य विनतक। सात तथागत सप्त ऋषि हैं। अजित शाक्यमुनि और अवलोकितेश्वर के साथ मिलकर एक त्रिमूर्ति बनाते हैं।

४. तुलना कीजिए, कर्नल वैडल का विवरण जिसमें महायान बौद्धमत को एक प्रकार का "हेत्वाभासरूप शून्यवादी रहस्यवाद बताया गया है।"

५. इसके पर्यायवाची शब्दों से यह स्पष्ट है, जैसे स्वभावकाय, तत्त्व, शून्य, निर्वाण और समाधिकाय।

काय सभोगकाय के रूप मे परिणत हो जाता है। पदार्थ जो विद्यमान रहता है विषयी बनकर सुखोपभाग करता है। यहा आकर ब्रह्म की ईश्वर सत्ता हो गई। वह स्वर्ग म स्थित ईश्वर है नाम और रूप के द्वारा उसका निर्णय होता है वह सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान आन्विद्ध है और अन्य सब बुद्धो का शिरोमणि है। जब हम निर्माण की ओर जाते हैं तो हम इसी एक चेतना के नानाविध व्यक्तरूप मिलते हैं जिन्हे अवतार कहते हैं।

प्रत्येकबुद्ध तीनो कायो के स्वरूप म भाग लेता है। बुद्ध का यथार्थ स्वरूप बोधि अथवा प्रकाशमय है। किन्तु निर्वाणप्राप्ति के समय तक बोधिसत्त्व के रूप म उसम कर्म निहित रहते है और वह अपने कर्मों का फल भोगता है। उस समय उसके पास एक अतिशय सुखद शरीर होता है जिसे सम्भोगकाय कहते हैं। ऐतिहासिक बुद्ध यहा यथार्थ बुद्ध हैं जो दिव्य लोको के अधिपति हैं और मनुष्य जाति को दु ख से छुटकारा दिलाने के लिए इस पृथ्वी पर प्रकट होते हैं। मैं बुद्धो की एक लम्बी शृखला की एक कडी हू। कितने ही बुद्धो ने पहले जन्म लिया और कितने ही भविष्य म जन्म लेंगे। जब अधर्म और हिंसा का राज्य इस भूमि पर छा जाता है तब बुद्ध धर्म के राज्य को स्थापित करने के लिए जन्म ग्रहण करता है।[1] सम्यक्प्रशसित या उदार बुद्ध बहुजन का दु ख से मुक्त करान के लिए बहुजन को सुख देने के लिए ससार के प्रति करुणा के भाव से देवताओ और मनुष्यो के लिए एक आशीर्वाद मोक्ष एव सुखस्वरूप इस लोक म प्रकट होता है।[2]

जहा तक महायान का सम्बन्ध है इसके और भगवद्गीता के धर्म के मध्य कोई भेद नही प्रतीत होता। धर्मकाय का परमार्थविद्या-सम्बन्धी विचार अथवा सत्तामात्र का परम आधार गीता के ब्रह्म से मिलता है। जिस प्रकार कृष्ण अपने को सर्वोपरि बताते हैं उसी प्रकार बुद्ध को भी सर्वोपरि ईश्वर बना लिया गया। वह एक साधारण देवता नही है वरन देवातिदेव अर्थात देवताओ म ईश्वर है।[3] वह सब बोधिसत्त्वो का स्रष्टा है।[4] यह कि बुद्ध ने गया म बोधि-अवस्था अर्थात प्रकाश प्राप्त किया, इसी लोक के धर्म संस्कार रहित जनसमुदाय की कल्पना है। मैं ससार का जनक हू अपने से ही प्रादुर्भूत हुआ स्वयम्भू हू। ये शब्द बुद्ध ने अपने विषय मे कहे है। मैं जानता हू कि मूर्ख लोग किस प्रकार विपरीतमति एव अन्धे हैं इसीलिए मैं उनके आगे यह प्रकट करता हू कि मैं मरणधर्मा हू।[5] बुद्ध अनन्त काल से विद्यमान रहा है। मनुष्य जाति के प्रति उसका उत्कट प्रेम एक जलते हुए मकान के दृष्टान्त से दर्शाया गया है।[6] सब प्राणी उसकी सन्तान हैं। तथागत तीनो लोको की प्रचण्ड ज्वाला से बचकर अपने अरण्याश्रम म शान्ति के साथ निवास कर रहा है एव अपने प्रति कह रहा है कि तीनो लोक मेरी सम्पत्ति है सब जीवित प्राणी मेरी सन्तान है ससार भयकर कष्ट व कष्टो से भरपूर है किन्तु मैं स्वय उनको दु खो से छुडाने के लिए कार्य करूगा।[7] जो मेरे प्रति भक्ति एव विश्वास रखते है म

१ तुलना कीजिए गीता ४ ७-८।
२ अगुत्तरनिकाय।
३ सद्धर्मपुण्डरीक १७ २१।
४ वही अध्याय १४।
५ सद्धर्मपुण्डरीक १५ ११ दखिए भगवद्गीता ४ ६।
६ लोटस अध्याय ३ महावग्ग १ २१।
७ लोटस पृष्ठ ८८।

उनका कल्याण करता हू और जो मेरी शरण मे आते है वे मेरे मित्र है।"[1]

तीन कायो का सिद्धान्त व्यक्तिरूप मनुष्य पर भी लागू होता है। सब प्राणियो मे धर्मकाय अथवा स्थायी यथार्थसत्ता है, और ठीक इसके ऊपर हमे सुखभोग का शरीर अर्थात् सम्भोगकाय मिलता है, जो शरीरी आत्मा है, और उसके पश्चात् निर्माणकाय, जिसमे मन को देवता मान लिया गया है।

६

नीतिशास्त्र

महायान का नैतिक आदर्श बोधिसत्त्व है, जो हीनयान के 'अर्हत्' से सर्वथा भिन्न है। बोधिसत्त्व का शाब्दिक अर्थ है ऐसा व्यक्ति जिसका सारतत्त्व पूर्णज्ञान है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसका अर्थ है—वह व्यक्ति जो पूर्णज्ञान के मार्ग पर है, अर्थात् भावी बुद्ध। इस परिभाषा का प्रयोग सबसे प्रथम गौतम बुद्ध के लिए उस समय किया गया जिस समय वे मोक्ष की खोज मे थे। इसलिए इसका अर्थ होता है, बुद्ध नामधारी अथवा वह व्यक्ति जिसे इस जन्म मे अथवा भविष्यजन्म मे अवश्य बुद्धत्व प्राप्त करना है। जब एक बार निर्वाण प्राप्त हो जाता है तो समस्त सासारिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते है। बोधिसत्त्व दु ख से कातर मनुष्य-जाति के प्रति अपार प्रेम के कारण निर्वाण प्राप्त करने मे विलम्ब करता है। दुर्बल मनुष्य विपत्ति और दु ख मे एक व्यक्तिगत मार्गप्रदर्शक की आवश्यकता अनुभव करता है और ये उच्च प्राणी जो निर्वाण के मार्ग पर चल सकते थे, मनुष्यो को सत्यज्ञान का मार्ग दिखाने के लिए अपने को अर्पित कर देते है। हीनयान द्वारा प्रतिपादित पूर्णरूप से विलीन हो जाने का आदर्श अथवा अर्हत् की अवस्था जो अमरत्व के मार्ग पर एकाकी यात्रा का दूसरा नाम है एव जो एकान्त आनन्द है, महायान के मत से मार के द्वारा दिया गया प्रलोभन है।[2]

बुद्धत्व की प्राप्ति की आकाक्षा रखनेवाले व्यक्ति के जीवन के लिए आदिम बौद्ध-मत मे जिस आठसूत्री मार्ग का विधान किया गया था, यहा उसे अधिक परिष्कार के साथ दस भूमियो अथवा श्रेणियो मे विभक्त किया गया है। पहली भूमि प्रसन्नता अथवा प्रमुदिता है जो बोधि के विचार से पहचानी जा सकती है।[3] यही पहुचकर बोधिसत्त्व उन सारगर्भित (प्रणिधान) सकल्पो को करता है जो आगामी मार्ग का निर्धारण करते है, जैसे अवलोकितेश्वर का यह सकल्प कि वह तब तक मोक्ष स्वीकार नही करेगा जब तक कि धूलि का अन्तिम कण तक उसके सम्मुख बुद्धत्व प्राप्त न कर लेगा। अन्तर्दृष्टि धीरे-धीरे विकसित होती है, जिससे हृदय पवित्र होता है एव मन अह की भ्राति से उन्मुक्त होता है।

१. ललितविस्तर, ८। तुलना कीजिए, भगवद्गीता, ७ . १६।

२. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ६। यदि विलियम जेम्स के मनोहर वर्णन का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि "यदि अन्तिम दिन समस्त सृष्टि जब उच्च स्वर से भगवत्स्तुति कर रही होगी और यदि एक भींगुर भी ऐसा रह जाएगा जिसमें भगवद्भक्ति न जागरित हो सकी होगी, तो यह अवश्य बोधिसत्त्व की शान्ति को भग कर देगी, किन्तु अर्हत् की विलीनता को अशान्त न कर सकेगी।"

३. चित्तोत्पाद।

वस्तुओं के अस्थायी स्वभाव की पहचान लेने से महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति की सर्वव्यापी प्रवृत्ति और विरक्त हो जाती है और हमारे सम्मुख विमलता या पवित्रता की दूसरी भूमि आती है। इसमें हमारा आचरण शुद्ध होता है और हम बुद्धिपूर्वक (अधिचित्त) कार्य करते हैं। अगली भूमि में बोधिसत्त्व अपने को नाना प्रकार की भावनाओं से संयुक्त करता है जो उसे इस योग्य बनाती हैं कि वह क्रोध, घृणा एवं भ्रान्ति को नष्ट करके श्रद्धा, करुणा, दान एवं अनासक्ति के भावों को समुन्नत कर सके। यह तीसरी भूमि प्रभाकरी है जहां जिज्ञासु का मुखमण्डल धैर्य एवं सहनशीलता आदि गुणों के कारण दमकने लगता है। बोधिसत्त्व अहंकार के समस्त अवशेषों को भी छोड़ देने के योग्य बनने के लिए अपने-आप को कल्याणकारी कार्यों के लिए प्रशिक्षित करता है और विशेषकर बोधि से सम्बन्ध रखने वाले गुणों को अपने अन्दर धारण करने व बढ़ाने में चित्त को लगाता है (बोधिपक्ष धर्म)। यह चौथी भूमि प्रकाशमयी (अर्चिष्मती) है। इसके पश्चात् जिज्ञासु स्वाध्याय एवं समाधि के मार्ग पर अग्रसर होता है जिससे वह चार आर्यसत्यों को उनके यथार्थ प्रकाश में ग्रहण कर सके। यह पांचवीं दुर्जय (सुदुर्जय) भूमि है जिसमें ध्यान एवं समाधि का आधिपत्य रहता है। नैतिक आचरण एवं ध्यान के परिणामस्वरूप जिज्ञासु मूलभूत सिद्धान्तों अर्थात् पराधीन उत्पत्ति एवं अयथार्थता (असारता) की ओर मुड़ता है। इस भूमि को अभिमुखी कहते हैं। यहां प्रज्ञा का शासन है और अब भी वह पूर्णरूप से राग से विमुक्त नहीं हुआ है क्योंकि अब भी वह बुद्ध बनने की आकांक्षा रखता है एवं मनुष्यजाति को दुःखों से छुड़ाने का संकल्प भी रखता है। वह उस ज्ञान की प्राप्ति में अपने को लगाता है जो उसे मनुष्यमात्र को मोक्ष प्राप्त कराने के अपने लक्ष्य की प्राप्ति के योग्य बनाएगा। अब वह सातवीं भूमि पर है जिसे दूरंगम कहते हैं। जब वह विशिष्ट के प्रति उत्सुक इच्छा से विमुक्त है तो उसके विचार किन्हीं विशेष पदार्थों से बद्ध नहीं रह सकते और वह अचल हो जाता है। यह आठवीं भूमि है जहां कि सर्वोपरि धर्म का (अनुत्पत्तिकधर्मचक्षु) अर्थात् पदार्थों को उनके यथार्थरूप में देखने की शक्ति का, जो तथता में निहित है, आधिपत्य है। बोधिसत्त्व के कर्म में किसी प्रकार के द्वैतभाव अथवा स्वार्थपरता का प्रभाव नहीं है। वह शान्तिपूर्ण विश्राम में सन्तुष्ट न होकर अन्यों को धर्म का उपदेश देने में बराबर लगा रहता है। यह नौवीं भूमि है जो साधुपुरुषों की है (साधुमती), जबकि उसके सब कर्म स्वार्थविहीन और बिना आसक्ति या आकांक्षा के होते हैं। गौतम बुद्ध के विषय में यह कहा जाता है कि इस विस्तृत संसार में एक भी ऐसा स्थान नहीं है जहां उसने किसी पूर्वजन्म में अपने जीवन को अन्यों के लिए न त्याग किया हो। महायान के बोधिसत्त्व का वर्णन उपनिषदों में प्रतिपादित प्रबुद्ध, ईसाईधर्म में वर्णित मनुष्यमात्र के मुक्तिदाता ईसामसीह एवं नीत्शे के अतिमानव के वर्णन के अनुकूल है क्योंकि वह ऐसे संसार की सहायता करता है जो अपने लक्ष्य को स्वयं बिना किसीकी सहायता के प्राप्त नहीं कर सकता। दसवीं भूमि में आकर बोधिसत्त्व तथागत बन जाता है जो धर्ममेघ (अर्थात् धर्म की वर्षा करनेवाला मेघ बादल) की अवस्था है। मोक्ष से तात्पर्य जीवन को धर्म के अनुसार ढालने से है। यह मनुष्य एवं जीव जन्तुमात्र के प्रति सार्वभौम प्रेम की अभिव्यक्ति है। महायान बौद्धधर्म में दो श्रेणियां अर्हत्त्व से और ऊंची हैं—बोधिसत्त्व एवं बुद्धत्व। बोधिसत्त्व का सिद्धान्त महायान का

एक ऐसा विशिष्ट लक्षण है कि कभी-कभी इसे बोधिसत्त्वायन भी कह दिया जाता है, अर्थात् बोधिसत्त्व के गुणो का पालन करने से मोक्ष प्राप्त करानेवाला धर्म।

नैतिक जीवन के सिद्धान्त है—दान, वीर्य, शील, शान्ति या धैर्य एव ध्यान, और इनमे सर्वोच्च है प्रज्ञा, जो शान्ति एव ईशकृपा का आवासस्थल है। मठो एव विहारो के जीवन की कठोरता को शिथिल कर दिया गया है। तुम भिक्षु बनो या मत बनो, यह तुम्हारे स्वभाव एव मानसिक वृत्ति के ऊपर निर्भर करता है। गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए भी लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। हीनयान के नीतिशास्त्र मे जिनका विशेष महत्त्व है, अर्थात् तपस्या एव अकिंचनता, वे दोनो यहा अपवादस्वरूप ही है। बुद्ध के आदेशो का पालन करना ही मोक्ष का मार्ग है। ईश्वर मे विश्वास अथवा भक्ति पर भी बल दिया गया है। प्रज्ञापारमिता ग्रन्थ की टीका मे नागार्जुन कहता है "बुद्ध के बताए हुए नियमोरूपी समुद्र मे श्रद्धा के द्वारा प्रवेश सम्भव है किन्तु ज्ञान ही वह जहाज है जिसके द्वारा उस समुद्र मे यात्रा की जा सकती है। महायान के मत से मनुष्य अपनी शक्तियो के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सके, इसकी सम्भावना नही है। इसके लिए एक मुक्तिदाता की सहायता आवश्यक है। जब तक हम अभी मार्ग मे ही है, प्रार्थना एव पूजा उपयोगी सिद्ध हो सकती है, किन्तु लक्ष्य पर पहुचने के समय इनकी उपमिता नही रह जाती। कर्म के सिद्धान्त, अर्थात् हमारे अच्छे या बुरे कर्मो का अपना फल देने का कार्य, दयाप्रदर्शन के द्वारा नरम पड जाते है और इसका मार्ग विश्वास लाने के विधान मे ही है। श्रावको (अर्थात् सुननेवालो), बुद्धो एव बोधिसत्त्वो की तीन श्रेणियां मानी गई है। पहली श्रेणी वाले पवित्रता को साधन मानते है, दूसरी श्रेणी वाले ज्ञान को, एव तीसरी श्रेणी वाले अन्यो के आध्यात्मिक कल्याण के प्रति भक्ति को ही साधन मानते है।[1]

जबकि हीनयान ने कहा कि निर्वाण-प्राप्ति के अधिकारी थोडे-से ही व्यक्ति हो सकते है जो भिक्षुजीवन व्यतीत कर सके, वहा महायान ने कहा कि नही, प्रत्येक मनुष्य बोधिसत्त्व बनने का उद्देश्य रख सकता है। यहा तक कि निम्न जाति के मनुष्य भी धर्माचरण करने एव बुद्ध मे भक्ति रखने से मोक्ष प्राप्त कर सकते है। महायान के विशिष्ट नैतिक विधान मानववाद एव सार्वभौमवाद आदिम बौद्धधर्म के भाव के सर्वथा अनुरूप पाए जाते है। मनुष्यमात्र को मोक्ष के सुख का लाभ पहुचाना ही बुद्ध के जीवन का ध्येय था। "हे भिक्षुओ! अब तुम जाओ बहुतो के लाभ के लिए, मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए, ससार के प्रति करुणा का भाव हृदय मे लेकर जाओ। ऐसे सिद्धान्त का प्रचार करो जो आरम्भ मे प्रशस्त है, मध्य मे प्रशस्त है, एव अन्त मे भी प्रशस्त है—भाव मे भी प्रशस्त है और अपने लिखित रूप मे भी प्रशस्त है।" हीनयान के मत मे नैतिकता अनिवार्य रूप से एक निवृत्तिपरक प्रक्रिया है, अर्थात् सासारिक इच्छाओ एव दुष्कर्मो से आत्मा को मुक्त करना है। बोधिसत्त्व का आदर्श अधिक निश्चित एव विध्यात्मक है। इसके साथ विशेषरूप से सम्बद्ध 'परिवर्त' का सिद्धान्त (अर्थात् नैतिक पुण्य को अन्यो के लाभ के लिए सचय करना) है। यह हमे परार्थ किए गए पश्चात्ताप के सिद्धान्त का स्मरण कराता है जो जीवन की एकता के

विचार को लेकर चलता है। कोई भी मनुष्य केवल अपने ही लिए नहीं जीता। एक के किए गए पुण्य एवं पाप का प्रभाव समस्त मनुष्यजाति पर पड़ता है।

माध्यमिक बौद्ध सम्प्रदाय के सम्मुख यह एक समस्या है कि इस अध्यात्मशास्त्र सम्बन्धी सत्य (अर्थात् इस विश्व में यथार्थसत्ता कुछ नहीं है) और नैतिक धर्म (जिसके अनुसार हम अपने पड़ौसी के हित के लिए भी कर्म करना चाहिए और उसके दुःख से अपने को दुःखी समझना चाहिए)—इन दोनों में कोई समन्वय हो सकता है या नहीं। प्रकटरूप में महायान के बोधिसत्त्व का अभी भी यह भ्रान्ति है कि उसे संसार का त्राण करना है।

महायान में निर्वाण पर बल नहीं दिया गया किन्तु बोधि अर्थात् ज्ञानसम्पन्न सत्त्व की पदवी प्राप्त करने के ऊपर बल दिया गया है। निर्वाण आत्मा का मोक्ष है। आगे चल कर निर्वाण शब्द का व्यवहार अमरत्व पर केन्द्रित ध्यान की प्रसन्नमुद्रा के लिए होने लगा। क्रममुक्ति अथवा नियमित क्रम से मोक्षप्राप्ति का विधान जैसाकि ब्राह्मणधर्म के शास्त्रों में है मनुष्य के हृदय को—जो सदा अनन्त आनन्द को प्राप्त करने के लिए आतुर रहता है—शान्ति प्रदान करने के लिए किया गया है। सांसारिक जीवन की समाप्ति के बाद भी बुद्धों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। निर्वाण के विचार के स्थान में एक स्वर्ग के विचार को अपने प्रतिपक्षी नरक के साथ महायान में स्थान दिया गया है। बोधिसत्त्वता की प्राप्ति के मार्ग में एक व्यक्ति असंख्य दिव्य लोकों में निवास का सुख भोगता है। महायान ने अधिकतर अपना ध्यान इन दिव्यलोकों में निवास के प्रति दिया और निर्वाण के अन्तिम लक्ष्य के प्रश्न को टाल-सा दिया। किन्तु जब कभी भी इस विषय का प्रश्न उठा उसका उत्तर परम्परागत बौद्धधर्म की रीति से ही दिया गया। निर्वाण का अर्थ है पुनर्जन्म के बन्धन से बरी हो जाना,[1] जीवन की शृंखला को काट गिराना,[1] इच्छा, द्वेष एवं अज्ञान को समूल नष्ट कर देना,[1] अथवा एक निरुपाधिक प्राणी।[2] चूंकि हम सबके जीवन सोपाधिक हैं, निर्वाण एक निरुपाधिक सत्स्वरूप है। यह केवल जीवन के अभावमात्र का ही नाम नहीं, किन्तु यथार्थ मुक्तावस्था है जहां अज्ञान के ऊपर विजय प्राप्त कर ली जाती है। जब कोई बुद्ध बन जाता है तो बोधिसत्त्व का क्या होता है? क्या वह फिर परमार्थ सत् में विलीन हो जाता है अथवा वह अपने व्यक्तित्व को स्थिर रखता है? महायान का मत इस विषय में स्पष्ट नहीं है यद्यपि इसका झुकाव अधिकतर पिछले विकल्प की ओर ही है। बुद्ध हो जाने का तात्पर्य सारूप्य में अनन्त के साथ एकत्व स्थापित करना है। अश्वघोष पूर्ण अवस्था का इस प्रकार वर्णन करता है, "यह आकाश की शून्यता और दर्पण की उज्ज्वलता की भांति है और उस अवस्था में यह सत्य है, यथार्थ है एवं महान् है। यह सब वस्तुओं को समाप्ति तक पहुंचाता एवं पूर्ण बनाता है। यह नश्वरता की उपाधि से उन्मुक्त है। इसके अन्दर जीवन का प्रत्येक पक्ष एवं संसार की प्रत्येक दिशा प्रतिबिम्बित

१ पुनर्जन्मनिर्वृत्ति। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता १५ ३।
२ दशाभूम। ३ १ नागार्जुन।
४ वज्रच्छेदिका। ... संसार एवं अहंकार का त्याग कहता है। ... ने इस परिभाषा को स्वीकार किया है। प्रज्ञापारमिता के मत में निर्वाण ... का ... है। ... निर्वाण को शून्यता के समान अथवा एक ... होना ... है।

होती है। इसमें से न तो कुछ बाहर जाता है, न इसमें कुछ प्रवेश करता है, न ही कुछ विनष्ट होता है और न शून्य होता है। यह एक अमर आत्मा है, इसे अपवित्र करनेवाले कोई भी रूप इसे दूषित नहीं कर सकते, यह बुद्धि का सारतत्त्व है।" असंग के अनुसार, निर्वाण विश्व की महान आत्मा के साथ संयोग है। महायान के अनुयायी यह प्रतिपादन करने के लिए उत्सुक हैं कि निर्वाण शून्यता नहीं है।

७

भारत में बौद्धधर्म का ह्रास

भारत से बौद्धधर्म के तिरोभाव का प्रधान कारण यह ऐतिहासिक तथ्य है कि अन्त में जाकर इसे हिन्दूधर्म के अन्य फलते-फूलते सम्प्रदायों यथा वैष्णवमत, शैवमत एवं तान्त्रिक मतों से पृथक् करना असम्भव हो गया। भारत के पास एक अधिकतर सर्वमान्य धर्म था, एक ऐसा धार्मिक सम्प्रदाय जो उसकी कल्पना की अपने सौन्दर्य के कारण तृप्ति कर सकता था। पुराना बौद्धधर्म अपनी शक्ति खो चुका था। क्योंकि वह ईश्वर की सत्ता का ही निषेध करता था, मनुष्य को अमरत्व की कोई आशा नहीं देता था, एवं समस्त जीवन को दुःखमय मानता था, जीवन के प्रति प्रेम को सबसे बड़ा पाप और सब प्रकार की इच्छा के विलोप को ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य प्रतिपादन करता था। महायान-सम्प्रदाय प्राचीन बौद्धधर्म के समान प्रतिष्ठा प्राप्त करने में अक्षम था और इसलिए ब्राह्मणधर्म के साथ संघर्ष में निर्बल एवं अस्थिरमत सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों इसका विस्तार होता गया, यह बराबर निर्बल ही होता चला गया। इसमें परिष्कृत रूप में कितने ही विकास हुए थे, जिसके कारण जनसाधारण इससे वैसे भी असन्तुष्ट था। अपनी समस्त विजयों में बराबर इसने दूसरे धर्मों को दबाने के स्थान में अपने ही नैतिक भाव से उन्हें भरने का प्रयत्न किया। इसने सब प्रकार के मनुष्यों के साथ एवं सब समयों में उदारता दिखाई। परिणाम यह हुआ कि स्वर्गलोकों का समावेश हुआ एवं सर्वचेतनावाद-सम्बन्धी विचार भी घुस आए। इस प्रकार के समझौते की प्रवृत्ति इसकी निर्बलता भी थी एवं शक्ति भी थी। महायान-सम्प्रदाय का विशिष्ट लक्षण सम्राट् अशोक के इस १२वें राज्यादेश में ध्वनित होता है "अपने मत की स्तुति एवं अन्य मतों की निन्दा न होनी चाहिए, अपितु अन्य मतों को भी उचित सम्मान दिया जाना चाहिए जिस किसी भी कारण से वे उक्त सम्मान के योग्य हों।" महायान ने भी उन्हीं चतुर उपायों का प्रयोग किया जिन्हें आगे चलकर सेंट पॉल ने पवित्र घोषित किया था, जो यहूदियों के लिए यहूदी बन गया, और सब प्रकार के मनुष्यों के लिए सब प्रकार की वस्तुएं प्रदान करना उसका काम बन गया जिससे कि कम से कम कुछ चेले तो मिल सकें। भिन्न-भिन्न देशों में महायान के अपने भिन्न-भिन्न रूप हो गए।[1] जब महायान में प्रार्थना, उपासना, पूजा, भक्ति एवं मुक्ति को

[1]. महायान के इन विकसित रूपों का विवरण हैकमैन द्वारा लिखित 'बुद्धिज्म ऐज़ ए रिलिजन'।

स्थान मिल गया तो इसके द्वार सब प्रकार के मिथ्या विश्वासों के लिए खुल पड़े। घोर अमिताचार का भी समर्थन निरर्थक नैय्यायिक तर्क की विधि से करना पड़ा। सर्वचेतना के रहस्यमय रूप भी सत्य के महान क्षेत्र में गुप्त मार्ग से आकर इसके अन्दर प्रविष्ट हो गए। जादू, परोक्ष दर्शन एवं भूत-प्रेतों के किस्सों को अपने अन्दर स्थान देकर इसने अपने को निर्बल कर लिया। अनुयायियों ने उस एकाकी आडम्बरहीन और प्रशान्तहृदय व्यक्तित्व को घटिया किंवदन्तियों और चमत्कारों से आवृत कर दिया जो चीवर धारण कर सिर झुकाए नंगे पैरों वाराणसी की यात्रा के लिए अग्रसर हो रहा था। बुद्ध के व्यक्तित्व के प्रति बाह्य जगत के व्यक्तियों की श्रद्धा जगाने के लिए भक्त प्रचारकों ने एक मिथ्या इतिहास का भी निर्माण कर लिया। बुद्ध के एक मरणधर्मा पिता के पुत्र होने में विश्वास करना असम्भव है। उसे देव रूप देने के लिए कहानियां गढ़ी गई। इस प्रकार की अस्वस्थ कल्पनाओं के ग्राह्य प्रभावों के कारण बुद्ध की नैतिक शिक्षाएं लगभग गुप्त ही रह गईं। कल्पनाएं उठाई गईं, उनका खूब प्रचार हुआ, प्रत्येक नये पग के साथ प्रत्येक नई कल्पना ने अन्य कल्पनाओं को जन्म दिया और अन्त में सारा वातावरण मस्तिष्क की भ्रान्त कल्पनाओं से भर गया, यहां तक कि धर्मसंस्थापक की उदारतम एवं सरल शिक्षाएं आध्यात्मिक सूक्ष्मताओं के प्रज्वलित पुंज के नीचे दब गईं।[1] बौद्धभिक्षु अपने प्राचीन दिव्य सद्धर्मवाहक के उत्साह को खो बैठे। बौद्धधर्म का मठवाद भी इतना ही दूषित हो गया जैसा कि हिन्दू पौरोहित्य दूषित हो चुका था। अब बौद्धधर्म में परिव्राजक भिक्षु, जिनका जीवन पवित्र होता था, नहीं रह गए थे किन्तु उनके स्थान पर समृद्धिशाली मठ बन गए थे जिनमें स्थूलकाय पुरोहित बैठे थे। जनता की नैतिक एवं धार्मिक चेतना को जागरित करनेवाले सरल सदाचार अब नहीं रहे बल्कि उनके स्थान पर अनुशासन एवं आध्यात्मिक शास्त्र सम्बन्धी सूक्ष्म तर्क रह गया था।[1] बौद्धधर्म का जीवन अब मिथ्या विश्वासों, स्वार्थपरता एवं विषय-लोलुपता से भरा हुआ था। इस सबके अतिरिक्त अब उसमें और कुछ नहीं रह गया था। परिणाम यह हुआ कि जब यूआन च्वांग भारत में आया तो उसने आदिम बौद्धधर्म के यथार्थ सत्यों के स्थान पर इस मिथ्या पौराणिक किस्सों एवं किंवदन्तियों के कूड़े-कर्कट के दलदल में फंसा हुआ पाया। वह धर्म जो सम्राट् अशोक के काल में भी प्रशस्त था और यहां तक कि कनिष्क के समय तक भी जनता को उच्च प्रेरणा देने में सक्षम रहा था, अब चमत्कारों एवं मिथ्या कल्पनाओं के बीहड़ जंगल में पड़कर स्वयं ही भटक गया था। अनन्त बुद्धों की कल्पना एवं उनकी असम्भव उत्पत्ति की कथाओं की सृष्टि हो गई।

बौद्धधर्म की अवनति के अतिरिक्त भारत में भ्रान्तिकाल का भी गर्त था। सर्वसाधारण के जीवन में ब्राह्मणधर्म का आधिपत्य था। यहां तक कि बौद्धधर्म भी पौराणिक सनातन (ब्राह्मण) धर्म के देवताओं को अपने अन्दर समाविष्ट करके ही फल-फूल सका था। आदिम बौद्धधर्म में इन्द्र, ब्रह्मा और अन्यान्य देवताओं का समावेश पाया जाता है। बौद्धधर्म में नये दीक्षित होनेवाले व्यक्ति प्राचीन देवताओं के प्रति सम्मान का भाव अपने साथ लाए।

नामक पुस्तक में लिखता है। बौद्धधर्म के इतिहास लेखक को भवतर्क ध्यान एवं स्मरण सम्प्रदायों तथा चीन के 'यनशा' और जापान के निचिरेन को भी भूलना न चाहिए।

1. रीज डेविड्स—बुद्धिज्म।

हीनयान बौद्धधर्म ने ब्रह्मा, विष्णु और नारायण को उनके अपने नामो के साथ ही स्वीकार कर लिया। हमने देख ही लिया कि महायान ने कभी भी तत्परता के साथ हिन्दू सिद्धान्तो एव क्रिया-कलापो के साथ विरोध मोल नही लिया। इसने पौराणिक गाथाओ को और भी बढाकर अनेक देवताओ तथा उनकी भिन्न-भिन्न शक्तियो के विषय में वर्णन किया और इसपर बल दिया कि उन सबका शिरोमणि आदिबुद्ध था। चूकि ब्राह्मणो ने बुद्ध को विष्णु का अवतार माना। इसलिए बौद्धो ने उसके प्रति कृतज्ञता दिखाने के लिए विष्णु को बोधिसत्त्व पद्मपाणि के समान बतलाकर उसे अवलोकितेश्वर का नाम दिया। धर्म एक निजी मामला हो गया और ब्राह्मण तपस्वियो को बौद्ध श्रमणो के भाई-बन्धु के रूप मे माना जाने लगा। ब्राह्मणधर्म और महायान मत के दार्शनिक एव धार्मिक विचारो मे समानता स्वीकार की जाने लगी। भारतीय मस्तिष्क के आग्रहशील विशिष्ट गुण के कारण दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे एकेश्वरवादपरक आदर्शवाद एव धर्म के क्षेत्र मे पूजा का स्वातन्त्र्य (इष्टदेवताराधन) स्पष्टतया लक्षित होता है। महायान का अध्यात्मशास्त्र एव धर्म अद्वैतपरक अध्यात्मशास्त्र एव ईश्वरवाद के अनुकूल है। जनता के अधिकाश भाग की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए यह केवल भगवद्गीता का ही एक दुर्बल प्रतिरूप मात्र रह गया। धीरे-धीरे इस बौद्धिक विलयन एव परिवर्तन के विकास का परिणाम यह हुआ कि महायान को महान वैष्णव आन्दोलन का ही एक सम्प्रदाय समझ लिया जाने लगा।[1] हीनयान को उसके तपस्यापरक रूप के कारण शैवमत का एक सम्प्रदायमात्र समझा जाने लगा। बौद्धधर्म ने ऐसी अवस्था मे यह अनुभव किया कि उसके पास कोई विशेष विषय प्रचार के लिए नही है। जब ब्राह्मणधर्म ने भी विश्वप्रेम और ईश्वरभक्ति के ऊपर बार-बार बल देना प्रारम्भ किया और बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित कर दिया तो भारत से बौद्धमत की मानो अर्थी उठ गई। बौद्धधर्म भी बार-बार हिन्दूधर्म के गुणो एव दोषो को दोहराने लगा। अत्यन्त दीर्घ पुरातन काल के प्रभाव ने अपनी मोहक कल्पनाओ को साथ मे लेकर एव उन विश्वासो के साथ जो उसे विरासत मे मिले थे, फिर से सारे देश पर अपना आधिपत्य जमा लिया और बौद्धधर्म हिन्दूधर्म मे घुल-मिलकर विलीन हो गया।

बौद्धधर्म भारत मे स्वाभाविक रूप मे काल का ग्रास बना।[2] यह कहना कि कट्टर एव हठधर्मी पुरोहितो ने अपने बल से बौद्धधर्म को विलुप्त कर दिया, स्वार्थी व्यक्तियो के मस्तिष्क की बहक भले ही हो, ऐतिहासिक तथ्य नही है। यह सत्य है कि कुमारिल भट्ट एव शकर ने बौद्ध सिद्धान्तो की आलोचना की, किन्तु ब्राह्मणधर्म ने जो बौद्धधर्म का मुकाबला किया वह एक पुराने सघटन का मुकाबला था जो एक ऐसे नये आन्दोलन को मिला जबकि उस नये आन्दोलन के पास कोई नया विषय जनता के आगे रखने के लिए नही रह गया था। भारत मे से बौद्धधर्म को बलात् बाहर निकाला गया। यह केवल एक किवदन्ती

१. बौद्धधर्म का वैष्णव मत में सक्रमण उडीसा प्रान्त के 'पुरी' नामक तीर्थ मे देखा जा सकता है, जहा एक मन्दिर प्रारम्भ में गौतम बुद्ध को अर्पित किया गया था और अब कृष्ण का आवासस्थान है, कृष्ण को जगन्नाथ नाम दिया गया है। बौद्धधर्म का एकमात्र पवित्र स्मृतिचिह्न जो आज भी वहा पाया जाता है, यह है कि सब जातियों के लोग उसी प्रभु के गृह में पके हुए भोजन को ग्रहण करते हैं।

२. देखिए, मोनियर विलियम्स—'बुद्धिज़म', अध्याय ७।

है ऐतिहासिक तथ्य नहीं हो सकता। बौद्धमत एवं ब्राह्मणधर्म दोनों परस्पर इतने अधिक निकट आ गए कि कुछ समय के लिए तो उनमें पहचान करना ही कठिन हो गया और अन्त में वे मिलकर एक ही हो गए। धीरे-धीरे किया गया विलयन और अपरोक्ष रूप में बौद्धमत के प्रति उपरामता हो न कि पुरोहितों की हठधर्मिता अथवा विधिपूर्वक किया गया विनाश बौद्धमत के पतन के कारण हैं।

जीवन की दुःसाध्य समस्या पर बौद्धधर्म का इतिहास एक निश्चित मत रखता है। धार्मिक विधानों में स्वतन्त्र एवं निर्दोष नैतिकता को प्राप्त करने में जो अनर्थ कठिनाइयां आ सकती हैं उन्हें यह स्पष्ट प्रकट करता है। बौद्धधर्म भारत का यथार्थरूप में धार्मिक मार्ग प्राप्त कराने में असफल रहा यद्यपि यह सत्य है कि यह बराबर ही अत्यन्त कठोरता के साथ कल्याण के मार्ग पर चलने के लिए सदा एवं शुद्ध पवित्र जीवन पर बल देता रहा। प्राचीन बौद्धमत ने विरोधी व्यक्तियों के लिए मार्ग खुला रखा था। हीनयान ने अपनी अतिशयोक्तियों के कारण बौद्ध पद्धतियों की निर्बलताओं को प्रकट कर दिया। महायान भी उस कमी की पूर्ति के लिए प्रयत्न करने में एकदम दूसरे छोर पर पहुंच गया और उसने सब प्रकार के मिथ्या विश्वासों का धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप करने की अनुज्ञा प्रदान करके बुद्ध के वास्तविक भाव का ही नाश कर दिया। बिना किसी समझौते के नैतिक विधान के प्रति आस्था रखना यह बौद्धधर्म की शक्ति का रहस्य है एवं मनुष्य प्रकृति के रहस्यमय पक्ष को सर्वथा भुला देना ही इसकी असफलता का कारण है।

८

भारतीय विचारधारा पर बौद्धधर्म का प्रभाव

बौद्धधर्म भारत की संस्कृति पर अपनी एक विशिष्ट छाप छोड़ गया है। हर दिशा में इसका प्रभाव लक्षित होता है। हिन्दूमत ने इसके नीतिशास्त्र के श्रेष्ठतम अंश को अपने अन्दर समाविष्ट कर लिया है। जीवन के प्रति नए प्रकार का आदर भाव, सब जन्तुओं के प्रति करुणा का भाव, उत्तरदायित्व का भाव, एवं उच्चतर जीवन की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ इत्यादि विषयों को इसने नए बल के साथ फिर से भारतीय मस्तिष्क में बैठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। ब्राह्मण (पौराणिक) धर्म के शास्त्रों ने बौद्धधर्म के प्रभाव से ही अपने धर्म के उन भागों को ताक में रख दिया जिनका सामञ्जस्य मानवता एवं तर्क के साथ नहीं हो सकता था।[1] महाभारत में बौद्धधर्म के उत्कृष्ट पक्ष की प्रतिध्वनि पाई जाती है: "विजय से घृणा बढ़ती है और घृणा से घृणा नष्ट नहीं हो सकती।"[2] बौद्धधर्म के आविर्भाव के

1. 'आचारमयूख' नामक ग्रन्थ में, जो किसी शंकर का रचित कहा जाता है, पांच निषिद्ध वस्तुओं को वर्जित कहा गया है : (१) अग्नि में आहुति देना, (२) यज्ञ के लिए गौहत्या करना, (३) शरीर को कष्ट देनेवाला तपस्याएं करना, (४) पितरों के उद्देश्य करके किए गए यज्ञों में मांस का प्रयोग करना, एवं (५) मृत भाई की विधवा पत्नी से विवाह करना। 'अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्, देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत्।' निर्णयसिन्धु ३ भी देखिए। 'अग्निहोत्रम्' के स्थान पर एक दूसरा पाठ भी है— अश्वालम्भम्।

2. उद्योगपर्व ७१ : ५९ और ६३।

पश्चात् भारतीय विचारधारा के लिए ससार को आशाजनक दृष्टि से देखना लगभग असम्भव ही हो गया। जीवन का वह मानदण्ड जो उस समय तक मनुष्य के मन को सन्तोष देता था, अब अधिक समय तक स्थिर नही रह सकता था। मनुष्य-जीवन पापमय है और जन्म के बन्धन से छूटने का नाम मुक्ति है। आधुनिक विचार-पद्धतियो ने इसे स्वीकार किया। न्यायशास्त्र ने जन्म एव प्रवृत्ति को पाप मे गिना है।[1] सत्कर्म एव दुष्कर्म दोनो ही अवाछनीय है, क्योकि उन्हीके कारण पुनर्जन्म होता है। हम ससार में वापस आते है पुरस्कार प्राप्त करने एव दुष्कर्मो का दण्ड भोगने के लिए। जन्म लेने का तात्पर्य ही है मरना। जन्म के सर्वथा अभाव मे ही सुख है। प्रकृति के प्रति आत्मा के विद्रोह के भाव ने बुद्ध के समय से ही भारतीय विचारधारा को आच्छादित किया। उसके पश्चात् आनेवाले सब विचारको ने महान त्याग की छाया मे ही अपना जीवन बिताया। सन्यासी के वेश से ही जीवन का उद्देश्य लक्षित होता है। इच्छारूपी पाप के विषय में अतिशयोक्ति से काम लिया गया है।[2] ससार इच्छा से ही बद्ध है।[3] बौद्धधर्म के जो विचार जीवन के अस्थायित्व एव सापेक्षता के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे थे, भारतीय विचारधारा को बाध्य होकर उन्हे अपनाना पडा। परवर्ती विचारधारा के ऊपर बुद्ध की कुछ भ्रान्त धारणाओ एव कुछ उनके गम्भीर आत्मनिरीक्षण का भी समानरूप से प्रभाव पडा। कभी-कभी ससार के उत्तम से उत्तम पदार्थ भी एक बार फिर से नये रूप मे उत्पन्न होने के लिए नष्ट हो जाते है। ठीक इसी प्रकार भारत मे बौद्धधर्म का विनाश फिर से एक सुसस्कृत ब्राह्मणधर्म के रूप मे उत्पन्न होने के लिए हुआ। बुद्ध आज भी उन भारतीयो के जीवन के रूप मे जीवित है जिन्होने अपनी प्राचीन परम्पराओ को सर्वथा नही त्याग दिया है। उनकी उपस्थिति चारो ओर अनुभव की जा सकती है। बराबर एक देवता के रूप मे पूजे जाकर उनका स्थान पौराणिक गाथा मे सुरक्षित है जो अभी जीवित है और जब तक पुरातन धर्म नये धार्मिक भावो के भक्षक प्रभाव के आगे खड-खड होने से बचा हुआ है, तब तक बुद्ध का स्थान भारत के देवताओ मे बना रहेगा। उनका निजी जीवन एव उनके धार्मिक उपदेश मनुष्य-जाति को बाध्य करेंगे कि वह उनका उचित सम्मान करे। ये अनेक अशान्तमनो को सान्त्वना प्रदान करेंगे, अनेक नम्रहृदयो को आह्लाद प्रदान करेगे और भोले-भाले लोगो की प्रार्थनाओ को भी सफल बनाएगे।

उद्धृत ग्रन्थ

'सद्धर्मपुण्डरीक, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', २१।
'बुद्धिस्ट महायान टेक्स्ट्स, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', ४९।
सुजूकी : 'महायान बुद्धिज्म'।
सुजूकी : 'द अवेकनिंग आफ फेथ'।
कुमारस्वामी : 'बुद्ध ऐण्ड द गास्पेल आफ बुद्धिज्म'।

---

१ न्यायसूत्र, १ : १ : १८।
२. जन्म दुःखं, जरा दुःखं जाया दुःखं पुनः पुनः।
आशापाशः परं दुःखं निराशः परमं सुखम्॥
३ "आशया बध्यते लोकः।"

ग्यारहवां अध्याय

बौद्धमत की शाखाएं

बौद्धधर्म के चार सम्प्रदाय—वैभाषिक नय—सौत्रान्तिक नय—योगाचार नय—माध्यमिक पथ—ज्ञान का सिद्धान्त—सत्य और यथार्थता की श्रेणियां—शून्यवाद और उसका तात्पर्य—उपसंहार।

१

बौद्धधर्म के चार सम्प्रदाय

सत्य की खोज के लिए बुद्ध आलोचनात्मक विश्लेषण का प्रयोग करते थे। पर्यवेक्षण एवं तर्क पर उनका आग्रह था। उनका धर्म रूढ़ि या परम्परा पर आधारित नहीं था। बुद्ध की एक उक्ति बताई जाती है जिसका आशय है "मेरे विधान को मुझमें केवल भक्ति रखने के कारण ही किसीको स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए बल्कि पहले सोने की भांति आग में तपाकर उसकी परीक्षा कर लनी चाहिए।"[1] अध्यात्मविद्या सम्बन्धी पृष्ठभूमि की कल्पना करनेवालों के लिए खुला छोड़कर बुद्ध ने वस्तुओं के परम आधार सम्बन्धी अनिश्चितता को और भी अधिक बढ़ा दिया। प्राचीन बौद्धधर्म में ऐसे मूलतत्त्व विद्यमान थे जिनमें अन्दर भिन्न भिन्न मार्गों द्वारा विकसित होने की शक्ति अन्तर्निहित थी। संस्थापकों के अपने अन्दर जिस प्रकार के विचारों की उत्पत्ति होती है अन्य लोगों में उस प्रकार की नहीं होती। इस नियम के अनुसार जब कल्पना करनेवाले विचारकों ने बौद्धधर्म में से उस सब अंश को जो अधिकतर बुद्ध के अपने जीवन एवं व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता था निकाल फेंका तो बौद्धधर्म केवल कतिपय अमूर्त या भावात्मक स्थापनाओं का रूप रह गया जिनमें से विभिन्न विचारकों ने अपनी प्रवृत्तियों के आधार पर भिन्न भिन्न पद्धतियों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। बुद्ध के अनुसार अनुभव ही एकमात्र हमारे लिए ठोस आधार

[1] दुर्भाग्यवश जब जनता के अधिकांश भाग ने बौद्धधर्म को धर्म के रूप में अंगीकार कर लिया उस समय इस दार्शनिक भावना का ह्रास हो गया। बुद्ध के शब्दों पर ही विश्वास किया जाने लगा। अशोक ने कहा कि "जो कुछ बुद्ध भगवान ने कहा है ठीक कहा है।" दिव्यावदान ग्रन्थ में यह घोषित किया गया है कि "अन्तरिक्ष चन्द्र और तारों समेत पृथ्वी पर गिर सकता है पृथ्वी पर्वतों और वनों समेत आकाश पर चढ़ सकती है समुद्र भी सूख सकते हैं किन्तु बुद्ध लोग कभी अनुचित बात नहीं कह सकते।"

वस्तु है, अर्थात् यह यथार्थ जीवन और यही परम तथ्य है जिसे मानकर समस्त विचार-पद्धति को आगे वढना होता है। बुद्ध के अनुभववाद ने परम्परागत विश्वासो की सम्पूर्णरूप मे समीक्षा की और उनका विश्लेषण किया। बौद्ध सम्प्रदायो का अनुभववाद स्वय अनुभव के भी ऊपर आजमायी गई एक आलोचनात्मक एव बुद्धिसगत प्रयोगविधि है। किसी स्थिर योजना के आधार पर नही अपितु तर्क के ही वल पर बौद्धधर्म विचारधारा के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे वट गया। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् तुरन्त ही विश्वासो एव क्रियाओ मे भेद प्रकट होने लगे। यहा तक कि वैशाली की परिषद् ने भी सिद्धान्त-सम्बन्धी विवाद के कारण ही महासघ नाम की एक वडी सभा को जन्म दिया, जिसकी व्यवस्था सम्बन्ध-विच्छेद करनेवालो ने की थी और जो स्वय भी वाद मे आठ विभिन्न सम्प्रदायो मे वट गए। वैशाली की परिषद् का आयोजन करनेवाले थेरा या स्थविर लोगो ने भी ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी मे अनेक सम्प्रदायो का विकास किया यद्यपि उनकी प्रमुख शाखा ने सर्वास्तिवाद, अर्थात् प्रत्येक वस्तु की सत्ता है, का समर्थन किया। पाली का नियम-विधान विचार के क्षेत्र मे परस्पर नितान्त विरोधी आन्दोलनो का साक्षी है, और कथावत्थु मे इनमे से नाना मतो एव सप्रदायो के विषय का प्रतिपादन हुआ है।[1] हिन्दूधर्म के विचारको ने बौद्धधर्म के इन सम्प्रदायो का कही उल्लेख नही किया है जो ईसा से पूर्व की पहली शताब्दी मे उदित हुए। उनके अनुसार बौद्धो के मुख्य चार ही सम्प्रदाय है, जिनमे से दो का सम्बन्ध हीनयान से है और दो का महायान से। वैभाषिक एव सौत्रान्तिक, जो यथार्थवादी अथवा सर्वास्तिवादी है, यह विश्वास करते है कि देश और काल की अवधि मे जकडा हुआ यह विश्व यथार्थ है, जिसमे मन की स्थिति भी अन्य सीमित वस्तुओ के साथ ही एक समान है—ये हीनयान शाखा के सम्प्रदाय है। योगाचार एव माध्यमिक, जो आदर्शवादी है, महायान शाखा के सम्प्रदाय है। योगाचारो का कहना है कि विचार ही से सब कुछ निर्माण होता है। यही परम तत्त्व है, और यही यथार्थता का परमरूप भी है। माध्यमिक दर्शन एक निषेधात्मक एव विवेचनात्मक पद्धति है, जो महायानसूत्रो की अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी पृष्ठभूमि का निर्माण करती है। माध्यमिको को कही-कही सर्ववैनाशिक अथवा शून्यवादी भी कहा गया है।[2]

बौद्धधर्म के अन्तर्गत कल्पनात्मक पद्धतियो की उक्त प्रवृत्तिया, यो तो बहुत पहले से विद्यमान थी किन्तु उन्हे व्यवस्थित रूप मे एव सहिता के आकार मे कनिष्क के समय के बाद ही लाया गया। हिन्दूधर्म की विचार-पद्धतियो ने उक्त सम्प्रदायो की समालोचना की है। इससे इस विषय का सकेत मिलता है कि उक्त सम्प्रदाय स्वय हिन्दूधर्म की इन

१. देखिए, 'जर्नल आफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी', १८९१, और 'जर्नल आफ द पाली टैक्स्ट्स सोसाइटी', १९०४–१९०५।

२ छठी शताब्दी में हुए ई-त्सिंग का कहना है "वे लोग जो बोधिसत्त्वों की पूजा करते है एव महायानसूत्रों का अध्ययन करते है, महायानी (महान) कहलाते है, जबकि वे जो कर्म नही करते, हीनयानी (छोटे) कहलाते है। महायान के केवल दो ही प्रकार है : पहला माध्यमिक, दूसरा योग, इनमें माध्यमिकों का कहना है कि जिसे साधारण बोलचाल में जीवन कहा जाता है, वस्तुत. वह अस्तित्व नही है और प्रत्येक पदार्थ केवल एक निस्सार भ्रान्ति की भाति आभासमात्र है किन्तु योगाचारों का कहना है कि बाह्य वस्तुओं का यथार्थता नही है जो केवल आन्तरिक विचारमात्र है। सब पदार्थों का अस्तित्व केवल मन ही के अन्दर है।" (ताकाकुसु की 'ई-त्सिंग,' पृष्ठ १५)।

विचार पद्धतियां म पूर्व वतमान थ । यदि हम इन सम्प्रदायो का समय ईसा के पश्चात की दूसरी शताब्दी का रखें तो सम्भवत यह निर्णय कुछ अधिक अनुचित न होगा । यद्यपि सम्भव है कि एक दो सम्प्रदायों के प्रसिद्ध प्रवर्तक उनके पीछे के काल के भी रहे हों । बुद्ध की मृत्यु के पश्चात तीसरी शताब्दी म वभाषिक सम्प्रदाय वालो ने ज़ोर पकड़ा और सौत्रान्तिकों ने बुद्ध की मृत्यु के पश्चात चौथी शताब्दी म प्रमुखता प्राप्त की । तारानाथ के अनुसार माध्यमिक सम्प्रदायी बुद्ध की मृत्यु के ५०० वर्ष पश्चात उत्पन्न हुए । योगाचार सम्प्रदाय का संस्थापक असंग इतना आधुनिक है कि उसे ईसा के पश्चात तीसरी शताब्दी का माना जाता है । बौद्ध दार्शनिक विचार ने पांचवीं छठी एव सातवीं शताब्दियों में अपने जीवनकाल के प्रवततम रूप का प्रदर्शन किया ।

२

वभाषिक नय

हीनयान शाखा से सम्बद्ध रखनेवाले कल्पनात्मक सम्प्रदाय सर्वास्तिवाद अथवा बहुत्ववाद यथार्थवाद को माननेवाले हैं ।[१] वभाषिकों को यह संज्ञा इसलिए दी गई कि वे अन्य सम्प्रदायों की भाषा को असंगत अर्थात विरुद्ध भाषा समझते हैं और इस कारण भी उनको यह संज्ञा दी गई कि उन्होंने अपना सम्बन्ध विभाषा अथवा अभिधर्म की टीका से जोड़ा । वे सूत्रों की सत्ता को अस्वीकार करते हैं और केवल अभिधर्म को ही मान्यता प्रदान करते हैं । वे अनुभव को ही स्वीकार करते हैं । क्योंकि अनुभव ही पदार्थों के स्वरूप का निर्णय साक्षी है । अनुभव से उनका तात्पर्य उस ज्ञान से है जो पदार्थ के साथ सीधा सन्निकर्ष होने पर उत्पन्न होता है । संसार प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है । यह सोचना कि बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता गलत है क्योंकि बिना प्रत्यक्ष के अनुमान नहीं हो सकता । यदि प्रत्यक्ष ज्ञान से हम उचित सामग्री उपलब्ध न हो तो हम व्याप्ति (अर्थात व्यापक सिद्धान्तों) को प्रतिपादित भी नहीं कर सकते । पदार्थ न प्रत्यक्ष ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र भी अनुमान की प्राप्ति हो सकती है यह बात एक साधारण बुद्धि में नहीं आ सकती ।[२] इसलिए पदार्थों का विभागीकरण दो प्रकार का है — एक वे जो प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं दूसरे वे

१ [illegible] अथवा [illegible] भी कहा जाता है [illegible] ग्रन्थों को [illegible] नाम नहीं जिनमें से प्रधान [illegible] प्रस्थान है जिसका [illegible] तृतीय [illegible] के ऊपर एक टीका [illegible] स्थान [illegible] [illegible]

[illegible] और [illegible] बहुत [illegible] हैं [illegible] सत् [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] है ।

२ [illegible] सम्भव नहीं है ।

जो अनुमान द्वारा जाने गए हों—इन्द्रियगम्य और तर्कनीय अथवा चिन्तनीय। यद्यपि बाह्य पदार्थों की इतस्तत सत्ता का ज्ञान अनुमान द्वारा भी किया जा सकता है परन्तु साधारणत उनकी सत्ता का निर्देश प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है। विचारों के आन्तरिक जगत् और पदार्थों के बाह्य जगत् के मध्य प्राय. भेद किया जा सकता है। परन्तु प्रकृति मे जिस प्रकार का पदार्थों का एकत्रीकरण होता है एव विचारो मे जिस प्रकार उनका एकत्रीकरण होता है, उन दोनो प्रकारो मे परस्पर अन्तर है। इस प्रकार वैभाषिक स्वभावत द्वैतवादी हैं जो प्रकृति एव मन की पृथक् सत्ता को स्वीकार करते हैं। प्रमाणवाद की दृष्टि मे उनका सिद्धान्त एक सरल और अकृत्रिम यथार्थवाद है। मस्तिष्क पदार्थों से अभिज्ञ रहता है। अपने ऐसे ज्ञान को अथवा ऐसे पदार्थों के विषय मे अपनी अभिज्ञता को जो मानसिक नही है, निर्माण न कहकर हम केवलमात्र खोज कहेगे। पदार्थ पहले से उपस्थित है। पदार्थों का वस्तुतत्त्व नित्य एव सत् है, और वह भूत, वर्तमान एव भविष्यत् काल के इन तीनो विभागो मे विद्यमान रहता है।

पदार्थो के नित्यतत्त्व क्षणिक प्रतीति नही है, किन्तु वे अवयव है जो प्रतीति के विषय-पदार्थो की पृष्ठभूमि का निर्माण करते है। कुछ सर्वास्तिवादी स्कन्धो अथवा पदार्थों के घटको की तात्त्विक प्रतिमूर्तियो की स्थायी सत्ता को मानते है। वह कारण-कार्य-सम्बन्ध की कठिनाई से बचने के लिए मान लेते है कि कारण एव कार्य दोनो एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं, जैसेकि, जल बर्फ एव नदी की धारा दोनो मे समान पदार्थ हैं। रूप क्षणिक (अस्थायी) है किन्तु अधिष्ठान स्थायी है। आर्यदेव ने कारण-सम्बन्धी इस मत को इन शब्दो मे रखा है "कारण कभी विनष्ट नही होता किन्तु अवस्था-परिवर्तन होने पर जब यही कार्य बन जाता है तो केवल अपना नाम बदल लेता है। उदाहरण के लिए मिट्टी अपनी अवस्था परिवर्तित करके घडा बन जाती है और इस अवस्था मे कारणभूत मिट्टी का नाम गायब होकर घडे के नाम का उदय होता है।"[1]

१ अभिधर्मकोश में परिष्कृत किए गए मत से तुलना कीजिए : "क्या हम यह समझें कि अग्नि की ज्वाला के सम्पर्क में आकर लकडी नष्ट हो जाती है? हां—क्योंकि जब लकडी जल जाती है तो हमें फिर लकडी दिखाई नही पडती। और हमारी इन्द्रियों की साक्षी से बढकर तर्क पर निर्भर नही किया जा सकता। नहीं—यह एक तर्क का विषय है, क्योंकि यद्यपि हम फिर लकडी को न देख सकेंगे। यह इस घटना का परिणाम है कि लकडी स्वय नष्ट हो गई और पुन सत्ता के रूप मे न आ सकेगी। लकडी का अभाव, जो आपके अनुसार आग के कारण हुई केवल शून्यता है, एक अवस्तुता है, और अवस्तुता कार्य नहीं हो सकती, न ही इसका कोई कारण हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि विनाश अथवा अभाव जो विद्यमानता के पश्चात् आता है, अपना कुछ कारण रखता है तो जन्मो के समान इसका भी कोई कारण सदा होगा। और आप स्वेच्छा से स्वीकार करते है कि अग्निज्वाला, शब्द एव विचार, स्वभाव से क्षणिक हैं।" (४. २) "यदि पदार्थ बिना किसी कारण के और अपने स्वभाव से ही विनष्ट होते हैं जिस प्रकार कि आकाश मे उछाले गए पदार्थ गिर पडते हैं, तब वे अपनी उत्पत्ति के क्षण मे ही अवश्य नष्ट हो जाते हैं, और वे जिस क्षण मे सत् रूप में आते है, उसके आगे स्थिर नहीं रह सकते, क्योंकि विनाश के कारणरहित होने के कारण यदि पदार्थ के जन्म के ही समय न हो तो उसके पीछे तो हो नही सकेगा क्योंकि पदार्थ जो है वही रहेगा।" (वही।) आप कहते हैं कि पदार्थ-पक्का है अधिक पुराना होता है, आदि-आदि। जो पुराना पडता है और जिसमें परिवर्तन आता है.

तत्त्व चार है, पाच नही—पृथ्वी जो कठोर है, जल जो शीतल है, अग्नि जो उष्ण है, एव वायु जो गतिमान है। पाचवे तत्त्व आकाश को वे नही मानते। बाह्य पदार्थ परम अणुओ के अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार एकत्रीकरण का परिणाम है। वैभाषिक एव सौत्रान्तिक दोनो ही आणविक सिद्धान्त को स्वीकार करते है। सब पदार्थ अन्त मे जाकर और विभक्त होकर अणुओ के रूप मे आ जाते है। वैभाषिको का मत है कि अणु के छ पार्श्व है और फिर भी अणु स्वय एक ही है क्योकि अणु के अन्तर्गत आकाश या देश अविभाज्य है। वे यह भी मानते है कि अणु पुजरूप मे ही देखे जा सकते है और उन्हे अलग-अलग नही देख सकते, ठीक जिस प्रकार से बालो को हम समूहरूप मे देख सकते है किन्तु एक बाल अलग देखने मे सूक्ष्म है।[1] वसुबन्धु के अनुसार, अणुरूप का अत्यन्त छोटा कण है।[2] इसे कही स्थापित नही किया जा सकता, न इसको पैर के नीचे दबाया जा सकता है एव इसे पकड़ना व आकृष्ट करना भी असम्भव है। यह न तो लम्बा है और न छोटा, न वर्गाकार है और न गोलाकार, न वक्र है और न सीधा, न ऊचा है और न नीचा ही। यह अविभाज्य, अविश्लेष्य, अदृश्य है, श्रवण का विषय नही है, अस्थायी एव अस्पर्शनीय है।[3] अणु एक-दूसरे के अन्दर प्रवेश नही कर सकते। वैभाषिक एव सौत्रान्तिक द्विगुणित अथवा त्रिगुणित अणुओ को स्वीकार नही करते, यद्यपि अणुओ का अनन्त एकत्रीकरण उन्हे अभिमत है। मिश्रित पदार्थ आदिम तत्त्वो से मिलकर बने है। शरीर, जो इन्द्रियगोचर होते हैं, अणुओ के ही एकत्रीकरण से बने है। भौतिक पदार्थ जो इन्द्रियो को बाधा प्रदान करते है, रूप की चतुर्विध आधारभूमि के सग्रह है अर्थात् वर्ण, गध, स्वाद एव स्पर्श के सग्रह। इस चतुर्विध गुण को रखनेवाली इकाई ही परमाणु है जिसका आगे विश्लेषण नही हो सकता। परमाणु भी जब परस्पर सयुक्त हो जाते है तो दृष्टिगोचर हो सकते है। दृष्टिगोचर हो सकने योग्य आणविक इकाई 'अणु' है जो परमाणुओ का एकत्रीकरण है। समस्त तत्त्वो के अन्दर पृथ्वी, वायु, अग्नि और जल के गुण रखनेवाले अणु एक समान हैं। यद्यपि भौतिक पदार्थो मे चारो भिन्न-भिन्न तत्त्वो के गुण विद्यमान है तो भी ऐसा होता है कि कुछ अवस्थाओ मे कुछ तत्त्व अपनी क्रियात्मक शक्ति का प्रदर्शन करते है जबकि अन्य तत्त्व गुप्त अवस्था मे रहते हैं। कठोर धातु मे पृथ्वीतत्त्व, बहती हुई नदी मे जलतत्त्व एव जाज्वल्यमान अग्निज्वाला मे अग्नितत्त्व की प्रधानता रहती है। सर्वास्तिवादी दो लोको मे परस्पर भेद करते हैं—अर्थात् भाजनलोक, वह विश्व जो वस्तुओ का आवासस्थान है, और

विप्रयुक्त अथवा अमानसिक सम्मिश्रण। बहत्तर सयुक्त धर्म एव तीन असंयुक्त धर्म इन सबके अन्दर ही समस्त पदार्थ आ गए। बौद्धधर्म में 'धर्म' शब्द का प्रयोग कई अर्थो में होता है। यथा कानून(विधान), नियम, विश्वास, धर्म, सासारिक घटनाए, पदार्थ, अवस्था. यहा पर इनका प्रयोग किसी भी विद्यमान पदार्थ के अर्थो में हुआ है। देखिए सोजेन—'सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थॉट।'

१. न्यायसूत्रों के मत में, अणु इन्द्रियातीत है, अर्थात् उसका प्रत्यक्ष इन्द्रियो द्वारा नहीं हो सकता। न्यायसूत्र, २ : १, ३६, ४ : २,१४।

२ परमाणु 'रूप' का सूक्ष्मतम आकार है। इसके अन्दर छिद्र नहीं हो सकता, न इसे उठाया और न फेंका जा सकता है।

३ अभिधर्मनदाविभाषा।

सत्वलोक जो जीवित प्राणियों का संसार है। पहला दूसरे लोक का सेवा के लिए है। चित्त विप्रयुक्त धर्म संयुक्त शक्तियाँ है जो प्रकृति एवं मन से भिन्न हैं जैसे कि प्राप्ति और अप्राप्ति। ये वास्तविक नहीं है, किन्तु केवल गुण हैं और वास्तविक सत्ता के रूप में आ जाती हैं जब वह अपने को किसी मानसिक अथवा एक भौतिक आधार से सम्बद्ध करती हैं।

असंयुक्त तत्व तीन है। आकाश जो सब प्रकार के भय से स्वतन्त्र एवं रतन्त्र है। यह एक नित्य सर्वव्यापक भावात्मक पदार्थ है।[1] यह सत्य है यद्यपि इसका रूप कुछ नहीं है और न यह भौतिक पदार्थ (वस्तु) ही है। अप्रतिसंख्यानिरोध धर्म का प्रत्यक्ष न होना है जो प्रत्यय अथवा अवस्थाओं का अनुपस्थिति के कारण होता है और जो ज्ञान के द्वारा उत्पन्न नहीं होता।[2] यह किसी एक विषय पर प्रगाढरूप से एकाग्रता है जिससे कि अन्य सब प्रकार के प्रभाव मौन के अन्दर लुप्त हो जाते हैं। प्रतिसंख्यानिरोध अतीन्द्रिय ज्ञान का निश्चित परिणाम (फल) है और यही सर्वास्तिवादियों का सर्वोच्च आदर्श है। इस शाखा का निर्वाण न तो ठीक वैसा ही है जो स्कन्धों द्वारा नियन्त्रित हो और न उससे भिन्न हो है। चूँकि वैभाषिक स्कन्धों के अणुओं की स्थायी सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसलिए निर्वाण स्कन्धों से सर्वथा स्वतन्त्र अवस्था नहीं हो सकती। शंकर की समीक्षा के अनुसार तीनों असंयुक्त अथवा असंस्कृत धर्म अवस्तु अर्थात् अवास्तविक है एवं केवल अभावमात्र हैं जिनका परिज्ञान केवल निषेधात्मक वर्णन के द्वारा ही हो सकता है तथा निरुपाख्य या रूपविहीन है।[3] यह सत्य है कि उनकी व्याख्या (परिभाषा) नहीं हो सकती किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अयथार्थ है।

ज्ञान के यथार्थ साधन जो हम उपलब्ध है इन्द्रियप्रत्यक्ष एवं सामान्य प्रत्यय है। हम यथार्थ ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है क्योंकि यह सब प्रकार की कल्पना से विरहित है। किन्तु यह हमें केवल अनिश्चित बोध ही देता है। सामान्य प्रत्यय अथवा परिज्ञान (अध्यवसाय) हमें ज्ञान नहीं प्राप्त कराता यद्यपि यह है निश्चित क्योंकि यह मानसिक अथवा कल्पनात्मक है। प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रमात्मक तो नहीं किन्तु अनिश्चित है। सामान्य प्रत्यय भ्रमात्मक हैं यद्यपि है निश्चित। प्रत्यक्ष का ऐसा विषय जो बिलकुल निर्णय में न आ सका हो उसकी सत्ता नहीं है। वस्तुत ज्ञान विषयक पदार्थों में प्रस्तुत एवं कल्पनात्मक पक्षों को पृथक् करना कठिन है। यहाँ पर वैभाषिकों के सिद्धान्त में असंगति प्रतीत होती है क्योंकि यदि प्रत्यक्ष इतना अनिश्चित है तो हम यह भी कैसे कह सकते हैं कि यह हमें पदार्थों का यथार्थता का ज्ञान देता है। यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष के द्वारा हम यथार्थता से टकरा जाएँ और यह अनुभव करें कि कोई न कोई यथार्थ वस्तु है। किन्तु उस पदार्थ का स्वरूप निर्णय करने के लिए जिसके सम्पर्क में हम आते हैं अनुमान की आवश्यकता है।

प्रत्यक्षकारक अथवा उपलब्धि करनेवाला विज्ञान है और चेतना (चित्त अथवा मन) का अधिष्ठान स्थायी है। स्मृति एक चित्तधर्म अथवा चित्त का एक गुण है। इन्द्रियों के विषय हैं रूप (वर्ण अथवा आकृति) स्वाद गन्ध स्पर्श और शब्द। इन पाँच इन्द्रिय विषयों के अनुकूल पाँच इन्द्रियाँ दी गई हैं। बाह्य विषयों को ग्रहण करने में पाँचों इन्द्रियों

1 यही ज्ञान याच का भी है।
2 [illegible]
3 वेदान्तसूत्रभाष्य २ २, २ – ४।

चित्त अथवा मन को सजग करती हैं एव विज्ञान अथवा चेतना को उत्तेजित करती है। ये इन्द्रिया जो पदार्थ को ग्रहण करती है, अपने स्वरूप मे भौतिक है। प्रत्येक के दो भाग है, मुख्य और सहायक। दर्शनेन्द्रिय के विषय मे देखने की नाडी मुख्य है एव आख का गोलक सहायक है। पाच ज्ञानेन्द्रियो और छठे मन के कारण, जो आभ्यन्तर इन्द्रिय है, ज्ञान के छः भेद कहे जाते है। छठी इन्द्रिय मन के द्वारा हमे केवल विशेष रगो का ही ज्ञान नही होता किन्तु यह भी ज्ञान होता है कि यह रग है, यह शब्द है इत्यादि। वसुबन्धु के अनुसार, चित्त एव मन, विज्ञान अथवा विभेदीकरण सब एक ही है।[1] विज्ञान अथवा चित्त से भिन्न आत्मा कोई पृथक् सत्ता नही है।

इस शाखा के मत से बुद्ध एक साधारण व्यक्ति थे जिन्होने अपने बुद्धत्व के द्वारा निर्वाण प्राप्त करने एव मृत्यु के द्वारा अन्तिम निर्वाण (महापरिनिर्वाण) प्राप्त करने के पश्चात् अपनी सत्ता को खो दिया। बुद्ध के अन्दर एकमात्र दैवी अश यह था कि उन्होने विना किसी अन्य की सहायता के आन्तरिक दृष्टि द्वारा ही सत्य का ज्ञान प्राप्त किया।

३

सौत्रान्तिक नय

हीनयान-सम्प्रदाय की दूसरी शाखा सौत्रान्तिक है।[2] सौत्रान्तिक लोग बाह्य जगत् की मानसिक सत्ता से पृथक् सत्ता मे विश्वास करते है। भेद केवल इतना है कि हमे उसका सीधा प्रत्यक्ष नही होता। हमे मानसिक अनुभव प्राप्त होते है जिनके द्वारा हम बाह्य जगत् के पदार्थो की सत्ता का अनुमान करते है। बाह्य पदार्थो की सत्ता अवश्य होनी चाहिए क्योकि साक्षात ज्ञान का विषय न होने से साक्षात् ज्ञान नही उत्पन्न हो सकता।[3]

माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसग्रह नामक ग्रन्थ मे उन सब तर्को का वर्णन किया है जिनके आधार पर सौत्रान्तिक बाह्य जगत् की सत्ता का अनुमान करते है "बोध के

१ मन को चित्त कहा जाता है, क्योंकि यह जाच अर्थात् पर्यवेक्षण करता है (चेतति), मन इसलिए है, क्योकि यह विचार या मनन करता है (मनयते) एवं विज्ञान इसलिए कहा जाता है कि यह परस्पर भेद करता है (विजानते)—अभिधर्मकोष, २।

२. सौत्रान्तिक परिभाषा की उत्पत्ति के विषय में माधवाचार्य कहते है कि "सौत्रान्तिक परिभाषा का उदय इस प्रकार से हुआ कि महाभाग बुद्ध ने उन कतिपय शिष्यों को जिन्होंने प्रश्न किया कि सूत्रो का अन्त (लक्ष्य) क्या है, उत्तर मे कहा कि सौत्रान्तिक हो जाओ।" (सर्वदर्शनसग्रह, पृष्ठ ३३०)। यह भी हो सकता है कि इस शाखा के अनुयायियो का नाम सौत्रान्तिक इसलिए भी पड़ा हो कि ये सुत्त-पिटक ही को सर्वमान्य ग्रन्थ मानते है जिसमें बुद्ध के सवाद है, एव अन्य दो पिटकों का निषेध करते है। सौत्रान्तिक लोग सूत्रों को ही अपना आधार मानते हैं। उनमें भी दो वर्ग है, एक वह है जो बुद्ध की वाणी के अतिरिक्त और किसी प्रमाण को मान्य नहीं ठहराता, दूसरा वह है जो अन्य प्रमाणों को भी स्वीकार करता है। कुमारलब्ध, जो नागार्जुन का समकालीन था, इस पद्धति का सस्थापक माना जाता है। धर्मोत्तर जो तार्किक था और यशोमित्र जो वसुबन्धु के अभिधर्मकोष नामक ग्रन्थ का टीकाकार था—ये दोनों इसी शाखा के अनुयायी है।

लिए अन्तिम रूप में किसी न किसी पदार्थ का होना आवश्यक है क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति द्वैत के रूप में होती है। यदि वह पदार्थ जिसकी सिद्धि बोध के द्वारा हुई है केवलमात्र बोध ही की एक आकृति होती तो उसकी अभिव्यक्ति भी उसी रूप में होती बाह्य पदार्थ के रूप में न होती। आधुनिक तर्कशास्त्र सम्भवतः इस मत को पदार्थनिष्ठता एवं बहिर्भाव के मध्य सम्भ्रम समझे। यदि यह कहा जाए कि आन्तरिक तत्त्व अपने-आपको इस प्रकार से अभिव्यक्त करता है मानो यह कोई बाह्य पदार्थ हो तो सौत्रान्तिक उत्तर देते हैं कि यह मत ठहर नहीं सकता क्योंकि यदि बाह्य पदार्थों की सत्ता न होती तो इस प्रकार के मूलरूप न होने के कारण इस प्रकार की तुलना कि मानो वे बाह्य हैं अयुक्तिपूर्ण है। कोई भी व्यक्ति जो अपने होश में हो ऐसा कथन कभी न करेगा कि वसुमित्र निःसन्तान मां के पुत्र की तरह दिखाई देता है।[1] हम विशेष गुणों के द्वारा पदार्थ की सत्ता का अनुमान करते हैं जैसे कि किसी व्यक्ति के चलते हुए शरीर को देखकर हम अनुमान करते हैं कि उसे पौष्टिक भोजन मिलता होगा, तथा भाषा के द्वारा वक्ता की राष्ट्रीयता का अनुमान कर लेते हैं और मुखाकृति से मनोभाव का अनुमान लगा लेते हैं।[2] इसके अतिरिक्त चेतना स्वयं अपने में सदा एकसमान है और यदि चेतना ही सब कुछ होती तो सारा संसार एक होना चाहिए था। किन्तु कभी नीला है तो कभी लाल है। यह भेद स्वयं पदार्थों के अपने अन्तर्गत भेद के कारण ही है। चेतनागत आकारों की विविधता यह संकेत करती है कि बाह्य पदार्थों की सत्ता है। इसके अतिरिक्त वे वस्तुएं जो किसी वस्तु विशेष के रहते हुए कभी-कभी अपने को अभिव्यक्त करती हैं उस वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी पर अवश्य निर्भर करती हैं। चेतना कभी-कभी अपने को जैसे नीले रंग आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है आगे चलकर वह पदार्थ का ज्ञान या आलय विज्ञान है जिसका सम्बन्ध अहं से है। और वह पदार्थ का ज्ञान है अर्थात् प्रवृत्ति विज्ञान जो नीले आदि के रूप में अभिव्यक्त होता है। और अन्त में यह बाह्य जगत् हमारी इच्छा के अनुसार तो सत्ता में प्रकट नहीं होता। इन्द्रियानुभवों के अनवच्छिन्न स्वरूप की व्याख्या के लिए हमें एक जगत् की यथार्थता को स्वीकार करना आवश्यक है जो शब्द स्पर्श रंग स्वाद गन्ध सुख एवं दुःख आदि को उत्पन्न करने में सक्षम हो। इस प्रकार से संसार चेतना के लिए बाह्य है। हमारा विश्वास इसकी सत्ता के विषय में अनुमान के ऊपर आधारित है। हम पूछ सकते हैं कि क्या इसकी सत्ता इस प्रकार निरपेक्षरूप से स्वतः प्रकट है और प्रदर्शित की जा सकती है कि उसमें सन्देह का तनिक भी स्थान न रह जाए? जिस प्रकार डकार्ट आपत्ति करता है क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कोई दुष्ट प्रतात्मा हमारे साथ खिलवाड़ कर रही हो और उसमें ऐसे पदार्थों के विचार जागरित कराती हो जिनकी यथार्थता कुछ न हो? यद्यपि आरम्भ में ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हम योगाचार के मत में आ गए जिसके अनुसार चेतनागत तात्कालिक पदार्थ जिनके विषय में हम कुछ निश्चय कर सकते हैं हमारे विचार ही हैं अन्य कुछ नहीं। कोई भी मिथ्याचारी प्रेतात्मा उनके विषय में हमें धोखा नहीं दे सकती। जहां एक बार विचार एवं गत की एकता में विच्छेद हो गया

1. पृष्ठ २७। 　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　२. पृष्ठ २८।

और जैसे ही हम आत्मचेतना को ससार की तात्कालिक चेतना से पृथक् करते हैं तो ये दोनो ही अपना जीवन खो बैठती है। माध्यमिकों का सिद्धान्त सगतिपूर्वक आत्म एव अनात्म दोनो ही का निराकरण कर देता है और हमे एक निरपेक्ष एकता की ओर ले जाना है जोकि आत्म एव अनात्म के भेद से परे है।

यह मानते हुए भी कि बिना बाह्य पदार्थों की सत्ता के पदार्थों का इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष नही हो सकता, सौत्रान्तिकों का कहना है कि ये बाह्य पदार्थ क्षणभगुर हैं। सब वस्तुए क्षणभगुर है।[1] यदि वे पदार्थ जो चेतना की आकृतियो का निर्णय करते हैं, केवल क्षणिक ही है तो हमे स्थायी पदार्थों का भ्रम कहा से और कैसे होता है? "पदार्थ की आकृतिया एक के बाद दूसरी हमारे बोध मे प्रवेश करती हैं, युगपदता की भ्राति उस प्रक्रिया की शीघ्रता के कारण होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि एक बाण एक फूल की आठो पखडियो के अन्दर से एक ही समय मे गुजर जाता है, अथवा जलती हुई मशाल घुमाने पर चक्कर-सा बाध देती है।" सौत्रान्तिक लोग परिकल्पित द्वैतवादी हैं, अथवा हैमिल्टन की परिभाषा मे, सर्वेश्वरवादपरक आदर्शवादी एक स्वतन्त्र जगत् के तात्कालिक ज्ञान का निषेध करते है किन्तु स्वतन्त्र जगत् की यथार्थता को स्वीकार करते है जिससे हमारे प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञान एव प्रतिकृतियो की व्याख्या सम्भव हो सके। चेतना के द्वारा प्रस्तुत होने से पदार्थों का बोध होता है। इसमे सन्देह नही कि जहा तक मनोवैज्ञानिक तथ्य का सम्बन्ध है, वैभाषिक उत्कृष्टतर भूमि पर हैं। जब हम देखते है तो सौत्रान्तिक का कहना है कि हमारे आगे एक विचार प्रस्तुत होता है। एक सीधा-सादा व्यक्ति, जिसका मन मनोवैज्ञानिक अध्ययन से दूषित नही हुआ है, वैभाषिक के कथन की पुष्टि करते हुए कहता है कि वह वृक्ष को देखता है, न कि किसी विचार को जिससे वृक्ष का अनुमान किया जाए। एक अनुभव करनेवाले सरल व्यक्ति के मन मे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के निष्कर्षो को घुसाना मनोवैज्ञानिक का हेत्वाभासरूप कर्म है। एक व्यक्ति वृक्ष को देखता है और वह वृक्ष वह स्वय नही है। यह कहना कि उसे एक विचार का बोध होता है जिसका सम्बन्ध वह आगे चलकर बाह्य पदार्थ के साथ जोडता है, यह सीधे-सादे तथ्यो को मोडना-तोडना है। आधुनिक मनोविज्ञान वैभाषिको के इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि प्रत्यक्षज्ञान चेतना का ही एक ऐसा कर्म है जो विद्यमान अमानसिक भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध रखता है।

धर्मोत्तर अपनी 'न्यायबिन्दु टीका' मे, जो धर्मकीर्ति के 'न्यायबिन्दु' पर की गई टीका है, सम्यक् ज्ञान को मनुष्य की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति का एकमात्र साधन मानता है। जबकि निष्कर्ष की यथार्थता पदार्थो की अनुकूलता मे है, यथार्थता की कसौटी सफल चेष्टा मे है। समस्त ज्ञान प्रयोजन को लेकर है। यह एक विचार को लेकर चलता है और उस इच्छा की पूर्ति मे, जिसे इससे प्रेरणा मिली है, जाकर अन्त होता है। चूकि प्रत्यक्ष ज्ञान एव अनुमान दोनो ही हमे अपनी इच्छा की सिद्धि मे सहायता करते हैं, वे दोनो ही ज्ञान के निर्दोष प्रकार है। केवल प्रत्यक्ष ज्ञान मे ही इन्द्रिय के साथ सीधा सन्निकर्ष होता है, जबकि

१ सर्वसिद्धान्तसारसग्रह, ३ २, १६।

अनुमान में यह सम्बन्ध लिंग अथवा हेतु के माध्यम के द्वारा होता है। स्वप्न एवं भ्रान्तियाँ दूषित (अशुद्ध) ज्ञान के दृष्टान्त हैं।

बाह्य जगत् की यथार्थता को स्वीकार करते हुए सौत्रान्तिक ज्ञान की प्रक्रिया की व्याख्या करना प्रारम्भ करता है। चार अवस्थाओं के आधार पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है और वे इस प्रकार हैं (१) सामग्री अथवा आलम्बन (२) सुभाव अथवा समनान्तर (३) माध्यम अथवा सहकारी और (४) प्रमुख इन्द्रिय अथवा अधिपतिरूप। ज्ञातरंग की सामग्री से नीलवर्ण आकृति का बोध उत्पन्न होता है और इस अभिव्यक्ति को ज्ञान अथवा बोध कहा जाता है। सुभाव से पुराने ज्ञान की पुनरावृत्ति होती है। इस या उस पदार्थ के ज्ञान के मार्ग में बाधा प्रकाशरूपी माध्यम के द्वारा उत्पन्न होती है जो एक अवस्था है और दूसरा प्रमुख इन्द्रिय है।[1] धर्मकीर्ति अपने न्यायबिन्दु नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्ष ज्ञान की परिभाषा करता है कि यह केवल पदार्थ के द्वारा ही निर्णीत अनुभव है जो सब प्रकार की मानसिक कल्पनाओं से सर्वथा स्वतन्त्र है। स्पष्ट है कि यह निर्विकल्प ज्ञान है क्योंकि सविकल्प ज्ञान में मन की भावनापरक क्रियाशीलता भी सम्मिलित रहती है। धर्मकीर्ति की सम्मति में नाम एवं सम्बन्ध मन के ही द्वारा प्रस्थापित किए जाते हैं जबकि इन्द्रियाँ यदि वे स्वयं किन्हीं ऐन्द्रिय अथवा विजातीय कारणों से विपरीत क्रिया न करने लगें तो पदार्थों का यथार्थरूप में निरूपण करती हैं। यह विशुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान सब प्रकार की भावरूपक क्रियाशीलता के अवरोधों से स्वतन्त्र हमें पदार्थ के अपने स्वरूप (स्वलक्षण) की उपलब्धि कराता है। निस्सन्देह हम अपने वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञानों में जो किसी भी प्रकार विशुद्ध नहीं हो सकते यह निर्णय करना कठिन है कि उनमें पदार्थ एवं मन की पृथक् पृथक् देन का कितना अंश सम्मिलित है।

सौत्रान्तिकों ने बहुत थोड़े भेद के साथ वैभाषिकों की आणविक कल्पना को स्वीकार किया है। क्योंकि सौत्रान्तिकों की दृष्टि में आकाश का वही स्थान है जो परमाणु का है क्योंकि दोनों ही भावमात्र हैं इससे अधिक कुछ नहीं।[2]

वैभाषिकों एवं माध्यमिकों के विरोध में सौत्रान्तिक लोगों का मत है कि विचार स्वयं अपने को सोच सकता है और यह कि हम स्वयं चेतना भी हो सकते हैं।[3] यद्यपि उंगली का अगला सिरा स्वयं अपने को नहीं छू सकता किन्तु एक दीपक स्वयं भी जलता है एवं दूसरे को भी जलाता है। यह कल्पना यथार्थवाद के सर्वथा अनुकूल है।

सौत्रान्तिक यशोमित्र जो वसुबन्धु के अभिधर्मकोष का टीकाकार भी है ईश्वर की यथार्थता के प्रतिपादन के सम्बन्ध में इस प्रकार का तर्क करता है प्राणियों की सृष्टि न तो ईश्वर से होती है न पुरुष (आत्मा) के द्वारा और न ही प्रधान (प्रकृति) के द्वारा होती है। यदि ईश्वर एकमात्र कारण होता चाहे ईश्वर भले ही महादेव अथवा वासुदेव या अन्य ही कोई क्यों न हो अर्थात् चाहे आत्मा या प्रकृति ही क्यों न हो तो इस साधारण सत्य के अनुसार आदिम कारण की विद्यमानता से समस्त जगत् को एकसाथ और एक ही समय में कार्यरूप में आ जाना चाहिए था। क्योंकि यह नहीं माना जा सकता कि कारण के रहने पर

१ सर्वदर्शनसंग्रह पृष्ठ ।
२ स्वसंवित्ति।
सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह ३ -२।
४ बोधिचर्यावतार ९ -

कार्य न हो। किन्तु हम देखते हैं कि सब प्राणी एकसाथ ससार में नहीं आते बल्कि क्रमश आते हैं, कई एक गर्भ में रहकर आते हैं तो दूसरे कलियों के रूप में आते हैं। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुचने को बाध्य होते हैं कि कारणो की शृखला है एव ईश्वर ही एकमात्र कारण नही है। किन्तु यह आपत्ति की जाती है कि कारणो की विभिन्नता देवता की इच्छा-शक्ति के कारण है अर्थात् वह नियमन करता है कि "अब अमुक-अमुक प्राणी उत्पन्न हो और अब अन्य प्राणी इस-इस प्रकार से जन्म लें, आदि।" प्राणियो के प्रादुर्भाव की व्याख्या इसी प्रकार से की जा सकती है और यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर ही उन सबका कारण है। इसके उत्तर मे हमारा कहना यह है कि ईश्वर मे भिन्न-भिन्न इच्छाशक्ति के कार्यों के स्वीकार करने का तात्पर्य हुआ कारणो की अनेकता को स्वीकार करना, और इस प्रकार की स्वीकृति से प्रथम कल्पना का ही स्वय व्याघात हो जाता है कि एक आदिम कारण है। इसके अतिरिक्त यह कारणो का बाहुल्य भी उत्पन्न हुआ नही माना जा सकता जब तक कि इसे एक ही समय मे उत्पन्न हुआ न माना जाए, क्योंकि वह ईश्वर जो इच्छा-शक्ति के उन भिन्न-भिन्न कर्मों का उद्गमस्थान है जिनसे नानाविध कारण उत्पन्न हुए, स्वय एक है और अखण्ड है। शाक्य के पुत्रो का मत है कि ससार के विकास का कोई भी प्रारम्भ नही है, अर्थात् यह अनादि है।[1]

४

योगाचार नय

आर्यासङ्ग अथवा असङ्ग एव उसके छोटे भाई वसुबन्धु ने जो, दिङ्नाग का गुरु था, मिलकर विज्ञानवाद, या योगाचार के आदर्शवादपरक मत की स्थापना की।[2]

१. नरीमैन के 'लिटरेरी हिस्ट्री आफ सस्कृत बुद्धिज्म' के पृष्ठ २८४–८५ पर उद्धृत।

२. प्रारम्भ में सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का एक अनुयायी असग-योगाचार के सिद्धान्त का प्रधान व्याख्याकार हुआ। वह अपने सिद्धान्त की व्याख्या स्वरचित योगाचार भूमिशास्त्र, महायान सूत्रालकार नामक ग्रन्थ में करता है। इस ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न छन्दों में स्मारक श्लोक एव उनके ऊपर ग्रन्थकार की ही अपनी टीका है। कहा जाता है कि वसुबन्धु चौथी शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ। ताकाकुसू एव जेकोबी उसे पाचवी शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ बतलाते हैं। एक अन्य सम्मति के अनुसार, वह ईसा के लगभग ३०० वर्ष पश्चात् हुआ। वसुबन्धु का शिष्य गुणप्रभ कन्नौज के राजा श्री हर्ष का गुरु था और युआन च्वाग नामक चीनी यात्री का मित्र था। यह तथ्य जेकोबी की सम्मति के अनुकूल पड़ता है अर्थात् वसुबन्धु पाचवी शताब्दी के द्वितीयार्ध में हुआ। वसुबन्धु अपनी प्रगाढ विद्वत्ता एव विचार की प्रतिकूलता के लिए प्रसिद्ध है। हीनयान-सम्प्रदाय के ग्रन्थ 'अभिधर्मकोष' का रचयिता यही वसुबन्धु है। अपने जीवन के पिछले भाग में उसके भाई असग ने उसे महायान-सिद्धान्त का अनुयायी बना लिया और उसने महायान के सम्बन्ध मे अनेक टीकाएं लिखीं। अश्वघोष भी योगाचार शाखा का ही एक अनुयायी है। उसका मुख्य ग्रन्थ है महायानश्रद्धोत्पाद, अर्थात् महायान के प्रति श्रद्धा की जागृति, जिसका अनुवाद सुजूकी ने अपनी 'ओपन कोर्ट' ग्रन्थमाला में किया है। किन्तु अश्वघोष के इस ग्रन्थ के रचयिता होने में सन्देह भी हो सकता है। वह पूर्वीय भारत का एक ब्राह्मण था जोकि ईसा के पश्चात् की पहली शताब्दी में विद्यमान था। कहा जाता है कि वह प्रसिद्ध कुषाण-सम्राट् कनिष्क का धार्मिक गुरु था। (कनिष्क के काल के विषय में कई मत हैं। कुछ विद्वान् यथा बीयर, ओल्डनबर्ग एव हरप्रसाद शास्त्री

इस शाखा का योगाचार का नाम इसलिए दिया गया है कि यह घोषणा करती है कि परम (निरपेक्ष) सत्य अथवा बोधि जो बुद्धों के अन्दर प्रकट होती है केवल योगक्रिया द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है अन्यथा नहीं। योगाचारमत दर्शनशास्त्र के क्रियात्मक पक्ष का निरूपण करता है जबकि विज्ञानवाद इसके कल्पनात्मक विशेषत्व का निरूपण करता है। आलोचनात्मक विश्लेषण के सिद्धान्त का प्रयोग केवल ज्ञेयविनिगत जड़ एवं भौतिक पदार्थों तक ही सीमित नहीं है किन्तु धर्मों अर्थात् वस्तुओं के घटक अवयवों पर भी लागू होता है और इस प्रकार एक ऐसे आत्मवाद का विकास होता है जो समस्त यथार्थता को केवल विचार सम्बन्धों के रूप में ही परिणत कर देता है।

सौत्रान्तिकों द्वारा अभिमत प्रत्यक्ष ज्ञान सम्बन्धी प्रतिनिधि सिद्धान्त स्वभावतः हमें योगाचार के विषयी विज्ञानवाद (अथवा ज्ञान सापेक्षतावाद) की ओर ले जाता है। हमारी ज्ञान विषयक सामग्री एक प्रकार का अव्यवस्थित मिश्रण है जो हमें बाहर से प्राप्त होता है और उन वस्तुओं से मिलता है जो विद्यमान हैं। वे वस्तुएं क्या हैं इसका हमें ज्ञान नहीं। यदि हमारे प्रमेय पदार्थ केवलमात्र हमारे मानसिक विचार ही हैं जिनका स्वरूप प्रतिनिधि रूपक है क्योंकि उनका उल्लेख उन पदार्थों से है जो उनसे भी परे हैं और जिन्हें उन वस्तुओं की प्रतिकृति अथवा कार्य समझा जाता है जो विचार करनेवाले प्रमाता (विषयी) से भिन्न है तो उनके स्वरूप का पूर्णरूप से जानना कठिन है। कहा जाता है कि वे अपने से परे किसी के प्रतीक हैं। यदि हम अनुल्लिखित विचारों का तर्क आगे बढ़ाएं तो पीछे से उनका सम्बन्ध पदार्थों के साथ यथार्थ नहीं भी हो सकता। बाह्य जगत् की सत्ता एक मिथ्या धारणा है। और यदि है भी तो कभी जाना नहीं जा सकता। हम परदे के पीछे झांककर कभी न जान सकेंगे कि विचारों का कारण क्या है। हमारी इन्द्रियां गवाही नहीं देतीं किन्तु फिर भी हमारे पास कुछ विचार अवश्य हैं और यदि हम साक्ष्य के आधार पर ऐसे निष्कर्ष निकालेंगे जिन्हें तर्कवाक्य का समर्थन प्राप्त न हो तो हम अपने को धोखा

से ईसा के पश्चात् की पहली शताब्दी में रखते हैं। स्व० आर० जी० भण्डारकर की सम्मति है कि कनिष्क ईसा के पश्चात् की तीसरी शताब्दी में हुआ। (जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी बम्बई शाखा, खण्ड ...)। अश्वघोष ही बुद्धचरित का भी रचयिता है। लंकावतारसूत्र में बुद्ध के लंका में जाकर रावण से मिलने का वर्णन है जिसने कितने ही प्रश्नों का उत्तर योगाचार सिद्धान्त के अनुसार दिया। इस शाखा का यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है यद्यपि माध्यमिक शाखा के सिद्धान्तों का भी इसमें अभाव नहीं है। अभिसमयालंकारालोक एवं बोधिसत्त्वभूमि उक्त शाखा के अन्य ग्रन्थ हैं। इस धार्मिक सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विचारकों में नाम दिङ्नाग, धर्मपाल और शीलभद्र का नाम लिया जा सकता है। इनमें से अन्तिम अर्थात् शीलभद्र नालन्दा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था जिससे चीनी यात्री युवान च्वांग ने बौद्धदर्शन का ज्ञान प्राप्त किया था। दिङ्नाग जो न्यायबिन्दु, सुमतिसंग्रह एवं प्रमाणसमुच्चय का रचयिता है, दक्षिण भारत का एक दार्शनिक एवं असंग अथवा वसुबन्धु का शिष्य था। कुछ एक विद्वान् दिङ्नाग को गुणप्रभ का समकालीन और ईसा के पश्चात् ५२० से ६०० तक की अवधि में विद्यमान मानते हैं। यह असम्भव नहीं है कि कालिदास ने अपने मेघदूत में दिङ्नाग का उल्लेख किया हो और वह यदि यही दिङ्नाग है तो वह कालिदास के समय में रहा होगा। कालिदास का श्लोक ये हैं ... दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्। मल्लिनाथ का कहना है कि दिङ्नाग कालिदास का विरोधी था। देखिए उनका ग्रन्थ इन्डियन लॉजिक एण्ड एटॉमिज्म, पृष्ठ ३३।

देते है।"[1] जब सौत्रान्तिक यह मत प्रकट करता है कि हमारे पास विचार हैं और उनके द्वारा हम वस्तुओ की सत्ता का अनुमान करते है तब यह स्पष्ट है कि यदि बाह्य पदार्थ हे भी तो हम उन्हे नही जान सकते और यदि वे नही है तो भी हम इतना तो सोच सकते हे कि मानो वे है।[2] यदि विचारो का कारण होना आवश्यक है तो वह कारण आवश्यक नही कि बाह्य जगत् ही हो। ऐसे विचारो के सम्बन्ध मे भी जो स्वेच्छापूर्वक उत्पन्न नही किए जा सकते, हम जो कुछ कह सकते है वह यही है कि कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। सौत्रान्तिक ज्ञान-विषयक अपने प्रतिनिधि सिद्धान्त के परिणामो का सामना नही कर सकता, क्योकि वह शुरू ही करता है दो पदार्थो की धारणा से।

योगाचार का कार्य बर्कले के समान सौत्रान्तिक की अज्ञात परम प्रकृति के निराधार एव परस्पर-विरोधी स्वरूप की निस्सारता दिखाना है, एव हमे इस विषय के लिए प्रेरणा प्रदान करना है कि हम बाह्य सत्ता-विषयक सब प्रकार के विचारो को त्याग दे। भौतिक तत्त्व को समस्त विचारो का कारण मानने का हमे कोई अधिकार नही है। प्रकृति स्वय एक विचार है और इससे अधिक कुछ नही। वस्तुए सवेदनाओ का समुदाय हैं। ज्ञान के विषय (प्रमेय) या तो वे विचार है जिनकी वास्तविक छाप इन्द्रिय के ऊपर पडती है या वे है जिनका अनुभव वासनाओ पर ध्यान देने किवा मन के व्यापार द्वारा होता है। चेतना से स्वतन्त्र बाह्य पदार्थ बुद्धिग्राह्य नही है। योगाचार लोग प्रश्न करते है कि "क्या बाह्य पदार्थ, जिसका हमे बोध होता है, किसी सत्ता से उत्पन्न होता है ? यह किसी सत्ता मे उत्पन्न नही होता, क्योकि जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह स्थायी नही होता, और यह भी नही कि यह किसी सत्ता से उत्पन्न न होता हो क्योकि जो सद्रूप मे नही आया उसकी सत्ता नही।"[3] फिर, "क्या बाह्य पदार्थ एक सरल या अमिश्रित अणु है अथवा एक सयुक्त पदार्थ ? यह सयुक्त पदार्थ नही हो सकता क्योकि हम नही जानते कि जिसका हमे बोध होता है वह एक अशमात्र है अथवा अपने मे पूर्ण इकाई है। यह एक अणु नही हो सकता क्योकि यह इन्द्रियो से परे है।" हमे अणुओ का बोध नही हो सकता और एकत्रीभूत अणुओ के विषय मे हम यह नही कह सकते कि वे एकत्रीभत पुज अणुओ से भिन्न है या नही। यदि वे अणुओ से भिन्न है तो उन्हे अणुओ से निर्मित हुआ नही समझ सकते। यदि वे अणुओ से भिन्न न होकर अणुओ के ही समान है तो वे ठोस (मूर्तरूप) पदार्थो के मानसिक अनुभवो के कारण नही हो सकते। इसके अतिरिक्त यदि पदार्थ क्षणिक है तब वे केवल क्षणमात्र के लिए रहते है और ज्ञान जो कार्यरूप हे, तभी उत्पन्न हो सकता है जबकि कारण का विलोप हो जाएगा। इस प्रकार यह कभी उत्पन्न ही न हो सकेगा। बोध के क्षण मे पदार्थ नष्ट हो चुका होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए हमारे पास पदार्थ नही भी हो सकता। यदि प्रमेय पदार्थो की सत्ता हो भी तो भी वे विचारो के द्वारा ही ज्ञान के विषय बनते हैं, और जो पदार्थो की आकृति धारण कर लेते है। चूकि आवश्यकता हमे विचारो की ही है इसलिए बाह्य पदार्थो की धारणा करने की कोई आवश्यकता नही। चूकि हमे विचारो और

१ डाइ—'वर्क्स', पृष्ठ २८६।
२ बर्कले—'प्रिन्सिपल्स आफ ह्यूमन नॉलेज', विभाग ७।
३ सर्वदर्शन-सग्रह, पृष्ठ २१।

सकता। हमारा ज्ञान भले ही प्राकृतिक सत्यो का लेखा न हो किन्तु इसकी सत्ता का कोई निषेध नही कर सकता। ज्ञान का अस्तित्व है। इसकी उपस्थिति गुप्त है। प्राचीन बौद्ध-दर्शन इस सिद्धान्त का समर्थन करता है जिसके अनुसार जो कुछ भी होता है, विचार ही का परिणाम है एव विचार ही से बना है। "हम जो कुछ भी है, अपने विचारो के परिणाम-स्वरूप है, इस सबका आधार हमारे विचार है और विचारो से ही सब कुछ बना है। मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् भी जो मनोदेह-विषयक आंगिक सघटन (साइको-फिजिकल ऑरगैनिज्म) विद्यमान रह जाता है, कहा जाता है कि चेतना की पुनरुत्पत्ति द्वारा ही उसका निर्माण मातृगर्भ मे होता है। चूकि योगाचारी बाह्य पदार्थो पर चेतना की निर्भरता स्वीकार नही करते और कहते है कि यह स्वत विद्यमान है, उनके मत को निरालम्बनवाद की सज्ञा दी गई है। धर्मो का पारस्परिक भेद भौतिक एव मानसिक रूप मे भी स्वत ही लुप्त हो जाता है, क्योकि सभी धर्म मानसिक अस्तित्व रखते है।

जब माध्यमिक तर्क करता है कि विज्ञान भी अयथार्थ है, क्योकि बिना पदार्थ के हमे वह चेतना नही हो सकती जिसका ज्ञान हमे हो, तो उत्तर मे योगाचारी कहता है "यदि सब शून्य (अभावात्मक) है, तब अभाव ही सत्य का मापदण्ड (मूलतत्त्व) हो जाता है और फिर माध्यमिक को अन्यो के साथ विभिन्न दिशा मे विचार-सम्बन्धी वाद-विवाद करने का कोई अधिकार नही रह जाता। ऐसा व्यक्ति जो अभाव को ही यथार्थ मानता हो, न तो अपनी ही स्थापना को सिद्ध कर सकता है और न अपने प्रतिपक्षी की स्थापना को काट सकता है।"[1] जब माध्यमिक सब वस्तुओ को शून्य ही समझता है, तब विशिष्ट गुणो की अनुपस्थिति भी कुछ वस्तुओ का सकेत कर देती है। इसे बोधिसत्त्वभूमि नामक ग्रन्थ मे इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है 'शून्य' की प्रस्थापना को युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए हमे पहले उस पदार्थ की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए जिसका अभाव बतलाया जाए और तब उसके अभाव के बारे मे कहा जा सकता है कि जिसकी अनुपस्थिति के कारण ही यहा शून्यता प्रकट हुई है, किन्तु यदि दोनो मे से एक भी नही है तो फिर शून्यता कैसे हो सकती है? रस्सी मे साप के भाव का हम अनुचित रूप मे आरोप करते है, रस्सी तो विद्यमान है, साप नही है। इसलिए रस्सी साप से रहित (शून्य) है। इसी प्रकार से वह गुण एव विशेषताए यथा आकृति इत्यादि जो साधारणत वस्तुओ के विषय मे वर्णन किए जाते है, नही भी विद्यमान रह सकते। यद्यपि वर्णन करने योग्य गुण न भी विद्यमान हो, अधिष्ठान अवश्य विद्यमान रहता है। ज्ञान एव ज्ञेय का परस्पर भेद किसी सत् वस्तु पर आधारित है। स्वप्न की उपमा का प्रयोग इस स्थिति के दृष्टान्त को समझाने के लिए किया जाता है। कहा जाता है कि स्वप्न मे जो वस्तुए दिखाई देती है, वे दृश्य वस्तुओ से स्वतन्त्र (असम्बद्ध) है। स्वप्न मे हमे जो हाथी दिखाई देते है वे विद्यमान नही होते। वे मन की उपज है, जिन्हे भूल से उद्देश्य अथवा लक्ष्यबिन्दु बना दिया गया है। हाथी की आकृति का ग्रहण विचार ने कर लिया—उस वासना (अनुभव) के प्रभाव से जो चाक्षुष ज्ञान ने छोडा है। यह ज्ञान भी कि हम एक हाथी का स्पर्श करते हैं, विचार की ही एक

१. सर्वसिद्धान्तसारसग्रह, ३ ३-४।

धारणा है। चूंकि वस्तुतः सब कुछ ज्ञान है, ज्ञाता भी वस्तुतः नहीं है। विचार से बाहर प्रकृति अथवा रूप कोई वस्तु नहीं है तो भी इन सब कल्पनात्मक वस्तुओं का कुछ न कुछ अधिष्ठान अवश्य मानना चाहिए और यह अधिष्ठान योगाचार के अनुसार विज्ञान है।

योगाचारी स्वरूप से आत्मवादी हैं। उनके मत में जो कुछ है वह एक समान रूप विज्ञान है जो अपूर्ण भावरूप से हटकर एक दाग (मूलरूप) यथार्थसत्ता है। विचार करनेवाला प्राणी इसकी सत्ता एवं विषयी के अस्तित्व से पदार्थों को जानकर भी अभिन्न होता है। सत्य घटनाओं की समस्त पद्धति व्यक्तिगत चेतना के अन्दर विद्यमान रहती है। आलय विषयी एवं विषय सम्बन्धी अपने आन्तरिक द्वैत के साथ स्वयं में एक लघु संसार बन जाता है। और यह अपने ही परिच्छिन्नता की परिधि के अन्दर सीमित रहता है। यथार्थ जगत् अपने स्वातन्त्र्य को खो बैठता है और केवल विज्ञान अथवा विचार-सम्बन्धों का ही एक संघातमात्र रह जाता है। आलय जो चेतना का निरन्तर परिवर्तित होता हुआ प्रवाह है, आत्मा के विपरीत है जोकि निर्विकार है, यद्यपि योगाचारी आलय के महान् महत्त्व के विषय में स्वयं भी कोई स्पष्ट विचार प्रस्तुत नहीं करते। कहीं-कहीं आलय को वास्तविक आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है जो सदा विकसित होता और बढ़ता रहता है।[1] यह अनुभवों को ग्रहण करता है और अपने अन्दर कर्म अथवा अनुभव द्वारा निर्मित बीजांकुरों का विकास करता है और इस प्रकार निरन्तर क्रियाशील है। यह वर्तमान सामान्य आत्मा ही नहीं है किन्तु चेतना का एक वृन्द आगार है जिसकी खोज योगी पुरुष समाधि में लीन होकर करते हैं। ध्यान एवं आत्मनिरीक्षण की ऐसी ही अन्यान्य प्रक्रियाओं के द्वारा हमें अनुभव होता है कि हमारी जागरित अवस्था अथवा सामान्य चेतना विस्तृततर पूर्णता का केवल एक अंशमात्र है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर इस महान् विस्तृत चेतना को धारण किए हुए है जो एक ऐसा महान् जलाशय है जिसमें निहित सामग्री के विषय में स्वयंचेतन आत्मा भी पूर्णरूप से अभिज्ञ नहीं है।[2] हमारी वैयक्तिक चेतना को भी हमारी सम्पूर्ण चेतनावस्थाओं अर्थात् आलय विज्ञान का केवलमात्र बहुत छोटे अंश का ही ज्ञान होता है। ऐसे संकेत पाए जाते हैं कि आलय विज्ञान का प्रयोग विश्वात्मा के अर्थों में होता था। इसे अनादि एवं स्थिति तथा विनाश से रहित अर्थात् उत्पादस्थितिभंगवर्जित कहा गया है।[3] यह मनोभावों एवं विचारों के अनन्त प्रकारों की स्थायी पृष्ठभूमि है जो सब सत्त्वों के लिए एक समान है। यह एकमात्र सत् है। वैयक्तिक एवं बौद्धिक उपज केवलमात्र प्रतीति एवं आलय के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। संसार के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो मिथ्या धारणा है उसका एकमात्र आधार भी यही है। विश्व की सब वस्तुएं इसके अन्दर हैं। विशेष घटनाएं आलय की ही अभिव्यक्तियां हैं जिनका निर्माण अवस्थाओं की संख्या एवं स्वरूप के अनुसार होता है। हम अपने अज्ञान के कारण इस चेतना को अनन्त

१. तुलना कीजिए, बर्गसां के नवीन आत्मशास्त्र की विचार के ऊपर अपने प्रयत्न एवं यथार्थता के एतिहासिक स्वरूप के साथ।

२. योगाचारियों ने उपचेतना के सिद्धान्त को स्वीकार किया है जिसके बारे में विलियम जेम्स ने कहा है कि आधुनिक काल में मनोविज्ञान ने यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पग उठाया है।

३. लंकावतारसूत्र।

अवयवो (तत्त्वो) मे विभक्त कर देते है । जहा तक चेतना के स्वरूप का सम्बन्ध है, यह वस्तुत अविभाज्य है किन्तु उन व्यक्तियो के लिए जिनका दृष्टिकोण स्पष्ट नही है, ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रत्यक्षीकृत पदार्थ, प्रत्यक्ष करनेवाले प्रमाता (ज्ञाता) एव प्रत्यक्ष ज्ञान मे विभक्त है ।[1] आगे चलकर कहा है कि "वस्तुत एक ही वस्तु सत् है और वह चेतना के विवेक रूपी तत्त्व के स्वरूप की है और इसका यह एकत्व इसकी नानारूप अभिव्यक्तियो के द्वारा नष्ट नही होता ।"[2] मान अर्थात् ज्ञान का साधन, मेय या ज्ञान का विषय और फल अर्थात् परिणामस्वरूप ज्ञान —ये सब विज्ञानरूपी पूर्ण इकाई के ही अन्तर्गत भेद है। प्रमेय के विषय-पदार्थ मन के अन्दर होते हुए क्रमिक परिवर्तनो के कारण उत्पन्न होते हैं। लकावतारसूत्र मे कहा है, "चित्त तो सत् है, किन्तु दृष्टि के विषय पदार्थ सत् नही है। पदार्थों के द्वारा जिनका बोध चक्षु से होता है, चित्त अपने को व्यक्ति के शरीर के अन्दर सुखकारी पदार्थों एव निवासस्थान आदि के रूप मे अभिव्यक्त करता है । इसे मनुष्यो का आलय कहते है ।" विज्ञान मे समस्त विश्व का समावेश है । प्राकृतिक पदार्थ केवल इसके अतिरिक्त है किन्तु विज्ञान एक सम्पूर्ण इकाई है, जिसमे वह स्वय एव उक्त प्राकृतिक पदार्थ भी अन्तर्निहित है । मनोवैज्ञानिक रूप से आत्मा के तार्किक रूप के प्रति क्रमिक सक्रमण को हम अनुभव करते है । सब वस्तुओ का सम्बन्ध विज्ञान के साथ है । विचार से बाह्य अथवा विचार के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है । विचार करनेवाले विषयी एव पदार्थ जगत् के अन्दर जिसका वह विचार करता है, परस्पर नितान्त विरोध कभी हो ही नही सकता । विचार ही समस्त ज्ञान का आदि एव अन्त है। विचार को हटा दो, और सब कुछ विनष्ट होकर शून्य हो जाएगा । विचार करनेवाला व्यक्ति केवल व्यक्ति ही नही है, वह उस सबका एक भाग है जिसका वह ज्ञान प्राप्त करता है, और वह सब जिसे वह जानता है उसका भाग है । ज्ञान के क्षेत्र मे बाह्य यथार्थता जो स्वय एक वस्तु है, काण्ट के अनुसार, मन की उपज या रचना है । विचार की पृष्ठभूमि मे जो अन्य किसी वस्तु का विचार है, वह भी केवल एक अन्य विचार ही है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही । विचार ही ऐसी यथार्थसत्ता है जिससे हमे प्रयोजन है । यह वह है जो ज्ञान की प्राप्ति करता है एव वह पदार्थ भी जिसका ज्ञान यह प्राप्त करता है । यदि यही मत योगाचार का है तब बाह्य जगत् एक अभावात्मक वस्तु ठहरता है जिसे हम अनात्म कहते है और जिसकी सृष्टि विचार करनेवाला अपने अन्दर करता है और जिसके साथ सघर्ष करते हुए यह चेतना को प्राप्त करता है । विचार की पूर्वसत्ता और उत्पादन-क्षमता ही यहा मुख्य विषय है। विचार ही यथार्थता का ढाचा एव सामग्री भी है । यह अपने से बाह्य किसी आधारभूत सामग्री अथवा यथार्थसत्ता की पूर्वकल्पना नही करता, चाहे उसे देश अथवा प्रकृति आदि किसी भी नाम से क्यो न पुकारा जाए । यह केवल इतने तक ही ज्ञान रखता है कि यह अपने को ज्ञान का विषय समझता है । विचार के अपने अन्दर ही सब कुछ है । यदि प्रमेय विषय जिसका निर्माण प्रमाता द्वारा ही हुआ है, प्रमाता से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करता है और ऐसे क्षेत्र मे बन्द रह जाना चाहता है जहा प्रमाता का प्रवेश न हो सके तब यह अपने

१ सर्वसिद्धान्तसारसग्रह, ३ : २–४ ।
२. सर्वसिद्धान्तसारसग्रह ३ : -–३ ।

प्राणभूत तत्त्व एवं यथार्थता से सर्वथा रिक्त हो जाएगा। और इन अर्थों में विचार ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं। योगाचार जब इस विषय का निरूपण करता है कि विज्ञान के भी अपने अन्दर सब वस्तुएं निहित हैं और जब वह यह प्रतिपादित करता है कि आलय सब व्यक्तियों में एक समान है एवं प्रतीयमान आत्मा भिन्न भिन्न होने पर भी इन्द्रियातीत आत्मा सबमें एक समान है तब वह इसी मत को स्वीकार कर रहा होता है। आलय विज्ञान निरपेक्ष समष्टि है मौलिकता अथवा कल्पनाशक्ति है एवं सृजनात्मकता है जो देश काल से अबाधित है। क्योंकि देश और काल मूलरूप जनभवसिद्ध व्यक्तित्व की सत्ता के ही प्रकार हैं। भौतिक वस्तुएं विचाररूपी महान समुद्र के अन्दर से ही आती हैं। वे सब उसके पारस्परिक एकत्व एवं सरलता में पुनः वापस होकर समा जा सकती हैं जो चेतना का व्यापक समुद्र है जिसके अन्दर से वस्तुएं उत्पन्न होती हैं और फिर उसी में समा जाती हैं। यह एक जावित आधार है जिसमें से घटक अवयव जाते हैं और फिर जो अपने-आप वापस आ जाते हैं। यह सर्वोच्च अथवा निर्दोष ज्ञान है जिसमें कोई वस्तु नहीं जानी जाती और न कोई भेद ही अनुभव होता है। यह सदा एकरस रहता है और इसीलिए पूर्ण है। आलय आनुभविक आत्मा न होकर विश्वात्मा बन जाता है।

तब जबकि अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से सब कुछ एक ही यथार्थसत्ता के कारण है और वह सत्ता विचार है योगाचारी कहीं-कहीं अनुभूत आत्मा के विपरीत गुण प्रकृति को केवल संवेदना अथवा संवेदनाओं के संग्रहमात्र के रूप में परिणत कर देता है। यह जगत केवल इस अथवा अमुक चेतना की सामग्री ही नहीं है। ठोसपन दूरी कठोरता एवं बाधा आदि केवल सीमित मन के विचारमात्र ही नहीं हैं। यह स्वीकार करने पर कि उनकी सत्ता है योगाचार का मत असंस्कृत रूप में विषयीनिष्ठ मत का हो जाता है। यह उस सांसारिक इन्द्रिय संघटन की व्याख्या नहीं कर सकता जोकि मानवीय चेतना की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान रहता है और न ही यह दृश्यमान जगत की यथार्थता की व्याख्या कर सकता है जिसके ही कारण हमारे सांसारिक जीवन के सब कार्य सम्भव हो सकते हैं। हम यह मानने को उद्यत हैं कि योगाचार शाखा का उद्देश्य यह कभी नहीं था कि वह देश काल से जकड़े हुए जगत को वैयक्तिक चेतना के ऊपर निर्भर अथवा उसीकी उपज के रूप में निरूपित करे तो भी यह कहने के लिए हम बाध्य हैं कि सरल आदर्शवाद के निराकरण की उत्सुकता में उन्होंने मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोणों को परस्पर गड़बड़ कर दिया एवं इस प्रकार से एक असंस्कृत मानसिकवाद का समर्थन किया। और इस असमंजस को इससे और भी बढ़ावा मिला कि परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील मानसिक जीवन दोनों को परिलक्षित करने के लिए उसी एक पारिभाषिक शब्दविज्ञान का प्रयोग किया गया। हमारे सामने स्कन्ध विज्ञान है जो क्रम का प्रतीयमान कार्य है एवं आलय विज्ञान है जो सदा क्रियाशील निरन्तर और सबके अन्दर निवास करनेवाली आत्मिक शक्ति है। संसार की यथार्थता आलयविज्ञान पर ही निर्भर है। पदार्थों के अस्तित्व एवं ज्ञान के लिए एक नितान्त निरपेक्ष चेतना की सत्ता आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि संसार केवल चेतना का ही नाम है तो भी योगाचारी प्रायः इस प्रकार का अनुमान करते पाए जाते हैं।

योगाचारियो ने उन यथार्थवादियो की सरल धारणा को एकदम उखाड फेंका जो मन को एक स्वय मे पूर्ण वस्तु मानते थे, और अनुभव मे जिसको अन्य ऐसी ही स्वत पूर्ण वस्तुओ से वास्ता रहता है। भौतिक प्रकृति एव मन इन दोनो द्रव्यो की पृष्ठभूमि मे जाकर उन्होने एक ऐसी सारगर्भित यथार्थसत्ता को खोज निकालने का प्रयत्न किया जिसके अन्तर्गत ये दोनो आ सके। यथार्थ अन्तर्दृष्टि की सहायता से उन्होने अनुभव किया कि जो वस्तुत पदार्थ-जगत् की रचना करनेवाला है वह बुद्धि अथवा विज्ञान है और यह व्यक्ति मे बढकर है। इस विज्ञान के अन्दर ही विषयी (ज्ञाता) एव विषय (ज्ञेय) का भेद उत्पन्न होता है। आलय-विज्ञान यथार्थसत्ता का आधारभूत तथ्य है जो अपने को व्यक्तियो के मनो एव वस्तुओ मे प्रकट करता है। विषयी एव विषय मे जो परस्पर भेद है वह स्वय ज्ञान के द्वारा अपने क्षेत्र मे बनाया गया है, किन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध नही है जैसाकि दो स्वतन्त्र वस्तुओ के अन्दर हो सकता है, जैसी कि वैभाषिको और सौत्रान्तिको की धारणा है। आलय-विज्ञान अपने मे एक सम्पूर्ण इकाई है जिसके अन्दर ज्ञाता एव ज्ञेय दोनो समा जाते है। दुर्भाग्यवश हम ऐसी प्रवृत्ति पाते है जिसके अनुसार आलयविज्ञान एव स्कन्ध-विज्ञान को एक ही समान मान लिया गया जबकि स्कन्धविज्ञान केवल सीमित मन का गुण है। यदि आधारभूत ज्ञान को विशेष ज्ञाताओ की देशकाल से बद्ध क्रियाविधियो के साथ मिश्रित कर दिया जाएगा तो हम ऐसी ढलान पर पहुच जाएगे जो हमे सशयवाद की खडी चट्टान पर जा पटकेगी। लगभग सभी बौद्धेतर समीक्षको ने योगाचार के सिद्धान्त मे निहित सत्य के अश को दृष्टि से ओझल किया है (यद्यपि उसमे भ्रान्तियो का भी समूह सम्मिलित है) और इसका निराकरण इसे केवल मानसिकवाद कहकर कर दिया है।

शकर इस सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए अनेक युक्तियो के आधार पर कहते है कि ससार का पृथक् कोई अस्तित्व नही है, सिवाय इसके कि वह मनुष्य के मन मे ही है। प्रत्यक्ष ज्ञान की नानाविधता की व्याख्या करने मे यह असमर्थ है। जब हम सूर्यास्त का आनन्द ले रहे हो तो आकस्मिक कोलाहल का ज्ञान कैसे हो जाता है? इसकी व्याख्या क्या है? यह कहना कि वस्तुए एव विचार एक समय मे ही प्रस्तुत होते है, इसका तात्पर्य यह नही है कि वे एक है, न पृथक् होनेवाला सम्बन्ध (साहचर्य) तादात्म्य से भिन्न है। यदि सब प्रकार का बोध वस्तु से रिक्त है तब यह चेतना भी कि कोई वस्तु नही है, रिक्त है। स्वप्नावस्था से जागरित अवस्था की तुलना करना असमजस अथवा परिभ्रान्ति के कारण होता है। स्वप्नावस्था का अनुभव आत्मगत एव सर्वथा निजी व गुप्त है जबकि जागरितावस्था का अनुभव ऐसा नही है। जागरितावस्था के ज्ञात पदार्थ स्थायी होते है जबकि स्वप्नावस्था के पदार्थ केवलमात्र स्वप्न मे ही विद्यमान रहते है। शकर का तर्क है कि जागरित एव स्वप्न अवस्थाओ मे वास्तविक भेद है। स्वप्नावस्था मे हम बडी दूरी की यात्रा कर सकते है और यदि जागरित एव स्वप्न अवस्था दोनो एक समान मानी जाए तो हमे जागने के समय उस स्थान पर होना चाहिए जहा तक हम स्वप्नावस्था मे यात्रा करते-करते पहुच चुके होते है, न कि उस स्थान पर जहा हम स्वप्न देखना प्रारम्भ करने के समय थे। यदि यह कहा जाए कि दोनो मे निरन्तरता नही है और जागरित अवस्था की अपेक्षा स्वप्नावस्था की असत्यता का अनुमान करने के लिए हम स्वतन्त्र हैं, इसी प्रकार स्वप्नावस्था की अपेक्षा क्यो नही हम जागरितावस्था की भी अस-

अपने पक्ष के समर्थन मे न्याय के सिद्धान्त का उद्धरण देता है, अर्थात् निष्कर्ष और अनुमान की व्याख्या इसके द्वारा निर्वाचक प्रस्थापनाओ के उद्देश्य एव विधेय के आधार पर होती है और यह कि इन्हे बाह्य पदार्थों की यथार्थता की कोई आवश्यकता नही है, तो उत्तर मे कुमारिल का कहना है कि न्याय बाह्य पदार्थों की यथार्थता को स्वीकार करता है और उसी आधार पर आगे बढता है।[1] विचारो के पारस्परिक भेदो को वासनाओ मे से ढूढ निकालने के यत्न से हम अन्योन्याश्रय-दोष मे पहुच जाते है और इस प्रकार कहीं भी नही ठहर सकते। हम विचार के विशुद्ध आकार मे कोई भेद नही कर सकते। वासना से ज्ञान प्राप्त करनेवाले मे तो भेद आ सकता है किन्तु ज्ञेय पदार्थ मे भेद नही आ सकता[2] और वासना स्वय मे अव्याख्येय है। "विचार तो क्षणिक है और उनका तिरोभाव सम्पूर्ण (पीछे बिना कोई चिह्न छोडे) एव प्रभावित तथा प्रभाव डालनेवाले मे परस्पर कोई सम्बन्ध न होने से (क्योकि दोनो कभी एकसाथ प्रकट नही होते) वासना रह नही सकती।" दोनो क्षणो के एकसाथ न रहने के कारण प्रभाव के द्वारा उनका परस्पर सम्बन्ध स्थिर नही हो सकता और यदि वे दोनो साथ भी रहते तो भी वे परस्पर-सम्बद्ध नही हो सकते। क्योकि दोनो ही क्षणिक है और इसलिए एक-दूसरे के ऊपर असर नही रख सकते।[3] यदि पूर्व के बोधो के गुण आगे आनेवालो मे विद्यमान रहते है तो हम यह नही कह सकते कि उनका सर्वथा नाश हो जाता है। इसलिए एक स्थायी चेतना की आवश्यकता है जो प्रभाव ग्रहण कर सके और वासनाओ को सुरक्षित रख सके। इसी कारण योगाचारियो को आलय के स्थायी रूप को मानना होता है तो भी अपनी बौद्धदर्शन-सम्बन्धी पूर्वधारणाओ के अनुसार वे इसे सदा परिवर्तनशील मानने को बाध्य है। इसलिए योगाचार का सिद्धान्त असन्तोषजनक है। शकर की समीक्षा ने विषयवस्तु को ठीक-ठीक पकड लिया। जब तक किसी ऐसे निरन्तर स्थायी तत्त्व को स्वीकार नही किया जाएगा जो प्रत्येक पदार्थ के बोध को ग्रहण करता है, हम ज्ञान की व्याख्या नही कर सकते। यदि आलय-विज्ञान को स्थायी आत्मा के रूप मे माना जाए तो बौद्धधर्म का यह विशिष्ट स्वरूप कि कोई वस्तु स्थायी नही है, समाप्त हो जाता है। दार्शनिक अन्त प्रेरणा योगाचारी को उपनिषदो के सिद्धान्त की ओर ले जाती है जबकि बौद्धधर्म-सम्बन्धी पूर्वधारणाए इस प्रकार की स्वीकृति मे जाने से रोकती है।

दूसरी ओर योगाचारियो ने यह भी अनुभव किया कि यदि ससार को केवलमात्र विचारो के सम्बन्धरूप मे ही परिणत करते है तो यथार्थता का सम्पूर्ण अर्थ ही जाता रहता है। इसलिए ससार की प्रतीयमान सत्ता को, जिसमे विषयी एव विषय का भेद है, वे स्वीकार कर लेते है। माधवाचार्य लिखते है "और न ही ऐसी कल्पना करनी चाहिए कि इस कल्पना के आधार पर रस, शक्ति एव पाचनक्रिया, जो काल्पनिक किंवा वास्तविक मिठाई से आने चाहिए, एक समान होगे।"[4] यह हमे काण्ट द्वारा प्रतिपादित प्रसिद्ध भेद का, जो उसने कल्पनात्मक एव वास्तविक एक सौ डालरो मे किया है, स्मरण कराता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से योगाचारी विषयी एव विषय के भेद को स्वीकार करते है, किन्तु आलोचनात्मक विश्लेषण उन्हे इस तथ्य का प्रकाश करता है कि ये समस्त भेद एक ही सम्पूर्ण

१ १६७–१७५। २. १८०–१८१।
३. १८२–१८५। ४. सर्वदर्शनसग्रह, पृष्ठ २६।

इकाई के अन्तर्गत है जिसे योगाचारी विज्ञान अथवा विचार कहता है। आनुभविक अथात ससारी आत्मा एक पदार्थ को अपने से विपरीत गुणवाला पाता है। जिसके बिना उसका अपना चेतनामय जीवन सम्भव नही हो सकता। वह जिसे स्वतःसिद्ध आनुभविक आत्मा मान लेता है वह निरपेक्ष आत्मा के लिए कोई केवल आनुषगिक स्वीकृत तत्व नही है। ससार एसा ही वास्तविक है जसा कि विशेष आत्मा है और उससे स्वतन्त्र है यद्यपि विश्वचेतना के ऊपर निभर है। हम यह बतलाने की आवश्यकता नही कि किस प्रकार आलय विज्ञान का पीछे का मत फिक्ते के दार्शनिक मत से बिलकुल मिलता जुलता है जाकि समस्त अनुभव को एक आत्मचेतन प्रमाता का अनुभव मानता है। उसकी दृष्टि म आत्मा दाता ही है अथात कम भी है और कम का परिणाम भी है एव ही कर्ता। अहं (आत्मा) अपनी सत्ता के विषय म निश्चयपूर्वक कहता है और अपनी स्थिति को तथ्यरूप म मान लेता है और इस प्रकार की स्थापना म वह अपने से विरोधी गुण अनात्म म भेद करता है। इस प्रकार का सीमित अथवा निषेधपरक प्रक्रिया के द्वारा आत्मा अयता के भाव की सृष्टि करती है। निरपेक्ष (परम) अहं सीमित आत्माओं के बाहुल्य म एव अपने म तुरन्त भेद कर लेता है।

देश एव काल की सीमाओं म बद्ध ससार हमारे अपने अपूर्ण ज्ञान के कारण वास्तविक प्रतीत होता है। हमारी बुद्धि यद्यपि मौलिक रूप मे विषयी एव विषय के प्रकारो से स्वतन्त्र है तो भी वह प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति एव प्रत्यक्ष ज्ञान के मध्य नानाविध भेदों का विकास करती है। इसका कारण अवास्तविक विचार अथवा अनादि पूर्वनिश्चित धारणाए हैं।[1] हमारी बुद्धि के दो रूप हैं बोधात्मक और अबोधात्मक जिसम से बोधात्मक बुद्धि हमे एक सत्यज्ञान की ओर ले जाती है और अबोधात्मक बुद्धि का जो एक मौलिक निश्चेतनता के ऊपर निभर है प्रादुर्भाव स्कन्धो आयतनो एव धातुओ म से (अथवा शरीर के भौतिक *अवयवो द्वारा) हुआ है और यही अविद्या का निवासस्थान है अतएव सत्य का भी प्रामाणिक मापदण्ड नही है।*[2] प्रत्येक व्यक्ति के पास विज्ञान है जिसके अन्दर सब वस्तुओ के बीजाकुर अपने विचाररूप म विद्यमान रहते हैं। विषयरूप जगत की वास्तविक सत्ता नही है किन्तु अविद्या के कारण जो आत्मा के अन्दर भ्राति उत्पन्न कर दी जाती है क्योंकि आलय विज्ञान म बाह्य जगत के लिए उन बीजाकुरो को आगे धकेलता है और कल्पना कर लेता है कि वह जसे प्रतीत होते हैं वसे ही है। हमे फिर यहा विषयी विषय से वास्ता पडता है। क्योकि पदार्थ-जगत केवल मानसिक सामग्री के रूप म परिणत हो गया। सत्रम्भक चेतना म अथवा आलय म अविद्या प्रविष्ट हो जाती है और ज्ञान के अभाव म वह काय प्रारम्भ करता है जो देखता है वह जो प्रस्तुत करता है वह जो ज्ञान ग्रहण करता है और पदार्थ जगत भी प्रतीत होता है तथा वह जो निरन्तर पदार्थों म वैशिष्ट्य देखता रहता है। [3]आलय के साथ अविद्या का सम्पर्क होने से आनुभविक आत्मा का आगमन होता है और इस आनुभविक आत्मा का सहायक आनुभविक जगत् है और ये दोनो ही प्रतीति

१ अनादिवासनावशात् (सवदशनसग्रह २ ६)।
२ सवसिद्धान्तसारसग्रह ३ ४ ६–९।
३ अश्वघोष द अवेकनिंग आफ फेथ पृष्ठ ७५।

मात्र है और आलय इन दोनो मे अतीत है। अध्यात्मतत्त्व मनोवैज्ञानिक तत्त्व का तथ्य-रूप है।

सभी विचार बुद्धि के विचार को छोडकर तीन प्रकार के रूप वाले है (१) परिकल्पित रूप वाले, (२) परतन्त्र स्वरूप वाले और (३) निरपेक्ष अथवा आध्यात्मिक स्वरूप वाले (अर्थात् परिनिष्पन्न)। स्वप्नावस्था के हमारे अनुभव प्रथम कोटि के अन्तर्गत आते है। विचार अपने को नित्यरूप मे स्वप्नगत आकृतियो के रूप मे प्रकट करता है। इस प्रकार के दूषित रूप मे पदार्थो का रूप ग्रहण किए हुए बोध के विषय-पदार्थ शरीरधारी इन्द्रिया हैं, तथा उनके द्वारा ज्ञात वस्तुएं एव भौतिक जगत् है। 'अहदृष्टि'-विषयक विचार मे, विचार अपने को पदार्थ और बोध के विषय के रूप मे प्रस्तुत करता है। द्वैत के विरोध मे से तथाकथित वर्गो अर्थात् सत्, असत् सारतत्त्व आदि का उदय होता है। द्वैत का स्वरूप परिणत होता है, इस तथ्य के कारण कि हम तथाकथित पदार्थो को, जो केवल विचार की आकृति मात्र हैं, बाह्य समझते है एव उनका अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि एक स्वप्नद्रष्टा स्वप्नगत हाथियो को जब देखता है तो उनकी यथार्थता मे विश्वास कर लेता है। इस द्वैत मे आध्यात्मिक यथार्थता नही है किन्तु यह केवल कल्पना की उपज है जिसे परिकल्प अथवा विकल्प भी कह सकते है और जो विचार के ऊपर विषयी एव विषय के भाव को आरोपित करती है। किन्तु विचार अपना प्रादुर्भाव कहा से पाते है ? वह कौन-सा विधान है जिसके अनुसार वे एक व्यवस्थित क्रम मे प्रकट होते है ? उनकी उत्पत्ति यथार्थवादियो के बाह्य पदार्थो से नही होती। और न ही वे एक निर्विकार आत्मा के कारण है, जैसाकि वेदान्तियो का तर्क है, और न स्वायत्त या आत्मशासित है। विचार परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित है। एम० पौसिन लिखता है कि "सब बौद्ध दार्शनिक जो कर्मसिद्धान्त को मानते है, यह स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए कि विचार यद्यपि क्षणिक हैं तो भी सर्वथा विनष्ट नही होते किन्तु कभी-कभी बहुत दीर्घ व्यवधान के पश्चात् भी नये-नये विचारो को जन्म देते है। जब तक वे प्रकृति के अस्तित्व मे विश्वास रखते है एव मनुष्य को भौतिक-मानसिक मिश्रण के रूप मे मानते है, उनके लिए विचारो की पारस्परिक निर्भरता की व्याख्या करना कठिन न होना चाहिए।" सम्बोध की छहो श्रेणियो को भौतिक समर्थन प्राप्त है एव बाह्य उत्तेजना भी, और इसलिए स्मृति-समेत समस्त मनोवैज्ञानिक तथ्यो की व्याख्या करना इन छ सम्बोधो से सम्भव है। किन्तु आदर्शवादियो को बिना किसी भौतिक अग की कल्पना के एक मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रतिपादन करना है। वे कहते है "यथार्थवादी सम्प्रदायो द्वारा अभिमत दृष्टि-सम्बन्धी मानसिक सम्बोध बीज उत्पन्न करते है, जो नियत समय पर परिपक्व होगे बिना किसीके हस्तक्षेप के सिवाय बोधिसत्त्वो की शक्ति के नये दृष्टि-सम्बन्धी 'मानसिक सम्बोधो के रूप मे। ये बीज दृष्टि-सम्बन्धी 'मानसिक सम्बोधो का भाग नही है जो बीजो के बोने एव परिपक्व होने की मध्यगत अवधि के अन्दर क्रमिक रूप मे उदित होते है। उदाहरण के रूप मे नीले रग का बोध जो कल प्रकट होगा, बोधो की एक विशेष श्रृंखला मे जिसे अह कहते है, विगत कल के विश्वास रूपी सम्बोधोके ऊपर निर्भर करता है। किन्तु इसका बीज उन किन्ही सम्बोधो मे नही पाया जा सकेगा जिनका ज्ञान मुझे आज प्राप्त है। इसलिए हमे आदिम मनोविज्ञान

के पडङ्गुण सम्बोध म सम्बाधा क एक अन्य वर्ग की ओर जाइना चाहिए जिस आधुनिक कान्ट्या न्तानिक अचेतन अथवा अवचेतन मन की प्रतिक्रिया के नाम स पुकारता है। ये वास्तविक सम्बाध के बीज हैं। इनकी रचना वास्तविक सम्बोध के द्वारा हुई है। इसके साथ साथ एव वास्तविक सम्बाध के अन्तस्तल म वह क्षणिक अचतन प्रतिक्रिया के प्रवाह के रूप म प्रवाहित हात है और अबाधित स्वत पुनरुत्पत्ति के कारण आगे बढ़ते रहते हैं। इस शृखला म पुरान बीजा को भरता रहती है, जा नय बीजा के बाने स बढ़ती रहती है और जा उन शृखलाओं की फल प्राप्ति के पश्चात् स्वयं बन्द हो जाएगा जबकि आग नय बीजा का भी बोना बन्द हो जाएगा। [1] यदि कोई नया बीज नही बोया जाता और पुराना सगृहीत भण्डार साफ हो जाता है तो हम ज्ञान की दूसरी मंजिल से अलग बढ़ जाते हैं और तीसरी मंजिल म पहुच जाते हैं जिसे परिनिष्पन्न कहते हैं। विषयी एव विषय का द्वैत विचार का ही आनुषगिक रूप है ऐसा समझ म आ जाता है क्योंकि यह भाव कल्पना की *मिथ्या धारणा के कारण उत्पन्न होता है। विचार का इसके आध्यात्मिक रूप म जानने के* लिए द्वैत के भाव पर विजय पाना आवश्यक है। यह सत्य है कि ज्योंही यह एक बार द्वैत के भाव स मुक्त हो जाएगा यह समझने योग्य हो जाएगा यद्यपि वह अनिर्वचनीय होगा। इसके किसी विशिष्ट का वर्णन नही किया जा सकता। इसके विषय म केवल यही कहा जा सकता है कि यह मन है (भवति एव)। इसलिए इसकी परिभाषा वस्तुमात्र या केवल एक वस्तु अथवा चित्तमात्र या केवल विचार इसी प्रकार स की जाती है।

यह हमारे अपने निर्णय के ऊपर निर्भर करता है कि हम परिकल्पित सत्य को एक प्रकार की निश्चित भ्रान्ति कहें जैसे कि हम भूल से रस्सी को साप समझ लते हैं परतन्त्र *सत्य को सापेक्ष ज्ञान के रूप म मानें जैसे कि हम रस्सी को रस्सी के ही रूप म देखते* हैं एवं परिनिष्पन्न सत्य को आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के रूप म मानें जैसे कि हम यह जानते हैं कि रस्सी केवल एक सामान्य प्रत्यय (धारणा) मात्र है एव अपने आपमें किसी वस्तु के रूप म सत्ता नही रखती। नागार्जुन पहले दो को मिलाकर उन्हें एक कर देता है और उस सवृति सत्य की सज्ञा देता है और तीसरे को परमार्थ का नाम देता है। परिकल्पित काष्ठ का भ्रातिपूर्ण ज्ञान है जो उपाधिरहित होने के कारण केवल विषयीनिष्ठ है। यह आलोचनात्मक निर्णय के आगे नही टिक सकता और इसमें नियामक क्षमता भी नही है। परतन्त्र काष्ठ का आनुभविक ज्ञान है जो सापेक्ष एव सोपाधिक है। वर्गों म विभक्त इस *ज्ञान के द्वारा निरपेक्ष यथार्थसत्ता जो सब प्रकार की उपाधियों से विहीन है नहीं जानी* जा सकती। हमारे लिए आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि तक उठना सम्भव है क्योंकि एक ही विश्वात्मा का सबमें निवास है। प्रत्येक पदार्थ की इकाई मे यह पूर्ण एव अविभक्त रूप म अवस्थित है जो प्रतीति की सब आकृतियों स स्वतन्त्र है। द्वैत सम्भव है देश एव *काल की* अधीनता के कारण जो दोनो चित्तत्व के तत्त्व हैं। आत्मा विविधता से मुक्त है यद्यपि इसकी प्रतीतियाँ देश और काल के कारण असख्य हैं। सर्वोच्च अवस्था जो समस्त विरोधी पदार्थों से ऊपर है जिसमें विधि एव निषेधात्मक पदार्थ दोनों एक हैं और इसी (भावा

१ इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स खण्ड ८ पृष्ठ ८५ ।

भाव-समानता) को योगाचारी तथता या विशुद्ध सत् के नाम से प्रतिपादित करते है।[1]

यथार्थवादियो के साथ सहमत होकर योगाचारी विश्व की सब वस्तुओ को सस्कृत अथवा सयुक्त एव असस्कृत अथवा असयुक्त दो प्रकार के वर्गो मे विभक्त करते है। सयुक्त धर्मो का भी विभाग किया गया है जैसा कि यथार्थवादी सम्प्रदायो मे है, यद्यपि उनमे पहला स्थान रूप अथवा प्रकृति को दिया गया है जबकि योगाचारी पहला स्थान चित्त अथवा मन को देते है। चित्त अथवा मन सब वस्तुओ का परम उद्भव-स्थान है। इस चित्त के दो रूप है, एक है लक्षण अथवा प्रतीयमान, एव दूसरा भाव अथवा तात्त्विक। पहला इसकी परिवर्तनशीलता से सम्बन्ध रखता है जबकि दूसरा इसकी निर्विकारता का प्रतिपादन करता है। इसके दो कार्य है, पदार्थो पर ध्यान देना एव उनका प्रभाव ग्रहण करना। सब मिलाकर इसके आठ धर्म है जिनमे से पाच इन्द्रियो के ऊपर निर्भर करते है, छठा आभ्यन्तर इन्द्रिय है, सातवा विज्ञान-सम्बन्धी है जो उनका वर्णन करता है, और आठवा आलयविज्ञान-सम्बन्धी है।[2]

असस्कृत धर्म छ है। आकाश अनन्त है, सब प्रकार के परिवर्तन से रहित जिसे केवल सद्रूप कह सकते है, सब प्रकार के क्लेशो एव दु खो के अभाव का नाम प्रतिसख्यानिरोध है, जिसकी प्राप्ति सम्पूर्ण ज्ञान की शक्ति के द्वारा होती है, अप्रतिसख्यानिरोध ऐसा अभाव है जो विना सम्पूर्णज्ञान की सहायता से प्राप्त होता है। अचल वह अवस्था है

१. देखिए महायानसूत्रालकार।

२. शकर कहते है : "इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में हमें यह कहना है : इन दो समष्टियो को जिनसे दो विभिन्न वर्गों का निर्माण होता है और जिनके दो भिन्न कारण है जिन्हे बौद्ध धारणा के रूप में मान लेते है (अर्थात् तत्त्वो की समष्टि एव भौतिक वस्तुए जिनका कारण परमाणु है तथा पाचों स्कन्धो की समष्टि), बौद्ध सिद्धान्तो के आधार पर सिद्ध नही किया जा सकता, अर्थात् समष्टि कैसे बन जाती है इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। क्योकि समष्टियो को बनानेवाले भौतिक अवयव बुद्धि से रहित हैं एव बुद्धि का प्रज्वलित होना निर्भर करता है अणुओं की उस समष्टि के ऊपर जो पहले से एकत्र हो। और बौद्ध दार्शनिक किसी अन्य बुद्धिसम्पन्न नित्य सत्ता अर्थात् किसी उपभोक्ता आत्मा को अथवा किसी शासक प्रभु को, जो अणुओं के एकत्रीकरण का सम्पादन कर सके, स्वीकार नही करते। अणु और स्कन्ध स्वय क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं, ऐसी धारणा भी नहीं बनाई जा सकती है, क्योंकि इसका तात्पर्य यह होगा कि उनकी क्रियाशीलता का कभी अन्त नही होगा। समष्टि का कारण तथाकथित स्थान में भी नहीं ढूढा जा सकता (अर्थात् आलयविज्ञान के प्रवाह में जो आत्मबोध का प्रवाह है) क्योंकि उक्त प्रवाह या तो पदार्थो बोधो से भिन्न है अथवा उनसे भिन्न नहीं है। यदि भिन्न है तो या तो यह नित्य है और उस अवस्था मे यह सिवाय वेदान्तियों की नित्य आत्मा के और कुछ नहीं है, अथवा अनित्य है तब केवल उसे क्षणिकमात्र स्वीकार करना होगा एव उस अवस्था में इसका कोई प्रभाव नहीं हो सकता और इसलिए अणुओं के अन्दर की गति का भी कारण नही हो सकता। पिछली अवस्था में हम प्रथम अवस्था से कुछ आगे भी नहीं बढे। इन सब कारणो से समष्टियों के निर्माण की व्याख्या नहीं हो सकती। किन्तु बिना समष्टियों के ऐहलौकिक जीवन के प्रवाह का ही अन्त हो जाएगा क्योंकि वे इन समष्टियों की पूर्वधारणा बना लेते है।" ('कमेंटरी ऑन वेदान्तसूत्राज', जी० थिबौट द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ४०३–४०४)। समष्टियो के निर्माण की व्याख्या अविद्या द्वारा नहीं हो सकती क्योकि, "यह उनका कारण कैसे हो सकती है जिसको अपना स्थान पाने विना यह विद्यमान ही नहीं रह सकती? इसके अतिरिक्त कारण-कार्य-सम्बन्ध का भाव अपने-आप में समझ में नहीं आ सकता।"

जिसमे सब प्रकार की शक्ति एव गुण का उपेक्षा की जाती है और मनोवस्तानिरोध वह है जो वेदना और मना काय नहा करत । ये पाचा सवथा स्वतन्त्र नहा हैं। ये भिन्न भिन्न मनाए हैं जिनका प्रयोग परम्परा म विश्व के तात्त्विक रूप का दर्शाने क लिए किया गया है। हम उन्ह भिन्न भिन्न भूमिया या मजिला क नाम म भी पुकार सकत है जिनक द्वारा ययायसत्ता तक पहुचा जा सकता है। धमपाल कहता है य समस्त परम्परागत पाच परिभाषाए अभिव्यक्ति एव विशुद्ध मन की नाना भूमिया या मजिला का दी गई हैं। यह हम योगाचार शाखा के यथाथ आध्यात्मिक परमतत्त्व का ओर ले जाता है जिसे तथता कहा गया है। यही सब वस्तुओ क सम्बन्ध म सवाातान तथ्य है और इसकी पारिभाषिक सज्ञा तथता है क्योंकि इसका अनिवाय (प्रधान एव तात्त्विक) स्वरूप यथाथ एव नित्य है। इसक स्वरूप का वणन वाणी की पहुच क बाहर है। यह अनाम्यय है।[1] इस हम कहीं शून्यता अथवा अभावात्मक न समझ बठें इसक लिए इस भाव अथवा सत्ता की सज्ञा दी गई। असग कहता है इस हम न तो अस्तित्व ही कह सकत है और न अभाव ही। यह न इस प्रकार का है और न किसी अन्य प्रकार का। यह न उत्पन्न होता है न नष्ट। यह न बढ़ता है और न घटता है। यह न तो पवित्रता है और न अशौच ही है। सवातीत सत्य का यही लक्षण अथवा स्वरूप है।

विशुद्ध सत अथवा तथता का इसके क्रियाशील पक्ष को लेकर जब यह व्यक्तित्व अथवा निषेध के तत्त्व के साथ सयुक्त होता है आलयविज्ञान भी कहा जाता है। ज्योंही हम विशुद्ध सत को विज्ञान अथवा चित्त बना देत है हम उसम व्यक्तिवाद अथवा अहवाद क अश को प्रविष्ट करत हैं। आत्मा क अपने अन्दर नित्यरूप म भेद है। हम आत्मज्ञान की चेतना को धारण किए हुए ह जो हेगल के सिद्धान्त क अनुरूप है।[2] जिस क्षण म हम निर पक्ष परम सत म नीचे उतरकर आलय विज्ञान म आत है हम चेतना के अतिरिक्त एव अनात्म क साथ-साथ दश का तत्त्व भी मिलता है। देश और कुछ नही है केवल व्यक्तीकरण का एक प्रकार है और अपनी निजी सत्ता कुछ नही रखता। समस्त प्रतीयमान जगत अन्यथ स्थितमन क वयक्तिकीकरण क कारण है। यदि भ्राति स्पष्ट हो जाए तो सापेक्ष अस्तित्व क भिन्न भिन्न रूप भी स्वय विलुप्त हो जाएगे। एक नियमित अथ म केवल वास्तविक और स्थायी है।[3] अविद्या के कारण उत्पन्न हुए आकस्मिक रूप विशुद्ध आत्मा का कलुषित नहा करत। यहा हम वह प्रतीत होता है जिसे न्याय वेदान्त विवतवाद अथवा प्रतातिवाद कहता है। बोध क एकत्व म द्वत का आभास एक भ्राति है। आगे कहा गया है कि आभ्यन्तर तत्त्व अपने को ऐसे रूप म व्यक्त करता है जसेकि वह बाह्य हो।[4] एक सत्य का साक्षा

१ वसुबन्धु।

२ यह कि आध्यात्मिक स्वामचतन मन् एक हा ह और उसाकी क्रिया अथवा अभिव्यक्ति वह है जिसे हम यथाथ कहते ह यह कि हम उसा आध्यात्मिक सत् स सु बद्ध ह न केवल उस ससार के भाग क रूप में जो इसका अभिव्यक्तरूप है वरन् उस आत्मचतना के भाग क रूप म—जिसक द्वारा यह अपने आपकी रचना करती है एव अपने को ससार स पृथक रूप में रखता है—अपरिपक्व रूप में हिस्सा बटानेवाले ह। यह कि यह हिस्सा बटाना हा नैतिकता एव धर्म का आधिष्ठान है। इसे हम मौलिक सत्य समझते ह जिसकी शिक्षा हेगल ने दा है। (टी एच ग्रीन वक्स खण्ड ३ पृष्ठ १४६)।

३ सुजुकी पृष्ठ १ ७।   ४ लकावतारसूत्र पृष्ठ २७।

स्वरूप अविद्या की शक्ति के द्वारा ससार के रूप मे होता है। हम नही कह सकते कि सब वस्तुए परब्रह्म मे किन अर्थों मे विद्यमान है। यदि सब कुछ उसके अन्दर है तब विकास का कुछ अर्थ ही नही रह जाता। और यदि सब उसके अन्दर नही है और परब्रह्म को उन्हे उत्पन्न करना है तब जो कुछ उत्पन्न होगा उसके कारण उसमे कुछ न्यूनता न आए यह नही हो सकता। उस अविद्या की व्याख्या नही हो सकती जो हमारे समस्त अनुभव का कारण है और जो आलय-विज्ञान के साथ ही उत्पन्न हो जाती है। "यद्यपि चेतना के समस्त आकार और मानसिक अवस्थाए अविद्या की ही उपज है, अविद्या अपने परम-स्वरूप मे अविद्या ही है, एव प्रकाशन या ज्ञान से भिन्न है। एक अर्थ मे यह विनश्वर है और दूसरे मे नही भी है।"[1] ज्ञान एव ज्ञानाभाव एक ही है, जिस प्रकार मिट्टी के बरतन यद्यपि परस्पर भिन्न है किन्तु है उस एक ही मिट्टी के बने हुए।[2] तथता प्रथम तत्त्व है। उसके पश्चात् अविद्या के साथ आलय आता है। उसके पश्चात् आनुभविक विपयी (प्रमाता) और विपय (प्रमेय) आते है, जो अन्योन्याश्रित होने के कारण एक-दूसरे को बढाते है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर उच्चतर तत्त्व सजोए हुए है जिसके साथ स्वार्थपरक व्यक्तित्व का अंश भी सम्बद्ध है। जब तक हम अविद्या के अधीन रहते है, व्यक्तित्व की भावना भी हमसे चिपकी रहती है। मनुष्यो के अन्दर पारस्परिक विभेद अज्ञान की शक्ति के कारण है। "यद्यपि समस्त प्राणी एक समान गुण को धारण करते है तो भी प्रगाढता मे अज्ञान अथवा विशिष्टीकरण के तत्त्व मे, जो अनन्त काल से अपना कार्य कर रहा है, वे इतने असख्य वर्गो मे विभक्त है कि उनकी सख्या गगा की बालू के कणो से भी अधिक है।"[3] विचार-दोष के कारण ससार विशिष्टीकरण की ओर प्रवृत्ति का नाम है। वास-नाए अथवा प्रवृत्तिया एव कर्म इस ससार-चक्र को बिना विश्राम अथवा बाधा के निरन्तर प्रवृत्त रखते है। आलय अथवा चित्त उन पदार्थो का जिनका हमे प्रत्यक्ष होता है, उत्पत्ति-स्थान है और अपने अन्दर उन क्षमताओ को धारण किए हुए है जो भूतकाल के हमारे आचरण से निर्णीत होती है और जिन्हे अवश्य विकसित होना है। समस्त धर्म, दु ख, सुख, सुकृत एव दुष्कृत आलय मे सगृहीत एव कार्यक्षम बीजो की बाह्य अभिव्यक्तिया है। इनमे के कतिपय बीज दोषो से पूर्ण होते है और उन्हीके कारण ससार की रचना होती है।[4] अन्य कतिपय दोषमुक्त होते है[5] और वे मोक्ष मे प्रवृत्त होते है। इन्द्रियातीत तत्त्व (अंश) की उपस्थिति के कारण ही हमे ऊचे विचारो को ग्रहण करने मे सहायता मिलती है।

किन्तु केवल परमतत्त्व की उपस्थिति ही हमे मोक्ष की ओर नही ले जा सकती। हेतु एव कारण (प्रत्यय) मे भेद किया जाता है। काष्ठ का जलने का स्वभाव अग्नि का हेतु है, परन्तु हमे काष्ठ मे आग लगानी चाहिए अन्यथा बिना उसके काष्ठ नही जलेगा। ठीक इसी प्रकार यद्यपि परमतत्त्व की उपस्थिति मोक्ष का हेतु हो सकती है तो भी ज्ञान (विवेक) एव पुण्य के कार्य आवश्यक है। असग लिखता है "धन-सम्पत्ति एव सांसारिक सुखो के प्रति अनासक्त रहकर, धर्मशास्त्र की आज्ञाओ को भग करने की इच्छामात्र भी

१ सुजूकी, पृष्ठ ६७। २. वही, पृष्ठ ७३-७४।
३ वही, पृष्ठ ८०। ४ सास्रव बीज। ५ अनास्रव बीज।

न रखने से विपत्तियों में भी निराश न होने से एवं पुण्यकार्य करते हुए किसी प्रकार से भी ध्यान को अन्यत्र भटकने से रोकने एवं उदासीनता या निष्कर्मण्यता का त्याग करने से विघ्नों के रहते हुए भी और संसार की अव्यवस्था में भी मन की गम्भीरता को अक्षुण्ण बनाए रखने से और अन्त में निरन्तर एकाग्रचित्त रहने से एवं वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने में बोधिसत्त्व व्यक्ति विज्ञानमात्र के उस तथ्य को ग्रहण करते हैं जो समस्त चेतना का अधिष्ठान है। योगाचारी योग का अभ्यास करते हैं। योग हमें आन्तरिक दृष्टि को प्राप्त कराने में सहायक होता है। तर्कमय अथवा विवादग्रस्त बोध हमें केवल परोक्ष अथवा आनुभविक ज्ञान देता है। आध्यात्मिक तथ्य को योगयुक्त अनुशासन की आवश्यकता है। जब मन सब प्रकार के पक्षपात एवं भ्रान्ति से विरहित होकर निर्मल हो जाता है तो उसमें सत्य प्रतिबिम्बित होता है।[1]

मन के पवित्रीकरण का नाम निर्वाण है एवं अपने आत्मिक सरल अथवा ज्योतिर्मय पारदर्शिता के स्वरूप में वापस लौट आना है। जब निरन्तर चिन्तन के द्वारा हम सब प्रकार की पूर्वधारणाओं से अपने को मुक्त कर लेते हैं तब एक ज्ञान का उदय होता है जो भ्रान्तियों से मुक्त है और प्रमेय पदार्थों का आकार ग्रहण करता है इसे महोदय कहते हैं अर्थात् महान उत्कर्ष अथवा मोक्ष।[2] विज्ञानमात्रशास्त्र निर्वाण के चार भेद करता है (१) निर्वाण धर्मकाय का पर्यायवाची है जो निर्दोष सारतत्त्व के रूप में सब वस्तुओं में उपस्थित है। यह निर्वाण प्रत्येक ज्ञानशक्ति-सम्पन्न व्यक्ति को प्राप्त है एवं अपने मौलिक स्वरूप में विशुद्ध एवं निर्दोष है। (२) उपाधिशेषनिर्वाण अथवा वह जिसमें कुछ शेष अभी उपस्थित है। यह एक सापेक्ष सत्ता की अवस्था है और यद्यपि सब प्रकार के अनुराग (उपाधि) और बाधा से उन्मुक्त है तो भी भौतिक शृंखलाओं के अधीन है जो दुःख एवं क्लेश के कारण हैं। (३) अनुपाधिशेषनिर्वाण अथवा ऐसा निर्वाण जिसमें कुछ शेष नहीं रहता। यह सब प्रकार के बन्धनों से पूर्णतया मुक्त है। (४) निर्वाण जिसका तात्पर्य नितान्त प्रकाश है और जिसका उद्देश्य दूसरों का उपकार करना है यह सबसे उच्च श्रेणी का निर्वाण है।

योगाचार के सिद्धान्त ने जहां एक ओर योगविज्ञान के क्षेत्र में बहुत बड़ा कार्य किया क्योंकि इसने सब प्रकार की यथार्थता को ग्रहण करने के लिए विचार की आवश्यकता की ओर निर्देश किया वहां साथ ही साथ इसने अपनी निर्बलता को भी प्रकाश किया क्योंकि इसने बार-बार मन के बाह्य यथार्थसत्ता एवं अनुभव का निषेध किया। आलय विज्ञान की परिभाषा का प्रयोग अनिश्चित अर्थों में हुआ है। कहीं-कहीं इसे तथता का पर्याय वाची मान लिया गया है जब इसका वस्तुमात्र के साथ तादात्म्य वर्णन किया गया है जो

१ [illegible] पुस्तक 'चित्तमात्र' का प्रतिपादन करती है जिसमें यह प्रतिपादित करते हैं कि [illegible] में [illegible] जिसका [illegible] प्रकाश एवं सत्ता है [illegible] पूर्ण [illegible] है जबकि वासनाओं को [illegible] है। आलय [illegible] वासनाओं का शिकार बना रहता है यह [illegible] समझ लेता है। जो मन के [illegible] वासनाओं के कारण उत्पन्न होते हैं [illegible] यथार्थ वस्तुसत्ता का [illegible] ज्ञान सम्भव होता है।

२ [illegible] पृष्ठ २६।

सत् का केवल अमूर्तरूप है, एवं विशुद्ध अस्तित्ववाचक है. अथवा हेगल का सत् है, और जब हम प्रत्येक तथ्य एवं सत्ता की आकृति का सार निकालते हैं तो जो परमसत्य के रूप में रह जाता है। इसके अतिरिक्त इसे मन की प्रतीति समझा जाता है, जिसके क्षेत्र के अन्दर अन्य प्रतीतियां भी समाविष्ट हैं। यही विश्वमन भी है, जिसमें निषेधात्मकता का अंश भी सम्मिलित है। कभी-कभी व्यक्ति के अन्दर जो चेतना का प्रवाह है, उसके साथ इसकी समता की जाती है। इस सिद्धान्त की ऐसे मुख्य विषय में अनिश्चितता ने ही इसे पर्याप्त मात्रा में युक्तियुक्त समीक्षा का लक्ष्य बनाया।

५

माध्यमिक नय[1]

माध्यमिक दर्शन-पद्धति एक प्राचीन पद्धति है जिसका पता बुद्ध के आदिम उपदेशों में मिलता है। बुद्ध ने अपने नैतिक उपदेश को बराबर मध्यम मार्ग कहा है, और दोनों ही प्रकार की अतिवादिताओं (अर्थात् तपस्वी-जीवन एवं प्रवृत्ति के वशीभूत भौतिक इन्द्रियभोग) के जीवन का विरोध किया है। अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में भी उन्होंने सब प्रकार की अतिवादी स्थिति

१ माध्यमिक दर्शन के मुख्य पाठ हैं नागार्जुन के माध्यमिक सूत्र। नागार्जुन दक्षिणभारत का एक ब्राह्मण था, जिसने कुमारजीव के अनुसार—जिसने उसके जीवनचरित्र को चीनी भाषा में ईस्वी सन् ४०१ में अनुवाद किया—दूसरी शताब्दी ईसा के पश्चात् हुआ, यद्यपि उसके दर्शन की परम्परा क्रिश्चियन सन् की पहली शताब्दी की प्रतीत होती है। एक मत यह भी है कि नागार्जुन ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में हुआ। शरत्चन्द्रदास की सम्मति में (देखिए, 'इण्डियन पण्डित्स इन द लैंड आफ स्नो', पृष्ठ १५) नागार्जुन ने धीरभद्र को, जो ५६ वर्ष ईसा से पूर्व हुआ, बौद्धधर्म में दीक्षित किया, यदि भारतीय इतिहास के उस वर्णन पर विश्वास किया जाए जो दलाई लामा के पुरातत्त्व लेखों में सुरक्षित है। चीनी यात्री युआनच्वांग का मत है कि नागार्जुन बुद्ध की मृत्यु के ४०० वर्ष पश्चात् दक्षिणी कोसल में हुआ और उसने सर्वोपरि ज्ञान प्राप्त करके बोधिसत्त्व प्राप्त किया। डॉ० विद्याभूषण नागार्जुन को लगभग ३०० वर्ष ईसा के पश्चात् हुआ मानते हैं। किन्तु किसी भी अवस्था में वह ४०१ वर्ष ईसा के पश्चात् से इधर नहीं हुआ जबकि कुमारजीव ने नागार्जुन के जीवनचरित्र का अनुवाद चीनी भाषा में किया। इसके अतिरिक्त नागार्जुन न्यायसूत्रों में दिए गए १६ द्रव्यों की परिभाषाओं का ज्ञान भी रखता था और उसने प्रमाणों के ऊपर एक पुस्तक भी लिखी। इसमें नागार्जुन ने पांच अवयवों से युक्त तर्कक्रम के अन्वयघटित वाक्य (हेतुमद् अनुमान) को घटाकर केवल तीन अवयवों में ही विभक्त किया। तर्कशास्त्र पर लिखे गए एक अन्य ग्रंथ 'उपायकौशल्यहृदयशास्त्र' में हमें सम्वाद कला का एक विशद वर्णन मिलता है। 'विग्रहव्यावर्तिनी कारिका' में नागार्जुन न्यायशास्त्र की प्रमाण-सम्बन्धी कल्पना की समीक्षा करता है और सम्भवतः न्यायशास्त्र का कर्ता वात्स्यायन नागार्जुन के मत से अभिज्ञ था। माध्यमिक सूत्रों पर जो संस्कृत टीका हमें उपलब्ध है वह चन्द्रकीर्ति द्वारा रचित है, जो सम्भवतः सातवीं शताब्दी (ईसा के पश्चात्) के उत्तरार्ध में हुआ। सातवीं शताब्दी (ईसा के पश्चात्) में हुए शान्तिदेव को कभी माध्यमिकों में गिना गया है और कभी योगाचारों में। बोधिचर्यावतार एवं शिक्षा-समुच्चय जैसे अपने ग्रंथों में वह दो प्रकार के सत्यों को मानता है, संवृति और परमार्थ तथा शून्य के सिद्धान्त को वह स्वीकार करता है। "अपने पुण्य का निश्चय करो ऐसे कर्मों के द्वारा, जो नम्रता एवं शून्य की भावना से ओतप्रोत हों।" (शिक्षा समुच्चय, ५ : २१)। विचार की अन्य पद्धतियां माध्यमिक सिद्धान्त की आलोचना करती हैं।

को दूषित ठहराया है अर्थात् सब वस्तुएं सत् हैं एवं कुछ भी सत् नहीं है, दोनों ही स्थापनाएं अग्राह्य हैं। माध्यमिक दर्शन चरम विधि और चरम निषेध दोनों के मध्यम मार्ग को स्वीकार करता है। नागार्जुन को हम भारत के एक बहुत महान विचारक के रूप में पाते हैं जिसने विषयानिष्ठतावादी एवं यथार्थवादी दोनों वर्ग के विचारकों से कहीं अधिक आगे बढ़कर प्रत्यक्षरूप में अनुभव के विषयों का विश्लेषण किया है। निःस्वार्थ बौद्धिक उत्साह एवं दार्शनिक लगन के द्वारा जिनका स्रोत उनके अपने ही हित में सम्यक्ता एवं समग्रता पाना है उसके मन को समर्थन मिला। उसका दर्शन कभी तो मायावाद का स्पर्श करता है तो कभी रहस्यवाद को। उसका मायावाद उसके विचार की अनिवार्य सापेक्षता को जान लेने के कारण है। किन्तु तो भी उसकी आस्था एक परम यथार्थसत्ता के मानदण्ड में है। उसके मायावाद का उद्भव तो बौद्ध दर्शन में है और परमार्थवाद उसने उपनिषदों से लिया है। नागार्जुन एवं यथार्थ दार्शनिक भावना से प्रेरित होकर ऐसे विरोधी तत्त्वों को प्रकाश में लाकर रख देता है जिन्हें विवेकशून्य वाक्यरचना एवं चिन्तन के प्रति उदासीनता के कारण हमारी दैनिक चेतना परदे की ओट में रखती है। योगाचार यथार्थता के सापेक्ष दृष्टिकोण का सुझाव देता है जिसमें से ही नागार्जुन अपने मायावाद का विकसित करता है। किन्तु उसके दर्शन का जो निश्चित अंश है वह उपनिषदों की अद्वैतपरक व्याख्या के मत से भिन्न नहीं है। यह कल्पना करना एक भयंकर भूल है कि नागार्जुन में हम केवल उपनिषदों का ही सिद्धान्त मिलता है। उपनिषदों में वह प्रेरणा लेता हुआ अवश्य प्रतीत होता है किन्तु उसके दर्शन सिद्धान्त का विकास अधिकतर बौद्धमत के आश्रय में एवं उसीके उद्धरणों द्वारा हुआ। निष्कर्ष यह है कि नागार्जुन ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके नमूने का विचार पहले से नहीं रखा यद्यपि यह समझा जाता है कि इसकी उत्पत्ति प्रज्ञापारमिता से हुई। यह प्रतिपादन करना सम्भवतः अधिक उपयुक्त होगा कि साधारण धारणा के अनुसार शून्यवाद विज्ञानवाद से पूर्व प्रादुर्भूत हुआ यद्यपि इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः दोनों का विकास साथ-साथ हुआ हो। हर हालत में हमारी उक्त विषय के प्रतिपादन की व्यवस्था उक्त दोनों पद्धतियों के अन्दर तार्किक सम्बन्धों को पहचानने में सहायक सिद्ध होती है।

६

ज्ञान का सिद्धान्त

यदि हम प्रत्यक्षानुभवों से आगे बढ़कर उन पदार्थों तक जिनके विषय में हम अनुभव होते हैं नहीं पहुंच सकते तो हम अनुभवों से उस आत्मचेतना तक कैसे पहुंच सकते हैं जो प्रत्यक्ष की सम्पादक है? जिस यथार्थता का निषेध हम बाह्य जगत के विषय में करते हैं उसका अन्य विचार को भी कैसे दे सकते हैं? क्योंकि दोनों ही अस्थायी अनुभव के वर्ग के हैं। हम यह भी नहीं जानते कि देखने, अनुभव करने एवं इच्छा करने के अतिरिक्त चेतना का और क्या स्वरूप है। पदार्थ गुणों से भिन्न नहीं है। और यदि ऐसा है तो उसका ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिए बाह्य जगत को आन्तरिक जगत की ही प्रतीति ... ी कोई

आवश्यकता नही अथवा विषयी (प्रमाता) को ही सर्वव्यापक मानने की भी आवश्यकता नही। योगाचारो ने एक निरन्तर विद्यमान विषयी (प्रमाता) की स्थापना के द्वारा इन्द्रिय-गम्य ससार की व्याख्या की। तर्क को इससे भी आगे वढाया गया और आत्मा की छाया-मात्र को त्याग दिया गया। यदि योगाचारी ठीक मार्ग पर हे तब ज्ञेय पदार्थो की सत्ता नही है।[1] विषय (प्रमेय पदार्थ) के अभाव का तात्पर्य हुआ कि विषयी (प्रमाता) भी नही है। इस प्रकार से माध्यमिक निरन्तर आलय को उडा देता है और केवल विचारो के प्रवाह का ही प्रतिपादन करता है। यदि विषय-सम्बन्धो की खोज नही की जा सकती तो ससार का नितान्त अभाव है। बाह्य पदार्थ (प्रमेय विषय) एव आन्तरिक अवस्थाए दोनो ही शून्य-रूप है। माध्यमिक का कहना है कि हम जागरित अवस्था मे भी स्वप्न ही देख रहे होते है। तर्क के बल पर माध्यमिक प्रमाता एव प्रमेय दोनो की अन्तिम अवस्था मे अव्याख्येयता का अनुमान करता है। विज्ञान अथवा साधारण बुद्धि द्वारा की गई व्याख्याए, जो यथार्थ प्रतीत होती है, रोचक एव महत्त्वपूर्ण अवश्य है किन्तु वे अन्तिम रूप मे यथार्थ नही है। इससे पूर्व कि हम माध्यमिक के जगत् के प्रतीयमान रूपक सिद्धान्त के सही-सही महत्त्व की परिभाषा करने का प्रयत्न करे, आइए हम उन युक्तियो पर विचार करे जिनके आधार पर माध्यमिक अपने मत की स्थापना करता है।

माध्यमि, जैसाकि नाम से ही उपलक्षित होता हे, एक ऐसी स्थिति को अगीकार करता है जो परले सिरे की विधि एव परले सिरे के निषेध के बीच का मार्ग हे। यदि ससार की सत्ता को यथार्थ माना जाए तो उसमे कोई भी परिवर्तन नही हो सकता। उन्नति एव ज्ञान उसी अवस्था मे सम्भव हे जबकि ससार लचकदार या नमनशील हो और निरन्तर परिणमन की अवस्था मे हो। जिस प्रकार नागार्जुन पर टीका करते हुए चन्द्रकीर्ति कहता हे कि "यदि सब कुछ अपना-अपना स्वात्मतत्त्व रखता है जिसके कारण एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे जाना ही असम्भव हो जाता है तो फिर मनुष्य ऊचा उठने की इच्छा कैसे कर सकता है, यदि वस्तुत वह जीवन के स्तर मे ऊपर उठते रहने की अभि-लाषा करे?" एक ऐसे जगत् मे जो यथार्थ एव स्वय मे पूर्ण है, हम कुछ नही कर सकते, इसलिए इसे अयथार्थ होना ही चाहिए। नागार्जुन प्रश्न पूछता है कि "यदि आप शून्य के सिद्धान्त का निषेध करते है तो कार्यकारणभाव के सिद्धान्त का भी निषेध हो जाता है। यदि स्वात्मतत्त्व नामक कोई वस्तु होती तो वस्तुओ का बाहुल्य भी स्वरचित एव अवि-नश्वर रूप ठहरता, जो एक प्रकार से स्थायी शून्यता ही के समान है। यदि शून्यता (रिक्तता) न होती तो जो अभी तक प्राप्त नही हुआ उसकी प्राप्ति भी न हो सकती और न दुख का विनाश हो सकता और न ही समस्त वासनाओ का पूर्ण विलोप हो सकता।"[2] जगत् का विकासोन्मुख स्वरूप हमे विवश करता है कि हम उसकी परमार्थता का निषेध करे। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता हे कि जहा नागार्जुन जगत् के परमार्थ सत् रूप को अस्वीकार करता है, वह इसे नितान्त शून्यरूप मे भी परिणत नही करता है।

ससार के प्रतीति-आत्मक स्वरूप-सम्बन्धी माध्यमिक का सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद

१. सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, ३ : १, १८।   २ अध्याय २४।

(अर्थात् आश्रित उत्पत्ति) के सिद्धान्त में निकला है। एक उन धर्मों का पन्त है जो एक दूसरे के पीछे निरन्तर अटूट शृंखला के रूप में आते हैं। प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिरूप में धर्मों का संग्रह है। क्योंकि प्रत्येक विचार, सम्वेदना अथवा इच्छा एक धर्म है। एक गाड़ी भौतिक धर्मों के संगृहीत समूह का नाम है, इसी प्रकार मनुष्य भी भौतिक एवं मानसिक धर्मों का संगृहीत पुंज है जिनसे उसमें व्यक्तित्व का निर्माण होता है। धर्मों से पृथक् गाड़ी एवं मनुष्य का अस्तित्व केवल विचारों में ही है—ऐसा अस्तित्व जो प्रज्ञप्ति (नाम) मात्र का है। केवल धर्मों का ही अस्तित्व है किन्तु उनका नाश अवश्यम्भावी है। निरन्तर प्रवाह रूपी शृंखला में धर्म केवल क्षणिक है। प्रत्येक विचार अपने निर्णायक कारण अथवा प्रत्यय के रूप में अनेक धर्म रख सकता है जो कुछ कुछ उसके बाह्य हों, यथा दृष्टि के विषय एवं चक्षु इन्द्रिय आदि-आदि। किन्तु इसका कारण अथवा हेतु वही विचार है जो ठीक उससे पूर्व रहा हो, ठीक जैसे कि दीपशिखा की जीवनावधि का प्रत्येक क्षण तेल व बत्ती आदि के ऊपर निर्भर करता है यद्यपि यथार्थ में यह दीपशिखा के पूर्ववर्ती क्षणों की ही शृंखला है। कोई भी वस्तु अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु के ऊपर निर्भर करती है। माध्यमिक सब धर्मों एवं उनके संग्रह को अयथार्थ घोषित नहीं करते यद्यपि वे उन्हें प्रतीतिरूप एवं क्षणिक अवश्य मानते हैं,[१] तो भी यह स्वीकार करना होगा कि विवाद के आवेश में आकर वे कभी-कभी सुझाव देते हैं कि धर्म सर्वथा अभावात्मक हैं।

यदि व्याख्या करने की असमर्थता को ही किसी वस्तु की यथार्थता के निषेध का पर्याप्त कारण मान लिया जाए तब न तो बाह्य पदार्थ और न ही आन्तरिक आत्मा यथार्थ ठहर सकेंगे। योगाचारों का तर्क है कि बाह्य पदार्थ अयथार्थ हैं क्योंकि हम नहीं कह सकते कि उनका प्रादुर्भाव अस्तित्व से हुआ है या नहीं, और वे सरल अणु हैं अथवा संयुक्त देह हैं। इस कल्पना के अन्दर काम करनेवाले सिद्धान्त को नागार्जुन स्वीकार करता है अर्थात् कि अयथार्थ बुद्धिगम्य नहीं है, किन्तु उसका कहना है कि इस दृष्टिकोण से चेतना अथवा विज्ञान भी अयथार्थ ठहरता है।—यह देखते हुए कि हम इनके विषय में किसी प्रकार का संगत कथन नहीं कर सकते। यहां पर आकर नागार्जुन अपनी सम्बन्धविषयक कल्पना का विकास करता है। योगाचार इस विषय पर बल देते हैं कि सब वस्तुओं की सत्ता चेतना के सम्बन्धों द्वारा ही है। विचार करनेवाली चेतना के अतिरिक्त हम और ऐसे किसी माध्यम को नहीं जानते जिसके द्वारा वस्तुओं का अस्तित्व सम्भव हो सके। नागार्जुन यह भी स्वीकार करता है कि संसार की स्थिति के कारण सम्बन्ध ही हैं। संसार केवल इन सम्बन्धों का सम्मिश्रण है। अन्तरिक्ष के सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि एवं पृथ्वी पर का कुल सामान और वे सब पदार्थ जो इस महान जगत् के ढांचे का निर्माण करते हैं अपना कोई महत्त्वपूर्ण (यथार्थ एवं तात्त्विक) अस्तित्व नहीं रखते। ये सारवान सम्बन्ध हैं किन्तु सम्बन्ध स्वयं बुद्धिगम्य नहीं हैं। नागार्जुन दिखाना चाहता है कि सारा आनुभविक जगत् केवल प्रतीतिमात्र और अनेक सम्बन्धों का जाल मात्र है। प्रकृति और आत्मा, देश और

१. जब हम विवेक बुद्धि से वस्तुओं की परीक्षा करने लगते हैं तो हम किसी भी वस्तु के स्वरूप का ठीक ठीक निरूपण नहीं कर सकते, इसलिए हमें घोषणा करनी पड़ती है कि वस्तु अवाच्य है और उनका कोई स्वभाव अथवा स्वरूप नहीं बताया जा सकता (लंकावतारसूत्र २, १७३)।

काल, कारण और कार्यरूप पदार्थ, गति और विश्रान्ति, यह सब एक समान दृष्टिशक्ति मे आनेवाला निराधार ढाचा मात्र है जो अपने पीछे उडते हुए बादलों की तरह कोई चिह्न भी नही छोड सकता। यथार्थता को कम से कम स्थिर एव सगत तो होना ही चाहिए। किन्तु वे विभाग जिनमे से हम अपनी यथार्थता अथवा अनुभव की रचना करते है, हमारे लिए बुद्धिगम्य नही है, बल्कि परस्पर-विरोधी है। बुद्धिगम्य होना तो कम से कम यथार्थता के लिए आवश्यक है ही, किन्तु अनुभवजन्य सम्बन्धो मे इतना गुण भी नही है। जो वस्तुए परस्पर-सगत नही है वे वास्तविक तो हो सकती है किन्तु यथार्थ नही। यहा हमे ब्रैडले के इस सम्बन्ध मे किए गए प्रयास का स्मरण होता है क्योकि दोनो ही अवस्थाओ मे सामान्य नियम वही है। निस्सन्देह यहा पर हमे उक्त नियम का वैसा विशद एव क्रमबद्ध प्रयोग नही मिलता जो ब्रैडले के अध्यात्मशास्त्र को महत्त्व प्रदान करता है। नागार्जुन का प्रयास न तो उतना पूर्ण है और न ही उतना विधिपूर्वक है जैसाकि ब्रैडले का है। नागार्जुन मे ब्रैडले की भाति क्रमबद्धता और एकरूपता का अभाव है किन्तु उसे सामान्य नियम का पूरा ज्ञान है और उसके ग्रन्थ मे बहुत कुछ न्यूनता एव निष्प्रयोजनता के रहने पर भी एक प्रकार की एकता पाई जाती है।

गति के प्रकार की व्याख्या नही हो सकती। हम इसके स्वरूप को नही समझ सकते। कोई भी वस्तु एक ही समय मे दो स्थानो मे नही हो सकती। "हम ऐसे मार्ग पर नही चल रहे है जिसपर पहले यातायात न हो चुका हो। और न ही हम ऐसे मार्ग पर चल रहे है जिसपर अभी चलना है। ऐसे मार्ग का अस्तित्व जिसपर अभी तक कोई न चला हो और न ही जिसपर अभी चलना शेष हो, हमारी समझ से बाहर है।"[1] ऐसे मार्ग को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है अर्थात् एक वह मार्ग जिसपर पहले चला जा चुका हो और दूसरा वह जिसपर अभी चलना शेष हो। तीसरा मार्ग सम्भव नही। पहला तो समाप्त हो चुका और दूसरा अभी सामने नही आया इसलिए गति असम्भव है। गति के इस निषेध के परिणामो को वाद के छन्दो मे विकसित किया गया है।[2] चूकि गति नही है तो चलनेवाला भी नही है।[3] बिना गति के कोई गति का कर्ता नही और इसीलिए कोई भी कर्ता कैसे चल सकता है? "चूकि तुम ऐसे मार्ग पर चलना प्रारम्भ नही कर रहे हो जिसपर पहले चला जा चुका है और न ऐसे ही मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर रहे हो जिसपर अभी तक किसीने गति नही की, न ऐसे ही मार्ग पर हो जिसपर चला जा रहा है, तो फिर तुम किस मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर रहे हो?"[4] चलनेवाले एव गति के विषय मे भी हम निश्चयपूर्वक कह सकते है, क्योकि बिना गति की क्रिया के गति करनेवाला नही हो सकता। वह न तो एक-दूसरे के सदृश है और न ही एक-दूसरे से भिन्न है। इसलिए एकमात्र परिणाम जो निकलता है वह यह है कि गति करनेवाला एव मार्ग और गतिरूप कर्म सभी अयथार्थ है।[5] और हम यह नही कह सकते कि स्थितिरूप कर्म ही यथार्थ है। गति, परिवर्तन एव स्थिति ये सब बुद्धि से परे है। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इस सारे कथन मे नागार्जुन केवल क्रियात्मक कठिनाइया उत्पन्न कर रहा है, क्योकि परिवर्तन और गति सत्य घटनाए

१. माध्यमिक सूत्र, २ : १। २. २ : २-५।
३. २ : ६, ७, ८। ४. २ : १२। ५ २ : १४-१८।

है। इसमें सन्देह नहीं कि ये वास्तविक घटनाएँ हैं किन्तु प्रश्न यह है कि हम किस प्रकार अपनी बुद्धि से उन्हें समझ सकते हैं। जब तक हम दार्शनिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं हम पूर्ण व्याख्या से कभी भी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। गति एवं स्थिति की पूर्ण रूप से व्याख्या नहीं हो सकती और इसलिए ये परम तथ्य नहीं हैं किन्तु केवल सापेक्ष परिकल्पनाएँ हैं एवं उपयोगी परम्पराएँ हैं।

सातवें अध्याय में नागार्जुन संयुक्त पदार्थों अथवा संस्कृतों के विषय को लेता है जो जीवन धारण करते हैं स्थिर रहते हैं एवं नष्ट हो जाते हैं।[1] यदि प्रादुर्भाव, स्थिति एवं विनाश नाना हों, पृथक् रूप से एक संस्कृत पदार्थ के रूप का निरूपण नहीं कर सकते तब वे मिलकर एवं एक ही समय में एक ही पदार्थ में रह सकते हैं। यदि पदार्थ अपने प्रादुर्भाव के समय में विनाश एवं स्थितिरहित हो तब उसे हम संस्कृत नहीं कह सकते। यही अवस्था दोनों अन्य गुणों के सम्बन्ध में भी है, तो भी तीनों एकसाथ एक ही क्षण में नहीं हो सकते। प्रकाश और अन्धकार एक ही समय में नहीं रह सकते। इस प्रकार से संस्कृत पदार्थ यथार्थ नहीं हैं। इक्कीसवें अध्याय में वह प्रादुर्भाव एवं विनाश के विषय को लेता है (सम्भव विभव) और उनकी अयथार्थता को प्रमाणित करता है। आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर न तो उद्भव ही और न विनाश ही सम्भव है। उन्नीसवें अध्याय में काल के विचार का विषय भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् सब सम्मिलित हैं यह बुद्धिगम्य पदार्थों की श्रेणी से बाहर स्थापित करता है। भूतकाल का निरूपण असाध्य है एवं भविष्यत् एवं निर्विकल्प अविद्यमान है। जो कुछ वर्तमान में अनुभव में आता है वही सब कुछ प्रतीत होता है जो कि है। किन्तु भूत एवं भविष्यत् काल से पृथक् वर्तमान को हम नहीं मिलता। इसलिए काल भी विचार का ही एक रूप है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता से नहीं है।[1]

उनका अस्तित्व है, क्योकि इन्द्रियो का अस्तित्व है। आख के अभाव मे रग का और कान के अभाव मे शब्द का भी अस्तित्व न होगा। इसलिए गुण अपने मे भिन्न एव पृथक् अवस्थाओ के ऊपर निर्भर करते है। वे स्वतन्त्र रूप से यथार्थ नही है क्योकि वे हमारी इन्द्रियो पर निर्भर करते है। वे स्वतन्त्र रूप से अपने-आपमे अस्तित्व नही रख सकते। चूकि गुणो का अस्तित्व इन्द्रियो के साथ सम्बन्ध रखता है, इसलिए वे सब इन्द्रियो पर निर्भर करते है, और इसलिए नागार्जुन गुणो मे मुख्य एव गौण विषयक भेद नही करता। चूकि सब गुण प्रतीति या आभास मात्र ही है, वे पदार्थ भी जिनके अन्दर उनका आवास है, यथार्थ नही हो सकते। यदि वस्तु का सम्बन्ध गुणो के साथ है तब प्रतीति या आभासरूप गुणो का वस्तु पर भी प्रभाव रहेगा। हम ऐसे पदार्थो को नही जानते जो इन गुणो को धारण किए हुए है। हमारा ज्ञान गुणो तक ही सीमित है। तथाकथित वस्तु अनुभव से परे है और इसलिए इसमे विश्वास रखना एक परम्परागत धारणा मात्र ही है। हम यह नही कह सकते कि कोई अन्य नही, केवल ये गुण ही वस्तुविशेष के गुण है। यदि पदार्थ केवल एक प्रकार की सयोजक वस्तु है, जो गुणो को एकसाथ, जैसे एक-दूसरे से चिपकाकर, रखती है एव उनमे पारस्परिक सघर्ष को रोकती है, तब पदार्थ केवल एक प्रकार का सम्बन्ध ही बन जाता है। इस प्रकार पदार्थ गुणो का एक अमूर्तरूप सम्बन्ध है और चेतना से पृथक् अस्तित्व नही रख सकता जो एक ऐसा वाहन है कि जिसके द्वारा इसका निर्माण होता है। पदार्थ एव गुण अन्योन्याश्रित है और इनमे से किसी एक को स्वतन्त्र रूप मे पूर्ण यथार्थता की इकाई नही माना जा सकता। परमार्थ रूप मे जिसका अस्तित्व है वह न तो पदार्थ है और न ही गुण है क्योकि ये दोनो परस्पर एक-दूसरे के ऊपर निर्भर है। कुछ समय के लिए व्यावहारिक दृष्टि से हम अपने अनुभव मे उसे पदार्थ के रूप मे मान ले सकते है जिसके अन्तर्गत गुण रहते है क्योकि भार एव आकृति आदि गुणो की कल्पना हम उनकी पृष्ठभूमि मे किसी अधिष्ठान को माने बिना नही कर सकते। वस्तुत नागार्जुन का विश्वास है कि वस्तुए कारणकार्य-भाव सम्बन्ध के कारण, और परस्पर-निर्भरता, सान्निध्य और सोपाधिकता के कारण यथार्थ प्रतीत होती है।

माध्यमिक सूत्रो के पाचवे अध्याय मे कारणकार्य-सम्बन्धो का खण्डन किया गया है। "कोई भी पदार्थ अपने कारण से पृथक् रूप मे प्रत्यक्ष का विषय नही बनता और पदार्थ का कारण भी स्वय पदार्थ से पृथक् रूप मे नही ग्रहण किया जा सकता। यदि पदार्थ का कारण स्वय पदार्थ से पृथक् है तब इसका तात्पर्य यह हुआ कि आप पदार्थ को कारणविहीन मानते है। किन्तु पदार्थ के कारण को मानना युक्तियुक्त नही है क्योकि बिना कारण के पदार्थ का अस्तित्व नही रह सकता।" नागार्जुन तर्क करता है कि कारण से पृथक् कार्य अथवा कार्य से पृथक् कारण अभावात्मक है। किसी भी वस्तु की उत्पत्ति न तो अपने-आपसे होती है और न ही दूसरे पदार्थ से होती है और न दोनो ही से होती है तथा बिना कारण भी नही होती। तर्क की दृष्टि से उत्पत्ति असम्भव मालूम होती है।[1] कोई भी यथार्थ वस्तु उत्पन्न होती

१. सर्वसिद्धान्तसारसग्रह (अध्याय ४ ७,८) इस प्रकार का तर्क उपस्थित करता है, जो अजन्मा है, उसकी उत्पत्ति किसी भी कारण के द्वारा नही हो सकती जैसे कि एक चतुष्कोण चक्र, यदि उत्पादन को एक मत पदार्थ के सम्बन्ध मे वाञ्छनीय स्वीकार कर लिया जाए तो भी वह केवल उसी वस्तु को

हुई नहीं सुनी जाती और न यही कहा जा सकता है कि वह घड़ा जो इस क्षण में असत् है अगले क्षण में उत्पन्न हो जाता है। ऐसा कथन करना असंगत होगा। जब हम यह जानते हैं कि वस्तुओं की कोई परमार्थ सत्ता नहीं है तो हम देखते हैं कि वह ऐसी सत्तासम्पन्न दूसरी वस्तुओं को भी उत्पन्न नहीं कर सकती। यदि हम कारणों के विषय में कुछ कहते हैं तो इसमें तर्क की अवहेलना करते हैं और विषयी और विषय, पदार्थ और गुण, देश और काल का कुछ समय के लिए उपयोग करके आनन्द लूटते हैं। परमार्थ दृष्टि से यदि देखा जाए तो न तो कोई कारण है और न कार्य ही है, न उत्पत्ति है और न विनाश है।[1] कभी कभी कारण को ही समस्त सामग्री समझ लिया जाता है—उसे भी सब प्रकार के नियन्त्रण में रक्खित और ऐसा कि जिसे समझना कठिन है।[2] इस विवाद से यह परिणाम निकलता है कि परिवर्तन का विचार बुद्धिगम्य नहीं है। क ख में परिवर्तित होता है। नागार्जुन तर्क करता है कि यदि क ख बन सकता है तो यह सदा ही ख रहा होगा अन्यथा यह ख नहीं बन सकता। किन्तु वह ख नहीं रहा होगा। क्योंकि अन्यथा इस कथन का कुछ आवश्यकता ही नहीं कि वह ख बन गया। परिवर्तन की प्रक्रिया बुद्धिगम्य नहीं है। कारण कार्यभाव परिवर्तन का समाधान नहीं है क्योंकि यह स्वयं एक असम्भव विचार है।

गुण का पदार्थ के साथ निर्भरता का सम्बन्ध है। दोनों विशेष प्रकार के सम्बन्ध में अस्तित्व रखते हैं। बीज एवं नये पदार्थ में भी परस्पर ऐसा ही सम्बन्ध है। परमार्थ दृष्टि से दोनों ही अयथार्थ हैं किन्तु सापेक्षरूप में उन दोनों का अस्तित्व प्रतीत होता है और जब तक एक वस्तु दूसरी वस्तु के ऊपर निर्भर करती है तब तक उनमें से एक भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखती।

एक प्रतीति विषयक घटना (जो विशेषकाल और देश से सम्बद्ध है) एक अन्य घटना के साथ (जो दूसरे काल एवं देश से सम्बद्ध है) सान्निध्य के सम्बन्ध से सम्बद्ध हो सकती है किन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा सम्बन्धी सम्बन्ध सापेक्ष होते हैं और यह कि उनमें नितान्त पूर्ववर्तिता अथवा पश्चाद्वर्तिता नहीं होती।

हिस्से का सम्बन्ध पूर्ण इकाई के साथ सापाधिकता (कण्डीशनलिटी) का है जैसे कि धागों का सम्बन्ध कपड़े के साथ है। धागों से पृथक् कपड़ा नाम की कोई वस्तु नहीं और न ही धागे कपड़े से पृथक् हैं। इन दोनों में से किसी की भी परमार्थसत्ता नहीं है। बिना हिस्सों के सम्पूर्ण इकाई नहीं बनती एवं पूर्ण इकाई के बिना हिस्सों का अस्तित्व नहीं। दोनों ही एक-दूसरे के साथ उपाधिरूप सम्बन्ध में अवस्थित प्रतीत होते हैं। किन्तु यह केवल प्रतीति अथवा संवृति मात्र है। विश्व के किसी भी पदार्थों का परमार्थरूप में अस्तित्व नहीं है। इनका अस्तित्व सम्बन्धों द्वारा ही प्रतीत होता है।

इस ... में आत्मा के विषय का ... लिया गया है। इस सामान्य सिद्धान्त के आधार पर कि गुणों के अतिरिक्त पदार्थ की सत्ता कुछ नहीं है हम इस परिणाम पर पहुँचते

[illegible]

1 मध्यमक २१।

2 मध्यमक १०।

है कि चेतना की अवस्थाओं के अतिरिक्त आत्मा का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। कार्य करने, अनुभव करने एवं विचार करने से पूर्व आत्मा का अस्तित्व नहीं है। नवें अध्याय में नागार्जुन कहता है : "कुछ व्यक्तियों का कहना है कि वह सत्ता जिसका कार्य देखना, सुनना एवं अनुभव करना है, अपने उन कर्मों से पूर्व भी विद्यमान रहती है। किन्तु हम यह कैसे जान सकते हैं कि वह उन कर्मों से पूर्व अपना अस्तित्व रखती है। यदि आत्मा का अस्तित्व देखने के कर्म से पूर्व एवं उसके बिना भी था तो देखने का कार्य बिना आत्मा की सत्ता के भी होना चाहिए। आत्मा एवं देखने की क्रिया दोनों ही एक-दूसरे की पूर्व-कल्पना कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त यदि सुनने एवं देखने की सारी क्रिया से पूर्व आत्मा का अस्तित्व नहीं था तो इनमें से प्रत्येक के पूर्व यह कैसे विद्यमान हो सकता है? यदि यह वही एक (सामान्य) आत्मा है जो देखती है, सुनती है और अनुभव करती है तो अवश्य उसका अस्तित्व इन सब कर्मों से पूर्व होना चाहिए। आत्मा उन तत्त्वों में विद्यमान नहीं रहती जिनके द्वारा देखने, सुनने और अनुभव की क्रियाएं सम्पन्न होती हैं।" जब तक देखने आदि की क्रियाएं सम्पन्न नहीं होतीं, आत्मा की विद्यमानता को नहीं जाना जा सकता। इसलिए यह उक्त क्रियाओं से पूर्व विद्यमान नहीं थी और न ही यह उक्त क्रियाओं के अनन्तर अस्तित्व में आती है। क्योंकि यदि देखने आदि की क्रियाएं आत्मा के बिना भी निष्पन्न हो सकती हैं तो आत्मा को बीच में डालने का उपयोग ही क्या? इसलिए हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि आत्मा एवं देखने आदि की क्रियाएं एक ही समय में एक-दूसरे के साथ-साथ अपना अस्तित्व रखती हैं। क्योंकि जब तक वे एक-दूसरे से स्वतन्त्र न हों, दोनों एक ही समय में नहीं हो सकतीं।[1] नागार्जुन आत्मा के सम्बन्ध में उन्हीं तर्कों का प्रयोग करता है जिनका प्रयोग योगाचारी बाह्य यथार्थता के निराकरण के लिए करते थे। यदि उन गुणों के कारण जो हमारे सम्मुख बाह्य विश्व के अध्ययनकाल में आते हैं, एक ऐसी स्थायी यथार्थता का निर्देश नहीं करते जिसे हम प्रकृति कहते हैं, तब फिर विचारों का अस्तित्व कैसे आत्मा का निर्देश कर सकता है? क्योंकि आत्मा तो विचार नहीं है। क्षणिक मानसिक अवस्थाओं की अबाधित शृंखला ही सब कुछ है, जिसे हम आत्मा समझ सकते हैं। हम चेतना के स्वरूप के विषय में कुछ नहीं जानते। यह एक प्रकार का प्रवाह है, संवेदनाओं का विकसित होता हुआ एक क्षेत्र है जो हमारे सम्मुख खुलता है। नागार्जुन के मत में एक नित्य आत्मा में विश्वास, इसी प्रकार का एक साहसिक और रूढ़िबद्ध विश्वास है, जैसाकि उसके समानान्तर भौतिक जगत्-सम्बन्धी विश्वास। यह धारणा कि चेतनागत पदार्थों की व्यवस्था मनोवैज्ञानिक शृंखलाबद्ध क्रम में इस प्रकार से होती है कि उनसे पृथक् मनो की

---

1. न्यायशास्त्र नागार्जुन के इस मत का उल्लेख करते हुए उत्तर में कहता है : "यदि इस प्रकार आप प्रत्यक्ष ज्ञान आदि का निराकरण करते हैं तब कोई भी व्यक्ति इन्द्रियगम्य पदार्थों की स्थापना नहीं कर सकता और यदि इन्द्रियगम्य पदार्थों का अस्तित्व नहीं है तो उनके विषय में कोई आपत्ति भी नहीं उठाई जा सकती। इस प्रकार आपकी उठाई हुई आपत्तियां एकदम निराधार हैं। और यदि आप सब प्रकार की साक्षियों का निषेध करते हैं तब आपकी आपत्तियों का कोई महत्त्व नहीं रहता; यदि आप अपनी आपत्तियों की निर्दोषता को स्वीकार करते हैं तब आप प्रत्यक्ष ज्ञान आदि की विविधता से सहमत होते हैं।"

सृष्टि हो गये एवं सारी कल्पना है। वस्तुएं ऐसी ही हैं जैसी वे प्रतीत होती हैं। हम विचारों के प्रवाह के विषय में कल्पना नहीं करते। यदि हम इस आत्मा की यथार्थता को स्वीकार करते हैं जो चेतना की अवस्थाओं के अतिरिक्त है तो यह केवल क्रियात्मक उपयोग के लिए है। आत्मा और इसकी अवस्थाओं में तथा कर्ता और उसकी क्रियाओं में परस्पर निर्भरता के विषय का प्रतिपादन आठवें अध्याय में किया गया है। कार्य के सम्बन्ध में ही कर्ता का प्रश्न उठता है और कार्य का कर्ता से सम्बन्ध से हो है। किन्तु परमार्थता की दृष्टि से न तो कोई कर्ता है और न कार्य ही है।[1]

ज्ञान की व्याख्या असम्भव है। सम्वेदनाओं से विचारों का जन्म होता है ठीक ऐसे ही जैसे कि विचार सम्वेदनाओं को जन्म देते हैं। पौधा में से बीज उत्पन्न होते हैं और बीज से फिर पौधे का जन्म होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। तुम उसे नहीं देख रहे हो जिसे पहले देखा जा चुका है। और न ही तुम उस पदार्थ को देख रहे हो जो अभी तक नहीं देखा गया है। क्योंकि ऐसा दृश्य पदार्थ जो न तो अभी तक पहले देखा गया है और न अभी तक देखा जाता है अस्तित्वरहित है।[2] चक्षु इन्द्रिय इसको नहीं देखती और दर्शनेन्द्रिय के अतिरिक्त तो कोई शक्ति देख ही नहीं सकती। तो फिर तीसरी ऐसी कौन शक्ति है कि जो देखे?[3] देखनेवाला द्रष्टव्य पदार्थ और दर्शन की क्रिया आदि चलने वाले जिस मार्ग पर चला जा सके वह और गति विषयक क्रिया आदि के समान एकसाथ विचार में नहीं आ सकते। प्रत्यक्ष ज्ञान एवं द्रष्टव्य पदार्थ एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर ही अपना अस्तित्व रखते हैं। यदि दर्शन की क्रिया न हो तो रंग भी नहीं है और रंग के अभाव में रंग का प्रत्यक्ष ज्ञान भी न होगा। जिस प्रकार पुत्र अपने माता-पिता पर निर्भर करता है ठीक इसी प्रकार दृष्टिशक्ति की सम्वेदना आंखों एवं रंगों पर निर्भर करती है। और हम इस विषय का भी कभी निश्चय नहीं हो सकता कि हम जो कुछ देखते हैं वह सम्पूर्ण रूप में हमारा अपना ही है। वही एक वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है और उसी एक व्यक्ति को भी भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है। चौदहवें अध्याय में संसर्ग अथवा पदार्थ के साथ सन्निकर्ष का विश्लेषण किया गया है और उसका निराकरण कर दिया गया है। परिवर्तन एवं अवस्थाएं आती जाती रहती हैं और पूर्वापर की शृंखला भी स्थिर नहीं रह सकती जब तक कि वह जो अनुभवकर्ता है एकरस न हो और तारतम्य की शृंखला में बराबर विद्यमान न रहे। किन्तु आत्मा को इस प्रकार एकरस समझना अपने-आपमें एक कठिन समस्या है।

फिर सामान्य गुणों (जाति) के विषय में क्या है? क्या वे उन जातिगत पदार्थों से स्वतन्त्र रूप में भी पाए जाते हैं अथवा वे सदा व्यक्तियों के अन्दर ही पाए जाते हैं। हमारा समस्त ज्ञान भेद के ऊपर निर्भर है। गाय क्या है? वह घोड़ा नहीं है और न भेड़ ही है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक गाय गाय से भिन्न कुछ नहीं है। गाय है यह कहने की अपेक्षा हम यह कहेंगे कि यह एक घोड़ा या वृक्ष नहीं है। हमारा समस्त ज्ञान सापेक्ष है और भेद के आधार पर स्थिर रहता है। घोड़ा नहीं है संसार नहीं है आदि। हम नहीं जानते कि ये

१ १६ १ ।   ३ ३ ।   १ २ ४ ।

क्या है। इस पहेली को इस प्रकार से रखा गया है हम किसी भी वस्तु के स्वरूप को अन्य वस्तुओं से भिन्न किए विना नहीं जान सकते और न हम दूसरों से इसके भेद को जान सकते हैं, सिवा इसके कि उसके निजी स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकें।[1] एक वस्तु से हम दूसरी की ओर जाते हैं और इस प्रक्रिया का कहीं अन्त नहीं है। हमें वस्तुओं के सम्बन्ध में अन्तिम व्याख्याओं की प्राप्ति नहीं हो सकती।[2] सब वस्तुएं सापेक्ष हैं। कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व के लिए आत्मनिर्भर नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु कारण-कार्य की अनन्त शृंखला के ऊपर आश्रित है। वस्तुओं के समस्त गुण सम्बन्धयुक्त हैं और परमार्थरूप नहीं हैं। हम पारस्परिक सम्बन्धों की योजनाओं के द्वारा ही कार्य करते हैं और वे भी एकसाथ एकत्र नहीं होते। जिन वस्तुओं को हम अब देख रहे हैं वे प्रगाढ निद्रा में दिखाई नहीं देतीं। जो कुछ स्वप्न में दिखाई देता है, वह जब हम जागरित अवस्था में होते हैं तो दिखाई नहीं देता। यदि वस्तुत किसी वस्तु का यथार्थ में अस्तित्व होता तो वह तीनों अवस्थाओं (जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति) में प्राप्य होनी चाहिए थी। विचार न तो अपने को और न ही दूसरे किसी पदार्थ को जान सकता है। सत्य की समता मौन के साथ है (अर्थात् सत्य वाणी का विषय नहीं हो सकता)। ज्ञान असम्भव है।[3] नागार्जुन के कठोर तर्क का यही निष्कर्ष निकलता है।

विश्व से पृथक् कोई ईश्वर नहीं और ईश्वर से पृथक् कोई विश्व नहीं, और दोनों ही एक समान प्रतीति मात्र हैं। यदि नागार्जुन इस प्रकार ईश्वर के विचार का परिहास करता है तो हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह देवतावादी या आस्तिक का ईश्वर है जिसका वह निराकरण करता है, किन्तु वह उस यथार्थरूप ईश्वर के प्रति भक्ति के प्रति सच्चा है जो महायान बौद्धधर्म का धर्मकाय है।

एक साहसपूर्ण तर्क का आश्रय लेकर वह यह दिखाता है कि किस प्रकार यह संसार जो जन्म, जीवन एवं मरण से युक्त है, अयथार्थ है।[4] दुःख[5], संस्कार[6] अथवा मानसिक प्रवृत्तियां, बन्धन, मुक्ति[7] एवं समस्त कर्म[8] अयथार्थ हैं। ये सब ऐसे सम्बन्धों के कारण हैं कि जिनके स्वरूप को हम कभी समझ नहीं सकते। नागार्जुन में इतना साहस अवश्य है कि वह अपने तर्कशास्त्र के निर्णयों का सामना कर सके, भले ही वे मनुष्यजाति के धार्मिक हितों के लिए कितने ही अरुचिकर क्यों न हों। वह अपनी दर्शन-पद्धति का निचोड़ इन शब्दों में रखता है कि यथार्थ में बुद्ध अथवा तथागत भी नहीं हैं[9], और परमार्थ के दृष्टिकोण से सत्य एवं मिथ्या में किसी प्रकार का भेद भी नहीं है। जब यथार्थ कुछ है ही नहीं तो किसी विषय के मिथ्याज्ञान की भी सम्भावना नहीं उठती।[10] दुःख-विषयक जो चार आर्यसत्य हैं[11] वे एवं

१ यस्मात् न हि स्वभावाना प्रत्ययादिषु विद्यते।
अविद्यमाने स्वभावे परभावो न विद्यते॥

२. रूपादिव्यतिरेकेन यथा कुम्भो न विद्यते।
वाय्वादिव्यतिरेकेन तथा रूप न विद्यते॥
(अध्याय १)।

३ अध्याय २७। ४. अध्याय ११। ५. अध्याय १२।
६ अध्याय १३। ७ अध्याय १६। ८. अध्याय १८।
९. अध्याय २२। १०. अध्याय २३। ११. अध्याय २४।

अध्याय मे नागार्जुन हमे बताता है कि शून्यतारूपी निष्कर्ष एक प्रकार से अनायास ही उसके ऊपर आ पडा, जिसकी कल्पना उसने प्रारम्भ मे नही की थी। और इसे स्वत.सिद्ध मान लेने से यह 'साध्यसम' हेत्वाभास (Petitio Principii) होगा। प्रतीतिवाद (Phenomenalism) भी बलात् उसके सिद्धान्त मे आ गया। तर्कशास्त्र का प्रश्न ज्ञान के सिद्धान्त के रूप मे यह है कि अनुभव किस प्रकार सम्भव होता है। नागार्जुन उन अवस्थाओ को दिखाता है जो अनुभव को सम्भव बनाती है, और उनकी अबुद्धिगम्यता को भी दिखाता है, और अनुभव के अपरमार्थ-स्वरूप का अनुमान करता है। नागार्जुन के तर्कशास्त्र का कुल प्रदर्शन उसके हृदय का चित्रपट है जो परमार्थसत्ता मे विश्वास रखता था। बाह्य सशयवाद आन्तरिक सत्य के हित मे ही था। प्रकृति एक आभास-मात्र है तो भी उसकी एक स्थायी नीव है, जो असीम है, जिसमे से सब पदार्थ निकलते है और अन्त मे समा जाते है। केवल मात्र इसके विषय मे बात करते समय हमे अपने आनुभविक जीवन के सब विभागो का त्याग कर देना चाहिए। हम यह नही कह सकते कि यह क्या है अर्थात् यह स्वतन्त्र अथवा चेतनामय है। प्रश्न स्वय उपलक्षित करते है कि हमारे मर्यादित जीवन की अवस्थाए अनन्त यथार्थता मे परिवर्तित हो जाती है। अनन्त आत्मा की व्याख्या से निषेध का आशय यह नही कि हम उसका निराकरण करते है। परमार्थ की यथार्थता मे दृश्यमान जगत् की प्रतीति समाविष्ट है। "स्कन्ध रिक्त है, सब वस्तुए रिक्तता के स्वभाव वाली है, उनका न कोई प्रारम्भ है और न अन्त है, वे निर्दोष है और निर्दोष नही भी है, वे अपूर्ण नही है और पूर्ण भी नही है, इसलिए हे सारिपुत्र, इस शून्यता मे न तो कोई रूप है, न प्रत्यक्षज्ञान है, न नाम है, न कोई प्रत्यय है और न ज्ञान है।"[1]

यह स्वीकार करते हुए कि ज्ञानमय जगत् सम्बन्धयुक्त है, योगाचारो ने विज्ञान की यथार्थता की स्थापना की, जो सम्बन्धो को जोडता है। नागार्जुन विज्ञान के विचार को आत्मा के रूप मे लेकर उसकी अपर्याप्तता को दर्शाता है। यदि विज्ञान एक मर्यादित आत्मा है तो वह परमार्थ तत्त्व नही हो सकता। यदि यह अनन्त आत्मा है तो इसे ऐन्द्रिय विभाग की श्रेणी मे रखना अनुचित होगा। परमार्थसत्ता परमार्थसत्ता ही है और उसके विषय मे हम और कुछ नही कह सकते। विचार जितना भी है सब सापेक्ष है और परमतत्त्व भी जब विचार का विषय बनता है, एक प्रकार से सापेक्ष हो जाता है, हम इसे स्वत चेतन व्यक्ति के रूप मे विचारगत नही कर सकते, जब तक कि उसके विषय मे वर्णन करने के लिए किसी नाममात्र वस्तु की स्थापना न कर ले।

७

सत्य और यथार्थता की श्रेणियां

ऐसा प्रतीत होता है कि नागार्जुन की प्रतीतिवाद-सम्बन्धी कल्पना हमे मूल्याकन की समस्त योजना को भ्रान्ति समझकर छोड देने की प्रेरणा देती है। जब प्रत्येक वस्तु ही अयथार्थ

१. वृहत्तर प्रज्ञापारमिताहृदया सूत्र, पृष्ठ १४८, 'सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट', ४९।

बन गए पुण्य एवं पाप भी अयथार्थ हैं तब हम निर्वाण की अवस्था को प्राप्त करने के लिए प्रयास करने की भी आवश्यकता नहीं और न ही दुःखों से मोक्ष प्राप्त करने की आवश्यकता है क्योंकि दुःखों का अस्तित्व भी नहीं है। जीवन को भ्रान्तिरूप समझते हुए हम जीवन निर्वाह नहीं कर सकते। भ्रान्ति का पता लग जाने पर फिर नैतिक जीवन को उसके ऊपर आधारित करना लगभग असम्भव हो जाता है। यद्यपि परमार्थ के दृष्टिकोण से देखने पर दुःख अयथार्थ है किन्तु जहां तक हमारे वर्तमान जीवन का सम्बन्ध है उसकी वास्तविकता का निषेध नहीं हो सकता। उस व्यक्ति के लिए जिसने परमार्थ को ग्रहण कर लिया है इस प्रकार की कोई समस्या ही नहीं रह जाती क्योंकि वह तो निर्वाण को पहुंच चुका। किन्तु जो व्यक्ति संसार में फंसा हुआ है उसके लिए भेद करना ही है। नैतिक जीवन पर कोई संकट इसलिए नहीं आ सकता कि मार्ग की प्राप्ति पश्चात् पर के प्रत्येक प्राणी के लिए अनिवार्य है। भ्रान्ति मनुष्य के जीवन में इतनी शक्तिशाली है कि पुण्य एवं पाप का भेद इससे अछूता रहता है ऊंची अवस्था में जाकर भले ही जो कुछ हो। नागार्जुन सत्य के दो प्रकार मानता है : एक परमार्थ और दूसरा सांवृतिक। बुद्ध का उपदेश दो प्रकार के सत्य से सम्बद्ध है—सापेक्ष सांसारिक सत्य एवं इन्द्रियातीत परमार्थ सत्य।[1] इस प्रकार के भेद द्वारा परमार्थ शून्यवाद एवं नैतिक जीवन के मध्य का अन्य किसी प्रकार से न सुलझ सकनेवाला विरोध भी दूर हो जाता है। निर्वाण की प्राप्ति तो केवल उच्चतर जीवन में ही होती है किन्तु उच्चतर जीवन तक भी तो नीचे के सांसारिक जीवन द्वारा ही पहुंचा जा सकता है। संवृति मनुष्य की तार्किक शक्ति की उपज है। यह विश्व का कारण है और इसकी प्रतीति भी है। इसका मौलिक अर्थ है आवरण अथवा पर्दा जो सत्य को छिपा लेता है। इसके अस्तित्व को सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि यह इतना सा तो स्वतः है। स्वप्न देखनेवाला मनुष्य किसी भी तर्क के द्वारा अपनी स्वप्नावस्था से निषेध नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्येक तर्क जिसका वह उपयोग करेगा वैसे ही स्वप्न होगा जैसे कि वह वस्तु मिथ्या है जिसे वह सिद्ध अथवा असिद्ध करने जा रहा है। जब हम जाग जाते हैं तो हम स्वप्न में देखे गए पदार्थ के मिथ्यात्व को सिद्ध कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार संवृति अथवा क्रियात्मक सत्य के मिथ्यात्व को परमार्थतत्त्व अथवा निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति हो जाने पर सिद्ध किया जा सकता है। किसी भी तर्क के द्वारा संवृति स्वतः अपने को मिथ्या सिद्ध नहीं कर सकती। इसके अन्दर तो सब कुछ होता है जबकि वस्तुएं यथार्थ एवं तात्त्विक धर्मों की बनी हुई हैं। इस स्तर पर प्रमाता (विषयी) एवं प्रमेय (विषय) के यथार्थ एवं भ्रान्ति के बन्धन और मोक्ष के भेद वास्तविक हैं। परमार्थ की अवस्था में जाकर संवृति एकदम सत्य नहीं ठहरती क्योंकि यह एक प्रकार का स्वप्न या भ्रान्ति है। संसार की सब वस्तुएं बुद्ध के समान देखने मनोहर भ्रम एवं निर्वाण-सम्बन्धी पवित्र आशाएं टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं। ऐसी साधारण आपत्तियां जैसे कि यदि सभी भ्रान्तिमय है तो भ्रान्ति का विचार भी स्वयं भ्रान्ति है नागार्जुन को अपने मत से विचलित नहीं कर सकतीं। विवाद-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण वह एक निरपेक्ष तत्त्व को स्वीकार कर लेता है जो

1. अध्याय २४।

नित्य एव परमार्थ सत्य है। इस आपत्ति के उत्तर मे कि यदि सब कुछ शून्य है और न कुछ उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है इसीलिए पुण्य एव पाप मे तथा सत्य एव भ्रान्ति मे कोई भेद नही किया जा सकता, नागार्जुन का कहना है कि सर्वोपरि सत्य—जो सब प्रकार की जिज्ञासा को शान्त करके आन्तरिक शान्ति प्राप्त कराएगा—सवृति एव हमारे जीवन की रूढिगत परम्पराओ के कारण छिपा रहता है। यथार्थ मे जीवन कुछ नही है, जीवन की समाप्ति भी कुछ नही है और न कोई जन्म या मोक्ष ही है। यथार्थ इन अर्थो मे शून्य है, क्योकि मूर्तरूप एव व्यक्तित्व नही है। इसका तात्पर्य यह नही है कि यह परम शून्यता अथवा एक कोरा रूपविहीन सत् पदार्थ है।[1] यह रिक्त है, जो सवृति से भिन्न है, जिसे यथार्थ कहा जाता है। नागार्जुन बुद्ध के वचन को इस प्रकार उद्धृत करता है. "कोई स्त्री, कोई पुरुष, कोई भी जीवन, कोई चेतनावान प्राणी और कोई आत्मा नही है, अर्थात् ये सब कुछ नही है, ये सब धर्म अयथार्थ है, अस्तित्वविहीन है, जैसे कि स्वप्न, अथवा मिथ्या उपन्यास की कल्पना होती है अथवा जैसे कि पानी मे पडता हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब अवास्तविक होता है।"

तर्क को दूषित बतलाया गया है, जो केवल विश्वास के लिए स्थान बनाता है। यह एक विश्वास ही है, जिसको ज्ञान का सहारा है एव अज्ञान मे जिसकी पुष्टि नही होती। यह केवल कल्पना का खेल-मात्र नही है, बल्कि तर्क पर आश्रित है। यदि परमार्थ एव सापेक्ष सत्य परस्पर सम्बद्ध न होते तब हम नितान्त सशयवाद मे फस जाते। यदि ज्ञान को तात्त्विक (Noumenal) यथार्थता मे पृथक् कर दे तो प्रतीति अथवा आभास-विषयक ज्ञान की भी प्रामाणिकता नही रह जाती। नागार्जुन सकेत करता है कि बिना क्रियात्मक सत्य का आश्रय लिए इन्द्रियातीत सत्य की भी प्राप्ति नही हो सकती।[2] बुद्धिगम्य सत्य को हम सर्वथा एक ओर नही हटा सकते, भले ही यह अन्तिम सत्य न भी हो। यह सर्वोपरि शक्ति नही है जैसाकि कुछ दार्शनिक इसे समझते है। उन्नत श्रेणी का सत्य, जिसका प्रकाश बुद्धि के द्वारा नही होगा, सीमित शक्ति वाले मन के लिए केवल एक पूर्वधारणा अथवा स्वीकृत पक्ष के रूप मे है। यद्यपि हम इसका साक्षात् नही कर सकते, फिर भी हम इसपर विश्वास कर सकते है। कोई मनुष्य यह नही कह सकता कि उसने इसे इस प्रकार जान लिया है जिस प्रकार कि वह अनुभवजन्य अन्य पदार्थो को जानता है। तब भी वह यह अनुभव करता है कि अपने अनुभव को पूर्णता प्रदान करने के लिए इस प्रकार की एक कल्पना की आवश्यकता अवश्य है। हमारे सम्मुख उपस्थित तथ्यो की माग है कि उन्हे उक्त प्रकार मे पूर्णता प्रदान की जाए। तब भी सम्पूर्ण योजना हमारे आगे स्पष्ट नही है। सत्य हमारे हृदय के ऊपर चक्कर काट रहा है एव यदि हम उसे ग्रहण करने को उद्यत हो तो वह हमारे हृदय मे अवश्य उतर सकता है। हमे अपनी सीमाओ से ऊपर उठना चाहिए। पूर्ण अन्तर्दृष्टि का अभाव उसकी आवश्यकता के अन्दर विश्वास से बिलकुल सगत है। यद्यपि विचार को तर्क के क्षेत्र मे नही लाया जा सकता, तो भी विश्वास जमा हुआ है। यथार्थ

१ तुलना कीजिए—"ज्ञानमार्ग की दिशा चाहे किसी ओर क्यो न हो, निश्चय रखो कि अन्त में कुछ नहीं मिलेगा।"—आर० एल० स्टीवेन्सन।

२. "व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।" अध्याय २४।

निर्वाण केवल ऐसा ही है और यह अदृष्ट पदार्थों का साक्षी है।

इस सर्वथा अमूर्त भावात्मक दृष्टिकोण को लेते हुए कुमारिल नागार्जुन की आलोचना इस प्रकार करता है 'यह मानना चाहिए कि ऐसा पदार्थ जिसका अस्तित्व नहीं है वह कभी भी नहीं है और जिसका अस्तित्व है वह नितान्त रूप में यथार्थ है। और इसलिए दो प्रकार के सत्य की धारणा नहीं बन सकती।'[1] शंकर की धारणा है कि माध्यमिकों का सिद्धान्त जगत् की नितान्त शून्यता का समर्थन करता है। उस भाव को लेकर उत्पन्न प्रश्न करता है शून्यता का भाव तथ्य है अथवा नहीं? यदि यह ऐसा तथ्य घटना नहीं है जिसका किसीने प्रत्यक्ष ज्ञान किया हो तब तुम कैसे कह सकते हो कि संसार शून्य है? यदि यह तथ्य घटना है तो क्या यह स्वतः सिद्ध है अथवा दूसरे किसीके द्वारा प्रत्यक्षीकृत है? तब उस अन्य प्रत्यक्ष करनेवाले के और जो कुछ उसने प्रत्यक्ष किया उन दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ेगा।

नागार्जुन विभिन्न प्रकार के अस्तित्व को मानता है। इन्द्रजाल (माया अथवा दृष्टिभ्रम) में देखे गए पदार्थों का अस्तित्व उन अर्थों में नहीं है जिन अर्थों में प्रत्यक्ष ज्ञान के पदार्थों का अस्तित्व है यद्यपि वे दोनों ही मानसिक तथ्य के रूप में एक ही व्यवस्था के अन्दर आते हैं। सब वस्तुएं एवं मनुष्य धर्मों के संगठित पुंज हैं और उनके बीच का भेद धर्मों के स्वभावों द्वारा जांचा जाता है जो अपने अन्दर वेग बनाए रखते हैं। वस्तुओं के विषय में उसी प्रकार के धर्म समाविष्ट होते हैं। मनुष्यों के सम्बन्ध में यह बात ऐसी नहीं है। जबकि हमारी महत्त्वपूर्ण इन्द्रियां आदि बिना किसी विशेष परिवर्तन के ही फिर से नव शक्ति प्राप्त कर लेती हैं मानसिक धर्म महान परिवर्तनों के अधीन रहते हैं। इन्द्रियज्ञान के पदार्थों का अस्तित्व मन से बाहर नहीं है किन्तु हमारे अनुभव के पदार्थ अनुभव के सम्बन्ध में विद्यमान रहते हैं और उस सीमा तक प्रमाता (विषयी) से स्वतन्त्र हैं। नागार्जुन मानता है कि संसार का अस्तित्व देश एवं काल की स्थिति के सम्बन्ध में है यद्यपि यह स्थायी या निरन्तर रहनेवाला नहीं है। अनुभवगम्य पदार्थ की एक विशेष स्थिरता है क्योंकि इसकी देशिक स्थिति एवं भौतिक सम्बन्ध है। विशेष अवस्थाओं में हम उसमें अभिज्ञ हो सकते हैं एवं उस अनुभव की पुनरावृत्ति भी कर सकते हैं। यह विषयी से अतीत अथवा निरपेक्ष है क्योंकि उचित अवस्थाओं में सर्वसाधारण के अनुभव का एक सामान्य विषय है। विशुद्ध मानसिक अवस्था देश से सम्बन्ध रखनेवाले भावों से न तो विस्तृत होती है और न उसके द्वारा निर्णीत ही होती है तथा वह क्षणिक स्वभाव की होती है और उसका ज्ञान सीधा एवं एक ही प्रमाता के द्वारा होता है। इस प्रकार भौतिक पदार्थ का अस्तित्व केवल मानसिक अस्तित्व की अपेक्षा अधिक निश्चित है। प्रतिकृतियां क्षणिक हैं एवं चेतना के प्रवाह के साथ परिवर्तनशील हैं जबकि इन्द्रियगम्य पदार्थ अपेक्षाकृत निश्चित स्वभाव के हैं तथा निश्चित अवस्थाओं के अनुसार चेतना में बार बार आ सकते हैं। संसार में अस्तित्व का तात्पर्य है देश काल एवं कारणकार्य पद्धति में विशेष स्थिति यद्यपि नितान्त (परमार्थ) स्वतन्त्र अस्तित्व से तात्पर्य नहीं है। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि उनका अस्तित्व नहीं है। ललितविस्तर में कहा गया है ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसका अस्तित्व हो और न ही

1 न सत्यद्वयकल्पना। श्लोकवार्तिक १९५ १।

ना कोई पदार्थ है जिसके अस्तित्व का अभाव हो।" यह ससार परमार्थरूप मे यथार्थ ही है और न परमार्थरूप मे शून्य ही है, क्योकि शून्यता का भाव असम्भव है। इसलिए शून्य से माध्यमिको का तात्पर्य यह नही है कि परमार्थरूप से अभावात्मक है, किन्तु यह है कि उसकी सत्ता सापेक्ष है। इसीको शकर आनुभविक अस्तित्व कहते है। स्वत अस्तित्व के अर्थो मे वस्तुए तात्त्विक नही हैं—यह एक बात है, और यह कहना कि वस्तुए तात्त्विक तो है ही नही, इसलिए उनका अस्तित्व ही नही है—यह दूसरी बात है। माध्यमिक शाखा के ग्रन्थो मे दोनो ही मतो की ओर झुकाव प्रतीत होता है, किन्तु उनका यथार्थ मत पहला ही है। प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त—अर्थात् यह कि धर्मो का यह स्वभाव है कि उनकी उत्पत्ति कारणो के एकसाथ एकत्र होने पर होती है और इस प्रकार जो उत्पन्न होता है वह स्वत उत्पन्न नही है और इसीलिए उसका स्वत अस्तित्व नही है—इसी मत का समर्थन करता है कि वास्तविक रूप मे विद्यमान वस्तुए परमार्थ दृष्टि से यथार्थ नही है। इस अर्थ मे शून्य से तात्पर्य यह है कि वस्तुए अपनी उत्पत्ति (सत्ता) के लिए कारणो के अधीन है। बौद्धधर्म के यथार्थवादी, अर्थात् सौत्रान्तिक एव वैभाषिक, दूसरी ओर इस मत के ऊपर कोई बल नही देते कि जो कुछ कारणो से उत्पन्न होता है, अपने-आपमे सत्ता नही रखता और इसीलिए वह तात्त्विक नही है और शून्य एव अभावात्मक है। "सब कुछ को शून्य अथवा रिक्त इसलिए कहा जाता है कि ऐसा कोई पदार्थ नही है जो सार्वभौमिक कारण-कार्यभाव की उपज न हो।"[1] माध्यमिको का शून्यवाद निषेधात्मक दृष्टि से पदार्थो का अभाव है और विध्यात्मक दृष्टि से सदा परिवर्तित होते रहनेवाला ससार का प्रवाह है। यह कभी-कभी कहा जाता है कि माध्यमिको के मत मे धर्मो का अस्तित्व एकदम ही नही है, न तो यथार्थता मे और न प्रतीति मे ही। उनकी तुलना केवल ऐसी असम्भव वस्तुओ से की जा सकती है जैसे कि वन्ध्या स्त्री की पुत्री। इस प्रकार की स्त्री के सौन्दर्य का तो हम वर्णन कर सकते है किन्तु उक्त वर्णन के साथ-साथ जिस पदार्थ का वर्णन करते है वह अभावात्मक है। इस प्रकार का मत नागार्जुन के वास्तविक अभिप्राय को प्रदर्शित नही करता है, भले ही उसके कुछ-एक वक्तव्यो का झुकाव इस प्रकार की व्याख्या की ओर पाया जाए। ऐसे वक्तव्यो मे से एक इस प्रकार है "क्या हमे धर्मो का अनुभव नही होता?" नागार्जुन कहता है. "हा होता है, ठीक वैसे ही जैसे कि एक भिक्षु, जिसकी आखे खराब है, अपने भिक्षापात्र मे एक बाल देखता है। वस्तुत वह उसे देखता नही क्योकि, जैसे कि पदार्थ नही है, उसका ज्ञान भी असत् है। यह इस बात से सिद्ध हो जाता है कि अच्छी आखो वाले मनुष्य के मन मे बाल का विचार भी नही आता।" जब एक व्यक्ति परम सत्य को प्राप्त कर लेता है, वह वस्तुओ के यथार्थ स्वरूप को जान जाता है और तब वह उनके अस्तित्व के सम्बन्ध मे कुछ नही कहेगा। वह फिर उसकी प्रतीति मे नही आता, और इस प्रकार परमार्थज्ञान का तात्पर्य वस्तुओ का अज्ञान है। समस्त ससार एक जादू के खेल के समान है। अविद्या के बन्धन से रहित साधु पुरुष उसके अधीन नही है। जिस वस्तु की अस्तित्व के रूप मे प्रतीति होती है, वह एक भ्रातिमात्र है। चूकि माध्यमिको की दृष्टि मे सब विचार एव वस्तुए शून्यरूप है, उन्हे कभी-कभी सर्ववैनाशिक भी कहा जाता है। यह विचार कि यह

१. अध्याय २४।

विश्व अपने सूर्यों एवं नक्षत्रों सहित एक निराधार आभासमात्र के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है बौद्धधर्म के प्रचलित चारों निकायों—अर्थात् वैभाषिकों (जो बाह्य पदार्थों की प्रत्यक्ष मान्यता को स्वीकार करते हैं) सौत्रान्तिकों योगाचारों (जो विषयीनिष्ठ ज्ञानवादी हैं) एवं माध्यमिकों (अथवा शून्यवादियों)—में एक समान है किन्तु हम नहीं समझते कि यह मत नागार्जुन की शिक्षाओं के भी अनुकूल है क्योंकि वह कोई सामान्य जादूगर नहीं है जो यह सिद्ध करना चाहता है कि वह कुर्सी जिसपर हम बैठे हैं कुर्सी नहीं है। वह स्वीकार करता है कि अस्तित्व ही प्रतीति की निरन्तर उत्पत्ति का एकमात्र सम्भव ज्ञेय है यद्यपि वह इसे परमार्थरूप से यथार्थ स्वीकार करने को उद्यत नहीं है।

८

शून्यवाद और उसका तात्पर्य

शून्य शब्द के नाना प्रकार के अर्थ समझे जाते हैं। कतिपय व्यक्तियों के लिए इसका अर्थ अभावात्मक है और अन्यों के लिए एक स्थिर इन्द्रियातीत और अव्याख्येय तत्त्व जो सब वस्तुओं के अन्तर्गत है। पहला अर्थ आनुभविक संसार के लिए सत्य है एवं दूसरा आध्यात्मिक यथार्थता के लिए। शून्य के वायुमण्डल में नास्तिरूप ढांचा भी नहीं ठहर सकता। प्रत्येक निषेध एक अन्तर्निहित स्वीकृति के ऊपर निर्भर करता है। नितान्त निषेध असम्भव है। पूर्ण सत्यवाद एक काल्पनिक वस्तु है क्योंकि इस प्रकार का सत्यवाद सत्यवादी के निर्णय की यथार्थता का संकेत करता है नागार्जुन एक उच्चतर यथार्थता के अस्तित्व को स्वीकार करता है यद्यपि उपनिषदों के ही समान वह उस अनुभव का पर्याय नहीं मानता। आत्मा नहीं देखती न मन ही उसका विचार करता है यह उच्चतर श्रेणी का सत्य है जिसमें मनुष्यों का प्रवेश नहीं है। ऐसे क्षेत्र को जहां पर सब पदार्थों की पूर्ण छवि तुरन्त प्राप्त होती है बुद्ध ने परमार्थ कहा है अर्थात् निरपेक्ष सत्य जिसका वाणी के द्वारा प्रचार नहीं किया जा सकता।[1] "इसे न तो शून्य ही कह सकते हैं और न अशून्य ही दोनों भी नहीं कह सकते और न दोनों में से एक कह सकते हैं लेकिन केवल उसका संकेत करने को शून्य (रिक्त) कहा जाता है।[2] आधारभूत यथार्थता नामक एक वस्तु अवश्य है जिसके बिना वस्तुएं जो हैं वह न होतीं। शून्यता एक भावात्मक तत्त्व है। कुमारजीव नागार्जुन पर टिप्पणी करते हुए कहता है कि यह शून्यता ही के कारण है जो प्रत्येक वस्तु सम्भव हो सकती है और बिना इसके संसार में कुछ सम्भव नहीं है। यही सबका आधार है। हे सुभूति सब धर्मों का आश्रय शून्यता ही है वे उस आश्रयस्थान में कुछ परिवर्तन नहीं पाते।[3] शून्यता उसका पर्यायवाची है जिसका कोई कारण नहीं जो विचार एवं प्रत्यय या भाव से परे है वह जिसकी उत्पत्ति नहीं होती जो उत्पन्न नहीं हुई और जिसका कोई

1. अध्याय ३।
2. शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेद्।
   उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥
3. प्रज्ञापारमिता।

माप नही है।"[१] आनुभविक जगत् के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होने पर शून्यता का अर्थ होता है प्रतीतिरूप जगत् की सदा परिवर्तनशील अवस्था। अनन्तता के आतंककारी शून्य मे मनुष्य सब आशा खो बैठता है किन्तु ज्योही वह इसकी अयथार्थता को समझ लेता है, वह उससे ऊपर उठता है और स्थिर तत्त्व तक पहुच जाता है। वह यह जानता है कि सम्पूर्ण इकाई एक क्षणिक स्वप्न है जिसमे वह विवाद-विषयो के प्रति उदासीन और विजय को निश्चित मानकर बैठा रह सकता है।

परमार्थ यथार्थता के विषय मे हम कुछ नही कह सकते। सत्य की प्राप्ति के लिए हमे उन सब उपाधियो को एक ओर हटा देना चाहिए जिनकी सगति सत्य के साथ नही हो सकती। परमार्थ न तो सत्तावान है, न अभावात्मक है और न ही दोनो प्रकार का है अर्थात् सत्स्वरूप एव असत्स्वरूप भी नही, और न असत् एव सत् दोनो से भिन्न है।[२] माध्यमिको की दृष्टि मे तर्क एव वाणी का उपयोग केवल सीमित जगत् के लिए ही हो सकता है। सीमित विभागो या वर्गों का प्रयोग अनन्त के विषय मे करना इसी प्रकार का एक प्रयास होगा जैसाकि सूर्य की गरमी को हम साधारण थर्मामीटर के द्वारा मापने का प्रयास करे। हमारे दृष्टिकोण से परमार्थ कुछ नही है।[३] हम इसे शून्य कहते है क्योकि ससार की उपाधियो के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होनेवाला कोई भी वर्ग उसके लिए पर्याप्त नही है। इसे सत् कहना अनुचित होगा। क्योकि ठोस मूर्त पदार्थ ही सत् कहे जा सकते है। इसे असत् कहना भी उतना ही अनुचित होगा।[४] इसलिए इसके सब प्रकार के वर्णन से बचना ही सबसे उत्तम है। विचार अपने कार्यो मे द्वैतपरक है और जो है वह अद्वैत है। कहा जाता है कि बुद्ध ने ऐसा कहा था "ऐसे पदार्थ का जिसे वर्णमाला के अक्षरो द्वारा नही दर्शाया जा सकता, क्या वर्णन किया जा सकता है या उसके ज्ञान का भी क्या उपाय किया जा सकता है? यहा तक कि इस प्रकार का वर्णन करना भी कि इसे वर्णमाला के अक्षरो द्वारा प्रदर्शित करना सम्भव नही है, यह भी तो अक्षरो के द्वारा ही किया जाता है, जिनका प्रयोग उस इन्द्रियातीत, निरपेक्ष (परमार्थ तत्त्व) एव जिसे शून्यता के पारिभाषिक शब्द द्वारा लक्षित किया गया है, उसके लिए किया जाता है—'धर्म की यथार्थ अवस्था' निर्वाण की भाति अवर्णनीय, अज्ञेय, जन्म एव मरण से रहित, एव विचार तथा वाणी दोनो की पहुच से परे है।[५] इन्ही सब प्रकार के सम्बन्धो से अतीत अर्थो मे डस स्काटस कहता है "ईश्वर को जो शून्य कहा जाता है सो अनुचित नही है।" "विचार के लिए जो सापेक्ष नही है (अर्थात् सम्बन्धो से विहीन है) वह शून्य ही है।"[६]

१ अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, अध्याय १८।
२ "अस्तिनास्ति-उभय अनुभय इति चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यत्वम्।"
—माधव-सर्वदर्शनसग्रह।
३ "शून्य तत्त्वम्।"
४. "तत्र अस्तिता वा नास्तिता वा न विद्यते नोपलभ्यते।"
५ अध्याय १८।
६ ब्रैडले। महोपनिषद् के अनुसार, ब्रह्म "शून्य अथवा रिक्त, तुच्छ, अभाव, अव्यक्त, अदृश्य, अचिन्त्य एव निर्गुण है। योगस्वरोदय ब्रह्म के स्वरूप को यथार्थ, प्रज्ञा एव आनन्द कहते हुए भी शून्य कहता है। "शून्य तु सच्चिदानन्द नि शब्दब्रह्मशब्दितम्।" तुलना कीजिए कबीर से : "जो सत्यो का भी सत्य है जो सब सत्यो का आगार है, उसे वे रिक्त या शून्य कहते है।" (टैगोर का अनुवाद)।

परमार्थतत्त्व सब प्रकार की मीमांसा से मुक्त होने पर भी और हमारी सीमित चेतना द्वारा विचार में आने योग्य न होने पर भी उस अविद्या के कारण जो मनुष्य के मन में अन्तर्निहित रहती है आनुभविक जगत में अपने को अभिव्यक्त करता है। अविद्या ही सापेक्षता का तत्त्व है। निस्सन्देह संसार में नित्य तत्त्व या परमार्थ प्रतिबिम्बित होता है अन्यथा हम संवृति के द्वारा, जिसे नागार्जुन स्वीकार करता है परमार्थ को प्राप्त नहीं कर सकते। वस्तुओं का सारतत्त्व परिभाषा के दोनों अर्थों में शून्य है। वे वस्तुएं जिनका वर्तमान में हम प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं भूतकाल में शून्य थीं और भविष्य में भी शून्य हो जाएंगी। सब वस्तुएं अपने स्वरूप में सारतत्त्व के रूप में शून्य ही हैं। अविद्या के ही कारण हम उन वस्तुओं का जो वस्तुतः अभावात्मक हैं अस्तित्व मान लेते हैं। सत्य के ज्ञान को महाविद्या कहा जाता है और उसके विपरीत अविद्या है।

नागार्जुन का शून्य पाठक को हैमिल्टन की निरुपाधिक अथवा स्पेंसर की अचिन्त्य शक्ति का स्मरण कराता है। इसके सम्बन्धविहीन स्वरूप के कारण कभी-कभी इसको प्लाटिनस के एकत्व के स्पिनोज़ा के सारतत्त्व एवं शेलिंग के क्लीबाणु (Neutrum) के समान बतलाया जाता है। संसार के क्षोभ से क्षुब्ध मानवीय मस्तिष्क को यह भाव बहुत रुचिकर प्रतीत होता है।[1] वह उच्चतम तत्त्व अपनी निरपेक्षता या परमार्थता में गतिविहीन होने के कारण सब प्रकार के परिणमन (Becoming) का अभाव प्रतीत होता है। निषेध के अंश को मान लेने से ही इसकी परमार्थता दुविधा में पड़ जाती है। इस मत के अनुसार यदि परमार्थतत्त्व पूर्णरूप से यथार्थ है तब इसमें निषेधात्मक तत्त्व के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार की एक निस्सीम सत्ता निस्तेज एवं उदास शून्यरूप प्रतीत हो सकता है। निषेध भी ऐसा ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है जैसा कि क्रियात्मक कथन। बिना इसके हम भेद का अंश भी नहीं मिलता और परिणाम में जीवन अथवा अभिव्यक्ति ही असम्भव हो जाता है। यदि विशुद्ध मत जीवित एवं यथार्थ होता तो हम इसके अन्दर भेदवाचक तत्त्व एवं निषेधात्मकता के तत्त्व के सम्बन्ध में विचार करने को बाध्य होना पड़ता। नागार्जुन की दृष्टि में इस प्रकार का तर्क मानवीय एवं आवश्यकता से अधिक मानवीय ठहरेगा। परमार्थतत्त्व के स्वरूप की व्याख्या करने में अपनी अक्षमता अथवा सीमित एवं असीम के मध्यगत सम्बन्ध को समझ सकने की अयोग्यता के कारण हम इस प्रकार की प्रेरणा न मिलनी चाहिए कि हम उसे शून्य समझने लगें। परमार्थतत्त्व की यथार्थता एवं उसकी पूर्णता का प्रमाण ब्रह्म-साक्षात्कारवादी योगियों द्वारा प्राप्त निर्वाण का परमानन्द ही है। यदि योगाचार शाखा माध्यमिक शाखा से अर्वाचीन है तब तो हम इस विकास के तर्क को सरलता से समझ सकते हैं। नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित परमार्थ सत्ता की आदर्श व्याख्या हम आत्मविज्ञान की ओर ले जाती है। अपने सीमित स्तर से नागार्जुन का परमार्थतत्त्व अपनी परमार्थता में गतिविहीन प्रतीत होता है। योगाचार

1. तुलना कीजिए [illegible] उस [illegible] में [illegible] है [illegible] है [illegible] परिवर्तन से [illegible] है और [illegible] विश्रान्ति [illegible] परिवर्तन में और [illegible] में उसकी प्रतिध्वनि नहीं है।

की दृष्टि मे यह सार्वभौम चेतना है, जो सदा बढनेवाली है। वस्तुए एव मनुष्य उसके बाहर न होकर उसके अन्तर्गत ही हैं। वे इसकी निरन्तर प्रक्रिया के अश है एव परमार्थतत्त्व की चेतना मे समाविष्ट है। माध्यमिको की दृष्टि मे वस्तुए विशुद्ध सत् के लिए बाह्य है एव अपनी ही सीमितता के अन्दर बन्द है तथा अपने अस्तित्व के कारण मर्यादित है, और यह हम नही जानते कि अनन्तस्वरूप सत् के साथ उनका क्या सम्बन्ध है। 'आलयविज्ञान' कोई अवस्था न होकर एक प्रक्रिया है। यह धार्मिकता या आध्यात्मिकता है, विज्ञान स्वय पदार्थ का रूप धारण करता है या अपने को पदार्थ जगत् मे अभिव्यक्त करता है। उच्चतम श्रेणी का मार्ग, जिसके द्वारा विचार परमार्थतत्त्व का चिन्तन व मनन कर सकता है, इसे चेतना, चितिशक्ति अथवा विज्ञान के रूप मे मानने से ही है। इसके अन्दर हमे दोनो मिलते है, अर्थात् विध्यात्मक कथन और निषेध, तादात्म्य और विभेद। योगाचारो की कल्पना हेगल की उस कल्पना के तुल्य है जो स्वात्मचेतना को वस्तुओ के केन्द्र के रूप मे समझती है। माध्यमिको की कल्पना शकर अथवा ब्रैडले के अद्वैत के नमूने की है, क्योकि इसके अनुसार आत्मविषयक प्रत्यय परमार्थ नही है। आत्मविषयक विचार अन्ततोगत्वा एक प्रकार का सम्बन्ध ही है और परमार्थतत्त्व को किसी भी सम्बन्ध के अधीन कहना तर्कसम्मत नही होगा।

९

उपसंहार

यह जगत् यद्यपि प्रतीतिमात्र है तो भी हम अपने भूतकालीन स्वभाव के दवाव मे आकर इसे यथार्थ मानने लगते हैं। निर्वाण-प्राप्ति के लिए हमे प्राचीन मार्ग का अनुसरण करना होता है और वस्तुओ की यथार्थता-विषयक समस्त मिथ्या धारणाओ का त्याग करके सब दु खो का नाश करना होता है। कष्ट और दु ख, आनन्द और सुख यह सब हमारी अविद्या के कारण ही है। मन ही सब प्रकार की आपदाओ एव दु.खो का आदिस्रोत है। नैतिक सम्बन्ध का महत्त्व सीमाबद्ध ससार मे ही है।

यह दिखाया जा चुका है कि ससार केवल प्रतीतिमात्र है। यदि हम इसके यथार्थ सत्य को ग्रहण कर सकें तो यह निर्वाण है। सत्य ही परमार्थतत्त्व है। तथागत विशेष प्राणी का अभाव या अनुपस्थिति है और ससार भी निश्चित सत् का अभाव है।[1] वह सब जो शून्य के विषय मे कहा जाता है, निर्वाण के विषय मे सत्य है। यह सापेक्ष अभिव्यक्ति के शासन से परे है। हम नहीं कह सकते कि यह शून्य है अथवा अशून्य है अथवा दोनो है या दोनो मे से एक भी नही है।[2] परम्परागत रूप मे हम कहते है कि बुद्ध का अस्तित्व है। किन्तु वस्तुत हम ऐसा कथन भी नही कर सकते। नागार्जुन कहता है "उसे निर्वाण कहा जाता है जिसमे अभाव नही है, जो प्राप्त नही किया गया, जो विच्छेद होनेवाला नही है, न इसके विपरीत ही है, जिसका वर्णन नही हो सकता और जिसकी रचना नही हुई है।" जब

निर्वाण प्राप्त हो जाता है, ज्ञान का अन्त हो जाता है और जीवन के बन्धन शिथिल हो जाते हैं। इस समय केवल निरुपाधिक, अस्पष्ट और स्वविज्ञान ही शेष रह जाता है। यहाँ तक भी कहा गया है कि निर्वाण कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे प्राप्त किया जा सके। केवल अज्ञान से छुटकारा पाना चाहिए।

ऐसे व्यक्तियों को जो अन्तिम मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं इन छः अतीन्द्रिय गुणों का कठोरतापूर्वक अभ्यास करना चाहिए—दानशीलता, नैतिकता, धैर्य, उद्योग, ध्यान एवं सर्वोपरि ज्ञान। इनमें पूर्णता प्राप्त करनी चाहिए। यदि हम यह प्रश्न करें कि एक बोधिसत्त्व जो सब वस्तुओं की अयथार्थता को जानता है क्या दूसरों को उनके पापों से उद्धार करने का प्रयत्न करता है? इसका उत्तर वज्रच्छेदिका के शब्दों में इस प्रकार दिया जा सकता है: "जिसने बोधिसत्त्व के मार्ग में पग रखा है, उसे अपना विचार इस प्रकार बनाना चाहिए: मुझे सब प्राणियों को दुःख से छुटकारा दिलाकर निर्वाण के पूर्णतायुक्त जगत में पहुँचाना है तो भी इन सब प्राणियों को छुटकारा दिलाने के पश्चात् और किसी प्राणी को छुटकारा नहीं दिलवाया है। और यह किस लिए? क्योंकि हे सुभूति, यदि बोधिसत्त्व को प्राणियों का कोई भी विचार हो तो उसे बोधिसत्त्व ही नहीं कहा जा सकता था।"[1] "बोधिसत्त्व को पदार्थों को यथार्थ मानकर किसी वस्तु का दान नहीं देना चाहिए।"[2] वस्तुतः बोधिसत्त्व के विषय में यथार्थता सम्बन्धी धारणा भी असत्य है।

वैभाषिक द्वैतपरक अध्यात्मविद्या को लेकर प्रारम्भ करते हैं और पदार्थों के साक्षात् अभिज्ञान को ज्ञान समझते हैं। सौत्रान्तिक लोगों ने विचारों को माध्यम बनाया जिसके द्वारा यथार्थता का ज्ञान किया जाता है और इस प्रकार मन और वस्तुओं के मध्य में एक प्रकार का आवरण उत्पन्न कर दिया। योगाचारों ने बिलकुल सङ्गतरूप में प्रतिकृतियों के पीछे जो वस्तुएँ हैं उनका उच्छेद कर दिया और समस्त अनुभव को अपने मन के अन्दर विचारों की शृंखला के रूप में परिणत कर दिया। माध्यमिक लोगों ने अधिकतर साहसपूर्ण एवं तार्किक रूप में मन को भी केवल विचार में ही परिणत कर दिया और हमें विचारों की विशृंखल कड़ियों एवं अनुभवों में ही छोड़ दिया जिनके विषय में हम कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते। इंग्लैंड के दार्शनिकों का अनुभूतिवाद या प्रत्यक्षवाद इस तार्किक आन्दोलन की पुनरावृत्ति करता है। लॉक और उसके उत्तराधिकारियों के समक्ष प्राकृतिक पदार्थों की यन्त्रवत् व्याख्या करनेवाले तर्कशास्त्र का प्रारम्भिक विवादास्पद विषय विषयी एवं विषय के परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करने के विषय में तथा सीमित इन्द्रियों और इस अन्योन्य क्रिया के परिणाम के ज्ञान के विषय पर विचार करना था। इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा जिसमें उन अवयवों में से कोई भी नहीं होता जिनकी इसे उपज कहा जाता है हम न तो विषयी को और न विषय को ही जान सकते हैं। इस प्रकार की कल्पना का तार्किक परिणाम ह्यूम के संशयवाद के रूप में प्रकट होता है जिसमें कि आत्मा एवं संसार दोनों ही को मानसिक अवस्थाओं की शृंखला का रूप दिया गया है। इस आन्दोलन के इतिहास को [illegible] रीड ने इस प्रकार संक्षेप में रखा है: "विचारों का प्रवेश दर्शनशास्त्र में पहले

१. सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, ४९, पृष्ठ ११। २. वही, पृष्ठ ११।

प्रतिकृतियो के सरल रूप मे कराया गया और इस स्वरूप मे वे केवल यही नही कि निरापद प्रतीत हुई किन्तु मनुष्य की ग्रहणशक्ति की क्रियाओ की व्याख्या करने मे भी उन्होने बहुत उपयोगी भाग लिया। किन्तु चूकि लोग उनके विषय मे स्पष्ट रूप मे और विशद प्रकार से तर्क करने लगे, उन्होने धीरे-धीरे अपने घटको या अवयवो का गुप्त रूप से मूलोच्छेदन करके प्रत्येक अन्य पदार्थ का अपने अतिरिक्त अस्तित्व नष्ट कर दिया। ये विचार ऐसे स्वतन्त्र एव बिना किसी अन्य के ऊपर निर्भर हे जैसे कि आकाश मे विचरनेवाले पक्षी। तो भी अन्ततोगत्वा ये स्वय अस्तित्व वाले और स्वतन्त्र विचार दयनीय रूप मे आवरणहीन दिखाई देते है और जब इस विश्व मे अकेले छोड दिए जाए तो निराश्रय दिखाई देते है, यहा तक कि उनको ढकने के लिए कोई भी आवरण प्राप्त नही हो सकता।"[1] ज्ञान सम्भव नही, अनुभव बुद्धिगम्य नही, और दर्शनशास्त्र भी बिना अपनी मौलिक स्थिति पर पुनर्विचार किए एकदम आगे नही बढ सकता।

अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से वैभाषिको की पदार्थद्वय-सम्बन्धी कल्पना मन के पक्ष मे भारी पडती है, जब हम सौत्रान्तिको की ओर आते है। योगाचारो ने बाह्यजगत् का परित्याग करके मन को ही सब वस्तुओ का केन्द्रस्थानीय माना और माध्यमिको ने दावा किया कि न तो वैयक्तिक आत्मा और न ही भौतिक पदार्थ परमार्थ रूप मे यथार्थ माने जा सकते है, जो यथार्थ हे वही परमतत्त्व है। जहा योगाचारी विश्वास के साथ आत्मचेतना के भाव का प्रयोग परमार्थतत्त्व के लिए करते है, माध्यमिक लोग आत्म एव अनात्म दोनो को एक समान अयथार्थ मानते है। व्यक्तित्व परमार्थतत्त्व नही है। हमे यह कहने की आवश्यकता नही कि अद्वैत वेदान्त दर्शन पर माध्यमिको के सिद्धान्त का बहुत अधिक प्रभाव पडा। गौडपादीय कारिकाओ का अलातशान्ति-प्रकरण माध्यमिक सिद्धान्तो से भरपूर है। अद्वैतवेदान्त द्वारा प्रतिपादित व्यवहार अथवा अनुभव एव परमार्थ अथवा यथार्थसत्ता मे जो भेद है वह माध्यमिको के सवृति और परमार्थ के भेद के अनुकूल है। शकर का निर्गुण ब्रह्म और नागार्जुन के शून्य मे बहुत कुछ साम्य है। अविद्या की शक्ति को, जो प्रतीतिरूप विश्व को जन्म देती है, दोनो ही स्वीकार करते है। सूक्ष्म तर्क, जिसके कारण यह ससार अमूर्त भावो, नाना प्रकार की श्रेणियो एव सम्बन्धो मे बटकर केवल एक खेलमात्र रह जाता है, दोनो मे एक समान है। यदि हम श्रीहर्ष के समान एक अद्वैत वेदान्ती को ले तो हम देखते है कि उसने माध्यमिको की कल्पना को ही विकसित करने की अपेक्षा और अधिक कुछ नही किया तथा जिन श्रेणियो का आश्रय लेकर हम चलते है उनके परस्पर विरोध को प्रकट किया है जैसेकि कारण और कार्य, पदार्थ और उनके गुण, साथ ही मे इस आधार पर वस्तुओ की यथार्थता का भी निषेध किया है। उनकी पर्याप्त रूप मे व्याख्या करना हमारे लिए सम्भव नही है। श्रीहर्ष के खण्डन के अनुसार, वस्तुए अनिर्वचनीय है अर्थात् उनका ठीक-ठीक वर्णन नही हो सकता। माध्यमिक वृत्ति के अनुसार, वे नि स्वभाव हे, अर्थात् साररहित है। वस्तुत व्याख्या के योग्य न होना अथवा स्वरूपविहीन होना एक ही बात है। अदृश्य के प्रति जो बुद्ध की भावना हे, उसके साथ निश्चयात्मक परमार्थतत्त्व के

१ 'बक्र्स', पृष्ठ १०९।

विषय में नागार्जुन कुछ अधिक नहीं कहता यद्यपि वह इसकी यथार्थता को स्वीकार करता है। अपने निषेधात्मक तर्क के द्वारा वह अनुभव को केवल प्रतीतिमात्र बतलाता है वह अद्वैतज्ञान की ही भूमिका तयार करता है। यह एक अद्भुत भाग्य विडम्बना ही है कि दोनों सिद्धान्तों के महान व्याख्याकार अपने-आपको परस्पर विरोधी स्थितियों का समर्थक समझते रहे।

उद्धृत ग्रंथ

सर्वदर्शनसंग्रह अध्याय २।
सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह।
वेदान्तसूत्रों पर शांकर भाष्य।
नागार्जुन के माध्यमिक सूत्र।
यामाकामी सोगेन सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थॉट।

परिशिष्ट

कुछ समस्याओं का पुनर्विवेचन[1]

[illegible]
[illegible]
[illegible]

मेरी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' का विद्वत्समाज ने सहृदयता के साथ स्वागत किया है, और इस अवसर का लाभ उठाते हुए मैं अपने आलोचकों को उनके उचित मूल्यांकन तथा सहृदयता के लिए धन्यवाद देता हूं। अब यहां पर मेरा विचार उन कुछ विवादास्पद विषयों के प्रतिपादन का है जो पुस्तक के प्रथम खण्ड के प्रकाशित होने पर उठाए गए हैं, यथा दार्शनिक व्याख्या की विधि, तुलनात्मक अध्ययन का मूल्य, उपनिषदों के उपदेश, बुद्ध की तथाकथित नास्तिकता और नागार्जुन का अध्यात्मशास्त्र।

१

दर्शनशास्त्र के इतिहासलेखक को उचित है कि वह अपने कार्य को केवल किसी भाषा-शास्त्री या किसी विद्वान के रूप मे ही नही, बल्कि एक दार्शनिक के रूप मे अपने हाथ मे ले। और अपनी विद्वत्ता का उपयोग शब्दो के अन्दर से ऐसे विचारो को ढूढ निकालने मे करे जो उनमे अन्तर्निहित है। जो केवल भाषा-विज्ञान का पण्डित है वह प्राचीन भारतीय विचारको के मतो को दर्शनशास्त्र के इतिहास की ऊबड-खाबड और त्रुटिपूर्ण सतह पर बिखरे हुए पुराकालीन अवशेषो के ही रूप मे देखता है और इसलिए उसके दृष्टिकोण से ऐसी कोई भी व्याख्या खीचातानी की तथा असत्य ही प्रतीत होगी, जो उनमे फिर से जीवन का सचार कर दे और उन्हे सारगर्भित रूप मे प्रस्तुत कर दे। दूसरी ओर एक दार्शनिक उन प्राचीन भारतीय सिद्धान्तो के महत्त्व को अनुभव करता है जो जीवन की निरन्तर बनी रहनेवाली समस्याओ से जूझते हैं, और उन्हे केवल पुराकालीन निर्जीव विचारो का अवशेष-मात्र मानने के स्थान पर ऐसी सामग्री समझता है जो अद्भुत रूप मे निरन्तर विद्यमान है। दार्शनिक समस्याओ के प्रति जो मानवीय मस्तिष्क की प्रतिक्रियाए है और जिनका लिखित

१. यह निबन्ध 'माइण्ड' नामक पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था, खण्ड ३५, एन० एस० सख्या १३८।

रूप में समावेश उपनिषदों एवं बुद्ध के सम्वादों में हमें प्राप्य है उनका निरूपण आधुनिक काल की किसी अत्यन्त प्रसिद्ध पद्धति में पुनरुज्जीवित रूप में किए जाने की आवश्यकता है। प्राचीन भारतीयों के वचन बिखरे हुए एवं अस्पष्ट और परस्पर-समन्वयविहीन भले ही समझे जाएं किन्तु इसीलिए ऐसा समझ लेने का कोई कारण नहीं है कि उनके साहित्यिक अवशेषों के समान उनका तर्कशास्त्र भी न्यूनताओं से पूर्ण है। भाषाविज्ञान-सम्बन्धी विश्लेषण के विपरीत रचनात्मक तर्कशास्त्र का कार्य यह है कि बिखरी हुई सामग्री को खण्डशः एकत्र करके उनके अन्दर जो भाव व्यक्त किए गए हैं उन्हें बाह्याकारों से पृथक् करके हमारे सम्मुख प्रस्तुत करे। मैक्समूलर ने लिखा है : "मैं जो अनुभव करता हूं वह यह है कि किसी प्राचीन दर्शन के प्रत्यय-वचनों की जो सूत्रों के अन्दर सरलता के साथ सुलभ हैं पुनरावृत्ति ही पर्याप्त नहीं है अपितु हमें उचित है कि हम पहले उन प्राचीन समस्याओं को अपने आगे रक्खें उन्हें अपना समझें और फिर उन प्राचीन विचारकों के पदचिह्नों का जिन्हें वे अपने पीछे छोड़ गए हैं अनुसरण करने का प्रयत्न करें।"[1] तथ्यों का संग्रह और साम्य का एकत्रीकरण एक महत्त्वपूर्ण भाग अवश्य है किन्तु यह उस इतिहास लेखक के कार्य का एक भाग ही है जो मानवीय आत्मा के नानाविध साहसिक कार्यों को लेखबद्ध करने का प्रयत्न करता है।[2] उसे विचारों की पृष्ठभूमि में जो तर्क कार्य करता है उसपर विशेष ध्यान देना चाहिए उससे परिणाम निकालना चाहिए विविध प्रकार की व्याख्याओं के सुझाव देने चाहिए और उनसे कल्पना का निर्माण करना चाहिए जिससे कि ऐतिहासिक तथ्यों के उस आकृतिविहीन एवं परस्पर-असम्बद्ध पुंज में एक प्रकार की व्यवस्था स्थापित की जा सके। यदि दर्शनशास्त्र के इतिहास को विगत शास्त्रकारों तथा उनके लेखों के सम्बन्ध में जो ऐतिहासिक तथ्य हैं उनका एक निरा सूचीपत्रमात्र बने रहने के स्थान पर कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करना है और जनसाधारण के मस्तिष्क का निर्माण करना है तथा कल्पनाशक्ति को आकृष्ट करना है तो इतिहासलेखक को केवल यान्त्रिक विधि से फटे पुराने चिथड़े बटोरनेवाला न रहकर समालोचक एवं व्याख्याकार भी होना चाहिए।

२

पूर्व और पश्चिम दोनों देशों का शिक्षित वर्ग अब परस्पर एक-दूसरे को सुचारुरूप से समझने का इच्छुक है और इस कार्य के लिए तुलनात्मक अध्ययन से बढ़कर और कुछ इतना उपयोगी

1. 'सिक्स सिस्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी' पृष्ठ २१३।

2. तुलना कीजिए हेगल : 'क्योंकि विचार के क्षेत्र में और विशेष रूप से कल्पनात्मक विचार के क्षेत्र में ग्रहण से तात्पर्य कुछ अधिक है। यह केवल व्याकरण की दृष्टि से शब्दों का समझ लेना ही नहीं है और न साधारण आकार समझ लेना है। इसलिए कोई प्रस्थापनाओं अथवा दार्शनिकों की सम्मतियों का ज्ञान रखते हुए भी तथा उक्त सम्मतियों की आधारभित्तियों और उनसे निकाले गए निष्कर्षों में निरत रहने पर भी इन सबके अन्दर निबद्ध जो मुख्य बात विषय है उसके ग्रहण का अभाव रह जाने से इन प्रस्थापनाओं का ज्ञान ग्रहण नहीं समझा जा सकता। हेगल दर्शनशास्त्र के उन दार्शनिकज्ञानशून्य इतिहास लेखकों की तुलना उन पशुओं से करता है जिन्होंने संगीत को सुना तो सही किन्तु जिन्हें उसके अन्तर्निहित सुर ताल आदि का ज्ञान कुछ नहीं है।'—'हिस्ट्री आफ फिलासफी' अंग्रेजी अनुवाद खण्ड १ पृष्ठ २५।

नही हो सकता। इस विधि मे त्रुटियो के लिए भी स्थान अवश्य है। क्योकि यूरोपीय विद्वान तथा भारतीय आलोचक दोनो ही के लिए समानरूप मे सर्वथा पक्षपातशून्य होकर विवेचन करने का कार्य बहुत कठिन है। भारत मे रहनेवाले यूरोपीय ईसाई धर्म-प्रचारको द्वारा 'रेलिजस क्वेस्ट आफ इण्डिया' (भारत की धार्मिक खोज) नामक ग्रन्थमाला मे प्रकाशित ग्रन्थो मे, यद्यपि उनसे पूर्व की पीढी के प्रचारको द्वारा प्रकाशित ग्रन्थो की अपेक्षा, कुछ प्रगति अवश्य लक्षित होती है फिर भी ये ग्रन्थ भारतीय विचारधारा के निष्पक्ष रूप को जनसाधारण के आगे नही रखते, क्योकि उनका मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि भारतीय विचार-धारा तथा खोज का अन्तिम लक्ष्य ईसाई धर्म है। अनेक पश्चिमी विद्यार्थी, जो भारतीय सस्कृति का अध्ययन करते है, यह समझते है कि प्रारम्भ मे ही भारतीयों की आत्मा का विकास अवरुद्ध रहा है, और भारतीयो के लिए अपने वास्ते दर्शनशास्त्र अथवा धर्म, यहा तक कि विज्ञान, कला और साहित्य के क्षेत्र मे भी कुछ निकाल सकना उनकी शक्ति के परे है। उन्हे निश्चय है कि प्रभावोत्पादक सस्कृति तथा दर्शनशास्त्र के प्रति अभिरुचि पर पश्चिमी राष्ट्रो का ही सदा से एकाधिकार रहा है। वे यूरोपीय सभ्यता को अधिक प्राचीन एव अत्यधिक गौरवपूर्ण सिद्ध करने का प्रयत्न करते है, और भारतीय विचारधारा मे जो कुछ महत्त्वपूर्ण एव उत्तम अश पाया जाता है उसे भी ईसाई युग से ही आया हुआ सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। वे डके की चोट कहते है कि अनेक क्षेत्रो की ऐसी सफलताए जिनके लिए अज्ञानी लोग भारतीयो को श्रेय देते है, सब यूनान देश की देन है। उनका झुकाव इस ओर है कि ऋग्वेद की ऋचाओ तथा सभ्यता के उस काल को भी जो उक्त ऋचाओ द्वारा प्रकट है, वे बेबिलोनिया तथा मिस्र की सस्कृतियो के बाद का सिद्ध कर सके।

जहा एक ओर पश्चिमदेशीय विद्वान ऐसे सब प्रयत्नो को अनुचित और अयुक्ति-युक्त बतलाकर त्यागने की ओर प्रवृत्त दिखाई देता है जो प्राचीन भारत की 'असस्कृत और आदिम' कल्पनाओ की पश्चिम की परिपक्व पद्धतियो के साथ तुलना करने के क्षेत्र मे किए जाते है, वहा दूसरी ओर भारत मे भी ऐसे आलोचको का अभाव नही है जिनके पुराने आत्माभिमान को, भारतीय विचारधारा की तुलना पश्चिमी विचारधारा के साथ किए जाने पर, ठेस पहुचती है। उनका विचार है कि कम से कम धर्म और दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे तो हर प्रकार से भारत पश्चिम की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट है और भारतीय विचार-धारा की तुलना मे पश्चिमी विचारधारा ही निस्सार (Jejune) एव आदिम अवस्था मे प्रतीत होती है।

उक्त निर्णयो के साथ किसीकी सहानुभूति है या नही, यह तो अपनी-अपनी रुचि का विषय है। किन्तु एक-दूसरे को परस्पर समझने का कार्य सम्यक् रूप से तब तक सम्भव नही हो सकता जब तक दोनो एक-दूसरे के प्रति आदर एव सहानुभूति का भाव न रखे। यदि हम इतिहास के प्रति नेकनीयत है तो हम अनुभव कर सकेगे कि प्रत्येक जाति या राष्ट्र का आन्तरिक ज्ञान के प्रकाश मे तथा आध्यात्मिक खोज मे अपना-अपना उचित भाग रहा है। कोई भी ऐसा सास्कृतिक अथवा धार्मिक साम्राज्यवादी, जिसके अन्दर यह विचार जमा हुआ हो कि सब प्रकार का प्रकाश उसी अकेले के पास है और अन्य केवल अन्धकार

से टकराता है। तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में स्थिर करने योग्य मार्गदर्शक कभी नहीं बन सकता। इन व्याख्याकारों की, जिनपर भरोसा किया जा सके, अपने अनुसंधान के लिए अनुभवसिद्ध विधि का प्रयोग करना चाहिए और साथ में अपनी बुद्धि और कल्पना शक्ति का भी युक्तियुक्त उपयोग करना चाहिए। जब एक ओर भारतीय विचारों के ऊपर आधुनिक विचारधारा की परिभाषा में विचार विनिमय करना उचित होगा वहां उन्हें वर्तमान काल की समस्याओं के साथ सम्बद्ध करना भी आवश्यक है साथ ही अवसर की इस विषय में भी पूरी सावधानी बरतनी होगी कि विचार्य विषय के लिए ऐसे पारिभाषिक शब्द चुने जाएं जो वस्तुतः भिन्न हों यद्यपि समान प्रतीत होते हों। उसे प्राचीन विचार पद्धति के स्थान पर नई तकनीकों का प्रयोग करने से भी बचना होगा। इस प्रकार के उद्यम में अवसर पर इस प्रकार के भ्रमारोपण की सम्भावना सदा ही बनी रहती है कि उसने एक या दूसरे की दृष्टि से अध्ययन किया किन्तु यह कठिनाई समस्त ऐतिहासिक कार्यों में सदा ही बनी रहेगी। इस आपत्ति से बचने का एक ही सुरक्षित उपाय है और वह है तुलनात्मक विधि का प्रयोग। तभी हम प्रत्येक परम्परा की विशिष्टता की ओर उसके सही-सही मूल्यांकन का प्रतिपादन कर सकते हैं।

३

मेरे बहुत-से समालोचक उपनिषद्-सम्बन्धी मेरे विवेचन से हैरान रह गए क्योंकि इस विषय में मैंने उपनिषदों के प्रसिद्ध भाष्यकारों में से किसी एक के भी झण्डे के नीचे न आकर अपनी एक भिन्न ही व्याख्या उपस्थित की और किसी भी अन्यतम भाष्यकार का सर्वांग में अनुसरण नहीं किया। भ्रान्ति के विषय में मेरी अपनी कल्पना को देखकर जो सामान्य रूप में शंकर के मत के साथ साहचर्य रखती है और जिसको ड्यूसन का समर्थन प्राप्त है मेरे कतिपय समालोचकों ने यह समझ लिया कि मैं शंकर के मत का विरोधी हूं। कुछ अन्य समालोचकों को शरीरधारी ईश्वर की कल्पना के प्रति भी मेरी उदासीनता के कारण यह भी उसी प्रकार स्पष्ट हो गया कि मैं रामानुज की व्याख्या के साथ भी सहमत नहीं हूं। किन्तु यदि कोई शंकर अथवा रामानुज अथवा अन्य किसी प्रतिष्ठित भाष्यकार के मत का अनुयायी न हो तो यही धारणा बनाई जाएगी कि ऐसा व्यक्ति दार्शनिक भाव के विपरीत एक विलक्षण मानसिक उलझन में आनन्द मनानेवाला व्यक्ति है। मेरा दावा है कि उपनिषदों की मेरी अपनी व्याख्या अयुक्तियुक्त नहीं है। भले ही यह इस या उस परम्परा से इस या उस बात विषय में भिन्न प्रतीत होती हो।

पाण्डित्य प्रदर्शक या शास्त्रीय व्याख्याएं मौलिक विचार प्रकट करनेवाले किसी भी प्रतिभाशाली व्यक्ति की शिक्षाओं को दबा देने का प्रयत्न करती हैं। हमारी प्रवृत्ति सुकरात को प्लेटो की दृष्टि से देखने और प्लेटो को अरस्तू अथवा प्लाटिनस की दृष्टि से देखने की है। उपनिषदों की व्याख्या सामान्यरूप से किसी न किसी महान भाष्यकार की दृष्टि से की जाती है। मैंने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार उपनिषदें भिन्न भिन्न प्रकार के विकास के अधीन रहीं और क्या यह सम्भव न होगा कि उनकी शिक्षाओं का कोई ऐसा सामञ्जस्यपूर्ण वर्णन दिया जाए जो दो प्रमुख भाष्यकारों शंकर एवं रामानुज के मुख्य सिद्धान्तों

के भी अनुकूल हो। यदि हम एक भी ऐसे सामान्य समन्वयकारक दृष्टिकोण को खोज सके, जिसके आधार पर दोनो को एक समान समझा जा सके तो अधिक अच्छा हो। यह हो सकता है कि अभी ऐसा सामान्य दृष्टिकोण विद्यमान न हो किन्तु यदि ऐसे दृष्टिकोण की खोज की जा सके तो यह सम्भव है कि हम उपनिषदो की शिक्षाओ को अधिक उत्तमरूप मे ग्रहण कर सकेगे। दार्शनिक व्याख्या मे सबसे अधिक सामजस्यपूर्ण मत ही सबसे अधिक यथार्थ होता है।

उपनिषदे परम यथार्थसत्ता के स्वरूप का वर्णन करने मे दो प्रकार की भाषा का प्रयोग करती है। एक स्थान पर वे उसे निरपेक्ष प्रतिपादन करती है जिसके विशिष्ट लक्षण आनुभविक लक्षणो की कोटि मे नही आ सकते। और दूसरे स्थान पर वे उसे एक सर्वोपरि पुरुष के रूप मे रखती है जिसकी हमे पूजा और उपासना करनी चाहिए। इस मत के परिणामस्वरूप हमारे सामने ससार के स्वरूप के विषय मे दो मत उपस्थित हो जाते है। कुछ वाक्यो मे इस ससार को ब्रह्म (परमसत्ता) का आकस्मिक उपलक्षण मात्र कहा गया है, और अन्य कुछ वाक्यो मे इसे ईश्वर का अग बताया गया है। एक सावधान पाठक इन दो प्रवृत्तियो को उपनिषदो मे आदि से अन्त तक बराबर ही लक्ष्य कर सकेगा। अर्थात् एक वह प्रवृत्ति जो परब्रह्म को निर्मल सत्ता मानती है और ससार को उसका आनुषगिक विवर्त (प्रतीति) मात्र मानती है, और दूसरी प्रवृत्ति वह है जो परमसत्ता को एक मूर्तरूप पुरुष मानती है, जिसकी अभिव्यक्ति के रूप मे यह ससार है।[1] पहला मत शकर के मत के अधिक समीप है और दूसरा रामानुज के। मैं मानता हू कि "यह निश्चय करना कठिन है कि शकर का अद्वैत मत अथवा रामानुज की परिवर्तित स्थिति का मत दोनो मे से कौनसा मत मूल विश्वसनीय सत्य की यथार्थ शिक्षा है।"[2]

उक्त दोनो प्रत्यक्षरूप मे, दृष्टिभेद मे द्वैत होने के कारण, विरोधी मतो के अन्दर केवल एक ही समन्वय जो बुद्धिगम्य प्रतीत होता है, वह यह है जबकि हम बुद्धि के स्तर मे ऊपर उठकर यथार्थसत्ता के स्वरूप का अन्तर्दृष्टि के द्वारा मनन करेगे तब हम देखेंगे कि निरपेक्ष एव परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है और ससार का भी अन्तिम रूप वही निरपेक्ष है। दोनो के मध्यवर्ती सम्बन्ध की समस्या भी नही उदय होती। क्योकि जब परब्रह्म और ससार दो परस्पर विभिन्न सत्त्व है ही नही, तो उनके परस्पर-सम्बन्ध का प्रश्न ही नही उठता। जब हम परब्रह्म का चिन्तन एव मनन मानुषिक लक्ष्यबिन्दु से करते है तब तार्किक वर्गो के द्वारा हम इसे एक पूर्ण इकाई समझते है, जो अपने अन्दर भिन्न-भिन्न तत्त्वो अथवा घटको को बाधे हुए है। उसी परब्रह्म को एक शरीरधारी ईश्वर मान लिया जाता है जिसकी आत्माभिव्यक्ति की शक्ति अथवा माया के द्वारा यह ससार स्थिर है। निर्मल सत्स्वरूप परब्रह्म (शकर के मत मे) और परब्रह्म एक शरीरधारी ईश्वर के रूप मे (रामानुज के अनुसार) एक ही सर्वोपरि तथ्य के अन्तर्दृष्टिप्राप्य और बुद्धिगम्य प्रदर्शन है।[3] चूकि विचार की ये दो धाराए स्थान-स्थान पर उपनिषदो मे परस्पर एक-दूसरे से टकराती है, इसलिए शकर और रामानुज दोनो ही उनके अन्दर से अपने मतो का समर्थन

१. देखिए पृष्ठ १६८, १७२–१७३, १८४–१८६, २०२।

२ पृष्ठ २५८–२५९।

३. देखिए पृष्ठ १६८, १७२, १८०–१८१, १८४–१८५, २५८–२५९।

पर गए। जगामि हम देखेंगे शकर ने उपनिषदों के विभिन्न पाठों म समन्वय लाने क लिए दष्टिकोणों की क्रमिक योजना का स्वीकार किया।

४

प्राचीन बौद्धधम के अपने वणन म मैंने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया था कि यह उपनिषदों के ही विचार का पुनरावृत्ति है जिसपर नवीनरूप म बल दिया गया है।[1] उपनिषदों की विशेषरूप म उल्लेख न रहने पर भी यह स्वीकार किया जाता है कि बुद्ध के उपदेशों म उपनिषदों का विचारधारा का पर्याप्त मात्रा म प्रभाव पडा प्रतीत होता है।[2] श्रुति प्रामाण्य के प्रति उदासीनता 'निष्काचार सम्बन्धी पवित्रता' कर्मसिद्धान्त म आस्था पुनजन्म[3] और मोक्ष अथवा निर्वाण[4] की सम्भावना तथा ससार और आत्मा की अनित्यता उपनिषदों तथा बुद्ध के उपदेशों म एक समान है। परम यथार्थसत्ता इस भौतिक जगत के किसी भी प्राणी की सम्पत्ति नहीं है यह विश्व ससार परिणमनरूप है जिसका न आदि है और न अन्त। उक्त मतों को स्वीकार करने के विषय म तो बुद्ध उपनिषदों की स्थिति म सहमत हैं किन्तु वे निरपेक्ष परमतत्त्व की यथार्थता के विषय म निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहते। इसी प्रकार आत्मा एव मोक्ष की अवस्था के विषय म भी उनका स्पष्ट कथन कोई नहीं मिलता। मृत्यु के पश्चात प्रबुद्ध की क्या अवस्था होती है क्या उसका अस्तित्व रहता है या नहीं रहता अथवा दोनों अवस्थाएं हैं या दोनों म स एक भी नहीं है आत्मा एव ससार के स्वरूप के विषय म कि क्या ये नित्य हैं अनित्य हैं दोनों हैं अथवा दोनों म स एक भी नहीं क्या यह स्वयभू हैं अथवा दूसरे के द्वारा बनाए गए हैं दोनों प्रकार के हैं अथवा दोनों म स किसी प्रकार के भी नहीं—इन सब प्रश्नों के विषय म बुद्ध हम कुछ नहीं बतलाते। वस्तुत इस प्रकार के प्रश्न सुरक्षित बातें विषय थे जिनके विषय म बुद्ध किसी प्रकार की कल्पना का स्थान नहीं देते थे। यद्यपि इसम सन्देह नहीं कि बुद्ध उक्त समस्याओं के विषय म किसी भी प्रकार के दृढ सिद्धान्त का स्थिर करने से स्पष्ट निषेध करते थे तो भी यह एक रोचक प्रश्न है कि क्या उनका कोई उत्तर हो भी सकता है अथवा

१ पृ० ६१ और भी देखिए पृष्ठ ७१ और आगे।

२ कुमारिल जैसा कट्टर हिन्दू विचारक भी घोषणा करता है कि बुद्ध के विज्ञानवाद क्षणिकता के सिद्धान्त और अनात्मवाद के सिद्धान्त को उपनिषदों से ही प्रेरणा प्राप्त हुई है। विज्ञानमात्र क्षणभङ्गनैरात्म्यादिवादिनाम् अपि उपनिषत्प्रभावत्वम्। तन्त्रवार्त्तिक १ ३ २।

३ मुण्डकोपनिषद् १ २ ५।

४ वही ७–१ बृहदारण्यक उपनिषद् ४ ४ ५।

५ छान्दोग्य उपनिषद् ५ १० कठ ५ ७ श्वेताश्वतर ५ ११–१२।

६ छान्दोग्य उपनिषद् ४ १५ ५–६ बृहदारण्यक ६ २ १५ श्वेताश्वतर १ ७ ८ ११।

७ जगत शब्द भी ससार के परिवर्तनशील स्वरूप को व्यक्त करता है। ईशोपनिषद् १ बृहदारण्यक उपनिषद् ४ १ ३ तुलना कीजिए सर्व मृत्युनाऽऽप्तम्। बृहदारण्यक ३ २ १ और १ ३ ८। कठोपनिषद् (१२) में स्वर्ग के वर्णन में कहा गया है कि यह वह स्थान है जहां भूख प्यास दु ख जरावस्था और मृत्यु नहीं हैं। सांसारिक सुखोपभोग की निष्फलता भी कठ उप में बताई गई है—१ २६–२९।

इस प्रकार के निषेध से वास्तव मे क्या सकेत होता है।

तीनो प्रश्न—अर्थात् सासारिक परिवर्तन जिसे नही व्यापते ऐसी एक परम यथार्थ-सत्ता है या नही, परिवर्तनशील पदार्थो से भिन्न एक नित्य आत्मा की सत्ता है या नहीं, तथा क्या निर्वाण एक निश्चित सत् की अवस्था है—अध्यात्मशास्त्र की एक ही मौलिक समस्या के भिन्न-भिन्न पक्ष है। यदि परम यथार्थसत्ता कोई है जो परिवर्तनशील जगत् के नियमो के अधीन नही है तो उसी क्षेत्र की प्राप्ति का नाम 'निर्वाण' है और प्रबुद्ध ही अविनाशी नित्य आत्मा है। यदि परम यथार्थसत्ता नही है तब नित्य आत्मा का भी अस्तित्व नही है और निर्वाण शून्यता है। पहला मत उपनिषदो के धार्मिक आदर्शवाद के अधिक समीप है और दूसरा वैज्ञानिक अध्यात्मशास्त्र के निषेधात्मक विवेकवाद के समीप है।

बुद्ध का निजी मत चाहे जो भी रहा हो, उन्होने आध्यात्मिक प्रश्नो पर वाद-विवाद मे पडने से सदा ही इस आधार पर निषेध किया कि मोक्ष की खोज करनेवाले के लिए वे उपयोगी नही है। बुद्ध के इस प्रकार समस्त आध्यात्मिक विषयो से बचे रहने के कारण और इस विषय के अस्पष्ट रहने से दर्शनशास्त्र के आधुनिक इतिहासलेखक को बहुत क्षोभ होता है जो प्रत्येक विचारक तथा विचार-पद्धति को एक प्रकार की विशिष्ट उपाधि देने के लिए आतुर रहता है। किन्तु बुद्ध उसकी पकड से बाहर है। क्या बुद्ध का मौन अनिश्चितता का लक्षण है? क्या अपने विचार स्पष्टरूप मे प्रकट कर देने के विषय मे वे मानसिक दुर्बलता अनुभव करते थे, अथवा क्या वे इन विषयो मे प्रवेश ही नही कर सके थे? क्या उनका मन स्वय सन्दिग्धावस्था मे था, अथवा क्या इस भय से कि कही धोखा न खा जाए वे इन सब प्रश्नो से दूर रहने का प्रयत्न करते थे? क्या वे अपने उपदेशो के विध्यात्मक और निषेधात्मक सकेतो के प्रति उदासीन रहकर दोनो मार्गो का समर्थन कर रहे थे? हमारे सामने इस विषय मे केवल तीन ही विकल्प है—बुद्ध ने परम यथार्थसत्ता को स्वीकार किया, अथवा स्वीकार नही किया, अथवा वे इस विषय के तथ्य से अनभिज्ञ थे। आइए, इसका निर्णय करें कि उनके विचार का स्वरूप निषेधात्मक था, या विध्यात्मक, अथवा नास्तिक था।

हमे तुरन्त जिस कठिनाई का सामना करना है वह यह है कि हमे बुद्ध के उपदेशो की निश्चित रूप मे कोई ऐतिहासिक साक्षी उपलब्ध नही है। पाली भाषा मे धार्मिक विधान अपने वर्तमानरूप मे बुद्ध की मृत्यु के बहुत देर बाद आया। इनमे कुछ सामग्री तो ऐसी है जो बहुत पुरानी है और कुछ ऐसी भी है जो बाद की है। इसीलिए निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि बौद्धधर्म के विधान का कितना अश स्वय बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित है और कितना उसमे पीछे से मिलाया गया। प्राचीन भारत मे शिक्षको के कितने ही विवरण और भाषण उनके शिष्यो द्वारा स्मृति मे सुरक्षित रखे जाते थे और उन्हे आगामी पीढी तक मौखिक रूप मे ही पहुचाया जाता रहा। समस्त वैदिक साहित्य का भी यही हाल है। बुद्ध के विषय मे भी यही सत्य है कि उन्होने अपने जीवनकाल मे एक निश्चित व्यवस्था के [illegible] और एक भिक्षु-समुदाय [illegible] और वे भिक्षु ही उनके उप-[illegible] बने। यद्यपि यह तो हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि [illegible] (तत्व) [illegible] है किन्तु इतना समझ सकते हैं कि हमारे पास अधिकतर

कर सके। जैसा कि हम देखेंगे शंकर ने उपनिषदों के विभिन्न पाठों में समन्वय लाने के लिए दृष्टिकोणों की द्वैतपरक योजना को स्वीकार किया।

४

प्राचीन बौद्धधर्म के अपने वर्णन में मैंने यह प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया था कि यह उपनिषदों के ही विचार की पुनरावृत्ति है जिसपर नवीनरूप से बल दिया गया है।[1] उपनिषदों का विशेषरूप में उल्लेख न रहने पर भी यह स्वीकार किया जाता है कि बुद्ध के उपदेशों में उपनिषदों की विचारधारा का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव पता प्रतीत होता है।[2] वैदिक प्रामाण्य के प्रति उदासीनता, शिष्टाचार-सम्बन्धी पवित्रता, कर्मसिद्धान्त में आस्था, पुनर्जन्म[3] और मोक्ष अथवा निर्वाण[4] की सम्भावना तथा संसार और जीवात्मा की अनित्यता[5] उपनिषदों तथा बुद्ध के उपदेशों में एक समान है।[6] परम यथार्थसत्ता रूप भौतिक जगत के किसी भी प्राणी की सम्पत्ति नहीं है यह विश्व संसार परिणमनरूप है[7] जिसका न आदि है और न अन्त। उक्त मतों को स्वीकार करने के विषय में तो बुद्ध उपनिषदों की स्थिति से सम्मत हैं किन्तु वे निरपेक्ष परमतत्त्व की यथार्थता के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहते। इसी प्रकार आत्मा एवं मोक्ष की अवस्था के विषय में भी उनका स्पष्ट कथन कोई नहीं मिलता। मृत्यु के पश्चात प्रबुद्ध की क्या अवस्था होती है, क्या उसका अस्तित्व रहता है या नहीं रहता अथवा दोनों अवस्थाएं हैं या दोनों में से एक भी नहीं है आत्मा एवं संसार के स्वरूप के विषय में कि क्या ये नित्य हैं, अनित्य हैं, दोनों है अथवा दोनों में से एक भी नहीं, क्या ये स्वयंभू है अथवा दूसरे के द्वारा बनाए गए है, दोनों प्रकार के हैं अथवा दोनों में से किसी प्रकार के भी नहीं—इन सब प्रश्नों के विषय में बुद्ध हमें कुछ नहीं बतलाते। वस्तुतः इस प्रकार के प्रश्न सुरक्षित वाद विषय थे जिनके विषय में बुद्ध किसी प्रकार की कल्पना को स्थान नहीं देते थे। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध उक्त समस्याओं के विषय में किसी भी प्रकार के रूढ सिद्धान्त को स्थिर करने से स्पष्ट निषेध करते थे तो भी यह एक रोचक प्रश्न है कि क्या उनका कोई उत्तर हो भी सकता है अथवा

१ पृष्ठ ६१ और भी देखिए पृष्ठ ७१ और आगे।

२ कुमारिल जैसा कट्टर हिन्दू विचारक भी घोषणा करता है कि बुद्ध के विषय ज्ञानवाद क्षणिकता के सिद्धान्त और अनात्मवाद के सिद्धान्त को उपनिषदों से ही प्रेरणा प्राप्त हुई है। विज्ञानवाद क्षणभङ्गनैरात्म्यादिवादिनाम् अपि उपनिषत्प्रभवत्वम्—तन्त्रवार्तिक १ ३ २।

३ मुण्डकोपनिषद् १ २ ४।

४ कठ २ ५-१० बृहदारण्यक उपनिषद् १ ४ १५।

५ छान्दोग्य उपनिषद् ५ १, ७ कठ ४ ८ श्वेताश्वतर ४ १९-१२।

६ छान्दोग्य उपनिषद् ८ १५ ८-८ बृहदारण्यक ८ ११ श्वेताश्वतर १ ७ ८ ११।

७ जगत् शब्द ही संसार के परिवर्तनशील स्वरूप का द्योतन करता है। ईशोपनिषद् १। बृहदारण्यक उपनिषद् ३ १ ३ पुनः कौषीतकि 'मृत्युमत्यमर्त्यं'। बृहदारण्यक ३ २ १३ और १ ३ २८। कठोपनिषद् (१ १२) में स्वर्ग के विषय में कहा गया है कि यह वह स्थान है जहाँ भूख प्यास, दुःख जरावस्था और मृत्यु नहीं है। सांसारिक सुखोपभोग की निस्सारता भी कठ० उप० में बताई गई है—१ २६-२८।

इस प्रकार के निषेध से वास्तव मे क्या संकेत होता है।

तीनो प्रश्न—अर्थात् सासारिक परिवर्तन जिसे नही व्यापते ऐसी एक परम यथार्थसत्ता है या नही; परिवर्तनशील पदार्थो मे भिन्न एक नित्य आत्मा की सत्ता है या नहीं, तथा क्या निर्वाण एक निश्चित सत् की अवस्था है—अध्यात्मशास्त्र की एक ही मौलिक समस्या के भिन्न-भिन्न पक्ष है। यदि परम यथार्थसत्ता कोई है जो परिवर्तनशील जगत् के नियमो के अधीन नही है तो उसी क्षेत्र की प्राप्ति का नाम 'निर्वाण' है और प्रबुद्ध ही अविनाशी नित्य आत्मा है। यदि परम यथार्थसत्ता नही है तब नित्य आत्मा का भी अस्तित्व नही है और निर्वाण शून्यता है। पहला मत उपनिषदो के धार्मिक आदर्शवाद के अधिक समीप है और दूसरा वैज्ञानिक अध्यात्मशास्त्र के निषेधात्मक विवेकवाद के समीप है।

बुद्ध का निजी मत चाहे जो भी रहा हो, उन्होने आध्यात्मिक प्रश्नो पर वाद-विवाद मे पडने से सदा ही इस आधार पर निषेध किया कि मोक्ष की खोज करनेवाले के लिए वे उपयोगी नही हैं। बुद्ध के इस प्रकार समस्त आध्यात्मिक विषयो से बचे रहने के कारण और इस विषय के अस्पष्ट रहने से दर्शनशास्त्र के आधुनिक इतिहासलेखक को बहुत क्षोभ होता है जो प्रत्येक विचारक तथा विचार-पद्धति को एक प्रकार की विशिष्ट उपाधि देने के लिए आतुर रहता है। किन्तु बुद्ध उसकी पकड से बाहर हैं। क्या बुद्ध का मौन अनिश्चितता का लक्षण है? क्या अपने विचार स्पष्टरूप मे प्रकट कर देने के विषय मे वे मानसिक दुर्बलता अनुभव करते थे, अथवा क्या वे इन विषयो मे प्रवेश ही नही कर सके थे? क्या उनका मन स्वय सन्दिग्धावस्था मे था, अथवा क्या इस भय से कि कही धोखा न खा जाए वे इन सब प्रश्नो से दूर रहने का प्रयत्न करते थे? क्या वे अपने उपदेशो के विध्यात्मक और निषेधात्मक सकेतो के प्रति उदासीन रहकर दोनो मार्गो का समर्थन कर रहे थे? हमारे सामने इस विषय मे केवल तीन ही विकल्प है—बुद्ध ने परम यथार्थसत्ता को स्वीकार किया, अथवा स्वीकार नही किया, अथवा वे उस विषय के तथ्य से अनभिज्ञ थे। आइए, इसका निर्णय करे कि उनके विचार का स्वरूप निषेधात्मक था, या विध्यात्मक, अथवा नास्तिक था।

हमे तुरन्त जिस कठिनाई का सामना करना है वह यह है कि हमे बुद्ध के उपदेशो की लिखित रूप मे कोई ऐतिहासिक साक्षी उपलब्ध नही है। पाली भाषा मे धार्मिक विधान अपने वर्तमानरूप मे बुद्ध की मृत्यु के बहुत देर बाद आया। इसमे कुछ सामग्री तो ऐसी है जो बहुत पुरानी है और कुछ ऐसी भी है जो बाद की है। इसीलिए निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि बौद्धधर्म के विधान का कितना अश स्वय बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित है और कितना उसमे पीछे से मिलाया गया। प्राचीन भारत मे शिक्षको के कितने ही विवरण और भाषण उनके शिष्यो द्वारा स्मृति मे सुरक्षित रखे जाते थे और उन्हे आगामी पीढी तक मौखिक रूप मे ही पहुचाया जाता रहा। महान वैदिक साहित्य का भी यही हाल है। बुद्ध के विषय मे भी यही सत्य है कि उन्होने अपने जीवनकाल मे एक नियमित व्यवस्था के अनुसार अपने चारो ओर एक शिष्य-समुदाय को एकत्र किया और ये शिष्य ही उनके उपदेशो के आगे चलकर प्रतिनिधि बने। यद्यपि यह तो हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि हमे बुद्ध-प्रोक्त शब्द (वचन) प्राप्त है, किन्तु इसमे सन्देह नही कि हमारे पास अधिकाश

प्राप्त हो रही थी, कठिनाई अनुभव होगी। हमारे पास पर्याप्त प्रमाण इस विषय के है कि प्रारम्भ मे बौद्धधर्म मे दीक्षित होनेवाले व्यक्ति बडे धार्मिक वृत्तिवाले थे। 'महासुदस्सन' तथा 'चक्कवत्ती सीहनादसुत्तन्त' इस विषय पर भी प्रकाश डालते है कि प्राचीन बौद्ध-धर्मावलम्बियो के मन मे सूर्यदेवता की पौराणिक कथा समाई हुई थी। एक निषेधात्मक धार्मिक सम्प्रदाय 'जटिलो' या अग्निपूजको के मन को प्रभावित नही कर सकता था, जो बौद्धधर्म मे दीक्षित होनेवालो मे सबसे प्रथम थे।[1] एक ऐसा दर्शन जो परम यथार्थसत्ता का भी निषेध करता हो, आत्मा के अस्तित्व का भी खण्डन करता हो और लोगो को धार्मिक जीवन व्यतीत करने के पुरस्कारस्वरूप केवल शून्यता की आशा दिलाता हो, मनुष्य के हृदय मे अपने सस्थापक के लिए किसी प्रकार का उत्साह अथवा उसकी शिक्षा के प्रति कोई अनुराग नही उत्पन्न कर सकता। यह धारणा बना लेना कि इस प्रकार का निष्फल विवेकवाद छठी शताब्दी ईसापूर्व के भारतीय हृदय को प्रेरणा दे सकता था, मनोविज्ञान के समस्त नियमो को सर्वथा भुला देना है। कीथ के समान चौकस रहनेवाला विद्वान प्रोफेसर बेरिडेल भी यह विश्वास करने को उद्यत नही है कि बुद्ध नास्तिवादी था। उसका मत है कि पाली भाषा के ऐसे धार्मिक विधानो को जो बुद्ध के क्रियात्मक प्रयोजन के लिए प्रकट किए गए नास्तिवाद को निश्चित नास्तिवाद बतलाते है, बुद्ध के उपदेशो का गम्भीर तत्त्व नही समझना चाहिए।[2]

६

नास्तिवाद के सम्बन्ध मे दूसरे विकल्प को, जिसके विषय मे हम स्पष्टरूप से कुछ भी नही कह सकते, प्रोफेसर कीथ का महत्त्वपूर्ण एव प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ। वे कहते है 'यह मत प्रकट करना कि बुद्ध यथार्थ मे सच्चे नास्तिवादी थे, बिलकुल युक्तियुक्त होगा—यह कि उन्होने अपने समय मे प्रचलित समस्त विचार-पद्धतियो का अध्ययन एव मनन किया और उनसे किसी प्रकार का सन्तोष उन्हे प्राप्त नही हुआ, जैसेकि हमे आज भी आधुनिक विचार-पद्धतियो के अध्ययन से नही प्राप्त होता, और यह कि वे इस विषय मे कोई निश्चित विचार स्थिर नही कर सके। उक्त विचार-पद्धतियो मे किसी प्रकार की रचनात्मक दार्शनिक शक्ति के सामान्य अभाव के कारण, जो उनमे दिखाई देती थी और जो बुद्ध को भी इसी रूप मे प्रतीत हुई, ऐसी ही व्याख्या स्वभावत कोई भी व्यक्ति करेगा।" "ऐसे विषयो मे नास्तिकता का आधार ज्ञान की सीमाओ का कोई युक्तियुक्त निश्चय नही हो सकता। यह दो प्रकार के आधार पर है कि बुद्ध स्वय भी उक्त विषयो पर सत्य क्या है, इसका विशद विवेचन करके किसी परिणाम पर नही पहुच सके किन्तु इतना उन्हे अवश्य विश्वास था कि उक्त विषयो का निषेध करने से भी मन के ऊपर ऐसा कोई प्रभाव नही पडेगा जो निर्वाण की प्राप्ति मे अनिवार्य रूप से बाधक बन सके।"[3]

नास्तिकता-सम्बन्धी समाधान—जिसका तात्पर्य यह है कि बुद्ध अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी प्रश्नो का उत्तर देने से केवल इसलिए इनकार करते थे कि उनके पास कुछ उत्तर

१. महावग्ग, १ . १५ और आगे।

प्रोफेसर कीथ बुद्ध के नास्तिकवाद को तर्कसगत मानने के लिए उद्यत नही है। यद्यपि तर्क की दृष्टि से तो इसपर विवेचन नही किया गया, फिर भी यह कि परमार्थ-विषयक समस्याओ को अनुभव-ज्ञान के द्वारा हल करना कठिन है, बुद्ध के पूर्ववर्ती विचारको को ज्ञात था। यदि बुद्ध ने इस विषय पर कि ससार का कभी प्रारम्भ था या नही, कुछ भी कहने से इनकार किया तो उन्हे दोनो ही विकल्प असन्तोपजनक प्रतीत होते थे। यदि बुद्ध ने उस समय की प्रचलित विविध विचार-पद्धतियो का अध्ययन किया होता तो उपनिषदो का कुछ युक्तिसगत नास्तिकवाद उनकी दृष्टि मे तुरन्त आ जाता।

यह माना जाता है कि बुद्ध का नास्तिकवाद यदि उपनिषदो जैसा नितान्त नास्तिक-वाद है और केवल हठवाद ही नही है तो यह उसकी दार्शनिक क्षमता के लिए कोई श्रेय का विषय नही हो सकता, और बुद्ध के मौन का ऐसा अर्थ लगानेवालो की प्रवृत्ति बुद्ध को उदासीन श्रेणी के दार्शनिको मे रखने की ओर है। किन्तु यह केवल व्यक्तिगत सम्मति का विषय है। उन विभिन्न आध्यात्मिक कल्पनाओ के प्रति बुद्ध की समालोचनात्मक प्रवृत्ति—जिनमे से ६२ तो ब्रह्मजालसुत्त मे है और १० ऐसी है जिन्हे पोट्ठपादसुत्त[1] मे उठाया गया है और फिर एक ओर रख दिया गया है, क्योकि वे मुक्ति की प्राप्ति मे सहायक नही है—तथा उनके समय की धार्मिक प्रथाए, ये सब इस बात को दर्शाती है कि बुद्ध कोई मामूली हेसियत के विचारक एव समालोचक न थे। इस प्रकार की कल्पना कि वे एक सूक्ष्म विचारक नही है, एक ऐसे व्यक्ति की अध्यात्मविद्या-विषयक योग्यता का निषेध करना होगा जिसने अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी अनेको योजनाओ का प्रतिवाद किया है। यह एक प्रकार की ऐसी उपेक्षा होगी जिसके लिए बहुत न्यून प्रमाण है। इसके अतिरिक्त कोई भी ऐसा विवेकशील व्यक्ति कम से कम बुद्ध सरीखे बौद्धिक एव नैतिक व्यक्तित्व वाला व्यक्ति तो कभी भी नही हो सकता था, जो इन्द्रियातीत पदार्थो के मूल्याकन मे किसी न किसी प्रकार की आस्था न रखता हो।

ऐसे विद्वान जो नास्तिकवाद की कल्पना का समर्थन करते है, ऐसा इसलिए करते है कि ऐसा ही विचार उनके इस विचार के साथ अनुकूलता रख सकता है कि बुद्ध के उपदेश विशेष रूप से आदिम या असस्कृत विचारो की श्रेणी के है। अन्य व्याख्याओ को वे इस आधार पर अस्वीकृत कर देते है कि वे व्याख्याए इतनी अधिक तार्किक है कि ऐसी आदिम व्याख्याए नही हो सकती। हमे यह कहने की आवश्यकता नही कि ऐसा मत जो बुद्ध को एक सकीर्ण, विवेकवादी, तथा उदासीन मनोवैज्ञानिक और दुर्नाम दार्शनिक के रूप मे चित्रित करता है, उन व्यक्तियो को निश्चय नहीं दिला सकेगा जो समालोचको के विचारो से सहमत नही है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का सन्दिग्धात्मा स्वप्नद्रष्टा ऐसा व्यक्ति ही होगा जो कभी भी छठी शताब्दी ईसापूर्व के भारत पर भी इतना विस्तृत धार्मिक प्रभाव नही रख सकता था।

१. दीघनिकाय, १ . १८७ और आगे।

७

यदि हमारा यह विश्वास हो कि बुद्ध एक अनिश्चित स्वप्नदर्शी अथवा दम्भी न थे अपितु एक ऐसे ईमानदार और धीर-गम्भीर महापुरुष थे जिनकी मानसिक वृत्ति रूढ़िवादी परम्परा के विपरीत थी तब उनका कोई भी आकस्मिक वाक्य अथवा अपूर्ण स्पर्श एक सावधान निरीक्षक के लिए उनकी सामान्य स्थिति को समझने के लिए सूत्र का काम कर सकता है और वही उनके जीवन एवं विचार की स्थायी पृष्ठभूमि है। इस अध्यात्मशास्त्र का भाव सर्वत्र व्यापी है भले ही उसकी अभिव्यक्ति न हो।

बुद्ध ने इस संसार की क्षणभंगुरता तथा निस्सारता पर जो बल दिया है वह उपनिषदों में बताए गए सब प्रकार के सांसारिक जीवन के मूल्य ह्रास के साथ प्रत्यक्षरूप में बिलकुल समानता रखता है।[1] महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि बुद्ध ने जो इस आनुभविक जगत को हेय ठहराया है क्या वह इसका परिणाम है कि वे इस जगत के पर किसी निरपेक्ष परम यथार्थता को भी स्वीकार करते हैं जैसाकि उपनिषदों का मत है? जब कोई व्यक्ति ऐसा कहता है कि वह किसी यथार्थसत्ता अथवा ईश्वर में विश्वास नहीं करता तो उसका अर्थ केवल यही समझना चाहिए कि एतद्विषयक जो प्रचलित विचार हैं उन्हें वह स्वीकार नहीं करता। बुद्ध के द्वारा अपर्याप्त विचारों के परित्याग का तात्पर्य यही था कि उनके मुकाबले में अधिक पर्याप्त विचारों को रखना उन्हें अभीष्ट था। वस्तुतः बुद्ध ने उपनिषदों में प्रतिपादित परब्रह्म भाव का कहीं भी खण्डन नहीं किया। कथावत्थु में जहां भिन्न-भिन्न विवादास्पद विषयों पर विचार किया गया है एक अपरिवर्तनशील सत्ता के प्रश्न का कहीं उल्लेख नहीं है। यह सब यदि कुछ संकेत करता है तो यही कि बुद्ध उपनिषदों की स्थिति को स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त वाराणसी में दिया गया बुद्ध का प्रसिद्ध उपदेश एक निरपेक्ष परमसत्ता के शासन की ओर प्रबल संकेत करता है। परमसत्ता के इस प्रकार के वर्णन कि वह न तो सत है न असत है न दोनों ही है और न उनमें से अन्यतम है हमें बौद्ध धर्म से इतर दर्शन-पद्धतियों में प्रकट किए गए उसीके समान वाक्यों का स्मरण कराते हैं जिनमें परमसत्ता के अस्तित्व का सर्वथा निषेध नहीं है किन्तु उसके भौतिक अनुभवों के आधार पर दी गई वर्णनशैली का निषेध है।[2]

तो फिर क्या नहीं बुद्ध ने परमसत्ता की यथार्थता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया? बुद्ध ने परमसत्ता की व्याख्या करने में इसलिए इनकार किया कि ऐसी व्याख्या सापेक्ष दृष्टि के ही आधार पर करनी पड़ती जिस विधि की युक्तियुक्तता का विरोध दूसरों की तुलना में सबसे पूर्व स्वयं बुद्ध ने ही किया था। परमसत्ता इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं है और न ही आनुभविक जगत कभी भी अपनी सीमाओं के भीतर उस परमसत्ता का प्रकाश करता है। उपनिषदें इस विषय को स्वीकार करती हैं और हमें सावधान भी करती हैं कि

१ ज्ञानी पुरुष इस संसार में अनित्य (अध्रुव) पदार्थों में से नित्य (ध्रुव) की खोज नहीं करते। कठोपनिषद् ४ । ।

२ ऋग्वेद १ । १ । १–२ बृहदारण्यक उपनिषद् ३ । ४ । १६। ३ । ८ । ८ ईशोपनिषद् ४ और ५ कठ ३ । १५ मुण्डक १ । १ । ६। २ । १ श्वेताश्वतर ६ । ११ मैत्री ४ । १७।

कही हम प्रतीतिरूप ससार की उपाधियो का प्रयोग परमसत्ता के सम्बन्ध मे न करने लगे। उपनिपदो का ऋषि परमसत्ता के स्वरूप-निरूपण के विपय मे प्रश्न किए जाने पर मौन रह गया और जव प्रश्न को दोहराया गया तब भी फिर मौन ही रहा और अन्त मे जाकर उसने घोपणा की कि 'आत्मा मौन है' (शान्तोऽयमात्मा)।[1] "जहा आख नही जाती, वाणी का प्रवेश नही, न मन का प्रवेश हे, हम नही जानते, हम नही समझ सकते कि किस प्रकार कोई उसका उपदेश कर सकता है।"[2] वह "ज्ञात से भिन्न हे, और अज्ञात से भी ऊपर हे।"[3] उपनिपदे प्राय परमसत्ता की निपेधात्मक व्याख्या करती हे।[4] किन्तु परमसत्ता का इस प्रकार का भाव, कि वह एक ऐसी अज्ञात एव अविज्ञेय सत्ता है जिसका न आदि है न अन्त हे, जो रूपरहित है, साररहित है, न उसका कोई निवास-स्थान है, ऐसा अत्यन्त ऊचा भाव है जो साधारण व्यक्ति की समझ मे नही आ सकता। इसलिए उपनिपदो ने यह अधिक उचित समझा कि उक्त सत्ता का विध्यात्मक वर्णन किया जाए, जिससे धर्म के कार्य सिद्ध हो सके और जनसाधारण यह जान सके कि अनिर्वचनीय परमसत्ता का विध्यात्मक रूप भी है। जहा एक ओर उपनिपदें परमसत्ता के दुर्बोध स्वरूप के सर्वविदित भाव के प्रति वरावर आस्थावान न रह सकी, वहा दूसरी ओर बुद्ध ने वार-वार इसी विपय पर वल दिया कि हम परमसत्ता का आनुभविक जगत् की किसी प्रकार की उपाधियो से युक्त वर्णन नही कर सकते। जहा वे इस विपय का प्रतिपादन करते है कि परमसत्ता परिवर्तनशील जगत् से भिन्न है, एव आत्मा शारीरिक आकृति, प्रत्यक्षानुभव, सवेदनाओ, मानसिक वृत्तियो और वुद्धि के द्वारा आनुभविक निर्णयो से भिन्न है, तथा निर्वाण भी आनुभविक सत् पदार्थ नही है, वे यह भी नही वताते कि आखिर ये है क्या[5], क्योकि इन्हे तर्क द्वारा नही जाचा जा सकता। इनकी यथार्थता का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के द्वारा मुक्तात्माओ को ही होता है और अन्यो को उन्हीकी प्रामाणिकता के आधार पर इन्हे स्वीकार करना होता है। किन्तु यदि एक स्थान पर प्राप्त प्रमाण को वुद्ध ने स्वीकार कर लिया तो क्यो नही वैदिक देवताओ के विपय मे वेद की प्रामाणिकता को भी स्वीकार किया जाए? इसका कोई कारण समझ मे नही आ सकता कि क्यो वुद्ध के मत को मानवीय हृदय के ऐसे ही अन्य अनेक स्वप्नो तथा मानवीय मन के आभासो से ऊची श्रेणी का माना जाए, जिन्हे दूसरो के प्रामाण्य के आधार पर स्वीकार कर लेने का आग्रह किया जाता हे। उपनिपदे वलपूर्वक कहती है और वुद्ध उनसे इस विपय मे सहमत हे कि परमार्थ-विपयो पर कल्पनात्मक निश्चितता प्राप्त करना हमारे लिए सम्भव नही है और ऐसे व्यक्ति जो कहते है कि उन्होने यह निश्चितता प्राप्त कर ली है, दम्भी और प्रवचक है और अशिक्षित वर्ग पर अपना रोव गाठना चाहते है। जव वुद्ध

१. शाकरभाष्य, ३ २, १७।

२. केन उपनिपद्, १, ३, देखिए कठोपनिपद् भी, ६ : १२–१३, मुण्डक, ३ १, ८।

३. केन, १ ४।

४. बृहदारण्यक उपनिपद्, २ . ३, ६, ३ ८, ८, ३ . ९, २६, ४ . २–४, कठ, ३ १५, मुण्डक १ ६।

५ तुलना कीजिए, आगस्टाइन : "परमेश्वर क्या नही ह यह तो हम जान सकते है, किन्तु यह नही जान सकते कि वह क्या हे।" 'ट्रिनिटी', ७ : २।

ने एक ओर अपने से पूर्वकाल के शिक्षकों द्वारा रूढ़ परम्पराओं का मूलोच्छेदन किया, वहां उनके स्थान पर अपनी अन्य कोई रूढ़ि प्रचलित करने की उनकी अभिलाषा न थी क्योंकि इस प्रकार की प्रक्रिया केवल एक एक तर्क वितर्क को प्रोत्साहन देती जो धार्मिक उन्नति में बाधा उपस्थित करता है। बुद्ध स्पष्ट कहते हैं कि मैं उन सब सत्यों का प्रकाश नहीं करता जिन्हें मैं जानता हूं केवल इसीलिए नहीं कि मोक्ष के अन्वेषक के लिए वे उपयोगी नहीं हैं किन्तु इसलिए भी कि उनके विषय में लोगों के नाना प्रकार के विचार हैं।[1] बुद्ध के समय में निरर्थक वादविवाद लगभग एक प्रकार का मानसिक रोग हो गया था। बुद्ध की दृष्टि में हिन्दू विचारक जीवन की गम्भीरतम आवश्यकताओं की दृष्टि से ओझल करते जा रहे थे और विचारधारा के ऐसे विषयों को पकड़े बैठे थे जिनका कोई आधार नहीं था। इसलिए बुद्ध ने अपने अनुयायियों को उपदेश दिया कि वे ऐसी दर्शन पद्धतियों के झगड़े में न पड़कर अपने ध्यान को ऐसे धर्म में लगाएं जो कि सत्य की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। जब हम सब प्रकार के पक्षपातों से अपने को मुक्त कर लेंगे तो सत्य स्वयं हमारे अन्दर प्रकट होगा। यथार्थता को स्वयं अपने अन्दर प्रतिबिम्बित होने दो और उसे हमारे जीवन को उचित दिशा में मोड़ने का अवसर दो। सत्य को जीवन के अन्दर ही से खोजना चाहिए। यह केवल शास्त्रीय वादविवाद का विषय नहीं है किन्तु एक आध्यात्मिक आवश्यकता है। चूंकि तर्क द्वारा यथार्थता के अन्वेषण की सामर्थ्य प्रत्यक्ष है इसलिए बुद्ध ने अध्यात्मशास्त्र सम्बन्धी आकांक्षाओं की पूर्ति करने को अपना कर्तव्य नहीं माना यद्यपि अध्यात्म विषयों पर उनके अपने निश्चित विचार अवश्य थे।

तर्क द्वारा अभिमत सीमाओं के अन्दर रहकर ही बुद्ध विश्व के परमतत्त्व को धर्म अथवा विधान का नाम देते हैं। धर्म के ठीक भाव की महत्ता जानने के लिए इससे पूर्व के वैदिक साहित्य पर हमें ध्यान देना होगा। हमें ऋग्वेद में ऋत का भाव मिलता है जो इस जगत की नैतिक तथा भौतिक व्यवस्था है। इसे ईश्वर ने नहीं बनाया किन्तु *यह अपने आपमें दैवीय है* और देवताओं से स्वतन्त्र है जिन्हें उक्त ऋत का संरक्षक बताया गया है। इस विश्व की उस नैतिक व्यवस्था को जो जीवन में कानून, रीति रिवाज और नैतिकता के विभिन्न क्षेत्रों में उठनेवाली समस्याओं का नियन्त्रण करती है धर्म कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि वर्णों की रचना के पश्चात् सर्वोपरि विधाता ने उनमें अधिक उत्कृष्ट एक आकृति की रचना की और वह धर्म का विधान है। धर्म के विधान से बढ़कर और कुछ नहीं है (धर्मात् परं नास्ति) यथार्थ में जो धर्म का विधान है वही सत्य है। वस्तुतः ये दोनों अर्थात् सत्य एवं धर्म एक ही वस्तु हैं। [2]वैदिक

१ उदान पृष्ठ ११, संयुत्तनिकाय ५, ४३७, दीघनिकाय १, १७९। परमार्थसत्ता के दुर्बोध स्वरूप का भाव प्रकट करने के लिए मौन साधन एक प्रधान विधि है। जब विमलकीर्ति से परमार्थसत्ता के स्वरूप निरूपण के लिए कहा गया तो वह मौन रह गया और बोधिसत्त्व मञ्जुश्री ने उल्लसित होकर कहा, धन्य हो धन्य हो। अद्वैत का भाव वस्तुतः शब्दों का विषय नहीं है। विमलकीर्तिसूत्र। तुलना कीजिए सुजुकी—महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ १०६-१०७।

२ १, ४, १४, और भी देखिए बृहदारण्यक उपनिषद् १, ४, ११ ईशोपनिषद् १५। सत्य से युक्त धर्म का मुख स्वर्णमय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्! तुम उसको अनावरण करो जिससे उसे हम देख सकें।

'ऋत' शब्द दोनो के लिए प्रयुक्त होता है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् मे पूर्णरूप को प्राप्त आत्मा, जिसने समस्त विश्व के साथ अपने एकत्व को अनुभव किया है, गा उठती है "मै ही सबसे आगे उत्पन्न हुआ ऋत (अथवा यथार्थ) हू, जो देवताओ से भी पूर्वजन्मा और अमरत्व का केन्द्र हू।"[2] इसी प्रकार कठोपनिषद् मे, जहा ऋग्वेद[3] से एक वाक्य ठीक उसी रूप मे उद्धृत किया गया है, ऋत का सर्वोपरि आत्मा के साथ तादात्म्य बताया है।[4] सर्वोपरि ब्रह्म ऋत और सत्य दोनो ही है।[5] ऋत और धर्म के सत्य के साथ तादात्म्य का सिद्धान्त उतना ही पुराना है जितना कि ऋग्वेद और उपनिषदे है। एकाकी परमार्थसत्ता एक दार्श-निक भाव वाले व्यक्ति के लिए अपने को नित्यसत्य अथवा यथार्थता के रूप मे अभिव्यक्त करती है और उसको प्राप्त करने का उपाय ज्ञान और श्रद्धा है। यह वह मत है जिसपर उपनिषदे बल देती है। धार्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियो के लिए परमार्थसत्ता नित्य-प्रेम-स्वरूप है और उसकी प्राप्ति का मार्ग प्रीति एव भक्ति का मार्ग है। इस प्रकार के मत पर कुछ अर्वाचीन उपनिषदो, भगवद्गीता तथा पुराणो ने बल दिया है। ऐसे व्यक्तियो की दृष्टि मे जिनका झुकाव नैतिकता की ओर है, परमार्थसत्ता नित्य धर्म की भावना है और उनका विचार है कि हम उसे सेवा तथा स्वार्थत्याग के द्वारा प्राप्त कर सकते है—वही एकमात्र परमसत् जो प्रकाश, प्रेम और जीवन है तथा भिन्न प्रवृत्ति वाले जिज्ञासुओ के लिए भिन्न रूप मे अपने को अभिव्यक्त करता है।

बुद्ध का पूरा झुकाव मुख्यरूप से नैतिक है और इसलिए स्वभावत परमसत् का नैतिक पक्ष एव उसकी धर्मभावना का स्वरूप उन्हे सबसे अधिक आकृष्ट करता है। उपनिषदो ने जो स्थान ब्रह्म को दिया है, बुद्ध ने वही स्थान धर्म को दिया है।[6] धर्म सब

जिसका विधान (धर्म) सत्य है।" और भी देखिए ऋग्वेद, ४ ५, ५, ७ . १०६, ८, ६ ११३, ४, १० . १६०, १।

१ ऋत का विपरीत है अनृत, जो असत्य और अधर्म है।

२ "अहमस्मि प्रथमजा ऋतास्य, पूर्वं देवेभ्यो नाभायि।"

३ ४ ४०, ५, देखिए और भी, वाजसनेयी सहिता, १० २४, १२ १४, तैत्तिरीय सहिता, ३ २, १०, १, शतपथ ब्राह्मण, ६ ७, ३, ११, तैत्ति० आरण्यक, १० . २, ५ ६, रगरामानुज कठोपनिषद् का भाष्य करते हुए, ऋत का ४ "अपरिच्छिन्नसत्यरूपब्रह्मात्मकम्" के साथ साम्य बतलाते है। (५ २)

४. ५ . २, तैत्तिरीय पर शाकरभाष्य देखिए, ३ . १० और कठोपनिषद् ५ २।

५. "ऋत सत्य पर ब्रह्म", तैत्ति० आर०, ६ . १२, २९, १२।

६ तुलना कीजिए रवीन्द्रनाथ टैगोर से, "यह धर्म और उपनिषदो का ब्रह्म तात्त्विक रूप मे एक ही है। बौद्धधर्म के अनुसार, धर्म शान्ति, सौजन्य और प्रेमस्वरूप एक शाश्वत या नित्य यथार्थसत्ता है, जिसके प्रति मनुष्य अपनी सर्वोच्च कोटि की भक्ति, यहा तक कि अपने जीवन को भी, अर्पित कर सकता है। यह धर्म ही मनुष्य को त्याग-सम्बन्धी अनिर्वचनीय शक्ति के लिए प्रेरणा दे सकता है और आत्मोत्सर्ग के द्वारा उसे अपने जीवन के परमलक्ष्य तक पहुचने के लिए मार्ग दिखा सकता है। यह वह अवस्था है जिसकी तुलना हम ससार के किसी पदार्थ के साथ नही कर सकते, किन्तु फिर भी जिसका हम एक धुधला विचार अवश्य बना सकते है जबकि हम यह जान जाए कि हम तक केवल अपरिमित प्रेम के द्वारा ही पहुचा जा सकता है, न कि अपने को उपेक्षा सिखा देनेवाले मार्ग के द्वारा। इस प्रकार अनन्त प्रेम की निरन्तर चेतना से निर्वाण का नाम भगवान् बुद्ध ने ब्रह्मविहार दिया है अर्थात् ब्रह्म मे गति [illegible] १९३४, पृष्ठ ३२५ से ३२८ तक।

सब प्रकार के भविष्य-जन्मो के नाश का भाव भी लगा हुआ है, तब वे आत्मा की यथार्थता को अव्यक्तरूप से स्वीकार कर लेते है। जब वे यह घोषणा करते है कि प्रबुद्ध का स्वरूप प्रकृति से परे है, और उनके ऊपर जो इस विषय का दोषारोपण किया जाता है कि वे यथार्थ सत् के नाश का उपदेश देते हैं[1] इसके विरोध मे वे स्वीकार करते है कि पाच तत्त्वो का विनाश यथार्थ आत्मा को स्पर्श नही करता। धम्मपद मे आत्मा को जीवात्माओ का प्रभु एव उनके पुण्य और पाप कर्मो का साक्षी बताया गया है।[2] सांख्य और अद्वैत वेदान्त मे उस सबको जो अनात्म के साथ सम्बन्ध रखता है, आत्मा मे से निकालकर पृथक् कर दिया गया है और यही भावना उपनिषदो की और बौद्धधर्म की भी है।

किन्तु बुद्ध आत्मा की यथार्थता को सासारिक अनुभव की साक्षी के आधार पर पुष्ट नही कर सके। इस प्रकार वे अनुभवातीत आत्मा के विषय मे उठाए गए इन प्रश्नो का उत्तर देने मे इनकार कर देते है कि वह समष्टियो से युक्त है[3] अथवा उनसे भिन्न है। वस्तुत उन्होने नित्य आत्मा के अस्तित्व का निषेध नही किया, अपितु उसके विषय मे जो नाना प्रकार की कल्पनाए प्रस्तुत की जाती हैं उनका निषेध किया है। आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे जो छ भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाए है, उनके विषय मे बुद्ध कहते है कि "हे भिक्षुओ! यह नाना सम्मतियो के अन्दर केवल भ्रमणमात्र है, केवल सम्मतियो का आश्रयमात्र लेना है, निस्सार सम्मतियो मे केवल समय का नष्ट करना है, और सम्मतियो का एक तत्त्वविहीन प्रदर्शनमात्र है।"[4] बुद्ध के आरम्भिक शिष्यो की एक शाखा ने पुद्गल-वाद अर्थात् एक नित्य-अमर आत्मा के अन्दर आस्था रखने के सिद्धान्त को स्वीकार किया था। कथावत्तु इस विचार को सम्मितीय एव विज्जिपुत्तको का बताता है। सयुत्तनिकाय मे हमे बोझ ढोनेवाले का सूत्र मिलता है।[5] बुद्धघोष, वसुबन्धु, चन्द्रकीर्ति और यशोमित्र जैसे बौद्ध टीकाकार, जिनका झुकाव बुद्ध के उपदेशो की निषेधात्मक व्याख्या की ओर है, इसका समाधान कर देते है, यद्यपि यह मानना कठिन है कि परिवर्तनशील समष्टिया बोझ भी हो और उसे ढोनेवाले भी हो।

वर्तमान काल मे सामान्यत यह स्वीकार किया जाता है कि निर्वाण को 'निरन्तर शून्यता' के साथ मिलाना अनुचित है। निर्वाण शब्द का यौगिक अर्थ है 'बुझ जाना', और जो चीजे बुझती है वे है, 'उत्कट अभिलाषा, दु ख और पुनर्जन्म।'[6] निर्वाण का सबसे पुराना भाव यह है कि यह एक ऐसी अव्याख्येय अवस्था है जो तण्हा (तृष्णा) का सम्पूर्ण-रूप मे नाश कर देने से एव मन की अशुद्धियो का भी नाश कर देने से[7] यही और अब भी प्राप्त की जा सकती है।[8] यह एक यथार्थ स्थिति है, जहा ससार का अन्त हो जाता है और

१. अलगद्दूपमसुत्त : मज्झिमनिकाय, १ १४० ।
२ १६० ।
३ मज्झिमनिकाय, १ . २५६ ।
४ शीलाचार, 'डायलॉग्स ग्राफ बुद्ध,' खण्ड १, पृष्ठ ६ ।
५. ३ : २५ ।
६. महावग्ग, ६ . ३१–७, 'सेक्रेड बुक्स ग्राफ द ईस्ट', खण्ड १३ ।
७ देखिए ब्रह्मजालसुत्त, १ ।
८. "नन्दी सयोजनो लोको वितक्कस्स विचारणा, तण्हाय विप्पहानेन निब्बान इति वुच्चति।"
—सुत्तनिपात, ११०६, और भी देखिए १०८७ ।

और अपने अनुयायियो को चेतावनी देते है कि अरूपलोक मे आनन्दमय जीवन बिताने की कामना भी एक बन्धन है, जो निर्वाण की प्राप्ति मे बाधा पहुचाता है।

स्पष्ट है कि बुद्ध ने निर्वाण के विध्यात्मक स्वरूप को स्वीकार किया है। सारिपुत्र ने, निर्वाण के विषय मे यमक का शून्यतारूप रात्रि का जो मत है उसे धर्मद्रोह कहकर, त्याज्य बताया है।[1] कोसल देश के राजा पसेनदी और भिक्षुणी खेमा के मध्य जो रोचक सवाद हुआ उसमे यह स्वीकार किया गया है कि निर्वाण एक वर्णनातीत अवस्था है, जिसका वर्णन अनुभव के आधार पर नही हो सकता। तथागत की गम्भीर प्रकृति की थाह नही मिल सकती, जिस प्रकार गगा की बालू अथवा समुद्रजल के बिन्दुओ की गिनती नही हो सकती।[2] निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध मे पूछे गए सभी प्रश्नो का उत्तर देने मे बुद्ध ने इनकार किया, क्योकि ऐसे प्रश्न उन्नति मे बाधक है[3] और निर्वाण अकल्पनीय (अननुवेज्जो) है। "जिसके विषय मे कुछ कहना सम्भव नही है, उसके विषय मे मौन ही रहना चाहिए।"[4]

८

बौद्धधर्म के ऐसे विद्यार्थी जिनका झुकाव विज्ञान की ओर है, बुद्ध के उपदेश को निषेधात्मक विवेकवाद समझते है। अध्यात्मशास्त्र-सम्बन्धी आधुनिक समस्त प्रयासो की विफलता का प्रभाव जिनके ऊपर हुआ है ऐसे समस्त व्यक्ति बुद्ध के सिद्धान्त को नास्तिकवाद समझते है। और यदि उन्हे कही इसके विपरीत अर्थ वाले वाक्य मिलते है, जिनकी संगति वे अपने इस मत से न लगा सके तो वे कह देते है कि ये बुद्ध के अनुयायियो के है। प्रोफेसर कीथ का भी यही कहना है कि एक विध्यात्मक दर्शन जो परमतत्त्व, आत्मा एव निर्वाण की यथार्थता स्वीकार करता है, बौद्ध विधान मे ढूढा जा सकता है, किन्तु वे ऐसे विचारो को स्वय बुद्ध के विचारो के रूप मे मानने को उद्यत नही है और इसलिए उसका श्रेय वे हर हालत मे 'बुद्ध के आरम्भिक अनुयायियो के एक विभाग' को देते है।[5] आध्यात्मिक विषयो पर बुद्ध के मौन के जो भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए गए है वे अर्थ लगानेवालो के अपने-अपने विभिन्न

१. सयुत्तनिकाय, ३ १०६।

२ वही, ४. ३७४, मज्झिमनिकाय, १ ४८७।

३ सयुत्तनिकाय. २ २२३, मज्झिम ६३।

४ तुलना कीजिए, अरविन्द घोष . "निर्वाण का आदर्श केवल निषेधात्मक है और उच्चतम वेदान्त-विषयक अनुभव का एकमात्र कथन है।" (आर्य, ६, पृष्ठ १०१)। फ्रेड्रिक हेलर के अनुसार, "निर्वाण यद्यपि यह विरोधाभास-सा प्रतीत होता है और विचार-विषयक निषेधात्मकता के रहते हुए भी केवल नित्य स्थायी मोक्ष ही है जिसके लिए समस्त पृथ्वी के धर्मात्मा व्यक्तियों का हृदय तरसता है ('न्यू पाली इंग्लिश डिक्शनरी' में उद्धृत)। बौद्धधर्म की परवर्ती शाखा, जिनकी व्याख्या के अनुसार निर्वाण सार्वभौम बुद्ध के साथ एक चेतनामय सयोग है अथवा मनुष्य के हृदय में बुद्धात्मा-सम्बन्धी जागृति है, उनकी अपेक्षा बुद्ध की शिक्षा के अधिक निकट है जो इसे सदा के लिए जीवन का अन्त हो जाना मानते है।

५ 'बुद्धिस्ट फिलासफी', पृष्ठ ६३-६४।

जिज्ञासा के कारण हैं।' एक निष्पक्ष इतिहासलेखक का उचित है कि वह न केवल यही कि अपने कथना म यथार्थता का पालन करे अपितु अपने निर्णया म भी न्याय का आश्रय ले। जहा एक ओर उसका यह कर्तव्य है कि वह दर्शन-पद्धति के अन्तर्गत परस्पर विरोधा एव असगतिया को देख वहा दूसरी ओर यदि वह चाहता है कि उसकी व्याख्या सफल हो तो उसे यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि उनके अनिवार्यरूप से आवश्यक अगा एव आनुषगिक (आकस्मिक) अगा म भी भेद करके उचित व्याख्या करे। यदि अन्य व्याख्या न केवल यही कि सम्भव हो अपितु आन्मि आरम्भिक विधान के उपदेशो के अधिक अनुकूल जचती हो तो निषेधकतापरक अथवा नास्तिकतापरक व्याख्या पर आग्रह करना उचित नहीं है। नास्तिकतापरक व्याख्या करनेवाला बुद्ध के मौन को अज्ञान के लिए एक आवरण बताता है और निषेधकतापरक व्याख्या करनेवाला इसे भीरुता का कार्य बताता है। पहले मत के अनुसार बुद्ध सत्य को नहीं जानते थे बल्कि अपना पीछा यह कहकर छुड़ाते थे कि आध्यात्मिक प्रश्न आवश्यक नहीं हैं और इसीलिए वे उन प्रश्नों से बचते हैं। दूसरे मत के अनुसार वे निश्चित विचार रखते थे किन्तु चूकि उनमें सर्वमान्य और पहले से प्रचलित सम्मतियों का विरोध करने की हिम्मत नहीं थी इसलिए वे अपनी सम्मति को प्रकट नहीं करते थे। उन व्यक्तियों को जो बुद्ध को ससार के बड़े व्यक्तियों म अन्यतम मानते हैं— और जिनके विषय में जैसा कि प्लेटो ने सुकरात के विषय में फीडो म कहा है यह कहना असत्य न होगा कि वे सबमें श्रेष्ठ और सबसे अधिक ज्ञानी तथा अपने समय सबसे अधिक धर्मात्मा थे —निषेधात्मक एव नास्तिवादपरक व्याख्याकारो के साथ सहमत न हो सकने के कारण क्षमा ही करना होगा। यदि हम चाहते हैं कि बुद्ध की दार्शनिक शक्ति अथवा नैतिक महानता म किसी प्रकार की न्यूनता न आने पाए तो हम विध्यात्मक व्याख्या को स्वीकार करना चाहिए। केवल यही व्याख्या बुद्ध की आध्यात्मिक सफलताओं और असफलताओं और उनके नैतिक उपदेशों को स्पष्ट कर सकती है जो उनकी अध्यात्म विद्या का तार्किक परिणाम है। यही बुद्ध का सम्बन्ध उनकी धार्मिक परिस्थितियों से जोड़ती है और उनकी विचारधारा को उपनिषद् की विचारधारा की शृखला का भाग बताती है। प्रत्येक राष्ट्र की विचारधारा का इतिहास एक सजीव विकास होता है केवल परिवर्तनों की शृखला मात्र नहीं।

अपवादरूप प्राचीन दर्शन पद्धतियों की व्याख्या में श्रद्धा के स्थान का उल्लेख करते हुए जहा हमें पूर्णरूप से निश्चित प्रमाणों का ही आश्रय लेना है जो प्राय ग्रहणात्मक हैं और अन्य किसी साधन से भी न्यून हैं अथवा ऐसे हैं जिनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है प्रोफेसर बर्नेट कहते हैं ऐसे व्यक्ति को जो अपना न केवल प्राचीन दार्शनिकों की सहानुभूति में यत्न करना पड़ता है कभी कभी कोई ऐसा दर्शन इस प्रयत्नरूप में मक ऊपर हठात् प्रभाव डाल जाता है कि निम्न कारणों को बहुत अपूर्णता के साथ किन्हीं पारिभाषिक उद्धरणों में ही रखा जा सकता है। ऐसे तथ्यों की गणना यदि पूर्ण न हो सके —और यह कभी पूर्ण हो भी नहीं सकता —और जब तक प्रत्येक वाक्य का अध्ययन उसी प्रकार से अन्य अनेकों वाक्यों की सगति के साथ न किया जाए जो स्मृति में उपस्थित न हों तब तक यथाकथित प्रमाणों के किसी भी व्यक्तिगत मत पर एक ही जैसा असर नहीं हो सकता। (प्रा० फिलासफी पृष्ठ १ २)।

९

यदि बुद्ध उपनिषदों के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं तो फिर क्या कारण है कि हिन्दू विचारक उन्हें धर्मद्रोही कहते हैं? हिन्दुओं और बौद्धों की धार्मिक पद्धतियों और संस्कृति में इतना अन्तर कैसे और क्यों हुआ?

हिन्दू का बुद्ध के आध्यात्मिक विचारों के साथ उतना विरोध नहीं है जितना कि उनके जीवन की क्रियात्मक योजना के साथ है। विचार की स्वतन्त्रता, किन्तु कर्म में कट्टरता, इतिहास के आरम्भिक काल से उसकी विशेषता रही है। हिन्दू सांख्य तथा पूर्वमीमांसा की विचार-पद्धति को भी शास्त्रीय व कट्टरपंथी के रूप में स्वीकार कर लेगा—बिना इस बात पर ध्यान दिए कि उक्त दोनों दर्शन आस्तिकता के प्रति उदासीन हैं, किन्तु वह बौद्धधर्म को, इसके प्रबल नैतिक और धार्मिक भाव के रहते हुए भी, स्वीकार करने को उद्यत नहीं होगा, केवल इस कारण कि सांख्य व पूर्वमीमांसा उसके सामाजिक जीवन और संगठन में हस्तक्षेप नहीं करते जबकि बौद्धधर्म अपने सिद्धान्त को जनता के जीवन के समीप लाने पर जोर देता है।

उपनिषदों के दर्शन-सिद्धान्तों के अन्दर से अपूर्व सुन्दरता और तर्क के द्वारा निष्कर्ष निकालते हुए बुद्ध ने ऐसे व्यक्तियों के विश्वासों एवं कर्मों में अनेक असंगतियों को निकालकर जनसाधारण के आगे रख दिया जो उपनिषदों के प्रति केवल मौखिक भक्ति प्रदर्शित करते थे। जहां एक ओर उपनिषदों के, साहसिक कल्पना करनेवाले, रचयिताओं ने परमार्थसत्ता के निरावरण शिखरों तक पहुंचने का प्रयत्न किया, वहां जनसाधारण को खुली छुट्टी थी कि वे अपने छोटे-छोटे देवी-देवताओं की पूजा कर सकते थे और यज्ञादिक संस्कार भी कर सकते थे, क्योंकि यह उनकी मांग थी। विस्तृत यज्ञात्मक धर्म पर से बुद्ध के समय में विवेकी पुरुषों का विश्वास उठ चला था। वस्तुतः *वानप्रस्थ* और *यति* तो उससे मुक्त थे ही, और स्वभावतः सन्देह प्रकट किया जाने लगा था कि गृहस्थ लोग भी ऐसे खर्चीले और जटिल क्रियाकलाप और कर्मकाण्ड से छुट्टी पा सकते हैं या नहीं। बुद्ध ने ऐसे व्यक्तियों का विरोध किया जो मौन धारण किए बैठे थे और यह घोषणा की कि मोक्ष का बाह्य जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु उसका सम्बन्ध केवल आन्तरिक व धार्मिक जीवन से ही है।

उपनिषदों ने अहिंसा के सिद्धान्त का समर्थन तो किया किन्तु बिना अपवाद के नहीं। वैदिक दृष्टिकोण इतना अधिक सुरक्षित था कि उपनिषदों ने वैदिक संस्थाओं को स्थिर रहने दिया, भले ही वे उपनिषदों की भावना के विपरीत भी क्यों न रही हों। दृष्टान्त के रूप में छान्दोग्य उपनिषद् आदेश देती है कि "मोक्ष की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को अन्य कर्तव्य कर्मों के साथ-साथ अन्य प्राणियों को कभी कष्ट नहीं देना चाहिए, केवल कुछ पवित्र स्थानों को छोड़कर", अर्थात् पशुयज्ञों को छोड़कर।[1] किन्तु बुद्ध की सम्मति में पशुओं की हिंसा अत्यन्त कुत्सित कार्य था और उन्होंने पशुबलि वाले यज्ञों को सर्वथा त्याज्य

१ "अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः।" ८ : १५।

थे। बुद्ध के सिद्धान्त मे ऐसा कुछ भी नही है जिसका समन्वय हिन्दू विचारधारा के साथ न किया जा सके। किन्तु एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था मे जिसका आधार ब्राह्मण की श्रेष्ठता हो और ऐसी व्यवस्था मे जो उसे स्वीकार करने का सर्वथा निषेध करे, सघर्ष होना स्वाभाविक है। ईश्वरज्ञान-सम्बन्धी विवादो मे, जिनमे स्वभावत जोश आ ही जाता है, प्रत्येक विरोधी पक्ष को नास्तिक कह दिया जाता है। यदि कोई हमारे भ्रान्त विचारो के साथ सहमत नही है तो वह धर्मभ्रष्ट है, यदि वह नैतिकता का मापदण्ड हमारे मापदण्ड से भिन्न रखता है तो वह अनैतिक है। वैदिकयज्ञादिपूर्ण धर्म के कर्णधार बुद्ध को धर्म का शत्रु समझते थे। जब बुद्ध भारद्वाज नामक एक ब्राह्मण के समीप पहुचे जो अग्नि मे होम कर रहा था तो उसने चिल्लाकर कहा, "वही खडे रहो, हे मूड-मुडाए श्रामणक ! तुम नीच जाति के हो।"[1] जब कभी वैदिक धर्म के विरुद्ध कोई मत उठा, हिन्दू कट्टरता ने यही प्रवृत्ति दिखाई। मण्डन मिश्र ने शकर को वैदिक पवित्रता को परब्रह्म के ज्ञान की अपेक्षा नीचा स्थान देने के लिए बहुत बुरा-भला कहा।[2] बुद्ध का विद्रोह उपनिषदो की अध्यात्मविद्या के विरोध मे नही है, अपितु ब्राह्मणो ने जिस हिन्दूधर्म पर आधिपत्य जमाया हुआ था उसके विरोध मे है। यह परस्पर का मतभेद आगे चलकर तब और भी विस्तृत हो गया जब बुद्ध के अनुयायियो का स्वाभाविक धार्मिक जोश, नये धार्मिक विधान के ग्रहण से, जैसाकि प्राय ही होता है, और भी उमड पडा और उन्होने बौद्ध सिद्धान्तो का इस प्रकार विकास किया कि वे परम्परागत वेदान्त-सिद्धान्त के सीधे विरोध मे खडे हो गए। बुद्ध की शिक्षा का निषेधात्मक पक्ष हमे 'कथावत्तु', 'मिलिन्दपन्ह' तथा हीनयान और महायान सम्प्रदाय के ग्रथो मे मिलता है। यदि वेदान्त के भाष्यकारो ने बौद्धधर्म के विभिन्न रूपो को अपनी कठोरतम आलोचना का विषय बनाया तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है।

१०

बौद्धधर्म के चारो सम्प्रदाय बुद्ध की शिक्षा मे भक्ति रखने का दावा करते है, जिसने जीवन के तत्त्वों (धम्म), उनके कारणकार्य-सम्बन्ध को तथा उनकी क्षमता को सदा के लिए दबा देने के उपाय की भी खोज की। आजीविको के विरुद्ध, जो वर्तमानकाल पर भूतकाल के प्रभाव का विरोध करते थे, क्योकि उनका कहना था कि भूतकाल तो नष्ट हो गया और फिर से आनेवाला नही है, बुद्ध ने घोषणा की कि नही, 'सब कुछ रहता है', यद्यपि वस्तुए केवल शक्तियो के एकत्रित समूह (सस्कारसमूह) है। सब वस्तुओ के अस्तित्व का समर्थन बुद्ध ने इसलिए किया जिससे कि नैतिक जीवन का महत्त्व स्थिर रह सके। सर्वास्तिवादी

१ "तत्र एव मुण्डक, तत्र एव समनक, तत्र एव वसलक, तिट्ठाहि।"

२. "जब मण्डनमिश्र ने सामग्रान के आह्वान द्वारा सब देवताओं को निमन्त्रण दे रखा था और अपने हाथ दर्भ की कुशा से धो रहे थे तो उनकी दृष्टि पवित्र गोलाकार वृत्त की परिधि के अन्दर पडे शकराचार्य के चरणों की ओर गई। शकराचार्य को ऊपर से नीचे तक देखकर उन्होंने जान लिया कि यह कोई सन्यासी है और वे एकदम क्रोध मे चिल्ला पडे, 'यह मुण्डित मुण्ड आदमी कहा से आ गया?' (कुतो मुण्डा)—आनन्दगिरि कृत 'शकरविजय'।

लाग (वभाषिक और सौत्रान्तिक) यथार्थ का यथार्थता को मानते हैं। उपनिषदों के नाम रूप का बौद्धों ने आगे चलकर विभाग किया और उस रूप (प्रकृति) तथा चार मानसिक अवयवों (नाम) में अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान, संवेदनाओं, प्रवृत्तियों एवं बुद्धि में विभक्त किया। इन्द्रिय सामग्री (प्रकृति) है और दूसरे चार मिलकर आत्मा का निर्माण करते हैं। प्राय जीवन के तत्त्वों को छः ज्ञान ग्रहण करने वाली इन्द्रियों (षडायतनों) में विभक्त किया जाता है जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन है और उनके छः ही प्रकार के विषय हैं।[1] मन के विषय अचेतन हैं और चौथे प्रकार के हैं। बाह्य रूप पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त मन और तद्गुण विषय तथा चेतना के छः रूप भी बना लेते हैं और इस प्रकार ये अठारह धातु बनता है। वास्तविक अर्थों में आन्तरिक एवं बाह्य में कोई भेद नहीं हो सकता और विभिन्न तत्त्वों में कोई यथार्थ क्रिया प्रतिक्रिया भी नहीं हो सकती। यद्यपि प्रचलित भाषा में इस प्रकार के अर्थ सूचक भावों का प्रयोग अवश्य होता है। प्रकृति और मन दोनों ही निरन्तर प्रवाहित होते हुए विभिन्न क्षणों तथा अप्रवर्तनीय सामग्री में प्रकृति के विषय में और मन के विषय में चेतना में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि इन्द्रिय-सामग्री और मनस्तत्त्व कारण-कार्य के नियमों के अनुकूल होते हैं। किन्तु कारण-कार्यभाव क्षणिक पदार्थों के सम्बन्ध में जो केवल प्रकट होते और विलुप्त होते हैं किन्तु न गति करते हैं और न परिवर्तित ही होते हैं एक नया अर्थ रखता है। यह केवल प्रतीत्यसमुत्पाद है अर्थात् जो एक पदार्थ की उत्पत्ति पूर्व पदार्थ के ऊपर निर्भर करता है। एक अवस्था दूसरी के पश्चात् अस्तित्व में आती है। प्रथम अवस्था की पश्चात् की अवस्था को उत्पन्न करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

बहुत्वपूर्ण यथार्थता की कल्पना के अनुसार ज्ञान चेतना तथा विषय की एकसाथ उपस्थिति से अधिक और कुछ नहीं। प्रोफेसर शरबात्स्की ने इस का प्रतिपादन किया है रंग (रूप) का एक क्षण दर्शन की इन्द्रिय (चक्षु) का एक क्षण और एक क्षण विशुद्ध चेतना (चित्त) एकसाथ उदित होकर रंग की संवेदना (स्पर्श) का निर्माण करते हैं।[2] इसका तात्पर्य यह है कि चेतना का तत्त्व विषय की उपाधि से युक्त और इन्द्रिय के द्वारा पुष्ट होकर प्रकट होता है। चेतना इन्द्रिय को ग्रहण नहीं करती अपितु केवल विषय को ग्रहण करती है क्योंकि दोनों में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध (सारूप्य) है। चेतना उसी प्रकार ज्ञान ग्रहण करती है जैसे कि प्रकाश के बारे में कहा जाता है कि वह गति करता है। अभिधर्मकोष में कहा है दीपक का प्रकाश एक साधारण आलंकारिक नाम है वस्तुतः वह निरन्तर अबाध रूप से उत्पन्न होती हुई दीप्तिमान ज्वालाओं की एक शृंखला है। जब यह उत्पत्ति अपना स्थान परिवर्तन करती है तो हम कहने लगते हैं कि प्रकाश चला गया। इसी प्रकार चेतना भी चेतनामय क्षणों की शृंखला का रूढ़ या परम्परागत नाम है। जब यह अपना स्थान परिवर्तन करती है अर्थात् किसी अन्य विषयीभूत तत्त्व के साथ प्रकट होती है तो हम कहने लगते हैं कि यह उक्त विषय का ज्ञान ग्रहण करती है।[3] वस्तुतः ये स्वयं

1. तत्त्वों का वर्गीकरण स्कन्धों आयतनों और धातुओं में किया गया है। देखिए मेरगाथ १२५५।
2. अथवा सन्निपात स्पर्श (द सेंट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म पृष्ठ ५५)।
3. नवां अध्याय देखिए शेरबात्स्की—द सेंट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म पृष्ठ ५७।

चेतना ही के क्षणभंगुर प्रकाश है किन्तु ज्ञान ग्रहण करनेवाला कोई अन्य नही है। चेतनामय क्षणो की निरन्तरता मे पूर्व आनेवाला क्षण पश्चात् आनेवाले का कारण है।

इस मत के अनुसार यह योगाचारो के विज्ञानवाद की ओर एक पग उठाना हुआ, जो सब तत्त्वो को एक ही सामान्य आधार 'चेतना' (आलयविज्ञान) के रूप मे परिणत कर देता है। जीवन के तत्त्व (धर्म) विचार ही की उपज है। पदार्थ (ज्ञेय विषय) हमारे अपने भूतकाल के अनुभवो के रूप मे चेतना मे आ जाते है। बाह्य जगत् हमारे विचारो की ही सृष्टि है जिसे हम नाम तथा विचार देते है।[1] विचारो की उमडती हुई जलधारा की कल्पना, जिसमे पूर्व का क्षण आनेवाले क्षण का कारण है जहा दोनो केवल समानान्तरत्व के सम्बन्ध से जुडे हुए है, अपना स्थान एक सारवान सार्वभौमिक चेतना (आलय) के सिद्धान्त को देती है, मानसिक अवस्थाए जिसके परिवर्तित रूप (परिणाम) है। अयथार्थता की श्रेणियो का भाव एक प्रकार से परमार्थसत्ता की मौन स्वीकृति है। व्यक्तिगत विचार अवास्तविक (नि स्वभाव) है, पहले तो इसलिए कि वे तार्किक रचनाए (परिकल्पित) है। क्योकि उनके अनुरूप मनोनीत जगत् मे वास्तविकता नही पाई जाती, दूसरे इसलिए भी कि वे केवल आनुषगिक रूप मे वास्तविक (परतन्त्र) है और तीसरे, क्योकि वे सब परमार्थतत्त्व (तथता) की यथार्थता मे विलीन (परिनिष्पन्न) है। भिन्न-भिन्न तत्त्व अपने-आपमे यथार्थ नही है, किन्तु उनकी यथार्थता परमतत्त्व मे ही है और यह विशुद्ध चेतना का स्वरूप है जहा ज्ञाता और ज्ञेय अथवा प्रमाता और प्रमेय का परस्पर भेद नही है (ग्राह्य-ग्राहकरहित)।[2] चूकि परमतत्त्व अन्तर्यामी रूप से ससार मे व्याप्त है, इसलिए निर्वाण की प्राप्ति के लिए केवल दृष्टिकोण मे परिवर्तन हो जाने की ही आवश्यकता पर्याप्त है। योग की रहस्यमयी शक्ति हमे इस दृश्यमान जगत् की वस्तुओ को देखने मे सहायक होती है। नित्यता की दृष्टि से देखने पर ससार धर्मसस्काररहितो के लिए वैसा ही है जैसाकि धर्मसस्कारापन्नो के लिए निर्वाण है। किन्तु योगाचारी ध्यानपूर्वक वैयक्तिक एव सार्वभौमिक चेतना मे भेद नही करता है। जब वह यह प्रतिपादित करता है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के परस्पर भेद यथार्थरूप नही है, किन्तु चेतना के अनादिकाल से मलिन हो जाने के कारण ही है, और जब वह व्यक्तिगत चेतना की अवस्थाओ के सम्बन्ध का सार्वभौमिक चेतना के साथ इस प्रकार से तुलना करता है जैसेकि लहरो का सम्बन्ध समुद्र के साथ है, और जब वह नित्य तथता की यथार्थता को स्वीकार करता है और इसे ही एक-मात्र 'असस्कृत धर्म' के रूप मे स्वीकार करता है और शेष सबको सापेक्ष बतलाता है तथा जब वह सब धर्मो को एक मौलिक तत्त्व के प्रकारो मे परिणत करता है, तब वह मौनरूप से एक परम चेतना की यथार्थता को स्वीकार करता है, यद्यपि विषयी-ज्ञानवाद की ओर उसका झुकाव प्राय पाया जाता है। माध्यमिक लोग योगाचारो की कल्पना की सूक्ष्मता के साथ समीक्षा करते है। उनका कहना है कि हमे कभी स्वचेतना (स्वसवित्ति) नही हो सकती, क्योकि कोई भी वस्तु अपने ऊपर क्रिया नही कर सकती। उगली अपना स्पर्श नही

१. नामसज्ञाव्यवहार। लकावतारसूत्र, पृष्ठ ८५।

२. 'अद्वयलक्षण विज्ञप्तिमात्रम्।' देखिए, शेरबत्सकी—'द कन्सेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण', पृष्ठ ३२–३३।

पर सकती और न चार् अपना को नाट सकता है। माध्यमिक लोग जीवन के सब तत्वों को आकस्मिक रूप से एक-दूसरे के ऊपर आश्रित बतलाते हैं और इसीलिए संसार को रिक्त अथवा शून्य बताते हैं। शून्य ही को समस्त जीवन का मौलिक सत्य बताया गया है। नागार्जुन के माध्यमिक अध्यात्मशास्त्र के विद्यार्थी उसकी पद्धति को शून्यतावादी ही समझते हैं।[1] इस विषय पर लिखे गए अपने विवरण में[2] मैंने यह दिखाया है कि यह उसमें कहीं अधिक विध्यात्मक है जैसाकि इसे दिखाया जाता है। मैंने कहा है कि नागार्जुन एक परमार्थ रूप यथार्थता में आस्था रखता है जिसे केवल इन अर्थों में शून्य कहा गया है कि वह सब प्रकार के आनुभविक निर्णयों से रहित है। आइए हम यह देखने का प्रयास करें कि नागार्जुन की अभिमत परमार्थ यथार्थता एक वस्तु शून्य अथवा अपने में पूर्ण निषेध है या नहीं है।

११

इसमें सन्देह नहीं कि नागार्जुन संसार को अयथार्थ अथवा शून्य मानता है। यथार्थ से तात्पर्य हमारा ऐसी सत्ता से है जिसका अपना विशिष्ट स्वभाव हो, जिसकी उत्पत्ति किन्हीं कारणों से न हो (अकृतक) और जो किसी अन्य वस्तु के ऊपर निर्भर न करती हो (परत्र निरपेक्ष)।[3] जो सापेक्ष है अथवा निर्भर है वह अयथार्थ और शून्य (स्वभावशून्य) है। स्वतन्त्र तथा कारणविहीन ही यथार्थ है। आनुभविक जगत नाना प्रकार के सम्बन्धों से जकड़ा हुआ है जैसे ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ और उसके गुण, कर्ता और कर्म, अस्तित्व और अभाव, उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, एकत्व और बहुत्व, पूर्ण और उसका भाग, बन्धन और मुक्ति तथा काल और देश के सम्बन्ध, और नागार्जुन इन सब सम्बन्धों में से एक-एक की परीक्षा करता है और उनके परस्पर विरोधों को खोलकर रख देता है।[4] यदि अविरोध ही यथार्थता की कसौटी है तब यह आनुभविक जगत यथार्थ नहीं है। संसार न तो विशुद्धरूप में सत् है और न विशुद्धरूप में असत् है। विशुद्ध सत् जीवन नहीं है अथवा संसार की प्रक्रिया का अंग नहीं है। विशुद्ध असत् एक ठीक विचार नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो परम शून्यता भी एक वस्तु समझी जा सकती और जो परिभाषा की दृष्टि से सब प्रकार के जीवन का अभाव है एक सत्तात्मक वस्तु बन जाती। अभाव कोई वस्तु नहीं है। जीवन एक परिणमन है। संसार की वस्तुएं हैं नहीं, किन्तु वे सदा बन जाती हैं। वे सदा अपने से ऊपर बढ़ जाती हैं। वे न तो स्वतः अस्तित्व वाली हैं और न अभावात्मक हैं क्योंकि वे प्रत्यक्षज्ञान का विषय बनती हैं व कार्य की प्रेरणा करती हैं तथा कार्य उत्पन्न करती हैं। ललितविस्तर में कहा है "ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसका अस्तित्व हो, न ऐसा ही है जिसका अभाव हो। वह जो सोपाधिक अस्तित्व की शृंखला का ज्ञान रखता है दोनों

[1] कर्न—मैन्युअल, पृष्ठ १२६; जैकोबी—ए ओ एस, ३१, पृष्ठ १; कीथ—बुद्धिस्ट फिलासफी, पृष्ठ २३९, २३६, २४७, २६१।
[2] पृष्ठ ६४३ और आगे।
[3] माध्यमिक कारिका, १५, २।
[4] अशून्यम् अप्रतीत्यसमुत्पन्नम्। माध्यमिक वृत्ति, ४, ३।
[5] पृष्ठ ६४५ इत्यादि।

के ऊपर पहुच जाता है।"[1] नागार्जुन के ग्रन्थ का प्रारम्भिक कथन यह है कि वस्तुए न तो क्षणिक है और न नित्य, न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है, न एक समान है और न भिन्न, न आती है और न जाती है।[2] यथार्थ उत्पत्ति (समुत्पाद) कुछ नही है, किन्तु केवल सोपाधिक (प्रतीत्य) सापेक्ष और प्रतीयमान उत्पत्ति है। वास्तविक विनाश भी कुछ नही है, केवल प्रतीतिरूप विनाश (प्रतीत्य समुच्छेद) है, ऐसा ही शेष सबके सम्बन्ध मे है। ससार की सब वस्तुए सोपाधिक तथा सापेक्ष है। 'शून्य' शब्द का प्रयोग नागार्जुन ने ससार के सोपाधिक रूप को नाम देने के लिए किया है।[3] यदि कोई वस्तु यथार्थ होती और अनुपाधिक होती तब उत्पत्ति एव विनाश से उसका स्वतन्त्र होना भी आवश्यक होता।[4] इस ससार मे ऐसा कोई भी पदार्थ नही है जो परिवर्तन के अधीन न हो, और इसीलिए ससार शून्य है।

नागार्जुन मध्यम मार्ग का अनुयायी या माध्यमिक था, इसीलिए उसने जगत् को भ्रममात्र बताकर उसे मिथ्या नही कहा। उसका प्रहार वस्तुओ की स्वतत्र सत्ता के विषय मे है, किन्तु इससे वस्तुओ की सोपाधिक सत्ता पर कुछ असर नही पडता। नागार्जुन पर टीका करते हुए चन्द्रकीर्ति कहता है "हमारा इस प्रकार का तर्क कि पदार्थ स्वत अस्तित्व वाले नही है, ससार की यथार्थता पर तुम्हारे लिए असर रखता है, जिसे पदार्थो का स्वत अस्तित्व स्वीकार है। यह मत कि पदार्थ स्वत अस्तित्व वाले नही है, हमारी उस कल्पना पर कोई प्रभाव नही डालता जिसके अनुसार पदार्थो का अस्तित्व सोपाधिक (नियन्त्रित) है।"[5]

किन्तु यह नही हो सकता कि नागार्जुन ने ससार को अयथार्थ समझा और फिर भी अन्य किसी यथार्थसत्ता मे विश्वास नही किया। यदि सभी विचार मिथ्या है तो

१. "न च पुनरिह कश्चिदस्ति धर्म्म. ।
सोऽपि न विद्यति यस्य नास्तिभावाः ॥
हेतुक्रियापरम्परा य जाने ।
तस्य न भोतिह अस्तिनास्तिभावाः ॥" (अध्याय २५)

२. "अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥"

३ "य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता ता प्रचक्ष्महे ।" (माध्यमिक कारिका, २४)
"शून्या. सर्वधर्मा. नि स्वभावयोगेन ।" (प्रज्ञापारमिता)

४ "यद्यशून्यमिद सर्वम् उदयो नास्ति न व्यय ।" (माध्यमिक कारिका, २४)

५ "भवतस्तु स्वभाववादिन स्वभावस्य भावाना वैधुर्यात् सर्वभावापवादः सम्भाव्यते, वय तु प्रतीत्योत्पन्नत्वान् सर्वभावाना स्वभावमेव नोपलभामहे, तत् कस्यापवाद करिष्याम. ।" (माध्यमिक वृत्ति, ८)। ऐसे वाक्य मिलते है जिनसे निरपेक्ष भ्रांति प्रकट होती है। अध्याय १८ मे नागार्जुन ससार की वस्तुओं को स्वप्न के उवाई किलों आदि के सदृश बताता है :

क्लेशा कर्माणि देहाश्च फलानि च ।
गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसन्निभाः ॥

चन्द्रकीर्ति का तर्क है कि ये सब वस्तुए स्वरूपविहीन है किन्तु नास्तिरूप नहीं है. "गन्धर्वनगरादिवन्नि स्वभावा वेदितव्या ।" चन्द्रकीर्ति का आग्रह है कि "हम लोग सापेक्षतावादी है, हम मिथ्या मतवादी नहीं है।" माध्यमिकवृत्ति, ३६८।

वास्तविक विचार कुछ होना चाहिए जिसके विषय म मिथ्यात्व का कथन किया जाता है क्योंकि यदि सत्य कोई वस्तु नहीं है तो मिथ्यात्व का भी कुछ अर्थ नहीं रहता। बिना निरपेक्ष ज्ञान के उसके अन्दर विद्यमान रहते हुए सापेक्ष ज्ञान भी बन नहीं सकता। ऐसे आनुभविक जगत की सत्ता भी नहीं है जो अतीन्द्रिय की अभिव्यक्ति न कर सके। सुभूति! शून्यता ही समस्त वस्तुओं का आश्रय है और वे उस आश्रय को नहीं बदलतीं। यदि वस्तुएं स्वतन्त्र रूप से प्रतीत होती हैं तो इस प्रकार की प्रतीति माया के कारण है। हे सारिपुत्र! उन वस्तुओं का जिनका अस्तित्व नहीं है जब सत्‌रूप बतलाया जाता है तो यही अविद्या कहलाती है। *यदि हम प्रतीतिरूप जगत को तात्त्विक रूप में यथार्थ समझ लें तो यह अविद्या का विषय है।* किन्तु हम आनुभविक जगत के माध्यम के बिना सर्वानी यथार्थता को समझ नहीं सकते और बिना परमार्थसत्ता को समझे हम निर्वाण भी प्राप्त नहीं कर सकते।

माध्यमिक शास्त्र का उद्देश्य निर्वाण के स्वरूप का उपदेश करना है जो समस्त संसार का अभाव और परमानन्द का रूप है। निर्वाण नाना वस्तुओं के प्रत्यक्ष होने के अभाव का नाम है परम निरपेक्ष सत्य है। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ शतक में शून्यता के समान बताया गया है। निर्वाण तथा शून्यता दोनों के स्वरूप का उसी निषेधात्मक प्रकार से निरूपण किया गया है। निर्वाण न अस्तित्व वाला है और न ही अस्तित्वविहीन है बल्कि दोनों से परे है। शून्यता सत्य है अथवा तथता है जो न बढ़ती है और न घटती है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में शून्यता को अगाध कहा गया है। हे सुभूति! अगाध शब्द उसका पर्याय वाची है जिसका कोई कारण नहीं है वह जो कि चिन्तन से भी दूर है जिसका विचार भी हम नहीं कर सकते वह जो उत्पन्न नहीं होता जो असत् में उत्पन्न नहीं होता और न त्याग न आत्मसंयम न विलोप और न मृत्यु से ही प्राप्त होता है। नागार्जुन की दृष्टि में निर्वाण बुद्ध शून्यता एक ही यथार्थसत्ता के भिन्न भिन्न नाम हैं। यदि निर्वाण को संसार

३ शून्यगतिका हि सुभूते! सर्वधर्मा न ते गतिं व्यतिवर्तन्ते।
असतपा सर्वधर्मा मायाप्रमातानुशान्त्य।"
यथा सारिपुत्र न संविद्यन्ते तथा संविद्यन्ते एवं अविद्यमाना तेनोच्यन्ते अविद्येति।'

४ व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते इति॥' (माध्यमिक कारिका २४)

५ सर्वप्रपञ्चोपशमशिवलक्षणं निर्वाणं शास्त्रस्य प्रयोजनम्। माध्यमिक वृत्ति और भी देखिए सं स्कन्ध उ० ७ और १२ तुलना कीजिए चन्द्रकीर्ति भावाभावद्वयरहितत्वात् सर्वस्वभावानुत्पत्तिलक्षणा शून्यता। माध्यमिक वृत्ति २४।

६ सा अनुत्तमा सम्यक्संबोधिः सा प्रज्ञापारमिता इति शून्यता।

७ शून्यतामेव निर्वाणं केवलं तद् इहोभयम्। — माध्यमिक वृत्ति १८।

८ न चाभावोऽपि निर्वाणं कुत एवास्य भावता।
भावाभावपरामर्शक्षयो निर्वाणमुच्यते॥ —रत्नावली।

१ महायानवादियों के सर्वधर्मा शून्या का कहना है इन सब निषेधात्मक विवरणों में एक भावात्मक सत्त है जो शून्य है। (जरनल आफ दि बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी खण्ड ५ भाग ३ पृष्ठ ६)

१ १८।

का अन्त मानें तो यह एक सापेक्ष भाव हो जाता है जो कारणों से उत्पन्न हुआ है। यह धारणा कि निर्वाण से पूर्व तो संसार विद्यमान रहता है और निर्वाण के पश्चात् वह तिरो-हित हो जाता है, एक तर्कविहीन विचार है। इस प्रकार नागार्जुन आग्रहपूर्वक कहता है कि परमार्थतत्त्व तथा प्रतीतिस्वरूप में कोई वास्तविक भेद नहीं है, इसी प्रकार निर्वाण और संसार में भी वास्तविक भेद नहीं है। वह कहता है "कारणों और उपाधियों का विचार करते हुए हम इस जगत् को प्रतीतिरूप कहते हैं। और यही जगत् कारणों तथा उपाधियों के हटा देने से परमार्थ कहलाता है।"[1] जब नागार्जुन परम यथार्थता को अकृत, विनाश के अयोग्य, अनित्य और स्थिर रहनेवाला कहता है तो उसका आशय यही है कि यथार्थसत्ता समस्त आनुभविक रूपों से विपरीत है। वह अपनी शून्यता का निरूपण लगभग उन्हीं शब्दों में करता है जिन शब्दों में उपनिषदों में 'निर्गुण ब्रह्म' का निरूपण किया गया है।[2] यह न एकाकी है और न बहुगुणित है, न सत् है और न असत् है।[3] शून्य, जो परम यथार्थता है, न तो विचारशक्ति में आ सकता है और न वाणी द्वारा ही उसका वर्णन हो सकता है।[4]

शान्तिदेव का कहना है कि निरपेक्ष यथार्थता बुद्धि के क्षेत्र में नहीं आ सकती, क्योंकि बुद्धि के क्षेत्र की सीमा सापेक्ष है। माध्यमिक भी इस बात से इनकार करते हैं कि तर्कपूर्ण विचार द्वारा परम सत्य की सिद्धि की जा सकती है। विद्वान लोग सब प्रकार के भावों (विचारों) के अभाव को शून्यता कहते हैं। यहां तक कि वे भी जो इसे शून्यता ही सम-झते हैं, इनमें कोई सुधार नहीं कर सकते।[5] क्या एक ऐसे पदार्थ का वर्णन या ज्ञान दिया जा सकता है जिसका निरूपण अक्षरों द्वारा नहीं किया जा सकता? इतना कहना भी कि इसे अक्षरों द्वारा प्रदर्शित नहीं किया जा सकता, भ्रांतिजनक अध्यास या आरोपण द्वारा ही सम्भव है।[6] 'भ्रांतिजनक अध्यास' में हम एक ऐसे भाव का प्रयोग करते हैं जोकि हमारे अध्ययन के विषयीभूत पदार्थ के अधिक से अधिक समीप पहुंचता है, किन्तु शीघ्र ही उसे वापस भी ले लेते हैं क्योंकि उसका विचार वस्तु के लिए अपर्याप्त है।[7] शून्य को जानना सब कुछ जान लेना है, यदि हमने उसे नहीं जाना तो कुछ नहीं जाना।[8] अद्वितीय तथा अनि-

१. माध्यमिक कारिका, २५ : ९।

२. केन, ३, ११; बृहदारण्यक, २ : ५, १९; ३ : ८–८; कठ, ३ : १५; ईश, ९–१०; मुण्डक, १ : ६; माण्डूक्य, ७।

३. "नास्तिको दुर्गतिं याति, सुगतिं यात्यनास्तिकः।
यथाभूतपरिज्ञानात्, मोक्षमद्वयनिश्रिता ॥"—आर्यरत्नावली।

४. बोधिचर्यावतार, ९ : २।

५. "शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तान् असाध्यान् बभाषिरे ॥" (माध्यमिक कारिका, १३)

६. "अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते यस्य तच्चापि समारोपात् अनक्षरः ॥" (माध्यमिक वृत्ति, १५)

७. देखिए वेदान्तसार, पृष्ठ ८ (जेकब का संस्करण)।

८. माध्यमिक कारिका, २४; तुलना कीजिए बृहदारण्यक, २ : ४, ५, ७–९; ३ : २, १; ४ : ४, २१; ५ : १, १; मुण्डक १ : ३।

वचनीय सत स्वरूप ही सब यथार्थसत्ताओं में वास्तविक अर्थों में यथार्थ है (धर्माणां धर्मता) जो अनिवार्य इदमता (यह है का भाव) है ऐसा है का भाव (तथता) है समस्त जीवन की तथता (भूततथता) तथा भगवान बुद्ध का गर्भ (तथागत गर्भ) है। यदि हम नागार्जुन के शून्यता के सिद्धान्त के परमार्थसत्तापरक उपलक्षणों को स्वीकार नहीं करते तो उसके अध्यात्मशास्त्र तथा भक्तिविषयक आग्रह की अन्यथा व्याख्या करना अत्यन्त कठिन होगा।

१२

बहुत सा भ्रम शून्य शब्द के संदिग्धार्थक होने के कारण उत्पन्न होता है। यह आनुभविक जगत और परमार्थसत्ता दोनों ही के लिए प्रयुक्त किया गया है। बुद्धि के द्वारा बनाए गए सम्बन्धों के आधार पर निर्मित आनुभविक जगत का समझ में आना कठिन है। नागार्जुन दृढ़तापूर्वक इस बात में इनकार करता है कि उसका अपना कोई ऐसा प्रतिपाद्य विषय विशेष है जिसकी रक्षा उसे करनी है क्योंकि प्रत्येक तार्किक प्रमाण में वही निर्बलता विद्यमान होगी। यदि बुद्धि अनुभवों की व्याख्या करने में असमर्थ है क्योंकि वहां इसे अनेकों व्यर्थ असत्याभासों से वास्ता पड़ता है इसलिए परमार्थसत्ता के विषय में इसे वहां अधिक सफलता की आशा नहीं हो सकती। पहला उतना ही रहस्यमय है जितना कि दूसरा और नागार्जुन उसी शून्य का प्रयोग दोनों के लिए करता है। सत्य मौन रूप है जिसका तात्पर्य है न स्वीकृति और न निषेध ही। भिन्न अर्थों में आनुभविक जगत और परमार्थसत्ता दोनों ही असत अथवा सत दोनों रूप में वर्णन से परे हैं। यदि हम परमार्थसत्ता को ही यथार्थ सत करके ग्रहण करते हैं तो संसार को सत नहीं माना जा सकता। और इसी प्रकार यदि संसार के सत को यथार्थ सत मानते हैं तो परमार्थसत्ता सत नहीं। इसलिए भिन्न अर्थों में दोनों ही शून्य हैं।

नागार्जुन की दर्शन पद्धति पर विचार करते हुए अंत में मैंने शून्यवाद और अद्वैत वेदान्त में कुछ समानताएं प्रदर्शित की थी।[1] दोनों ही संसार को परिवर्तनशील और इसीलिए अयथार्थ मानते हैं।[2] दोनों इस विषय में सहमत हैं कि यथार्थसत्ता समस्त अनुभव गत भेदों और ज्ञान से अतीत है। नागार्जुन इसे केवल सुभाव के रूप में प्रस्तुत तो करता

१ रुडोल्फ ओटो का कहना है हमारे रहस्यवादियों का अद्भुत शून्यता के विषय में जो कुछ मत है वही बौद्ध रहस्यवादियों के शून्यम् और शून्यता के विषय में भी सत्य है। पाश्चात्य रहस्यवादियों के अभाव की भांति पूर्ववालों का 'शून्य' भी पूर्णत अन्य का एक दैवी मात्र संकेत मात्र है। इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तो कुछ विद्यमान है और जो कुछ सोचा जा सकता है उससे बिल्कुल जुदा है। (द आइडिया ऑफ द होली, अंग्रेजी अनुवाद पृ १)।

२ पृष्ठ ६६८–६९।

३ शंकर निम्नलिखित वाक्य का समर्थन करेगा
जरा रयधर्मेषु स भावेषु सत्ता।
तिष्ठन्ति न मे भावा परान्तरण विना॥ (अध्यात्मिक कारिका ७)

४ चन्द्रकीर्ति का कथन शंकरानन्दनाथरचितशाङ्करमतनिवृ ... शिवं परमात्मभावम्। शंकर के मोक्ष एवं यथार्थसत्ता सम्बन्धी विचार के विषय में सत्य सत्य है। और भी देखिए शशांकमध्य ३ २ १७ अध्यात्म्या १७ १२।

है किन्तु उसका पूर्णरूप मे निरूपण नही करता, जैसाकि अद्वैत वेदान्त करता है। माया और अविद्या के सिद्धान्त को अद्वैत वेदान्त मे उठाया गया है और उसे बहुत कुछ परिष्कृत किया गया है। दोनो ही पुण्य और पाप को क्रमश ऊची और नीची श्रेणियो में इस ससार मे साधन के रूप मे स्वीकार करते है, जबकि परमार्थ मोक्ष इनसे एकदम अछूता रहता है।[1] अद्वैत वेदान्त को शास्त्रीय की अपेक्षा विवेकयुक्त आधार देने के सम्बन्ध मे गौडपाद को माध्यमिक सिद्धान्त से बढकर और कुछ इतना उपयोगी साधन प्राप्त नही हो सका। गौड-पाद की अनेक कारिकाए हमे नागार्जुन के ग्रन्थ का स्मरण कराती है।[2] वाचस्पति ने शून्यवाद के मानने वालो को जो उन्नत विचारवाले (प्रकृष्टमति) कहा है वह ठीक ही कहा है, जबकि बहुत्व के माननेवाले यथार्थवादियो (सर्वास्तिवादी) को हीनतर विचार वाले (हीनमति) तथा योगाचारो को मध्यम योग्यता वाले माना है।[3]

१. "धर्मे च सत्यधर्मे च फल तस्य न विद्यते।"—माध्यमिक कारिका, ८, तुलना कीजिए, बृहदारण्यक, ४ ३, २१–२२, कठ, २ : १४ ।

२ तुलना कीजिए, गौडपादीय कारिका, २ . ३२ . ४ . २२, ४ : ८८ ।

३ भामती, २ . २, १८ ।

टिप्पणियां

पहला अध्याय

पृष्ठ २२—प्रशस्तपाद के अनुसार, ईश्वर विश्व का स्रष्टा है। देखे 'पदार्थधर्म-सग्रह', पृष्ठ ४८।

पृष्ठ २८, पा० टि० १—भामती, १ १, १।

पृष्ठ ३८—'दर्शन' शब्द के 'दृष्टिकोण' अथवा 'दार्शनिक मत' के अर्थो मे प्रयोग के लिए देखे, नागार्जुन की कारिका के सम्बन्ध मे चन्द्रकीर्ति (पृष्ठ ७५, सेट पीटर्सवर्ग आवृत्ति) तथा सुरेश्वर के वृहद्वार्तिक (पृष्ठ ८६०) के ऊपर टीका मे भर्तृप्रपञ्च से दिए गए उद्धरण और जैकोवी कृत 'सेक्रेड वुक्स आफ द ईस्ट', पृष्ठ १४, खण्ड २२ की भूमिका। यह उल्लेख मुझे प्रोफेसर हिरियण्ण से प्राप्त हुआ है।

पृष्ठ ४२—इस विधि को शाखाचन्द्रन्याय कहते है।

पृष्ठ ४६—"यह अत्युक्ति न होगी कि किसी भी साहित्य मे नैतिकता का पुट देनेवाली घोषणा इतने अधिक प्राधान्य मे नही मिलेगी। चूकि भावाभिव्यक्ति की इस प्रकार की पद्धति सर्वत्र पाई जाती है, सम्भवत इसीलिए सस्कृत भाषा मे विशुद्ध नैतिकता को प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ वहुत न्यून सख्या मे पाए जाते है।" (मैक्डानल कृत 'कम्पैरिटिव रिलिजन', पृष्ठ ७०)।

पृष्ठ ५१—यहा पर 'सूत्रकाल' शब्द का प्रयोग विशेपकर दार्शनिक सूत्रो के लिए किया गया है न कि वैदिक अथवा कल्पसूत्रो के लिए। वैदिक अथवा कल्पसूत्रो का काल ईसा के ५०० वर्ष पूर्व से २०० वर्ष पूर्व तक का कहा जाता है।

दूसरा अध्याय

पृष्ठ ५७—साधारणत यह माना जाता है कि ऋग्वेद के अन्तर्गत ऋचाओ का निर्माण भारत के उत्तर-पश्चिम मे हुआ। देखे मैक्डानल कृत 'सस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ ४०।

पृष्ठ ६०—आरनॉल्ड के मत मे छन्द, भाषा तथा शब्दावली पचविध विभाग के प्रधान मापदण्ड है।

पृष्ठ ६०—वेद के काल के विषय मे प्रोफेसर विटरनिट्ज़ अपने अनुसन्धानो का सारतत्त्व निम्नलिखित रूप मे देते है

१ बौद्ध तथा जैन मत दोनों ही सम्पूर्ण वेद की विद्यमानता को मान लेते हैं। यदि जैसाकि सम्भव है जैन मत का प्रारम्भ महावीर के पहले जाकर उसके पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ तक जाता है तो वेद ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दी में अवश्य सम्पूर्ण रूप में आ गए थे तथा ब्राह्मणधर्म के पवित्र ग्रन्थ भी माने जाने लगे थे।
२ ऋग्वेद की ऋचाएं शेष समस्त भारतीय साहित्य में प्राचीन हैं।
३ ऋग्वेदसंहिता की उत्पत्ति तथा विकास के लिए एक लम्बे समय अर्थात् अनेक शताब्दियों की आवश्यकता थी।
४ ऋग्वेदसंहिता अथर्ववेदसंहिता तथा यजुर्वेदसंहिता से बहुत प्राचीन है।
५ सभी संहिताएं ब्राह्मणों से प्राचीन हैं।
६ ब्राह्मणों तथा उपनिषदों दोनों को ही अपने-अपने विकास के लिए एक सुदीर्घकाल की आवश्यकता थी।
७ वैदिक संहिताओं की भाषा तथा अवेस्ता की भाषा एवं पुरानी फारसी भाषा में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध को देखते हुए हम वैदिककाल के प्रारम्भ का समय ईसा से हजारों वर्षों पूर्व तक नहीं ले जा सकते।
८ दूसरी ओर राजनीतिक धार्मिक तथा साहित्यिक इतिहास के तथ्यों को देखते हुए हम इस परिणाम पर पहुंचना होता है कि ऋग्वेद की प्राचीनतम ऋचाओं एवं पुरातन उपनिषदों के अत्यन्त अर्वाचीन भागों तथा बौद्धमत के उत्थान के मध्य में कम से कम एक हजार वर्ष और सम्भवतः इससे भी अधिक समय का अन्तर होना चाहिए।
९ वैदिक काव्य के प्रारम्भ का कोई निश्चित काल नियत करना सम्भव नहीं है। इससे अधिक हम निश्चित रूप से कुछ नहीं जानते कि वैदिक साहित्य का प्रारम्भ भूतकाल के किसी अज्ञात भाग में हुआ और आठवीं शताब्दी तक उसका निर्माण होता रहा।
१० किन्तु अधिक सम्भव यह है कि वैदिक साहित्य के प्रारम्भ का उक्त अज्ञात काल १५०० से १२०० वर्ष ईसा से पूर्व की अपेक्षा २५०० से २००० वर्ष ईसा से पूर्व के लगभग हो। (कलकत्ता रिव्यू नवम्बर १९२३)

पंजाब के हड़प्पा तथा सिंध के मोहनजोदड़ो में की गई अर्वाचीनतम की खोज भारतीय सभ्यता की प्राचीनता पर अतिरिक्त प्रकाश डालती है। अब हमारे पास पुरातत्त्व विषयक पर्याप्त साक्षी है। यह दर्शाने के लिए कि ५००० वर्ष हुए सिन्ध तथा पंजाब के निवासी सुनिर्मित नगरों में निवास करते थे और उनकी सभ्यता भी अपेक्षाकृत विकसित थी जिसमें कला तथा शिल्प के उच्चतम मापदण्ड का समावेश था तथा उनकी लिपि भी एक विकसित पद्धति की थी। पंजाब और सिंध की प्राचीन वस्तुओं में हम पक्का ईंटों के बने बहुत सुदृढ़ मकान तथा मन्दिर मिलते हैं जिनमें संगमरमर के पत्थर से ढकी सुनिर्मित जल प्रणालियों का भी व्यवस्था थी। नाना प्रकार के चित्रित तथा मिट्टी के बरतनों के अतिरिक्त जिनमें कुछ हाथ के बने और कुछ चाक पर बने हुए हैं खिलौने तथा शीशे रंग की चूड़ियां शीशे का मसाला तथा सीप आदि सम्मिलित हैं। हम अनेक खुदी हुई मोहरें भी मिली हैं जिनमें कुछ पर एक लेख हैं जो आज तक अज्ञात चित्रलिपि में हैं। भारत के भूतपूर्व पुरातत्त्व महानिदेशक सर जान मार्शल लिखते हैं कि इन खोजों ने सदा के लिए यह सिद्ध

कर दिया है कि भारत की भूमि पर ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व एक ऐसी सभ्यता विद्यमान थी जोकि मेसोपोटामिया की सुमेरियन सस्कृति के समान परिष्कृत तथा प्रकटरूप मे उतनी ही अधिक विस्तृत थी। इन दोनो के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसका भी सुनिश्चित प्रमाण मिलता है।" यद्यपि अभी से निश्चित रूप से यह कह देना तो ठीक न होगा कि ३००० वर्ष ईसा से पूर्व भारत और मेसोपोटामिया मे परस्पर सम्बन्ध था, किन्तु इन खोजो से द्राविड समस्या की कोई कुजी सम्भवत मिल सकेगी।

पृष्ठ ६५—'देव' शब्द का सम्बन्ध लैटिन के 'द्यूस' शब्द के साथ है और इसका धात्वर्थ है चमकना। निरुक्त की परिभाषा पीछे की है।

पृष्ठ ६५—यास्क अपने निरुक्त मे कहता है कि कितने ही वैदिक मन्त्रो की व्याख्या आधिभौतिक, आधिदैविक (धार्मिक) और आध्यात्मिक दृष्टि से की जा सकती है। उदाहरण के लिए अग्नि आधिभौतिक क्षेत्र मे आग का वाचक है, धार्मिक क्षेत्र मे पुरोहित देवता का तथा आध्यात्मिक क्षेत्र मे ईश्वर के महान् तेज का वाचक है। प्राकृतिक शक्तियो को सम्बोधन करते समय भक्त के मन मे अन्तर्निहित शक्ति का भाव रहता है, भौतिक तथ्य का नही।

पृष्ठ ६७, पा० टी० १—प्राचीन वैदिककाल मे जो भाषा बोली जाती थी वह उस भाषा का पूर्वरूप थी जो आगे चलकर और सम्भवत एक भिन्न स्थान मे सस्कृत (शास्त्रीय) बन गई।

पृष्ठ ७०—ऋत का भाव ऐसा है जो पीछे के इण्डो-ईरानियन काल तक पाया जाता है।

पृष्ठ ७७—इन्द्र का पता इण्डो-ईरानियन काल मे पहले से ही मिलता है। देखे कीथ कृत 'द रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ द वेद', खण्ड १, पृष्ठ १३३।

पृष्ठ ८०—वाक् की ऋचा मे (१० १२५) हमे एक अन्तर्निहित शब्द का भाव मिलता है। यह एक शक्ति है जो प्रत्येक वस्तु मे रहती है तथा कार्य करती है और जिसके अन्दर बिना जाने सब मनुष्यो का अस्तित्व है।

पृष्ठ ६०—ऋग्वेद मे जहा कि विषय मुख्यत विश्वरचना-सम्बन्धी है, 'सत्' से तात्पर्य वस्तुजगत् अथवा अनुभव से है तथा 'असत्' से तात्पर्य वस्तुओ की उस प्रारम्भिक अवस्था से है जिसमे परस्पर भेद दृष्टिगोचर नही हो सकता और जो वर्तमान जगत् की व्यवस्था का पूर्ववर्ती रूप है। तुलना करे, तैत्तिरीय उपनिषद्, २ ७, जहा सत् अथवा नामरूपात्मक जगत् को असत् से उत्पन्न कहा गया है।

पृष्ठ ९९—तुलना करें ब्लमफील्ड ऋत के सम्बन्ध में नीतिशास्त्र की एक सुन्दर पूर्णपद्धति भी है जो एक प्रकार से स्वतःपूर्ण शिक्षा है। ('द रिलिजन आफ द वेद', पृष्ठ १२६)।

पाप की भावना भी ऋग्वेद में मिलती है तुलना करें हे वरुण! उन बंधनों को जिनमें जकड़ा हुआ हूं शिथिल करो उन बंधनों को शिथिल करो जो ऊपर मध्य में और नीचे हैं।

'इस प्रकार हे आदित्य! तेरे पवित्र विधान में हम पापमुक्त होकर अदिति के बन जाएं। (ऋग्वेद १ २४ १५ इसे भी देखें १ ३१ १६ ४ ५४ ३)।

पृष्ठ १००—तुलना करें 'जो धर्म का आचरण करता है उसका मार्ग निष्कण्टक है (ऋग्वेद १ ४१)। एक व्यक्ति को जो धर्म को धारण करता है वह वृद्ध हो या युवा तू पुत्र और शक्ति प्रदान करता है जिससे कि वह भली प्रकार जीवन व्यतीत कर सके (ऋग्वेद १ ६१)। ऋग्वेद ५९ २ भी देखें।

तीसरा अध्याय

पृष्ठ ११७ पा० टी० १—ठीक-ठीक अर्थों में विद् धातु का अर्थ है जानना।

पृष्ठ १२०—ऋत का पुराना वैदिक विचार जो भौतिक तथा नैतिक क्षेत्रों की व्यवस्था के सम्बन्ध में है ब्राह्मणग्रन्थों में जाकर निश्चित रूप से धर्म के विचार में परिवर्तित हो गया है जिसका तात्पर्य विशेष करके जाति की धार्मिक व्यवस्था से है। इसके अन्तर्गत वे सब कर्म या नियम हैं जिन्हें आगे चलकर कर्मकाण्ड संहिता सदाचार और शिष्टाचार आदि विभागों में विभक्त किया गया है। कहीं-कहीं धर्म ईश्वर के रूप में प्रकट होता है। देखें शतपथ ब्राह्मण १ ४ २ १४।

पृष्ठ १२४—इन्द्र कार्य रचित एतरेय ब्राह्मण।

चौथा अध्याय

पृष्ठ १३२—यद्यपि प्राचीन साहित्य में इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले सुझाव यत्र-तत्र मिलते हैं (देखें अथर्ववेद १० ४४) उपनिषदों में यह विषय प्रमुख हो गया है।

पृष्ठ १५१—मन का सम्बन्ध प्राण से है। तुलना करें प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः।

पृष्ठ १५४—शंकर आनन्दमय को जीव मानते हैं।

पृष्ठ १५५—ईश्वर के अन्तर्यामी होने का भाव भी ऋग्वेद में मिलता है (देखें अग्नि को लक्ष्य करके कही गई ऋचा १ ८९ १०)। किन्तु उपनिषदों में इसपर बल दिया गया है।

पृष्ठ १७२ पा० टि० ३—उपनिषदों में नाम और रूप से तात्पर्य नाम तथा भौतिक आकृति से है। देखें बृहदारण्यक उपनिषद् १ ६ १–२ मुण्डक उपनिषद् ६ ८ और आल्डनबर्ग कृत बुद्ध पृष्ठ ४४५ से लेकर।

पृष्ठ २०४—ड्यूसन का विचार है कि प्राचीनतम उपनिषदो मे केवल तीन ही आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा सन्यास को माना गया है, किन्तु जो सत्य को जानते हैं वे आश्रमो से भी ऊपर उठे हुए है। देखे 'फिलासफी आफ द उपनिषद्स', पृष्ठ ३६८। जाबाल उपनिषद् मे चार आश्रमो का वर्णन है। देखें वृहदारण्यक उपनिषद्, ४.४, १० और २२, छान्दोग्य उपनिषद्, २ २३, १, ५ १०।

पृष्ठ २०५—"इस आशय की एक आधुनिक भ्रमात्मक कल्पना भी प्रचलित है कि दार्शनिक पुरोहित वर्ग के न होकर क्षत्रिय वर्ग के होते थे, सम्भवत विदेशी होते थे, यहा तक कि बुद्ध भी विदेशी जाति के रहे होगे। किन्तु इस कल्पना के समर्थन मे तो कुछ नही अपितु इसके विरुद्ध पर्याप्त सामग्री मिलती है। उपनिषदो के दार्शनिक विचारो के अकुर पुरोहित वर्ग के अथर्ववेद और ब्राह्मणग्रन्थो मे मूल रूप से निहित है और उन्हीके अन्दर से हमे अर्वाचीन ऋषियो के क्रमविहीन दार्शनिक कथनो को खोजकर निकालना है, जिनके शास्त्रार्थो मे सम्भवत उस समय के राजाओ ने भी रुचि दिखाई जोकि सुसस्कृत राजपरिवारो के लिए एक परम्परा बन गई थी और इन शास्त्रार्थो मे जब उन्होने भाग लिया तो उन्हे विजय प्राप्त हुई।" (हॉपकिस 'एथिक्स आफ इण्डिया')

पृष्ठ २११, पा० टि० २—स्वयमेव राजते। तब इसका अर्थ होता है कि वह स्वत प्रकाश है अथवा स्वात्मनिर्भर है।

पृष्ठ २१५—धातुप्रसाद शब्द का प्रयोग हुआ है। कठोपनिषद्, २ २०।

पृष्ठ २२२—जीवन्मुक्त पारिभाषिक शब्द अर्वाचीन समय का है, यद्यपि उक्त विचार उपनिषदो मे विद्यमान है। तुलना करे, उदाहरण के लिए कठ उपनिषद्, ६ १४।

पृष्ठ २४५—देखे बेलवालकर और रानाडे कृत 'हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी', खण्ड २, कीथ, 'द रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ द वेद', खण्ड २ और रानाडे, 'ए कस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी।'

पाचवां अध्याय

पृष्ठ २५२—सजय के सशयवाद ने बुद्ध की अध्यात्मविद्या के प्रति प्रवृत्ति तथा जैन दर्शन के सप्तभगी विचार पर पर्याप्त प्रभाव डाला। तुलना करे, 'यदि तुम मुझसे पूछो कि परलोक है या नही (अत्थि परलोको)—तो, यदि मैं यह समझता कि दूसरा लोक है तो मैं ऐसा अवश्य कहता और मैं नही समझता कि यह इस प्रकार का या उस प्रकार का है और मैं यह नही समझता कि यह अन्य प्रकार का है, और मैं उसका निषेध भी न करता।' ('सेक्रेड बुक्स आफ द बुद्धिस्ट्स', खण्ड २ पृष्ठ ७५)।

पृष्ठ २५५—भास्कर अपनी ब्रह्मसूत्रो पर की गई टीका मे (३ ३, ५३) बृहस्पति के सूत्र का उल्लेख करता है।

पृष्ठ २५६—यदि चार्वाक किसी व्यक्ति-विशेष का नाम है तो यह बृहस्पति के शिष्य का हो सकता है। इसे प्राय एक सामान्य सज्ञावाचक नाम समझा जाता है। देखें मैक्डॉनल कृत 'सस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ ४५०।

पृष्ठ २६१—अर्थशास्त्र मे भौतिकवाद को साख्य और योग के समान माना गया

है। देखें १ २।

छठा अध्याय

पष्ठ २६५—कहीं-कहीं एसा कहा गया है कि जन मत म दस नियत्त तथा अनेक भाष्य हं।

पष्ठ २७१—आगमनात्मक अनुमान से प्राप्त सत्य अनुपपत्ति अथवा प्रतिपक्ष की असम्भाव्यता से निकलते है। देख प्रमयकमल मातण्ड, पृष्ठ ४०, ८०, १००–१।

पष्ठ २७१—ज्ञान की प्रामाणिकता पदार्थों क यथाथरूप म प्रस्तुत हान म हा हाती है किन्तु इसकी परीक्षा कायक्षमता स होती है।

पष्ठ २७३— यद्यपि यह सब (पाच स्थितिया) एक प्रकार स एक समान है ता भी विशष विशेष रूपो क कारण उनके भिन्न भिन्न नाम हैं। कुछक अवस्थाआ म पूवापरता अथवा क्रम का शीघ्रोत्पत्ति क कारण पता ही नहा चलता। (प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार २)।

सातवा अध्याय

पष्ठ ३१३—तुलना करें के० जे० सौन्स हमार आधुनिक वज्ञानिक विचार पद्धति के महत्वपूण आधार जथात कारणकाय सम्बन्ध तथा विश्व क एकत्व को यदि पहल-पहल गौतम न न भा मालूम किया हो ता भी प्रचलित उसने ही किया। ('एपवग इन बुद्धिस्ट हिस्ट्री पृष्ठ ६)।

पष्ठ ३१४—त्रिपिटक म भिन्न भिन्न काला के निर्णीत विचार सगहीत है। आज जिन धम और विनय के सिद्धात जिस रूप म पाए जाते हैं व पहली परिषद म बने हा या नही किन्तु यह तो स्पष्ट है कि बौद्ध मत क बड-बडे स्थविर अनुयायी बुद्ध की मत्यु क पश्चात शीघ्र ही एकत्र हुए और उन्होंने सिद्धान्त तथा नियन्त्रण सम्बन्धी विषया पर विचार विनिमय किया। वशाली म आयोजित दूसरी परिषद क विषय म ता हम अधिक निश्चित स्थिति पर हैं जा बुद्ध का म यु के सौ वष पश्चात हुई जिसका विशष उद्देश्य एक दम भ्रान्तिपूण विचारा को निकाल देना था जा इस बीच म सिद्धान्त क अन्दर घुस आए थ। भन हा यह हा मकता है कि धमव्यवस्था वस्तुत पाटलीपुत्र की तीसरी परिषद् म बनाई गई हा जिसका सभापतित्व तिस्स न किया था और जा अशाक क समय म हुई और जब तक भिन्न भिन्न सम्प्रदाय धमप्रवतक की शिक्षा क आधार पर विकसित हा चुक थ। अशोक क आज्ञापत्र उस समय की विच्छदकारी प्रवत्तिया का विरोध करत है। लका म प्रचलित परम्परा के अनुसार तीसरी परिषद् म निश्चित धमव्यवस्था का लका म ल जान वाल महन्द्र थ जा तिस्सा क शिष्य और अशोक क छाटे भाई अथवा (एक अन्य किवदन्ती क अनुसार) पुत्र थ और वत्तगामनि क अन्दर इस राजकीय अभिलख म रखा गया। देखें कीथ बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ १ – ।

पष्ठ ३१५—प्रोफसर कीथ का विचार है कि अभिधम्म पिटक विभाज्यवादी का सम्प्रदाय है। देखें बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ १५२–५३।

पृष्ठ ३१७—बुद्धघोष ने दीघनिकाय पर एक टीका लिखी है, जिसका नाम है 'सुमगलविलासिनी।'

पृष्ठ ३२४—देखे शीलाचार, 'डिस्कोर्सेज आफ गौतम, द बुद्ध', खण्ड २ · ३५ तथा ३६।

पृष्ठ ३२४, पा० टि० १—देखे चूलसच्चक सुत्त, मज्झिमनिकाय (३५), १. २३७।

पृष्ठ ३२५—जातको से हमे गोहत्या (१ १४४) और नरहत्या तक का भी पता मिलता है (३ ३१४)।

पृष्ठ ३२७—जातको मे बराबर ब्राह्मण जाति के अध पतन और धनलोलुपता का उल्लेख मिलता है। १ ७७ मे राजा का पुरोहित एक नवयुवक ब्राह्मण को, जो यज्ञ मे हिंसा करने के विरुद्ध था, इन शब्दो द्वारा फुसलाता है "हे मेरे पुत्र, इससे हमे धन मिलेगा, बहुत अधिक धन।" इसी प्रकार जब राजपुरोहित का शिष्य पशुबलि का विरोध करता है तो उसे कहा गया है "हमे बहुत सुस्वादु पदार्थ खाने को मिलेगे, तुम चुप रहो" (३ ३१४)। शृगालजातक मे शृगाल कहता है कि "ब्राह्मण लोग धन की लालसा से भरे हैं" (१ · १४२, और भी देखे, ४ ४९६)।

पृष्ठ ३३१, पा० टि०—मज्झिमनिकाय १ २६५।

पृष्ठ ३३२—बौद्धमत मे जो चार सत्य है उनकी तुलना करे, चिकित्साशास्त्र-सम्बन्धी विषयो अर्थात् रोग, रोग का निदान, आरोग्य तथा चिकित्सा के साथ। योगभाष्य, २ १५।

पृष्ठ ३४१—यद्यपि व्यवस्थित विकास का विचार उपनिषदो के अन्दर विद्यमान है (देखे कठ०), बौद्धमत का कारणकार्यभाव का नियम इसके ऊपर बल देता है।

अर्वाचीन बौद्ध ग्रन्थ सामान्य कारणो (पच्चय) तथा यथार्थ कारण (हेतु) के मध्य महत्त्वपूर्ण भेद करते है। क्योकि हेतु ही वस्तुत परिणाम को उत्पन्न करनेवाला है तथा अन्य कारण अवस्थाए है और समान नैमित्तिक अथवा सहायक है। पट्ठान मे अवस्थाओ का चौबीस शीर्षको के अन्दर वर्गीकरण किया गया है। अर्वाचीन बौद्धमत मे एक विचार की अन्य विचार के ऊपर असर डालने की शक्ति को 'सत्ती' अर्थात् योग्यता के नाम से कहा गया है।

पृष्ठ ३४१, पा० टि०—देखे अगुत्तरनिकाय, १ २८६, सयुत्तनिकाय, २ २५, दीघनिकाय, २ १९८।

पृष्ठ ३४३—महावग्ग, १ · २१, सयुत्तनिकाय, १ १३३, ४ १५७ और ३९९। यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि क्षणिकवाद का सिद्धान्त कब बना। कथावत्थु (८ . ८) के निर्माता को इसका ज्ञान था, ऐसा प्रतीत होता है। 'एकचित्ता क्षणिका सब्बे धम्मा।' सभी पदार्थ क्षणिक है, ठीक जैसेकि मानसिक अवस्थाए क्षणिक है। लोप हो जाना ही अस्तित्व का वास्तविक सारतत्त्व है। जो कुछ विद्यमान है, दूसरे ही क्षण मे नष्ट हो जाता है। प्रत्येक वस्तु अभाव से उत्पन्न होती है और अभावरूप मे ही विलुप्त हो जाती है। न्यायबिन्दु-टीका, पृष्ठ ६८, और भी देखे रत्नकीर्ति का 'क्षणभगसिद्धि' नामक ग्रन्थ।

पृष्ठ ३४३—क्षणिकता के मत में कारणकार्य-सम्बन्ध न तो कारण का कार्य के रूप में विकास है और न कारण के द्वारा ऐसे कार्य की रचना है जो उससे भिन्न है अपितु निश्चित कार्यों की अनिवार्य परम्परा है। सही सही अर्थों में जो क्षणिक है उसमें कारणकार्य सम्बन्ध नहीं बनाया जा सकता।

यथावत्तु (१७ ३ २१ ७ और ८) फलरहित कर्मों की सम्भावना को मानता है ऐसा प्रतीत होता है। और भी देखें, १० २ १७ १। मिलिन्द में कहा है कि अर्हत ऐसे दुःख को सहता है जिसके ऊपर उसका वश नहीं है (पृष्ठ १,४ और आगे)। यह स्पष्ट रूप में अनिमित्त (आकस्मिक) पर बल देता है पृष्ठ १८० और आगे।

पृष्ठ ३४५, पा० टि० २—प्रोसीडिंग्स आफ द एरिस्टाटलियन सोसायटी, १९१९ पृष्ठ २३६।

पृष्ठ ३४६—प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त अथवा कारणकार्य का नियम जिसका सबसे प्रथम तत्त्व अविद्या अर्थात् अज्ञान है इस जगत के विषयीविज्ञान सम्बन्धी विचार को पुष्ट करता है।

पृष्ठ ३५०—प्रत्यक्ष ज्ञान का सिद्धान्त जिसका सुझाव प्राचीन साहित्य (मज्झिम निकाय ३ २४२) में मिलता है, इस जगत के यथार्थता सम्बन्धी विचार को पुष्ट करता है।

अभिधम्म चार तत्त्वों को मूलभूत प्रकृति मानता है और आकाश को उत्पन्न तत्त्व मानता है (धम्मसंगणि मज्झिमनिकाय १ ४२३ २ १७)। कहीं-कहीं हम छः यथार्थ तत्त्वों का भी उल्लेख पाते हैं जहां देश और चैतन्य साधारण चार तत्त्वों में जोड़ दिए गए हैं। (देखें इतिवुत्तक ४४ ५१ और ७३)।

पृष्ठ ३५१, पा० टि० २—मज्झिमनिकाय ४२६।

पृष्ठ ३५२ पा० टि० ५—महानिदानसुत्त भी देखें दीघनिकाय २ ६६ मज्झिम निकाय १३८ ५ ० संयुत्तनिकाय ३ ६६ ४ ३४।

पृष्ठ ३५४—अलगद्दूपमसुत्त (मज्झिमनिकाय १ १४०) बुद्ध सर्वेश्वरवादी विचार का खण्डन करते हैं जो आत्मा तथा जगत को एक ही मानता है।

पृष्ठ ३५४—वच्छगोत्त के संवाद के लिए देखें अग्गिवच्छगोत्तसुत्त, मज्झिम निकाय ७२ १ ४८४–८९ देखें ल्हाल्ड कृत बुद्धिज्म ऐण्ड इट्स प्लेस इन द मेण्टल लाइफ आफ मनकाइण्ड पृष्ठ ३७ और आगे।

पृष्ठ ३५५—वज्जिपुत्तक लोग पुद्गल के विचार को मानते हैं अर्थात् एक ऐसे व्यक्तित्व को जो अनुभविक व्यक्तित्व के अस्थिर अवयवों से पृथक् है। उनका कहना है कि वह व्यक्ति यद्यपि आनुभविक व्यक्तित्व के तत्त्वों के अन्दर सम्बद्ध है तो भी उनसे सर्वथा भिन्न अर्थात् विशिष्ट है ठीक जिस प्रकार आग न तो ठीक जलती हुई लकड़ी है और न ही उससे भिन्न है किन्तु लकड़ी से कुछ अधिक है। एम० पूसीं लिखता है मैं यह सोचने के लिए बाध्य होता हूं कि पुद्गलवाद अधिकतर दुःखसत्य और कर्मविधान के अनुकूल है कि मैं रात्म्यवाद के (जरनल आफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९०१ पृष्ठ ३०८)। वसुबन्धु जो सौत्रान्तिक है एक स्वयम्भू नित्य निर्विकार आत्मा के विचार में वा

निष्क्रिय तथा असमर्थ है, आपत्ति उठाता है।

श्रीमती रीज डेविड्स इस प्रश्न पर संक्षेप में अपने विचार इस प्रकार रखती है :
" (१)जहां तक हम पता लगा सकते है, प्रारम्भिक बौद्ध धर्म की शिक्षा में स्वयं मनुष्य तथा आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं था। इसपर विचार करने के लिए हमें अठारहवीं शताब्दी में प्रचलित अपने दृष्टिकोण को और जो आज तक भी हमारे सामने है, त्याग देना होगा, हमें आत्मा (अत्तन) शब्द की उस शक्ति की कल्पना करनी चाहिए जो सातवीं शताब्दी (ईसापूर्व) के एक शिक्षित भारतीय की दृष्टि में थी जिसे एक धार्मिक गुरु ने आमन्त्रित करके कहा कि तुम्हें अत्तन को जानना चाहिए। इसका तात्पर्य लगभग वही था—'ईश्वर को जानो' अथवा 'उस पवित्र आत्मा को जानो जो तुम्हारे अन्दर है।' इसे बौद्धमत के संस्थापक के सबसे आरम्भ के उपदेशों में से अन्यतम बतलाया जाता है। विनय, १ २३, महावग्ग, १, १४, 'बुद्धिस्ट साइकालोजी', पृष्ठ २८ और आगे। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका गम्भीर महत्त्व है। और इसकी पुष्टि चार मुख्य ग्रन्थो (निकायों) में आए अनेक वाक्यों से और धम्मपद में होती है, जिनका विषय है—मनुष्य का आत्मा के साथ सम्पर्क तथा अपने को जानना तथा उसके उपाय। अर्वाचीन शिक्षाओं में इन शब्दो को नहीं रखा गया है।

" प्रारम्भ से ही जिस विषय का निषेध किया गया, वह यह था कि मनुष्य अर्थात् आत्मा, जिसे अत्तन शब्द से कहा गया, या तो यथार्थ में शरीर है अथवा मन है। यदि वह इन दोनों से कोई एक या दोनों होता तो इतनी दुर्बल तथा अस्थायी वस्तुएं होने के कारण वह परिणमन की इच्छा करनेवाला न होता (किन्तु इच्छा उसने की), वह अपने भाग्य का निर्णायक स्वयं नहीं हो सकता। यह मनुष्य के अन्तःस्थ मनुष्य होने का निषेध नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि 'तुम वास्तव में क्या हो इस विषय में कोई ऐसा भ्रमात्मक भाव न बनाओ' किन्तु उन दिनों भारत में इसका तात्पर्य होता कि 'तुम इन दोनों में से एक भी नहीं हो इसलिए तुम बिलकुल ही नहीं हो अर्थात् तुम केवल दोनों का एक पुंजमात्र हो।' इस प्रकार का एक नया दार्शनिक सन्देश सर्वथा विवेकशून्य होता और सुननेवाले की बुद्धि को भी अपमानजनक प्रतीत होता।

" (२)तो भी आज तक भी एशिया के दक्षिणी बौद्ध और बौद्धमत पर लिखनेवाले पश्चिम के अत्यन्त आधुनिक लेखक भी उस परिवर्तन को पहचानने में अकृतकार्य रहे जोकि बौद्धमत के ऊपर इस विषय में कलंकस्वरूप छा गया।

" (३) क्या ऐसा कोई भी नहीं है जो इन मनुष्यों के सहायक का, जो उदार तथा ज्ञानी था, समर्थक हो सके ? क्या ऐसा कोई नहीं है जो इस विषय को समझ सके कि वह व्यक्ति जो मनुष्य-जाति के लिए एक नवीन सन्देश लाया है जिसे हम धर्म कहते है—ऐसा है कि उसने जिस विषय की भी शिक्षा दी उसमें ऐसे विषय को सम्मिलित नहीं किया—केवल इसलिए कि जिस स्थिति में वह था उनकी वह शिक्षा नहीं दे सकता था। ऊपर जो कुछ मैंने प्रतिपादन किया है, यदि वह हमारा सम्बन्धविषयक चिन्तन में यथोचित दृष्टिकोण है धर्मादेश का प्रचारक, धर्मादेश, धर्मादिष्ट परस्पर सम्बन्ध के दोनों पदो के विचार से और जो उनके बीच बन्धन है), तब हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि धर्मप्रचारक मनुष्य के

अनागत अर्थात् मनुष्य का अतीत कर्म। हम पुनर्जन्म को यह नहीं कहा गया कि जब वह प्रकट नहीं था अथवा अभावात्मक था। यह निश्चित हो सकता है कि ज्यान शिरीरि मनुष्य के उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार का अपना विषय में जा सका अवस्थान के कारण पुष्ट करता है। और इसका नाम बड़ा अधिक हम निश्चित होता कि धर्मप्रचारक इस प्रकार से मनुष्य के ज्ञान के स्वरूप का विचार करने। और उसके द्वारा इस नव परिवर्तन का उत्पन्न करने में तथा ज्ञान मनुष्य के अन्दर एक नया परिवर्तन लाकर धर्मनिष्ठ का बनाना करने में समर्थ होना कि मानव के अन्दर इस प्रकार गया है वह निर्विकार है। (ब्रह्मविद्या, नवम्बर १९५३)।

पृष्ठ ३५५ पा० टि० २—मज्झिमनिकाय १ २५६।

पृष्ठ ३६७ पा० टि० ३—अंगुत्तरनिकाय २ ६०।

पृष्ठ ३७०—दीघनिकाय के अनुसार (१ १६०) अन्तर में तीन अवयव सम्मिलित हैं—नव ज्ञानेन्द्रियां और उनका संयोग की क्रियाएं।

पृष्ठ ३७१—समस्त ज्ञान में चित्त के अन्दर इन्द्रियजन्य ज्ञान के नाना प्रकार के आकृतियां मन की इच्छा और प्रतीकात्मक बोध आ जाते हैं किन्तु धर्मनिष्ठ में अन्य और भावनाओं के अपना प्रयत्न तथा चित्तवृत्तियों का समावेश हो जाता है।

पृष्ठ ३७३—बुद्धघोष तथा विज्ञान और प्रज्ञा को एक बड़ाई की श्रेणि गौरिया मानता है जिसका दृष्टान्त यह है कि मूल्यवान धातुओं को देखकर भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न प्रतिक्रियाएं होती हैं अर्थात् एक बच्चा रंग बिरंगे पदार्थों को देखता है एक नागरिक उनके विनिमय सम्बन्धी मूल्य को पहचानता है और एक विशेषज्ञ उनकी उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध में सब कुछ जान जाता है। देखें मज्झिमनिकाय पर बुद्धघोष १ ४६।

बौद्धमत की धार्मिक व्यवस्था में हमें मनोभावनाओं के विषय में कोई व्यवस्थित वर्णन नहीं मिलता। लोभ द्वेष और मोह का वर्णन उनके विरोधी अलोभ अद्वेष और अमोह उपेक्षा मैत्री तथा यथार्थज्ञान के साथ किया गया है। मैत्री (मेत्ता) करुणा और सुख के प्रति प्रसन्नतापूर्वक सहानुभूति (मुदिता) का भी वर्णन आता है। निरन्तरता (सन्तति) का विचार अभिधम्म में पाया जाता है। (धम्मसंगणी ५८४ ६४३ ७३४ कथावत्थु १० १ ११ ६ और २१ ४ अभिधम्मत्थसंग्रह ५ १२ १५ और १६)। पदार्थों के अनुभव अपने पीछे अपना बीज छोड़ जाते हैं अथवा ऐसे संस्कार चेतनता की अविच्छिन्न धारा में रहते हैं और समय पूरा होने पर यह बीज पकता है तथा चेतनता के अन्दर उदित होता है और उससे हमें प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होती है। यह चेतनता की शृंखला केवल मोक्ष पर जाकर ही समाप्त होती है। सौत्रान्तिकों ने इस अविच्छिन्नता के विचार को और विकसित किया जो जीवात्मा को चित्तसन्तान के समान समझते हैं।

पृष्ठ ३७७—यद्यपि पुनर्जन्म नया जन्म है तो भी जन्म के समय जो चेतनता प्रकट होती है तथा मृत्यु के समय जो चेतनता प्रकट होती है उनके अन्दर नैरन्तर्य है (मिलिन्द पृष्ठ ४७)। यही कारण है तथा ऐसा प्रायः कहा जाता है कि मृत्यु के समय जो अन्तिम विचार होता है उसका अनिवार्य प्रभाव पुनर्जन्म पर होता है।

पृष्ठ ३७७—जीवात्मा प्रत्येक क्षण मे अपना भविष्य अपने साथ रखती है (मिलिन्द, पृष्ठ १०१)। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण मे सत्ति अर्थात् भूतकाल की शक्ति भरी रहती है और वर्तमानकाल उन सबपर, जो कुछ अब होता है, अपनी छाप रखता है अथवा यो कहना चाहिए कि उस सबको सुवासित करता है, क्योकि 'वासना' शब्द का अर्थ भी यही जताता है।

पृष्ठ ३७८—नये जीवन के प्रथम क्षण को विज्ञान कहते है किन्तु सूची मे इसका तीसरा स्थान है। इसके पूर्ववर्ती कर्म अच्छी अथवा बुरी मनोवृत्तिया है जोकि प्रारम्भ से इसके साथ सलग्न है। उन्हे सस्कार अथवा जन्म से पूर्व की शक्तियो के नाम से कहा गया है। प्रथमस्थानीय अविद्या अज्ञान के मलिन करनेवाले स्वभाव को दर्शाती है।

पृष्ठ ३७८, पा० टि० १—सयुत्तनिकाय, २ १०।

पृष्ठ ३७८, पा० टि० ३—विसुद्धिमग्ग, ३८८, अगुत्तरनिकाय, १ १७७।

पृष्ठ ३८०—यह कहा गया है कि चेतनता जीवन से मृत्यु तक जाती है किन्तु हम यह निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि यह अपने-आपमे दृष्टि का विषय है अथवा सूक्ष्म शरीर इसके साथ जाता है।

पृष्ठ ३८०, पा० टि० १—दीघनिकाय, २. ६३।

पृष्ठ ३८२—कारणकार्यभाव की शृखला के सम्बन्ध मे जो भिन्न-भिन्न मत है, उनके लिए देखे कीथ, 'बुद्धिस्ट फिलासफी', पृष्ठ १०५ से १११ तक।

पृष्ठ ३८४, पा० टि० १—धम्मपद, ६०।

पृष्ठ ३८८—देखे शीलाचार, 'डिस्कोर्सेज आफ गौतम, द बुद्ध', खण्ड १, पृष्ठ ४१।

पृष्ठ ३८८—मिलिन्द (पृष्ठ ६५, ११७) ने उस सिद्धान्त का उल्लेख किया है जिसके अनुसार एक व्यक्ति अपने पुण्य को अपने लिए न रखकर अन्य पुरुष को दे सकता है।

पृष्ठ ३८६—अन्तर्ज्ञान का बुद्धि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। देखे मज्झिमनिकाय, १ २९२ पृष्ठ, और आगे।

पृष्ठ ३६८, पा० टि० १—दीघनिकाय, १ १२४।

पृष्ठ ४०३—"बुद्ध ने वर्ण (जाति) को सामाजिक सस्था के रूप मे उखाड फेकने का प्रयत्न किया ऐसा तो कही नही पाया जाता। उन्हे ऐसा करने की आवश्यकता भी क्या थी क्योकि उनके इस उपदेश पर बल दिया जा सकता था कि सच्चे अर्थो मे जो ब्राह्मण है, वही धर्मात्मा ब्राह्मण है। और बौद्धसघ के अन्दर वर्णभेद का लोप नही हुआ था क्योकि नीच वर्ण के व्यक्ति भी भिक्षु के रूप मे सघ मे लिए गए ऐसे अनेक दृष्टान्त है।" (ई० जे० टामस, 'द लाइफ आफ बुद्ध', १२८, देखे उदान, ५ ५)। बुद्ध के सबसे पहले शिष्यो मे एक नाई भी था, जो आगे चलकर सघ मे एक नेता बन गया। अग्गण्ण सुत्तन्त मे (दीघनिकाय, ३ ८० और आगे) जन्म के आधार पर श्रेष्ठता-सम्बन्धी ब्राह्मणो के दावो को निन्दनीय समझकर छोड दिया गया है।

पृष्ठ ४०५—हमे ऐसे वाक्य भी अवश्य मिलते है, यद्यपि ऐसे वाक्य बहुत कम है,

दार्शनिक पद्धतियों ने एक समान बल दिया है।

पृष्ठ ४३६—योगदर्शन के विचार प्रारम्भिक बौद्धमत पर एक प्रबल अधिकार रखते थे। आलारकालाम और उद्दक नामक दो बौद्ध शिक्षक योगाभ्यास मे निपुण थे। यह बिलकुल सम्भव है और बहुत करके समझा जाता है कि बुद्ध ने अपने चित्तनिरोध-सम्बन्धी विचार योगदर्शन से लिए हो जैसाकि चित्त और निरोध शब्दो के प्रयोग से प्रकट होता है। योगदर्शन ने अज्ञान को दु ख का कारण बतलाया है और इसे ऐसे क्लेश मे गिना है जोकि अन्य सब क्लेशो अथवा दोषो का मूल कारण है। समाधि अथवा एकाग्रता की चार अवस्थाए बुद्ध की चार साधारण समाधियो के प्रारम्भिक स्रोत हो सकती है (योगसूत्र, १, १७)। मैत्री, करुणा, मुदिता (सुखी को देखकर प्रसन्न होना) तथा उपेक्षा आदि चारो ब्रह्म-विहार भी योगदर्शन मे समान है (योगसूत्र, १ : ३३)। कारणकार्य की शृखला का स्रोत योगदर्शन मे ढूढना कठिन कार्य नही है (४ ११)। और भी देखे शेरवत्स्की, 'द कन्सेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण', पृष्ठ २ और आगे।

पृष्ठ ४३६—और भी देखे कीथ, 'बुद्धिस्ट फिलासफी।'

आठवां अध्याय

पृष्ठ ४४३—'त्रिमूर्ति' का विचार प्राय बहुत बाद का समझा जाता है। देखे हार्पकिंस, 'द ग्रेट एपिक्स', पृष्ठ ४६, १८४। तो भी हम इसे मैत्रेयी उपनिषद् मे पाते है (४ और ५), यद्यपि उपनिषद् के उस भाग को जिसमे यह आता है, पीछे से जोडा गया माना जाता है।

पृष्ठ ४४६—वह सदर्भ, जिसमे बुद्ध का उल्लेख रामायण मे मिलता है, प्रक्षिप्त बतलाया जाता है।

पृष्ठ ४५१—महाकाव्य के विकास की पहली दो अवस्थाओं मे विष्णु अपनी वैदिक प्राचीनता के साथ, नारायण जो विश्व का देवता है और समस्त विश्व के विकास का अधिष्ठाता है, वासुदेव जो रक्षा करनेवाला देवता है और कृष्ण, जो सखा और सुखदाता है, सब एकसाथ मिलकर आगे बढते है। देखे शान्तिपर्व, ३४१, २०–२६, ३४२, १२६।

पृष्ठ ४५३, पा० टि० ७—

"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव ।
अयन तस्यता पूर्व ,तेन नारायण स्मृत" ॥

पृष्ठ ४५७—डाक्टर झा ने एक विलक्षण सुझाव का उद्धरण दिया है कि "पञ्च-रात्र-पद्धति का नाम इसलिए हुआ कि इसका निर्माण उन पाच दिनो मे जबकि वेद राक्षस के पास मे रहे, मनुष्यो की धार्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हुआ था, और प्रलय के बाद पुन जगत् की उत्पत्ति से पूर्व विष्णु ने वेदो को छुडाया।" ('हिन्दुस्तान रिव्यू', जनवरी १६२४, पृष्ठ २१६)।

पृष्ठ ४६४, पा० टि० ६—चक्षु पश्यति रूपाणि मनसा न चक्षुषा।

पृष्ठ ४६५, पा० टि० ४—दु खादुद्विजते सर्व सर्वस्य सुखमीप्सितम्।

पृष्ठ ४६८, पा० टि० ६—

पाप कर्म कृतं किञ्चित् यदि तस्मिन्न दृश्यते ।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥

पृष्ठ ४७१—काल और प्रकृति केवल बौद्धधर्म में ही नहीं हैं। इनका पता प्रारम्भिक प्राकृतिक कल्पनाओं में भी मिलता है। देखें अथर्ववेद १९. ५३ जहां काल को देवता का रूप दिया गया है।

नवां अध्याय

पृष्ठ ४८९, पा० टि० १—आनन्दगिरि ने जिसने भगवद्गीता पर शांकर भाष्य की टीका (पृष्ठ ६ और २७ आनन्दाश्रम आवृत्ति) में एक वृत्तिकार का दो बार उल्लेख किया है उसे और बोधायन को एक नहीं बताया।

पृष्ठ ४९६, पा० टि० १—देखें ऋग्वेद भी १०. १२९।

पृष्ठ ५००—जानन्ते तान्न मानुना वारुण्य यथाभव।

तद्वन्द्व महेन्द्रस्य नियतुगुणदायिनो ॥

पृष्ठ ५०१—भागवत १. ३. २८।

पृष्ठ ५११, पा० टि० २—क्रूटल : जयीयरेंस एण्ड रियलिटी पृष्ठ ५–६।

पृष्ठ ५२१— महाभाग की पूजा केवल मात्र समाधि में ही अपने को अभिव्यक्त नहीं करती। इसके अन्दर मनुष्य का सम्पूर्ण सत्त्व समाविष्ट रहता है। वह सर्वाशय है। इस सर्वाशयता में कर्म के अन्दर धार्मिकता होना अवश्यम्भावी है। (मैकेंजी : हिंदू एथिक्स पृष्ठ १३१)।

पृष्ठ ५२५—तुलना करें निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी ॥

पृष्ठ ५२९—देखें महाभारत शान्तिपर्व २० ३६ और ३८।

पृष्ठ ५३२—देखें भगवद्गीता ५. २०–२५।

दसवां अध्याय

पृष्ठ ५४४—महायान में बुद्ध का मानवीय स्वरूप नष्ट हो गया और उसे अलौकिक शक्तियां प्रदान कर दी गई हैं। हीनयान के जातकों में अवदानों अथवा बुद्ध तथा उनके अनुयायियों की चमत्कारपूर्ण सिद्धियों को स्थान दिया गया है।

पृष्ठ ५४६—महायानसम्परिग्रहशास्त्र में असंग ने ऐसे दस विषय गिनाए हैं जिनमें महायान को श्रावकयान से श्रेष्ठ समझा जा सकता है। महायान सर्वतोमुखी है जो कुछ भी बुद्ध ने (न केवल शाक्यमुनि ने केवल एक जीवन में) उपदेश दिया है उसे स्वीकार किया गया है अपितु इसमें भी अधिक असंगादि इसने कहा जो कुछ भी भलाई की बात है उसे किसी बुद्ध का वाक्य समझना चाहिए। दूसरे महायान का लक्ष्य सर्वसाधारण को मुक्ति प्राप्त कराना है केवल व्यक्ति विशेष की मुक्ति नहीं और इस प्रकार भूतमात्र के प्रति प्रेमभाव रखने में यह उत्कृष्ट है। तीसरे महायान की इस बुद्धि की दृष्टि से हीनयान

की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत है। क्योंकि हीनयान आत्मा की यथार्थता का निषेध करता है जबकि महायान यहा तक बढकर कहता है कि वह सब जो प्रतीत होता है, यथार्थ नही है। चौथे, महायान आध्यात्मिक शक्ति को भी मानता है; श्रावक के समान इसका लक्ष्य केवल अपने लिए शीघ्रता से मोक्ष प्राप्त करना नही है। पाचवे, महायान मनुष्यो को मोक्ष के प्रति प्रेरणा करने मे नाना प्रकार के उपाय ढूढ निकालने मे दक्ष है, यह उनके विविध प्रयोग की दृष्टि से अविचलित रहता है। इसके अतिरिक्त यह एक अत्यन्त ऊचे आदर्श तक हमे ले जाता है, प्रवीण पुरुष का लक्ष्य केवल सन्त बनना ही नही अपितु अपने पूर्णत्व की प्राप्ति मे बुद्धत्व प्राप्त करना है। और अन्त मे जब कोई प्रवीण पुरुष बुद्ध बनता है तो उसे समस्त विश्व के अन्दर आनन्दमय शरीर से अपने को व्यक्त करने की अनन्त शक्ति प्राप्त हो जाती है।" देखे सुजूकी, 'महायान बुद्धिज्म', अध्याय २।

पृष्ठ ५४७—वसुबन्धु का कहना है कि जीवन की क्षणभगुरता तथा निर्वाण की नित्यता निरपेक्ष ब्रह्म की यथार्थता के द्वारा उपलक्षित है।

पृष्ठ ५५०—हीनयान मे बुद्ध का भौतिक शरीर धम्म के उस शरीर से भिन्न बताया गया है जिसका अनुभव प्रत्येक पुरुष को अपने लिए करना होता है। आगे चलकर दिव्यावदान मे (पृष्ठ १९ और आगे, देखे दीघनिकाय, ३ ८४), हमे यह विचार मिलता है कि बुद्ध का भौतिक शरीर तो शरीर है किन्तु उसकी आत्मा धर्म का विधान है। बुद्ध की यथार्थ प्रकृति अथवा बुद्ध की आत्मा वह प्रज्ञा अथवा बोधि है, जिसे उन्होने प्राप्त किया था। आध्यात्मिक परिभाषा मे व्यक्त किया जाए तो हम कहेगे कि यह वह परम यथार्थसत्ता है जो आनभविक विश्व के मूल मे विद्यमान है। चूकि इस यथार्थसत्ता का सम्बन्ध प्रत्येक बुद्ध से है इसलिए प्रत्येक बुद्ध का साथ-साथ एक अपना धर्मकाय रहता है। धर्मकाय और तथता एक ही है, अर्थात् आदिम भेदरहित यथार्थसत्ता अथवा तथागत का गर्भ अथवा प्रत्येक व्यक्ति का जन्मस्थान (लकावतार, पृष्ठ ८०)। प्रत्येक बुद्ध के विषय मे यह कल्पना की जाती है कि उसका एक अनिर्वचनीय ज्योतिर्मय शरीर है, जिसे सभोगकाय कहते हैं। सभोगकाय का धर्मकाय के साथ क्या सम्बन्ध है? चन्द्रकीर्ति ने इसकी व्याख्या की है (माध्यमिकावतार, ३ १२)। जो ज्ञानसम्पन्न है, जैसेकि बुद्ध लोग, वे धर्मकाय को प्राप्त करते हैं, किन्तु वे जो पुण्यवान हैं, जैसेकि बोधिसत्त्व लोग, सभोगकाय को प्राप्त करते है। किन्तु कोई भी इस विषय मे निश्चित रूप से नही कह सकता, क्योकि महायान साहित्य मे अमिताभ और शाक्य मुनि को दृश्य रूप दिए गए हैं।

पृष्ठ ५५०, पा० टि०—देखे सूत्रालकार, ९ ७७ और कारण्डव्यूह। यहा तक कि किसी बुद्ध के लिए भी कोई निरपेक्ष सत्ता नही हो सकती।

पृष्ठ ५५१—"वे लोग, जो बोधिसत्त्वो की पूजा करते है और महायानसूत्रो का अध्ययन करते हैं, 'महायानी' कहलाते हैं।" ('ई-त्सिग', ताकाकुसु का अग्रेज़ी अनुवाद, पृष्ठ १४)।

धर्मविधान को बुद्ध का शरीर मानने का विचार धर्मशास्त्र मे सुझाया गया है। सौत्रान्तिक लोग एक आनन्दमय शरीर मानते प्रतीत होते है, जो तीन कायाओ मे से एक है।

पृष्ठ ५५२—निरपेक्षसत्ता का अपने को बुद्धो तथा बोधिसत्त्वों के रूप में परिणत करने का जो भाव है इसका बहुत बड़ा धार्मिक महत्त्व है। यह दर्शाता है कि किस प्रकार निरपेक्षसत्ता जीवात्मा के साथ उस मोक्ष के आनन्द को प्राप्त कराने के लिए सहयोग प्रदान करती है।

पृष्ठ ५५२—आलयविज्ञान अपने को क्रियाशील बुद्धि के रूप में परिणत करता है तथा भौतिक एवं चेतनतामय जगत के रूप में विकसित करता है।

पृष्ठ ५५३—महावस्तु को भी देखें।

पृष्ठ ५५४—बोधिसत्त्व दया के कारण नरक की यातनाओं का सामना करने को उद्यत है (बोधिचर्यावतार ६ १२० शिक्षा-समुच्चय पृष्ठ १६७)। बोधिसत्त्व लोग जो दुःख भोगते हैं वह पूर्वकृत पापों के दण्डस्वरूप न होकर अपनी पूर्णता प्राप्ति के अभ्यास के लिए गए अवसर के रूप में आते हैं (बोधिचर्यावतार ६ १०६)। बोधिसत्त्व भक्ति तथा उपासना के योग्य हैं। उनके सम्मुख यदि हम अपने पापों को स्वीकार कर लें तो हम उनकी क्षमा के अधिकारी बनते हैं (वही ६ ११६ १२२ १२४ और भी तुलना करें शिक्षा-समुच्चय पृष्ठ १६० और आगे)। अपने पुण्य को दूसरे के लिए दे देने से बोधिसत्त्व लोग प्रसन्न हो सकते हैं (बोधिचर्यावतार ५ ८५ शिक्षा-समुच्चय, १२७)। शान्तिदेव ऐसे मनुष्य को मूर्ख समझता है जो अपने शरीर को जंगली जानवरों को अर्पित कर देता है। इसलिए कि उन्हें भोजन मिल जाए जबकि वह यथार्थ धर्म के ज्ञान को अन्यों के लिए भेंटस्वरूप दे सकता है (शिक्षा-समुच्चय, पृष्ठ ११६ और ३४ तथा आगे बोधिचर्यावतार ५ ८५ और आगे बोधिसत्त्वभूमि १ ६)। जीवन के प्रति नैराश्य नहीं मिलता। संन्यास के कड़े जीवन में भी कुछ नरमी कर दी गई और गृहस्थी को भी बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए उपयुक्त स्थिति में समझा जाने लगा। देखें सुजुकी महायान बुद्धिज्म, अध्याय २।

पृष्ठ ५५५—हम नहीं कह सकते कि कभी ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है। ऐसे अनन्त श्रद्धास्पद कम का ज्ञान केवल प्राचीन विद्वानों को ही था कि वे मनुष्यों को ज्ञानरूपी प्रकाश का विचारमात्र त्याग देने पर भी मोक्ष प्राप्त करा सकते थे।

पृष्ठ ५५६ पा० टि० ३—रागद्वेषमोहक्षयात् परिनिर्वाणम्।

पृष्ठ ५५७—विमलकीर्तिसूत्र में निर्वाण का एक निश्चित वर्णन किया गया है। यह स्वीकार करता है कि इस जीवन में ही और सब प्रकार के ध्यान बटानेवाले विघ्नों के रहते हुए भी अन्तर्दृष्टि में उन्नति होना सम्भव है। निर्वाण संसार है और हमें जीवन में ही और इस जीवन के द्वारा ही सांसारिक क्रियाओं से विरत रहकर नहीं निर्वाण प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। असंग के महायानसंपरिग्रहशास्त्र के अनुसार बुद्ध यद्यपि संसार में लिप्त नहीं है और निष्कलंक है तो भी भ्रान्त पुरुषों के प्रति दया का भाव रखता है कि उसे उनकी भी रक्षा करनी है।

पृष्ठ ५६१—देखें के० जे० सौन्डर्स एपक्स इन बुद्धिस्ट हिस्ट्री सर चार्ल्स इलियट हिन्दूइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म' जे० बी० प्रैट द पिलग्रिमेज आफ बुद्धिज्म।

ग्यारहवां अध्याय

पृष्ठ ५६२, पा० टि०—देखें अशोक का भावरत्वाला आज्ञापत्र और दिव्यावदान, पृष्ठ २७२। अगुत्तरनिकाय (४ १६३) मे बुद्ध की एक अन्न-भण्डार के साथ उपमा दी गई है, जिसमे से मनुष्य हरएक उत्तम उपदेश ले जाते हैं। देखे, विंसेण्ट स्मिथ, 'अशोक', पृष्ठ १५४।

पृष्ठ ५६४—सर्वास्तिवाद अथवा इस मत के सम्बन्ध मे कि प्रत्येक वस्तु की सत्ता है। देखे, शेरवत्स्की कृत, 'द सेंट्रल कसेप्शन आफ बुद्धिज्म'। सर्वास्तिवाद बौद्धमत का एक प्राचीन सम्प्रदाय था, जिसकी शृखला वैभाषिक दर्शन है।

पृष्ठ ५६४, पा० टि०—धर्मत्रात उदानवर्ग और सयुक्ताभिधर्महृदयशास्त्र का रचयिता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि "आर्यदेव काची का रहनेवाला था", ('इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली', १६२५, पृष्ठ १११)।

पृष्ठ ५६६—आत्मा अथवा जीवित प्राणी परम तथ्य नही, वल्कि यथार्थ धर्म परम तथ्य है। नैरात्म्य अथवा आत्मशून्यता परम यथार्थसत्ता (धर्मता) के अस्तित्व को व्यक्त करने का निषेधात्मक ढग है, जिसे हम आत्मा कहते है, केवल वह नही है। तुलना करे अभिधर्मकोष, अध्याय ६ पर यशोमित्र की टीका। प्रवचनधर्मता पुनरत्र नैरात्म्य बुद्धानुशासनी वा। शेरवत्स्की का कहना है "बौद्धमत ने सासारिक अर्थो मे आत्मा के अस्तित्व का कभी निषेध नही किया, इसने केवल इतना ही कहा कि यह परम यथार्थसत्ता (अर्थात् धर्म) नही है।" (देखें 'द सेंट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म', पृष्ठ २५-२६)।

"मूल तत्त्वो या धर्मो के चार विशिष्ट लक्षण है (१) वे द्रव्य नही है—यह समस्त ७५ तत्त्वो पर लागू होता है चाहे वे नित्य हो अथवा अनित्य। (२) उनकी कोई कालावधि नही है—यह केवल ७२ अस्थायी तत्त्वो पर ही लागू होता है, जिनकी सावृत्तिक सत्ता है। (३) वे अशान्त हैं—यह पिछले वर्ग के केवल एक भाग पर ही लागू होता है, वह जोकि साधारण तौर पर एक सामान्य मनुष्य के अनुकूल है किन्तु एक सन्त (आर्य) पुरुष के धर्म की शुद्ध अवस्था के विपरीत है। (४) उनकी अशान्ति का अन्त अन्तिम मोक्ष मे है। पारिभाषिक रूप से कहा जाए तो—(१) सब धर्म अनात्म है, (२) सब सस्कृत धर्म अनित्य हैं, (३) सब साश्रव धर्म दुख हैं, और (४) उनका निर्वाण ही एकमात्र शान्त है। धर्म अद्रव्य है, यह क्षणिक है, यह विक्षोभ की एक अनादि स्थिति मे है, और इसका अन्तिम दमन ही पीडा कम करने का एकमात्र साधन है।"

नित्य तत्त्वो या धर्मो के अपनी अभिव्यक्तियो के साथ सम्बन्ध के विषय मे विभाष चार भिन्न-भिन्न मत उपस्थित करता प्रतीत होता है। धर्मत्रात भाव मे परिवर्तन के साथ द्रव्य की एकता को स्थिर रखता है। अस्तित्व मे परिवर्तन होने पर भी सारतत्त्व मे परिवर्तन नही होता, जैसेकि दूध परिवर्तित होकर दही वन जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त विचार पर साख्य के सिद्धान्त का प्रभाव पडा। घोष यह मानकर चलता है कि मूलतत्त्व यद्यपि भूत, वर्तमान और भविष्य मे थे और है और रहेंगे, किन्तु वे समय-समय पर अपने लक्षणो मे परिवर्तन करते रहते हैं। इस मत को साधारणत

स्वीकार नहीं किया जाता। क्योंकि यह भिन्न भिन्न धर्मों की एक ही काल में सहगतता को होना निश्चित करता है। बुद्धदेव के मत में भूत, वर्तमान, और भविष्यत् एक-दूसरे के आपेक्षिक हैं और एक ही सत्ता को पूर्व एवं पश्चात् के क्षण के सम्बन्ध में भूत वर्तमान अथवा भविष्यत् माना जा सकता है ठीक जैसे कि एक ही स्त्री को माता पत्नी अथवा पुत्री पुकारा जा सकता है। इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि कहा जाता है कि इसमें काल की तीन अवस्थाओं का सम्मिश्रण है। वसुमित्र अवस्था के परिवर्तन, अर्थात् वर्तमान में क्षमता एवं भूत तथा भविष्यत् में अक्षमता का समर्थन करता है। जब कोई विद्यमान वस्तु अपना कार्य सम्पन्न करके आगे कार्य करना बन्द कर देता है तो वह भूतकाल कहलाता है और जब वह कार्य कर रहा होती है तो वह वर्तमान है और जब तक उसने कार्य नहीं प्रारम्भ किया होता है तब तक वह भविष्यत् है। तीनों ही अवस्थाओं में वस्तुसत्ता यथार्थ है। भूतकाल यथार्थ है क्योंकि यदि यथार्थ न होता तो यह ज्ञान का विषय न बन सकता और न ही यह वर्तमान का निर्णय कर सकता। वैभाषिक लोग सामान्यत वसुमित्र के मत को स्वीकार करते हैं। विभज्यवादियों का मत है कि वर्तमान धर्म और भूतकाल के वे धर्म भी, जिन्होंने अभी अपना कार्य नहीं किया है अस्तित्व रखते हैं किन्तु भविष्यत् तथा भूतकाल के धर्म जो अपना कार्य कर चुके अब विद्यमान नहीं हैं। देखें सोगेन्स्की बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ १०४-८।

पृष्ठ ५६६ पा० टि० २—चैतसिक धर्म चित्त से भिन्न हैं और केवल उसकी अवस्था मात्र ही नहीं हैं जैसा कि योगाचार में है। परवर्ती स्थविरवादियों ने चित्त तथा चैतसिक धर्मों को सापेक्ष्य ऐक्य प्रदान किया जहां पर चित्त की तुलना एक क्षेत्र से की गई है और चैतसिकों को उसके विभाग बताया गया है। चैतसिक वे धर्म हैं जिनमें से मानसिक प्रक्रिया का निर्माण होता है जिस प्रकार चारों महाभूत और पांच इन्द्रियविषयों के परमाणु अनन्त प्रकार से संयुक्त हो सकते हैं जिससे कि उस जटिल बाह्य जगत की रचना हो सके जो हमारे चारों ओर है ठीक इसी प्रकार विविध चैतसिक भी अनन्त प्रकार से एक बच्चे के सरल विचारों तथा इच्छाओं से लेकर अत्यन्त सूक्ष्म तथा दुर्बोध आध्यात्मिक अनुमान तक संयुक्त किए जा सकते हैं। (मैक्गवन बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ १३८)। मोटे तौर पर चैतसिकों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है (१) सामान्य मानसिक गुण जो न तो पुण्यरूप हैं और न ही पापरूप हैं (२) पुण्यरूप और (३) पापरूप। जहां स्थविरवादियों के मत में केवल यही तीन हैं वहां सर्वास्तिवादी और योगाचारी एक चौथा इनके मध्य का और जोड़ देते हैं।

पृष्ठ ५६७—सर्वास्तिवाद का मत है कि पांच इन्द्रियों पांच इन्द्रियविषयों और चार महाभूतों की अनुकूलता में चौदह प्रकार के परमाणु हैं। ये परमाणु वैशेषिक और जैन दार्शनिकों के परमाणुओं के समान नित्य नहीं हैं। क्षणिकवाद के सिद्धान्त की अनुकूलता में कहा जाता है कि ये समय समय पर उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। यहां तक कि वे परमाणु भी जो अणुओं को सहारा देनेवाले कहे जाते हैं नित्य नहीं हैं क्योंकि वे जन्म स्थिति क्षय तथा विनाश इन चार प्रकार की प्रक्रियाओं के वशीभूत हैं।

सर्वास्तिवाद अविज्ञप्तिरूप अथवा अव्यक्त प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार करता

है। बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक भौतिक कार्य, शब्द अथवा विचार का कुछ न कुछ अनुरूप परिणाम निकलना चाहिए। प्रत्येक क्रिया अणुओ के स्वरूप तथा स्थिति मे परिवर्तन उत्पन्न करती है। यदि प्रत्यक्ष रूप मे ऐसा परिवर्तन उत्पन्न नही करती तो कम से कम परोक्ष रूप मे तो करती ही है। क्योकि किसी क्रिया का परिणाम कुछ न हो ऐसा नही हो सकता। सर्वास्तिवादियो ने अविज्ञप्ति रूप की यथार्थता को तो स्वीकार किया किन्तु उन्हे इसके स्वरूप के विषय मे कुछ निश्चय नही। हरिवर्मन अपने सत्त्वसिद्धि ग्रन्थ मे प्रतिपादन करता है कि यह न तो भौतिक है और न ही मानसिक है और चित्तविप्रयुक्त धर्मो से सम्बन्ध रखता है। चूकि सर्वास्तिवादियो का दावा है कि समस्त स्वरूप अन्ततोगत्वा भौतिक है इसलिए अविज्ञप्तिरूप भी रूपधर्म है।

पृष्ठ ५६७—देखें अभिधर्मकोष, ४ १ ब, और शेरवत्स्की, 'द कन्सेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण', पृष्ठ २७–२९।

पृष्ठ ५६८—'प्रतिसख्या का तात्पर्य है, प्रबुद्ध विचार-विमर्श, और यह बुद्धि का एक नमूना है, क्योकि यह चार आर्यसत्यो के ऊपर विचार करता है। इसलिए विचार-विमर्श की शक्ति द्वारा निरोध की प्राप्ति प्रतिसख्यानिरोध कहलाती है ठीक जैसेकि बैलो द्वारा खीची जानेवाली एक बैलगाडी बीच मे से एक पद को छोडकर बैलगाडी कहलाती है।' (अभिधर्मकोष, १ ३ ब, मैक्गवर्न, 'बुद्धिस्ट फिलासफी', पृष्ठ १११)।

सर्वास्तिवादी लोग "धर्मो के सारतत्त्वो और व्यक्त रूपो मे भेद करते है। निर्वाण के समय व्यक्त रूप सदा के लिए विलुप्त हो जाते है और फिर पुनर्जन्म नही होता किन्तु सारतत्त्व विद्यमान रहता है। किन्तु है यह एक प्रकार की विद्यमान वस्तु जिसमे चेतनता नही है।" (शेरवत्स्की, 'द सेंट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म', पृष्ठ ५३)।

देखे अभिधर्मकोष, २ ३०, जहा पर 'नीले रग' के प्रत्यक्ष ज्ञान तथा 'यह नीला है', के निर्णय मे भेद किया गया है।

पृष्ठ ५६९—अभिधर्मकोष सकल्पशक्ति के महत्त्व पर बल देता है (देखे अध्याय ४)। कूष्माण्ड को लक्ष्य करके किए गए प्रहार से यदि आकस्मिक दुर्घटना के रूप मे किसी मनुष्य की जान चली जाती है तो वह हत्या नही है। इस मत को प्रकट करने मे सम्भवत. जैनियो के तर्क को लक्ष्य किया गया है, जिसके अनुसार वह मनुष्य जो किसीका प्राण हरण करता है, चाहे अनजान मे ही क्यो न हो, हत्या का दोषी है, जिस प्रकार कि, जो आग को छूता है, चाहे अनजान मे ही क्यो न छुए, अवश्य जलता है। अभिधर्मकोष किसी भी कर्म के मनोवैज्ञानिक और भौतिक परिणाम मे भेद करता है। इच्छाशक्ति (सकल्प) मानसिक शृखला पर केवल एक वासना मात्र छोड जाती है, जबकि शारीरिक क्रियाए एक प्रकार के अर्धभौतिक परिणाम उत्पन्न करती है, जिन्हे तार्किक लोग अविज्ञप्ति कहते है जो स्थिर रहती है तथा व्यक्ति-विशेष की चेतनता के जाने बिना भी विकसित होती है। पुनर्जन्म की यन्त्र-रचना पर अत्यधिक विशद रूप मे विचार किया गया है। विगत जीवन की चेतना से नये जीवन की प्राप्ति का निर्णय होता है। पुनर्जन्म अथवा प्रतिसन्धिविज्ञान मृत्यु से पूर्व की भूतकालीन चेतनता की ही शृखला है। मरते हुए मनुष्य की अन्तिम चेतना अपने लिए अव्यवस्थित प्रकृति के अन्दर से आवश्यक शरीर उत्पन्न कर लेती है।

पृष्ठ ५६६, पा० टि० १—तीनों एक हैं और एक ही वस्तु हैं, यद्यपि भिन्न भिन्न रूप से कार्य कर रहे हैं। 'बौद्ध, कम से कम सर्वास्तिवादी और स्थविरवादी, इस विषय में सहमत हैं कि भेद केवल शब्दों का है किन्तु वस्तु का विषय वही है, (मकगवर्न बुद्धिस्ट फिलासफी, पृष्ठ १३२)।

पृष्ठ ५७१—सौत्रान्तिक लोग वैभाषिकों के इस मत का, कि नित्य द्रव्यों का अस्तित्व सब समय में विद्यमान रहता है खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि यदि भूत काल का इस आधार पर कि इसने अपनी क्षमता प्रदर्शित की है यथार्थ माना जाए तो इसे वर्तमान से भिन्न नहीं किया जा सकता। यह तर्क करना कि हम अभावात्मक वस्तुओं को नहीं जान सकते निरर्थक है। ऐसी वस्तुएं भी जो वस्तुतः क्षमताशून्य हैं ज्ञान का विषय बनता है। किसी वस्तु तथा उसकी क्षमता के मध्य भेद करना नहीं हो सकता क्योंकि यह जानना कठिन है कि क्यों एक वस्तु हठात् क्रियात्मक क्षमता धारण कर लेती है। सौत्रान्तिकों का कहना है कि सब वस्तुएं क्षणिक हैं, अचानक उत्पन्न होती हैं क्षणमात्र के लिए रहती हैं और फिर अभावात्मक हो जाती हैं। उनका अस्तित्व और क्षमता एक ही वस्तु है। परिणाम यह निकलता है कि वस्तुएं कुछ क्षणिक रंगों तथा रसों आदि के लिए केवल *नाममात्र हैं जो काल्पनिक रूप में एक नामांकित पट्ट के अन्दर एक हो गई हैं। आत्मा भी* मनोवैज्ञानिक क्षणिक घटनाओं की शृंखलाओं के लिए दिया गया एक अभिधान है जो परस्पर कारणकार्य के विधान से सम्बद्ध है। स्मृति को किसी आत्मा की आवश्यकता नहीं अपितु केवल एक भूतपूर्व अनुभव की आवश्यकता है। इसका उदय तब होता है जबकि ध्यान दुःख से विमुक्ति इत्यादि अनुकूल अवस्थाएं उपस्थित हों। चेतनता की शृंखलाओं का अन्तिम क्षण नये जीवन का निर्णय करता है। यह सर्वथा स्पष्ट नहीं है कि चेतनता के बीज के साथ कोई सूक्ष्म प्रकृति नये शरीर में जाती है या नहीं। देखें कीथ, बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ १६६।

किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान के स्वरूप में तीन भिन्न भिन्न प्रकार के मत प्रकट करने का श्रेय सौत्रान्तिकों को है (१) इसकी सब विशिष्टताएं विचार के रूप में प्रस्तुत होती हैं और इस प्रकार उनका बोध होता है (२) विचार की आकृति वास्तविक रूप में प्रस्तुत विशेषताओं का कुल जोड़ ही है अर्थात् चित्र विचित्र रंग के रूप में, (३) विषय रूप पदार्थ के सब पक्ष विचार के अन्दर प्रस्तुत होते हैं किन्तु यह उनको संश्लिष्ट करके अथवा भिन्न भिन्न रंगों का परस्पर मिलाकर एक ही मानना है (उसी स्थान पर, १६२ टिप्पणी)।

५७१—अभिधर्मकोष के अनुसार ज्ञान की घटना अनेकों धर्मों के एकसाथ प्रकट होने से उत्पन्न होती है। सम्यक् प्रभाव अथवा आन्तरिक सम्बन्ध का प्रश्न नहीं उठता। रूप सम्बन्धी गति दृष्टिशक्ति की गति तथा चित्त की गति यह सब एकमात्र निकटतम सान्निध्य में प्रकट होते हैं और स्पर्श अथवा वर्ण की भावना को उत्पन्न करते हैं। चेतनता विज्ञान सदा किसी विषय तथा ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय के द्वारा पुष्ट होकर ही सदा प्रकट होता है। कहा जाता है कि चेतनता विषय का ग्रहण करती है क्योंकि चेतनता तथा विषय में एक विशेष सम्बन्ध है जिसे सारूप्य कहते हैं। वर्ण का बोध चक्षुरिन्द्रिय [illegible] अपितु चेतनता

ग्रहण करती है। वस्तुत यह चेतनता के क्षणिक स्फुरण से सम्पन्न होता है। "चेतनता उमी प्रकार वोध ग्रहण करती है जिस प्रकार प्रकाश गति करता है। दीपक के प्रकाश को, एक अविच्छिन्न स्फुरण वाली अग्नि-ज्वाला की शृखला की उत्पत्ति के लिए, साधारण उपमा के रूप मे उपस्थित किया जाता है। जब यह उत्पन्न वस्तु अपना स्थान परिवर्तन करती है तो हम कहते है कि प्रकाश मे गति हुई। इसी प्रकार चेतनता चैतन्ययुक्त क्षणो की शृ खला के लिए एक रूढिगत सज्ञा है। जब यह अपना स्थान बदलती है (अर्थात्, दूसरे धर्म के सम्बन्ध मे प्रकट होती है) तब हम कहते है कि यह उस पदार्थ का वोध ग्रहण करती है।" (अभिधर्मकोप, ९, शेरवत्स्की, पृष्ठ ५७)।

पृष्ठ ५७२, पा० टि० १—अभिधम्मत्थसगह मे चार कारण उस हेतु के रूप मे दिए गए हैं जो वस्तु को उत्पन्न करता है, आलम्बन अथवा आश्रय, जो विचार तथा इसके परिणाम को उत्पन्न करता है, समानान्तर अथवा तुरन्त निकटवर्ती कारण जो विचार के प्रवाह मे नवीन प्रस्तुत वस्तु को समाविष्ट करता है, और अधिपति, वह जिसके अस्तित्व पर दूसरा निर्भर करता है। देखें कीथ, 'वुद्धिस्ट फिलासफी', वी० १७७।

स्वलक्षण से तात्पर्य है केवलमात्र अशपरिणामी।

पृष्ठ ५७२—सौत्रान्तिको ने आत्मचेतनता के विचार को छोड दिया, क्योकि पूर्वक्षण की चेतनता आनेवाली चेतनता के द्वारा न केवल विपयो को प्रकाशित करती है, किन्तु अपने को भी प्रकाशित करती है, ठीक वैसे ही जैसेकि एक दीपक केवल कमरे ही को नही किन्तु अपने को भी प्रकाशित करता है। चेतनता मात्र आत्मचेतनता है। सौत्रान्तिको की दृष्टि मे वाह्य वस्तुओ का प्रत्यक्ष केवल परोक्ष रूप मे होता है। वस्तुओ का ज्ञान इसलिए होता है कि चेतनता इन्द्रियो के माध्यम द्वारा ज्ञातव्य विषय का रूप धारण कर लेती है और अपने विपय मे भी चेतन रहती है। हम ज्ञातव्य विपयो की वाह्यता को उनके क्षणिक और आकस्मिक स्वरूप के कारण पहचानते है, जिससे यह ज्ञात होता है कि वे स्वय चेतनता के अश नही है।

पृष्ठ ५७२, पा० टि० २—देखें यूई, 'द वैशेपिक फिलासफी', पृष्ठ २६-२८।

पृष्ठ ५७३, पा० टि० १—अभिधर्मकोपव्याख्या, ७।

पृष्ठ ५७३, पा० टि० २—कीथ दिङ्नाग का समय ४०० वर्ष ईसा के पश्चात् के लगभग रखता है। देखे 'वुद्धिस्ट फिलासफी', पृष्ठ ३०५।

वसुवन्धु की विज्ञप्तिमात्रतात्रिंशत्कारिका पर लगभग दस टीकाए हुई है। धर्मपाल ने, जो युआनच्वाग के शिक्षक शीलभद्र का गुरु था, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र लिखा है। वह ज्ञानवाद मे आत्मनिष्ठ आदर्शवाद को मानता है और सभी प्रकार के यथार्थवाद का खण्डन करता है।

पृष्ठ ५७४—सर्वास्तिवाद के इस मत को स्वीकार करना कि यह जगत् ७५ अपरिवर्तनशील तत्त्वो के परिवर्तनशील सयोग का परिणाम है, क्षणिकता के प्रमुख सत्य के विरुद्ध जाता है।

पृष्ठ ५८०—प्रमेय पदार्थो की चेतनता हमारे अन्दर हमारे भूतकाल के अनुभव के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। वे स्वत सिद्ध प्रतीत होते है किन्तु वस्तुत. वे हमारे

विचारों की सृष्टि है। बाह्य जगत हमारे विचार की उपज है जिसे हम नाम और विचार देते हैं (नामसंज्ञा व्यवहार)। देखें लंकावतारसूत्र पृष्ठ ८५।

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के आन्तरिक भेद भी यथार्थ नहीं हैं। वे विचार के दोषों के परिणाम हैं यद्यपि हम इस दोषयुक्तता के प्रारम्भ तक नहीं पहुंच सकते। आलय की कोई उत्पत्ति स्थिति अथवा विनाश नहीं है। विशेष बौद्धिक गतियां इसमें समुद्र की लहरों के समान हैं।

पृष्ठ ५८७, पा० टि० २—योगाचार सम्प्रदाय वाले आठ प्रकार के विज्ञान को मानते हैं जिनमें से पांच पांच भौतिक इन्द्रियों की अनुकूलता में छठा मनोविज्ञान जो अधिक सामान्य रूप का है और स्मृति व निर्णय की क्रियाओं का सम्पादन करनेवाला है सातवां क्लिष्ट मनोविज्ञान अथवा यौगिक अर्थों में दूषित मनश्चेतनता है। इसके विषय में मैकगवन कहता है 'चूंकि मनोविज्ञान तर्क की साधारण प्रक्रिया से कार्य करता है यह अधिकतर उन विचारों के विषय का ही प्रतिपादन करता है जो अपने-आप प्रस्तुत हो जाते हैं। यह उनमें न तो जान-बूझकर और न निरन्तर ही परस्पर कोई भेद करता है जो आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हैं तथा जो अनात्म के भाग प्रतीत होते हैं। यह निरन्तर भेद सातवें विज्ञान का कार्य है जो योगाचारों के अनुसार अपना कार्य उस समय भी करता है जबकि मनुष्य निद्रा में हो अथवा बेखबर हो। यह आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त के प्रति निरन्तर झुकाव का आधार है क्योंकि यह आलयविज्ञान को मिथ्यारूप में यथार्थ और स्थायी अहंभाव समझता है यद्यपि वस्तुतः यह निरन्तर प्रवाह की अवस्था में रहता है।' (बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ १३४)। वही लेखक आलयविज्ञान के त्रिविध कार्य के विषय में लिखता है पहले को हम विध्यात्मक कह सकते हैं क्योंकि यह और सब विज्ञानों के अंकुरों का संग्रह करके रखता है। दूसरे को हम निषेधात्मक कह सकते हैं क्योंकि यह अन्य सब प्रतीति रूप विज्ञानों के प्रभाव को ग्रहण करता है। तीसरा यह विज्ञान है जिसे मिथ्या विश्वास का विषय समझा जाता है क्योंकि सातवां विज्ञान निरन्तर यह समझता है कि यह सतत परिवर्तनशील आलयविज्ञान एक नित्य अहं वस्तु है। (पृष्ठ १३५)। योगाचारों का झुकाव छठे को विज्ञान के नाम से पुकारने की ओर है, सातवां मन और आठवां चित्त।

पृष्ठ ५८८ पा० टि० १—देखें मैकगवन बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ ११३।

पृष्ठ ५९१—कर्न का मत है कि बौद्धमत प्रारम्भ से ही एक आदर्शवादी शून्यवाद का दर्शन है। देखें मज्झिमनिकाय १ ४ १३४ २९७ और ३२९ २ २६१ ३ २४६।

पृष्ठ ६०१—जब नागार्जुन बुद्ध का निषेध करता है तो उसका तात्पर्य हीनयान के बुद्ध विषयक मत से है जिसे जगत् की उन्नति का अन्तिम लक्ष्य मानकर उसका निषेध किया गया है किन्तु वह उस बुद्ध का निषेध नहीं करता जो सब आनुभविक निर्णयों से ऊपर है। देखें चन्द्रकीर्ति की माध्यमिक वृत्ति ४३२ और आगे।

पृष्ठ ६०८—भ्रमात्मक प्रवृत्तियां बुद्धपालित और चन्द्रकीर्ति में विकास को प्राप्त मिलती हैं और एक प्रकार से नास्तित्व में भी, किन्तु अधिक तार्किक विचार भावविवेक के अन्तर्गत नागार्जुन के विचारों के भाष्य में पाया जाता है।

पृष्ठ ६०६, पा० टि० ६—इसके साथ भी तुलना करें—

प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं निरामयम्।
सर्वशून्यं निराभासं समाधिस्तस्य लक्षणम्॥

पृष्ठ ६१३—देखें, कर्न, 'मैनुएल आफ इण्डियन बुद्धिज्म', पृष्ठ १२६।

पृष्ठ ६४२—देखें, कीथ भी, 'बुद्धिस्ट फिलासफी', मैक्गवर्न, 'ए मैनुएल आफ बुद्धिस्ट फिलासफी', शेरवात्स्की, 'द सेंट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म', 'द कन्सेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण', प्रैट्, 'द पिलग्रिमेज आफ बुद्धिज्म', अध्याय १२।

० ० ०

अनुक्रमणिका

पारिभाषिक शब्द

अंतःप्रज्ञावाद : Intuitionism
अकर्मण्यता : Indolence
अद्वैतवाद : Non-dualism
अधोनैतिक : Sub-moral
अनीश्वरवाद : Agnosticism
अनुदारवाद, रूढ़िवाद : Conservatism
अनेकान्तवाद : Pluralism
अन्वय : Agreement
अराजकतावाद : Anarchism
अवचेतना : Subconsciousness
अवतारवाद : Anthropomorphism
असत् : Non-being
आकस्मिक विकास : Accidental evolution
आगमनात्मक : Inductive
आचार-नियम : Maxims of morality
आत्मनिष्ठ, व्यक्तिनिष्ठ : Subjective
आत्मनिष्ठ उपाधि : Subjective condition
आदर्शवाद : Idealism
आनन्दमार्गी, सुखवादी : Hedonist
आस्तिकवाद : Theism
उत्संस्करण, संस्कृति-संक्रमण : Acculturation
एकेश्वरवाद : Monotheism
कालक्रमिक : Chronological
कालदोष : Anachronism
केवलान्वय : Single agreement

तत्त्वमीमांसा, अध्यात्मविद्या	Metaphysics
तर्कना, तर्क	Reasoning
तर्कवाक्य	Proposition
तर्कशास्त्र	Logic
तार्किक ज्ञान	Logical knowledge
दर्शन, आत्मविद्या	Philosophy
दशदोष	Anachorism
द्वैतवाद	Dualism
निगमनिक	Deductive
निरपेक्ष, परम, चरम	Absolute
निरपेक्षतावाद परमसत्तावाद	Absolutism
निष्पत्ति	Accomplishment
नीतिशास्त्र आचारशास्त्र	Ethics
नैतिक निर्णय	Moral judgment
पदार्थ उपादान विषयवस्तु	Matter
परमाणुवाद सूक्ष्मवाद	Atomism
परोक्ष अभिप्राय	Indirect intention
परोक्ष ज्ञान	Indirect knowledge
पश्च विचार	After thought
प्रकृतिवाद	Naturalism
प्रतिकूल, विरुद्ध	Adverse
प्रत्यक्षज्ञानवाद	Phenomenalism
प्रमाता विषयी अहम	Subject
बहुत्ववाद	Pluralism
बुद्धिवाद	Intellectualism
भौतिकवाद जड़वाद	Materialism
मताग्रहिता	Dogmatism
मरणोत्तर जीवन	After life
महाकाव्य काल	Epic period
यथार्थ सत्ता	Reality
वस्तुनिष्ठ	Objective
वस्तुनिष्ठ उपाधि	Obj ctive condition
विशुद्धाद्वैतवाद	Pure monism

विश्लेषक तर्कवाक्य · Analytic Proposition
विश्लेषण : Analysis
विश्लेषण, आनुभविक · Empirical analysis
विषयिविज्ञानवाद, व्यक्तिनिष्ठावाद : Subjectivism
वैराग्यवाद : Asceticism
व्यष्टिवाद, व्यक्तिवाद : Individualism
व्यष्टि-सापेक्षतावाद : Individual relativism
व्यावहारिक, उपयोगितावादी : Pragmatic
शास्त्रीयवाद : Scholasticism
शास्त्रीय वाद-विवाद . Academic discussion
संक्रमण : Transition
संश्लेषण : Synthesis
संसृतिशास्त्र . Cosmology
सत्, परम सत्ता, जीव : Being
सदृश्य, अनुरूप Analogous
समानुपाती · Proportional
समायोजन . Accommodation
सापेक्ष : Relative
साम्यानुमान : Analogy
साम्यानुमान, मिथ्या : False analogy
सिद्धान्त : Theory
सिद्धान्तबोधन : Indoctrination
सौन्दर्यबोधी, सौन्दर्यानुभूति-विषयक : Aesthetic
स्वगुणार्थक परिभाषा . Analytic definition